1.5

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

मधुसूदनसरस्वती-विरचित-

'गूढार्थदीपिका'व्याख्यासहिता

सा च

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्याय-

पण्डितश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिना

कृततत्त्वविवेचनपुरस्सरं सटिप्पण-हिन्दीभाषानुवादेन

समलंकृता

पण्डितश्रीब्रह्मदत्तद्विवेदिना

सम्पादिता

भागद्वयात्मिका

प्रकाशकः

सेठश्री विनोदकुमार मुरारका

कलकत्ता

प्रकाशक

© सेठश्री विनोदकुमार मुरारका

कलकत्ता-१

द्वितीय संस्करण सन् १९७५

प्राप्तिस्थान—

सेठश्री विनोदकुमार मुरारका

नं० ४ ई डलहौजी स्क्वायर, स्टिफन हाउस

कलकत्ता-१

प्राचार्य

श्री रामनिरञ्जन दास मुरारका संस्कृत कालेज

चौक, पटना सिटी, पटना-८

चौखम्भा ओरियन्टालिया

(प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक-विक्रेता)

गोकुल भवन के. ३७/१०९, ग्वालदासशाह लेन

वाराणसी-२२१००१

टेलीफोन : ६२६९५ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस

गोपाल मंदिर लेन

वाराणसी

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

WITH

THE GŪḌHĀRTHADĪPIKĀ COMMENTARY

OF

MADHUSŪDANA SARASVATĪ

AND

HINDI TRANSLATION & ANNOTATIONS

OF

MM HARIHARAKṚPĀLU DVIVEDĪ

EDITED BY

BRAHMADATTA DVIVEDĪ

IN TWO VOLUMES

PUBLISHERS :

SETH SRI VINODKUMAR MURARKA

CALCUTTA

Publishers :
© **Seth Sri Vinodkumar Murarka**
CALCUTTA-1
Second Edition

Available with :
Seth Sri Vinod Kumar Murarka
4E, Dalhausie Square,
Stephen House, CALCUTTA-1

Principal :
Sri Ramnirjan Das Murarka Sanskrit College,
Patna City, PATNA-8

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gwaldas Shah Lane
VARANASI-221001, India
Phone : 62695 Gram : Gokulotsav

Printers :—Vidya Vilas Press, Varanasi-1

॥ श्रीः ॥

प्राक्कथन

श्रीशौ वन्दे

श्रीमन्महामङ्गलमूर्तये नमः

स्फुरन्मरकतस्निग्धमुग्धश्यामलमूर्तये ।
भवखेदच्छिदे तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं-
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है। पूज्यपाद जगद्गुरुशंकराचार्य, श्रीमन्मधुसूदन सरस्वती, परमपूज्य आचार्य रामानुज से लेकर आजतक गीता के अनेक भाष्यकार, व्याख्याकार, टीकाकार, अनुवादक हो चुके हैं। भारत में लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी आदि ने आज भी गीता की व्याख्याएँ की हैं। भारत की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में भगवद्गीता के अनुवाद और व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। विश्व की विकसित और समुन्नत प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है—ऐसा कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीता के जितने अनुवाद और टीकाएँ हुई हैं—उतना भाषान्तर या व्याख्यान कदाचित् विश्व में किसी भी ग्रन्थ का नहीं हुआ है।

इसका कारण है। यह ग्रंथ यद्यपि आकार में छोटा है तथापि इसका विवेच्य विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण और साथ ही साथ गंभीरचिन्तन का सारस्वरूप है।

वेद वेदान्त में अर्थात् प्राचीन उपनिषदों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा जिस गूढ़-गंभीर तत्त्वचिन्तन की मीमांसा हुई है उन सबका निचोड़ गीता में अत्यंत व्यवस्थित ढंग से संकलित-संगृहीत है। पुरातन भारतीय संस्कृति, दर्शन, शास्त्र और ज्ञानपरंपरा का महाभारत विश्वकोश कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता उस महाभारत का ही नहीं समग्र भारतीय दर्शनधारा का निष्कर्षार्थ है। इसीलिए श्रीगीता की महिमा का वर्णन करते हुए कहा जाता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

उपनिषद्-सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता को इसी कारण शाङ्करवेदान्त के प्रस्थानत्रयभूत ग्रन्थों में रखा गया है । भारतीय पारंपरिक अनुश्रुति के अनुसार अद्वैत वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के तीनों ग्रन्थ—दशोपनिषद् (वे उपनिषद् जिनपर जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध है), ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता—पाराशर व्यास के संकलित या रचित कहे जाते हैं । कृष्णद्वैपायन, पाराशर और वेदव्यास—ये भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं, अष्टादश पुराणों के रचयिता व्यास भिन्न हैं या एक ही व्यक्ति हैं—यह ऐतिहासिक दृष्टि से विवाद का प्रश्न है । पर भारतीय अनुश्रुति से एक ही व्यक्ति के सब नाम माने गए हैं । यहाँ उपर्युक्त पक्ष न तो विचारणीय है न आवश्यक । अन्यत्र इसपर इतना विचार हो चुका है कि अब मैं उसपर कुछ कहने का अधिकारी नहीं हूँ । परन्तु यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि व्यास ने (भारतीय अनुश्रुति के अनुसार) जहाँ भारत को दर्शनदृष्टि दी, तत्त्वबोध कराया चिन्तनसरणि का पथप्रदर्शन किया वहीं उन्होंने भारतीय संस्कृति का विश्वकोशात्मक पुराणकाव्य महाभारत भी दिया तथा अष्टादश पुराणों द्वारा आनुश्रुतिक इतिहास भी समर्पित किया । अतः महाभारत के मध्य में ग्रथित और भगवान् श्रीकृष्ण के मुखाम्भोज से निःसृत इस ज्ञानसमुद्र **गीता** का भारतीय संस्कृति में महत्त्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है । इसीसे इसकी इतनी अगणित व्याख्याएँ हुई हैं और आगे भी होती रहेंगी ।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्यों और टीकाओं में आचार्यपाद भगवान् शंकर की अद्वैतवादी टीका का अत्यंत महत्त्व है । भक्तशिरोमणि श्रीमद्रामानुजाचार्य का भाष्य तथा टीका भी अपने संप्रदाय में उसी प्रकार आदृत है । आचार्यवर श्रीमधुसूदन की भाष्यात्मक टीका भी बड़े महत्त्व की मानी जाती है । इसका कारण है । भगवद्भक्तिरसायन के निर्माता आचार्य मधुसूदन सरस्वती का मध्यकालीन भक्ति-प्रतिपादक विद्वज्जनों में विशिष्ट स्थान है ।

एक बात और है । उन्होंने अपनी "गूढ़ार्थदीपिका" नामक गीता की व्याख्यापरक इस टीका के आरम्भ में लिखा है—

"भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्यातिप्रयत्नतः ।
प्रायः प्रत्यक्षरं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥"

अर्थात् भगवत्पाद जगद्गुरु शंकराचार्य के भाष्यार्थ का सम्यक् पर्यालोचन करने के बाद इस टीका का निर्माण यत्नपूर्वक हुआ है जिसमें गीता के प्रत्येक पद के गूढ़ार्थ को प्रकाशित किया गया है । उन्होंने काण्डत्रय की परस्पर विषय-संदर्भपरक और संबन्धमूलक संगति बताते हुए कहा है कि प्रथम काण्ड में कर्म और उसके त्याग द्वारा **त्वंपदार्थ** जीवात्मा का उपपत्तिसहित निरूपण है । द्वितीयकाण्ड में भगवद्भक्तिनिष्ठा के वर्णन द्वारा परमानन्दरूप भगवान् को **तत्पदार्थ** अवधारित किया गया है । तृतीयकाण्ड में **तत्** और **त्वम्** अर्थात् ब्रह्म और जीव के ऐक्य को **'तत्त्वमसि'**—इस श्रुतिवाक्य का **वाक्यार्थ** बताते हुए आचार्य मधुसूदन ने सबल शब्दों से अपने मत का प्रतिपादन

किया है। प्रस्तावनात्मक पद्यों में विस्तार के साथ अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के अनंतर गूढ़ार्थदीपिकाकार ने कहा है—

"यस्य देवेपरा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा।
सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते॥"

इन शब्दों द्वारा उन्होंने कर्म और भक्ति ज्ञान, तीनों का संबन्ध दिखाते हुए बताया कि यद्यपि गीता में तीनों मार्ग प्रतिपादित हैं तथापि श्रीमद्भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है अहैतुकी भक्ति। उसमें मार्गद्वय भी गतार्थ हो जाते हैं।

सारांश यह कि गीता की भक्तिपरक मुख्यता प्रतिपादित करने वाली व्याख्याओं में मधुसूदनी गूढ़ार्थदीपिका का विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी में इस टीका के सर्वप्रथम समुचित अनुवादकर्ता हैं महामहोपाध्याय पं० हरिहर कृपालु जी द्विवेदी। द्विवेदी जी सभी दर्शनों-शास्त्रों के मर्मवेत्ता और गंभीरज्ञाता विद्वान् थे। व्याकरण के ही नहीं—न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा, सांख्ययोग आदि के वे उद्भट सुधी थे। उन्होंने गंभीर मनन-चिन्तन के द्वारा इस गीतागूढ़ार्थदीपिका का हिन्दी अनुवाद किया है। वस्तुतः गीता में कोई एक दर्शन नहीं है। समस्त प्राचीन औपनिषदिक दर्शनों का सारांश इसमें है। सभी आस्तिक षड्दर्शनों में इस ग्रंथ के वचनों को प्रमाण माना जाता है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सभी के मूलभूत सिद्धांत यहाँ बीजरूप से उपलब्ध हैं। अतः इस प्रकार के उपनिषद्-दर्शन-शास्त्रसारभूत गीता-ग्रंथ की टीका और उसके अनुवाद को वही महापंडित महापुरुष ही ठीक ठीक कर सकता है जो सर्वशास्त्र-निष्णात हो, सर्वदर्शननदीष्ण हो। महामहोपाध्याय द्विवेदी जी ऐसे ही महापंडित, नानाशास्त्रदर्शनादितत्त्वज्ञाता पुरुष थे। अतः उनके द्वारा रचित यह अनुवाद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वे शास्त्रमर्मज्ञ और शास्त्रनिष्ठ थे।

इसमें अनुवादकार की शास्त्रनिष्ठा के अनेक उदाहरण हैं। जहाँ जहाँ उनके मत से गूढ़ार्थदीपिका की व्याख्या लोक और शास्त्र विरोधी है वहाँ आदरणीय द्विवेदी जी ने बिना किसी संकोच के मधुसूदनी व्याख्या के दुर्बल पक्ष का उद्घाटन किया है। प्रथम अध्याय के आरंभिक अनेक श्लोकों में पाठक देख सकते हैं कि अनुवादकार ने किस प्रकार सबल तर्कों और प्रमाणों के आधार पर अपना मत—विरोध प्रकाशित किया है। वस्तुतः श्री द्विवेदी जी गूढ़ार्थदीपिका के अनुवादकर्त्तामात्र नहीं है अपितु प्रस्तुत अनुवाद के साथ-साथ उन्होंने टीका की विवेचना, व्याख्या, भाष्य और पर्यालोचन भी किया है। इस अनुवाद में गूढ़ार्थदीपिका की विस्तृत व्याख्या करते हुए मूल्यांकन भी किया गया है।

इस कार्य में अनुवाद-भाष्यकार ने विविधशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी उपयोग-विनियोग किया है। **गीता** में तथा **गूढ़ार्थदीपिका** में जहाँ जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ वहाँ व्याकरण, मीमांसा, सांख्य योग आदि शास्त्रों-दर्शनों के सैद्धान्तिक पक्षों का उपयोग-विनियोग किया गया है तथा पदों-वाक्यों के पदार्थ-वाक्यार्थ निर्धारण में शास्त्रानुमोदित अर्थ को वरीयता दी गई है। उदाहरणार्थ पाठकगण पृष्ठ १६-१७, २८-२९, ३०-३१, ३४-३५, ४४-४५, ६८, २२६-२२७ आदि देख सकते हैं। कतिपय पृष्ठों का उल्लेख यहाँ उदाहरणस्वरूप ही है। ऐसी शास्त्रीय व्याख्याएँ इस अनुवाद में आदि से अन्ततक भरी पड़ी हैं जिनमें व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त आदि शास्त्रों-दर्शनों के सिद्धान्त का आधार लेकर वास्तविक आशय तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। निश्चय ही यह हिन्दी-अनुवाद अपूर्व है और शास्त्रीय वैदुष्य की व्याख्या का रत्नसार है। इस अनुवाद के लेखक महापंडित ने जिस मनोयोग, निष्ठा और शास्त्रीय आस्था के साथ इसका निर्माण किया था—उसका अबतक द्वितीय संस्करण न होना बड़ी चिन्ता का विषय था। यदि यह ग्रन्थ पुनः प्रकाशित न हो पाता तो एक महापंडित का अनेक वर्षों तक किया हुआ शास्त्रश्रम निष्फल रह जाता।

अतः उनके सुयोग्य और वैयाकरण एवं अनेक शास्त्रवेत्ता सुपुत्र पं० ब्रह्मदत्त द्विवेदी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने बड़ी श्रद्धा और श्रम के साथ इसके प्रकाशन में पूर्णयोगदान देकर पितृऋण को किंचित् चुकाने का प्रयास किया।

साथ ही प्रकाशक ने भी कागज की दुर्लभता के युग में उदारता और वंशधर्म का पालन करते हुए इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया—तदर्थ वे भी धन्यवादार्ह हैं।

मैं इन कतिपय शब्दों के साथ गुरुवत्पूज्य महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालु जी के चरणों में श्रद्धायुक्त श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

मुझे विश्वास है कि गीता-प्रेमियों में, विद्वन्मण्डली में, भक्तजनों में और गीता के तत्त्वजिज्ञासुओं में इस ग्रन्थरत्न का समुचित आदर होगा तथा इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होगा।

करुणापति त्रिपाठी
वाइसचांसलर
संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

गीता जयन्ती
मार्गशीर्ष ११, संवत् २०३१

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

स्वप्न में भी ऐसी धारणा नहीं थी कि श्री मद्भगवद्गीता ऐसी महान् पुस्तकका प्राक्कथन मुझे लिखना होगा। मेरी तुच्छ लेखनी से इस अभावकी पूर्ति की जायगी, यह कौन जानता था? मधुसूदनी के अनुवादके साथ इस रसास्वादसे पाठकोंको वंचित रहना होगा, ऐसी आशा किसे थी? पर परमेश्वरकी लीला अचिन्त्य और अपरिमेय है। उनकी अप्रतिहत इच्छासे कभी कभी ऐसी भयंकर अघटित घटनाएं घट जाती हैं कि उनकी दृष्ट सृष्टिमें बहुत बड़ा अभाव होनेके कारण उनपर भी ननुनचकी—व्याख्याऐं होने लगती हैं। उनकी दृष्टिमें कदाचित् इन घटनाओंका भी महत्व हो।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तपोमूर्ति महामहोपाध्याय श्रद्धेय पूज्य पिता जी (म० म० पं० हरिहर कृपालु द्विवेदी) का चैत्र कृष्ण-नवमी मंगल सं० २००५ ता० २२ मार्च १९४९ ई० में नीलकंठ स्थित राधाकृष्ण मन्दिरमें लगभग १० बजे रात्री काशीवास हो गया। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य के मूर्तिमान् स्वरूप पण्डितों के आशाकेन्द्र शास्त्रों की महान् निधि त्याग एवं सारल्य के समन्वय इस संसार से उठ गये। दोनों की अपूरणीय क्षति हुई जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में असम्भव है।

आज उनकी भास्वन्मूर्ति नहीं रही। उनके सस्मित मधुर-वचन प्राप्य नहीं हैं, पर उनकी अबाध गति लेखनी से प्रसूत यह मधुर अनुवाद रस सुलभ है।

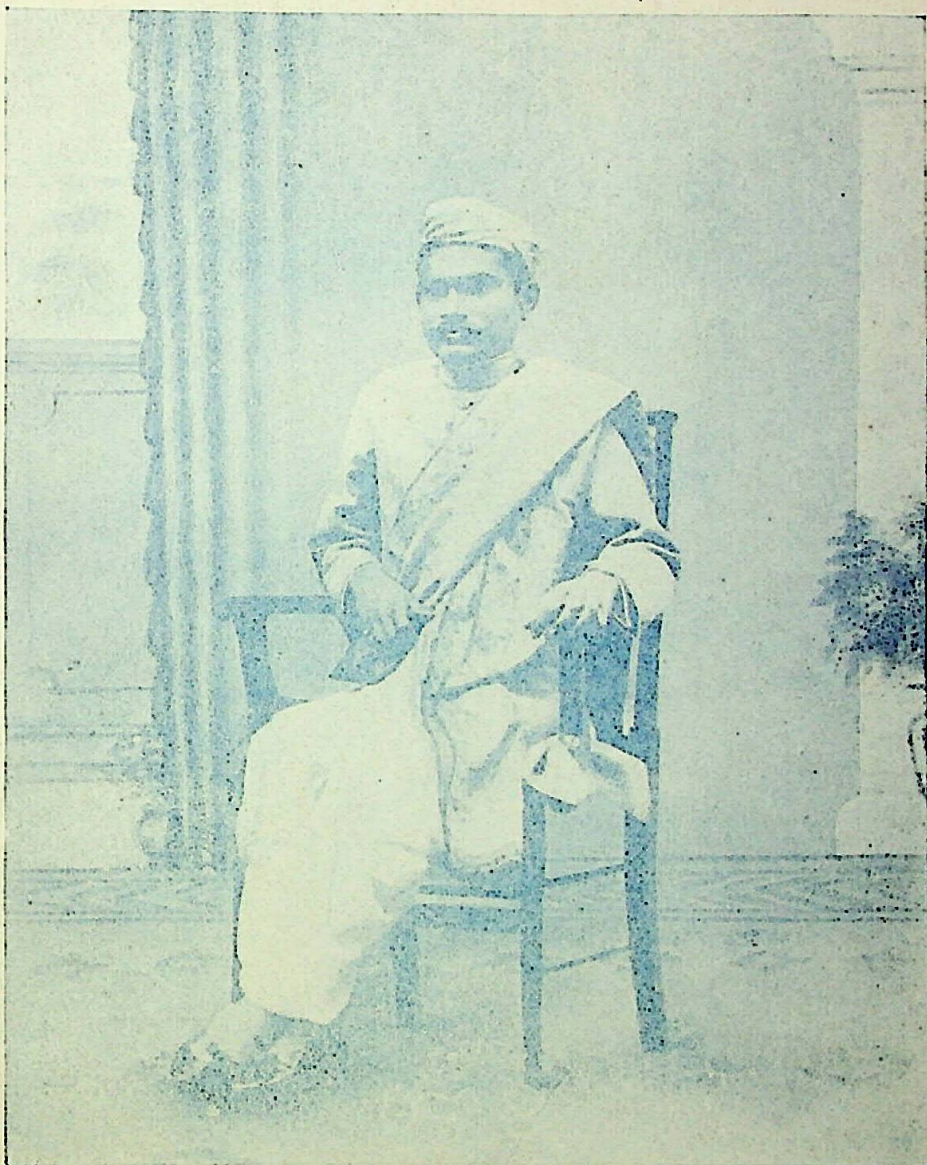
श्रद्धेय पिताजी का सम्पूर्ण जीवन संस्कृत साहित्यके अध्ययन एवं अध्यापन में व्यतीत हुआ। पटना के सुप्रसिद्ध सेठ श्री रामनिरंजनदास मुरारका से सुव्यवस्थित महाविद्यालय में अध्यक्ष पद पर आसीन होकर ४० वर्षों तक व्याकरण साहित्य एवं दर्शन शास्त्रों के गंभीर तत्त्वोंका अध्यापन कराया। बाद काशीमें भगवान् विश्वनाथ के चरणोंमें अपने शेष जीवन के व्यतीत करने की भावना से मेरे दुर्बल कंधों पर महाविद्यालय के अध्यक्ष पदका भार देकर उक्त सेठ जी के सुपुत्रों की अनुपम सहानुभूति एवं सहायता से सानन्द काशीवास करने लगे। वहां भी रह कर आप प्रातःकाल से १२ बजे दिन तक अपना पूजा पाठादि नित्य कर्म कर भोजनोपरांत १ बजे से साधु महात्माओं को वेदान्त का अध्यापन मृत्यु के ६ महीनापूर्वतक कराते रहे।

इधर चार-पांच वर्षों से आपका ध्यान लिखने की ओर विशेष रूप से गया तदनुसार आपने लिखना प्रारम्भ किया। इसी बीच इन्होंने बृहदारण्यकवार्तिकसार का विशालकाय हिन्दी अनुवाद विवेचना सहित लिखा। अच्युत ग्रन्थ माला से मुद्रित होकर विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। पुनः उन्होंने जटिल टीका मधुसूदनीका विवेचना पूर्ण हिन्दी अनुवाद किया जो आपके सामने वर्तमान है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मधुसूदन सरस्वती विरचित मधुसूदनी टीका की गंभीरता एवं गहनता विद्वानों से छिपी नहीं है। फिर भी उसका उन्होंने इतनी शीघ्रता से अनुवाद किया जो दूसरोंसे संभव नहीं था। इस बीच उन्होंने कुसुमांजलि की संस्कृत टीका भी लिखी है जो समय पर मुद्रित होकर आपके सामने आवेगी।

अब तक गीता मधुसूदनी का हिन्दी भाषानुवाद कहीं से प्रकाशित नहीं हुआ है। संभवतः किसी पण्डित ने अबतक इसका अनुवाद ही नहीं किया है। इस महाकाय ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम अच्युत ग्रन्थ माला काशी से प्रारम्भ हुआ था। एक अध्याय तक मुद्रित हो चुका था पर उसके संचालक से अनुवाद की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित होने के कारण वहां स्थगित कर दिया गया। अनुवाद सम्पन्न होने पर भी इस कण्ट्रोल के भीषण युग में इसका प्रकाशन मुझ से हो सकेगा या नहीं, यदि न हो सकेगा तो अनुवाद श्रम व्यर्थ होगा इत्यादि चिन्ता से पूज्य पिताजी का चित्त उद्विग्न था। इसी बीच पटनामहा-विद्यालय के संचालकों में प्रमुख संचालक धर्मनिष्ठ उदारचेता सेठ श्री बाबू छोटेलालजी मुरारका की प्रार्थना से कलकत्ता जाना पड़ा। वहां प्रसंग वश इस ग्रन्थ के प्रकाशनके प्रसंग में उन्होंने सहज मधुर वचन से इस लोकोपकारी ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेकर पूज्य पिताजी की आगन्तुक चिन्ता को दूर कर उनका अमोघ शुभाशीर्वाद प्राप्त किया, और संसार के लोगों को उसके द्वारा दिव्य प्रकाश पहुंचा कर अपने सुयश को बढ़ाया। उक्त सेठजी बहुत सरल प्रकृति एवं निरभिमानी पुरुष हैं। आपकी सद्ब्राह्मण पण्डितों में अत्यन्त निष्ठा है। सनातन धर्म के अनुसार आपकी देवता आदि में पूर्ण श्रद्धा है। ऐसे पुरुष इस युगमें अल्प हैं। आपकी उदारता से ही यह प्रस्तुत ग्रन्थ आपलोगोंके समक्ष उपस्थित हुआ है। इसका श्रेय आपको अत्यधिक है। ऐसे परोपकारी एवं धार्मिक पुरुषों की जीवन कामना करता हुआ इस सत्कार्य के लिये अनेकशः शुभाशीर्वादपुरस्सर धन्यवाद अर्पण करता हूं।

उक्त सेठ जी की कृपा से इस पुस्तक की छपाई आदर्शप्रेस काशी में प्रारंभ हुई। आरम्भ से चतुर्थाध्याय तक एवं दशम अध्याय से त्रयोदशाध्याय के कुछ फर्मे तक करीब दो वर्षों में अनेक बार

भू० पू० प्रकाशक—



स्व० सेठ श्री छोटेलाल जी मुरारका

व्याख्याकार—



महामहोपाध्याय
स्व० प० श्री हरिहरकृपालु द्विवेदी
विद्यारत्नाकर, पण्डित विभूषण, तर्कालङ्कार

प्रोत्साहित करने पर उक्त प्रेस से मुद्रित हो सका। इस मन्दगति से ऊब कर पूज्य पिता जी ने विक्रम-पंचांगप्रेस के संचालक पण्डित प्रवर पं० नागेशोपाध्याय ज्यो० आ० एम० ए० से कथनोपकथन क्रम में इसके मुद्रणका भार लेने को कहा। उन्होंने भी पूज्य पिता जी के आदेश को अनुलंघनीय समझ कर सहर्ष इसके मुद्रण का भार अपने ऊपर लेकर बहुत बड़ा उपकार किया। उनके जीवन काल में मुद्रण के उपकरण संघटन में ही समय व्यतीत हुआ। बाद अपने सभी अत्यावश्यक कार्यों को भी रोककर उन्होंने इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक फर्मा निकलने लगा। उसी का यह सुखद परिणाम है जो पांच महीनेके भीतर इस महान् ग्रंथके शेष भागका मुद्रण इतना शीघ्र हो सका। वस्तुतः यह आपकी सरलता सत्यवादिता एवं उदारता का फल है। इसके लिये जितना भी धन्यवाद दिया जाय उतना कम ही है। आपका मैं चिर कृतज्ञ हूं आपके लिये अनेकशः शुभकामना साथ ही साथ उक्त प्रेस के मैनेजर पं० गंगा प्रसाद जी शुक्ल को भूरि भूरि धन्यवाद देता हूं, जिनकी तत्परता से यह कार्य सुसम्पन्न हुआ है।

पूज्य पिताजीके स्वर्गारोहणके पश्चात् कार्य भार आजानेसे मैं किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया। पटना रहकर काशीमें इसकी छपाई आदिकी देख-रेख कैसे कर सकूंगा इत्यादि विविध चिन्तासे उद्विग्न चित्तको पं० कृष्णमोहन ठाकुर व्याकरणसाहित्याचार्य मीमांसावेदांतशास्त्री की सहानुभूति से शांति मिली। इन्होंने शीघ्रातिशीघ्र मुद्रण करनेके लिये आतप और वर्षाकी परवाह न कर पुस्तकका सम्पादन किया। इतनी तत्परता देखकर मुझे कभी कभी आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता था। आपने ही पंचमाध्यायसे प्रूफसंशोधन किया है आपका सहयोग कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। मैं आपका चिर आभारी हूं।

प्रथम अध्यायसे चतुर्थ अध्याय तक सम्पादन पं० मूल शंकर व्यास, पं० गोपालदत्त त्रिपाठी जी तथा पं० हरद्वार त्रिपाठी जीने किया है, उनके इस परिश्रमके लिये धन्यवाद है।

अन्तमें अपने सहयोगी श्रद्धेय पं० कमलाकांत मिश्र प्रिन्सिपल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय काशी तथा पं० श्री रामानुजओझा न्याय व्याकरण साहित्याचार्य अध्यापक बिरला महाविद्यालय काशी एवं पं० श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री मीमांसा वेदान्ताचार्य अध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय काशीको अनेकानेक धन्यवाद देता हूं जिनके प्रबल सहयोगसे इस ग्रन्थके अन्तरंग बहिरंग उपकरण सुलभ हो सके हैं। साथ ही साथ

शुभोदय श्री देवनारायण झा को शुभाशीर्वाद पुरस्सर धन्यवाद है जिनकी सहायता समय समय पर मुझे मिलती रही है ।

अन्तमें कुछ विनम्र निवेदन कर मैं अपना कथन समाप्त करता हूं । पूज्य पिताजीके निधनके पश्चात् इसके मुद्रणका भार मैंने अपने दुर्बल कंधों पर उठाया, साथ ही साथ यह भी प्रयत्न रहा कि पुस्तकका प्रथम संस्करण यथा सम्भव शीघ्र हो जाय । दैवयोगसे पं० श्री नागेशोपाध्याय जैसे सहायक मिल गये, उन्होंने अपने प्रेसमें अन्य पुस्तकोंका प्रकाशन रोककर केवल इसी ग्रन्थका मुद्रण प्रारम्भ किया । फल स्वरूप अतिशीघ्र मुद्रित होकर आपके सामने है ।

शीघ्रताके कारण इसमें त्रुटियां भी कम नहीं है, शीघ्रतावश प्रेस कापी तैयार न हो सकी, मूल लेख जो बहुत जल्दीमें लिखा गया था, उसके आधार पर ही छपाईके कार्य होनेसे एवं गहन विषय हमलोगोंकी बुद्धिसे अगम्य होनेके कारण एवं प्रेस कर्मचारियोंकी असावधानीवश जो त्रुटियां ग्रन्थमें आ गई हैं, उसे पाठकगण स्वयं संशोधन कर लेंगे पिताजीकी इच्छा देखते हुये मेरी इतनी प्रबल कामना हुई कि जिस किसी तरह भी यह पुस्तक एकबार मुद्रित होकर प्रकाशमें आ जाय । तदनुसार मैंने शीघ्रतामें इसका मुद्रण कराया । फलस्वरूप कुछ अशुद्धियां आ गई जिनका निराकरण दूसरे संस्करणमें हो जायगा । मेरी विवशता एवं शीघ्रता पर ध्यान देते हुये आशा है इसकी त्रुटियोंको आप क्षम्य समझेंगे । विश्वास है कि विद्वन्मण्डली इसकी भूलोंको सूचित कर अपने कर्तव्यका पालन करेगी, जिससे दूसरे संस्करणमें त्रुटियोंका परिमार्जन हो जाय ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

भवदीय—

ब्रह्मदत्त द्विवेदी

अध्यक्ष

सेठ श्री रामनिरंजन दास मुरारका

संस्कृत कालेज, पटना सिटी ।

अनन्त चतुर्दशी

सं० २००६ ई०

सम्पादक—



पण्डित श्रीब्रह्मदत्त द्विवेदी जी व्याकरणभूषण
न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य
प्राचार्य
श्रीरामनिरञ्जनदास मुरारका संस्कृत कालेज
पटना सिटी

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

श्रीमद्भगवद्गीता मधुसूदनी टीकाके भाषानुवादका प्रथम संस्करण प्रकाशित होते ही समाप्त हो गया। सहृदय पाठकोंकी अभिरुचि इस ग्रन्थकी उपादेयताके कारण इससे स्पष्टतः व्यक्त होती है। एतदर्थ पाठकोंकी गुणग्राहकता भूरि-भूरि प्रशंसनीय है।

गीता तत्त्वार्थ जिज्ञासु श्रद्धालु ग्राहकोंकी अत्यधिक मांग होनेके कारण उक्त ग्रन्थके द्वितीय संस्करणके प्रकाशित करनेके लिये प्रयास करना नितान्त आवश्यक हो गया। इस ग्रन्थके प्रथम संस्करणका प्रकाशन दानवीर सेठ श्री छोटेलाल मुरारकाके द्वारा सम्पन्न हुआ था। दुर्भाग्यवश उनका स्वर्गवास हो गया। अतः उनके अल्प-वयस्क सुपुत्र श्री विनोद कुमार मुरारका के ऊपर इस ग्रन्थके प्रकाशनका भार आ गया। किन्तु उनकी अल्प वयस्कताके कारण प्रकाशनभार उनके द्वारा सम्पन्न कराना अभी उचित प्रतीत नहीं हुआ। इन्हीं कारणोंसे इतने दिनों तक इसके द्वितीय संस्करणका प्रकाशन नहीं हो सका।

जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी असीम अनुकम्पासे एवं सेठ श्री महावीर प्रसाद मुरारका एवं सेठ श्री कमला प्रसाद मुरारकाके सत्परामर्शसे सेठ श्री विनोद कुमार मुरारका का (जो अन्नपूर्ण वयस्क होकर अपने व्यापार कार्यको निपुणतासे संभाल रहे हैं) ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। अतएव इसके द्वितीय संस्करणके प्रकाशनके लिये मुझसे परामर्श किया गया। अन्तमें उन्होंने मुझ अल्पज्ञ पर इसके प्रकाशनका भार सौंपा और कागज एवं द्रव्यकी समुचित व्यवस्था कर दी।

उक्त ग्रन्थके मुद्रणका कार्य मैंने वाराणसीमें करानेका निश्चय किया। किन्तु पटनामें रहते हुये इसके संशोधनादिके कार्यमें कठिनाईका अनुभव होने लगा। सौभाग्यवश मीमांसक शिरोमणि पण्डित श्री अ० सुब्रह्मण्य-शास्त्रीजी (भूतपूर्व धर्मशास्त्र-मीमांसादर्शन विभागाध्यक्ष हिन्दू विश्वविद्यालय काशी) ने इस कार्यभारको वहनकर मुझको चिन्तासे मुक्त कर दिया। आदरणीय शास्त्रीजीने केवल प्रूफ संशोधनसे ही मुझको उपकृत नहीं किया अपितु उद्धृत वचनोंके आगे पुस्तकोंके पृष्ठ आदिका निर्देश एवं भाषामें उनके अर्थोंका उल्लेख कर इस संस्करणको सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सर्वोत्कृष्ट बना दिया है। एतदर्थ वे धन्यवादके पात्र हैं।

मूल श्लोकोंके अर्थोंके परिवर्तन और परिवर्द्धनमें वैदिक प्रवर पण्डित श्रीभगवती प्रसाद मिश्र (प्राध्यापक सेठ श्री रामनिरञ्जन दास मुरारका संस्कृत कालेज, पटना सिटी) का सक्रिय सहयोग मिला है। अतएव मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

इस ग्रन्थका प्राक्कथन वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीके उपकुलपति प्रख्यात विद्वान् पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी ने लिखा है। उनके पास अनेक कार्य रहते हुये भी भूमिका लिखकर जो अनुग्रहपूर्ण आत्मीयता दिखाई है वह भूरि-भूरि अभिनन्दनीय है। एतदर्थ अनेक धन्यवादके साथ आभार प्रकट करता हूँ।

अन्तमें सेठ श्री विनोद कुमार मुरारका, सेठ श्री महावीर प्रसाद मुरारका, सेठ श्री कमला प्रसाद मुरारका एवं सेठ श्री हनुमान प्रसाद मुरारका को हार्दिक धन्यवाद एवं शुभ कामना प्रकट करता हूँ। तथा इन महानुभावोंको भगवान् चिरायु एवं दिनानुदिन समृद्धिशाली बनावें। साथ ही साथ शुभोदय श्री देवनारायण झा को शुभाशीर्वाद पुरस्सर धन्यवाद है जिनकी सहायता समय समय पर मुझे मिलती रही है।

कतिपय स्थानोंमें शङ्कानिवृत्तिमात्रके लिये मैंने नवीन टिप्पणी एवं पाठान्तर दिया है। आशा है पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे।

प्रथम संस्करणकी त्रुटियोंका मार्जन यथासम्भव द्वितीय संस्करणमें कर दिया गया है, अकारादिक्रमसे श्लोकानुक्रमणिका, भ्रामक अशुद्धियों का यथासंभव शुद्धि पत्र भी संस्कृत तथा हिन्दी का दिया है, किन्तु भ्रम प्रमाद मानवके स्वाभाविक धर्म होनेसे यत्र तत्र रह गयी त्रुटियोंके लिये विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

ब्रह्मदत्त द्विवेदी
प्रिंसिपल
श्री रामनिरञ्जन दास मुरारका संस्कृत कालेज
चौक, पटना सिटी।

गीता-जयन्ती
सं० २०३१

श्रीमद्भगवद्गीताध्यानादि

श्री गणेशायनमः। श्री गोपालकृष्णायनमः।

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम् नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति-पावक इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः। अच्छेद्योऽयम-दाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां नमः। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामि-काभ्यां नमः। पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। इति करन्यासः अथ हृदयादिन्यासः। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति शिखायै वषट्। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्। पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट्। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति अस्त्राय फट्। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते ! भवद्वेषिणीम्॥ १॥

नमोऽस्तु ते व्यास ! विशालबुद्धे ! फल्लारविन्दायतपत्रनेत्र !
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥ २॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥ ३॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ ४॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गांधारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ ६ ॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वंदे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतस्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः-
वेदैःसाङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ९ ॥

॥ इति ध्यानम् ॥



ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

श्रीमद्भगवद्गीता

[सानुवादमधुसूदनीव्याख्यासहिता]



प्रथम अध्याय

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय। भक्तजनमानसनिवासाय श्रीमद्रामचन्द्राय ॥

आत्मेप्सितार्थसिद्ध्यर्थं संस्तुतो यः सुरादिभिः। अविघ्नं ग्रन्थसंपूर्त्यै तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

षडाननेन प्रथमं निपीतं स्तनद्वयं सस्मितमम्बिकायाः। प्रक्षाल्य शुण्डप्रसृतोदकेन पिबन् गणेशो दयतां कृतेर्नः॥ २ ॥

नमो महा - जगज्जाल - तन्तवेऽखिलजायवे। लोकत्रयीत्रयी - धर्म - सेतवे वृषकेतवे ॥ ३ ॥

नन्नमीमि सदानन्दं शिवमद्वैतमव्ययम्। अशेष-क्लेशविश्लेषकृपैक - करुणाकरम् ॥ ४ ॥

लोकं पिपालयिषुरेव विषं निपीय तत्कील - जाल - घटन - स्फुट - कण्ठकालः।
यः प्राक्षिपद् भुवनभङ्गभयान्न धीरः तं चन्द्रचूडमनिशं हृदि चिन्तयामि ॥ ५ ॥

श्रीमद्गोपाङ्गनापाङ्ग - तरङ्गायित - मानसम्। नमामि जङ्गमानन्दं निर्भरं नन्दनन्दनम् ॥ ६ ॥

वन्दे वेदान्तसिद्धान्तं निर्भेदानन्दमद्वयम्। मुकुन्दमरविन्दाक्षं गीतागीतार्थसंविदे ॥ ७ ॥

ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रवन्दितपदद्वन्द्वारविन्दं मुदे दृप्यद्दुर्मददैत्यदर्पदलनप्रोद्दामदण्डोदयम्।
दैन्यद्राविदयोपदेशशमितद्वैतादरोपद्रवम् सत्यानन्दघनामलेन्दुवदनं वन्देऽतिनीलं महः ॥ ८ ॥

गीतोपदेशैरपनीय मोहं सुप्राजिताजौ स्वयमेव भूत्वा। जयश्रिया जिष्णुमयूयुजद् यः स वासुदेवः शरणं ममास्तु ॥९॥

मधुसूदनवाग्भावं व्याचिकीर्षोर्ममान्तरम्। प्रकाश्यतां त्वया मातः सरस्वति नमोऽस्तु ते ॥१०॥

भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्याऽतिप्रयत्नतः । प्रायः[1] प्रत्यक्षरं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ १ ॥

श्रीमद्रामनिरञ्जनस्य तनयो धर्माध्वनीनाग्रणीः छोटेलालमुरारकेत्यभिहितिः लोकोपकारव्रती।
प्रारब्धस्थगितं प्रकाशनमिति श्रुत्वादिशद् योऽस्य माम् एतत्कारयितुं स मे प्रभुवरो जीव्यात्समानां शतम् ॥११॥
पूर्वं व्याख्याकृतावासीत् प्रतिबन्धो महान् मम। तेनातुष्यत् वासुदेवो व्यवधीदिति मे मतिः ॥१२॥
अबन्धसुव्याहृतये मानसः स्वामिनो मम। भूत्वा मां प्रैरिरत्सोऽत्र सत्यमेतन्न संशयः ॥१३॥
ज्ञात्वाऽवज्ञानमज्ञानैः स्थगितादिच्छलैः परैः। कृतं मिमृक्षया तस्य प्रभुणाऽत्र नियोजितः ॥१४॥
स्वतन्त्रोऽनुवदिष्यामि क्वचिद् ग्रन्थस्थदूषणम्। सत्यार्थनिर्णयो यत्र न विना तेन संभवेत् ॥१५॥
क्वचिद्भाष्यप्रतीपार्थं स्वयमाह सरस्वती। न तेनाऽपचिता भक्तिः तस्य तत्र मनागपि ॥१६॥
ग्रन्थभक्तिर्न भव्याय न मह्यं रोचतेऽपि सा। असंस्कृतातिभिदुरं हृदयं हर्षयेदियम् ॥१७॥
नोपेक्ष्ये नोपहस्ये वा न विगीये न नाद्रिये। जनैः सुमार्गे सुचलन् प्रत्यवैमीति का कथा ॥१८॥
पद - वाक्य - प्रमेदादि - प्रविवेक - पराङ्मुखः। मूलप्रतीपं प्रत्येति पङ्क्तेरर्थं प्रतिष्ठितम् ॥१९॥
पौरुषेय - प्रमादादि - समुत्पादे न विस्मयः। सुविस्मयो विवेकेऽपि जाते तत्र दुराग्रहः ॥२०॥
कृतायाः परिभूवेस्तैर्विप्रस्य वादतः फलम्। शास्त्रोक्तं[2] छद्मजायास्तु न जाने कस्य किं भवेत् ॥२१॥

श्रीमत्-शङ्करभगवत्पादप्रणीत भाष्यका सपरिश्रम अवलोकन[3] कर प्रायः प्रत्येक अक्षरकी गूढार्थदीपिकानामक व्याख्या करता हूँ। यद्यपि उक्त भाष्यकी अनेक महापुरुषरचित टीकाएँ हैं, जिनसे भाष्यार्थके अवबोधमें प्रचुर सहायता मिलती है, तथापि मेरा श्रम व्यर्थ नहीं जायगा, कारण कि अन्य टीकाओंमें गूढार्थक[4] शब्दोंकी व्याख्या नहीं है, जिसकी कि अत्यन्त आवश्यकता है। यथार्थ वाक्यार्थके निर्णयमें गूढार्थक पदोंके अर्थज्ञानसे बड़ी सहायता मिलती है, अन्यथा वाक्यार्थतात्पर्य-निर्णय नहीं होता। समीचीन शाब्दबोधमें तात्पर्यनिर्णय कारण है। अध्यात्म यथार्थ गीताशास्त्रका अर्थ स्वस्वसंप्रदायानुसार बहुविध देखा जाता है। इससे शुश्रूषु- जनोंको संशय होता है कि भगवान्का तात्पर्य किस अर्थमें है? परस्पर विरुद्ध अर्थ तो विवक्षित हो नहीं सकता। समीचीन उपायके ज्ञानसे ही उपेयकी प्राप्ति हो सकती हैं, अन्यथा नहीं, इसलिए गूढार्थक शब्दोंकी व्याख्या द्वारा यह निर्णय सुकर होगा कि इस वाक्यका यही अर्थ है, अतः उनके निरूपणके लिए इस व्याख्याकी आवश्यकता है। यद्यपि पदघटक प्रत्येक अक्षर स्वतन्त्र अर्थ-बोधक नहीं होते, किन्तु अक्षरसमुदायात्मक पद ही अर्थबोधक होते हैं, अतः प्रत्यक्षर-व्याख्याकी प्रतिज्ञा उचित नहीं है, तथापि प्रत्यक्षरका अभिप्राय लक्षणया अक्षरसमुदायात्मक पदमें है।

१. क्वचित् प्रतिपदमिति पाठः।
२. देखिए—याज्ञवल्क्यस्मृति (३।२९१)
३. अर्थात् चिन्तन कर। अवलोकनं दर्शने अनुसन्धाने च इति वाचस्पत्यम् के अनुसार अवलोकन, अनुसन्धान, चिन्तन ये सब पर्याय हैं।
४. किसी ने गूढ का अर्थ गोप्य किया है। पर गूढ का अर्थ गुप्त है गोप्य नहीं। विवरण और विव्रियमाण को समानार्थक होना चाहिये।

शङ्का—तो प्रतिपद क्यों नहीं कहा ?

समाधान—लक्षणया अभिधानमें प्रयोजन ध्वनित होता है। प्रायः टीकाकार सरल शब्दोंकी विशद व्याख्या करते हैं, क्लिष्ट शब्दोंका त्याग कर देते हैं। मेरी व्याख्यामें ऐसा नहीं है। गूढार्थकोंका विशेष रूपसे निरूपण है। तात्पर्य यह है कि एक अक्षर भी अव्याख्यात नहीं है, पदके अव्याख्यान की तो संभावना ही कहाँ ? अथवा एकाक्षरात्मक भी पद हैं, जैसे—तु, च, वा प्रभृति। ये पादपूरणार्थ भी होते हैं, इस भ्रमसे कुछ लोग इनकी उपेक्षा कर देते हैं, परन्तु भगवद्वाक्यमें केवल पादपूरणार्थक ही सर्वत्र उक्त शब्द नहीं हैं, किन्तु विशिष्ट अर्थका बोध करानेकी इच्छासे प्रयुक्त हैं। यह आगे स्पष्ट होगा। उनके निरूपणके संग्रहार्थ प्रत्यक्षरपदोपादान है। किञ्च, पदघटक प्रकृति, प्रत्यय आदि भी अर्थविशेषके बोधक होते हैं, जिनके अर्थविशेष अन्य टीकाओंमें व्यक्त नहीं किये गये हैं, यहाँ वे भी व्यक्त किये गये हैं। इसलिए प्रत्यक्षरव्याख्यान कहा गया है। 'तं तथा कृपयाविष्टम् ··· विषीदन्तमिदं वाक्यं' इस श्लोककी व्याख्यामें 'कृपामें कर्तृत्वनिर्देशसे स्वाभाविकत्वका प्रदर्शन किया है और 'विषीदन्तं विषादं प्राप्नुवन्तम्' यह व्युत्पत्ति बतलाकर उसमें पराधीनत्वका प्रदर्शन किया है' इत्यादि, जो आगे व्यक्त होंगे, अतः प्रत्यक्षरपदका उपादान अर्थविशेषके बोधनके लिए आवश्यक है। जो अति स्पष्टार्थक शब्द हैं, वे उच्चारित होते ही स्वार्थको अभिव्यक्त कर देते हैं, उनके व्याख्यानकी श्रोताको जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा संदिग्ध अर्थमें होती है, उसकी निवृत्ति एकतरार्थ निर्णयसे होती है, उसके निर्णयके लिए व्याख्यान अपेक्षित होता है। केवल प्रतिज्ञामात्रके निर्वाहके लिए यदि अजिज्ञासित अर्थका भी व्याख्यान किया जाय, तो अजिज्ञासिताभिधान दोष होगा, जिससे श्रोताओंकी ग्रन्थश्रवणमें ही अनिच्छा होगी, उक्त दोषकी अपेक्षासे यह दोष कम नहीं है, क्योंकि ग्रन्थप्रयोजन ही नष्ट हो जायगा, अतः श्रोताओंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए अजिज्ञासित पदकी व्याख्या न की जाय, तो भी प्रतिज्ञाका भङ्ग न हो, इसलिए 'प्रायः' पदका प्रयोग किया गया है। श्रोताओंकी सोत्साह प्रवृत्तिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अभिधेय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारीरूप चार अनुबन्धोंका निर्देश करना आवश्यक होता है, अन्यथा अनावश्यक समझकर उपेक्षाबुद्धिसे श्रवण आदिमें साभिनिवेश विनेयप्रवृत्ति (शिष्यप्रवृत्ति) नहीं होगी, अधिकारिभेदसे प्रयोजन अनेकविध होते हैं, ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वरूप[1] अनुबन्धत्व चारों अनुबन्धोंका सामान्य लक्षण है। प्रयोजनका निर्देश होनेपर शेष स्वयं प्रतीत हो जाते हैं। प्रयोजन भी मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारके होते हैं, मुख्य प्रयोजन भाष्योक्त संसाररूप अनर्थकी निवृत्ति और नित्यसुखरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति है। यह ग्रन्थ भाष्यार्थका निर्णायक होनेके कारण भाष्यका ही अङ्ग है, अतः मुख्य प्रयोजन तो है ही, साथ- साथ भाष्योक्त गूढार्थका निर्णय भी प्रयोजन है, उसका जिज्ञासु अधिकारी है, यह स्पष्ट सूचित होता है, अभिधेयका ग्रन्थके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, प्रयोजनके साथ उपायोपेयभावादिसम्बन्ध भी सुस्पष्ट है ॥ १ ॥

१. ग्रन्थमें प्रवृत्ति करानेवाले ज्ञानकी विषयता।

सहेतुकस्य संसारस्याऽत्यन्तोपरमात्मकम् । परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥२॥
सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम् । यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥३॥

शङ्का - गीताशास्त्रका प्रयोजन क्या है ?

समाधान—कारणके (अज्ञानके) साथ-साथ अनर्थमूल संसारकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष ।

शङ्का—दुःखनिवृत्तिके साधन तो आयुर्वेद आदि शास्त्र भी हैं, फिर उसके लिए गीताका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—हाँ उक्त शास्त्र हैं, परन्तु वे दुःखनिवृत्तिके ही साधन हैं, आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके साधन नहीं हैं ।

शङ्का—आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति क्या है ?

समाधान—निवृत्तस्य पुनरनुत्पादः । निवृत्ति दो प्रकारकी होती है—एक आत्यंतिक और दूसरी अनात्यंतिक । प्रथम जिसकी निवृत्ति हुई हो, उसकी पुनः देशान्तर, कालान्तर या अवस्थान्तरमें उत्पत्ति न हो वह है । जिसकी निवृत्ति एक बार हुई हो, परन्तु कालान्तरमें फिर उसकी उत्पत्ति हो, वह अनात्यन्तिक निवृत्ति है । आयुर्वेद आदि शास्त्र इसी निवृत्तिके कारण हैं और गीताशास्त्रज्ञान प्रथम (आत्यन्तिक) निवृत्तिका कारण है, इस भावको अभिव्यक्त करनेके लिए प्रकृतमें सहेतुकपदका उपादान है । श्लोकार्थ यह है कि सहेतुक (अविद्यारूप हेतुके साथ) संसारका अत्यंत उपरमरूप परमपुरुषार्थ (मोक्ष) गीताशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है ।।२।। (निवृत्ति) सत् अर्थात् कालत्रयाबाध्य[1] चित्-प्रकाश, आनन्द अर्थात् निरतिशय सुख । प्रकृत श्लोकमें पूर्णपदका तात्पर्य निरतिशयमें है, वैषयिक सुख विषयाधीन होनेसे विषयगत तारतम्यापेक्षया सातिशय और अनित्य है, आत्मा एकरस और नित्य है, अतः, उसका स्वरूपभूत सुख निरतिशय तथा नित्य है, नित्यनिरतिशयानन्दात्मवस्तुरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिए भक्ति, ज्ञान और उपासना-भेदसे काण्डत्रयात्मक वेदका ही आविर्भाव है । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इस कोषके अनुसार यहाँ पदशब्द स्वरूपवाची है', विष्णुशब्द आत्मवाची है । काल्पनिक भेद मानकर 'विष्णोः' यह षष्ठी है । 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इस श्रुतिके अनुसार यहाँ भी षष्ठीका प्रयोग है । अथवा सालोक्य मुक्तिके तात्पर्यसे ब्रह्मलोकप्राप्ति मोक्ष है, जो वैष्णव आदि मतमें प्रसिद्ध है, जो मानिये, अभी इसका निर्णय नहीं किया जा रहा है, केवल निर्णय इस बातका है कि काण्डत्रयात्मक वेद मोक्षप्राप्तिके लिए है । मोक्षमें समस्त वेद प्रमाण है, इस कथनसे प्रयोजनमें अप्रामाण्यशङ्का निरस्त हुई, अप्रामाण्यशङ्काकी निवृत्तिका फल अध्यात्मतत्त्वका निरूपण करनेवाले गीताशास्त्रमें निश्शङ्क प्रवृत्ति है ॥ ३ ॥

१. तीनों कालोंमें जिसका बाध न हो ।

कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् । तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका ॥४॥
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् । कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥५॥
यतः समुच्चयो नाऽस्ति तयोरतिविरोधतः । भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥६॥
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी । कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ॥७॥

क्रमशः कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं, तीन काण्डरूप अठारह अध्यायोंसे यह गीता भी काण्डत्रयात्मक ही है । काण्डत्रयात्मक वेदमें अष्टादशाध्यायात्मक गीताका अन्तर्भाव इस प्रकार माना गया है—आदिसे छः अध्याय तक कर्मकाण्डमें, सातसे बारह अध्यायतक उपासनाकाण्डमें और तेरहसे अठारह अध्याय तक ज्ञानकाण्डमें गीता अन्तर्भूत होती है ॥ ४ ॥

उक्त अन्तर्भावके प्रकारको स्पष्ट करते हैं—'एकम्' इत्यादिसे ।

पहलेके छः अध्यायोंसे अर्थात् वैदिक प्रथम काण्डसे कर्मनिष्ठा, तेरहवेंसे अठारहवें तक आखिरके छः अध्यायोंसे अर्थात् ज्ञानकाण्डात्मक वैदिक तृतीय काण्डसे ज्ञाननिष्ठा तथा सातवेंसे बारहवें तक बीचके छः अध्यायोंसे यानी वैदिक मध्यम उपासनाकाण्डसे भक्तिनिष्ठा कही गई है ॥ ५ ॥

इस विभागमें हेतु कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

अत्यन्त विरोध होनेसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय यानी एक आत्मामें एक कालमें कर्म और ज्ञान दोनोंका एक साथ सम्पादन नहीं हो सकता ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कर्मानुष्ठान साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता आदि भेदसापेक्ष है, और श्रवण, मनन आदि समस्तभेदमिथ्यात्वबोधनपुरःसर आत्मैकत्वज्ञानके उपाय हैं । उन दोनों साधनोंमें अत्यन्त विरोधको बतलानेके लिए अव्यवहित पूर्वा-परीभावसे भगवान्‌ने स्वयं ही उनका निर्देश नहीं किया, किन्तु मध्यम भक्तिकाण्डसे व्यवहित कर निर्देश किया है । भगवद्भक्तिनिष्ठाका कर्म और ज्ञान दोनोंमें से किसीसे भी विरोध नहीं है, इसीलिए इसका मध्यमें समावेश किया है ॥ ६ ॥

भक्तिका ज्ञान और कर्मसे केवल अविरोधमात्र ही नहीं है, किन्तु दोनोंके साथ अनुरोध भी है । सब कर्मोंमें अन्तराय होना स्वाभाविक है, अतएव सकल श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें विघ्नोंका निवारण करनेके लिए विशेषकर—गणपति आदिके मन्त्र, जप, पूजन आदिका—विधान है । ईश्वरप्रणिधानरूप मङ्गलसे विघ्नकी निवृत्ति होती है, यह सम्पूर्ण आस्तिक तन्त्रोंके सिद्धान्तोंसे सिद्ध है । भक्ति केवल कर्म और ज्ञानमें सहायक ही नहीं है, किन्तु स्वरूपसे भी उभयात्मक है । भक्ति तीन प्रकारकी होती है—कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और शुद्धा । इसका विवेचन अन्यत्र स्पष्ट है । जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिए ॥ ७ ॥

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्म तत्त्यागवर्त्मना । त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥ ८ ॥
द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना । भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ ९ ॥
तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् । एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम् ॥ १० ॥
प्रत्यध्यायं विशेषस्तु तत्र तत्रैव वक्ष्यते । मुक्तिसाधनपर्वेदं शास्त्रार्थत्वेन कथ्यते ॥ ११ ॥

तीनों काण्डोंकी परस्पर संगति कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

प्रथम काण्डमें कर्म और उसके त्याग द्वारा त्वंपदार्थ जीवात्माका निरूपण किया गया है । जीव और ब्रह्मके अभेदका ही गीता-द्वारा भगवान्‌को प्रतिपादन करना अभीष्ट है, दोनोंका अभेदबोध दोनोंके स्वरूपज्ञानके अधीन है, दोनोंका वास्तविक स्वरूपनिर्णय प्रत्यक्षादि प्रमाणसे नहीं हो सकता । आगम द्वारा भी उनके स्वरूपके निर्णयमें कठिनाई है, कारण कि शास्त्रकारोंकी भी युक्त्याभास, वाक्याभास द्वारा अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, अतः तत् और त्वं पदार्थके शोधक वाक्य द्वारा युक्तिके साथ त्वं पदार्थ विशुद्ध आत्मा है, इसका निरूपण किया गया है, ज्ञानादिगुण वाला आत्मा है, यह द्वैतवादियोंका मत है, आत्मा शुद्ध चैतन्य-मात्रस्वरूप है, यह सांख्य-योग—अद्वैतवेदान्तवादियोंका—मत है । गीता द्वारा परिशोधित त्वं आत्मपदार्थ है, आत्माका स्वरूप क्या है, यही विशेष द्रष्टव्य है । यद्यपि गीतावाक्योंका अर्थ स्वस्वसम्प्रदायानुसार सकल साम्प्रदायिकोंने किया है. तथापि निष्पक्ष विचार करनेपर वास्तविक भगवदभिप्रेतार्थका निर्णय छिप नहीं सकता ॥ ८ ॥

द्वितीय काण्डमें भगवद्भक्तिनिष्ठाके वर्णन द्वारा परमानन्दस्वरूप भगवान् तत्पदार्थ हैं, यही निश्चय किया गया है ॥ ९ ॥

तृतीय काण्डमें तत्त्वंका यानी जीव और ब्रह्म के ऐक्यका ही, जो 'तत्त्वमसि' इस श्रौत वाक्यका वाक्यार्थ है, स्फुट निर्णय किया गया है । इस तरहसे भी तीनों काण्डोंकी परस्पर संगति है । वाक्यार्थज्ञानमें पदार्थज्ञान कारण है, यह सबका सिद्धान्त है । तृतीय काण्डमें 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका अर्थ निरूपित है । यद्यपि वाक्यमें तत्पद पूर्वमें है और त्वंपद तदनन्तर है, जिस क्रमसे पदश्रुति होती है, उसी क्रमसे पदार्थजिज्ञासा होती है, तदनुसार ही पदार्थनिरूपण होना चाहिए, यह क्रम औत्सर्गिक है, तथापि त्वंपदार्थके निरूपणके बिना तत्पदार्थका निरूपण अति दुर्बोध है, इसलिए बोधक्रमानुसारसे बोधके सौकर्यके लिए पूर्वमें त्वंपदार्थका निरूपण किया गया है, उद्देश्य क्रमानुसार उक्त वाक्य है । विशेष आगे कहेंगे ॥ १० ॥

प्रत्येक अध्यायकी सङ्गति तत्-तत् अध्यायकी व्याख्या करते समय ही कहेंगे । उचित भी यही है, क्योंकि वहीं पर यह जिज्ञासा होगी कि इस अध्यायार्थके निरूपणके अनन्तर इस अध्यायार्थके निरूपणमें क्या संगति है ? विद्वानोंका निरूपण जिज्ञासानुसार ही होता है । उत्थाप्यजिज्ञासापेक्ष[1] भाषणकी अपेक्षा

१. उस विषयकी जिज्ञासा उत्पन्न कर भाषणकी अपेक्षा स्वतः उत्पन्न जिज्ञासाके विषयका भाषण ।

निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात्काम्यनिषिद्धयोः । तत्राऽपि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः ॥१२॥
क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा । नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा ॥१३॥
इहामुत्रार्थवैराग्यं वशीकाराभिधं क्रमात् । ततः शमादिसम्पत्या संन्यासो निष्ठितो भवेत् ॥१४॥
एवं सर्वपरित्यागान्मुमुक्षा जायते दृढा । ततो गुरूपसदनमुपदेश - ग्रहस्ततः ॥१५॥

उत्थितजिज्ञासापेक्ष भाषण अधिक प्रिय होता है। यह शास्त्रार्थरूपसे मुक्तिसाधन पर्व कहा जाता है। पर्व (पोर) यानी ग्रन्थिविशेष है। जैसे 'पञ्चपर्वा अविद्या' कही गई है, वैसे ही प्रत्येक अध्याय मुक्तिसाधन सम्पूर्ण गीताके पर्व हैं ॥ ११ ॥

शङ्का—कर्मानुष्ठानके फल पुत्र, पशु, स्वर्ग आदि हैं, तत्-तत् कर्मविधायक वाक्योंमें विशिष्य तत्-तत् फलका निर्देश स्फुट है अतः आत्मज्ञान कर्मफल कैसे होगा ?

समाधान—ठीक है, कर्मफलके उद्देश्यसे तत्कृत कर्मोंका तद्वाक्योक्त फल ही फल है, परन्तु निष्काम-बुद्धिसे जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल मनकी शुद्धि द्वारा आत्मज्ञान ही है।

शङ्का—काम्यकर्मानुष्ठानसे ही धर्म होता है, नित्यनैमित्तिकोंका फल केवल प्रत्यवायनिवृत्तिमात्र है। नित्यादि कर्म अभ्युदयादिसाधन नहीं है अतएव उसको पण्डापूर्वजनक कहते हैं।

समाधान—काम्य और निषिद्ध कर्मका त्याग कर नित्यकर्मानुष्ठानसे भी धर्म होता है, क्योंकि उसमें भी भगवत्प्रसादहेतु जप, स्तुति आदि कर्म हैं ही, 'यत्त्वत्प्रियं तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत्' इस वचनके अनुसार भगवत्प्रीति ही पुण्य है। नित्यकर्ममें जप, स्तुति आदि हैं ही। अथवा काम्य और निषिद्ध फलोंका त्याग कर उन कर्मानुष्ठानोंसे भी पुण्य ही होता है, अतएव निष्कामपद भी सार्थक होता है। काम्यफलसाधन कर्म काम्य और निषिद्धफलसाधन कर्म निषिद्ध कहलाता है। काम्य और निषिद्ध फलोंका त्याग करनेपर तद्रूपेण त्याग भी हो जाता है और निष्कामत्वरूपसे उसके अनुष्ठानसे धर्म होता है, अतएव 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि श्रुति 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इत्यादि सूत्र भी संगत होते हैं। सारांश यह है कि कामनाशून्य नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन सकल कर्मोंके अनुष्ठानसे धर्म होता है, धर्मसे अधर्मनिवृत्ति होती है, उसके बाद मनःशुद्धि और उसके बाद ज्ञानोत्पत्ति, 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन भी इसमें प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

जब चित्त निष्पाप हो जाता है, तब उसमें विवेकज्ञानोत्पत्तियोग्यता उत्पन्न होती है, तभी नित्या-नित्यवस्तुविवेक सुदृढ होता है ॥ १३ ॥

ऐहिक (सांसारिक) सुख तथा पारलौकिक (स्वर्गादि) सुखसे वैराग्य होता है। योगशास्त्रमें इसीका 'वशीकार' नामसे व्यवहार होता है। तदनन्तर शम, आदि साधन-संपत्तिसे संन्यासमें पुरुष परिनिष्ठित होता है यानी संन्यास दृढ होता है। फल और उसके साधनोंका परित्याग संन्यास कहलाता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार सर्वपरित्यागसे दृढ मुमुक्षा यानी संसाररूप बन्धनसे मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा होती है, उसके बाद गुरुके समीप जाता है और तदनन्तर उनसे आत्मोपदेशका ग्रहण करता है। तदनन्तर

ततः सन्देह-हानाय वेदान्तश्रवणादिकम् । सर्वमुत्तर - मीमांसा - शास्त्रमत्रोपयुज्यते ॥१६॥
ततस्तत्परिपाकेण निदिध्यासननिष्ठता । योगशास्त्रं तु सम्पूर्णमुपक्षीणं भवेदिह ॥१७॥
क्षीणदोषे ततश्चित्ते वाक्यात् तत्त्वमतिर्भवेत् । साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेवोपजायते ॥१८॥
अविद्याविनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानोदये भवेत् । तत आवरणे क्षीणे क्षीयेते भ्रमसंशयौ ॥१९॥
अनारब्धानि कर्माणि नश्यन्त्येव समन्ततः । न चाऽऽगामीनि जायन्ते तत्त्वज्ञानप्रभावतः ॥२०॥
प्रारब्धकर्मविक्षेपाद् वासना तु न नश्यति । सा सर्वतो बलवता संयमेनोपशाम्यति ॥२१॥
संयमो धारणा ध्यानं समाधिरिति यत्त्रिकम् । यमादिपञ्चकं पूर्वं तदर्थमुपयुज्यते ॥२२॥

सन्देहनिवृत्तिके लिए वेदान्तका (उपनिषद्वाक्योंका) श्रवण करता है । सम्पूर्ण उत्तरमीमांसाशास्त्र सन्देहनिवृत्तिमें ही उपयुक्त होता है। सन्दिग्ध अर्थका निर्णय विचारशास्त्रके (मीमांसाशास्त्रके) बिना नहीं हो सकता, इसलिए विचारशास्त्र आवश्यक है ॥ १५, १६ ॥

तदनन्तर विचारके परिपाकसे निदिध्यासनपरायणता होती है, निदिध्यासनमें यानी ध्यानमें सम्पूर्ण योगशास्त्र गतार्थ हो जाता है। योगशास्त्रोक्त मार्गसे प्रत्ययैकतानतारूप (ध्येयाकार अन्तःकरणवृत्तिका, निरन्तर प्रवाहरूप) ध्यान होता है। निरन्तर ब्रह्मके ध्यानके लिए योगकी अपेक्षा होती है ॥ १७ ॥

तदनन्तर चित्तके दोष निवृत्त हो जाते हैं। चित्तके निर्दुष्ट होनेपर 'तत्त्वमसि' वाक्यसे जीवब्रह्मैक्य-विषयक तत्त्वज्ञान होता है, यह साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक तत्त्वज्ञान शब्दसे ही होता है ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानका उदय होनेपर अविद्याकी निवृत्ति होती है, अविद्या ही आत्माका आवरक यानी तिरोधायक है, आवरकके नष्ट होनेपर भ्रम एवं संशय भी निवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

कर्म तीन प्रकारके होते हैं प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। प्रकृत श्लोकमें अनारब्धपदसे संचित कर्म विवक्षित हैं, वे तत्त्वज्ञानसे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। आगामी यानी क्रियमाण कर्मोंकी उत्पत्ति ही नहीं होती। मिथ्याज्ञानरूपी सलिलसे सिक्त चित्तरूपा भूमिमें कर्म अंकुरके आरम्भक होते हैं, तत्त्वज्ञानरूपी ग्रीष्मकालीन सूर्यकिरणोंसे संतप्त चित्तरूप भूमिमें पतित कर्म भ्राष्ट्रपतित (भाड़में गिरे हुए) बीजोंके समान अंकुरके उत्पादनमें असमर्थ हो जाते हैं, वे नहींके समान हो जाते हैं ॥ २० ॥

अविद्या नष्ट होनेपर भी प्रारब्ध कर्मोंकी विक्षेपशक्तिसे उसकी वासना अवशिष्ट रहती है, उसका नाश नहीं होता। बलवान् संयमसे ही उसकी निवृत्ति होती है ॥ २१ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं। इनमें धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन संयम कहलाते हैं, क्योंकि 'त्रयमेकत्र संयमः' (एक वस्तुमें किये गये ये तीन यानी धारणा, ध्यान और समाधि संयम कहलाते हैं) यह योगसूत्र है। यम आदि पाँच संयमार्थ हैं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पूर्वोक्त यम आदि पाँचकी अपेक्षा धारणा- आदि तीन संप्रज्ञात समाधिके अन्तरङ्ग साधन हैं)। इस योगसूत्रके अनुसार संयम मुख्य है और यम आदि पाँच परार्थ होनेसे गौण हैं ॥२२॥

ईश्वरप्रणिधानात्तु समाधिः सिध्यति द्रुतम्। ततो भवेन्मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥२३॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय इत्यपि। युगपत्त्रितयाभ्यासात् जीवन्मुक्तिर्दृढा भवेत् ॥२४॥
विद्वत्संन्यासकथनमेतदर्थं श्रुतौ कृतम्। प्रागसिद्धो य एवांऽशो यत्नः स्यात्तस्य साधने ॥२५॥
निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना। निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः ॥२६॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः। अन्ते व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः ॥२७॥
एवंभूतो ब्राह्मणः स्याद्वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्। गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ॥२८॥
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त आत्मरतिस्तथा। एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥२९॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥३०॥
इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा। सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥३१॥

ईश्वरप्रणिधानसे समाधि शीघ्र सिद्ध होती है, इसीसे मन और वासनाका नाश होता है ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञान, मनका नाश और वासनाका क्षय—इन तीनोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे जीवन्मुक्ति दृढ होती है। इसीके लिए श्रुतिमें विद्वत्संन्यास कहा गया है, जो अंश पूर्वमें असिद्ध हो, उसीके साधनके लिए यत्न करना चाहिए। सविकल्पक समाधिसे प्रथम चित्तके निरुद्ध होनेपर त्रिभूमिक निर्विकल्पक समाधि होती है ॥ २४–२६ ॥

प्रथम भूमि वह है, जिसमें निरुद्ध चित्त स्वतः व्युत्थित होता है, द्वितीय भूमि वह है, जिसमें चित्त स्वतः व्युत्थित नहीं होता, किन्तु अन्यके उद्बोधनसे व्युत्थित होता है और जिसमें सदा चित्त तन्मय रहे, किसी प्रकारसे व्युत्थित न हो; वह तृतीय भूमि है ॥ २७ ॥

उस प्रकारकी समाधिमें स्थित ब्राह्मण ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ, गुणातीत, स्थितप्रज्ञ और विष्णुभक्त कहलाता है, वर्ण और आश्रमधर्मोंके बन्धनसे उन्मुक्त, जीवन्मुक्त और आत्मरत होता है, कृतकृत्य होनेके कारण उस पुरुषरत्नसे शास्त्र निवृत्त हो जाता है अर्थात् शास्त्रीय विधिनिषेधका विषय वह नहीं रहता ॥ २८, २९ ॥

जिसकी देवतामें परा (उत्कृष्ट) भक्ति हो, जैसी देवतामें वैसी ही गुरुदेवमें हो, उसी महात्माके अध्यात्मशास्त्रोक्त ये अर्थ हृदयङ्गम होते हैं ॥ ३० ॥

उक्त श्रुति आदि वाक्यप्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि सब अवस्थाओंमें शरीर, मन और वाणीसे भगवद्भक्ति ही इसमें अत्यन्त उपयोगी है ॥ ३१ ॥

पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् । अन्यथा विघ्नबाहुल्यात् फलसिद्धिः सुदुर्लभा ॥३२॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यादि च वचो हरेः ॥३३॥
यदि द्रागभवसंस्कारस्याऽचिन्त्यत्वात्तु कश्चन । प्रागेव कृतकृत्यः स्यादाकाशफलपातवत् ॥३४॥
न तं प्रति कृतार्थत्वात् शास्त्रमारब्धुमिष्यते । प्राक्सिद्धसाधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥३५॥
एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये । विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिध्यति॥३६॥
जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना । अद्वेष्टृत्वादिवत् तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥३७॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥३८॥

पूर्णभूमिमें कृत भक्ति पुरुषको उत्तर भूमिमें ले जाती है, ऐसा न करनेपर विघ्नोंकी अधिकतासे फलसिद्धि (तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति) अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ३२ ॥

योगी आत्मज्ञानमें यत्नशील यानी बाह्य विषयोंसे पराङ्मुख होनेपर भी पूर्वजन्मके विषयाभ्याससे जनित वासनावश पुनः विषयप्रवाहमें आकृष्ट हो जाता है । अतएव भगवान्ने स्वयं सावधान किया है कि 'अनेक जन्मोंमें संसिद्ध होनेपर परा गतिको प्राप्त करता है ।' अनेक जन्मोंका हेतु पूर्ववासना ही है, उसके परिहारके लिए भगवद्भक्ति आवश्यक है । पूर्व जन्मका संस्कार अचिन्त्य होता है, अतः शुक, वामदेव आदिके समान यदि कोई पुरुषधौरेय पूर्वजन्मके संस्कारसे ही कृत-कृत्य हो चुका हो, तो उसके प्रति निष्काम कर्मानुष्ठान आदिकी आवश्यकता नहीं है, इसमें दृष्टान्त है—आकाशफलपात । वृन्तमें (बौंडी, जिसपर फल लटका रहता है) बंधे हुए फलको गिरानेके लिए दण्ड आदि व्यापारकी अपेक्षा होती है; जो फल परिपाकसे स्वयं शिथिलबन्ध हो चुका है, वह स्वयं आकाशसे भूमिमें गिरता है, उसके लिए अन्य व्यापार की अपेक्षा नहीं होती, इसीके समान प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३३, ३४ ॥

भागवत्कृपा जो अचिन्त्य है, पूर्व जन्ममें सिद्ध हुए साधनोंके अभ्याससे प्राप्त हो जाती है । अतः जो पूर्वजन्मसिद्ध साधनाभ्यास है अर्थात् जो जन्मकाल ही से विषयवैराग्य आदि साधनोंसे संपन्न अतएव कृतार्थ है, उसके प्रति शास्त्रका आरम्भ इष्ट नहीं है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पूर्व-पूर्व भूमिके सिद्ध होनेपर भी उत्तरोत्तर भूमिके लिए भगवद्भक्ति करनी चाहिए, क्योंकि उसके बिना कोई भूमि सिद्ध नहीं होती ॥ ३६ ॥

यद्यपि जीवन्मुक्तिदशामें अन्तरायकी आशङ्का नहीं है, अतएव भक्तिके फलकी कल्पना भी नहीं हो सकती, अन्य फलकी कल्पनामें प्रमाण नहीं है एवं प्राप्तकामको फलान्तरकी अभिलाषा भी नहीं होती है, तथापि द्वेषाभाववत् हरिभजन उनको स्वभावतः सिद्ध है, जो आत्माराम अतएव निर्ग्रंथ मुनिगण हैं, वे त्रिविक्रममें अकारण भक्ति करते हैं, क्योंकि हरि भगवान्के गुण ही ऐसे हैं ॥ ३७, ३८ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । इत्यादिवचनात् प्रेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥३९॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् । अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम् ॥४०॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम् । शोकादिरासुरः पाप्मा तस्य च प्रतिबन्धकः ॥४१॥
यतः स्वधर्मविभ्रंशः प्रतिषिद्धस्य सेवनम् । फलाभिसन्धिपूर्वा वा साहङ्कारा क्रिया भवेत् ॥४२॥
आविष्टः पुरुषो नित्यमेवमासुरपाप्मभिः । पुमर्थलाभायोग्यः सँल्लभते दुःखसन्ततिम् ॥४३॥
दुःखं स्वभावतो द्वेष्यं सर्वेषां प्राणिनामिह । अतस्तत्साधनं त्याज्यं शोकमोहादिकं सदा ॥४४॥
अनादिभवसन्तानिरूढं दुःखकारणम् । दुस्त्यजं शोकमोहादि केनोपायेन हीयताम् ॥४५॥
एवमाकाङ्क्षयाऽऽविष्टं पुरुषार्थोन्मुखं नरम् । बुबोधयिषुराहेदं भगवाञ्छास्त्रमुत्तमम् ॥४६॥

तत्र 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिना शोकमोहादिसर्वासुरपाप्मनिवृत्त्युपायोपदेशेन 'स्वधर्मानुष्ठानात् पुरुषार्थः प्राप्यताम्' इति भगवदुपदेशः सर्वसाधारणः । भगवदर्जुनसंवादरूपा

अनेक भक्तोंमें नित्ययुक्त एकभक्ति ज्ञानी विशिष्ट है, इत्यर्थक भगवद्वाक्यसे जीवन्मुक्त ही मुख्य भगवान्‌का भक्त है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ॥ ३९ ॥

यह सब गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने स्वयं प्रकाशित किया है, इसलिए गीताशास्त्रकी व्याख्या करनेमें मेरा मन अधिक उत्सुक होता है ॥ ४० ॥

निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान मोक्षका मूल कारण कहा गया है। शोक आदि आसुर पाप उसके प्रतिबन्धक हैं, क्योंकि पापोंसे स्वधर्मत्याग, प्रतिषिद्ध कर्मानुष्ठान, फलेच्छापूर्वक कर्मानुष्ठान, अहंभावपूर्वक कर्मानुष्ठान आदि होते हैं ॥ ४१, ४२ ॥

पापात्मक आसुर चित्तवृत्तियोंसे पुरुष सदा संयुक्त रहता है, अतएव परम पुरुषार्थ मोक्षलाभके अयोग्य होकर सदा दुःखोंकी परम्पराका ही लाभ करता है। दुःख स्वभावसे ही सब प्राणियोंको द्वेष्य होता है, अतः उसके साधन शोक, मोह आदिका सदा त्याग ही करना चाहिए, फिर भी अनादि संसारकी प्रवाह-परम्परामें निरूढ दुःखकारण शोक, मोह आदि दुस्त्यज हैं, अतः किस उपायसे उनका त्याग किया जाय, इस आकांक्षासे युक्त पुरुषार्थोन्मुख नरको समझानेके लिए भगवान् श्रीवासुदेवने इस उत्तम श्रीगीता-शास्त्रका उपदेश दिया है ॥ ४३-४६ ॥

श्रीमदानन्दकन्द भक्तवत्सल परमकरुणावरुणालय (दयाके सागर) परिपूर्णैश्वर्यादिशक्तिसम्पन्न अखिल जगत्‌के जन्म, पालन और संहाररूप लीला करनेवाले श्रीनन्दनन्दन भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिसे—शोक, मोह आदि सम्पूर्ण आसुर पापोंकी निवृत्तिके उपायोपदेश द्वारा 'अपने वर्ण, आश्रम और आचारके अनुरूप शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्धके अनुष्ठान और परिवर्जन द्वारा लोक

चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु। कथम् ? प्रसिद्धमहानुभावोऽप्यर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिषु 'अहमेषां ममैते' इत्येवम्प्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम। परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते। तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत्। भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते। अर्जुनोपदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शितः। तथा च व्याख्यास्यते। स्वधर्मप्रवृत्तौ जातायामपि तत्प्रच्युतिहेतुभूतौ शोक-मोहौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिनाऽर्जुनेन दर्शितौ। अर्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे विनाऽपि विवेकं किन्निमित्ता प्रवृत्तिरिति 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यादिना परसैन्यचेष्टितं तन्निमित्तमुक्तम्। तदुपोद्घातत्वेन धृतराष्ट्र-

---

इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति करे' इस प्रकारका (अष्टादशाध्यायात्मक गीताशास्त्रका अधिकारी और साधनसम्पत्तिशील अर्जुनको लक्ष्य कर) सर्वसाधारणके लिए उपदेश दिया है। भगवान् और अर्जुनकी संवादरूपा यह कथा बृहदारण्यक उपनिषद्में स्थित श्रीयाज्ञवल्क्य और राजा जनकके संवादके समान स्तुत्यर्थ तथा सुखावबोधार्थ है। कैसे विद्या स्तुत्यर्थ है ? भगवान् नरके अवतार महाप्रभाव अर्जुन राज्य, गुरु, पिता, पुत्र आदिमें 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकारके मिथ्याज्ञाननिमित्त स्नेहसे जनित शोक और मोहवश विवेकज्ञानसे हाथ धोकर स्वधर्म युद्धमें स्वयं प्रवृत्त होकर भी उस युद्धसे पराङ्मुख हुए। यही केवल अनौचित्य नहीं है, किन्तु परधर्म भिक्षावृत्तिमें, जो ब्राह्मणोंके लिए शास्त्रोंमें विहित है और क्षत्रियोंके लिए निषिद्ध है, प्रवृत्त हुए। विहिताकरण और प्रतिषिद्धानुष्ठान—ये दो मोहके अनर्थ फल हैं। घोर अनर्थ देनेवाले गर्हित कर्ममें प्रवृत्त अर्जुन श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट अध्यात्मविद्यामय गीतोपदेशका ग्रहणकर उसके द्वारा सकल अनर्थोंके मूलभूत शोक, मोह आदिके निर्वासनमें समर्थ होकर पुनः स्वधर्म युद्धके अनुष्ठानसे कृतकृत्य हुए। इससे अति स्पष्ट है कि यह विद्या अधिक प्रयोजनवती है, यही स्तुति उपादेयगुणगणाभिधान है। [इतने शूरवीरोंमें अर्जुनको ही गीताका उपदेश दिया, धर्ममय युधिष्ठिरको नहीं, इससे 'धर्म आदिकी अपेक्षा भगवद्भक्ति ही गीताग्रहणमें अन्तरङ्ग साधन है' इसके बोधन द्वारा इस विद्याका अधिकारी सूचित किया। 'यमेवैष वृणुते' इस श्रुतिके अनुसार जिसको परमात्मा अपनाते हैं, वही इस विद्यामें सफल होता है।] युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनकी उससे निवृत्तिका कारण शोक और मोह है, यह 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि अर्जुनवाक्यसे ही सिद्ध है।

प्रश्न—यदि अर्जुनको स्वधर्मका विवेक नहीं था, तो युद्धमें उनकी प्रवृत्ति ही कैसे हुई, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञानके बिना प्रवृत्ति नहीं होती।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥१॥

धृतराष्ट्रने कहा—हे संजय, धर्मकी उत्पत्ति और वृद्धिके हेतुभूत कुरुक्षेत्रमें युद्धकी अभिलाषासे एकत्र हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया॥१॥

प्रश्नः संजयं प्रति 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादिना श्लोकेन। तत्र 'धृतराष्ट्र उवाच' इति वैशम्पायनवाक्यं जनमेजयं प्रति। पाण्डवानां जयकारणं बहुविधं पूर्वमाकर्ण्य स्वपुत्रराज्यभ्रंशाद्भीतोधृतराष्ट्रः पप्रच्छ स्वपुत्रजयकारणमाशंसन्पूर्वं युयुत्सवो योद्धुमिच्छवोऽपि सन्तः कुरुक्षेत्रे समवेताः सङ्गताः मामकाः मदीयाः दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवंतः किं पूर्वोद्भूतयुयुत्सानुसारेण युद्धमेव कृतवन्तः उत केनचिन्निमित्तेन युयुत्सानिवृत्त्याऽन्यदेव किञ्चित्कृतवन्तः भीष्मार्जुनादिवीरपुरुषनिमित्तं दृष्टभयं युयुत्सानिवृत्तिकारणं प्रसिद्धमेव। अदृष्टभयमपि दर्शयितुमाह—धर्मक्षेत्र इति। धर्मस्य पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्य च वृद्धेर्निमित्तं सस्यस्येव क्षेत्रं यत्कुरुक्षेत्रं सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। 'वृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं

उत्तर—ठीक है, किन्तु इष्टसाधन विवेकात्मक ही प्रवर्तक है, यह कोई नियम नहीं है। प्रकृतमें परसैन्यकी चेष्टा ही प्रवर्तक हुई, जो 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यादिसे आगे स्पष्ट है। इस प्रसंगसे सञ्जयके प्रति धृतराष्ट्रका 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि श्लोकसे प्रश्न है। यहाँपर 'धृतराष्ट्र उवाच' यह वाक्य वैशम्पायनका जनमेजयके प्रति है। 'ध्यायतो धृतराष्ट्रस्य सहसोपेत्य दुःखितः। आचष्ट निहतं भीष्मं भारतानां पितामहम्॥ संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ। हतो भीष्मः शान्तनवो भारतानां पितामहः॥ यो ररक्ष समेतानां दशरात्रमनीकहा। जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम्॥ यः शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः। जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः॥ स शेते निहतो भूमौ वातरुग्ण इव द्रुमः' इत्यादिसे पाण्डवोंका अनेकविध जयकारण पूर्वमें सुनकर 'मेरे पुत्र दुर्योधन आदि राज्यसे च्युत हो जायँगे' इस चिंताके भयसे भीत धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी विजयकी आशासे पूछा—पूर्वमें युद्धके इच्छुक भी कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुये मेरे पुत्र दुर्योधन आदि तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया? पूर्वोत्पन्न युद्धेच्छानुसार युद्ध ही किया या किसी कारणवश युद्धसे निवृत्त होकर और ही कुछ क्रिया? भीष्मार्जुनादि महावीरपुरुषदर्शननिमित्तक भय युद्धेच्छानिवृत्तिमें कारण सुस्पष्ट है। दृष्टादृष्ट भेदसे कारण दो प्रकारके हैं। दोनों कारणोंके समुदायसे कार्य होता है, एक एकसे नहीं। युद्धनिवृत्तिकारण उक्त पुरुषदर्शनसे समुत्पन्न भय दृष्ट कारण है। अदृष्ट भयकारण दिखलानेके लिए 'धर्मक्षेत्रे' यह कहा है। [धर्मक्षेत्रमें थोड़ा भी पाप गुरुतर होता है, पिता, पुत्र, आचार्यके वध आदि पापका तो प्रतीकार ही नहीं है; अतः दोनों पक्षोंको कुछ और ही करना पड़ा

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्, इति जाबालश्रुतेः, 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इति शतपथश्रुतेश्च । तस्मिन्गताः पांडवाः पूर्वमेव धार्मिका यदि पक्षद्वयहिंसानिमित्तादधर्माद्भीता निवर्तेरंस्ततः प्राप्तराज्या एव मत्पुत्राः अथवा धर्मक्षेत्रमाहात्म्येन पापानामपि मत्पुत्राणां कदाचिच्चित्तप्रसादः स्यात्तदा च तेऽनुतप्ताः प्राक् कपटोपात्तं राज्यं पाण्डवेभ्यो यदि दद्युस्तर्हि विनाऽपि युद्धं हता एवेति स्वपुत्रराज्यलाभे पाण्डव-राज्यालाभे च दृढतरमुपायमपश्यतो

होगा। पहलेसे अविद्यमान धर्मकी उत्पत्ति, तथा विद्यमानकी वृद्धि आदिका हेतु होनेसे कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहलाता है; जैसे कि सस्य आदिकी उत्पत्ति आदिकी हेतु होनेसे वह भूमि तत्क्षेत्र कहलाती है।

प्रश्न—कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—श्रुति और स्मृति प्रमाण हैं। देखिये—'बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' यह जाबालश्रुति है और 'कुरुक्षेत्रं देवयजनम्' यह शतपथश्रुति है।

[शङ्का—कुरुक्षेत्र दो हैं—एक अविमुक्तापरपर्याय जो वेदमें प्रसिद्ध है, उसमें प्रमाण उक्त श्रुति है, क्योंकि ब्रह्मसदन विशेषणसे यहाँपर मरनेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है; अतएव 'अत्र हि जन्तोः प्राणेषु उत्क्रममाणेषु रुद्रः प्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे। येनासौ अमृती भूत्वा मोक्षी भवति' यह वाक्यशेष संगत होता है। दूसरा स्मार्त कुरुक्षेत्र है। जिसमें महाभारत, पुराण आदि प्रमाण हैं।

प्रश्न—किस कुरुक्षेत्रमें कौरव और पाण्डव समवेत हुए ?

उत्तर—स्मार्त कुरुक्षेत्रमें।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'धर्मक्षेत्र' विशेषणसे। ब्रह्मसदन कुरुक्षेत्रसे भिन्न धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र यहाँ विवक्षित है, अतः ब्रह्मसदन कुरुक्षेत्रसे व्यावृत्तिके लिये 'धर्मक्षेत्र' विशेषण है। धर्मक्षेत्रान्तरसे व्यावृत्तिके लिये 'कुरुक्षेत्र' विशेषण है। वस्तुतस्तु 'कुरुक्षेत्र' यहाँ प्रकरणसे स्मार्त ही गृहीत होता है, दूसरा नहीं; क्योंकि अथ 'गावल्गणिर्धीमान् समरादेत्य संजयः। प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यतः' इत्यादि पूर्ववचनसे कुरुक्षेत्र निश्चित है, इसमें संशय नहीं है। 'धर्मक्षेत्र' विशेषणका प्रयोजन दूसरा है देखिये—] सदासे ही पाण्डव युधिष्ठिर आदि धार्मिक हैं। धर्मक्षेत्रमें प्रविष्ट होनेपर उभयपक्षके हिंसोत्पन्न पापोंसे डरकर यदि वे युद्धसे उपरत हो जायँगे, तो मेरे पुत्र दुर्योधन आदि अनायाससे राज्य पा ही जायँगे अथवा धर्मक्षेत्रके माहात्म्यसे पापी मेरे पुत्रोंकी कदाचित् मनोवृत्ति सुधर जाय और पहले कपटसे गृहीत राज्य फिर पाण्डवोंको दे दें, तो युद्धके बिना ही वे मानो मारे गये और सारा पूर्वप्रयत्न विफल हो जायगा। मेरे पुत्रोंको ही राज्य मिले, पाण्डवोंको न मिले। इसमें कोई दृढ उपाय न देखकर धृतराष्ट्रको जो उद्वेग

महानुद्वेग एव प्रश्नबीजम् । संजयेति च संबोधनं रागद्वेषादिदोषान् सम्यग्जितवानसाविति कृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थम् । मामकाः किमकुर्वतेत्येतावतैव प्रश्ननिर्वाहे पाण्डवाश्चेति पृथङ्निर्दिशन्पाण्डवेषु ममकाराभावप्रदर्शनेन तद्द्रोहमभिव्यनक्ति ॥ १ ॥

हुआ वही प्रश्नका मूल है। 'संजय' इस सम्बोधनसे राग-द्वेषको तुमने (संजयने) अच्छी तरह जीत लिया है, अतः तुम परमार्थ सत्य ही कहोगे, इस प्रकार सञ्जयवाक्यमें अपना विश्वास सूचित किया। मेरे आत्मीयोंने क्या किया ? केवल इसीसे प्रश्नकी पूर्ति हो सकती थी, क्योंकि पाण्डव भी तो धृतराष्ट्रके आत्मीय ही थे, परन्तु 'पाण्डवाः' यों पृथक् कथनसे वे मेरे नहीं हैं, यों उनपर उसका द्रोह स्पष्ट अभिव्यक्त होता है॥ १ ॥

[इसमें शङ्का यह होती है कि महाभारतके भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायके आगे गीताका आरम्भ होता है और उसके तेरहवें अध्यायमें कथित 'ध्यायतो धृतराष्ट्रस्य' इत्यादि संजयकी संक्षिप्तोक्तिसे धृतराष्ट्रको नव दिन पूर्व ही यह मालूम हो गया है कि कौरव-पाण्डवोंका कुरुक्षेत्रमें भयङ्कर युद्ध हो रहा है और यह भी मालूम है कि जिनके पुरुषार्थमें मेरे पक्षवालोंकी जयाशा थी वह महारथी भीष्मपितामह समरभूमिमें धराशायी हो चुके हैं, फिर यह शङ्का कैसे हो सकती है कि पाण्डवों और कौरवोंने क्या किया ? युद्ध ही किया कि और कुछ ? यदि यह कहा जाय कि संक्षेपसे उन्होंने सुना था, पर वह समाचार विस्मृत हो गया, अतः पुनः प्रश्न है, तो यह भी कहना श्रद्धेय नहीं है, क्योंकि भीष्मपितामहका वध विस्मरणीय नहीं कहा जा सकता, जो दस दिनसे सुन रहे थे। यह केवल स्थितकी गतिमात्र है और इस श्लोकार्थका मनन करनेपर 'प्रश्नार्थक किं शब्द है' यह नहीं सिद्ध होता, कारण कि तृतीय पादगत 'एवकार' का अन्वय 'युयुत्सवः' के साथ प्रतीत होता है। 'युयुत्सव एव समवेताः' (युद्धेच्छुक ही इकट्ठे हुये) इससे युद्ध ही किया, यह निश्चित-सा है। अन्य कुछकी व्यावृत्ति 'एवकार' से स्फुट प्रतीत होती है। यानी और कुछ नहीं किया, यह साफ मालूम पड़ता है। इस कारण अन्य विद्वान्का मत है कि 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि' इस मेदिनीकोषके अनुसार यहाँ 'किं' शब्द कुत्सार्थक है। दोनोंने अनुचित ही किया। धर्मप्रधान क्षेत्रमें हिंसाप्रधान युद्ध करना अतिगर्हित है। मेरे पुत्र अधार्मिक हैं। उनकी प्रवृत्ति ऐसे अनुचित कर्मोंमें हो सकती है, किन्तु युधिष्ठिर आदि परम धार्मिकोंकी प्रवृत्ति यदि भीष्मपितामह आदि महापुरुषोंके वधमें हुई, तो भी धर्मक्षेत्रमें यह अतिनिन्दित कर्म है। उन लोगोंने क्या किया ? यदि यह प्रश्नार्थक है, तो ऐसा प्रश्न हो सकता है कि धर्मयुद्ध किया या अधर्मयुद्ध, क्योंकि धर्मयुद्धसे भीष्म, द्रोण आदिका समरमें वध होना असंभव है। यह सबको विदित ही था कि श्रीकृष्णके रहनेसे और स्वतः अधर्मभीरु होनेसे पाण्डव धर्मयुद्ध ही करेंगे, फिर पाण्डवोंकी विजय कहाँ ? यह धृतराष्ट्रको आशा थी; परन्तु भीष्मका वध सुनकर उनको विस्मय हुआ। धर्मयुद्धसे विजय पाना असंभव समझकर अधर्मयुद्ध पाण्डवोंने किया

होगा या श्रीकृष्णके प्रभावसे धर्मयुद्धमें भी भीष्मको वीरगति हो सकती है—इस प्रकार संदिग्ध धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि दोनोंने धर्मयुद्ध किया या अधर्मयुद्ध। इस मतमें प्रश्नान्यथानुपपत्तिसे विस्मरणकी कल्पना नहीं करनी पड़ती, यह इसमें साधक है।

श्रीरामानुजगीताभाष्यटीकाकार वेदान्ताचार्यका मत है कि श्रीरामायणप्रवृत्तिका प्रसञ्जक जैसे 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥' इस श्लोकका अग्रिम कथाके उपोद्घातरूप वाल्मीकिकृत व्याधशापसे अन्य रावणसंहारक रघुनाथमहिमावर्णनरूप तात्त्विक अर्थ है वैसे ही धृतराष्ट्रप्रश्नरूप प्रकृतार्थसे अन्य भगवद्गीतामहिमावर्णनरूप तात्त्विक अर्थ समीचीन है। इस अर्थको दिखलाते हैं—मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने क्या किया ? यह पूर्व जैसा ही है। यहाँ 'किं' शब्द कुत्सा और आश्चर्यका बोधक है। कौरवपक्षमें 'मामकाः किमकुर्वत' कुत्सित किया। पाण्डवपक्षमें आश्चर्य किया। कौरवपक्षमें अर्थ कहते हैं—'धर्मक्षेत्रे' इस श्लोकका। धर्मावतार युधिष्ठिर धर्म हैं, तदुपलक्षित पाण्डव भी। उनका क्षेत्र श्रीकृष्ण है। 'मम प्राणा हि पाण्डवाः' इस भगवद्वाक्यसे पाण्डवोंमें भगवत्प्राणत्व-बोधन करनेसे भगवान्में पाण्डवशरीरत्वका बोधन होता है। वही कृष्ण कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र हैं, क्योंकि वह देवयजन हैं। 'यज्ञो वै विष्णुः' यह श्रुति है, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' यह जाबालश्रुति है तथा कुरुक्षेत्र भी देवयजन है। परन्तु 'कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्' यह शतपथश्रुति है। उस कुरुक्षेत्रमें युद्धेच्छुक ही मेरे पुत्र आदि इकट्ठे हुये। कृष्णके प्राणभूत पाण्डव शरीरभूत कृष्णको छोड़कर युद्ध नहीं कर सकते, अतः पाण्डवोंके साथ युद्धेच्छुक कौरव कृष्णके साथ ही युद्धेच्छुक हुये। वे कृष्णशरीर कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे होकर उसीमें लीन हो गये। 'अमी त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' इसका प्रस्तावकर 'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः' इस अग्रिमोक्तिके अनुसार आत्मनाशके लिये भगवान्में प्रविष्ट हुये। इस तरह मेरे पक्षवालोंने कुत्सित ही किया। 'मामकाः' से मैं अन्ध हूँ, मेरे पुत्र दुर्योधन आदि भी अन्ध ही हैं, वे आत्मनाश न जानकर ज्वलनपतङ्गन्यायसे भगवान्में प्रविष्ट हुए। उसमें उन लोगोंका विलय होना ठीक ही है, यह ध्वनित होता है। भगवद्-बल सबसे प्रबल है, इस हेतुसे प्रचुरसेनायुक्त कौरवोंका पराजय क्यों हुआ ? यह शङ्का भी समाहित होती है।

प्रश्न—पाण्डवोंके साथ युद्धेच्छुक कौरवोंका वध करनेके लिये उनके साथ भगवान्का क्या सम्बन्ध था ?

उत्तर—पाण्डवोंके साथ भगवान्का शरीर-शरीरिभाव सम्बन्ध था, यह दिखलानेके लिये धर्मक्षेत्रे, इत्यादि वचन है। भगवान् ही कुरुक्षेत्र हैं, इस निरूपणसे कुरुक्षेत्रमें कुरु बलवान् होंगे, यह आशा भी धृतराष्ट्रकी निरस्त हो गई। भगवान् ही 'कुरुक्षेत्र' हैं, अतः वह भी उनके प्रतिकूल ही हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों सगे भाई थे। धृतराष्ट्र ज्येष्ठ थे, पर अन्धे थे, इसलिए राज्य पानेके अधिकारी नहीं थे, फिर भी भाईके प्रेमसे उनको ही राजसिंहासनपर बैठाकर राज्यकार्य पाण्डु चलाते थे। पाण्डुका अन्तकाल हो जानेपर धृतराष्ट्रको पाण्डुके समान ही पाण्डवोंका पालन करना चाहिये था, परन्तु धृतराष्ट्रने स्वयं

दुर्योधन व युधिष्ठिरको विभाग कर राज्य दे दिया। दुर्योधन आदिने द्यूत आदिके छलसे युधिष्ठिर आदिका राज्य छीन लिया और १३ वर्षका वनवास दे दिया। पुनः आनेपर चूँकि वे लोग पांच भाई थे, इसलिये स्वतंत्र रहनेके वास्ते केवल पाँच ही ग्राम माँगते थे, परन्तु दुर्योधनने कहा कि 'सूईकी नोकसे जितनी भूमि छुई जाती है उतनी भी भूमि बिना युद्धके न देंगे।' इस प्रकार पाण्डवोंका कोई अन्याय नहीं था, प्रत्युत कौरवोंने ही अन्यायसे पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ा है। भगवान् न्यायपक्ष ही की सहायता करते हैं। अब पाण्डवपक्षमें अर्थ कहते हैं—श्रीकृष्ण ही कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र हैं, यह अर्थ पूर्ववत् ही है। उस श्रीकृष्ण-रूपी धर्मक्षेत्रमें युद्धेच्छुक ही पाण्डव भी इकट्ठे हुये, यह भी पूर्ववत् ही है। समवेत यानी समवाय सम्बन्धसे प्राप्त, क्योंकि अयुत सिद्धोंका सम्बन्ध समवाय ही होता है। शरीर और प्राणका सम्बन्ध समवाय है। एकके बिना दूसरा नहीं रह सकता। पाण्डव भगवान्‌के प्राणस्वरूप हैं, अतः वे स्वशरीर भगवान्‌का आश्रयण करके ही रह सकते हैं। एवंभूत पाण्डवोंने आश्चर्य ही किया। युद्धकी इच्छासे प्रवृत्त पुरुषको सब भूमिका लाभ हो सकता है अर्थात् सार्वभौम हो सकता है, फिर भी सार्वभौमसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त जो आनन्दसमूह हैं वे सब जिस आनन्दसागरके बिन्दुसम हैं उस आनन्दका लाभ उसको नहीं होता। इसी अभिप्रायसे अर्जुनने युद्धेच्छासे ही प्रवृत्त होकर स्वजनको ही कैसे मारेंगे, इस मोहसे श्रीकृष्णके शरणागत होकर तदुपदिष्ट गीतोपदेश द्वारा मोहमय महाशत्रुका विनाशकर परमात्मतत्त्वको जानकर युद्धमोहके साथ ही संसारमोहको भी दूर कर दिया। इस प्रकार कांच (शीशे)-की खोजमें मणिलाभके समान युद्धेच्छावान् अर्जुनको तत्त्वज्ञानका लाभ हुआ, यह अति आश्चर्य हुआ। 'पाण्डव'से परिशुद्ध स्वभावकी अभिव्यक्ति होती है, श्वेतपर्य्यायवाची पाण्डुशब्द है 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' यह अमरकोष है। 'पाण्डुः कुन्तीपतौ सिते' यह हैम कोष है। पूर्व कोषके अनुसार पीतमिश्रित शुक्ल पाण्डु शब्दका अर्थ है, सो क्षत्रिय अर्जुनमें उचित ही है। शुद्धसत्त्व ब्राह्मणमें ही शोभता है, क्षत्रियमें रजोमिश्रित सत्त्व ही उपयोगी है। उनके पुत्र भी उसी स्वभावके हैं, अतएव उनमें भगवन्निष्ठा हुई। उसके प्रभावसे ऐहिक-आमुष्मिक कल्याण-संपत्तियुक्त वे हुये, यह उचित ही है। इस प्रकार युद्धमोहनिवृत्तिकी कामनासे भगवदाश्रित अर्जुनके समान अन्य भी कोई जिस किसी कामसे भगवान्‌के आश्रित होकर तदुपदिष्ट गीताज्ञानका लाभकर कृतकृत्य हो सकता है। इस प्रकार सब कल्याणार्थियोंको गीताकी शरण लेना परमावश्यक है। यह अर्थ धृतराष्ट्रको विवक्षित न हो, तो भी 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम०' इत्यादिके समान भगवती सरस्वतीसे समुपस्थापित उक्त अर्थ पण्डितोंका हृदयानन्ददायक होता है। इस अर्थमें महाभारतके भीष्मपर्वके १३वें अध्यायमें भीष्मवधपर संजयने धृतराष्ट्रसे क्या कहा और २४ के बाद २५ वें अध्यायमें कौरवों और पाण्डवोंने क्या किया? युद्ध ही किया या और कुछ? इस धृतराष्ट्रके प्रश्नकी अनुपपत्ति भी नहीं होती। यदि १३ वें अध्यायके अनन्तर गीताका आरम्भ होता, तो ठीक होता, यह भी किसीका मत है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार संजयने आकर प्रथम प्रधान पूर्व सेनापति भीष्मपितामहका निधन सुनाया। उसके अनन्तर धृतराष्ट्रने विलाप किया। विलापके बाद सब कथा विस्तारसे कही। क्या इतने अधिक वीर पुरुषोंकी उपेक्षासे भीष्म

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयने कहा—धृष्टद्युम्न आदिके द्वारा व्यूहरचनापूर्वक खड़ी पाण्डवोंकी सेना देखकर उस समय द्रोणाचार्यके समीप जाकरके राजा दुर्योधनने यह वचन कहा ॥ २ ॥

एवं कृपालोकव्यवहारनेत्राभ्यामपि हीनतया महतोऽन्धस्य पुत्रस्नेहमात्राभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य संजयस्यातिधार्मिकस्य प्रतिवचनमवतारयति वैशम्पायनः ।

तत्र पाण्डवानां दृष्टभयसंभावनाऽपि नास्ति अदृष्टभयं तु भ्रान्त्याऽर्जुनस्योत्पन्नं भगवतोपशमितमिति पाण्डवानामुत्कर्षस्तुशब्देन द्योत्यते । स्वपुत्रकृतराज्यप्रत्यर्पणाशङ्कया तु मा ग्लासीरिति राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्टयमेव प्रथमतो वर्णयति—'दृष्ट्वा' इति। पाण्डुसुतानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितं दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य तदा

मारे गये या उनकी रक्षामें मेरे वीरोंके तत्पर रहनेपर भी पाण्डवोंने उनको मार दिया ? दोनों पक्षमें धर्मक्षेत्रमें अतिगर्हित पितामहवध कैसे हुआ ? यह जाननेके लिये 'हे संजय' इत्यादि धृतराष्ट्रका प्रश्न है। मेरे पुत्र तो अधर्मपरायण हैं ही, उन्होंने धर्मक्षेत्रमें भी अधर्म ही किया या धर्म ? यह अपनेमें प्रश्न है । पाण्डव तो धर्मपरायण हैं। धर्मक्षेत्रमें उन्होंने भी भीष्म-द्रोणादिका वध कैसे किया, यह उनसे प्रश्न है । केवल युद्धके विषयमें प्रश्न नहीं उपपन्न होता । यह सम्भव नहीं कि, दस दिनसे युद्ध हो रहा है, फिर भी धृतराष्ट्रको यह ज्ञात ही न हो कि कुरुक्षेत्रमें क्या हो रहा है ? और संजयसे भीष्मवध सुननेपर भी कुरुक्षेत्रमें क्या हो रहा है ? युद्ध या सन्धि आदि, यह जिज्ञासा ही कैसे हो सकती है ? इसका निर्णय पाठकवृन्द स्वयं करें]॥ १ ॥

इस प्रकार पितृहीन कनिष्ठ भाईके सदाचारसंपन्न पुत्रोंमें दयादृष्टिदान सत्पुरुषोंका स्वभावसिद्ध है तथा लोकव्यवहारमें धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होनेपर भी अन्धे थे, इसलिये वे राज्य पानेके अधिकारी नहीं थे, फिर भी पाण्डु भ्रातृस्नेह तथा उनके सम्मानके लिये उनको ही राज्यसिंहासनपर अभिषिक्तकर अर्थात् उनको ही राजा मानकर उनके परामर्शसे राज्यकार्य्य करते थे । उनके निधनके बाद धृतराष्ट्रको उचित था कि छोटे भाईके प्रेमपूर्ण व्यवहारके अनुसार पाण्डवोंको ही राज्य दे देते । पुत्रस्नेहसे वैसा कर सकनेमें असमर्थ होकर यदि आधा-आधा राज्य पाण्डव और कौरवोंको विभक्त कर दिया होता, तो भी किसी तरह क्षन्तव्य था, पर दिये हुए राज्यको कपटसे छीन लेनेके लिये दुर्योधनादिकृत द्यूतादि दुश्चेष्टामें धृतराष्ट्र भी सहमत हुए, यह व्यवहार लोकव्यवहारके विरुद्ध है; अतः सन्मार्गप्रकाशक दया और लोकव्यवहाररूपी नेत्रोंसे भी हीन, (चर्म-

सङ्ग्रामोद्यमकाल आचार्यं द्रोणनामानं धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तयितारमुपसंगम्य स्वयमेव तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहूय । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयं सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्यगौरवव्याजेन भयसंगोपनं राजनीतिकुशलत्वादित्याह—राजेति । आचार्यं दुर्योधनोऽब्रवीदित्येतावतैव निर्वाहे वचनपदं संक्षिप्तबह्वर्थत्वादिबहुगुणविशिष्टे वाक्यविशेषे संक्रमितुं, वचनमात्रमेवाब्रवीन्न तु कंचिदर्थमिति वा ॥ २ ॥

तदेव वाक्यविशेषरूपं वचनमुदाहरति—'**पश्यैताम्**' इत्यादिना '**तस्य संजनयन्हर्षम्**' इत्यतः प्राक्तनेन, पाण्डवेषु प्रियशिष्येष्वतिस्निग्धहृदयत्वादाचार्यो युद्धं न करिष्यतीति संभाव्य तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयंस्तस्य क्रोधातिशयमुत्पादयितुमाह । एतामत्यासन्नत्वेन भवद्विधानपि महानुभावानवगणय्य भयशून्यत्वेन स्थितां पाण्डुपुत्राणां चमूं महतीमनेकाक्षौहिणी-

---

चक्षुसे हीन तो जन्म ही से थे), अतः महान्ध धृतराष्ट्र केवल पुत्रप्रेमपरायणके प्रश्नमें तदाशयविशेषको जाननेवाले अतिसुकृति संजयके उत्तरका अवतरण वैशम्पायन कहते हैं—'संजय उवाच' इत्यादिसे । वहाँ पाण्डवोंमें दृष्ट भयका तो प्रसङ्ग ही नहीं था । अदृष्ट (धर्माधर्म) भय अर्जुनको भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ, किन्तु भगवान्‌ने उनको पूर्ण शान्त कर दिया, यह पाण्डवोंका उत्कर्ष 'तु' शब्दसे सूचित होता है । मेरे पुत्र राज्य लौटा देंगे, इस शंकासे ग्लानि मत कीजिये । इस प्रकार राजाको संतुष्ट करनेके लिये प्रथम दुर्योधनकी ही दुश्चेष्टाका वर्णन करते हैं—'दृष्ट्वा' इत्यादिसे । पाण्डुपुत्रोंकी सेनाको कुशल धृष्टद्युम्नादि सेनापतियोंके द्वारा की गई मोर्चेबन्दीको देखकर यानी चक्षुरिन्द्रियज्ञानका विषय करके उस समय अर्थात् युद्धकालमें द्रोणाचार्यके, जो कि धनुर्विद्यासंप्रदायके प्रवर्तक हैं, [यह विद्या आदि परमगुरु श्रीशंकर भगवान्‌से समुदित होकर श्रीपरशुराम, भीष्म, द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुन, दुर्योधन आदिमें प्रविष्ट हुई है क्योंकि इनके मुख्य अध्यापक द्रोणाचार्य हैं], समीप स्वयं जाकर, उनको अपने पास बुलाकर नहीं, इससे पाण्डवसेनादर्शनसमुत्पन्न भय सूचित होता है । भयभीत होकर अपनी रक्षाके कारण उनके समीप जानेपर भी स्वभय छिपानेके लिये आचार्यप्रतिष्ठा व्याज है । आचार्यको इतर कर्मचारियोंके समान अपने पास बुलानेमें प्रतिष्ठा नहीं है, अतः आवश्यकता पड़नेपर स्वयं उनके समीप जाना चाहिये, इस कारण भयसे त्राण पानेके लिये स्वयं दुर्योधन उनके समीप नहीं गया, किन्तु राजनीतिकौशलसे । इस प्रकार राजनीतिनिपुणता सूचित होती है, यह अभिप्राय 'राजा' शब्दप्रयोगका है । दुर्योधनने आचार्यसे क्या कहा ? इतनेसे ही विवक्षितार्थ गतार्थ हो जाता है, क्योंकि वचन ही तो कहा जा सकता है, अर्थ नहीं; अतः वचनका लाभ कहनेसे ही हो जाता है, फिर उसके उपादानद्वारा संक्षिप्त बह्वर्थत्वादिगुणविशिष्टमें तात्पर्य है अर्थात् उक्त गुणविशिष्टमें लक्षणा है अथवा वचनमात्र ही कहा, कुछ अर्थ नहीं ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य, आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहरचनापूर्वक व्यवस्थितरूपसे खड़ी की गई पाण्डवों की यह बड़ी सेना देखिये ॥ ३ ॥

सहितत्वेन दुर्निवारां पश्यापरोक्षीकुरु प्रार्थनायां लोट् । अहं शिष्यत्वात्त्वामाचार्यं प्रार्थय इत्याह—'आचार्य' इति । दृष्ट्वा च तत्कृतामवज्ञां स्वयमेव ज्ञास्यसीति भावः । ननु तदीयावज्ञा सोढव्यैवास्माभिः प्रतिकर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तन्निरसनं तव सुकरमेवेत्याह—**'व्यूढां तव शिष्येण'** इति । शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव । व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपद-पुत्रेणेतिकथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम् । धीमतेति पदमनुपेक्षणीयत्वसूचनार्थम् । व्यासङ्गान्तरनिराकरणेन त्वरातिशयार्थं पश्येति प्रार्थनम् । अन्यच्च हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य

[प्रश्न—यह तो पूर्वविरुद्ध है ?

उत्तर—उक्त अर्थ विविक्षित नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ आचार्यपर अधिक्षेप स्वामीजीको विवक्षित है, सो नहीं है ।]

उसी वाक्यशेषरूपवचनका उदाहरण लेते हैं—**'पश्य'** इत्यादिसे लेकर **'तस्य संजनयन्हर्षम्'** इस अन्ततकके पूर्ववाक्योंसे । आचार्य प्रियविनीतशिष्य युधिष्ठिर, अर्जुन आदिसे युद्ध न करेंगे, यह सम्भावना कर आचार्यमें पाण्डवोंका अनादर सूचनार्थ पाण्डवोंमें आचार्यका अधिक कोप हो, इसके लिये 'पश्य' इत्यादि कहा है ।

'एताम्' अर्थात् अतिसमीपमें आप सब महानुभावोंका अनादर कर निर्भयचित्त पाण्डुपुत्रोंकी इस बहुत बड़ी अतएव दुर्निवार सेनाको देखिये—प्रत्यक्ष कीजिये । यहाँ प्रार्थनामें लोट् लकार है । प्रार्थना आदरपुरस्सर प्रवृत्त कराना विधिविशेष है । मैं शिष्य हूँ, आप आचार्य हैं, अतः आपकी प्रार्थना करता हूँ, यह कहा है—**'आचार्य'** इस पदसे । देखकर आप इन लोगोंकी की हुई अवज्ञाको स्वयं जानेंगे, यह भाव है । यदि यह कहा जाय कि उनकी अवज्ञा सहनी ही पड़ेगी, क्योंकि उसकी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तो यह आपका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आपके लिये उसका प्रतीकार सुकर है, यह कहा है—**'व्यूढाम्'** इत्यादिसे । शिष्यकी अपेक्षा गुरुमें अधिक वैदुष्य होता है, यह सब लोकमें प्रसिद्ध ही है । शिष्यकी रची गई मोर्चाबन्दी गुरुको सुभेद्य होती ही है ।

प्रश्न—धृष्टद्युम्नकी मोर्चाबन्दी न कहकर द्रुपदपुत्रकी की गई, यह क्यों कहा ?

उत्तर—द्रुपदराजाके साथ द्रोणाचार्यकी पूर्वकालकी शत्रुतासूचनार्थ उक्त कथनप्रकार है । इससे आचार्यका उसमें क्रोधोद्दीपन होगा, यह वक्ताका अभिप्राय है । 'धीमता' यह विशेषण वह अज्ञकृत मोर्चा

न तु मम तेषु, स्नेहातिशयात् । द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव ममानर्थकारणमिति सूचयति । शत्रोस्तव सकाशात्त्वद्वधोपायभूता विद्या गृहीतेति तस्य धीमत्वम् । अत एव तच्चमूदर्शनेनाऽऽनन्दस्तवैव भविष्यति भ्रान्तत्वात्, नान्यस्य कस्यचिदपि । यं प्रतीयं प्रदर्शनीयेति त्वमेवैतां पश्येत्याचार्यं प्रति तत्सैन्यं प्रदर्शयन्निगूढं द्वेषं द्योतयति । एवञ्च यस्य धर्मक्षेत्रं प्राप्याचार्येऽपीदृशी दुष्टबुद्धिस्तस्य कानुतापशङ्का, सर्वाभिशङ्कित्वेनातिदुष्टाशयत्वादितिभावः ॥ ३ ॥

कुछ नहीं है—इस प्रकारकी उपेक्षाके निरासके लिये है । अन्यत्र मनोयोग न देकर उक्त मोर्चेबन्दीको शीघ्र देखिये और उसके भङ्गका उपाय सोचिये । इस अभिप्रायसे देखिये, यह प्रार्थना है । 'अन्यच्च'से अर्थान्तर कहते हैं—हे पाण्डुपुत्रोंके आचार्य, मेरे आचार्य आप नहीं हैं, क्योंकि उनमें आपका प्रेम अधिक है । आपका शिष्य द्रुपदपुत्र आपके वधार्थ ही उत्पन्न हुआ है । फिर भी आपने उसको धनुर्विद्या निष्कपट पढ़ायी है, यह आपकी मूर्खता ही मेरी विपत्तिका कारण है, यह सूचित करता है । शत्रुभूत आपसे आपके वधोपायभूत विद्याका उसने ग्रहण किया, इस कारण वह धीमान् है । अतएव उसकी सेनाको देखकर आपको ही आनन्द होगा, दूसरेको नहीं, क्योंकि आप अनिष्टमें इष्ट देखते हुये भ्रान्त हैं । दूसरा वह तत्त्वदर्शी होनेसे अभ्रान्त है, अतः अन्यके प्रति उक्त पाण्डवसेना दिखलानी नहीं है, इसलिये आप ही देखिये, इस प्रकार आचार्यके प्रति उक्त सैन्यको दिखला रहा दुर्योधन अपने छिपाये क्रोधको सूचित करता है । एवं इस तरह धर्मक्षेत्रमें भी आचार्यके प्रति इस प्रकारकी जिसकी दुष्टबुद्धि है उसको क्या भीष्मद्रोणादिवधकी अनुतापशङ्का ? और क्या अधर्मसे प्राप्त होनेवाला नरकनिपात आदि पारलौकिक त्रासलेश ? अतिपापाश्रय होनेसे अतिदुष्टाशय है, यह भाव है ।

[प्रश्न—द्वितीय अर्थ करनेमें हेतु क्या है ?

उत्तर—द्रोणाचार्यका अनुत्तर । आचार्यने द्वितीय अर्थको समझकर ही कुछ उत्तर नहीं दिया । द्वितीय अर्थसे आचार्यके ऊपर स्पष्ट आक्षेप है । प्रिय सदाचारी शिष्योंका पक्ष छोड़कर वृत्तिवश इस अन्यायीका पक्ष ग्रहणकर मैं युद्धमें प्रवृत्त हुआ, फिर भी इसका मुझपर विश्वास नहीं है । प्रथम अर्थ द्वितीय अर्थ छिपानेके लिये है । इसमें इसका तात्पर्य नहीं है । यह हमको इतना अनभिज्ञ समझकर हमारी प्रतारणा करता है, मानो हम द्वितीय अर्थ समझते ही नहीं । यह तो विपरीत कल्पनामात्र है, इसमें कुछ भी साधक नहीं है । साधक तो आचार्यका उत्तर न देना ही है । अनुत्तरका कारण दूसरा भी हो सकता है ।

प्रश्न—कौन दूसरा ?

उत्तर—'अपर्याप्तम्' इत्यादि वाक्यसे भीष्मके पराक्रममें ही दुर्योधनको स्वविजयाशा है । मेरे पराक्रममें नहीं । इस प्रकार अपना निरादर समझकर उत्तर नहीं दिया कि उन्हींके पराक्रमसे यह अपनी

रक्षामें विश्वास करता है, तो उनके ही पास इसको जाना उचित था, मेरे पास क्यों आया ? और प्रधान प्रथम सेनापति आचार्यको न बनाकर भीष्मको बनाया, यह भी अनुत्तरका कारण हो सकता है। नम्रता-पूर्वक आचार्यके पास जाकर अपने हृदयगत भयको अभिव्यक्तकर स्वविजयार्थ आचार्यको पूरी शक्तिसे युद्धमें प्रवृत्त कराना दुर्योधनको अभीष्ट था, ऐसे विकट समयमें आचार्यका निन्दापूर्वक उपालम्भ करना राजनीतिशून्य पुरुष भी नहीं कर सकता। वह राजनीतिकुशल कैसे कर सकता है ? और प्राय: किसी टीकाकारने द्वितीय अर्थ नहीं लिखा है। दुर्योधनोक्त श्लोकोंमें प्राय: स्वामीजीने दो अर्थ लिखे हैं। द्वितीयमें आचार्यपर आक्षेप किये हैं, जो प्रकृतमें सङ्गत नहीं है; अत: इस विषयमें युक्तायुक्त निर्णय पाठकवृन्द स्वयं करें।

'राजा वचनमब्रवीत्' इतनेसे वाक्यार्थोपपत्ति हो जाती है, दुर्योधन-पदका उपादान प्रकृत युद्ध—'दुष्टं योधनं यस्य' इस व्युत्पत्तिसे—उसका अनिष्टकारी है, यह सूचित होता है। तुम्हारे सदृश तुम्हारे पुत्रकी मेरे पास सेना अधिक है, मेरी ही विजय होगी, यह आशालता पाण्डवसैन्यको देखनेसे कुँभिला गई। प्रधानभूत पाण्डवोंको नहीं देखा, किन्तु उनकी सेनामात्र, वह भी युद्धमें प्रवृत्त न थी, किन्तु युद्धके लिये तैयार खड़ी थी; ऐसी सेनाको देखकर ही वह जब इतना डर गया तब भला प्रधानभूत पाण्डुपुत्रोंको तथा तदीयशस्त्रप्रकार-कौशलको देखनेपर क्या दशा होगी ? हाँ, यह तो निश्चित है कि उस समय अपना दुर्योधन नाम उक्त व्युत्पत्त्यनुसार अन्वितार्थक समझेगा। द्रोण न कहकर 'आचार्य' कथनसे 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' इस अग्रिम कथनसे द्रोणविषयक तिरस्कार आचार्यविषयक होनेसे अनर्थका कारण है, यह सूचित होता है। प्रथम सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होनेसे भीष्मका सम्मान हो गया, परन्तु आचार्य उदासीन हो गये, इसलिये उनका समादर करनेके लिये युद्ध छिड़नेके पूर्व उनके पास स्वयं गया और स्वहृदयगत भावको उसने व्यक्त किया, परन्तु दैववश चूक इतनी हुई कि 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' यह भी उसके मुखसे निकल गया, जिससे आचार्यकी उदासीनता निवृत्त नहीं हुई। इसीसे कुछ उत्तर नहीं दिया। भीष्मके समीप न जाकर आचार्यके समीप जानेका निमित्त आचार्यका सत्कार ही था। राजा कहनेसे प्रधानभूत राजाकी यदि यह दशा है, तो फिर दूसरेकी क्या हुई होगी ? पाण्डवोंकी बड़ी सेनाका निरीक्षण और तन्निमित्तक चिन्तानुताप आचार्यके समीप जानेका कारण है, यह सूचित होता है।

प्रश्न—तुम्हासे पास बड़ी सेना है, क्यों डरते हो ?

उत्तर—संख्यासे महत्त्व नहीं होता, किन्तु कठिनाईसे छेदन करने योग्य दूसरेकी सेनाकी नीतिमें निपुण बुद्धिवाला महामहिमशालिसेनापतिसमलङ्कृतत्वादि निमित्तसे होता है। आपके निधनके लिये ही द्रुपदने देवाराधनद्वारा धृष्टद्युम्न पुत्र पाया है, यह आपसे छिपा नहीं है, फिर भी आपने ही उसको धनुर्विद्यामें पारंगत किया है। आप इसके मर्मको जितना जानते हैं उतना दूसरा नहीं जानता, अत: जो अस्त्र इसको न सिखाया हो, उसका प्रतीकार भी यह नहीं जान सकता। वही अस्त्र इसके ऊपर चलाना चाहिये। इसके मरनेके बाद सेनाकी

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुर्धारी और युद्धमें अर्जुनके समान ये शूर हैं—महारथी सात्यकि, विराट और द्रुपद; वीर्यवान् धृष्टकेतु, चेकितान तथा काशीराज; नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य; विक्रान्त युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा; अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पुत्र प्रतिविन्ध्य आदि पांच वे सबके सब महारथ हैं ॥ ४, ५, ६, ॥

नन्वेकेन द्रुपदपुत्रेणाप्रसिद्धेनाधिष्ठितां चमूमेतामस्मदीयो यः कश्चिदपि जेष्यति किमिति त्वमुत्ताम्यसीत्यत आह—'अत्र शूरा' इत्यादिभिस्त्रिभिः। न केवलमत्र धृष्टद्युम्न एव शूरो येनोपेक्षणीयता स्यात्, किन्तु अस्यां चम्वामन्येऽपि बहवः शूराः सन्तीत्यवश्यमेव तज्जये यतनीयमित्यभिप्रायः। शूरानेव विशिनष्टि—'महेष्वासा' इति। महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशला इति भावः। महाधनुरादिमत्त्वेऽपि युद्धकौशलाभावमाशङ्क्याऽऽह—युधि युद्धे भीमार्जुनाभ्यां सर्वसंप्रतिपन्नपराक्रमाभ्यां समास्तुल्याः।

ऐशी व्यूहरचना (मोर्चाबन्दी) का पण्डित दूसरा सेनापति नहीं मिल सकता, फिर इस सेनाका पराजय करना सहज है, यह 'धीमता'से सूचित होता है। चूँकि युधिष्ठिर राजा नहीं थे, इसलिये 'पाण्डुपुत्राणाम्' कहा ॥ ३ ॥]

एक अप्रसिद्ध द्रुपदपुत्र सेनापतिसे युक्त इस सेनापर विजय हमारे सैनिकोंमेंसे कोई भी कर सकता है। इससे आप क्यों घवड़ाते हैं ? इसपर 'अत्र' इत्यादिसे तीन श्लोक कहे हैं। केवल एक अकेला धृष्टद्युम्न ही शूर बहादुर वीर नहीं है कि अकिंचित्कर मानकर उसकी उपेक्षा की जाय, अर्थात्सद्यः प्रतीकारकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस सेनामें दूसरे भी बड़े-बड़े बहादुर वीर हैं, इसलिये इसके विजयार्थ सद्यः प्रयास करना चाहिये, यह आशय है। शूरोंमें विशेषण देते हैं—'महेष्वासाः' इत्यादि। महान् और इष्वासका बहुव्रीहि समास है। महान् यानी दूसरोंसे अप्रधृष्य जिनके धनुष हैं, वे दूरसे ही शत्रुसेना नष्ट करनेमें कुशल हैं, यह भाव है। इषवः—बाणाः अस्यन्ते—क्षिप्यन्ते येन स इष्वासः यानी धनुष।

तानेवाऽऽह—'**युयुधान** इत्यादिना **महारथाः**' इत्यन्तेन । युयुधानः सात्यकिः । द्रुपदश्च महारथ इत्येकः । अथवायुयुधानविराटद्रुपदानां विशेषणं '**महारथ**' इति । धृष्टकेतुचेकितानकाशिराजानां विशेषणं '**वीर्यवान्**' इति । पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यानां विशेषणं '**नरपुङ्गवः**' इति । विक्रान्तो युधामन्युर्वीर्यवांश्चोत्तमौजा इति द्वौ । अथवा सर्वाणि विशेषणानि समुचित्य सर्वत्र योजनीयानि । सौभद्रोऽभिमन्युः । द्रौपदेयाश्च द्रौपदीपुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च । चकारादन्येऽपि पाण्ड्यराजघटोत्कचप्रभृतयः । पञ्च पाण्डवास्त्वतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः । ये गणिताः सप्तदशान्येऽपि तदीयाः सर्वं एव महारथाः सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथोऽर्धरथो वा । महारथा इत्यतिरथत्वस्याप्युपलक्षणम् । तल्लक्षणञ्च—'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥४-६ ॥

बड़े धनुर्धर दूरसे ही शत्रुसेना भगानेमें प्रवीण—युद्ध-कुशल हों, तो हानि हो सकती है। युद्धमें निपुण न हों, तो क्या भय ? अतः 'युधि' 'भीम०' इत्यादि कहा । युद्धमें प्रख्यात पराक्रमवाले भीम और अर्जुनके तुल्य जो हैं उन्हीं वीरोंको कहते हैं—'युयुधान' यहाँसे लेकर 'महारथाः' यहाँतकके श्लोकसे । युयुधान यानी सात्यकि । द्रुपदमें 'महारथ' यह एक विशेषण है । अथवा युयुधान, विराट और द्रुपद इन तीनोंमें 'महारथ' यह विशेषण है । धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज इनमें 'वीर्यवान्' यह विशेषण है । पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्यमें विशेषण है—'नरपुङ्गव' । विक्रान्त और युधामन्यु, इनमें उत्तमौजा और वीर्यवान् ये दो विशेषण हैं । अथवा सभी विशेषण सबमें विवक्षित हैं । सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु है । द्रौपदेय यानी द्रौपदीके पाँच पुत्र प्रतिविन्ध्य आदि हैं ।[१] चकार यहाँ अनुक्तसमुच्चयार्थक है । पाण्ड्यराज, घटोत्कच प्रभृति दूसरोंको भी समझना चाहिये । पाण्डव तो अति प्रसिद्ध ही हैं, अतः उनकी नहीं गणना की गयी है । जो सत्रह गिने गये हैं और अन्य भी जो उस सेनाके वीर हैं, वे सबके सब महारथ ही हैं, उनमें एक भी रथ अथवा अर्द्धरथ नहीं है । 'महारथ' यह अतिरथका उपलक्षक है । इनके लक्षण ये हैं—दस हजार धनुर्धरोंसे जो अकेला युद्ध करे और धनुर्विद्यामें प्रवीण हो वह महारथ है, जो असंख्य धनुर्धरोंके साथ एकाकी युद्ध करे वह अतिरथ कहलाता है, जो एकके साथ युद्ध करे वह रथ है और इससे न्यून अर्द्धरथ कहा जाता है ॥ ४—६ ॥

---

१. प्रथमः प्रतिविन्ध्यस्तु श्रुतसेनस्तथापरः । श्रुतकीर्तिः शतानीकः श्रुतकर्मा तु पञ्चमः ॥ म० भा ०॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम! हम सब लोगोंमें जो विशिष्ट हैं यानी जिनका प्रभाव सबसे बढ़ा-चढ़ा है, उन्हें मैं बतलाता हूँ, आप जानिये और जो मेरी सेनाके नायक हैं, मैं उनको भी नाम लेकर संक्षेपसे कहता हूँ ॥ ७ ॥

यद्येवं परबलमतिप्रभूतं दृष्ट्वा भीतोऽसि हन्त तर्हि संधिरेव परैरिष्यतां किं विग्रहाग्रहेणेत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह। तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति। अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः सर्वेभ्यः समुत्कर्षजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध निश्चयेन मद्वचनादवधारयेति भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधे रूपम्। ये च मम सैन्यस्य नायका मुख्या नेतारस्तान्संज्ञार्थमसंख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं ते तुभ्यं ब्रवीमि न त्वज्ञातं किंचिदपि तव ज्ञापयामीति द्विजोत्तमेति विशेषणेनाऽऽचार्यं स्तुवन्स्वकार्ये तदाभिमुख्यं सम्पादयति। दौष्टचपक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणत्वात्तावद्युद्धाकुशलस्त्वं तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्मप्रभृतीनां क्षत्रियप्रवराणां सत्त्वान्नास्माकं महती क्षतिरित्यर्थः। संज्ञार्थमिति

यदि अति प्रबलप्रचुर परप्रतिभटको देखकर तुमको उस प्रकारका भय हो रहा है, तो शत्रुके साथ सन्धि ही कर लो, युद्धका आग्रह व्यर्थ है; ऐसे आचार्यके अभिप्रायकी आशङ्का कर कहा—**'अस्माकम्'** इत्यादि। 'तु' शब्दसे अपने मनोगत भयको छिपाता हुआ अपनी प्रगल्भताको अभिव्यक्त करता है। हम सबोंमें जो विशिष्ट हैं—सबसे विशिष्ट पराक्रमशाली हैं उन्हें मैं कहता हूँ, सुनिये। 'बुध' अवगमने आत्मनेपदी धातु है। इसका 'निबोध' रूप कैसे होगा? इस भ्रान्तिके निरासके लिये लिखते हैं—भ्वादिगण पठित परस्मैपदीका उक्त रूप है। जो मेरी सेनाके प्रधान नायक हैं, उनके संज्ञार्थ-स्मरणार्थ, असंख्य वीरोंके मध्यमें कुछका नाम लेकर और अवशिष्टोंका उपलक्षण द्वारा आपसे कहता हूँ, आपको कुछ अज्ञातका ज्ञापन नहीं कराता हूँ; किन्तु ज्ञात ही का स्मरणार्थ यह बोधन है। 'द्विजोत्तम' इस विशेषणसे आचार्यकी स्तुति कर रहा दुर्योधन स्वकार्य युद्ध करनेमें प्रार्थना करता है। आचार्याक्षेपार्थ स्वामीजीका अर्थ सुनिये—दुष्टतापक्षमें 'ब्राह्मण होनेसे युद्धमें तुम निपुण यानी दक्ष नहीं हो। यदि युद्धसे पराङ्मुख होगे, तो भी क्षत्रियप्रवर-भीष्मादि हैं ही, अतः कोई बड़ी हानि नहीं है।' यह अर्थ है।

[ईदृश आचार्यप्रतिक्षेपप्रचुरसमुदायसरस्वतीके उद्गमका स्थान सरस्वतीजीका मानस ही है। भला ऐसा कौन होगा, जो अपने सिरपर विपत्तिका उत्पत्तिष्णु पहाड़ देखता हुआ निष्प्रयोजन तन्निवारणक्षम

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥

आप, भीष्म पितामह, कर्ण और संग्राम जीतनेमें कुशल कृपाचार्य—ये चार तो सबसे विशिष्ट हैं, तथा अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा एवं सिन्धुदेशाधिपति जयद्रथ—ये मेरी सेनाके नायक हैं ॥ ८ ॥

प्रियशिष्याणां पाण्डवानां चमूं दृष्ट्वा हर्षेण व्याकुलमनसस्तव स्वीयवीरविस्मृतिर्मा भूदिति ममेयमुक्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

तत्र विशिष्टान्गणयति—भवान्द्रोणो भीष्मः कर्णः कृपश्च । समिति सङ्ग्रामं जयतीति समितिंजय इति कृपविशेषणं कर्णादनन्तरं गण्यमानत्वेन तस्य कोपमाशङ्क्य तन्निरासार्थम् । एते चत्वारः सर्वतो विशिष्टाः । नायकान्गणयति—अश्वत्थामा द्रोणपुत्रः । भीष्मापेक्षयाऽऽचार्यस्य प्रथमगणनवद्विकर्णाद्यपेक्षया तत्पुत्रस्य प्रथमगणनमाचार्यपरितोषार्थम् । विकर्णः स्वभ्राता कनीयान् । सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वाद्भूरिश्रवाः । जयद्रथः सिन्धुराजस्तथैव चेति क्वचित्पाठः ॥ ८ ॥

सन्नद्ध महापुरुषका उपहास करेगा ? कोई साधारण पुरुष भी इस अर्थको उचित तथा प्रकृत वाक्यके तात्पर्य-का विषय नहीं मान सकता । इस प्रकार मनमाना अनर्थ कहाँ नहीं हो सकता ? द्विजत्व युद्धाकुशलत्वमें हेतु नहीं है, क्योंकि परशुराम, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदिमें व्यभिचार स्फुट है ।] प्रिय शिष्य पाण्डवों-की सेना देखकर आनन्दमग्नमानस आपको अपने वीरोंकी विस्मृति न हो, इस हेतुसे यह मेरा वचन है, यह भाव है । [आचार्य ऐसे बुद्धू और दब्बू नहीं थे, जो इस प्रकार उपालम्भ करनेवालेके साथ क्षणभर भी रह सकते । वे तो तुरन्त पाण्डवोंके पक्षमें हो जाते । इन्होंने द्रुपदको मित्र कहा, इसीसे राजा बिगड़ गये कि भिक्षुक और राजाकी मैत्री कैसी ? यह भी बिगड़कर राजा धृतराष्ट्रके यहाँ आ गये थे । ऐसे तेजस्वी ऐसे अधिक्षेपको नहीं सह सकते थे, यह भी ध्यान देने योग्य है] ॥ ७ ॥

उसमें प्रधानोंको गिनते हैं—आप द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृप । समिति यानी संग्रामको जीतनेवाला यह कृपाचार्यका विशेषण है । कर्णके बाद गिननेसे कृप कुपित न हों, इस हेतुसे उनमें विशेषण दिया है । इससे यह सिद्ध है कि ये चार सबसे बड़े हैं । नायकोंको गिनते हैं—अश्वत्थामा यानी द्रोणपुत्र । भीष्मकी अपेक्षा आचार्यकी प्रथम गणना तथा विकर्णकी अपेक्षा उनके पुत्र अश्वत्थामाकी गणना आचार्यके संतोषके लिये है । विकर्ण, अपना छोटा भाई । सौमदत्ति सोमदत्तके पुत्र श्रेष्ठ होनेसे भूरिश्रवा । जयद्रथ—सिन्धुराज । 'सौमदत्तिस्तथैव च' ऐसा भी कहीं पाठ मिलता है ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

इनके अतिरिक्त शल्य, कृतवर्मा आदि अनेक शूर-वीर पुरुष मेरे लिए अपना जीवन भी छोड़ देनेको प्रस्तुत हैं। शत्रुओंके ऊपर प्रहार करनेके लिए नाना प्रकारके तलवार आदि हथियार लेकर खड़े हुए वे सबके सब युद्धकलाके महान् पण्डित हैं ॥ ९ ॥

भीष्म पितामहसे अभिरक्षित हमारी वह सेना अनन्त है, परन्तु भीमसे अभिरक्षित पाण्डवोंकी यह सेना तो परिमित है ॥ १० ॥

किमेतावन्त एव नायकाः ? नेत्याह—'अन्ये च'। शल्यकृतवर्मप्रभृतयो मदर्थे मत्प्रयोजनाय जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थेन त्यक्तजीविता इत्यनेन स्वस्मिन्ननुरागातिशयस्तेषां कथ्यते। एवं स्वसैन्यबाहुल्यं तस्य स्वस्मिन्भक्तिः शौर्यं युद्धोद्योगो युद्धकौशलं च दर्शितं शूरा इत्यादिविशेषणैः ॥ ९ ॥

राजा पुनरपि सैन्यद्वयसाम्यमाशङ्क्य स्वसैन्याधिक्यमावेदयति—अपर्याप्तमनन्तमेकादशाक्षौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाऽभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माकं बलम्। एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितं सप्ताक्षौहिणीमात्रात्म-

---

क्या इतने ही नायक हैं ? नहीं, और भी हैं, यह कहा—'अन्ये च' इत्यादिसे। शल्य, कृतवर्मा प्रभृति और भी मेरे लिए जीवनके त्यागमें कृतनिश्चय हैं। 'त्यक्तजीवित' से अपनेमें उनके स्नेहातिशयका कथन है। इस प्रकार स्वसेनाकी अधिकता, उसकी अपनेमें भक्ति, शौर्य, युद्धोद्योग और युद्धकौशल 'शूरादि' इत्यादि विशेषणसे प्रदर्शित किया ॥ ९ ॥

राजा, फिर भी दोनों सेनाएं बराबर हैं, यह शङ्का कर मेरी सेना अधिक है, यह आचार्यसे निवेदन करता है। अपर्याप्त यानी अनन्त। अपर्याप्त शब्द यद्यपि असमर्थवाची प्रसिद्ध है, तथापि इसका 'अनन्त' अर्थमें प्रयोग पाया जाता है। 'जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना' इत्यादि माघकाव्यमें उक्त अर्थमें इसका प्रयोग हुआ हैं। प्रख्यातप्रभाव सूक्ष्मबुद्धि भीष्मसे सर्वतः रक्षित मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना गुणवान् पुरुषसे अधिष्ठित होनेके कारण बलवती है। इनकी यानी पाण्डवोंकी सेना तो पर्याप्त है अर्थात् परिमित सात अक्षौहिणी होनेसे

कत्वान्न्यूनं भीमेन चातिचपलबुद्धिना रक्षितं तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः। अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालमस्माकमस्मभ्यम्। कीदृशं तद्भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्माभिर्यस्मै यन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः। तत्पाण्डवबलं भीष्माभिरक्षितम्। इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थम्। भीमोऽतिदुर्बलहृदयोऽभिरक्षितो यस्मै तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम्। यस्माद्भीमोऽत्ययोग्य एवैतन्निवृत्त्यर्थं तै रक्षितस्तस्मादस्माकं न किञ्चिदपि भयकारणमस्तीत्यभिप्रायः॥ १०॥

न्यून है। अति चञ्चल बुद्धि भीमसे अभिरक्षित है, इस कारण हमारी विजय होगी, यह आशय है। अथवा हम लोगोंके लिए पाण्डव बल अपर्याप्त है अर्थात् हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वह भीष्माभिरक्षित है।

प्रश्न—वह तो भीमाभिरक्षित है, भीष्माभिरक्षित कैसे ?

उत्तर—"भीष्म अभिरक्षितो यस्मै" (हम लोगोंने भीष्मकी रक्षा की है जिसके लिये, वह ऐसी पाण्डवोंकी सेना है) अर्थात् हम लोगोंने उसको जीतनेके लिये भीष्मको सुरक्षित रक्खा है। और फिर मेरी यह सेना इन पाण्डवोंके लिये पर्याप्त है अर्थात् उसके पराजयमें पर्याप्त समर्थ है। अतिदुर्बलहृदय भीमको जिसके लिये सुरक्षित रक्खा है, अतः मेरी सेना भीमाभिरक्षित है। चूँकि अतिदुर्बलहृदय भीमको उन लोगोंने मेरी सेनाको पराजित करनेके लिये सुरक्षित रक्खा है, अतः हम लोगोंके भयका कुछ कारण नहीं है, यह दुर्योधनका भाव है।

[वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्यका यह अर्थ है–'तत्' हेत्वर्थक है, इसलिये मेरी सेना भीष्माभिरक्षित भी अपर्याप्त शत्रुसेनाको जीतनेमें समर्थ नहीं है। यह पाण्डवोंकी सेना तो भीमाभिरक्षित पर्याप्त है—हमारी सेनाको जीतनेमें समर्थ है। यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'तत्', 'बल' ये दोनों पद प्रथमैकवचनान्त हैं। ये परस्पर अभेदान्वय-समपंक हैं, अतः 'तत्' पदार्थका अभेदसे 'बल' पदार्थमें अन्वय होना चाहिये, और पूर्वमें अपनी सेना और पाण्डव सेनाके बलाबलका निर्णय नहीं किया गया है। यदि पूर्वमें स्वसेनाकी अपेक्षा परसेनाके बलाधिक्यका निर्णय किया गया होता, तो उसका परामर्शक 'तत्' शब्द हेत्वर्थक होता, सो नहीं किया गया है। यद्यपि भीष्म और द्रोण प्रबल सेनापति हैं, ऐसा सेनापति पाण्डवसेनामें नहीं है, तथापि इनका वध सोपाधिक है। शिखंडीसे भीष्मका और धृष्टद्युम्नसे द्रोणाचार्यका वध दुर्योधन आदि जानते थे और ये दोनों दलोंके पक्षपाती भी हैं। ये स्वयं अर्जुन आदिको नहीं मारेंगे। उनके रहनेसे मेरी विजय असम्भव है और दूसरा कोई उनको नहीं मार सकता। महाभारतके उद्योग पर्वके ५४ वें अध्यायमें दुर्योधनने स्वयं—'न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्। समर्थाः स्म परान् जेतुं बलिनः समरे विभो॥'

इत्यादिसे अपनी सेनाका प्राबल्य घोषित किया है और नवीन घटना अभीतक नहीं हुई है, फिर अकारण वह अपनी सेनाको दुर्बल क्यों समझेगा और द्वितीय दिनके आरम्भमें दुर्योधन क्यों ऐसा कहेगा—

'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं पार्थाभिरक्षितम् । पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं पार्थिवसत्तम ॥'

यहाँ 'अस्माकं' का अपर्याप्तके साथ सम्बन्ध है, बलके साथ नहीं। हे पार्थिवसत्तम ! वह पाण्डव-बल हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है। 'अस्माकम्' का बलके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पराजयके साथ है। अतः यहाँ भी वैसा ही अन्वय करना चाहिये। स्वामीजीके अर्थमें पाठ-भेदसे, व्यवहितान्वयसे, वाक्य-भेदसे और पदार्थभेदसे जो योजना होगी, उसमें भीष्म और भीमका विपर्यास करना होगा यानी भीष्मकी जगह भीम और भीमकी जगह भीष्म पाठ करना होगा। 'भीष्माभिरक्षितम्के' स्थानमें 'भीमाभिरक्षितम्' और 'भीमाभिरक्षितम्के' स्थानपर 'भीष्माभिरक्षितम्' पढ़ना पड़ेगा। भीष्माभिरक्षित पाण्डव-सेना हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है। तच्छब्दका अर्थ असन्निकृष्ट पाण्डवसेनाका परामर्शक होनेसे सामानाधिकरण्यसे अन्वय होगा और विप्रकृष्ट परामर्शमें तच्छब्दका स्वारस्य भी अनुकूल है तथा दुर्योधनके अभिप्रायमें भी विरोध नहीं है। व्यवहितान्वयमें भी यही अर्थ है। दो प्रकारसे यहाँ व्यवहितान्वय हो सकता है। उक्त रीतिसे भीष्म और भीम शब्दका पाठ बदलनेसे एक, तथा दूसरा पर्याप्त और अपर्याप्तका पाठ बदलनेसे। 'सुपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। अपर्याप्तं तदेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।'— मधुसूदन सरस्वतीके अनुसार ऐसा पाठ होना चाहिए। वाक्यभेदमें भी इसी प्रकारकी योजना है। 'अपर्याप्तं तत्' पद एक प्रतिज्ञा है और 'पर्याप्तं तत्' यह दूसरी प्रतिज्ञा है। इनमें कौन हेतु है ? इस आकांक्षासे अग्रिम हेतुपरक वाक्यद्वय है—'अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्' और 'एतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।' हमारी सेना प्रबलाधिष्ठित है तथा परबल दुर्बलाधिष्ठित है। पदार्थभेदमें तो ऐसी योजना है—पर्याप्तं पर्यायणम् यहाँ कर्तामें क्त प्रत्यय है। नाशनसमर्थ हम लोगोंकी सेनाको पाण्डवसेना नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। 'तत्' से पाण्डवसेनाका परामर्श होता है। उसका कर्तृतया निर्देश है। 'इदम्' से अपनी सेना विवक्षित है। हमारी सेना पाण्डवसेनाको नष्ट करनेमें समर्थ है और ग्यारह अक्षौहिणी होनेसे संख्यामें भी अधिक है। पाण्डवसेना सात अक्षौहिणी होनेसे न्यून है। इस प्रकार अपनी सेनामें दौर्बल्य और परसेनामें प्राबल्य दुर्योधन युद्धारम्भमें नहीं समझता।

प्रश्न—अच्छा तो भीष्मका प्रतिभट भीमको दुर्योधनने किस अभिप्रायसे कहा ? यदि सेनापतित्वेन, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाण्डवसेनाका सेनापति धृष्टद्युम्न है, भीम नहीं, यह 'व्यूढां द्रुपदपुत्रेण' से पूर्वमें ही कह चुके हैं। भीष्मके समान बलवान् भीम थे, अतः बलवत्त्वेन दोनोंका साम्य है, यदि कहिये, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि भीमसे भीष्म बहुत अधिक बलवान् थे। भीष्मने स्पष्ट कहा है कि 'शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् । यद्येषां न भवेत् गोप्ता विष्णुकारणपूरुषः ।' शब्दसे भी नहीं, क्योंकि भीमसे भीष्म बली है, भीष्म भीमको निगल जाता है, भीम भीष्मको नहीं। भीष्ममें षकार अधिक है। भीम भीष्मके अन्तर्गत है, भीमके अन्तर्गत भीष्म शब्द नहीं है। प्रतिबलाधिपतित्वसे भी नहीं, क्योंकि प्रतिबला-

धिपति युधिष्ठिर थे, भीम नहीं। परभटप्रधानत्वसे भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रधान प्रतिभट अर्जुन थे, भीम नहीं।

उत्तर—धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंके वधकी प्रतिज्ञा भीमने की थी और उन्हींने सबको मारा भी। उचित-साहसबलसहायादिसे युक्त भीम थे और भीष्मकी समस्त पाण्डवोंकी रक्षाविषयक प्रतिज्ञा थी; अतः, प्रतिकूल प्रतिज्ञावत्त्वेन दोनोंके साधर्म्यकी विवक्षा है, यह पूर्व पक्ष है। उत्तर यह है कि पूर्वमें स्व-परसेनामें उत्कर्षापकर्ष नहीं कहा है, सो ठीक नहीं। आरम्भ ही में सप्त अक्षौहिणीमात्र अतएव न्यून भी पाण्डवसेनाको महती चमू कहा है। बादमें 'धीमता' यहाँतक परसेनापतिका वर्णन किया है। उसके अनन्तर 'अत्र शूरा महेष्वासाः' से लेकर 'सर्व एव महारथाः' यहाँतक 'भीमार्जुनसमा युधि' इस दृष्टान्तसे अति पराक्रमशाली करीब बीस वीरोंका वर्णन किया है। स्वपक्षमें न सेनाका ही वर्णन किया है और न सेनापतिका ही। अपनी सेनामें प्रधान सात ही योद्धाओंके नाम बतलाये हैं, शेषको, 'अन्ये च' से कहा है। फिर भी 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' कहा है, 'मदर्थे विजिगीषवः' नहीं। उसके बाद 'तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः' इस वाक्यसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दुर्योधनको प्रतिसेना देखनेसे विषाद हुआ। अन्यथा 'संवर्धयन् हर्षम्' कहा जाता। यह विषाद परसैन्यदर्शन-समुत्पन्न भयसे हुआ है। आगे भी 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' इस वचनसे दुर्योधन आदिका हृदय-संक्षोभ ही वर्णित है; अतएव आदिमें प्रतिसेनाके सेनापतिका वर्णन, उपसंहारमें शङ्खशब्दमात्रसे हृदय-संक्षोभका वर्णन और मध्यमें जनयितव्य हर्षसे पूर्वमें विषादनिवृत्तिकी सूचना स्फुट है। अतः तच्छब्द हेत्वर्थक है तथा तच्छब्द विप्रकृष्टार्थक है, यह भी शङ्का समाहित हो गई। स्वकीय पूर्ववर्णित अनुत्कर्ष इस समय विप्रकृष्ट ही है और पाण्डवबल दुर्योधनको विप्रकृष्ट नहीं है। 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणा-माचार्य' 'पर्याप्तं त्विदमेतेषाम्' इत्यादि वचनोंसे तदपरोक्षका ही निर्देश किया है; यदि यह कहा जाय, तो महापराक्रमशाली भीष्म, द्रोण महारथियोंसे सुरक्षित अपनी सेनाको दुर्बल कहना दुर्योधनका ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि दुर्योधन यह जानता था कि भीष्मको मारनेके लिए अर्जुनादि शिखण्डीको आगे खड़ा करेंगे। उसके आगे आनेपर भीष्म न लड़ेंगे, यह उनकी प्रतिज्ञा थी। यदि कहिये क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि जन्मके समय वह कन्या था, पीछे गन्धर्वके प्रसादसे वह पुरुष हुआ, यह महाभारतमें प्रसिद्ध है। अतः स्त्रीसे लड़ना नहीं चाहते थे। द्रोणाचार्यकी यह प्रतिज्ञा थी कि समरमें यदि हम अत्यन्त अप्रिय सुनेंगे तो अस्त्र रख देंगे। उस समय धृष्टद्युम्न मार सकता है। शिखण्डी और धृष्टद्युम्न दोनों शत्रु-सेनामें हैं, इस शङ्कासे अपनी सेनाको कमजोर समझता था।

'न भेतव्यं महाराज' इत्यादि तदीय पूर्व वाक्यसे अपनी सेनामें प्राबल्यका ही निर्देश है, इस समय तद्विपरीत प्रतीतिमें कोई कारण नहीं देखते, यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि जैसे अर्जुनने हिंसार्थ धनुष-बाण लेकर समरभूमिमें प्रविष्ट होकर भी देखा कि बन्धु-समुदायको ही मारना है, तो स्नेहकारुण्य धर्माधर्मके भयसे आकुल होकर युद्ध न करना ही उचित समझकर युद्ध न करेंगे, यह कहकर रथके कोनेमें जाकर वे बैठ गये, भगवान्ने समझा-बुझाकर फिर युद्ध करनेके लिये उनको तैयार किया; वैसे ही यहाँ भी दृढ मोरचे-

बन्दीमें स्थित महा प्रतिभटोंको देखकर दुर्योधनको अति विषाद हुआ। भीष्मपितामहने स्वशङ्खध्वनि द्वारा दुर्योधनको प्रकृतिस्थ किया, इसमें क्या अनुपपत्ति है और गोग्रहणके समयमें अपने योद्धाओंसे पर-योद्धाओंकी वीरता प्रत्यक्ष दुर्योधन देख चुका है, उसका इस समय स्मरण करता है, उसको विस्मृति नहीं हुई है। स्वयं उसने कहा है—'अकारादीनि नामानि अर्जुनस्त्रस्तचेतसा' यह जो द्वितीय दिवसारम्भमें जैसे अन्वय किया है वह बल हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् 'अस्माकं' का बलके साथ अन्वय नहीं विवक्षित है, वैसे ही यहाँ भी अन्वय करेंगे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि एकदेशसादृश्यसे सर्वथा सादृश्य नहीं होता।

प्रश्न—प्रथम दिन और द्वितीय दिनमें अभिप्राय भेद ठीक नहीं ?

उत्तर—युद्धकी अवस्था प्रतिदिन एक तरहकी नहीं रहती, इसलिये अवस्थानुसार अभिप्राय भेद होता ही है।

द्वितीय दिनमें स्वसहायक राजन्यवर्गके सान्त्वनार्थं स्वसैन्यके प्रोत्साहनार्थं—स्वधैर्यप्रकाशनार्थं उक्त वचन आवश्यक है, इसलिये वैसी दुर्योधनोक्ति है। यह अधर्मोपहत दुर्योधनका अतर्कितविषादमूलस्वसैन्या-सामर्थ्य-वचन आगामी तदीय पराजयका सूचक है। अतः सर्वसम्मतपाठानुसार अर्थके निर्दोष रहनेपर पाठभेद और अप्रसिद्धार्थकी कल्पना अति जघन्य है। उक्त स्वामीजीके अर्थमें आपने कोई दोष तो नहीं कहा, यह नहीं कह सकते, क्योंकि पाठभेद, व्यवहितान्वय, वाक्यभेद और अप्रसिद्धार्थकल्पना आदि अनेक प्रबल दोष स्वामीजीके अर्थमें हैं और वाक्यभेद योजनामें दोनों प्रतिज्ञाओंमें दोनों हेतुओंका क्रमसे निर्देश नहीं है। अपर्याप्तत्वमें हेतु है—'भीमाभिरक्षितत्व' और पर्याप्तत्वमें 'भीष्माभिरक्षितत्व' हेतु है। जो जिस सेनाका पति है प्रबल या दुर्बल वही उसकी पर्याप्ति और अपर्याप्तिमें हेतु है। प्रतिबलकी पर्याप्ति अपर्याप्तिमें हेतु नहीं होता। यहाँ स्वामीजीने चतुर्थ्यर्थमें बहुव्रीहि समासकर विपरीत ही (लोकप्रसिद्धविरुद्ध ही) कहा है। फलतः वैसा निर्देश है। प्रातिलोम्यसे दोनों हेतुओंका अन्वय करें, तो भी व्यवहितान्वय गलेमें मढ़ा हुआ रहेगा। समुच्चित्य दोनोंका अन्वय करें, तो भी व्यवहितान्वय और अस्वारस्यका परिहार नहीं हो सकता। समुच्चायक शब्द नहीं है, यह अधिक दोष होगा; इसी प्रकार और भी दूषण हैं, जो विस्तार-भयसे छोड़ दिये गये हैं। अब वस्तुतः यह विचार करना है कि किस अभिप्रायसे आचार्यके प्रति दुर्योधनका 'अपर्याप्तं तदस्माकम्' इत्यादि वाक्य है। क्या मेरी सेना शत्रुसेनासे प्रबल है, या मेरी सेना शत्रुसेनासे दुर्बल है ? प्रायः सभी टीकाकारोंने मेरी सेना परसेनासे दुर्बल है, इस तात्पर्यसे उक्त वाक्य है, यही कहा है और श्लोकके स्वारस्यसे भी यही प्रतीत होता है। स्वामीजीने, मेरी सेना परसेनासे प्रबल है—इस तात्पर्यसे उक्त श्लोक है, ऐसी व्याख्या की है। इसके लिये पर्याप्त अपर्याप्तका प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थका ग्रहण किया है। यदि इस प्रकार अपदार्थका बोध किसीको न जंचे, तो भीष्मादि पदका विपर्यास कर व्यवहितान्वय मानकर अथवासे द्वितीय अर्थ कहा है, जिसमें अनेक दूषण अभी कह चुके हैं। इन सब

क्लिष्ट कल्पनाओंका मूल क्या है ? सावधान हो कर सुनिये और स्वयं विचारिये—बात यह है कि आचार्यके पास दुर्योधनने जाकर उक्त वाक्य कहा, पर आचार्यने आश्वासन कुछ नहीं दिया और न कुछ उत्तर ही दिया। इस प्रकारके आचार्यके व्यवहारसे उनका औदासीन्य स्पष्ट झलकता है। और औदासीन्य अप्रसन्नतामूलक है और अप्रसन्नता दुर्योधनोक्त प्रकृतिवाक्यार्थमूलक है, इसलिए प्रकृतवाक्यका ऐसा अर्थ करना चाहिए, जिसमें आचार्य अप्रसन्न हों, बस इसी दृष्टिसे दुर्योधनोक्त वाक्योंमें प्रायः दो अर्थ दिखलाये गये हैं—एक तो सर्वानुमत और दूसरा स्वकल्पित, जिससे कि आचार्य रुष्ट हों। द्वितीय अर्थकी कल्पनाके लिए आचार्यको मूर्खतक कहा गया है। आपकी मूर्खतासे हमारे ऊपर विपत्ति आयी है, इत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं। इन सब कल्पनाओंका मूल आचार्यका अनुत्तर ही है। इससे आचार्यके मनमें यह आ जाय कि वस्तुतः प्रति सेनाको बलवती और अपनी सेनाको दुर्बल समझकर आत्मरक्षार्थं मेरे पास आया है, परन्तु अपने वास्तविक भावको छिपाकर मेरी प्रतारणाके लिये अपनी सेनामें प्राबल्यका वर्णन करता है। यह ऐसा दुराशय है कि इस विकट समयमें भी अपने भावको हमसे छिपाता है, मैं ऐसा अनभिज्ञ नहीं हूँ, जैसा क यह समझता है। इन कटूक्तियोंसे मैं प्रसन्न नहीं हो सकता। इसलिए उसकी उपेक्षा कर कुछ उत्तर नहीं दिया। यदि अपनी सेनाको दुर्बल कहता, जैसा कि और लोगोंने अर्थ किया है, तो आचार्य अप्रसन्न क्यों होते ? वल्कि यथार्थवादी समझकर उत्तर अवश्य देते। यदि आचार्यके अनुत्तरका कारणान्तर हो, तो यह स्वामीजीकी क्लिष्ट कल्पना निर्मूल ही सिद्ध होगी। कारणान्तर यह है—प्रथम तो आचार्यने दुर्योधनको पूर्वमें ही समझाया कि पाण्डवोंसे युद्ध मत छेड़ो, सन्धि कर लो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है। पर दुर्योधनको यह भ्रम था कि चिरकालतक वनमें रहनेके कारण राजाओं तथा जनतासे पाण्डवोंका कोई सम्बन्ध नहीं है और मेरा सबके साथ अबाध सम्बन्ध है अतः युद्धके समय पाण्डवोंको सेना ही नहीं होगी, सब राजे और प्रजाएँ मेरा ही साथ देंगी तथा द्रव्य भी इनके पास नहीं है, इस लिये वे लड़ाईमें ठहर नहीं सकते। परन्तु आचार्य जानते थे कि पाण्डवोंने वनमें रहकर अपना बल खोया नहीं, किन्तु बहुत बढ़ाया है, देवबलसम्पन्न हैं, इनको कोई भी पराजित नहीं कर सकता, इस कारण आचार्य युद्धके विरुद्ध थे।

उस समय दुर्योधन नहीं माना। आज पाण्डवोंकी विपुल सेना देखकर ही भयभीत होकर रक्षार्थ आया है। अब क्या हो सकता है ? पाण्डवोंकी विजय निश्चित है। दूसरा कारण यह है—आचार्यको प्रधान सेनापति न बनाकर भीष्मको सेनापति बनाया, इससे इसका मुझमें न तो पूर्ण विश्वास है न तो मेरे पराक्रममें इसको जयाशा ही है। इसने मुझे विनीत युधिष्ठिरादिका हितैषी समझकर प्रथम सेनापति नहीं बनाया। तीसरा कारण यह है—'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि' इस वचनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दुर्योधनकी जयाशा भीष्मके ही पराक्रममें थी। आचार्यकी अपेक्षा केवल प्रधान सेनापति भीष्मकी रक्षाके लिये ही थी। इन कारणोंसे आचार्यका अनुत्तर हो सकता है, फिर एतदर्थ अपव्याख्यानकी क्या आवश्यकता ?

अयनेषु तु[1] सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

युद्धके सभी मोर्चोंपर विभागपूर्वक उचित रूपसे यानी जहाँ जिसको रहना उचित हो, उसके अनुसार अवस्थित होकर आप सबके सब एकमात्र भीष्मकी ही रक्षा करें, क्योंकि सेनापतिके सुरक्षित रहनेपर ही सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥ ११ ॥

एवं चेन्निर्भयोऽसि तर्हि किमिति बहु जल्पसीत्यत आह—'अयनेषु' इति कर्तव्यविशेषद्योती तुशब्दः । समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि यानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते । सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय

प्रश्न—अच्छा तो यह कैसे निर्णय निष्पक्ष हो कि स्वसेनाके दौर्बल्यमें ही उक्त वाक्यका तात्पर्य है, प्राबल्यमें नहीं ?

उत्तर—जहाँ वाक्यके तात्पर्यमें सन्देह होता है, वहाँ षड्विध लिंगोंसे निर्णय किया जाता है। 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' इनका यहाँ विवेचन करनेपर ग्रन्थका कलेवर बहुत बढ़ जायगा, इसलिये विवेचन न कर उपयोगमात्र हमने दिखलाया है । 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्' यह उपक्रम (आरम्भ) में स्वसेनासे न्यून पाण्डवसेनाको भयसे महती कहा है। अनन्तर 'धीमता' एतत्पर्यन्त परसेनापतिका वर्णन किया है। स्वपक्षमें सेना और सेनापति किसीका वर्णन नहीं किया है। 'अत्र शूराः महेष्वासाः' से लेकर 'सर्व एव महारथाः' यहाँतक 'भीमार्जुन-दृष्टान्त' से अतिपराक्रमशाली करीब उन्नीस सेनापतियोंका वर्णन किया है। अपनी सेनामें केवल सात योद्धाओंका ही नाम निर्देश किया है। प्रतिसेनाके योद्धाओंमें प्रायः सबमें विशेषण है। अपनी सेनाके योद्धाओंमें थोड़ेमें ही विशेषण है 'इत्यादि' अभ्यास है। 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' यह उपसंहार है। 'शंखध्वनिमात्रसे स्वसैनिकोंके हृदय विदीर्ण हुए' इससे स्वसेनाकी दुर्बलता स्पष्ट प्रतीत होती है। यदि प्रबल होती, तो युद्धोत्साहसे हृदय विकसित हो जाते। अतः पूर्वापरप्रकरणानुसन्धानसे स्वसेनाकी दुर्बलतामें ही दुर्योधनका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है, प्रबलतामें नहीं। केवल आचार्यके अनुत्तरमात्रसे ही अर्थान्तरकी कल्पना ठीक नहीं है। पाठकगण विचारकर इस विषयमें युक्तायुक्तत्वका निर्णय स्वयं करें]॥ १० ॥

यदि तुम इस तरह निर्भय हो, तो फिर अधिक क्या बोल रहे हो ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'अयनेषु तु' इत्यादिसे ।

कर्तव्यविशेषका द्योतक 'तु' शब्द है। 'अयन' शब्दके अर्थको स्फुट करते हैं—'सर्वेषु' इत्यादिसे।

सङ्ग्रामके आरम्भ समयमें, युद्धभूमिमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि दिशाओंका विभागकर योद्धाओंको—जो जहाँ नियुक्त करनेके योग्य हैं उनकी वहाँ—अवस्थितिके लिए जो स्थान निश्चित किये जाते हैं, उनको 'अयन' कहते हैं। सेनापति सब सेनाओंका अधिष्ठाता होकर सेनाके मध्यमें रहता है। इस प्रकार जो

---

१. 'अयनेषु च' पाठ भी मिलता है।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

राजा दुर्योधनके हर्षको बढ़ाते हुए कुरुवृद्ध महाप्रतापी भीष्मपितामहने महान् सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

मध्ये तिष्ठति । तत्रैवं सति यथाभागं विभक्तां स्वां-स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेऽपि युद्धाभिनिवेशात्पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्चानिरीक्षमाणं भीष्मं सेनापतिमेव रक्षन्तु । भीष्मे हि सेनापतौ रक्षिते तत्प्रसादादेव सर्वं सुरक्षितं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥११॥

स्तौतु वा निन्दतु वा, एतदर्थे देहः पतिष्यत्येवेत्याशयेन तं हर्षयन्नेव सिंहनादं [विनद्य] शङ्खवाद्यं च कारितवानित्याह[1] —एवं पाण्डवसैन्यदर्शनादतिभीतस्य भय-निवृत्त्यर्थमाचार्यं कपटेन शरणं गतस्येदानीमप्ययं मां प्रतारयतीत्यसन्तोषवशादाचार्येण वाङ्मात्रेणाप्यनादृतस्याऽऽचार्योपेक्षां बुद्ध्वाऽयनेष्वित्यादिना भीष्ममेव स्तुवतस्तस्य राज्ञो भयनिवर्तकं हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं स्वविजयसूचकं जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा, यद्वा सिंहनादमिति णमुलन्तम् । अतो रैपोषं पुष्यतीतिवत्तस्यैव धातोः पुनः प्रयोगः ।

जहाँ सेनापतिके द्वारा योग्यतानुसार नियत किये गये हैं, वे सब अपनी-अपनी नियत युद्धभूमिको न छोड़कर वहीं स्थित होकरके युद्धमें अत्यन्त अभिनिवेश रखनेके कारण लक्ष्यैकदत्तदृष्टि अतएव आगे-पीछे, दाहिने-बाँयें न देख रहे भीष्मकी ही आप सब रक्षा करें। सम्भव है, उन स्थलोंमें सेनापतिको अनवहित देखकर कोई शत्रु उनपर हमला कर दे, इसलिये आप लोग भीष्म सेनापतिकी रक्षामें खूब सावधान रहें, क्योंकि सेनापतिके सुरक्षित रहनेपर ही उनकी प्रसन्नतासे सब सुरक्षित रह सकते हैं ॥ ११ ॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यजीने दुर्योधनका भीष्मके ऊपर अधिक विश्वास और उनको युद्धमें प्रधान एवं अपनेको गौण समझकर खिन्नचित्त होकरके कुछ उत्तर नहीं दिया। उत्तर न पानेपर खिन्नचित्त हुए अतिभक्त दुर्योधनको देख भीष्मने 'लोग स्तुति करें या निन्दा', दुर्योधनके लिये देह 'समरमें गिरेगी ही' इसी अभिप्रायसे उनको हर्षित करते हुये ही सिंहके समान गर्जकर शङ्ख बजाया, यह कहते हैं—**'तस्य'** इत्यादिसे ।

१. 'वादितवानित्याह' पाठ भी है ।

शङ्खं दध्मौ वादितवान्। कुरुवृद्धत्वादाचार्यदुर्योधनयोरभिप्रायपरिज्ञानम्, पितामहत्वादनुपेक्षणम्, न त्वाचार्यवदुपेक्षणम्, प्रतापवत्त्वादुच्चैः सिंहनादपूर्वकशङ्खवादनं परेषां भयोत्पादनाय। अत्र सिंहनादशङ्खवाद्ययोर्हर्षजनकत्वेन पूर्वापरकालत्वेऽप्यभिचरन्यजेतेतिवज्जनयन्निति शताऽवश्यंभावित्वरूपवर्तमानत्वे व्याख्यातव्यः ॥ १२ ॥

पाण्डवसैन्यदर्शनसे अतिभीत दुर्योधनके भयनिवृत्त्यर्थं कपटसे आचार्यकी शरणमें जाकर इस समय भी हमको धोखा दे रहा है। वस्तुतः परबलको देख भयभीत है, परन्तु अपनेको निर्भीक दिखलाता है, यह केवल मेरी प्रतारणामात्र करता है, इस असन्तोषके कारण आचार्यने वचनमात्रसे भी आदर नहीं किया। इस आचार्योपेक्षाको जानकर 'अयनेषु' इत्यादि वाक्यसे अपने स्तुतिपरायण राजाके भयनिवर्तनक्षम स्वविजयसूचक बुद्धिसमुल्लासविशेष हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंहनाद—महान् शब्द—करके शङ्ख बजाया। 'सिंहनाद' यह 'णमुल्' प्रत्ययान्त है, अत एव 'णद' धातुका ही पुनः अनुप्रयोग हुआ है। [कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः। [३।४।६] इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार 'णमुल्' युक्त 'नद' धातुका अनुप्रयोग करना उचित है। अत एव 'रैपोषं पुष्णाति' इत्यादि स्थलमें 'स्वे पुषः' [३।४।४०] इस सूत्रका उदाहरण 'रैपोषं पुष्यति' यह वृत्तिकारोंने दिया है।[1] 'अर्थरैविभवा अपि' इस अमरकोषसे 'रै' शब्द धनवाची है। उक्त सूत्रमें स्वशब्द और तत्पर्याय तथा तद्विशेषका भी ग्रहण माना जाता है इत्यादि वृत्तिग्रन्थोंमें देखिये।] शङ्ख बजाया। कुरुवृद्ध होनेसे दुर्योधन और आचार्य दोनोंके अभिप्रायोंके ज्ञाता हैं, यह 'वृद्ध' विशेषणसे सूचित होता है। पितामहसे राजामें उपेक्षणीयत्वाभावका सूचन होता है। आचार्यके समान पितामहने दुर्योधनकी उपेक्षा नहीं की। ऊर्ध्वमुख होकर सिंहनादपूर्वक शङ्ख बजाया, यह शङ्खध्वनि परसैनिकोंके मनमें भयोत्पादनके लिये है।

शङ्का—सिंहनादपूर्वक शङ्खध्वनि राजाके हर्षोत्पादनका हेतु है। हेतुहेतुमद्भाव नियतपूर्वापरकालमें होता है। हेतु पूर्वकालमें और कार्य परकालमें रहता है, यह नियम है, किन्तु यहाँ 'हर्षं सञ्जनयन् सिंहनादं विनद्य शङ्खं दध्मौ' यह लिखा है, इससे कार्य और कारणमें समानकालता प्रतीत होती है, जो कार्यकारणभावका बाधक है।

समाधान—'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [३।२।१२६] इस भगवान् पाणिनिके सूत्रसे हेत्वर्थमें 'शतृ' प्रत्यय है। 'धनम् अर्जयन् वसति'। यहाँ धनार्जन वासका फल है। फल भी हेतु माना जाता है। 'अर्जयन्'

१. किसीने 'स्वे पुषः' इस पाणिनि सूत्रका अर्थ स्वार्थवाचक शब्दोंके पूर्व रहनेपर पुष् धातुसे णमुल् प्रत्यय होता है, ऐसा लिखा है। इस अर्थमें कारणकारकीभूत यह विशेषण और देना चाहिये। क्योंकि स्वेन पुष्णाति राया पुष्णाति इसी अर्थमें स्व पोषं पुष्णाति रै पोषं पुष्णातिकी सिद्धि 'स्वे पुषः' इस सूत्रके द्वारा होती है, अर्थान्तरमें नहीं। यह व्याकरणकी साधारण प्रक्रिया है।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

उसके बाद शङ्ख, भेरि, पणव, आनक, गोमुख आदि अनेक बाजे तत्क्षण ही बज उठे और वह शङ्खादिका शब्द महान् हुआ ॥ १३ ॥

ततो भीष्मस्य सेनापतेः प्रवृत्त्यनन्तरं पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः । कर्मकर्तरि प्रयोगः । स शब्दस्तुमुलो महानासीत्तथाऽपि न पाण्डवानां क्षोभो जात इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

यहाँ शतृ प्रत्यय उचित माना है। वेदमें 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस श्रुतिमें श्येनयागका फल अभिचार है। श्येनयागोत्तर शत्रुविनाश होता है, किन्तु उक्त विनाश उक्त यागका फल होनेसे फल भी हेतु माना ही जाता है, इसलिये सूत्रमें हेत्वर्थ 'शतृ' प्रत्यय हुआ है। तद्वत् यहाँ भी 'संजनयन्हर्षम्' हर्षोत्पादन सिंहनादपूर्वक शङ्खध्वनिका फल है। अतः हेत्वर्थमें 'शतृ' प्रत्यय ठीक ही है। इस तात्पर्यसे अवश्यम्भावित्वरूप वर्तमानत्वमें 'शतृ' प्रत्यय कहा गया है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

[अथवा आपका पुत्र दुर्योधन आरम्भ ही से दुर्विनीत था, इसलिये धृतराष्ट्रको भय हुआ कि आचार्यके समान यदि पितामह भी उपेक्षा कर देंगे, तो मेरा पुत्र अशरण हो जायगा। इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये 'कुरुवृद्ध' यह विशेषण दिया गया है। उक्त विशेषणसे पितामहने अपनी महत्तापर ध्यान रखा, उपेक्षा नहीं की, यह सूचित होता है। वृद्ध पितामहने हर्षोत्पादन करते हुये परसैन्यदर्शनसमुत्पन्न भयसे तथा आचार्यकी उपेक्षासे शुष्कप्राण दुर्योधनके उस समय प्राणप्रतिष्ठार्थ ही सिंहनाद किया है, वस्तुतः परबल-निरासके लिये नहीं, क्योंकि वृद्ध पितामहमें इतनी शक्ति नहीं है, यह वृद्धसे सूचित होता है] ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापति भीष्मकी प्रवृत्ति देखकर पणव, आनक और गोमुख विशेष बाजे सहसा उसी समय बजे। 'वादिताः' यहाँ कर्मकर्त्तामें प्रत्यय है। बाजे अपनेसे तो बज नहीं सकते, लोगोंने बजाये, इसी भावमें कर्म बाजोंको कर्त्ता मानकर कर्त्तामें प्रत्यय है। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' [३।१।८७] इस पाणिनीय सूत्रसे कर्मवद्भाव होनेसे उक्त रूप सिद्ध होता है। यद्यपि वह शब्द महान् हुआ, फिर भी पाण्डवोंको क्षोभ नहीं हुआ, यह अभिप्राय है।

['मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय' इस प्रश्नका कौरव-वृत्तान्तकथन स्वरूप उत्तर देकर पाण्डुवृत्तान्त कहा। माधव और पाण्डव दोनोंने शङ्ख बजाये।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख जोरसे बजाये ॥ १४ ॥

अन्येषामपि रथस्थत्वे स्थित एवासाधारण्येन रथोत्कर्षकथनार्थं ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्यादिना रथस्थत्वकथनम्, तेनाग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे स्थितौ, सर्वथा जेतुमशक्यावित्यर्थः । पाञ्चजन्यो देवदत्तः पौण्ड्रोऽनन्तविजयः सुघोषो मणिपुष्पकश्चेति शङ्खनामकथनं परसैन्ये स्वस्वनामभिः प्रसिद्धा एतावन्त शङ्खा भवत्सैन्ये तु नैकोऽपि स्वनामप्रसिद्धः शङ्खोऽस्तीति

कौरवपक्षमें प्रधान राजा दुर्योधनका जैसे वृत्तान्त कहा, वैसे ही पाण्डवपक्षमें राजा युधिष्ठिरका वृत्तान्त कहना चाहिये था; पर वैसा न कहकर प्राधान्येन माधवके वृत्तान्त-कथनसे ज्ञात होता है कि पाण्डवबलमें भगवान् ही प्रधान राजा हैं । युधिष्ठिर और अर्जुन निमित्तमात्र हैं ।

शङ्का—भगवान् तो अर्जुनके सारथी हैं, राजा कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—कृष्ण न कहकर माधव कहा, अर्थात् 'मा-लक्ष्मी', उसके धव-पतिको यानी लक्ष्मी-पतिको पहिले कहा, उसके अनन्तर पाण्डव कहा । पाण्डवकी रक्षाके लिये भगवान्ने अवतार लिया । अतएव स्वरक्षणीयको आगे बैठानेपर शत्रुप्रहार करेंगे, इस अभिप्रायसे उनको पीछे बैठाकर स्वयं आगे बैठे, यही भगवान्का अर्जुनके लिये सारथित्व है, सो स्वामित्वका विरोधी नहीं है । 'माधव' पदसे जहाँ लक्ष्मीपति हैं वहीं पराक्रमादि सर्वविध लक्ष्मीका निवास है । पाण्डवोंको ही जय होगी, लक्ष्मीरहित कौरवोंकी नहीं, यह सूचित होता है] ॥ १३ ॥

रथमें तो और लोग स्थित रहे ही, किन्तु अन्यमें रथस्थितत्वका निर्देश न कर विशेष रूपसे माधव पाण्डवमें ही रथस्थत्वका निर्देश तदीय रथमें विशेष उत्कर्षकी सूचनाके लिये है । तदनन्तर श्वेत घोड़ासे युक्त रथमें बैठे, इस श्वेत हयके विशेषणसे अग्निदत्त अजेय रथमें स्थित हुए, यह कहनेसे सर्वथा अजेय सूचित होता है । पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष और मणिपुष्पक ये शङ्खके नाम कहे हैं । पाण्डवसेनामें अपने-अपने स्वनामप्रसिद्ध इतने शङ्ख हैं, आपकी सेनामें एक भी स्वनामप्रसिद्ध शङ्ख नहीं है । इससे परमें उत्कर्षातिशय स्फुट होता है । सब इन्द्रियोंके प्रेरक सबके अन्तर्यामी भगवान् पाण्डवोंके सहायक हैं, इस अर्थको स्फुट करनेके लिये '**हृषीकेश**' पद कहा है ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

भगवान् हृषीकेशने अपना पाञ्चजन्य, धनञ्जयने देवदत्त और भयङ्कर कर्म करनेवाले भीमने अपना पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

परेषामुत्कर्षातिशयकथनार्थम्। सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन सर्वान्तर्यामी सहायः पाण्डवानामिति कथयितुं हृषीकेशपदम्। दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति सर्वथैवायमजेय इति कथयितुं धनञ्जयपदम्। भीमं हिडिम्बवधादिरूपं कर्म यस्य तादृशो वृकोदरत्वेन बह्वन्नपाकादतिबलिष्ठो भीमसेन इति कथितम्। कुन्तीपुत्र इति कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य

दिग्विजयमें सब राजाओंको जीतकर प्रभूत धनका संचय कर सर्वथा यह अजेय सिद्ध हो चुके हैं, इसको व्यक्त करनेके लिये '**धनञ्जय**' पद कहा है। भीमकर्मा यानी भयङ्कर कर्म हिडिम्बादिवधरूप जिसका है वह भीमकर्मा है। वृकोदरविशेषण बहुत अन्न खाकर अति बलवान् भीम हैं। कुन्तीपुत्र यानी बड़ी तपस्याके द्वारा कुन्तीने धर्मकी आराधना करके युधिष्ठिर पुत्रकी प्राप्ति की है। स्वयं भी मुख्य राजसूय याग करनेसे मुख्य राजा हैं। यही समरमें विजयी होकर रहेंगे, इनके शत्रु स्थिर न रहेंगे, यह भाव युधिष्ठिर शब्दसे सूचित होता है। नकुलने सुघोष नामक और सहदेवने मणिपुष्प नामक शङ्ख बजाया। 'बजाया' का अनुषंग (सम्बन्ध) सबके साथ करना चाहिये।

[अथवा रथस्थितत्वकथनसे परकीय सेनाको देखकर भयसे आचार्यके पास जाकरके प्रधान सेनापति भीष्मकी रक्षाके लिये सबको दुर्योधनने सावधान किया। उससे विलक्षण पाण्डवसैनिकोंमें कोई कहींसे हटा नहीं, जो जहां पहिले स्थित था वह वहीं डटा रहा, इससे उसमें भयाभाव सूचित होता है। दोनों रथपर स्थित थे, यह समान स्थितिका निर्देश यह सूचित करता है कि रथ हांकनेके समय भगवान् सारथीके स्थानपर बैठते थे, कालान्तरमें दोनों एक स्थानपर बैठते थे, इससे दोनोंमें अखण्ड प्रेम बतलाया। श्वेताश्व रथवाले और भी थे, उनको उस रूपसे निर्देश न कर अर्जुनके रथको श्वेताश्व कहनेका अभिप्राय यह है कि खाण्डव-वन-दाहके समय अग्निने प्रसन्न होकर इन्द्रादिसे लड़नेके लिये जो श्वेताश्व रथ अर्जुनको दिया था, वह दिव्य अजेय रथ है, उस रथको अभिव्यक्तकरनेके लिये उक्त निर्देश है।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल और सहदेवने अपने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

लब्धः । स्वयं च राजसूययाजित्वेन मुख्यो राजा । युधि चायमेव जयभागित्वेन स्थिरो न त्वेतद्विपक्षाः स्थिरा भविष्यन्तीति युधिष्ठिरपदेन सूचितम् । नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं दध्मावित्यनुषज्यते ॥ १४-१६ ॥

'उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः । पाण्डुराजप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ॥
ससर्ज यं स्वतपसा भुवने भुवनप्रभुः । प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ॥
आश्रिता यं रथश्रेष्ठं शक्रध्वजसमा बभौ । तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ॥
यस्यान्तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः । भीमो ननर्द तत्रस्थः संश्रितो मूर्ध्न्यशोभत ॥
ध्वजे भूतानि चात्रासन् विविधानि महान्ति च । नादे न रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ॥

इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंसे उक्त रथकी महिमा वर्णित है । उसके स्मरणार्थ ये तथोक्तियाँ हैं । इस प्रकारका एक ही रथ कौरवोंके विजयके लिये पर्याप्त है, फिर भी उसपर माधवजी बैठे हैं और इन्द्रविजेता पाण्डव तथा ऊपर हनुमान्‌जी हैं । फिर विजयके विषयमें क्या कहना है ? 'माधवः पाण्डवश्चैव' यहाँपर 'एव' का अर्थ यह है—कुरुसेनापति भीष्मने प्रथम स्वयं शङ्ख बजाकर अनन्तर स्वसैनिकोंको बाजा बजानेमें जैसे प्रवृत्त कराया, वैसे ही पाण्डवसेनापति धृष्टद्युम्नको स्वयं प्रथम बाजा बजाना अनुरूप था, किन्तु वैसा नहीं किया । कृष्ण और अर्जुनने ही सर्वप्रथम अपनी सेनामें शङ्ख बजाये । इसमें हेतु यह है कि पूर्वमें 'प्र' नहीं है, इसमें 'प्र' है । 'प्र' से प्रकर्षका बोध होता है । सकल धार्तराष्ट्रमर्मभेदनपर्यन्त प्रकर्ष है, अतएव आगे स्पष्ट कहा है—'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।' इससे यह भाव स्फुट होता है कि यदि धृष्टद्युम्न शङ्ख बजाते, तो भीष्मादिशङ्खवादनके समान पाण्डवसेनामें भी शङ्खवादन हुआ, यही प्रतीत होता, परन्तु यहाँ तावन्मात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु परहृदयविदारणसमर्थ शङ्खध्वनि करनी चाहिये, इस अभिप्रायसे माधव और पाण्डवने प्रथम शङ्ख बजाये ।] ॥ १४-१६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

महान् धनुर्धारी काशिराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और कभी भी पराजित न हुए सात्यकि तथा हे पृथिवीपते, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके सभी पुत्रों और महाबाहु सौभद्रने भी अपना-अपना अलग-अलग शङ्ख बजाया ॥ १७, १८ ॥

आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनिसे परिपूर्ण करते हुए उस शंखध्वनिने धृतराष्ट्रके भीष्म, द्रोण आदि सम्बन्धियोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥

परमेष्वासः काश्यो महाधनुर्धरः काशिराजः । न पराजितः पारिजात-हरणबाणयुद्धादि-महासंग्रामेषु एतादृशः सात्यकिः । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र, स्थिरो भूत्वा शृण्वित्यभिप्रायः । सुगममन्यत् ॥ १७, १८ ॥

धार्तराष्ट्राणां सैन्ये शङ्खादिध्वनिरतितुमुलोऽपि न पाण्डवानां क्षोभकोऽभूत् । पाण्डवानां सैन्ये जातस्तु स शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रस्य तव सम्वन्धिनां सर्वेषां भीष्मद्रोणादीनामपि हृदयानि व्यदारयत्, हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवानित्यर्थः । यतस्तुमुलोऽतितीव्रो नभश्च पृथिवीं च प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ १९ ॥

परमेष्वासः काश्यः यानी महाधनुर्धर काशिराज। पारिजातहरण, बाणासुरमहासंग्राम आदिमें न पराजित (अपराजित) सात्यकि बड़े वीर हैं। हे पृथिवीपते ! हे धृतराष्ट्र, सावधान होकर सुनिये । शेष सुगम है यानी व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७,१८ ॥

कौरव-सेनामें शङ्खध्वनि भयङ्कर हुई, लेकिन पाण्डवोंको क्षोभ-भय नहीं हुआ । परन्तु पाण्डव-सैन्यमें जो शब्द हुआ, उसने आप धृतराष्ट्रके जितने सम्वन्धी भीष्म-द्रोण आदि थे, उन सबके भी हृदयोंको विदीर्ण कर दिया । हृदयविदारणसे जैसी व्यथा होती है उसीके समान व्यथा उत्पन्न की, यह अर्थ है। विदारण औपचारिक विवक्षित है, वास्तविक नहीं, क्योंकि तुमुल यानी अतितीव्र हुआ; प्रतिध्वनिसे आकाश और पृथिवीको पूर्ण करते हुए।

['हृदयं चित्तवक्षसोः' इस निघण्टुके अनुसार हृदयसे वक्षःस्थल और मन दोनोंका ग्रहण प्रकृतमें विवक्षित है। मनका विदारण ज्ञान, इच्छा, मति, धैर्य उत्साहादिका नाश है। वक्षःस्थलका विदारण भयप्रयुक्त महाविपत्तियोंमें अनुभवसिद्ध मर्मभेदन है। ये दोनों हृदयविदारणोक्तिसे विवक्षित हैं, अतः धार्तराष्ट्र, निहत ही हुये। 'मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' इस भगवद्वचनसे पूर्वमेव यानी शङ्खवादनकालमें ही वे मारे गये। 'स घोषो' इत्यादि वाक्यसे भगवान् सत्यप्रतिज्ञ हैं, यह सूचित होता है। स्वयं युद्ध न कर पाण्डवोंके युद्धका सम्पादनकर पाण्डवोंको विजयश्री दिलायेंगे, यह भगवान्की प्रतिज्ञा थी, उसकी पूर्ति की। यहाँ 'एवकार' का अन्वय धार्तराष्ट्रके हृदयके साथ इष्ट है 'धार्तराष्ट्राणां हृदयान्येव व्यदारयत् न अन्येषाम्' अर्थात् दुर्योधनादिके हृदयोंका ही विदारण किया, दूसरोंके हृदयोंका नहीं, प्रत्युत अन्यको हर्षका कारण ही हुआ। आपके सब पुत्रोंके हृदय विदीर्ण हुये, उनमें कोई भी दृढचित्त नहीं था, इस अर्थके सूचनार्थ बहुवचन है।

शङ्का—घोष तो शब्द है, वह शस्त्रकी तरह हृदयविदारण कैसे कर सकता है ?

उत्तर—हृदयशब्दसे यदि मन विवक्षित है, तो कोई शंका ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानेच्छादिके बिना मनविदारण अप्रसिद्ध ही है। यदि वक्षःस्थल विवक्षित है, तो विजयाभिलाषियोंका विजयाभिलाषनाश ही विदारण यहाँ विवक्षित है। उन लोगोंको निश्चय हो गया था कि अब हमारी विजय न होगी। विजय-निश्चय समूल नष्ट हो गया। समुद्रके भीतर पञ्चजन नामका कोई असुर रहता था, जिसका स्वरूप शङ्खके समान था। गुरुपुत्रानयनप्रसंगमें उस असुरको मारकर उसकी हड्डीसे उत्पन्न शङ्खको भगवान्ने ले लिया। वही शङ्ख पाञ्चजन्य कहलाता है। 'स तु पञ्चजनं हत्वा शङ्खं लेभे जनार्दनः। यस्य देवमनुष्येषु पाञ्चजन्य इति श्रुतिः॥' हरिवंशमें यह कथा प्रसिद्ध है। 'देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम्। दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह॥" यह महाभारत है। 'भक्तिज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः। योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः॥ एतद्दशात्मको वायुः तस्माद् भीमस्तदात्मकः।' 'नभश्च पृथिवीं चैव' यहाँ चकारसे विदारण और व्यनुनादन दोनोंका समुच्चय विवक्षित है। आकाश निरवयव है। उसका विदारण तो हो नहीं सकता, परन्तु लोकमें ऐसा प्रयोग देखा जाता है कि आकाश भी विदीर्ण हो गया। पृथिवीका विदारण तो देखा ही जाता है; जैसे विद्युत्के महाशब्दसे कूपादि फट जाते हैं। कर्णेन्द्रिय आकाशात्मक है। महाशब्दसे वह फट जाती है, इसको ही परदा फटना भी कहते हैं] ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
१→ सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

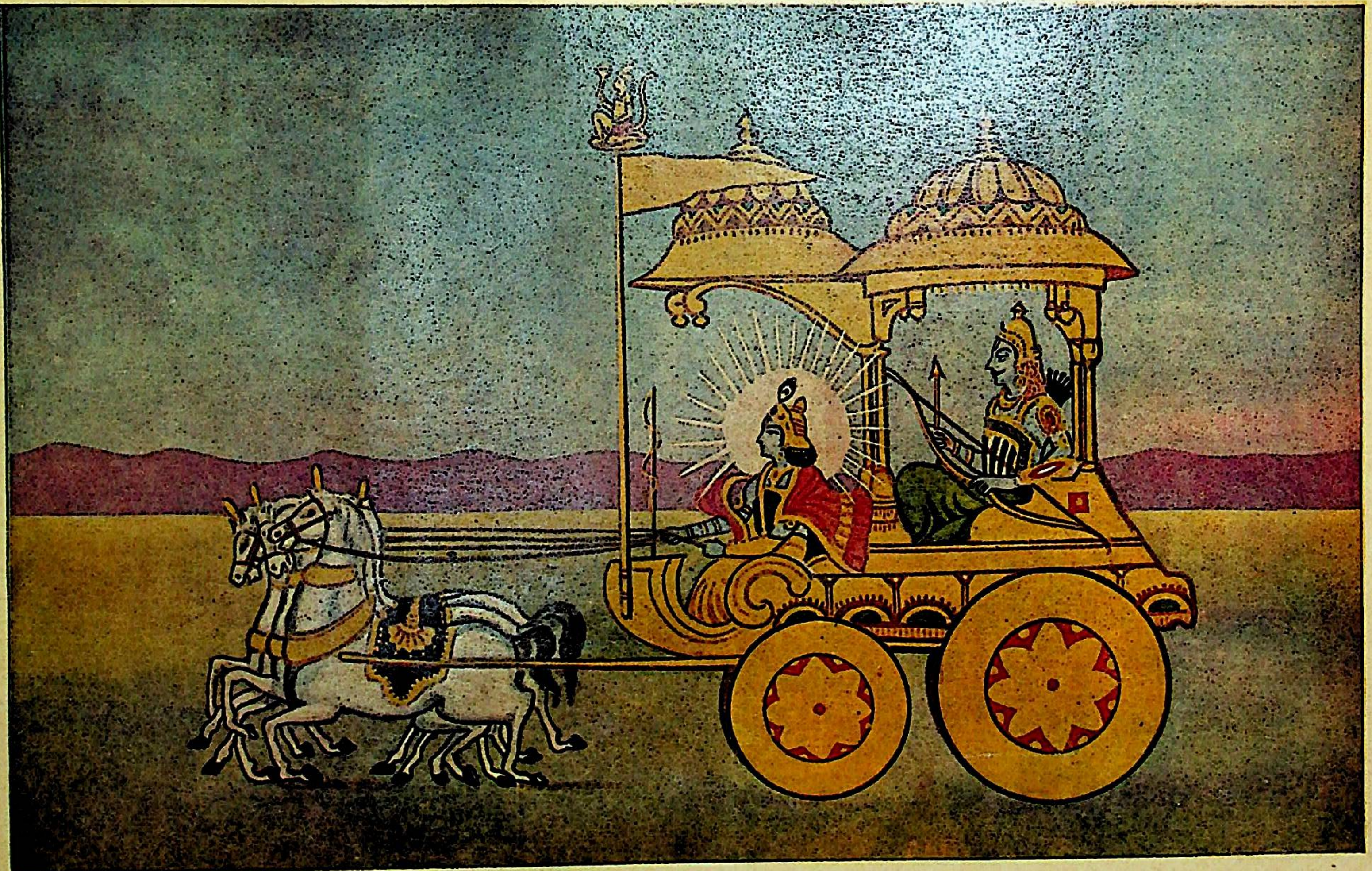
उस भयंकर शब्दको सुन लेनेके बाद भी धृतराष्ट्रके भीष्म आदि सम्बन्धियोंको युद्ध करनेके लिए डटे हुए देखकर कपिध्वज अर्जुनने शस्त्रसमूहोंके ग्रहण करनेके समय अपना धनुष उठाकर उस समय हे महीपते, हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे यह वाक्य कहा—हे अच्युत, इन दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

धार्तराष्ट्राणां भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमुदाहरति—'अथ' इत्यादिना । भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि तद्विरुद्धतया युद्धोद्योगेनाऽवस्थितानेव परान्प्रत्यक्षेणो-पलभ्य तदा शस्त्रसंपाते प्रवर्तमाने सति, वर्तमाने क्तः । कपिध्वजः पाण्डवः । हनूमता महावीरेण ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतोऽर्जुनः सर्वथा भयशून्यत्वेन युद्धाय गाण्डीवं धनुरुद्यम्य हृषीकेशमिन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाहोक्तवान्न त्वविमृश्यकारितया स्वयमेव यत्किंचित्कृतवानिति, परेषां विमृश्यकारितया परेषां राज्यं गृहीतवानसीति नीतिधर्मयोरभावात्तव जयो नास्तीति महीपत इति सम्बोधनेन सूचयति ।

दुर्योधन आदिको भयप्राप्ति दिखलाकर पाण्डवोंको उसकी विपरीतावस्था दिखलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

दुर्योधन आदिको भय उत्पन्न होनेसे भागना प्राप्त था, किन्तु तद्विपरीत युद्धोद्योगमें ही तत्पर शत्रुओंको प्रत्यक्ष देखकर, 'प्रवृत्त' में क्त प्रत्यय कर्त्तामें नहीं है, किन्तु वर्तमानमें है। वर्तमान शस्त्रसम्पातमें यानी शस्त्रसमुदायके प्रयोगके समय। कपिध्वज—पाण्डव। ध्वजस्थित महावीर श्रीहनुमान्‌जीसे अनुगृहीत अर्जुनने सर्वभयशून्य होकर युद्धके लिये गाण्डीव धनुष उठाकर, हृषीकेश [हृषीक नाम इन्द्रियोंका है 'हृषीकं विषयीन्द्रियम्' यह अमरकोश है। उनके ईश सबके अन्तःकरणके ज्ञाता] श्रीकृष्णसे वक्ष्यमाण वाक्य कहा। बिना विचारे जो सहसा कार्य करता है वह अविमृश्यकारी कहलाता

१→. 'अर्जुन उवाच' कहीं कहीं मिलता है।



हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ (१।२१)



तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति—सेनयोरुभयोः स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः संनिहितयोर्मध्ये मम रथं स्थापय स्थिरी कुर्विति सर्वेश्वरो नियुज्यतेऽर्जुनेन । अनेन किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठतीति ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति सूचयति नन्वेवं रथं स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्च्यावयिष्यन्तीति भगवदाशङ्कामाशङ्क्याऽऽह—'अच्युत'इति । देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः । एतेन सर्वदा निर्विकारत्वेन नियोगनिमित्तः कोपोऽपि परिहृतः ॥ २०-२१ ॥

है, वैसा स्वयं कुछ नहीं किया, क्योंकि पर युधिष्ठिरादि विमृश्यकारी होनेसे स्वयं कुशल—निपुण हैं। आपके पुत्रने अविमृश्यकारी होनेसे पाण्डवोंका राज्य ले लिया है। अतः उसमें नीति और धर्म दोनोंका अभाव होनेसे आपकी जय नहीं है, यह 'महीपते' इस सम्बोधनसे सूचित करते हैं। जो अर्जुनने भगवान्‌से कहा, उसी अर्जुनवाक्यको कहते हैं—स्वसैन्य और परसैन्य दोनों सन्निहित हैं। इनके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो, यह सर्वेश्वर भगवान्‌को अर्जुन आज्ञा दे रहे हैं। भक्तोंको क्या असम्भव है ? भगवान् भी जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं। इससे पाण्डवोंकी विजय निश्चित है, यह सूचित होता है। रथस्थापन-प्रवृत्त मुझको शत्रु कौरव रथसे गिरा देंगे, इस भगवान्‌की आशङ्काके निरासके लिये 'अच्युत' यह सम्बोधन किया। आप तो सदा अच्युत हैं; आपको कौन गिरा सकता है ? क्योंकि आप देश, काल, वस्तुमें व्यापकत्वेन सदा स्थित हैं, यह भाव है। इससे आप सदा निर्विकार हैं, अतः आज्ञानिमित्तक कोप भी आपमें नहीं हो सकता।

[वानर श्री हनुमान्‌ने श्रीरामको सीतालक्ष्मीकी यथा प्राप्ति करायी, वैसे ही शत्रुओंको पराजित कर पाण्डवोंको विजयलक्ष्मी देनेके लिये जिसकी ध्वजाके ऊपर बैठे हैं, इस अभिप्रायसे कपिध्वज यह विशेषण है। 'क्रीडया हृष्यति व्यक्तमीशः सन् सृष्टिरूपया। हृषीकेशत्वमीशस्य देवत्वं चास्य तत्स्फुटम् ॥ अविकारितया जुष्टो हृषीको वीर्यरूपया। ईशः स्वातन्त्र्ययोगेन नित्यं सृष्ट्यादिकर्मणि ॥ ऐश्वर्यं वीर्यरूपत्वं हृषीकेशत्वमुच्यते ।' यह अहिर्बुध्न्यसंहितामें स्पष्ट है। 'आश्रितान् न च्यावयति' इति अच्युतः। 'अच्युत' इस सम्बोधनका भाव यह है कि सेनामें स्थित बन्धुवर्गको देखकर मोहसे युद्धविरत होकर पूर्वप्रतिज्ञानुरूप कर्तव्यसे विरत 'च्युत' होनेसे निवारण करानेका—आश्रितोंको कर्त्तव्यसे च्युत न करानेका—आपका स्वभाव ही है, फिर मैं कैसे च्युत हो सकता हूँ। हृषीकेशका अभिप्राय यह है कि जो सब इन्द्रियोंका नियमन करता है, उसके लिये घोड़ोंका नियमन क्या है ?] ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

युद्ध करनेके लिए अवस्थित इन्हें कुछ देर देख तो लूँ कि इस युद्धोद्योगमें किनके साथ मुझे युद्ध करना है ॥ २२ ॥

मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमाह—'यावदेतान्' इति। योद्धुकामान्न त्वस्माभिः सह सन्धिकामानवस्थितान्न तु भयात्प्रचलितान्, एतान्भीष्मद्रोणादीन्यावद्गत्वाऽहं निरीक्षितुं क्षमः स्यां तावत्प्रदेशे रथं स्थापयेत्यर्थः। यावदिति कालपरं वा। ननु त्वं योद्धा न तु युद्धप्रेक्षकः, अतस्तव किमेषां दर्शनेनेत्यत्राऽऽह—'कैः' इति। अस्मिन् रणसमुद्यमे बन्धूनामेव परस्परं युद्धोद्योगे मया कैः सह योद्धव्यं मत्कर्तृकयुद्धप्रतियोगिनः कैर्मया सह योद्धव्यं किंकर्तृकयुद्धप्रतियोग्यहमिति च महदिदं कौतुकमेतज्ज्ञानमेव मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमित्यर्थः ॥ २२ ॥

मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन कहते हैं—'यावदेतान्' इत्यादिसे युद्धकामनासे ही, न कि हम लोगोंके साथ सन्धिकी कामनासे खड़े हुए, भयसे भागे नहीं। उन्हें यानी भीष्म, द्रोण आदिकोंको जाकर पूरा देख सकें, ऐसे स्थानपर रथ खड़ा कीजिये, यह अर्थ है। 'यावत्' शब्द यहाँ देशपरक है। अथवा कालपरक भी है। जितने समयमें पूरा देख सकें उतने समयतक खड़ा कीजिये।

तुम तो युद्ध करनेवाले योद्धा हो, दर्शक नहीं हो। तुमको देखनेसे क्या प्रयोजन ? इसपर कहते हैं—'कैर्मया' इत्यादिसे।

इस रणसमुद्यममें यानी अपने बन्धुओंके ही परस्पर युद्धोद्योगमें, किनके साथ मुझे युद्ध करना है और किनको मेरे साथ युद्ध करना है, मेरे युद्धमें प्रतिभट कौन हैं और किनके युद्धमें मैं प्रतिभट रहूँगा—यही देखना है, इसकी बड़ी उत्कण्ठा है, एतज्ज्ञान ही मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन है।

मेरे साथ होकर अर्थात् मेरे पक्षकी ओरसे युद्ध करनेके लिये सन्नद्ध योद्धाओंका एवं योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं इस २३ वें श्लोकके द्वारा कौरव पक्षकी ओरसे युद्धार्थ आये योद्धाओंका निरीक्षण करना अर्जुन चाहते हैं। गीताका ऐसा अभिप्राय विशद रूपसे उपपत्तिपूर्वक बताया गया है। इस अभिप्रायार्थमें किसीने शङ्का की है जो इस प्रकार है—

शङ्का—यदि दोनों पक्षीय योद्धाओंका निरीक्षण करना अर्जुनको अभीष्ट होता तो भगवान् 'पश्यैतान् समवेतान् कुरून्' के साथ-साथ पाण्डवपक्षीय योद्धाओंको भी दिखाते। ऐसा नहीं किया अतः उक्त अभिप्राय नहीं हो सकता।

समाधान—पूर्ववर्णित अभिप्राय गीताका नहीं होता तो पुनरुक्ति दोष हो जायेगा। 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं' इन दोनों वाक्योंके एकार्थक होनेसे वह दोष होगा। कुरून् यह पाण्डवान्का भी उपलक्षण है। अन्यथा तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः इससे उभयपक्षीय वीरोंको अर्जुनने देखा यह प्रतीति असङ्गत हो जायगी। सेनयोरुभयोरपि' से उभयपक्षीय सेनाका निर्देश स्पष्ट है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधनका हित करनेकी इच्छासे जो ये भीष्म आदि इस युद्धमें इकट्ठे हुए हैं इन्हें मैं युद्ध करनेके लिये तैयार देखता हूँ, सन्धि करनेके इच्छुक नहीं ॥ २३ ॥

ननु बन्धव एते परस्परं सन्धिं कारयिष्यन्तीति कुतो युद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—'**योत्स्यमानान्**' इति । य एते भीष्मद्रोणादयो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमजानतः प्रियचिकीर्षवो युद्धे, न तु दुर्बुद्ध्यपनयनादौ तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष उपलभे, न तु संधिकामान् । अतो युद्धाय तत्प्रतियोग्यवलोकनमुचितमेवेति भावः ॥ २३ ॥

श्रीमधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—'एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम्' अर्थात् अपनी सेनामें भी आचार्य-पितृ-पितामह आदिका उपलक्षण है। इससे स्पष्ट है कि दोनों ओरके वीरोंको देखा ।

शङ्का—यदि अर्जुनको अपने पक्षकी सेनाका निरीक्षण भी इष्ट होता तो 'हत्वा स्वजनमाहवे'के समान घातयित्वाका भी निर्देश होना चाहिये था । कारण अपने पक्षके वीरोंका अपनेसे वध उपपन्न नहीं हो सकता ।

समाधान—सभी विषयोंका वाच्यरूपसे ही निर्देश करना आवश्यक नहीं है । कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनका व्यङ्ग्यतया निर्देश इष्ट होता है । एक पक्षके दुष्परिणामका वाच्यतया निर्देश कर देनेपर अन्य पक्षके दुष्परिणामका विना कहे भी प्रतीति हो जानेसे पृथक् रूपसे नहीं लिखा गया। भूमि जनता आदिपर पड़ने वाले युद्धके प्रभावका भी वर्णन नहीं किया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि सभी विषयोंका वाच्यतया निर्देश नहीं किया जाता है । कुछ अर्थतः भी सिद्ध होते हैं । अथवा हत्वा पद अन्तर्भावित व्यर्थ होनेसे घातयित्वाका भी संग्राहक हो जायगा ।

"यदि मामप्रतीकारस्थम्" इत्यादि श्लोकसे भी प्रकृत अर्थमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है क्यों कि विरोधी पक्षकी सेनाको देखकर उससे होनेवाली भयावह कल्पनाका निर्देश है । सभी कल्पनाओंका निर्देश करना आवश्यक नहीं है । 'येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च' इससे होनेवाले युद्ध परिणामके निदेश प्रसङ्गमें अपनी ओरके लोगोंका निर्देश किया ही गया है । अतः पूर्वोक्तार्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

[शङ्का—प्रार्थनाके समय निरीक्षण भावी है, वर्तमान नहीं. फिर वर्तमानमें लट् लकार कैसे उत्पन्न हुआ ?

समाधान—'यावत् पुरा निपातयोः' [पा० ३।३।४] इस सूत्रसे 'पुरा' के योगमें वर्तमानमें लट्का विधान है। भाविनिरीक्षणका द्योतक यावन्निपात है] ॥ २२ ॥

ये सब बन्धुवर्ग ही हैं, अतः परस्पर सन्धि ही करायेंगे, युद्ध नहीं, यह आशङ्का कर कहते हैं—'**योत्स्य०**' इत्यादिसे ।

जो ये भीष्म, द्रोण आदि हैं वे स्वकीय रक्षाके उपायको न जाननेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय युद्धमें ही करनेके इच्छुक हैं, दुर्बुद्धि आदिके अपनयनमें नहीं। इन्हें मैं युद्ध करनेके लिए स्थित देखता हूँ—पाता हूँ न कि सन्धि करनेके इच्छुक। यदि सन्धि करनेके इच्छुक होते, तो शत्रुसेनामें उपस्थित न होकर निष्पक्षभावसे तटस्थ होकर उपस्थित होते। अतः युद्धके लिये प्रतिभटोंको देखना आवश्यक है।

[शङ्का—'निरीक्षेऽहम्' 'अवेक्षेऽहम्' यह दो बार आया है, अतः यहाँ पुनरुक्त दोष है, जो अप्रामाण्यका कारण है 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' यह गौतम महर्षिका न्यायसूत्र है। इसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्तको अप्रामाण्यका स्पष्ट कारण कहा है।

समाधान—एक 'निरीक्षे' शत्रुसेनास्थित प्रतिभटोंके दर्शनार्थ है और दूसरा 'अवेक्षे' दुर्योधनके दोषप्रकाशनार्थ है। अतिदुष्टाशय दुर्योधनके सहकारी भीष्म आदि युद्धेच्छुकोंको देखें। तात्पर्य भिन्न होनेसे पुनरुक्तदोष नहीं होता। अथवा स्वसेनास्थित प्रतिभटोंको देखनेके तात्पर्यसे प्रथम श्लोक है। शत्रुसेनाके प्रतिभटोंको देखनेके तात्पर्यसे द्वितीय श्लोक है। 'कैर्मया सह' इत्यादि प्रथम श्लोकमें मुझे किनके साथ लड़ना है और किनको मेरे साथ लड़ना है—यही अर्थ स्वामीजीने किया है। इससे पर-सैनिक योद्धाओंके दर्शनकी कामना ही अर्जुनकी प्रतीत होती है, वस्तुतः यदि ऐसी इच्छा होती, तो 'अन्तिके कुरुसेनायाः रथं स्थापय मेऽच्युत' ऐसा अर्जुन कहते। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' कहनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों सेनाओंके वीरोंको देखनेके तात्पर्यसे **'मध्ये'** कहा है। यद्यपि दोनों सेनाओंके वीरोंको पहलेसे ही जानते हैं, तथापि संग्रामौपयिक वेशभूषासाधनसमुत्साहादिके युद्धसौकर्यार्थं पूर्णरूपसे देखनेकी इच्छा अर्जुनको है, अतः 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' का अर्थ करना चाहिये कि 'कैर्मया सह स्थित्वा परैर्योद्धव्यम्' अर्थात् मेरे साथ खड़े होकर कौन-कौन शत्रुसेनाओंसे लड़ेंगे—इस तात्पर्यसे अपनी सेनाके वीरोंको प्रथम देखा। 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' इत्यादि द्वितीय श्लोकसे परसेनासमवेत वीरोंको देखनेकी इच्छा स्फुट की। इस प्रकार पुनरुक्तकी शंका ही नहीं होती। भिन्न भिन्न वाक्यार्थके तात्पर्यसे दो बार प्रयोग करना समुचित ही है। 'सेनयोरुभयोः' इत्यादि पदका स्वारस्य इसी अर्थमें है। 'तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः' इत्यादिसे 'सेनयोरुभयोरपि' एतदन्त डेढ़ श्लोकसे उपसंहारमें दोनों सेनाओंके वीरोंको अर्जुनने देखा, यह स्पष्ट ही है। उपक्रमोपसंहारादिसे ही वाक्यका वास्तविक तात्पर्य निर्णीत होता है और स्वामीजीका यह अर्थ मत्कर्तृक युद्धका प्रतियोगी कौन है और किंकर्तृक युद्धका प्रतियोगी मैं हूँ, इस तात्पर्यसे कौरव सेनाको देखनेको ही कहा, यह उपक्रमोपसंहारके अनुकूल नहीं है और बिना अपनी शक्ति समझे दूसरेकी शक्ति देखनेसे स्वोत्कर्षका निश्चय भी नहीं होता, जो युद्धारम्भमें आवश्यक है और स्वामीजीका मत्कर्तृक युद्धका प्रतियोगी प्रतिभट कौन है इत्यादि अर्थद्वय बतलाना अर्थतः सिद्ध होनेसे अनावश्यक है। जिससे अर्जुन युद्ध

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

सञ्जयने कहा—हे भारत, इस प्रकार अर्जुनसे कहे गये हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म, द्रोण एवं सभी राजाओंके सामने दिव्य रथ खड़ा करके कहा—हे पार्थ, युद्ध करनेके लिए इकट्ठे हुए इन सभी कुरुवंशमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको देख लो ॥ २४-२५ ॥

एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तं निराचिकीर्षुः सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः।

हे भारत—धृतराष्ट्र, भरतवंशमर्यादामनुसन्धायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति सम्बोधनाभिप्रायः। गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवा-

---

करेंगे, वह अर्जुनसे युद्ध करेगा ही, अतः प्रतियोगित्व परस्पर स्फुट ही है। प्रथम जो जिससे युद्ध करेगा उसीका प्रतियोगी दूसरा होगा, द्वितीयका प्रथम नहीं। इसमें कुछ विनिगमक नहीं है और युद्धमें कौन प्रथम प्रहार करेगा, इसका युद्धारम्भसे पूर्व सार्वत्रिक निर्णय नहीं हो सकता। जिनके साथ मुझे युद्ध करना है उनको और जो मेरे साथ रहकर शत्रुओंसे युद्ध करेंगे उनको, ऐसा यदि कहा गया होता, तो द्वितीय श्लोक का उच्चारण ही नहीं होता, किन्तु ऐसा कहा नहीं गया है। इसलिये मेरे साथ रहकर कौन-कौन शत्रुओंसे युद्ध करेंगे, इस तात्पर्यसे 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' यह प्रथम श्लोक है और कौन-कौन मेरे साथ युद्ध करेंगे, इस तात्पर्यसे 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक है। ऐसा अर्थ करनेमें पुनरुक्तिकी शङ्का ही नहीं होती। उपसंहार भी इसी अर्थमें हस्तावलम्ब देता है। 'तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः' से लेकर 'सेनयोरुभयोरपि' इस श्लोकके अन्तसे स्पष्ट है कि दोनों सेनाओंके वीरोंको अर्जुनने देखा, यही मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन है] ॥ २३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके कहनेपर भगवान् अहिंसारूप धर्मका आश्रय लेकर प्रायः अर्जुनको युद्धसे विरत करेंगे—इस धृतराष्ट्रके आशयको समझकर तन्निराकरणेच्छावान् सञ्जय धृतराष्ट्रके प्रति बोले, यह वैशम्पायनने जनमेजयसे कहा है।

नयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत्, न वा तं युद्धान्न्यवर्तयत्, किन्तु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वात्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतः शब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच—हे पार्थ, पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्सम्बन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन् हृषीकेशत्वमात्मनो दर्शयति । पृथा मम पितुः स्वसा, तस्याः पुत्रोऽसीति सम्बन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति । मम सारथ्ये निश्चितो

हे भारत, धृतराष्ट्र, भरतवंशकी मर्यादाका अनुसन्धानकर ज्ञातिके द्रोहका परित्याग करो, यह उक्त सम्बोधनका अभिप्राय है । गुडाकका अर्थ है निद्रा, तदीश अर्थात् जितनिद्र यानी निद्राके विजयी, अतएव सब कामोंमें सावधान अर्जुनने भगवान्‌से उक्त बातें कहीं । भगवान्‌ने यह मेरा दास होकर भी सारथीके काममें मुझे नियुक्त करता है. यह दोष लगाकर अर्जुनके ऊपर कोप नहीं किया और न अर्जुनको युद्धसे उपरत ही किया, किन्तु दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म-द्रोणप्रमुखतः—उन दोनोंके प्रमुख यानी आगे और सब राजाओंके सामने भी, रथोत्तम—अग्निदेवसे दिया गया दिव्य रथ खड़ाकर कहा—हे पार्थ ! युद्धेच्छुक कौरवोंको देखो । 'प्रमुखतः' यहाँ प्रमुख शब्दको आद्यादि मानकर सार्वविभक्तिक तसिल्—प्रत्यय हुआ है । चकारसे कहीं समस्तैकदेशका भी आकर्षण होता है, इसलिए 'भीष्मद्रोणप्रमुखतः' यहांपर 'प्रमुखतः' यह भीष्म एवं द्रोणके साथ समस्त है, फिर भी चकारसे 'प्रमुखतः' का आकर्षणकर 'सर्वेषां महीक्षिताम्' के साथ भी सम्बन्ध माना जाता है । 'सर्वेषाम्' से सबका बोध हो ही जाता, पुनः भीष्म और द्रोणका पृथक् निर्देश उनमें अतिप्राधान्य सूचनके लिए ही है । अग्निदेवप्रदत्त दिव्य रथको, सारथीरूपसे स्वयं भगवान्‌के स्थित रहनेके कारण जो सर्वोत्तम है, खड़ाकर हृषीकेशने अर्थात् सबके हृदयके निगूढ आशयके ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्णने 'अर्जुनको शोक-मोह उपस्थित है' यह जानकर भी सोपहास अर्जुनसे कहा—हे पार्थ, पृथा अर्जुनकी माता और श्रीकृष्णकी भगिनी थी, उसका स्वभाव तुममें आ गया, इसको सूचित करते हुए भगवान् अपनेमें हृषीकेशत्व सूचन करते हैं । पृथा मेरे पिताकी बहन है, तुम उसके पुत्र हो, इस सम्बन्धको सूचित करनेसे भगवान् अर्जुनको ढाढ़स दिलाते हैं । सारथीके कार्यमें मेरे नियुक्त रहते निश्चित होकर तुम इकट्ठे हुए युद्धेच्छुक इन सब कौरवोंको 'देखो', यह निःशंकरूपसे दर्शनके लिए आज्ञा देनेमें ही भगवान्‌का अभिप्राय है । मैं सारथी होकर खूब सावधान हूँ, तुम अभी रथित्वको छोड़ दोगे, तो फिर शत्रुसेना देखनेसे लाभ ही क्या ? इस प्रकार अर्जुनको दृढसंकल्प बनानेके लिये 'पश्य' यहांतक भगवद्वाक्य है, अन्यथा दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ खड़ा कर दिया, इतना ही कहते ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

युद्धारम्भके पहले सैनिकोंके निरीक्षणके लिये भगवान्की आज्ञा होनेपर अर्जुनने उन दोनों सेनाओंमें स्थित अपने पितृव्य (चाचा), पितामह (दादा), आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, सखा, ससुर तथा मित्र आदि सभीको देखा ॥ २६ ॥

भूत्वा सर्वानपि समवेतान् कुरून् युयुत्सून् पश्य निःशङ्कतयेति दर्शनविध्यभिप्रायः। अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु साम्प्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं भगवतो वाक्यम्। अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥ २४, २५ ॥

तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः। अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः। परसेनायां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवःप्रभृतीन्,

---

['भीष्मद्रोणप्रमुखतः' यहाँपर 'प्रमुख' शब्द आदि शब्दका समानार्थक है और षष्ठीके अर्थमें सार्वविभक्तिक तसिल् प्रत्यय हुआ है। 'षष्ठी चानादरे' [पा० २-३-२८] से अनादरमें षष्ठी है, इसलिये 'पश्य' का आक्षेप करना आवश्यक है। अतः यह अर्थ हुआ कि भीष्म, द्रोण आदिके सम्मुख, उनका यानी भीष्म, द्रोण आदिका तथा सब देखनेवाले राजाओंका अनादरकर बीचमें रथ खड़ा कर दिया। अथवा 'प्रमुखतः'का 'अग्रतः' अर्थ है। समस्तैकदेश 'प्रमुखतः' को पृथक्कर 'महीक्षिताम्' के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। ऐसी स्थितिमें चकार समुच्चयार्थक है। गूढाभिप्राय यानी धृतराष्ट्रके प्रश्नका गूढाभिप्राय—दुर्योधनादिहृदयविदारणादिक—सञ्जयने कहा।

प्रश्न—धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयने गीताके सब वाक्य कहे हैं, फिर पुनः 'संजय उवाच' यह विशेष वचन क्यों कहा ?

उत्तर—सेनाद्वयके मध्यमें रथ खड़ा करनेसे अर्जुन स्वजनोंको देखेंगे। तदनन्तर उन्हें शोक और मोह अवश्य होगा—यह जानकर भी सर्वज्ञ भगवान्ने निषेध न कर दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ खड़ा कर दिया और इसी प्रसङ्गमें निखिलशोकमोहनिवर्तक ब्रह्मात्मतत्त्वके उपदेशसे अर्जुनपर अनुग्रह करूँगा, यहाँतक निश्चय किया। अतः अर्जुन धन्य है, भगवान्का भक्तवात्सल्य अपूर्व है इस अर्थविशेषको अभिव्यक्त करनेके लिये ही 'संजय उवाच' यह विशेष वचन कहा है] ॥ २४, २५ ॥

संग्राम आरम्भ करनेके लिये भगवान्ने अर्जुनको सैन्य देखनेकी सम्मति दी और दोनों सेनाओंके बीच प्रस्तुत वीरोंको उसने देखा भी। यहाँपर 'अथ' शब्द 'तथा' शब्दका पर्याय है, अर्थात्

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टो[1] विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

युद्धके लिये अवस्थित उन सब बन्धु-बान्धवोंको देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने परम दयासे आक्रान्त तथा विषादको प्राप्त कर भगवान् श्रीकृष्णसे यह कहा ॥ २७ ॥

पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीन्, आचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्, मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्, भ्रातॄन् दुर्योधनप्रभृतीन्, पुत्राँल्लक्ष्मणप्रभृतीन्, पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान्, सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन् वयस्यान्, श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन्, सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ॥ २६ ॥

एवं स्थिते महानधर्मो हिंसेति विपरीतबुद्ध्या मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमिति ज्ञानप्रतिबन्धकेन च ममकारनिबन्धनेन चित्तवैक्लव्येन शोकाख्येनाभिभूतविवेकस्यार्जुनस्य पूर्वमारब्धाद्युद्धाख्यात्स्वधर्मादुपरिरंसा महानर्थपर्यवसायिनी वृत्तेति दर्शयति—'कौन्तेय'

'तथा' शब्दका अर्थ ही यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ है। शत्रुसेनामें पितॄन्, यानी पितृव्य (चाचा) भूरिश्रवा प्रभृति; पितामह यानी भीष्म, सोमदत्त प्रभृति; आचार्य यानी द्रोण, कृप प्रभृति; मातुल यानी शल्य, शकुनि आदि; भ्राता यानी दुर्योधन आदि; पुत्र यानी लक्ष्मण प्रभृति; पौत्र यानी लक्ष्मण आदिके पुत्र; सखा यानी अश्वत्थामा, जयद्रथ प्रभृति; श्वशुर यानी भार्याके पिता और सुहृद् यानी कृतवर्म, भगदत्त प्रभृति; 'सुहृद्' शब्दसे जिन लोगोंने उपकार किया है—मातामहादि, उन सभीका ग्रहण इष्ट है। इसी प्रकार स्वपक्षमें भी समझना चाहिये ॥ २६ ॥

१. [कृपया "परया विष्टः" इससे अर्जुनमें स्वाभाविक कृपाकी प्रतीति होती है या आगन्तुक कृपाकी । विचार करनेपर आगन्तुक ही कृपा प्रतीत होती है । ये उपस्थित सभी युद्धमें मारे जायँगे, इस प्रकारके व्यामोहसे युद्धार्थियोंके प्रति कृपा उत्पन्न हुई । कृपाका कारण मोह आगन्तुक है । अतः तदुत्पन्न कृपा भी आगन्तुक ही है ।

किसीने ममताको अनादि बताकर उसके द्वारा आई कृपा स्वाभाविक है, ऐसा लिखा है । पर ममताको चित्त-वैक्लव्यरूपी शोकका कारण मधुसूदनीमें बताया है । तदनुसार ममताको शोकका कारण मानना उचित है । कृपाका अन्य ही कोई कारण है । वह कारण है व्यामोह ।

"नासतो विद्यते भावः" के अनुसार ममता और कृपा दोनों ही सूक्ष्मरूपसे अर्जुनमें हैं । अभिव्यक्तिके कारण उत्पत्ति विनाशका व्यवहार माना जाता है । अतः दुखियोंके दुःख दूर करनेकी इच्छासे अथवा ममतासे उत्पन्न स्नेहसे अभिव्यक्त कृपा समान ही है । कारण इच्छा और ममत्व सूक्ष्मरूपेण सदा हैं । तद् विषयकी इच्छा यदि कहा जाय कि पहले नहीं थी तब तद्विषयकी ममता भी पूर्वमें नहीं थी । इच्छा और ममताके द्वारा कृपाका स्वाभाविकत्व तथा आगन्तुकत्व रूपसे द्वैविध्य प्रदर्शन नहीं किया जा सकता ।]

इति । स्त्रीप्रभवत्वकीर्तनं पार्थवत्तात्त्विकमूढतामपेक्ष्य कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाऽऽविष्टो व्याप्तो न तु कृपां केनचिद्व्यापारेणाऽऽविष्ट इति स्वतःसिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते । एतत्प्रकटीकरणाय परयेति विशेषणम् । अपरयेति वा छेदः । स्वसैन्ये पुराऽपि कृपाऽभूदेव, तस्मिन्समये तु कौरवसैन्येऽप्यपरा कृपाऽभूदित्यर्थः । विषीदन्विषादमुपतापं प्राप्नुवन्नब्रवीदित्युक्तिविषादयोः समकालतां वदन् सगद्गदकण्ठताश्रुपातादि विषादकार्यमुक्तिकाले द्योतयति ॥ २७ ॥

ऐसी स्थितिमें 'युद्धमें हिंसा महान् अधर्म है' इस मोह नामक विपरीत बुद्धिसे तथा 'शास्त्रविहित युद्धहिंसा धर्म है' इस तत्त्वबुद्धिके प्रतिबन्धक 'ये मेरे हैं' इस ममकारप्रयुक्त चित्तवैकल्यरूप शोकसे आवृत विवेक ज्ञानवाले अर्जुनको पूर्वसंकल्पित युद्धाख्य स्वधर्मसे विमुख होनेकी जो इच्छा हुई, वह महा अनर्थप्रद हुई, यह दिखलाते हैं—**'कौन्तेय'** इससे । स्त्रीसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई, अतः स्त्रीधर्म आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि कारणगत धर्म कार्यमें आते ही हैं । 'कौन्तेय' शब्दसे यह सूचित किया गया है । जैसे पहले 'पार्थ' विशेषणसे तात्कालिक मूढ़ता सूचित की गयी है, वैसे ही यहाँ भी 'कौन्तेय' से मूढ़ता व्यक्त की गयी है । तात्कालिक प्राप्त मूढ़ताकी अपेक्षा करके—कृपया विष्टः न तु तत्कृपामाविष्टः—अर्जुनको अपने व्यापारसे कृपा प्राप्त हुई, अर्जुन किसी व्यापारसे कृपाविष्ट नहीं हुए । कर्ता कारकसमुदायका प्रवर्तक होता है; प्रवर्त्य नहीं, अतएव वह स्वाभाविक होता है । क्रियाजन्यकृपाश्रय होनेसे आगन्तुकव्यापारविशिष्टका कर्म आगन्तुक ही होता है, प्रकृतमें कर्तृत्वरूपसे कृपा विवक्षित है, इसलिये स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं, यह सूचित होता है—इसीको प्रकट करनेके लिए 'परया' यह विशेषण दिया गया है ।

अथवा 'कृपया परया' यहाँपर 'अपरया' यह पदच्छेद भी हो सकता है । [वस्तुतः प्रकृतमें युयुत्सुविषयक कृपा ही विवक्षित है, स्वाभाविक दीन, अनाथ आदिकी शरणागति कृपा नहीं । अर्जुनमें यदि यह दूसरी कृपा हो गयी होती, तो उसकी युद्धमें प्रवृत्ति ही नहीं होती । चूँकि युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनको यह वृत्तान्त कहा गया है; इसलिये यह कृपा युयुत्सुविषयक ही है । 'मेरे द्वारा ये मारे जायँगे' इस मोहसे ही यह आयी है, अतः स्वाभाविक नहीं है । 'कृपाविष्ट' यहाँपर कर्तृत्वनिर्देश पिशाचाविष्टवत् ही है । पिशाचकर्तृक आवेश आगन्तुक ही होता है, स्वाभाविक नहीं । अतः आगन्तुक मोहविकार ही कृपा है, यही अर्थ समुचित है ।] अपने सैन्यमें पहले भी कृपा थी ही, उस समय कौरवसैन्यमें भी दूसरी नयी कृपा हुई, यह अपरयाका भाव है । विषीदन्‘अब्रवीत्’ यानी विषादग्रस्त होते हुए बोले, इस कथनसे विषाद और उक्तिमें समकालता बतलाते हुए द्योतित करते हैं कि बोलनेके समय गला भर आना, अश्रुपात आदि विषादकार्य हुए ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्[1] ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण, समराङ्गणमें उपस्थित युद्धकी इच्छवाले इन आत्मीयोंको देखकर मेरे सभी अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, और मुँह भी सूख रहा है ॥ २८ ॥

मेरे शरीरमें कम्पन हो रहा है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे गाण्डीव धनुष गिरा जा रहा है और शरीरकी त्वचा भी जल रही है ॥ २९ ॥

तदेव भगवन्तं प्रत्यर्जुनवाक्यमवतारयति सञ्जयः—'अर्जुन उवाच' इत्यादिना 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र स्वधर्मप्रवृत्तिकारणीभूततत्त्वज्ञान-प्रतिबन्धकः स्वपरदेह आत्मात्मीयाभिमानवतोऽनात्मविदोऽर्जुनस्य युद्धेन स्वपरदेहविनाश-प्रसङ्गदर्शिनः शोको[2] महानासीदिति तल्लिङ्गकथनेन दर्शयति—त्रिभिः श्लोकैः । इमं स्वजन-मात्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छुं युद्धभूमौ चोपस्थितं दृष्ट्वा स्थितस्य मम—पश्यतो ममेत्यर्थः । अङ्गानि व्यथन्ते, मुखं च परिशुष्यतीति श्रमादिनिमित्तशोकापेक्षयाऽतिशयकथनाय सर्वतोभाव-वाचिपरिशब्दप्रयोगः ।

वेपथुः कम्पः । रोमहर्षः पुलकितत्वम् । गाण्डीवभ्रंशेनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परिदाहेन चान्तःसन्तापो दर्शितः ॥ २९ ॥

सञ्जय भगवान्के प्रति उस अर्जुन-वाक्यका अवतरण करते हैं—**'अर्जुन उवाच'** इत्यादि वाक्यसे लेकर **'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये'** इसके पूर्वतकके ग्रन्थसे ।

स्वधर्म युद्धमें प्रवृत्तिका कारण जो तत्त्वज्ञान है यानी 'युद्धमें हिंसा धर्म है' उसका प्रतिबन्धक जो स्वपरदेहमें आत्मा और आत्मीयका अभिमान है तद्वान्, अतएव अनात्मज्ञ तथा युद्धमें स्वपरदेहविनाश-प्रसङ्गदर्शी अर्जुनको बड़ा शोक हुआ, इसे कार्यज्ञापनपुरःसर तीन श्लोकोंसे स्फुट करते हैं। इन अपने उपस्थित युद्धेच्छु बन्धुवर्गोंको युद्धभूमिमें उपस्थित देखकर यहाँ अवस्थित हुए मेरे अवयव व्यथित होते हैं और मुख सूखता है, श्रम, थकावट आदि निमित्तजात शोककी अपेक्षा विशेष सूचन करनेके लिये 'परि' शब्दका प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ सर्वतोभाव है ।

वेपथु—कम्प। रोमहर्ष—रोमाञ्च होना। गाण्डीव खिसकनेसे अधैर्यलक्षण दुर्बलता तथा त्वक्परिदाहसे अन्तर्गत सन्ताप सूचित किया गया है ॥ २९ ॥

---

१. 'समवस्थितम्' पाठ भी मिलता है। २. 'शोषो' पाठ भी है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥ ३० ॥

चूँकि मेरा मन चक्कर काट रहा है, इसलिए मैं खड़ा नहीं रह सकता तथा हे केशव । मैं निमित्त भी विपरीत (वामनेत्रस्फुरण आदि अनर्थसूचक) ही देख रहा हूँ ॥ ३० ॥

अवस्थातुं शरीरं धारयितुं च न शक्नोमीत्यनेन मूर्च्छा सूच्यते । तत्र हेतुः—मम मनो भ्रमतीवेति । भ्रमणकर्तृसादृश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकारविशेषोमूर्च्छायाः पूर्वावस्था । चो हेतौ । यत एवमतो नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः । पुनरप्यवस्थानासामर्थ्ये कारणमाह—निमित्तानि च । सूचकतयाऽऽसन्नदुःखस्य विपरीतानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि अनुभवामि । अतोऽपि नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः । अहमनात्मवित्त्वेन दुःखित्वाच्छोकनिबन्धनं क्लेशमनुभवामि त्वं तु सदानन्दरूपत्वाच्छोकासंसर्गीति कृष्णपदेन सूचितम् । अतः स्वजनदर्शने तुल्येऽपि शोकासंसर्गित्वलक्षणाद्विशेषात्त्वं मामशोकं कुर्विति भावः । केशवपदेन च तत्करणसामर्थ्यम्; को ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, ईशो रुद्रः संहर्ता, तौ वात्यनुकम्प्यतया गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः । भक्तदुःखकर्षित्वं वा कृष्णपदेनोक्तम्, केशवपदेन च केश्यादिदुष्टदैत्यनिवर्हणेन सर्वदा भक्तान् पालयसीत्यतो मामपि शोकनिवारणेन पालयिष्यसीति सूचितम् ॥३०॥

खड़े रहने और शरीर धारणमें असमर्थ हूँ, इससे मूर्च्छा सूचित होती है । इसमें यह कारण है—मेरा मन घूम-सा रहा है । मन घूमनेका साम्य मनका कोई विकारविशेष यानी मूर्च्छाकी पूर्वावस्थारूपमें है । यहाँ 'च' हेतुमें है । 'यतः एवम्, अतो नावस्थातुं समर्थः' अर्थात् चूँकि ऐसा हो रहा है, अतः मैं खड़ा नहीं रह सकता, यह अर्थ है । खड़ा न रहनेमें और भी कारण कहते हैं—विपरीत यानी अचिरभाविअनिष्टफलसूचक निमित्त वामनेत्रस्फुरण आदिका अनुभव कर रहा हूँ, इससे भी खड़ा नहीं रह सकता । मैं आत्मज्ञ नहीं हूँ, अतएव दुखी होकर शोकका अनुभव करता हूँ । आप तो सदानन्दस्वरूप हैं, अतएव शोकसम्बन्धरहित—दुःखरहित—हैं, यह कृष्णपदसे सूचित किया है । आप और हम स्वजनोंको समान देख रहे हैं, पर आपमें शोकसम्बन्धाभाव विशेष होनेसे आप मुझे भी अशोक बनाइये, यह अर्जुनका अभिप्राय है । केशवपदसे शोकाकरणसामर्थ्यका प्रदर्शन किया गया है । क–ब्रह्मा–सृष्टिकर्ता, ईश–रुद्र–संहारकर्त्ता, ये दोनों आपके दयनीय हैं, इसलिये दयार्थ जिनके पास जायँ, वह केशव है । 'केशौ वाति' इति केशवः । 'वा गतिगन्धनयोः' इस व्युत्पत्तिसे केशव संबोधन दिया । अथवा भक्तदुःखाकर्षक कृष्णपदसे सूचित किया है तथा केशवपदसे केशिनामक दुष्टदानवदलनसे सदा भक्तोंका पालन करते हैं, अतः मेरा भी शोक निवारणकर पालन करेंगे, यह सूचित किया है ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

युद्धमें आत्मीयोंको मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता ॥ ३१ ॥

एवं लिङ्गद्वारेण समीचीनप्रवृत्तिहेतुभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं शोकमुक्त्वा संप्रति तत्कारितां विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतां विपरीतबुद्धिं दर्शयति—'न चेति'। श्रेयः पुरुषार्थं दृष्टमदृष्टं वा। बहुविचारणादनु पश्चादपि न पश्यामि, अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥"

इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविशेषाभिधानात्। हन्तुस्तु न किंचित्सुकृतम्। एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम्। एवमनाहववधे श्रेयो नास्तीति सिद्धसाधनवारणायाऽऽहव इत्युक्तम् ॥ ३१ ॥

[प्रश्न—मेरे कर, चरण आदि शिथिल हो रहे हैं, इस कारण मैं युद्ध नहीं करना चाहता। शारीर कर्म नहीं कर सकते हो, तो वाचिक ही युद्धकर्म करो।

उत्तर—मेरा मुख सूखता है, अतः वाचिक कर्म भी नहीं कर सकता। इस समय ऐसा मत कहिये कि धैर्यसे खड़े ही रहो, क्योंकि मेरा शरीर काँप रहा है, अतः खड़ा भी नहीं रह सकता। मैं अन्तर्बलशून्य हूँ, इसे परिस्फुट करनेके लिये 'गाण्डीवं स्रंसते' यह कहा है। गाण्डीव धनुष हाथसे खिसक रहा है। अच्छा तो गाण्डीव रख चुपचाप खड़े रहो—यदि यह कहिये, तो यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि मेरा मन चक्रके समान घूम रहा है। मूर्च्छाका पूर्वावस्थारूप विकार भ्रमण है। लोकोपकारार्थ जो मेरे ज्ञानका हरण आपने किया, वह मैं समझ गया, यह कृष्ण सम्बोधनसे सूचित किया है] ॥ ३० ॥

इस तरह कार्य-द्वारा समीचीनप्रवृत्तिकारण जो तत्त्वज्ञान है, तत्प्रतिबन्धक शोक कहकर, इस समय तत्प्रयुक्त विपरीत—असमीचीनप्रवृत्तिकारण विपरीत—अतात्त्विक बुद्धि दिखलाते हैं—'न च' इत्यादिसे। श्रेयः पुरुषार्थं यानी कल्याण। दृष्ट और अदृष्ट यानी ऐहिक और पारलौकिक भेदसे पुरुषार्थ दो प्रकारका है। बहुत विचारके बाद भी यह निश्चय नहीं कर पाता कि युद्धकी हिंसा धर्म है, क्योंकि अस्वजनोंको [जो अपने बन्धुवर्ग नहीं हैं, उनको] भी मारनेसे पुरुषार्थ नहीं होता, फिर स्वजनोंको मारनेसे पुरुषार्थ होगा यह आशा ही नहीं। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः।" इस श्लोकसे युद्धमें अभिमुख मरनेवालेको ही स्वर्ग होता है, मारनेवालेको कुछ

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता। राज्य तथा विषयसुख आदि भी कुछ नहीं चाहता। हे गोविन्द, राज्यसे हमें क्या प्रयोजन ? या राज्यप्राप्तिजन्य भोगों तथा जीवनके साधनभूत विजयसे ही क्या मतलब है ? जिनके लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही ये सब अपने प्राण और धनको त्यागकर युद्धमें लड़नेके लिए डटे हैं।

ननु मा भूददृष्टं प्रयोजनं दृष्टप्रयोजनानि तु विजयो राज्यं सुखानि च निर्विवादानीत्यत आह—'न काङ्क्षे' इति। फलाकाङ्क्षा ह्युपायप्रवृत्तौ कारणम्, अतस्तदाकाङ्क्षाया अभावात्तदुपाये युद्धे भोजनेच्छाविरहिण इव पाकादौ मम प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यर्थः॥

कुतः पुनरितरपुरुषैरिष्यमाणेषु तेषु तवानिच्छेत्यत आह—'किं नो' इति। भोगैः सुखैर्जीवितेन जीवितसाधनेन विजयेनेत्यर्थः। विना राज्यं भोगान्कौरवविजयं च वने निवसतामस्माकं तेनैव जगति श्लाघनीयजीवितानां किमेभिराकाङ्क्षितैरिति भावः।

भी पुण्य नहीं होता, यह कहा गया है। इस तरह पराये लोगोंको मारनेसे यदि श्रेय नहीं होगा, तो स्वकीय जनोंको मारनेसे सुतराम् सुकृत आदि नहीं हो सकता, इसके ज्ञापनार्थ 'स्वजनम्' कहा है। इस प्रकार युद्धसे अन्य हिंसामें श्रेय नहीं है, इस सिद्ध-साधनके परिहारके लिए 'आहवे' कहा है॥ ३१॥

अच्छा, तो अदृष्ट कोई प्रयोजन नहीं है, ठीक है, परन्तु दृष्टप्रयोजन तो स्पष्ट ही है—विजय, राज्य, सुखभोग आदि। इसमें तो विवाद ही नहीं है, इसपर कहते हैं—'न कांक्षे' यह फलेच्छा, साधनप्रवृत्तिमें कारण है। इसलिए सुखकी आकांक्षा न होनेपर सुखसाधन युद्धोपायमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे भोजनेच्छारहितकी भोजनसाधन पाकमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही मेरी प्रवृत्ति भी उत्पन्न नहीं है, यह अर्थ है॥

: क्यों और पुरुषोंको ईप्सित है और आपको उसमें इच्छा नहीं है, इसपर कहते हैं—'किं नो' इत्यादिसे। भोगों यानी सुखोंसे अथवा जीवनके साधन विजयसे क्या लाभ ? राज्यभोग और कौरवके

गोशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यधिष्ठानतया नित्यं प्राप्तस्त्वमेव ममैहिकफलविरागं जानासीति सूचयन् संबोधयति—'गोविन्द' इति ॥ ३२ ॥

राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—'येषामर्थे' इति। एतेन स्वस्य वैराग्येऽपि स्वीयानामर्थे यतनीयमित्यपास्तम्। एकाकिनो हि राज्याद्यनपेक्षितमेव। येषां तु बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एते प्राणान् प्राणाशां धनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थिता इति न स्वार्थः स्वीयार्थो वाऽयं प्रयत्न इति भावः। भोगशब्दः पूर्वत्र सुखपरतया निर्दिष्टोऽप्यत्र पृथक्सुखग्रहणात्सुख-साधनविषयपरः। प्राणधनशब्दौ तु तदाशालक्षकौ। स्वप्राणत्यागेऽपि स्वबन्धूनामुपभोगाय धनाशा संभवेदिति तद्वारणाय पृथग्धनग्रहणम् ॥ ३३ ॥

ऊपर विजय प्राप्त किये बिना ही वनमें निवास करनेवाले हम लोगोंका जीवन वननिवासमें ही स्पृहणीय था, इसलिये इनकी आकांक्षा व्यर्थ है, यह भाव है। गोशब्दार्थ इन्द्रियोंका सदा अधिष्ठाता होनेसे सांसारिक फलभोगसे वैराग्य जो मेरे मनमें है उसको आप स्वयं जानते हैं, यह सूचनार्थ 'गोविन्द' यह मित्रसम्बोधन है ॥ ३२ ॥

राज्य आदिके आक्षेपमें हेतु कहते हैं—'येषामर्थे' इत्यादि।

इससे यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि आपको राज्य आदि ईप्सित नहीं है, तो भी आत्मीयोंके प्रयोजनार्थ यत्न करना चाहिये। अकेलेके लिये राज्य आदि अनपेक्षित ही हैं। जिन बन्धुवर्गोंके लिये अपेक्षित है, वे सब प्राणाशा और धनाशाका त्यागकर युद्धमें डटे हैं, इस प्रकार न स्वार्थ न स्वीयार्थ ही यह प्रयत्न हो सकता है, यह भाव है। पूर्वश्लोकमें 'भोग' शब्द सुखभोगपरक कहा गया है, यहाँ पृथक् सुखग्रहण है, अतः उक्त शब्द सुखसाधन विषयशब्दादिपरक है। प्राण और धन शब्द तो प्राणाशा और धनाशाके लक्षक हैं। यदि कहिये लक्षणा क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि वे प्राणका त्यागकर युद्धमें कैसे आ सकते हैं ? युद्धि-भूमिमें स्थित निष्प्राण नहीं थे; हाँ, प्राणाशाका त्याग अवश्य कर चुके थे, इसलिये लक्षणा है।

प्रश्न—प्राणका त्याग कहनेसे धनत्याग भी अर्थतः प्राप्त ही है, पुनः पृथक् निर्देश क्यों किया ?

उत्तर—स्वप्राणके त्यागनेपर भी स्वजनोंके उपकारार्थ धनाशा हो सकती है, अतः पृथक् तदुपादान है ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

इनमें कोई हमारे आचार्य, कोई पिता, कोई पितामह, कोई मामा, कोई ससुर, कोई पोते, कोई साले और कोई सम्बन्धी हैं। हे मधुसूदन, ये भले ही मुझे मार डालें, लेकिन मैं इन्हें स्वर्गके राज्यके लिए भी नहीं मारना चाहता, फिर पृथिवीके राज्यके लिए तो कहना ही व्यर्थ है ? ॥ ३४-३५ ॥

हे जनार्दन, दुर्योधन आदि अपने बन्धु-बान्धवोंको मारनेसे हमें कौन-सी प्रसन्नता मिल सकती है ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

येषामर्थे राज्याद्यपेक्षितं तेऽत्र नाऽऽगता इत्याशङ्क्य तान्विशिनष्टि—'आचार्याः' इत्यादि । स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येव, अतस्त्वमेवैतान्हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्वेत्यत आह—'एतान्न' इति । त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि अस्मान्घ्नतोऽप्येतान्न हन्तुमिच्छामीच्छामपि न कुर्यामहं किं पुनर्हन्याम्, महीमात्रप्राप्तये तु न हन्यामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । मधुसूदनेति संबोधयन्वैदिकमार्गप्रवर्तकत्वं भगवतः सूचयति ॥३५॥

नन्वन्यान्विहाय धार्तराष्ट्रा एव हन्तव्यास्तेषामत्यन्तक्रूरतरतत्तद्दुःखदातॄणां वधे प्रीतिसंभवादित्यत आह—'निहत्य' इति । धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादीन्भ्रातॄन्निहत्य स्थिता-

---

जिनके लिये राज्य आदि अपेक्षित हैं, वे तो यहाँ नहीं आये हैं, इस आशङ्कासे उनमें विशेषण देते हैं—'आचार्याः' इत्यादि । अर्थ स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

यदि दयासे तुम इन्हें न मारोगे, तो राज्यसुखलोभसे वे तो तुम्हें अवश्य मारेंगे ही, अतः तुम्हीं इनको मारकर राज्यसुखका भोग करो, इसपर कहते हैं—'एतान्' इत्यादिसे । त्रैलोक्य-राज्यप्राप्तिहेतुसे यानी त्रैलोक्यराज्यप्राप्त्यर्थ भी मुझको मारनेवाले भी इन्हें मारनेकी मैं इच्छा तक नहीं करता, मारना तो दूर रहा । फिर केवल पृथिवीके लिये मार ही नहीं सकता, इसमें कहना ही क्या ? यह अर्थ है । भगवान् वैदिक-मार्गके प्रवर्तक हैं, यह अर्थविशेष 'मधुसूदन' सम्बोधनसे स्फुट सूचित करते हैं । [अथवा आपने भी मधुको मारकर अपने पुत्रकी रक्षा की, फिर हम अपने सम्बन्धियोंका नाश क्यों करें, यह उक्त सम्बोधनसे सूचित होता है] ॥ ३५ ॥

अच्छा, तो औरोंको छोड़कर धृतराष्ट्रके पुत्रोंको ही मारो, क्योंकि वे तुम्हें अत्यन्त भयङ्कर दुःख देनेवाले हैं । इन्हें मारनेसे प्रीति होनेका संभव है, इस शङ्कासे कहते हैं—'निहत्य' इत्यादि ।

नामस्माकं का प्रीतिः स्यात्, न काऽपीत्यर्थः न हि मूढजनोचितक्षणमात्रवर्तिसुखाभासलोभेन चिरतरनरकयातनाहेतुबन्धुवधोऽस्माकं युक्त इति भावः। जनार्दनेति संबोधनेन यदि वध्या एते तर्हि त्वमेवैतान्जहि प्रलये सर्वपापासंसर्गित्वादिति सूचयति ॥

ननु "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥" इति स्मृतेरेतेषां च सर्वप्रकारैराततायित्वात्।

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥"

इति वचनेन दोषाभावप्रतीतेर्हन्तव्या एव दुर्योधनादय आततायिन इत्याशङ्क्याऽऽह—'पापमेव' इति। एतानाततायिनोऽपि हत्वा स्थितानस्मान्पापमाश्रयेदेवेति सम्बन्धः। अथवा पापमेवाऽऽश्रयेन्न किंचिदन्यद्दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमित्यर्थः। "न हिंस्यात्" इति धर्मशास्त्रात् 'आततायिनं हन्यात्' इत्यर्थशास्त्रस्य दुर्बलत्वात्। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

"स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥ इति।

दुर्योधनादि भाइयोंके मारनेसे भी क्या प्रीति होगी। कुछ भी नहीं। मूर्खजनोचित क्षणमात्रवर्ति क्षणिक सुखके लोभसे अधिक कालतक नरक, कष्ट आदिका साधन बन्धुबान्धवादिवध हम लोगोंके लिये उचित नहीं है। मूर्ख क्षणिक सुखके लिये गुरुतर पाप करते हैं, परन्तु समझदार ऐसा नहीं कर सकता। यदि ये वध्य हैं, तो आप ही इनका वध कीजिये। प्रलयमें सब प्राणियोंका संहार करनेपर भी सब पापोंसे आप सदा मुक्त ही रहते हैं, यह अर्थ 'जनार्दन' विशेषणसे सूचित करते हैं ॥

'अग्निदो गरदश्चैव' इत्यादि वचनोंसे वे दुर्योधन आदि सब प्रकारके आततायी हैं। 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' [1] 'नाततायिवधे' इत्यादि वचनोंसे दोषाभाव स्फुट है, अतः दुर्योधन आदि हन्तव्य ही हैं। इनके हननमें दोष नहीं, इस आशंकासे कहते हैं—**'पापमेव'** इत्यादि।

१. धर्मशास्त्रसे औशनसाद्यर्थशास्त्रका निराकरण सिद्धप्राय है, अतः धर्मशास्त्रान्तर्गत ही राजनीतिलक्षण धर्मशास्त्र यहाँ विवक्षित है। अर्थशास्त्रका धर्मशास्त्र-स्मृतियोंसे विरोध होनेपर अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् होता है, यह मर्यादा है। यद्यपि दोनों वचनोंका कर्ता एक ही पुरुष है, अतः दोनोंमें विशेष नहीं है, प्रत्युत आप्तोक्तत्व समान ही है, तथापि आश्रयगत विशेष है। एकका विषय धर्म है और दूसरेका विषय अर्थ है। अर्थकी अपेक्षा धर्म प्रधान है। तदपेक्षासे अर्थ अप्रधान है। अतः धर्मशास्त्र बलवान् है। आश्रयगत बलाबल स्वरूपगत बलाबलसे अधिक माना जाता

अपरा व्याख्या—ननु धार्तराष्ट्रान्घ्नतां भवतां प्रीत्यभावेऽपि युष्मान्घ्नतां धार्तराष्ट्राणां प्रीतिरस्त्येव, अतस्ते युष्मान्हन्युरित्यत आह—'**पापमेव**' इति। अस्मान्हत्वा स्थितानेतानाततायिनो धार्तराष्ट्रान्पूर्वमपि पापिनः सांप्रतमपि पापमेवाऽऽश्रयेन्नान्यत्किंचित्सुखमित्यर्थः। तथा चायुध्यतोऽस्मान्हत्वैत एव पापिनो भविष्यन्ति नास्माकं काऽपि क्षतिः पापासंबन्धादित्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥

अवश्य ही ये आततायी हैं पर इनको भी मारनेपर हम लोगोंको पाप लगेगा ही, ऐसा सम्बन्ध है। अथवा पाप ही हम लोगोंको लगेगा और दृष्ट-अदृष्ट कुछ भी फल नहीं है। 'न हिंस्यात्' इस निषेधसे 'आततायिनमायान्तम्' यह अर्थशास्त्र दुर्बल है, यह याज्ञवल्क्यने कहा है—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।।'

[अथवा भीष्म, द्रोणादिका वध तो अतिनिन्दित है। इनको मारनेसे हमको अवश्य पाप लगेगा। यदि वे लोग शस्त्रग्रहण किये हुये हैं तथा जिघांसु हैं अतएव आततायी हैं, तो मैं भी शस्त्रग्रहीता तथा जिघांसु हूँ, अतः हम लोग भी आततायी ही हैं, इस तात्पर्यसे 'आततायिनः अस्मान्' आततायी हम लोगोंको पाप अवश्य लगेगा।]

अथवा द्वितीय व्याख्या—दुर्योधनादिके मारनेसे आप लोगोंको प्रीति न होगी परन्तु आप लोगोंके मारनेसे दुर्योधनादिकोंको जो प्रीति होगी, इसलिये वे लोग हम लोगोंको मारेंगे, इसपर कहते हैं—'**पापमेव**' इत्यादि। हमलोगोंको मारनेसे इन आततायी दुर्योधनादिको जो पूर्वमें भी पापी है, इस समय भी पाप लगेगा और कुछ भी सुख नहीं मिलेगा। युद्धविरत हमलोगोंको यदि वे मारेंगे तो उन्हें पाप लगेगा, हमलोगोंकी कोई क्षति नहीं होगी, क्योंकि पापका संसर्ग हमलोगोंको नहीं होगा, यह अभिप्राय है ॥ ३६ ॥

है। अतएव 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' 'क्षुत आचामेत्' इन दोनों वाक्योंमें जहाँ विरोध होता है, जैसे वेद (दर्भमुष्टि-विशेष) बनानेके अनन्तर वेदी करना प्रकृत वचनसे प्राप्त है और 'छींक होने पर आचमन करना' उक्त वाक्यसे प्राप्त है। एक पुरुष एक कालमें दोनों नहीं कर सकता, फिर क्या करे ? इस शङ्कामें वैदिक कालसे स्मृतिका बाध करना औत्सर्गिक है। इसलिये 'वेदी बनानी चाहिये' यह पूर्वपक्षकर सिद्धान्त किया है कि यद्यपि अपौरुषेयत्वेन निर्दुष्ट वेदवाक्य स्वरूपतः प्रबल है, तथापि अर्थकी अपेक्षा अर्थनिष्ठ क्रमरूप धर्म तो अप्रधान है, तदाश्रित वेदवाक्य दुर्बल है और आचमनरूप प्रबलपदार्थाश्रित आचमनबोधक स्मृति प्रबल है। अतः स्मृतिसे श्रुतिका बाधकर 'आचमन करके ही वेदी बनानी चाहिये' यह भट्टपादने कहा है—'अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदादयः। दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः ॥" गरीब भी राजपुरुष स्वतः दुर्बल होनेपर भी प्रबल आश्रय राजबलसे बलवान् होकर, धनिक प्रबल नगरनिवासियोंको पकड़कर दण्ड देता ही है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। एवं शास्त्रमें भी आश्रयबल उत्कृष्ट माना जाता है। इसके अनुसार धर्मशास्त्रसे अर्थशास्त्रका बाध करना समुचित है। विषयव्यवस्था या विकल्प यहाँ ठीक नहीं है।

प्रश्न—इसका उदाहरण कौन है ?

उत्तर—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥' [मनु० ८।३५०।५१] तथा 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे। जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥' यह अर्थशास्त्र है । 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' [मनु० ११।८९] इत्यादि धर्मशास्त्र भी है। इन दोनोंके विरोधमें धर्मशास्त्र बलवान् है, यही स्वामीजीको विवक्षित है, सो ठीक नहीं है। यदि कहिये कि क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि बलाबलका विचार वहाँ होता है, जहाँ एक विषयमें विरुद्ध वचनोंकी प्रवृत्ति होती है; जैसे 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिमें। प्रकृतमें उक्त वचन भिन्न-भिन्न विषयक हैं, इनमें विरोध ही नहीं है। तथाहि—'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते' [मनु० ८।३४८] (धर्मविप्लवमें द्विजातियों-ब्राह्मणोंको भी शस्त्र ग्रहण करना चाहिये) यह उपक्रमकर 'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दण्डभाक् ॥' [मनु० ८।३४९] (आत्मरक्षार्थ दक्षिणा, अन्न, धन आदिके अपहरणनिमित्तक संग्राममें स्त्रीब्राह्मणरक्षार्थ धर्मयुद्धसे शत्रुको मारता हुआ पुरुष दोषी नहीं होता) यह कहकर इसका अर्थवाद कहते हैं—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि। अत्यन्त अवध्य गुरु आदि भी यदि आततायी हो, तो मारना चाहिये, दूसरोंमें सन्देह ही कहाँ ? वाशब्दग्रहणसे तथा 'अपि वेदान्तपारगम्' इसमें अपिशब्दसे गुर्वादिमें वध्यत्व प्रतीति नहीं होती। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यह कि 'वा अपि' ये दोनों सम्भावनाके द्योतक हैं। सम्भावित अर्थका अनुष्ठान नहीं होता। जैसे 'अपि स्तुयाद्विष्णुं किमन्यं न स्तुवीत' (अवाङ्मनसगोचर विष्णुकी स्तुति नहीं हो सकती, किन्तु जिसके लिये वह भी सम्भावित है उसके लिये अन्यस्तुतिमें कहना ही क्या) यह अन्यस्तुतिविषयक शक्त्युत्कर्षार्थक ही वाक्य है, विष्णुस्तुत्यर्थक नहीं, वैसे ही 'गुरुं वा' इत्यादि वाक्यका भी आततायी गुर्वादिके वधमें भी तात्पर्य नहीं, किन्तु तदितरके वधमें तात्पर्य है। अतएव 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात्' यह सुमन्तुने स्पष्ट कहा है 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥' [४।१६३] यह मनुवचन है। आततायी आचार्यादिके हिंसानिषेधार्थ हो यह वचन सार्थक होता है, अन्यथा नहीं। सामान्य हिंसाका प्रतिषेध तो 'न हिंस्यात्' इस सामान्यशास्त्रसे ही सिद्ध है। 'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचन भी ब्राह्मणादिव्यतिरिक्त विषयक है। 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' तथा 'उद्यतासिर्विषाग्निश्च शापाद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान् विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥' ये सामान्यरूपसे आततायी दिखलाये गये हैं। निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणादिहिंसाके उद्देश्यसे नहीं, किन्तु आत्मरक्षाके तात्पर्यसे आततायीसे बचनेके लिये शस्त्रप्रयोग किया जाता है। भूलसे ब्राह्मणादि आततायीकी हिंसा हो जाय, तो लघुप्रायश्चित है और राजदण्ड कुछ नहीं है, यह निश्चय है। अतः उक्त वचनका उदाहरण दूसरा है। यदि पूछिये, कौन ? तो उसका उत्तर यह है—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः। अतो यतेत तत्प्राप्तौ' [याज्ञ० आ०, रा० प्र० श्लो० ३५२] यह अर्थशास्त्र है। तथा 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' यह याज्ञवल्क्यस्मृति-व्यवहाराध्याय है। इन दोनोंका किसी विषयमें विरोध होता है, जैसे व्यवहारके समय एककी विजय करानेमें मित्रलाभ होता है, जो हिरण्यादिलाभसे भी उत्तम है। परन्तु धर्मशास्त्रके अनुकूल न होनेसे धर्मशास्त्रका अनुसरण नहीं होता, जिसका धर्मशास्त्रानुसारेण विशेष

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसलिए बन्धु-बान्धवोंके सहित इन दुर्योधन आदिको हम मारना नहीं चाहते । हे माधव, आत्मीयको मारकर भला हम कैसे सुखी रहेंगे ? ॥ ३७ ॥

'तस्मान्नार्हा' इति । फलाभावादनर्थसंभवाच्च परहिंसा न कर्तव्येति । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इत्यारभ्योक्तं तदुपसंहरति—अदृष्टफलाभावोऽनर्थसंभवश्च तच्छब्देन परामृश्यते । दृष्टसुखाभावमाह—'स्वजनं हि' इति । माधवेति लक्ष्मीपतित्वान्नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसीति भावः ॥ ३७ ॥

फलके अभावसे तथा अनर्थसम्भवसे हिंसा नहीं करनी चाहिये । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' यहाँसे आरम्भकर जो कहा है, उसका उपसंहार करते हैं—**'तस्मान्नार्हा'** इत्यादिसे । अदृष्टफलाभाव और अनर्थसम्भव इन दोनोंका परामर्शक तच्छब्द है । दृष्टसुखाभाव कहते हैं—**'स्वजनं हि'** इत्यादिसे । आप लक्ष्मीपति हैं, अलक्ष्मीके कर्ममें कैसे प्रवृत्त कराते हैं, शुभकर्ममें ही प्रवृत्त कराना उचित है, अन्यत्र नहीं, यह 'माधव' इस सम्बोधनका अभिप्राय है ॥ ३७ ॥

तो दूसरोंकी कुलनाश एवं स्वबन्धुवर्गके संहारमें क्यों प्रवृत्ति, है, इसपर कहते हैं—**'यद्यप्येते'** इत्यादि । लोभसे नष्ट विवेकबुद्धि होनेसे कुलनाशनिमित्त दोषका ध्यान न होनेसे उनकी प्रवृत्ति होती है, अतएव भीष्मादि शिष्टोंकी बन्धुवधमें प्रवृत्ति देखकर शिष्टाचारसे वेदमूलकत्वका अनुमानकर इतरकी भी तादृश कर्ममें प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, 'हेतुदर्शनाच्च' [४।१।३।२][1] मीमांसासूत्रोक्त

विधान है । दूसरेको विजय देनेसे धर्मशास्त्रका पूर्ण पालन होता है, किन्तु मित्रलाभ तो दूर रहा, तद्विपरीत शत्रुलाभ ही होता है इस परिस्थितिमें 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रम्' इत्यादि वाक्य है । अतएव 'धर्मार्थसन्निपाते अर्थग्राहिण एतदेव' इस वचनसे घूस लेनेवालेको आपस्तम्बने अधिक प्रायश्चित्त कहा है, यह याज्ञवल्क्यस्मृतिकी मिताक्षरामें स्पष्ट है (देखिये—व्यवहाराध्याय, २१ वें श्लोककी मिताक्षरा) ।

१. 'वैसर्जनाख्यहोमीयवाससो ग्रहणस्मृतिः । प्रमा न वा श्रुत्यबाधात् प्रमा स्यादष्टकादिवत् ॥ दृष्टलोभैकमूलत्वसम्भवे श्रुत्यकल्पनात् । सर्ववेष्टनवद्बाधहीनाऽप्येषा न हि प्रमा ॥' 'वैसर्जनीयं वासो अध्वर्युर्गृह्णाति' यह स्मृति प्रमाण है अथवा अप्रमाण है यह विचार करते हैं—ऋषिकर्तृकर्तृकत्वसमान धर्म इसमें भी है, अतः स्मृत्यन्तरवत् यह भी स्मृति प्रमाण है, यह पूर्वपक्षकर सिद्धान्त किया है कि दृष्टलोभमूलक होनेसे यह स्मृति प्रमाण नहीं है । भाव यह है कि स्मृति साक्षात् धर्ममें प्रमाण नहीं है । जिन स्मृतियोंकी मूलभूत श्रुतियाँ उपलब्ध हैं, वे तन्मूलकत्वेन प्रमाण हैं । जिनकी मूलभूत श्रुति दृष्ट नहीं है, वे दो प्रकारकी हैं—एक श्रुतिविरुद्धार्थक और दूसरी तदविरुद्धार्थक हैं । प्रथम स्मृतियाँ

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥

यद्यपि लोभसे चित्तवृत्तिके नष्ट हो जानेके कारण कुलनाशसे होनेवाले दोष तथा विश्वासघातजनित पापका ये लोग विचार नहीं करते॥ ३८॥

कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—'यद्यप्येते' इति। लोभोपहतबुद्धित्वात्तेषां कुलक्षयादिनिमित्तदोषप्रतिसंधानाभावात्प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः। अत एव भीष्मादीनां शिष्टानां बन्धुवधे प्रवृत्तत्वाच्छिष्टाचारत्वेन वेदमूलत्वादितरेषामपि तत्प्रवृत्तिरुचितेत्यपास्तम्। हेतुदर्शनाच्चेति न्यायात्। तत्र हि लोभादिहेतुदर्शने वेदमूलत्वं न कल्प्यत इति स्थापितम्। यद्यप्येते न पश्यन्ति तथापि कथमस्माभिर्न ज्ञेयमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः॥ ३८॥

न्याय ही इसमें प्रमाण है। इस सूत्रमें लोभादिहेतुदर्शनसे वेदमूलत्वकी कल्पना नहीं हो सकती, यह स्थिर किया गया है। यद्यप्येते न पश्यन्ति, तथापि 'कथमस्माभिर्न ज्ञेयम्' इस उत्तरश्लोकसे सम्बन्ध है॥ ३८॥

यद्यपि ये लोभसे युद्धमें प्रवृत्त हैं, तथापि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि।' 'विजितं क्षत्रियस्य' इत्यादिसे क्षत्रियके लिये युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनम्' युद्ध धर्म तथा युद्धमें उपार्जित धन भी धर्मसे प्राप्त है, यह धर्मशास्त्रमें निश्चय किया गया है। उन लोगोंसे आप लोग आहूत हैं, अतएव युद्धमें आप

विरुद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं मानी जातीं। द्वितीय स्मृतियोंमें तदर्थक श्रुतिका अनुमानकर तन्मूलकत्वेन प्रामाण्य माना जाता है; जैसे कि 'अष्टका कर्तव्या' यह अविरुद्धार्थ स्मृति है। इसमें एतदर्थक अनुमित श्रुति मूल है, अतः यह प्रमाण है। विरुद्धार्थक है—'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या', क्योंकि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' यह प्रत्यक्ष श्रुति है। स्पर्शनसे सर्ववेष्टनका बाध होता है। तृतीय यह है—'वैसर्जनीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' यहाँ अष्टकास्मृतिके समान तदर्थक श्रुतिका अनुमानकर तन्मूलकत्वेन इसमें प्रामाण्य नहीं माना जाता। कहिये क्यों, तो इसका उत्तर है कि हेतु देखनेपर हेत्वन्तरका अनुमान नहीं होता। लोभहेतु यहाँ दृष्ट है, इसीसे स्मृतिकी उपपत्ति होती है, फिर अत्यन्तापरिदृष्ट वैदिक वचनकी कल्पना समुचित नहीं है। अवान्तरदीक्षाके विसर्जनार्थ होम वैसर्जनहोम है। उसके अनुष्ठानार्थ आरम्भमें यजमान, उसकी पत्नी, पुत्र और भाई नूतन वस्त्र धारण करते हैं। होमके अनन्तर उस वस्त्रका त्यागकर पूर्वधृत वस्त्रोंको धारण करते हैं। वहाँ यह प्रश्न होता है कि इन वस्त्रोंको कौन ग्रहण करें? किसी लोभी अध्वर्युने कहा कि 'वैसर्जनीयं वासो अध्वर्युर्गृह्णाति'। उसी समयसे यह स्मृति प्रसिद्ध हुई, अतः स्पष्ट लोभ ही इसमें मूल है, श्रुति नहीं, इसीसे यह प्रमाण नहीं है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

तथापि हे जनार्दन, कुलक्षयसे होनेवाले दोषको जानते हुए हम लोगोंको इस कुलक्षयजनित पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

ननु यद्यप्येते लोभात्प्रवृत्तास्तथाऽपि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि', इति, विजितं क्षत्रियस्य इत्यादिभिश्च क्षत्रियस्य युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनमिति धर्मशास्त्रे निश्चयाद्भवतां च तैराहूतत्वाद्युद्धे प्रवृत्तिरुचितैवेत्याशङ्क्याऽऽह—'कथं न' इति । अस्मात्पापाद्बन्धुवधफलकयुद्धरूपात् । अयमर्थः—श्रेयःसाधनताज्ञानं हि प्रवर्तकम्, श्रेयश्च तद्यदश्रेयोननुबन्धि, अन्यथा श्येनादीनामपिधर्मत्वापत्तेः तथा चोक्तम्—

"फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥" इति

लोगोंकी प्रवृत्ति उचित ही है, इस आशङ्कासे कहते हैं—'**कथं न**' इत्यादि । इस बन्धुवधफलक युद्धरूप पापसे हम लोग क्यों न अलग रहें ? इसका यह अर्थ है—इष्टसाधनज्ञान प्रवर्तक होता है, इष्ट वही है, जो अनिष्टसे मिला-जुला न हो अर्थात् उभयात्मक न हो, अन्यथा श्येनयागादि भी धर्म हो जायगा । ऐसा ही कहा भी है—'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलं प्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' जो कर्म पापसंयुक्त नहीं है, किन्तु उसका फल पापसंयुक्त है वह धर्म नहीं है, किन्तु जो कर्मफल छोटा भी पापयुक्त न हो, केवल प्रीतिहेतु हो, [केवलसेः यहाँ दुःखमिश्रित सुखकी व्यावृत्ति समीहित है] वही धर्म कहा जाता है । इस कारण दुःखयुक्त होनेसे शास्त्रप्रतिपादित श्येनादिके समान इस युद्धमें भी हम लोगोंकी प्रवृत्ति उचित नहीं है ।

[सदा पापादि-लेप-रहित परमेश्वर आप हैं इसलिये प्रलयमें सकल प्राणियोंके संहार करनेसे आप ही को पाप नहीं होता, दूसरेको तो हिंसासे पाप होता ही है, यह जनार्दनसम्बोधनसे सूचित करते हैं]॥ ३९ ॥

इस प्रकार विजयादि श्रेय नहीं है, अतएव ईप्सित भी नहीं है । तदर्थ प्रवृत्त होना ठीक नहीं हैं, इसको दृढ़ करनेके लिये पापमिश्रितत्वसे अश्रेय युद्धादि है, इसको विस्तारसे कहते हैं—'**कुलक्षये**' इत्यादिसे ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

कुलका नाश होनेपर धर्म करनेवाले न रहनेसे परम्पराप्राप्त कुलोचित धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्मके नष्ट हो जानेपर सारे कुलको भी अधर्म स्वाधीन होकर व्याप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

हे कृष्ण, अधर्मकी अभिवृद्धि होनेसे कुलाङ्गनाएँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय, कुलाङ्गनाओंके दुष्ट हो जानेपर वर्णोंमें सङ्कीर्णता उत्पन्न हो जाती है ॥ ४१ ॥

ततश्चाश्रेयोनुबन्धितया शास्त्रप्रतिपादितेऽपि श्येनादाविवास्मिन्युद्धेऽपि नास्माकं प्रवृत्तिरुचितेति ॥ ३९ ॥

एवं च विजयादीनामश्रेयस्त्वेनानाकांक्षितत्वान्न तदर्थं प्रवर्तितव्यमितिद्रढयितुमनर्थानुबन्धित्वेनाश्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—'**कुलक्षये**' इति । सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलोचिता धर्माः कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कर्तुरभावात् । उतापि, अग्निहोत्राद्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन धर्मे नष्टे, जात्यभिप्रायमेकवचनम्, अवशिष्टं बालादिरूपं कृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति स्वाधीनतया व्याप्नोति । उतशब्दः कृत्स्नपदेन संबध्यते ॥ ४० ॥

अस्मदीयैः पतिभिर्धर्ममतिक्रम्य कुलक्षयः कृतश्चेदस्माभिरपि व्यभिचारे कृते को दोषः

सनातन—कुलपरम्पराप्राप्त, कुलधर्म यानी कुलोचित धर्म । कुलक्षय होनेपर कर्ताके न रहनेसे तदनुष्ठेय धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। उत अप्यर्थक है। अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालोंका नाश होनेपर धर्म नष्ट हो जाता है। जातिके अभिप्रायसे एक वचन है, व्यक्त्यभिप्रायसे नहीं। सब धर्म नष्ट हो जाते हैं, इसमें तात्पर्य्य है। उसके बाद अवशिष्ट बालादिरूप समस्त कुल अधर्मसे अभिभूत—निगृहीत हो जाता है यानी स्वाधीनरूपसे अधर्म व्याप्त हो जाता है। 'उत' शब्द कृत्स्नपदसे सम्बद्ध है ॥ ४० ॥

हमारे पतियोंने धर्मका उल्लङ्घन कर कुलक्षय यदि किया, तो हम लोग भी व्यभिचार करें, तो फिर क्या दोष है ? एवं कुतर्कशील स्त्रियाँ दुष्ट हो जायँगी यह अर्थ है। अथवा कुलक्षयकारी पतित पतिके

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥
दोषरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

वर्णसंकरसन्तति कुल और कुलका नाश करनेवाले दोनोंको नरकमें पहुँचाती है तथा उनके पितर भी पिण्डदान और तर्पण आदिसे वञ्चित होकर नरकमें ही गिरते हैं॥ ४२॥

वर्णसङ्कर जाति पैदा करनेवाले कुलघातकोंके इन उक्त दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्म विनष्ट कर दिये जाते हैं॥ ४३॥

स्यादित्येवं कुतर्कहताः कुलस्त्रियः प्रदुष्येयुरित्यर्थः। अथवा कुलक्षयकारिपतितपतिसंबन्धादेव स्त्रीणां दुष्टत्वम्। "आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः" इत्यादिस्मृतेः॥ ४१॥

कुलस्य संकरश्च कुलघ्नानां नरकायैव भवतीत्यन्वयः। न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः, किन्तु तत्पितॄणामपीत्याह—'**पतन्ति**' इति। हिशब्दोऽप्यर्थे हेतौ वा। पुत्रादीनां कर्तॄणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा। कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरकायैवेत्यनुषङ्गः॥ ४२॥

जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिनिबन्धनाः कुलधर्मा असाधारणाश्च। एतैर्दोषैरुत्साद्यन्ते उत्सन्नाः क्रियन्ते विनाश्यन्त इत्यर्थः॥ ४३॥

सम्बन्धसे ही स्त्रियाँ दुष्ट होंगी। 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' इत्यादि स्मृति इस अर्थमें प्रमाण है॥ ४१॥

[संकर यानी वर्णसंकर कुलका नाश करनेवालोंके और कुलके जो अधर्माभिभूत होते हैं, उन्हें नरक देनेवाला होता है।] कुलका संकर कुलनाशकोंको नरक ही देनेवाला होता है, यह अन्वय है इस अर्थमें चकार पूरणार्थ है। केवल कुलहन्ताको ही नरक-निपात नहीं होता, किन्तु उनके पिता, पितामह आदिको भी नरकनिपात होता है, यह कहते हैं—'**पतन्ति**' इत्यादिसे। हिशब्द अप्यर्थक या हेत्वर्थक है। यदि अप्यर्थक है, तो पितरोंको भी नरक होता है। यदि हेत्वर्थक है, तो हेतु लुप्तपिण्डोदकक्रियत्व है। पुत्रादिके न रहनेसे पिण्ड, उदक दानादि क्रिया जिनकी लुप्त हो जाती है वे लुप्तपिण्डोदकक्रिय कुलघ्नोंके पितर नरकमें ही गिरते हैं, यहाँपर 'पतन्ति' के साथ अन्वय करनेके लिए 'नरकायैव' इसको खींच लाना चाहिये॥ ४२॥

जातिधर्म—क्षत्रियत्वजातिनिमित्तक धर्म और तत्तद्व्यक्तिगत असाधारण धर्म इन दोषोंके द्वारा उत्सन्न कर दिये जाते हैं यानी नष्ट कर दिये जाते हैं, यह अर्थ है॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे मनुष्योंका नरकमें ही निःसन्देह निरन्तर वास होता है, ऐसा हमने आचार्योंके मुखसे सुना है ॥ ४४ ॥

इसलिए हम लोग राज्यसुखके लोभसे अपने बन्धु-बान्धवोंका विनाशरूप महा पाप करनेके लिए जो प्रवृत्त हुए हैं; यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है ॥ ४५ ॥

ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरक एव केवलं निरन्तरं वासो भवति ध्रुवमित्यनुशुश्रुम इत्याचार्याणां मुखाद्वयं श्रुतवन्तः, न स्वाभ्यूहेन कल्पयाम इति पूर्वोक्तस्यैव दृढीकरणम् ॥ ४४ ॥

बन्धुवधपर्यवसायी युद्धाध्यवसायोऽपि सर्वथा पापिष्ठतरः, किं पुनर्युद्धमिति वक्तुं तदध्यवसायेनाऽऽत्मानं शोचन्नाह—'**अहो बत**' इति । यदीदृशी ते बुद्धिः कुतस्तर्हि युद्धाभिनिवेशेनाऽऽगतोऽसीति न वक्तव्यमविमृश्यकारितया मयौद्धत्यस्य कृतत्वादिति भावः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर प्रेतत्वसे विमुक्तिका कारण न होनेसे केवल नरकमें ही निरन्तर (सतत) वास होता है, यह निश्चित सुना है—आचार्योंके मुखसे हम लोगोंने सुना है, अपनी प्रतिभाकी यह उपज नहीं है, जिसको कल्पना कहें । कुलविनाशक युद्ध है, इसीको दृढ़ किया है ।

[कुलनाशक युद्धमें प्रवृत्त हम लोगोंका नरकनिपात निश्चित है, अतः उससे निवृत्ति ही अच्छी है । नरकसे त्राण पानेवाले आपकी सदा प्रार्थना जैसे करते हैं, वैसे ही हम उससे त्राण पानेके लिये आपकी प्रार्थना करते हैं, इसको व्यक्त करते हुये जनार्दन सम्बोधन किया है] ॥ ४४ ॥

बन्धुवधादिविषयक युद्ध निश्चय भी सर्वथा अतिपापीयान् है, युद्धकी तो बात ही क्या ? यों युद्ध निश्चयसे अपनेको सोचते हुये कहते हैं—'**अहो बत**' इत्यादि ।

यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि है, तो युद्धाग्रहसे यहाँ क्यों आये हो, यह न कहिये, अविचारसे मैंने जल्दीबाजी की यह अभिप्राय है ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

यदि शस्त्ररहित हो किसी प्रकारका प्रतीकार न कर रहे मुझको हाथमें शस्त्र लिये हुए ये धृतराष्ट्रके पुत्र आदि सगे-सम्बन्धी युद्धमें मार डालें, तो मेरा उनके द्वारा अधिक हित होगा ॥ ४६ ॥

सञ्जयने कहा—इस तरह कहकर शोकसे व्याकुलचित्त अर्जुन युद्धमें बाणसहित अपना धनुष अलग फेंककर रथके ऊपर बैठ गये ॥ ४७ ॥

ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वाद्बन्धुवधो भविष्यत्येव, त्वया पुनः किं विधेयमित्यत आह—'**यदि मामि**' इति । प्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसा, पापानिष्पत्तेः । तस्माज्जीवनापेक्षया मरणमेव मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । प्रियतरमिति पाठेऽपि स एवार्थः । अप्रतीकारं स्वप्राणत्राणाय व्यापारमकुर्वाणं बन्धुवधाध्यवसायमात्रेणापि प्रायश्चित्तान्तररहितं वा । तथा च प्राणान्तप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—'**एवमुक्त्वा**' इति । संख्ये-सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपविवेश । पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितः सन्शोकेन संविग्नं पीडितमानसं यस्य सः ॥ ४७ ॥

अच्छा, तो तुमको वैराग्य है, फिर भी भीमसेन आदि युद्ध करनेके लिये उत्सुक हैं अतएव बन्धुवध होगा ही, फिर तुमको क्या करना है ? इसपर कहते हैं—'**यदि माम्**' इत्यादि ।

प्राणसे भी उत्तम धर्म प्राणियोंकी अहिंसा है, क्योंकि इससे पाप नहीं होता । [अतएव 'अहिंसा परमो धर्मः' यह कहा गया है । याग, युद्ध आदिसे धर्म और अधर्म दोनों होता है; अहिंसासे धर्म ही होता है, यही इसमें परमतत्त्व है,] अतः जीवनकी अपेक्षा मेरा मरना ही अति कल्याणकारक है—हित है । 'प्रियतरम्' इस पाठमें भी यही अर्थ है । अप्रतीकारका अर्थ है—अपने प्राणकी रक्षाके लिये भी कोई व्यापार न करना अथवा बन्धुबान्धववधादिविषयक निश्चयमात्रसे प्रायश्चित्तान्तररहित । प्राणान्त प्रायश्चित्तसे ही शुद्धि होगी, यह अर्थ है ॥ ४६ ॥

तदनन्तर क्या हुआ ? ऐसी अपेक्षा होनेपर कहते हैं—'**एवमुक्त्वा**' इत्यादिसे ।

संख्ये यानी संग्राममें रथोपस्थ यानी रथके ऊपर अर्जुन बैठ गये । प्रथम युद्ध करनेवालोंको देखनेके लिये उठे, परन्तु शोकसे व्याकुलचित्त होकर फिर बैठ गये ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

प्रथम अध्याय समाप्त

प्रथम अध्यायके २२वें श्लोकको टिप्पणी

कैर्मया सह योद्धव्यम्—२२ श्लोक प्रथमाध्याय । मेरे साथ होकर अर्थात् मेरे पक्षकी ओरसे युद्ध करनेके लिये सन्नद्ध योद्धाओंका एवं 'योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं' इस २३ वें श्लोकके द्वारा कौरव पक्षकी ओरसे युद्धार्थ आये योद्धाओंका निरीक्षण करना अर्जुन चाहते हैं । गीताका ऐसा अभिप्राय विशद रूपसे उपपत्ति पूर्वक बताया गया है । इस अभिप्रायार्थमें किसीने शङ्का की है जो इस प्रकार है । यदि दोनों पक्षीय योद्धाओंका निरीक्षण करना अर्जुनको अभीष्ट होता तो भगवान् 'पश्यैतान् समवेतान् कुरून्' के साथ साथ पाण्डवपक्षीय योद्धाओंको भी दिखाते । ऐसा नहीं किया अतः उक्त अभिप्राय नहीं हो सकता ।

समाधान—पूर्ववर्णित अभिप्राय गीताका नहीं होता तो पुनरुक्ति दोष हो जायगा । 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं' इन दोनों वाक्योंके एकार्थक होनेसे वह दोष होगा । 'कुरून्' यह पाण्डवान्‌का भी उपलक्षण है । अन्यथा 'तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः' इससे उभयपक्षीय वीरोंको अर्जुनने देखा यह प्रतीति असङ्गत हो जायगी । 'सेनयोरुभयोरपि' से उभयपक्षीय सेनाका निर्देश स्पष्ट है । श्रीमधुसूदनसरस्वती लिखते हैं 'एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम्' अर्थात् अपनी सेनामें भी आचार्य, पितृपितामह आदिका उपलक्षण है । इससे स्पष्ट है कि दोनों ओरके वीरोंको देखा ।

शङ्का—यदि अर्जुनको अपने पक्षकी सेनाका निरीक्षण भी इष्ट होता तो 'हत्वा स्वजनमाहवे' के समान 'घातयित्वा' का भी निर्देश होना चाहिये था । कारण अपने पक्षके वीरोंका अपनेसे वध उपपन्न नहीं हो सकता ।

समाधान—सभी विषयोंका वाच्यरूपसे ही निर्देश करना आवश्यक नहीं है । कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनका व्यङ्ग्यतया निर्देश इष्ट होता है । एक पक्षके दुष्परिणामका वाच्यतया निर्देश कर देनेपर अन्य पक्षके दुष्परिणामकी विना कहे भी प्रतीति हो जानेसे पृथक् रूपसे नहीं लिखा गया । भूमि, जनता आदिपर पड़नेवाले युद्धके प्रभावका भी वर्णन नहीं किया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि सभी विषयोंका वाच्यतया निर्देश नहीं किया जाता है । कुछ अर्थतः भी सिद्ध होते हैं । अथवा 'हत्वा' पद अन्तर्भावितण्यर्थ होनेसे 'घातयित्वा' का भी संग्राहक हो जायगा ।

"यदि मामप्रतीकारम्" इत्यादि श्लोकसे भी प्रकृत अर्थमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है । क्योंकि विरोधी पक्षकी सेनाको देखकर उससे होनेवाली भयावह कल्पनाका निर्देश है । सभी कल्पनाओंका निर्देश करना आवश्यक नहीं है । "येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च" इससे होनेवाले युद्ध परिणामके निर्देश प्रसङ्गमें अपनी ओरके लोगोंका निर्देश किया ही गया है । अतः पूर्वोक्तार्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

सञ्जयने कहा—पूर्वोक्त दयासे व्याप्त, आँसुओंसे भरे व्याकुल नेत्रोंवाले शोकाकुल अर्जुनको सम्बोधित-कर भगवान् मधुसूदनने यह वक्ष्यमाण वचन कहा ॥ १ ॥

अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं चेत्येवंलक्षणया बुद्ध्या युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयस्य धृतराष्ट्रस्य हर्षनिमित्तां 'ततः किं वृत्तम्' इत्याकाङ्क्षामपनिनीषुः सञ्जयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः । कृपा-ममैत इति व्यामोह-निमित्तः स्नेहविशेषः । तया स्वभावसिद्धया आविष्टं व्याप्तम् । अर्जुनस्य कर्मत्वं कृपायाश्च कर्तृत्वं वदता तस्या आगन्तुकत्वं व्युदस्तम् । अत एव विषीदन्तं स्नेहविषयीभूतस्वजनविच्छेदा-शङ्कानिमित्तः शोकापरपर्यायश्चित्तव्याकुलीभावो विषादस्तं प्राप्नुवन्तम् । अत्र विषादस्य

'अहिंसा और भिक्षाशन परम धर्म है' इस बुद्धिसे अर्जुनका युद्धविषयक वैराग्य सुनकर, अपने पुत्रोंका राज्य अटल निश्चितकर स्वस्थहृदय, सुप्रसन्नचित्त धृतराष्ट्रकी हर्षनिमित्तक 'फिर क्या हुआ ?' इस आकांक्षाको निरवकाश करते हुए सञ्जय बोले, यह वैशम्पायनने जनमेजयसे कहा है—'सञ्जय उवाच' से ।

कृपा 'ये मेरे हैं' एतद्मोहनिमित्तक स्नेहविशेष हैं [वस्तुतः आत्मा असंग है । वह किसीका कोई है नहीं, फिर भी अनादि-अज्ञानहेतुक उक्त मोहसे सम्बन्धकी कल्पनाकर संसारीजन अपना-पराया भाव मानते हैं ।] उस स्वतःसिद्ध कृपासे अर्जुनका मन व्याप्त था । अर्जुनमें कर्मत्व और कृपामें कर्तृत्व कहनेसे

कर्मत्वेनार्जुनस्य कर्तृत्वेन च तस्याऽऽगन्तुकत्वं सूचितम् । अत एव कृपाविषादवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे चेक्षणे यस्य तम् । एवमश्रुपातव्याकुलीभावाख्यकार्यद्वयजनकतया परिपोषम्

कृपा आगन्तुकत्वका निरास किया गया है। [यदि कहिये, कर्तृत्वनिर्देशसे आगन्तुकत्वका निरास क्यों होता है ? तो इसका विशद उत्तर आगे चलकर दिया जायगा।] अतएव—विषीदन्तम्—स्नेहविषयीभूत स्वकीय जनोंके विनाश शङ्कानिमित्त शोकापरपर्याय चित्तकी व्याकुलता विषाद पदार्थ है,—तं प्राप्नुवन्तम्— उसे प्राप्त करते हुए। यहाँ 'विषाद' कर्म है प्राप्तिकर्ता अर्जुन 'उवाच' इस क्रियाके कर्ता हैं' इसलिए विषादमें आगन्तुकत्व सूचित किया है।

अत्र* इत्यादि वाक्यसे स्ववाक्यार्थ करते हैं, गीतावाक्यार्थ नहीं। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि 'तं प्राप्नुवन्तम्' इस स्ववाक्यमें तत् शब्दार्थ विषाद कर्म है, अर्जुन कर्ता है, गीतावाक्यमें विषाद-विशिष्ट अर्जुन कर्म है, कर्ता मधुसूदन हैं। 'इदमस्तु सन्निकृष्टे' इस कोषवाक्यसे 'इदं' शब्द सन्निकृष्टार्थक होता है, यह निश्चित है। अतः 'अत्र' का संग्राह्य स्व प्रथम वाक्य है और व्यावर्त्य गीता वाक्य है। अतएव कृपा विषादवश आँसुओंसे भरे और देखनेमें असमर्थ नेत्र हैं जिसके, उस अर्जुनके प्रति [भगवान् बोले]।

* इसपर किसी पण्डितका कहना है कि यह अत्रेत्यादि वाक्यका अर्थ नहीं, प्रत्युत खण्डन है; क्योंकि इससे यह झलकता है कि श्रीमधुसूदनसरस्वती अपने वाक्योंका ही अर्थ कहते हैं, जो उनकी गीताके प्रत्यक्षर व्याख्यानकी प्रतिज्ञासे विरुद्ध है। उनको साक्षात् या परंपरासे गीतावाक्यका अर्थ ही कहना चाहिये, न कि स्ववाक्योंका अर्थ।

ठीक है, गीतावाक्यका ही प्रथम स्ववाक्यसे प्रतिपादन किया है, उसीको विशेष तात्पर्यद्योतनार्थ स्फुट करते हैं।

प्रश्न—अच्छा तो यह गीतावाक्यार्थ नहीं है; यह आपने क्यों लिखा ?

उत्तर—यह भी ठीक ही लिखा; क्योंकि गीताका पदार्थ है, वाक्यार्थ नहीं। स्वका वाक्यार्थ है और गीताका पदार्थ है, इसमें विरोध ही क्या ?

प्रश्न—वाक्य तो पदसमुदायात्म ही है।

उत्तर—हाँ, है। पर वह पद नहीं, किन्तु वाक्य है अतएव पदार्थसे भिन्न वाक्यार्थ माना जाता है। पद-वाक्य और तदर्थका विवेक सुनिये—'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्रके अनुसार सुबन्त-तिङन्त पद कहलाता है 'विषीदन्तम्' यह सुबन्त होनेसे पद है, वाक्य नहीं। न्यायसूत्रकारने भी एतदनुसार 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' कहा है 'शक्तं पदं वाचकम्', 'वर्णाः पदम्' इत्यादि लक्षणोंमें प्रयोगार्हत्वका निवेश है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस महाभाष्यकारोक्तिसे निर्विभक्तिकका प्रयोग असाधु होता है। बोध भी विभक्त्यन्त ही से होता है। अतएव एतत्संज्ञाफलभूतेत्यादि अर्थवत्त्वका परिष्कार शेखरकारने किया है। अब वाक्यका लक्षण सुनिये—'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।' यहाँ वाशब्द और के अर्थ में है।

गताभ्यां कृपाविषादाभ्यामुद्विग्नं तमर्जुनमिदं सोपपत्तिकं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच, न तूपेक्षितवान् मधुसूदन इति, स्वयं दुष्टनिग्रहकर्ताऽर्जुनं प्रत्यपि तथैव वक्ष्यतीति भावः ॥ १ ॥

[प्रश्न—क्रमप्राप्त अश्रुपूर्णाकुलेक्षणकी व्याख्या न कर पश्चादुक्त 'विषीदन्तम्' के व्याख्यानमें क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—कृपामें अश्रुपूर्णाकुलेक्षणत्व और विषाद ये दोनों निमित्त हैं, यह बतलानेके लिए विषादका पूर्वमें व्याख्यान किया है, अन्यथा केवल अश्रुपूर्णादिहेतुक कृपा प्रतीत होगी, तो उभयनिमित्तकमें अन्यतर-निमित्तकत्व कहना न्यूनता होगी। अतः तद्व्यावृत्त्यर्थं उभयका उपादान है। कृपा और विषाद ये दोनों आन्तर विभाव हैं, जो दूसरोंके साक्षात्कारके विषय नहीं । तत्कार्य बाह्य होनेके कारण प्रत्यक्ष हैं।]

इस प्रकार अश्रुपात और चित्तव्याकुलतारूप दो कार्योंके उत्पादकरूपसे परिपुष्ट हुए कृपा-विषादके द्वारा उद्विग्न अर्जुनके प्रति यह सयुक्तिक वक्ष्यमाण वाक्य कहा, भगवान्‌ने उसकी उपेक्षा नहीं की। भगवान्‌को यहाँ 'मधूसूदन' नामसे कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वयं दुष्टोंको दण्ड देनेवाले (मधुनामक दैत्यको मारनेवाले) भगवान् अर्जुनके प्रति भी वैसा ही कहेंगे।

शंका—शत्रु होनेके कारण वध्य दुर्योधनादिके विषयमें अर्जुनको दया क्यों उत्पन्न हुई ? अनाथ, अपाहिज, दुर्गत, परोत्पीड़ित आदिमें उन-उन दुःखोंकी प्रहाणेच्छाके अनुकूल चित्तवृत्तिविशेष ही लोकमें कृपा कही जाती है। उस समय उनमें वह सम्भव नहीं, क्योंकि दुर्योधनादिमें नहीं आते। अतएव 'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्' इत्यादि वाक्यसे भगवान्‌ने उसे कश्मलशब्दसे कहा है, कश्मल कभी दया नहीं हो सकता।

समाधान—ठीक है, इसलिये 'तथाकृपा' कहा है। तथाका कृपाके साथ 'सुप्सुपा' से समास है। उक्तसमाससे 'तथाकृपा' यह एक पद है। स्वजनव्यामोह ही प्रसिद्ध कृपासे विलक्षण, यहाँ तादृश चित्तवृत्ति-रूपसे परिणत 'तथाकृपा' का अर्थ है।

सुबन्तचय, तिङन्तचय और तदुभयचय कारकान्वित क्रिया होनेसे वाक्य होता है। प्रथम 'देवदत्तेन शयितव्यम्', द्वितीय 'पचति भवति', तृतीय 'घटमानय'—इत्यादि। महाभाष्यमतसे 'पचति, भवति' भी वाक्य है। 'पाको भवति' यह बोध होता है।

प्रश्न—अच्छा तो 'देवत्तेन शयितव्यम्' यह भी तो सुबन्त है, अतः इसको पद और वाक्य भी कह सकते हैं ?

उत्तर—नहीं, कभी नहीं। सुबन्त वह कहलाता है, जिससे सुप्‌का विधान हो, तदादि तदन्त। जिसके अन्तमें सुप् हो, सो यहाँ विवक्षित नहीं। यदि क्रियान्वित कारक नहीं है, तो वह सुबन्तचय वाक्य नहीं है; जैसे—'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि। 'एकतिङ् वाक्यम्' यह कात्यायनका मत है। इसका अर्थ है—एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनक वाक्य। इससे महाभाष्योक्त 'पचति भवति' से विरोध नहीं आता, अथवा दो तिङ् रहने से उक्त वाक्यसे विरोध होगा।

शंका—विवेकी अर्जुनने मोहात्मिका इस कृपाका निरास क्यों नहीं किया ?

सामाधान—आविष्ट-से जो हैं ! जैसे पिशाचाविष्ट कहनेसे बलात् पिशाचावेश सूचित होता है, वैसे ही 'तथाकृपा' भी अर्जुनमें बलात् प्रविष्ट हुई। आविष्ट इव आविष्टः—जैसे पिशाच प्रविष्ट होकर मनुष्यको अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही वह 'तथाकृपा' भी प्रविष्ट हुई। पिशाचवत् 'तथाकृपा' भी दूसरेसे निवर्त्य है, अपनेसे नहीं; अतएव 'कृपाप्राप्त'के समान न कहकर 'कृपाविष्टः' कहा गया है। स्वातन्त्र्यप्रयुक्त प्राबल्यके बोधनार्थ 'कृपयाविष्टः' यह कर्तृत्व-निर्देश है। पिशाचाविष्टका साधर्म्य अर्जुनमें कहते हैं—लोकमें देखा जाता है कि प्रायः पिशाचाविष्टके नेत्र अश्रुसे पूर्ण, आवृत तथा विकृत होते हैं और अनवसरमें ही उसे विषाद भी हो जाता है। इससे आगन्तुकत्वका निरास तो नहीं, किन्तु उक्त कृपामें स्वातन्त्र्य सूचित होता है। स्वामीजीके आगन्तुकत्वनिरासकथनका और मूलस्थ कर्तृत्व सूचनका स्वारस्य भी इसीमें है। अतएव अर्जुन उस कृपाको स्वयं नहीं हटा सके; किन्तु पिशाच झाड़नेवाला ओझा जैसे मन्त्र पढ़कर पिशाचको भगाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान्‌ने 'कुतस्त्वा कश्मलम्' इत्यादि वाक्यरूप मन्त्र पढ़कर उक्त पिशाचको भगाया। जब युद्धोपरत अर्जुनने शस्त्र आदि रख दिया, तब श्रीकृष्ण भी उसका अनुमोदन ही करेंगे, यह धृतराष्ट्रकी आशा भी उक्त पिशाचके साथ ही दूर भाग गई। जिसने महाबलवान् मधुनामक दैत्यको मिट्टीमें मिला दिया, उसे उस पिशाचके भगानेमें क्या परिश्रम लगेगा ? यह 'मधुसूदन' शब्दसे सूचित होता है, यह भाव है] ॥ १ ॥

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' यह जैमिनिका मत है। साकांक्ष पदसमुदाय वाक्य है। 'आकांक्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम्', 'एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यम्' इत्यादि वाक्यके लक्षण हैं। पद स्वार्थकी स्मृतिका जनक है और वाक्य पदार्थद्वय संसर्गका बोधक है। न्यायमतमें संसर्गका बोध संसर्गमर्यादासे होता है। अन्विताभिधानवादीके मतमें पदसे, वाक्यशक्तिवादी वैयाकरणोंके मतमें वाक्यसे, मीमांसकभट्टपादके मतमें लक्षणासे—इत्यादि प्रकारभेद होनेपर भी पद-वाक्यभेद और पदार्थ-वाक्यार्थका भेद सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। शोकापरनामक चित्तव्याकुलतारूपविषाद आगन्तुक उक्तशङ्कानिमित्तक होने से तो आगन्तुक ही है।

प्रश्न—साक्षात् विषादनिवर्तक उपदेश न देकर मोहनिवर्तक उपदेश देनेका हेतु क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌में भक्तवात्सल्य विषादनिवृत्ति दो प्रकारकी होती है—आत्यन्तिक और अनात्यन्तिक। जो निवृत्त होकर फिर उत्पन्न न हो, वह प्रथम है और जो निवृत्त होकर देशान्तर, कालान्तर तथा अवस्थान्तरमें फिर उत्पन्न हो, वह द्वितीय है। कारणके साथ कार्यकी निवृत्तिकामनासे विषादकारण व्यामोहनिवर्तक वाक्यका भगवान्‌ने उपदेश दिया। प्रथम अर्जुनको प्रकृतिस्थ करनेके लिये अधिक्षेपकर जन्म-मरण-सुख दुःखादिसकलसंसारधर्मशून्य शुद्धानन्द-स्वप्रकाशासंग आत्मस्वरूपका उपदेश भगवान्‌ने अर्जुनको दिया। 'कारणाभावात्कार्याभावः' इस न्यायानुसार मोहनिवृत्त होनेसे विषाद समूल सदाके लिये निवृत्त हो गया। केवल विषाद दुःखद होनेसे निवर्त्तनीय नहीं, किन्तु अनर्थकारण संसार ही निवर्तनीय इष्ट है। एतन्निवृत्तिद्वारा परमपुरुषार्थप्राप्तिपर्यन्त भगवान्‌का व्यापार है। यही भगवान्‌की भक्तवत्सलता

है। यह स्त्र वाक्यार्थ है, गीतावाक्यार्थ नहीं है, यह गीतार्थखण्डन है या उक्त मधुसूदनसरस्वतीके द्वितीय वाक्यका फलितार्थ कथन है--इसका निर्णय मैं पद-वाक्यतत्तादर्थविवेकियोंपर छोड़ देता हूँ। वे स्वयं निर्णय करें।

प्रकृतमें 'विषादं प्राप्नुवन्तम्' इस वाक्यसे विषादमें कर्मत्व और अर्जुनमें कर्तृत्वका बोध होता है। गीतावाक्यसे विषादविशिष्ट अर्जुनमें कर्मत्व और मधुसूदनमें कर्तृत्वका बोध होता है। 'इदमस्तु सन्निकृष्टे' इत्यादि कोशवाक्यसे इदंशब्द सन्निकृष्टार्थवाचक निश्चित है, अतः 'अत्र'विशेषणका संग्राह्य स्ववाक्य है और व्यावर्त्य गीतावाक्य है, इन दोनोंको स्फुट करनेके लिये तथोक्ति है।

शङ्का---'विषीदन्तम्' का विवरण विषण्णं विषादवन्तम् इत्यादि पदोंसे न कर वाक्यसे क्यों किया ?

समाधान—इतर व्याख्यानकी अपेक्षा स्वव्याख्यानमें वैलक्षण्य सूचनार्थं वैसा किया गया है। उक्त पदविवरणोंसे विषादमें कर्मत्व और अर्जुनमें कर्तृत्वकी सूचना नहीं होती। विषादमें कर्मत्व सूचनासे आगन्तुकत्वकी सूचना होती है।

प्रश्न—कर्मत्वसे आगन्तुकत्वकी सूचना कैसे होती है ?

उत्तर—कर्म क्रियाजन्यफलविशिष्ट कहलाता है। फल क्रियाजन्य होनेसे आगन्तुक है, अतः तद्विशिष्ट कर्म भी आगन्तुक है।

प्रश्न—अच्छा, तो कर्ता भी कृतिमान् होता है। कृति आगन्तुक है। तद्विशिष्ट कर्ता भी आगन्तुक ही है, फिर कर्मत्वसे ही आगन्तुकत्व सूचन करनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—अद्वैतमतमें ब्रह्मसे भिन्न सब तुच्छ और आगन्तुक ही है। आगन्तुकसामान्य बुबोधयिषित नहीं है, किन्तु कर्ता, कर्ताकी अपेक्षासे आगन्तुकत्वबोधन अभिप्रेत है, क्योंकि कर्तृव्यापारप्रयोज्यफलभागी कर्म होता है। स्वतन्त्र-व्यापारवान् कर्ता होता है कारकचक्र-प्रयोक्ता होनेसे सब कारकोंमें कर्ता प्रधान होता है। तदितर कर्तृव्यापाराधीन व्यापारवान् होनेसे अप्रधान अतएव प्रयोज्य होता है। अतः प्रयोजककी अपेक्षासे प्रयोज्य आगन्तुक कहे जाते हैं। किञ्च, धात्वर्थव्यापारवान् कर्ता है। धात्वर्थव्यापार सब स्थलमें स्पन्दात्मक ही नहीं है, किन्तु स्पन्द तद्भिन्न नित्यसाधारण है, जैसे—'भू सत्तायाम्' यहाँ भू धातुका सत्ता अर्थ है। सत्ता जाति हो या उपाधि—नित्य ही है, अनित्य नहीं। यद्यपि 'देवदत्तः स्वपितरं पश्यति' यहाँ कर्तृत्व और कर्मत्वका निर्देश होनेपर भी स्वरूपसे वैपरीत्य ही प्रतीत होता है, तथापि उक्त विशिष्टरूपसे कर्ममें आगन्तुकत्व ही यहाँपर भी है।

शङ्का—स्वयं सरस्वतीजीने कृपामें व्यामोहनिमित्तकत्व कहा है। व्यामोह परस्पर आत्मानात्मतादात्म्य-तद्धर्माध्यास, आदि अविद्यानिमित्तक, अनादिप्रवाहोपनत, अनागन्तुक है, अतः तन्निमित्तक विषाद भी अनागन्तुक ही हो सकता है फिर कर्मत्वनिर्देशमात्रसे उसमें तद्विरुद्ध आगन्तुकत्व कैसे कहा ?

समाधान—'उक्त व्यामोहनिमित्तक अहं मम' इत्यादि ज्ञान अनागन्तुक ही है, किन्तु एतन्निमित्तक स्निग्ध स्वजन मरेंगे इत्यादि शङ्कानिमित्तक शोकसे व्याकुल अर्जुनमें कर्तृत्व और विषादमें कर्मत्वका निर्देश है। उक्त कर्मत्वसे विषादमें आगन्तुकत्व सूचित होता है, इसलिए ऐसा कहा।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

भगवान्ने कहा—हे अर्जुन, तुझे अनवसरमें यह मोह कैसे आया, यह तो अधर्मियोंके योग्य, स्वर्गसे वञ्चित करनेवाला और अपयश फैलानेवाला है ॥ २ ॥

तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति—'श्रीभगवानुवाच' इति—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥"

समग्रस्येति प्रत्येकं संबन्धः । मोक्षस्येति तत्साधनस्य ज्ञानस्य । इङ्गना-संज्ञा । एतादृशम् समग्रमैश्वर्यादिकं नित्यमप्रतिबन्धेन यत्र वर्तते, स भगवान् । नित्ययोगे मतुप् । तथा—

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"

तत्र भूतानामिति प्रत्येकं संबध्यते । उत्पत्ति-विनाशशब्दौ तत्कारणस्याप्युपलक्षकौ । आगतिगती आगामिन्यौ संपदापदौ । एतादृशो भगवच्छब्दार्थः श्रीवासुदेव एव पर्यवसित इति

उसी भगवान्के वाक्यको कहते हैं—'श्रीभगवानुवाच' से। संपूर्ण ऐश्वर्य, समस्त धर्म, समस्त यश, समग्र श्री, संपूर्ण वैराग्य और संपूर्ण मोक्षके साधन-ये छः भग कहे जाते हैं। इस श्लोकमें समग्रका संबन्ध प्रत्येकके साथ है।

[प्रश्न—ब्रह्मस्वरूपलक्षण मोक्ष तो एक ही है। उसमें समग्र विशेषणका तात्पर्य क्या है ? अनेक अर्थोंका संभव होनेपर अर्थान्तरकी व्यावृत्तिके लिये विशेषण सार्थक होता है; जैसे—नील कमल। प्रकृतमें उक्त विशेषणका व्यावर्त्य क्या है ?

उत्तर—यहांपर मोक्ष शब्द तत्साधन ज्ञानपरक है।]

इङ्गना संज्ञाको कहते हैं अर्थात् उक्त ऐश्वर्यादि छहोंका नाम भग है। ये छहों भगवान्में ही रहते हैं। अतः यह नाम उन्हींका है। उक्त ऐश्वर्यादि नित्य बिना किसी प्रतिबन्धके जिसमें रहते हैं। यहां नित्ययोगमें 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। तथा—'प्राणियोंके जन्म-मरण' आवागमन, विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे भगवान् कहते हैं।' इस श्लोकमें भी भूतोंका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध है। उत्पत्ति और विनाश तत्कारणके

तथोच्यते[1]। इदं स्वधर्मात्पराङ्मुखत्वं कृपाव्यामोहाश्रुपातादिपुरःसरं कश्मलं शिष्टगर्हितत्वेन मलिनं विषमेऽसमयेऽस्थाने त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरं कुतो हेतोः समुपस्थितं प्राप्तम्। किं मोक्षेच्छातः किं वा स्वर्गेच्छातः अथवा कीर्तीच्छात इति किंशब्देनाऽऽक्षिप्यते। हेतुत्रयमपि निषेधति त्रिभिर्विशेषणैरुत्तरार्धेन। आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितं स्वधर्मैराशयशुद्धिद्वारा मोक्षमिच्छ-

भी बोधक है। आगति और गति ये दोनों आनेवालीं सम्पत्ति और विपत्तिका भी बोध करानेवाली हैं। इस प्रकारका भगवच्छब्दार्थ वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, यह निचोड़ निकला।

शिष्टजनों द्वारा निन्दित अपने धर्मके विपरीत कृपा, मोह, अश्रुपात आदिके साथ यह कश्मल (मोह) क्षत्रियश्रेष्ठ तुम्हारे पास किसलिए उपस्थित हुआ, तुम्हें कैसे प्राप्त हुआ? यह मोहका समय नहीं है, असमयमें या अस्थानमें इसके प्राप्त होनेका ही आश्चर्य है 'किं' शब्दसे यहाँ तीन शंकाएँ की गयी हैं—(१) क्या मोक्षकी इच्छा है (२) या स्वर्गकी इच्छा है अथवा (३) कीर्तिकी इच्छा है ? जिससे कि तुम्हें यह मोक्ष प्राप्त हुआ है। उत्तरार्द्धगत **'अनार्यजुष्टम्'** इत्यादि तीनों विशेषणोंसे तीनों कारणोंका निषेध करते हैं। 'आर्यैर्न जुष्टमिति अनार्यजुष्टम्' आर्य यानी मुमुक्षुजनोंसे असेवित यह अर्थ है, मुक्ति चाहनेवाले अपक्वकषाय मुमुक्षुजन अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल विहित स्वधर्मका अनुष्ठान तो अन्तःकरणशुद्धिके लिये करते ही हैं। वे स्वधर्मका त्याग कैसे कर सकते हैं ? यदि यह मोक्ष-हेतुक होता, तो उनसे अवश्य सेवित होता, लेकिन यतः उनसे यह असेवित है, अतः मोक्षहेतुक नहीं है, यह तुम्हें किस हेतुसे प्राप्त हुआ, यह तात्पर्य है। संन्यासके अधिकारी तो पक्वकषाय मुमुक्षु ही होते हैं; उनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा। [नित्य, नैमित्तिकादि कर्मोंके निष्काम अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इस विषयमें प्रमाण 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यादि स्मृतियोंसे भी सिद्ध होता है, कि शुद्धान्तःकरणमें ही तत्त्वज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता होती है और वह अन्तःकरणशुद्धि निष्काम स्वधर्मानुष्ठानके विना नहीं हो सकती, यह गीतामें आगे स्पष्ट ही है। मुमुक्षु दो प्रकार के होते हैं—एक पक्वकषाय, दूसरे अपक्वकषाय। इनमें अन्तिमको कर्मकी अपेक्षा है, तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके प्रतिबन्धक कषायके परिपाकके लिये कर्मानुष्ठान आवश्यक है। 'कषाये कर्मभिः पक्वे मनो मोक्षे निवेशयेत्' इत्यादि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जो पूर्वजन्ममें ही स्वविहित धर्मानुष्ठानसे कर्मोंको पका चुके हैं और केवल कर्म शेष रह जानेसे ही संसारमें

१. तथोच्यते इस मधुसूदन पंक्तिको द्वितीय श्लोकका अवतरण मानना चाहिये। तदनुसार तथोच्यते के आगे 'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्' इत्यादि श्लोकको लिखना चाहिए। इस प्रकारका सुझाव किसीका है। परन्तु उपलब्ध पुस्तकों में ऐसा पाठ नहीं मिलता। सम्भावित पाठकी कल्पनाकर व्याख्या या अनुवाद नहीं किया जाता। अतः आपकी कल्पनाके अनुसार व्याख्या न होनेसे किसीकी आलोचना करना युक्ति संगत नहीं है।

द्भिरपक्वकषायैर्मुमुक्षुभिः कथं स्वधर्मस्त्याज्य इत्यर्थः । संन्यासाधिकारी पक्वकषायोऽग्रे वक्ष्यते । अस्वर्ग्यं स्वर्गहेतुधर्मविरोधित्वान्न स्वर्गेच्छया सेव्यम् । अकीर्तिकरं कीर्त्यभावकरमपकीर्तिकरं वा न कीर्तीच्छया सेव्यम् । तथा च मोक्षकामैः स्वर्गकामैः कीर्तिकामैश्च वर्जनीयम् । एवं तत्काम एव त्वं सेवसे इत्यहो अनुचितं तवेति भावः ॥ २ ॥

जन्म लेते हैं, वे पक्वकषाय संन्यासी हैं। उन्हें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं—लोकानुग्रहार्थ वे कर्म करें तो करें, अन्यथा कोई हानि नहीं। परन्तु यह पूर्वोक्त समास ठीक नहीं, क्योंकि यह पदव्युत्क्रमदोष से ग्रस्त है, इसलिए 'न [1]आर्यः अनार्यः तेन जुष्टम्' इससे नीचजन सेवित यह अर्थ समुचित प्रतीत होता है।]
अस्वर्ग्यम्—स्वर्ग धर्मानुष्ठानसे ही होता है और यह मोह स्वधर्मानुष्ठानमें विरोधी है; अतः स्वर्गेच्छुकसे सेव्य नहीं है। [अनार्य स्वर्गहेतु धर्मसाधनयागादिके अधिकारी नहीं हैं, अतः तादृश धर्म तत्सेव्य नहीं है, यह 'अपशूद्राधिकरण' में स्पष्ट है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्मः' कणादमुनिके इस सूत्रसे धर्म स्वर्गका साधन निश्चित होता है। यदि यह स्वर्गसाधन होता, तो स्वर्गेच्छुकोंसे त्याज्य कैसे होता, यह तात्पर्य है।]

तृतीय विकल्पका निरास करते हैं—**'अकीर्तिकरम्'** से। यहाँ भी दो अर्थ होते हैं, यदि नञ्का अभाव अर्थ यहां मानें, तो अकीर्तिका कीर्त्यभाव अर्थ है और यदि नञर्थ विरोधी है, तो कीर्तिविरोधी अकीर्ति अर्थ है। विनगमनाविरहमें (किसी एक अर्थ के ग्रहण में प्रमाणविशेष न होने से) दोनों अर्थ विवक्षित हैं। अर्थात् कीर्तिका अभाव करनेवाला या अपकीर्ति दिलानेवाला यह मोह है, कीर्तिकामुकोंको ये दोनों हेय हैं। इससे यह अर्थ फलित हुआ कि मोक्षकाम, स्वर्गकाम और कीर्तिकाम इन तीनोंसे जो त्याज्य है वही तत्फलेच्छावान् होकर तुम कर रहे हो, तुम्हारी इस अनुचित चेष्टापर हमें आश्चर्य और खेद होता है।

---

१. अस्वर्ग्य और अकीर्तिकरके साहचर्यसे अनार्य जुष्ट पदमें 'आर्यैर्न जुष्टम्' इस विग्रहमें समासके द्वारा निषेधकी प्रतीति कराना उचित है। इस प्रकारका विचार किसीने व्यक्त किया है। अकीर्तिकरका अर्थ मधुसूदनी में कीर्त्यभावकर या अपकीर्तिकर यह अर्थ किया है। तब उक्त साहचर्यका यहाँ अवकाश कहाँ ? दूसरी बात यह है कि नञ्का अन्वय जुष्टके साथ और समास आर्यके साथ यह असमर्थ समास है। जिसके साथ अन्वय हो उसीके साथ समास होता है। जहाँ समर्थ समास से विवक्षितार्थ प्रतीत नहीं होता वहाँ सामर्थ्यसे असमर्थ समासकी कल्पना होती है जैसे असूर्यम्पश्या। यहाँ उस प्रकारके समासके विना भी विवक्षितार्थ सिद्ध हो जानेसे न आर्या अनार्यास्तैर्जुष्टम् अर्थात् अनार्योंसे सेवित यही अर्थ गीताका ठीक है।

[प्रश्न—'उवाच मधुसूदनः' यह कहकर फिर 'भगवानुवाच' कहनेमें क्या भाव है, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है ?

उत्तर—मधुनामक दैत्यका नाश करनेके लिए क्रियाशक्ति जैसी अपेक्षित है वैसी अर्जुनको मोहनिवृत्तिके लिये नहीं, यहाँ ज्ञानोपदेशमात्रकी अपेक्षा है। ज्ञान उत्पन्न होकर स्वसत्तामात्रसे मोहको निवृत्ति करता है, उसे दूसरे सहकारीकी अपेक्षा ठीक उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्तिमें प्रदीपको। अतएव मोहनिवृत्तिके उपयोगी ज्ञानशक्तिका प्राचुर्य द्योतित करनेके लिये 'भगवानुवाच' का पुनः कथन है। पहले 'भगवान्' शब्दका निर्वचन इसीलिये किया गया है।

मोक्षशब्दका मोक्षजनकज्ञानमें तात्पर्य है, यह भी कह ही चुके हैं। ज्ञानसे ही अज्ञानात्मक मोहकी निवृत्ति होती है, 'मोक्षकामो हरिं भजेत्' यह स्मृति है। आत्मतत्त्वज्ञानके विना मोक्ष नहीं होता, इस विषयमें 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' यह श्रुति प्रमाण है। हे अर्जुन ! तुम्हें 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादिसे प्रारम्भकर 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहाँतक पूर्वाध्यायमें कथित कश्मल मोह है। यद्यपि साक्षात् तावदुक्त मोह नहीं है, तथापि मोहहेतुक होनेसे मोह कहा गया है। कार्यमें कारणशब्दका औपचारिक प्रयोग भी पाया जाता है। अतएव 'तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' यह न्याय प्रसिद्ध है। 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इस अमरकोशसे मुख्य कश्मलपदार्थ मोह है। विषमे—अनवसरमें यह मोह क्यों प्राप्त हुआ ?

शङ्का—'त्वां' से सम्बोध्य अर्जुनका बोध सिद्ध ही था, फिर 'त्वां अर्जुन' इन दोनोंके उपादानमें क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—तुम नामतः एवं अर्थतः मोहके योग्य नहीं हो, 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इस अमरकोशसे शुद्ध स्वभाववाची अर्जुनशब्द है, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस श्लोककी व्याख्यामें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने कहा है कि अर्जुन शुद्धस्वभावान्तरात्मा विशुद्धान्तःकरण है 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋक् सं० ४।५।११।१) यह श्रुति प्रमाण है। ईदृश नामधारी क्षत्रियश्रेष्ठ तुममें, सूर्यमें अन्धकारके समान, मोह उचित नहीं।

'विषमो दृष्टान्तः' इत्यादि प्रयोग देखने तथा सम-विषम द्वन्द्वसे उक्त शब्द असदृशवाची है, अयुक्तवाची नहीं; तथापि प्रकृतमें मोहोत्पत्तिके असदृश देशकालका बोधक होता हुआ औपचारिक अप्रयुक्तार्थक है। सब कार्य स्वदेशकालमें ही उत्पन्न होते हैं, यह वस्तुस्थिति है। इस समय समरभूमिमें अस्त्रोंसे सज्जित शत्रुगण युद्धके लिये मोर्चेपर डटे हैं, सामने उन्हें देखते हुए तुम्हारा 'न योत्स्ये' यह शब्द तथा इसके अनुकूल बुद्धि इन दोनोंकी उत्पत्ति अयोग्य देशकालमें होनेसे अस्थाने—अयुक्त है। अयुक्तार्थक 'अस्थाने' शब्द सप्तम्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इस प्रकार वह आकस्मिक मोह अत्यन्त अनुचित अतएव शोचनीय है,

इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—'कुतः' से। कहांसे आया? एतादृश तुम्हारा मोह ही शोच्य है। वे शोच्य नहीं हैं जिन वीरोंको तुम सोचते हो। यह भगवान्का अभिप्राय है जो 'अशोच्यान्' इत्यादिसे व्यक्त होगा। 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' से ही लेकर 'विपरीतानि केशव' यहांतक कश्मल ही है। करचरणादिकी शिथिलता मुखशोष, शरीरकम्प आदि कायर पुरुषोंके व्यापार हैं शूरोंमें ये कश्मल ही समझे जायँगे।

मैं युद्ध न करूंगा, यह कायरतासे नहीं, किन्तु स्वजनोंकी हिंसासे व्याकुल होकर कहता हूँ, यदि ऐसा कहें, तो उसका उत्तर देते हैं—'आर्यैः' इत्यादिसे। आर्य आततायिवधके विधिज्ञ इसे अनार्यजुष्ट नहीं मानते क्योंकि आततायी स्वजन हो या अन्यजन वह अवश्य शासनीय है—ऐसा धर्मशास्त्रोंकी मर्यादा है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने भी कहा है–'अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वसुरो मातुलोऽपि वा। नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद् विचलितः स्वकात्॥' (आचार० प्र० १३, श्लोक ३५८)। 'अग्निदो गरदश्चैव' इत्यादिसे आततायीके लक्षण, पृ० ६८ में कह चुके हैं, तदनुसार दुर्योधनादि आततायी हैं। उनको मारनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होकर अर्जुनका 'सीदन्ति मम गात्राणि' यह कहना कश्मल ही है। इस प्रकार 'पापमेवाश्रयेत्' से लेकर 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहांतक तदुक्ति कश्मल ही है।

अस्वर्ग्यम्—स्वर्गविरोधी नरक उसका साधन पाप, जैसा कि आगे लिखा है—'ततः पापमवाप्स्यसि।' अथवा स्वर्ग्य-स्वर्गसाधन और तदन्य अस्वर्ग्य है, इससे युद्ध स्वर्गसाधन है, यह अर्थतः सिद्ध होता है 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' इत्यादिसे इसीका स्पष्टीकरण किया गया है। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' यह भी कश्मल ही है। युद्ध न करनेसे अपने धर्मका त्याग होगा, जो कि अनिष्ट है। युद्ध करनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी, इस प्रकार युद्धसे अनिष्टपरिहार और इष्टप्राप्ति न होनेसे युद्धसे कल्याण नहीं देखते अर्जुनका यह कथन मोहप्रयुक्त ही है।

'अकीर्तिकरम्' इसके भी दो अर्थ हैं, अपकीर्तिकर तथा कीर्तिभङ्गकर। 'आचार्याः पितरः पुत्राः' इत्यादिसे 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' यहांतक कश्मल ही है। यदि आचार्य आदिकोंको मारना अभीष्ट नहीं था, तो युद्धारम्भसे पूर्व युद्धोद्योगसे ही विरत होना चाहता था। यह तो जानी हुई बात थी कि इस समरमें प्रतिभट अवश्य ही रहेंगे। अतिपरिश्रमसे युद्ध प्रस्तुतकर 'ये आचार्य हैं, ये पितामह हैं', 'इन्हें न मारेंगे' आदि कहना अपकीर्तिकर ही है। 'भयाद्रणादुपरतम्' इत्यादि वाक्योंसे यही कहा गया है। देवराजइन्द्र तथा देवाधिदेव श्रीमहादेवसे युद्धकर जो कीर्ति पायी, उसके भङ्ग होनेसे कीर्तिभङ्गकर भी कहा गया है। सारांश यह है कि अर्जुनके सब वाक्य कश्मल ही सिद्ध होते हैं]॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप[1] ॥ ३ ॥

हे अर्जुन, अपनेमें नपुंसकता मत आने दो अर्थात् नपुंसक न बनों, क्योंकि यह तुम्हारे योग्य नहीं है। क्षुद्र हृदयकी दुर्बलता छोड़कर युद्धके लिए तैयार हो जाओ ॥ ३ ॥

ननु बन्धुसेनावेक्षणजातेनाधैर्येण धनुरपि धारयितुमशक्नुवता मया किं कर्तुं शक्यमतः आह—'क्लैब्यम्' इति। क्लैब्यं क्लीबभावमधैर्यमोजस्तेज आदिभङ्गरूपं मा स्म गमो मा गाः। हे पार्थ—पृथातनय ! पृथया देवप्रसादलब्धे तत्तनयमात्रे वीर्यातिशयस्य प्रसिद्धत्वात्पृथा-तनयत्वेन त्वं क्लैब्यायोग्य इत्यर्थः। अर्जुनत्वेनापि तदयोग्यत्वमाह—'नैतदि' ति। त्वयि

बन्धुसेनाके दर्शनसे उत्पन्न अधीरतावश मैं धनुर्धारणमें भी असमर्थ हूँ, अतः मैं कर ही क्या सकता हूँ ? इस शङ्कापर भगवान् समाधान करते हैं—'क्लैब्यम्' इत्यादिसे।

'क्लीबः षण्डो नपुंसके' इस अमरकोशसे क्लीबशब्द नपुंसकार्थक निश्चित है—तद्भाव—उसका भाव अर्थात् धर्म ही क्लैब्य है। अधैर्य, ओज, तेज आदिके भङ्गरूप क्लैब्यको अपनेमें मत आने दो, यह भाव है। हे पार्थ यानी हे पृथातनय...पृथाके पुत्र। कुन्तीका दूसरा नाम पृथा था, उनके द्वारा समाराधित देवताके प्रसादसे प्राप्त उनके पुत्रमात्रमें अत्यधिक पराक्रम प्रसिद्ध है, अतः उनका पुत्र होनेके कारण तुम क्लैब्यके योग्य नहीं हो, यह तात्पर्य है। अर्जुनत्वसे भी तुममें क्लैब्ययोग्यता नहीं, यह कहते हैं 'नैतत्' इत्यादिसे। साक्षात् महादेवजीसे संग्राम करके अपने असाधारण युद्ध-कौशल, उत्साह आदिसे उन्हें सन्तुष्टकर तुमने वर प्राप्त किया था, इस कारण जो संसारमें तुम्हारी प्रतिष्ठा हुई, तदनुसार भी तुममें क्लैब्य आना उचित नहीं है। 'एतत्' विशेषण अर्जुनके क्लैब्यका द्योतक है, यह असाधारण क्लैब्य तुम्हारे योग्य नहीं अर्थात् ऐसे वीर पुरुषमें इसका होना सर्वथा अयोग्य है, यह भाव है।

'न च शक्नोम्यवस्थातुम्' इत्यादि वाक्योंसे मैं अपनी विवशता पूर्वमें ही प्रकट कर चुका हूँ, यदि ऐसी शंका करो, तो उसपर कहते हैं—क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्' से। हृदयकी दुर्बलता यानी मनका भ्रमण आदि

१. 'परमुत्कृष्टं तपो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे परंतप शब्द शुद्ध नहीं होगा, कारण नुम् न होनेसे अनुस्वार नहीं होगा। 'परम्' अव्यय 'किन्तु' अर्थमें है। इसमें यही अरुचि है।

अर्जुने साक्षान्महेश्वरेणापि सह कृताहवे प्रख्यातमहाप्रभावे नोपपद्यते न युज्यते एतत्क्लैब्यमित्यर्जुने... साधारण्येन तदयोग्यत्वनिर्देशः। ननु "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" इति पूर्वमेव मयोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—'क्षुद्रम्' इति। हृदयदौर्बल्यं मनसो भ्रमणादिरूपमधैर्यं [1]क्षुद्रत्वकारणत्वात्क्षुद्रं सुनिरसनं वा त्यक्त्वा विवेकेनापनीयोत्तिष्ठ युद्धाय सज्जो भव। हे परन्तप, परं शत्रुं तापयतीति तथा संबोध्यते हेतुगर्भम् ॥ ३ ॥

अधैर्य क्षुद्रत्वरूपकारणसे[1] क्षुद्र है अर्थात् शक्ति, सहायक आदिके अभावसे क्लैब्य नहीं प्राप्त है, किन्तु तुम्हारे हृदयमें ही क्षुद्रत्व आ गया है, तत्प्रयुक्त क्षुद्र यानी तुच्छ हृदयदौर्बल्यको छोड़कर अथवा क्षुद्र होनेके कारण सरलतासे हटानेके योग्य है, अतः विवेकसे उसे दूरकर हे परन्तप! युद्धके लिये खड़े हो जाओ यानी लड़नेके लिये तैयार हो जाओ। हे परन्तप—शत्रुसन्तापक! यह सहेतुक अन्वर्थ सम्बोधन है। शत्रुतापकविशेषणसे सम्बोधनकर तद्विपरीत आचरण करना सर्वथा अनुचित है, यह तात्पर्य है।

['क्लैब्य' शब्द सदृशपरक है अर्थात् यहाँ वीर्यनाशक मोह ही क्लैब्यके समान होनेसे क्लैब्यशब्दार्थ है। साधारण पुरुषोंमें ही उसके होनेका संभव है। तुममें उसका होना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'पाण्डवानां धनञ्जयः' इत्यादि वाक्योंसे मत्स्वरूपत्वके बोधनसे प्रचुरप्रभावका होना अनिवार्य ही है। यदि कहो कि 'हाँ, ठीक है पर क्या करूँ यह छूटता जो नहीं?' तो हे परन्तप, हृदयका बल विवेक है। वह मोहसे दूषित होता है—'दुष्टं बलं यस्य हृदयस्य तद्दुर्बलं, तस्य भावः दौर्बल्यम्।' अतः मोहका त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ। 'मोह दुर्निवार है, उसका छूटना संभव नहीं' इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये हृदयदौर्बल्यको क्षुद्र कहा गया है। परन्तप—यह मोहनिरासमें हेतु है; शत्रुसन्तापक शत्रुको देखकर क्रोधसे शत्रुसन्तापनमें प्रवृत्त होता है, तुम तो कौरवसन्तापनमें प्रवृत्त होकर भी शत्रुताका हो विस्मरण कर रहे हो यह सर्वथा अनुचित है। कौरवोंने तुम्हारे साथ घोर शत्रुताका व्यवहार किया है, अतः वे तुम्हारे स्वजन नहीं हैं। उन लोगोंने तुम लोगोंके साथ लाक्षागृहदाह, विषदान आदि अनेक अतिदारुण दुःखपूर्ण व्यवहार किये हैं। यदि तुम उन दुर्व्यवहारोंका स्मरण करो, तो स्वजनताका व्यामोह शीघ्र छूट सकता है, अतः उक्त मोहत्यागके लिये शत्रुताका बार-बार अनुसन्धान करो, यह तात्पर्य है]॥ ३ ॥

१. "क्षुद्रत्वकारणत्वात्"में षष्ठी या कर्मधारय दोनों प्रकारका समास सम्भव है। क्षुद्रत्वं च तत् कारणं तस्मात् क्षुद्रत्वकारणात् अर्थात् क्षुद्रत्वके कारणसे। निषादस्थपति—अधिकरणपर दृष्टि डालनेसे यहाँ कर्मधारय समास ही युक्तियुक्त होता है। निषादस्थपत्यधिकरणका तात्पर्य इस प्रकार है। 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' ऐसी श्रुति है। निषादस्थपतिको याग कराना चाहिये। निषाद—शूद्रजाति विशेष, स्थपति—स्वामी। निषादस्थपति शब्दमें कर्मधारय तत्पुरुष बहुव्रीहि तीन प्रकारके समासोंमें कौनसा समास है। इस संशयमें कर्मधारयमें निषादरूपी स्वामी ऐसा अर्थ

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन, रणाङ्गणमें भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ हम बाणों द्वारा कैसे युद्ध कर सकते हैं अर्थात् कदापि नहीं कर सकते क्योंकि हे अरिसूदन, वे दोनों पूज्य हैं॥ ४॥

ननु नायं स्वधर्मस्य त्यागः शोकमोहादिवशात्, किन्तु धर्मत्वाभावादधर्मत्वाच्चास्य युद्धस्य त्यागो मया क्रियत इति भगवदभिप्रायमप्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्याभिप्रायमवतारयति—**'कथम्'** इति।

भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं संख्ये रणे इषुभिः सायकैः प्रतियोत्स्यामि प्रहरिष्यामि कथम्, न कथंचिदपीत्यर्थः। यतस्तौ पूजार्हौ कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ। पूजार्हाभ्यां सह

निश्चय समझिये कि यह स्वधर्म-त्याग शोक-मोहादिसे वशीभूत होकर नहीं कर रहा हूँ, किन्तु यह धर्म नहीं प्रत्युत अधर्म ही है इस कारण युद्धका त्याग कर रहा हूँ, भगवदभिप्राय न जान रहे अर्जुनके इस अभिप्रायका अवतरण करते हैं—**'कथम्'** इत्यादिसे।

भीष्मपितामह और धनुर्विद्याके आचार्य द्रोणाचार्यके ऊपर रणभूमिमें बाणोंसे मैं कैसे प्रहार करूँगा? किसी प्रकार उनपर प्रहार उचित नहीं है, क्योंकि वे दोनों पुष्पोंसे पूजा करनेके योग्य हैं। पूज्य व्यक्तियोंके साथ खेलमें बाणोंसे भी हर्षफलप्रद लीलायुद्ध करना जब अनुचित है, तो फिर समरभूमिमें प्राण-हरणफलवाले बाणप्रहारकी बात ही क्या?, यह भाव है।

माननेमें निषादको वेदाध्ययनके अधिकारकी अपूर्व कल्पना करनी होगी, बहुव्रीहिमें अन्य पदार्थकी कल्पना करनी होगी अतः षष्ठी तत्पुरुष मानना चाहिये।

निषादानां स्थपतिः निषादोंका स्वामी। इस समासमें अपूर्व वेदाध्ययनकी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। निषादोंका स्वामी तदितर विवक्षित है। इस प्रकारके पूर्वपक्ष होनेपर यह निर्णय किया गया कि यहाँ कर्मधारय समास ही है। क्योंकि कर्मधारयसमास-घटक प्रत्येक पदसे उपस्थापित अर्थमात्रका शक्तिग्रहण कर्मधारयमें होता है। षष्ठी तत्पुरुषमें समस्यमान पदार्थसे गौरव होता है। अतएव षष्ठी तत्पुरुष नहीं है। अतः अपूर्व वेदाध्ययनकी कल्पना यद्यपि कर्मधारयमें करनी पड़ती है, तथापि आरंभमें लाघव होनेसे कर्मधारय ही उचित है। यह मीमांसकों-का निर्णय है। तदनुसार क्षुद्रत्वकारण यही अर्थ ठीक है।

क्रीडास्थानेऽपि वाचाऽपि हर्षफलकमपि लीलायुद्धमनुचितम्, किं पुनर्युद्धभूमौ शरैः प्राणत्यागफलकं प्रहरणमित्यर्थः। मधुसूदनारिसूदनेति सम्बोधनद्वयं शोकव्याकुलत्वेन, पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात्। अतो न मधुसूदनारिसूदनेत्यस्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं दोषः। युद्धमात्रमपि यत्र नोचितम्, दूरे तत्र वधः इति प्रतियोत्स्यामीत्यनेन सूचितम्।

अथवा पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि। पूजार्हयोरेव विवरणम्—**'भीष्मं द्रोणं च'** इति। द्वौ ब्राह्मणौ भोजय देवदत्तं यज्ञदत्तं चेतिवत्संबन्धः। अयं भावः—दुर्योधनादयो नापुरस्कृत्य भीष्मद्रोणौ युद्धाय सज्जीभवन्ति। तत्र ताभ्यां सह युद्धं न तावद्धर्मः पूजादिवदविहितत्वात्। न चायमनिषिद्धत्वादधर्मोऽपि न भवतीति वाच्यम्। "गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य[1]" इत्यादिना शब्दमात्रेणापि गुरुद्रोहो यदाऽनिष्टफलप्रदर्शनेन निषिद्धस्तदा किं वाच्यं ताभ्यां सह सङ्ग्रामस्याधर्मत्वे निषिद्धत्वे चेति ॥ ४ ॥

शंका—एक ही श्लोकमें मधुसूदन और अरिसूदन इन दो संवोधनोंका प्रयोग करनेमें क्या तात्पर्य है, अभिमुखीकरण तो एकहीसे सिद्ध था ?

समाधान—शोकजन्य व्याकुलताके कारण पूर्वोत्तरके परामर्शमें वह समर्थ नहीं हो सका, अतः दोनोंका उपादान हुआ है, यह वाक्यविन्यासमें दोष नहीं प्रत्युत गुण ही है, अतः उक्त सम्बोधनरूपसे अर्थमें पुनरुक्तता दोष नहीं आता। यहांपर शब्द तो भिन्न ही है, केवल अर्थमें पुनरुक्तता है जो दोष होनेसे त्याज्य होता, परन्तु शोक-व्याकुलताका पोषक होनेसे यहां वह भी दोष नहीं है, यह भाव है। आमोदार्थं नकली वाग्-युद्ध भी जहाँ मना है वहां वधरूप फलवाला युद्धतो अत्यन्त ही अनुचित है, यह भाव **'प्रतियोत्स्यामि'** से सूचित होता है।

उक्त पूज्योंको छोड़कर दुर्योधनादि शत्रुओंसे युद्ध करो, वे तो तुम्हारे पूज्य नहीं है, इसपर कहते हैं—**'अथवा'** से। दोनोंमें ही पूज्यत्वके लाभका विवरण करते हैं—**'भीष्मं द्रोणं च'** से। 'देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों ब्राह्मणोंको भोजन कराओ' यहांपर देवदत्तादिमें जैसे ब्राह्मणत्वका लाभ होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। उपसंहारके अनुसार ही उपक्रमवाक्यका भी अर्थ होना चाहिए, तद्विरुद्ध नहीं। यदि उपसंहारमें अब्राह्मण देवदत्तादि लेंगे, तो उपक्रमवाक्यसे विरोध स्पष्ट है। इससे प्रकृतमें क्या लाभ हुआ ? यह कहते हैं—'अयं भावः' से दुर्योधन आदि मेरे शत्रु भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यको विना आगे किये युद्धके लिये स्वयं तैयार न होंगे, ऐसी स्थितिमें पूजाके योग्य उन व्यक्तियोंके साथ युद्ध करना धर्म

१. किसीका कहना है कि 'गुरुं हुं कृत्य' इत्यादि मधुसूदनीमें उद्धृत श्लोकका समग्र स्वरूप इस प्रकार है—'गुरुं हुंकृत्य त्वङ्कृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः। गुरुं हुंकृत्य त्वङ्कृत्य विप्रं निर्जित्य

नहीं है, क्योंकि पूजादिके समान वह शास्त्रविहित नहीं है। अनिषिद्ध होनेसे यह अधर्म भी नहीं होगा, ऐसी भी आप आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादि याज्ञवल्क्य-वचनसे जब शब्दमात्रसे गुरुद्रोह अनिष्टफलदायक दिखलाकर त्याज्य माना गया है, तब भला उन लोगोंके साथ किये जानेवाले युद्धमें अधर्मत्व तथा निषिद्धत्वके विषयमें कहना ही क्या ? उसमें अधर्मता और निषिद्धता तो अर्थतः सिद्ध हो जाती है, यह भाव है।

[भीष्म, द्रोणाचार्य आदि जब तुमपर बाणोंसे प्रहार करेंगे, तब क्या करोगे ? यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उसका 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' यही उत्तर है। 'मधुसूदन' इस सम्बोधनसे सूचित होता है कि जैसे आपने भी मधुनामक अत्याचारी शत्रुको मारा था, वैसे ही इस विषयमें मुझे प्रेरित करना उचित है, पूज्य गुरुजनोंके वधके विषयमें मुझे प्रेरित करना आपको शोभा नहीं देता।

इसपर यदि यह शङ्का हो कि मैंने भी तो पूज्य मातुल कंसका वध किया है, अत पूजनीयोंके वधमें मेरी यह प्रेरणा अनुचित नहीं है ? तो इसका समाधान—'अरिसूदन' सम्बोधनसे दिया गया है।

कंस तो आपका जन्मसे ही शत्रु था, अतः उसका वध ठीक है, परन्तु भीष्म, द्रोण तो मेरे वैसे शत्रु नहीं हैं। पिताके देहावसानके बाद इन्होंने हम लोगोंका पितृतुल्य ही पालन-पोषण आदि किया है। द्रोणाचार्यने हमें अपने पुत्र अश्वत्थामा तथा राजपुत्र दुर्योधनादिसे भी अधिक स्नेहसे सरहस्य धनुर्विद्याका उपदेश दिया है, अतः वे पिताजीसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—'स हि तं विद्यातः जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म, शरीरमेव माता-पितरौ जनयतः' इति। और दूसरी बात यह भी है कि द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं, इसलिये उनको भी मार देना अत्यन्त अनुचित है। कारण 'यो ब्राह्मणाय अवगुरेत् तं शतेन यातयात्' यह श्रुति है। 'विप्रं निर्जित्य वादतः' इत्यादि स्मृतिसे जब वादसे भी ब्राह्मणपराजय निषिद्ध है, तो उसके साथ वधफलक युद्धकी कथा ही क्या ? अथवा 'अरिसूदन' यह भिन्न वाक्यांश है, अतः पुनरुक्त दोष नहीं है] ॥ ४ ॥

वादतः। बध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनम्', यह याज्ञवल्क्यस्मृति मधुसूदनीमें विवक्षित नहीं है। क्योंकि इसमें अपमानके फलका निर्देश नहीं है। पर विचार करनेपर यह असङ्गत ही प्रतीत होता है। बिना अनिष्ट फलके तन्निराकरणार्थं गुरुप्रसादपूर्वक एक दिनके उपवासका विधान नहीं हो सकता। अतः प्रायश्चित्तसे ही यह मालूम होता है कि अपमानका अनिष्ट फल है। दृष्ट भी अनेक प्रकारके अनिष्ट फल हैं जिनके निराकरणके लिए गुरुकी

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अतः महानुभाव गुरुजनोंका वध न कर इस लोकमें भिक्षान्न-भोजन करना ही हम अच्छा समझते हैं, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर उनके रक्तसे सने अर्थकामरूप भोगोंको ही तो यहींपर भोगूँगा, मोक्ष तो न पाऊँगा, यह भाव है ॥ ५ ॥

ननु भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं गुरुत्वेनैव, एवमन्येषामपि कृपादीनाम्, न च तेषां गुरुत्वेन स्वीकारः सांप्रतमुचितः, "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ॥ इति स्मृतेः । तस्मादेषां युद्धगर्वेणावलिप्तानामन्यायराज्यग्रहणेन, शिष्यद्रोहेण च कार्याकार्यविवेकशून्यानामुत्पथनिष्ठानां वध एव श्रेयानित्याशङ्क्याऽऽह— 'गुरूनहत्वा' इति । गुरूनहत्वा परलोकस्तावदस्त्येव । अस्मिंस्तु लोके तैर्हृतराज्यानां नो नृपादीनां निषिद्धं भैक्ष्यमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्यतरमुचितम्, न तु तद्वधेन राज्यमपि श्रेय इति । धर्मेऽपि युद्धे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते । ननु—अवलिप्तत्वादिना तेषां गुरुत्वाभावः

जिस प्रकार भीष्म और द्रोण गुरुभावसे ही पूज्य हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य आदि भी। परन्तु इस समय उनमें गुरुभाव स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥' ऐसा स्पष्ट स्मृतिवचन है। अतः इस समय युद्धाहङ्कारसे गर्वित, अन्यायपूर्वक राज्यग्रहणसे द्यूत-क्रीडाद्वारा राज्य छीन लेनेसे दुर्योधनादिके पक्षपाती तथा शिष्यद्रोही (तुम लोग भी तो उनके शिष्य हो, फिर भी तुम लोगोंके द्रोही) होनेसे कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्य (अन्याया-चरणोंसे शिष्यको निवृत्त करना, यह गुरुजनोंका कर्तव्य है, उससे रहित तथा अन्यायमें प्रवृत्त शिष्यादिकी सहायता करना अकर्तव्य है, इससे भी अपराङ्मुख) एवं उत्पथगामी गुरुजनोंका परित्याग करना ही श्रेष्ठ है, इस आशंकापर कहते हैं—'**गुरूनहत्वा**' इत्यादि ।

गुरुजनोंको न मारनेसे परलोक तो होगा ही, इस लोकमें भी उन शत्रुओंके द्वारा राज्य छीन लिये जानेपर हम क्षत्रियोंको निषिद्ध भी भिक्षा-भोजन उससे कहीं श्रेष्ठ है, परन्तु उनका वध करके राज्य

प्रसन्नता आवश्यक है। गुरुके अपमानके फलको अदृष्ट रूपमें ही कल्पना करना अनुचित है। अपमानके प्रत्यक्ष भी अनेक फल होते हैं। परीक्षामें श्रेणी आदि पानेके लिये छात्र अपने गुरुको प्रसन्न करते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार दृष्ट अनिष्ट फलकी उपेक्षामें सरस्वतीजीके तात्पर्यका वर्णन उचित नहीं है। अतः दृष्ट एवं अदृष्ट उभयविध फल अनुमेय कोटिमें विवक्षित रखकर प्रतीक मात्रसे मधुसूदनीमें याज्ञवल्क्यस्मृतिका श्लोक ही संग्राह्य है।

उक्त इत्याशङ्कयाऽऽह—'महानुभावान्' इति। महाननुभावः श्रुताध्ययनतपआचारादि-निबन्धनः प्रभावो येषां तान्। तथा च कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्ते पुण्यातिशयशालिनां नावलिप्तत्वादिक्षुद्रपाप्मसंश्लेष इत्यर्थः। हिममहानुभावानित्येकं वा पदम्, हिमं जाड्यमपहन्तीति हिमह-आदित्योऽग्निर्वा, तस्यैवानुभावः सामर्थ्यं येषां तान्। तथा चातितेजस्वित्वात्तेषा-मवलिप्तत्वादिदोषो नास्त्येव।

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥'

इत्युक्तेः

करना उचित नहीं है। यद्यपि धर्म होनेसे युद्ध ही श्रेय है, भिक्षान्नभोजन नहीं, तथापि धर्म युद्धको भोग-मात्रफलक मानकर तदनुसार उक्त अविवेकसे उस (युद्ध) में पापत्वका आरोप करके ही वैसा कह रहे हैं। यदि शंका हो कि अहंकारादिसे लिप्त होनेसे उनमें गुरुत्व कहां रह गया है, तो इसपर कहते हैं—'महानुभावान्' से। महान् अनुभावः—श्रुत, अध्ययन, तप, आचारादिनिमित्तक प्रभाव है, जिनका उन भीष्मपितामह आदिको। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काल और काम आदिको भी वशमें कर लिया है, उन पुण्यातिशयशाली महानुभावोंमें अवलेप आदि तनिक भी पापका सम्पर्क नहीं है। [उनमें श्रुत, अध्ययन, सदाचार आदि कितना अधिक था, इसका पता तो शरशय्यापर मुमूर्षु अवस्थामें लेटकर महर्षियोंके समक्ष उनके जटिल धर्मविवेक और कितने आख्यानोंके उपदेशोंसे चलता है। 'उत्तरायण कालमें शरीर-त्याग करेंगे' इस प्रतिज्ञाके अनुकूल कालको भी तावत्कालको प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। वे नैष्ठिकब्रह्मचर्यसे ऊर्द्ध्वरेता थे। उनका ज्ञान सूक्ष्म विप्रकृष्टादिविषयक अप्रतिहत था। इसी प्रकार द्रोणाचार्यका भी प्रताप-प्रभाव महाभारतके परिशीलनशील विद्वानोंसे छिपा नहीं है। धर्मातिशयशाली इन महात्माओंमें अवलेपादि स्वल्प भी दोष नहीं था, यह भाव पाठकोंके सामने है।]

अथवा—'हिमहानुभावान्' यह एक ही पद है।—हिमं—अर्थात् जडता, अज्ञता या शीतको—हन्ति नाशयति—जो नष्ट करता है वह—हिमहा—सूर्य अग्नि अथवा हैं, इनके समान सामर्थ्य है, जिनमें ऐसे वे गुरुजन हैं। अतितेजस्वी होनेसे उनमें अवलेप आदि दोषका संभव नहीं है, कारण 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥' यह वचन है। अर्थात् समर्थोंमें धर्मका उलट-फेर देखा गया है तथा उनमें साहस भी देखा गया है। जैसे सर्वभक्षी अग्नि किसीसे दूषित नहीं होती।

ननु यदाऽर्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यम्, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥"

इत्याशङ्क्याऽऽह—'हत्वा' इति । अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणे-नोक्तम् । तुशब्दोऽप्यर्थे । ईदृशानपि गुरून् हत्वा भोगानेव भुञ्जीय, न तु मोक्षं लभेय ।

शङ्का हो कि जब अर्थके लोभी होकर वे युद्धमें सम्मिलित हैं, तब आत्माके बेचनेवाले उनमें पूर्वोक्त माहात्म्य कहाँसे आ सकता है ? स्वयं भीष्मपितामहने युधिष्ठिरके प्रति कहा है—'अर्थस्य पुरुषो दासः' आदि, अर्थात् महाराज, अर्थका दास पुरुष है । अर्थ किसीका दास नहीं है, यह सत्य है, कौरवोंने अर्थसे मुझे बाँध लिया है । इसपर कहते हैं—'हत्वा' से । अर्थके लोभी भी वे मेरी अपेक्षा तो गुरु ही हैं, क्योंकि शिष्य भी तो अर्थलुब्ध है, यह द्वितीय गुरुपदग्रहणका फल है । 'तु' शब्द अप्यर्थक है । ऐसे गुरुओंको मारकर भोगका ही उपभोग करेंगे, मोक्ष तो नहीं पायेंगे, यह भाव है, 'भुज्यन्त इति भोगाः' इस कर्म-व्युत्पत्तिसे निष्पन्न भोगशब्द भोगसाधन रूप, रसादि विषयपरक है । वे भोग इसी लोकमें संभव हैं, परलोकमें नहीं । यहाँ भी वे शुद्ध नहीं, किन्तु रुधिरसे सने हुएके समान अशुचि, अयशपूर्ण, अतएव अत्यन्त निन्दित हैं, यह अर्थ है । जब यहींपर ऐसे हैं तो परलोकमें कितने दुःखकर होंगे, क्योंकि वह लोक तो केवल पुण्यात्माओंका ही है, यह भाव है ।

अथवा गुरुओंको मारकर अर्थकामात्मक भोगोंका ही भोग करेंगे, धर्ममोक्षका नहीं, इससे अर्थ-कामकी सिद्धि हो सकती है, धर्म-मोक्षकी नहीं । अर्थ-कामका भोगमें विशेषण माननेसे यह दूसरा व्याख्यान समझना चाहिये । उक्त दोनों अर्थोंमें कोई विरोध नहीं है, अतः विनिगमनाविरहसे दोनों अर्थोंमें तात्पर्य है ।

[अथवा—'अनार्यजुष्ट' इत्यादि वाक्यसे युद्धनिवृत्तिमें भगवान्ने जो कश्मलत्व घोषित किया है वह नहीं जँचता, क्योंकि गुरुयुद्धनिवृत्तिमें कश्मलत्व नहीं प्रत्युत युद्धमें ही है, यही बात 'महानुभावान्'से कहते हैं । उक्त व्याख्यानसे भीष्मादिमें अतिशयोक्ति स्पष्ट ही है । 'हि' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है । पूजामें बहुवचन किया गया है—'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' ऐसी सम्भ्रममर्यादा है । गुरुजनोंमें, अपनेमें

भुज्यन्त इति भोगा विषयाः, कर्मणि घञ्। ते च भोगा इहैव, न परलोके। इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवावयशोव्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः। यदेहाप्येवम् तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः। अथवा गुरून् हत्वाऽर्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय, नतु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

तथा ईश्वरमें एक वचनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। विशिष्ट गुरुजनोंका वध न कर क्षत्रियोंके लिये यद्यपि भिक्षा समूहसे प्राप्त अन्न निषिद्ध है, तथापि उससे वह कहीं श्रेय अर्थात् अच्छा है।

प्रश्न—भिक्षा न कहकर 'भैक्ष' क्यों कहा गया ?

उत्तर—एक भिक्षासे शरीरयात्रा न हो सके तो-भैक्ष-भिक्षासमूहसे मरना यहाँ तक विधिका अनुग्रह है, इसी आशयसे 'भैक्ष' कहा है। 'मधुसूदन, अरिसूदन' इन दोनों विशेषणोंसे तादृश गुरुजनोंको मारकर अर्थकामात्मक ही भोग मिलेंगे, वे भी परिशुद्ध नहीं, किन्तु रुधिरप्रदिग्ध जो अतिघृणित हैं। वस्तुतः वे अर्थ-काम रुधिरप्रदिग्ध नहीं हैं, तथापि सर्वतोमुख रुधिरप्रवाहके मध्यमें पतित अवश्य हैं, इनका अर्जन-रक्षण उक्त प्रवाहके बिना हो नहीं सकता। अतः उनमें रुधिरप्रदिग्धोक्ति अतिशयोक्ति है, जिसका जुगुप्सितमें तात्पर्य है। फिर भी वे भोग हम सबकी विजय होनेपर ही मिल सकते हैं, क्रियाफल होनेसे पूर्वमें वह [विजय] असर्वज्ञ हमलगोको स्वतः दुर्ज्ञेय है, फिर उसके निश्चयकी आशा ही क्या ? अतः उसमें संशय है। साथ ही यह भी निश्चय नहीं कि हमलोगोंको कौन गुरुतर है ? यदि हमलोगोंकी पराजय हुई तो लेनेके बदले प्राण तक देने पड़ेंगे। इसलिये भी गुरुओंसे युद्ध करना अच्छा नहीं। यहाँपर महानुभाव तादृश गुरुओंको मारकर' इस कथनसे भीष्मादिके साथ युद्ध न करनेमें उक्त **'अनार्यजुष्टत्वादि'** दोष नहीं, यह सिद्ध होता है। ' रुधिरप्रदिग्धान्, 'यदि वा नो जयेयुः' इन दोनों वाक्योंसे युद्धमें अपकीर्तिकरत्व दिखलाया गया है। इससे पूर्वोक्त अपकीर्त्ति दोषका निराकरण हुआ। युद्ध करनेपर यदि विजय प्राप्त हुई, तो 'गुरुओंको मारकर विजय प्राप्त करनेमें इन लोगोंको घृणा नहीं, प्रत्युत गर्व हो रहा है, धिक्कार है इन्हें !' इस प्रकार और यदि विजय न प्राप्त हुई अर्थात् पराजित होकर जीते रहे, तो इन 'मूढ़ निर्लज्जोंको देखो, जो अपनी शक्ति न तौलकर गर्वसे इस युद्धमें प्रवृत्त हुए, आखिर फल भी वैसा ही मिला। इस प्रकार दोनों तरहसे अपकीर्तिकर जनरव होगा। दोनों पक्षोंमें अपकीर्ति तुल्य है, परन्तु युद्धपक्षमें हमारी जय होनेपर वह अपकीर्ति परलोकहानिका हेतु है, अतः अयुद्धपक्षकी अपकीर्ति उससे कहीं अच्छी है। सारांश यह निकला कि भीष्म, द्रोणादिसे युद्ध न करेंगें, इस अर्थमें 'अनार्यजुष्टत्व आदि भगवदुक्त कश्मलत्वादि दोष नहीं है] ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

तथा भिक्षा माँगना और युद्ध करना इन दोनोंमें हम लोगोंके लिए कौन श्रेष्ठ है, यह भी हम नहीं जानते। हम लोग इन शत्रुओंको जीत लेंगें या ये शत्रु ही हमें जीत लेंगे, यह भी हम नहीं जानते। जिन अपने बन्धुओंको मारकर हम जीवित रहनेकी इच्छा भी नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी भीष्म, द्रोण आदि सब संग्राममें सामने आकर खड़े हैं ॥ ६ ॥

ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह—'**न चैतद्विद्मः**' इति। एतदपि न जानीमो भैक्षयुद्धयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठं किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति। इदं च न विद्मः—आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः। उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः। किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव। यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः, किं पुनर्विषयानुपभोक्तुम्। त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि। तस्माद् भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न

क्षत्रियोंको भिक्षा-भोजन धर्मशास्त्रसे निषिद्ध होनेसे अधर्म है और युद्धशास्त्रविहित होनेसे धर्म है, अतः युद्ध ही तुम्मारे लिये अच्छा है, यह आशङ्का कर कहते हैं—'**न चैतद्विद्मः**' से।

यह भी तो हम नहीं जानते कि भिक्षाएं और युद्ध इन दोनोंमें हमलोगोंके लिये कौन श्रेष्ठ है—क्या हिंसारहित होनेसे भैक्ष श्रेष्ठ है, या स्वधर्म होनेसे युद्ध ? युद्ध आरम्भ करनेपर भी हम लोक जीतेंगे, या वे धार्तराष्ट्र—धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि हमलोगोंको जीतेंगे अथवा दोनों बराबर रहेंगे, यह भी हम नहीं जानते। यहाँ साम्यपक्ष यानी दोनों बराबर रहेंगे यह पक्ष अर्थतः प्राप्त हुआ समझना चाहिये। युद्धमें जय और पराजयके समान कहीं सन्धि भी पायी जाती है, पर वह शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, किन्तु अर्थात्—उपलक्षण द्वारा उसको भी समझ लेना चाहिये, यह भाव है। दूसरी बात यह कि प्राप्त भी विजय फलतः हल लोगोंकी पराजय ही होगा अर्थात् दोनोंका फल दुःखमूलक पराजय ही होगा, क्योंकि जिन बन्धुओंको मारकर जीनेकी भी हम इच्छा नहीं करते, फिर उनके विषयोंके उपभोगकी तो बात ही क्या ? वे ही धृतराष्ट्रके पुत्रादि सामने खड़े हैं और उन्हींमें भीष्म, द्रोण आदि भी सब हैं, इस कारण भैक्षसे युद्धमें श्रेष्ठत्व नहीं सिद्ध हुआ, यह अर्थ है।

सिद्धमित्यर्थः। तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणादधिकारिविशेषणान्युक्तानि। तत्र 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम्। अर्थाच्च तदितरदश्रेय इति नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः, 'न काङ्क्षे विजयं कृष्णे'-त्यत्रैहिकफलविरागः, 'अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोरि'-त्यत्र पारलौकिकफलविरागः, 'नरके नियतं वासः'-इत्यत्र स्थूलदेहातिरिक्त आत्मा, 'किं नो राज्यने'-ति व्याख्यातवर्त्मना शमः, 'किं भोगैरि'-ति दमः, 'यद्यप्येते न पश्यन्ती'-त्यत्र निर्लोभता, 'तन्मे क्षेमतरं भवेदि'-त्यत्र तितिक्षा, इति प्रथमाध्यायार्थः ससंन्याससाधनसूचनम्।

इस तरह पूर्वके ग्रन्थसे संसारदोषके निरूपण द्वारा अधिकारीके विशेषण कहे गये हैं। उनमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा'-इत्यादिसे संग्राममें हतपुरुषका परिव्राट्—संन्यासीके समान योगक्षेम है। 'अन्यच्छ्रेयः अन्यदुतैव प्रेयः'[1] इस श्रुतिके अनुसार श्रेयः—मोक्ष दूसरा है, और प्रेयः—स्वर्ग दूसरा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं यह निश्चित होता है। यहाँपर उक्त श्रुतिसिद्ध मोक्षनामक श्रेय कहा गया है। 'श्रेयो निःश्रेयसामृतम्' इस अमरकोशसे भी श्रेयः मोक्षार्थक निश्चित है। तद्भिन्न अर्थात् अश्रेय है, इससे नित्य और अनित्य वस्तुओंका विवेक (भेद) दिखलाया गया है। 'न कांक्षे विजयं कृष्ण' इत्यादि वाक्यसे ऐहिक (इस लोकके) फल-भोगोंमें विराग (रागका अभाव) बतलाया गया है। 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः' यहाँपर पारलौकिक (स्वर्ग आदि) फलभोगोंका विराग और 'नरके नियतं वासः' यहाँ स्थूलदेहसे भिन्न आत्मा बतलाया गया है। 'किन्नो राज्येन गोविन्द' यहाँपर उक्त रीतिसे शम, किं भोगैः' से दम, 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' यहाँ लोभाभाव, और 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहाँ तितिक्षा बतलायी गयी है। इस प्रकार प्रथम अध्यायका वह अर्थ संन्यास-हेतुओंका सूचक है। इस अध्यायमें तो 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि' यहाँ भिक्षाचरणसे उपलक्षित संन्यासका प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रोंमें संन्यासीको विशेष रूपसे भिक्षाका विधान है, इसलिये धर्म द्वारा तदुपलक्षित संन्यास यहाँ विवक्षित है। अब गुरुसमीप गमन बतलाते हैं, क्योंकि संसारके सब दोषोंको अच्छी तरह समझकर संसारसे उपरत और सविधि गुरुसमीप प्राप्त हुएको ही विद्याग्रहणमें अधिकार है।

---

१. प्रेयः इन्द्रिय सुख है किसीने लिखा है, यह ठीक नहीं है। किन्तु प्रेयः से अनित्य सुखमात्र विवक्षित है। अन्यथा स्वाप्निक सुखका संग्रह नहीं होगा। मनके इन्द्रिय न होनेसे मानस सुखमात्र असंगृहीत ही हो जायगा। स्वर्ग सुख-साधन होनेसे सुख पदसे व्यवहृत होता है। 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्।' इससे सुखसाधनमें सुखका व्यवहार स्पष्ट प्रतीत होता है।

अस्मिंस्त्वध्याये 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपी'-त्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः । गुरूपसदनमिदानीं प्रतिपाद्यते, समधिगतसंसारदोषजातस्याततितरां निर्विण्णस्य विधिवद्गुरुमुपसन्नस्यैव विद्याग्रहणेऽधिकारात् ॥ ६ ॥

[यहाँ किसी विद्वान्का कहना है कि न तो यह प्रकरण संन्याससूचनार्थ है और न उक्तविशेषण योग्याधिकारिविशेषणार्थ ही है, कारण संसारसे वैराग्य दो ही कारणोंसे हुआ करता है—एक तो जन्मान्तरीय सुकृतके सुपरिपाकसे विषयके स्वाभाविक दोषोंको देखकर या शास्त्रद्वारा तत्त्वतः समझकर स्वतः इससे उपराम (विराम) होता है, जो मोक्षाधिकारीमें विशेषण है और दूसरा बलवान् अनिष्टप्रद इष्टसाधनसे विराग होता है। जैसे विषमिश्रित मधुरान्नके भक्षणसे तृप्ति होनेपर भी तद्भक्षणसे अनिष्ट ही परिणाम होगा। यह विराग संसारी मनुष्यमात्रको होता ही है। वह मुमुक्षुका विशेषण नहीं है। प्रथम वैराग्य निरुपाधिक कहलाता है और दूसरा सोपाधिक। यहाँपर शम, दम, विवेक आदि जितने विशेषण अर्जुनमें कहे गये हैं, वे सबके सब सोपाधिक हैं, निरुपाधिक कोई भी नहीं। ऐसे वैराग्य आदि सभीको होते ही रहते हैं। देखिये—'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्' यहाँपर ऐहिक-आमुष्मिक फलभोगोंसे विराग स्पष्टतः सोपाधिक है, यहाँपर परिणाम इन्द्रियोंका पोषक शोक स्पष्टरूपसे सोपाधिक कहा गया है। इसी तरह 'न कांक्षे विजयं कृष्ण', 'किन्नो राज्येन गोविन्द', 'येषामर्थे काङ्क्षितं नो' (स्वजनार्थं ही मेरी राज्याकांक्षा है, उनके निधन होनेपर राज्य लेकर क्या करेंगे) इत्यादिसे स्पष्ट है कि अर्जुनका यह वैराग्य बन्धुवर्गके वधरूप उपाधिसे युक्त है। 'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः, कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः' इत्यादिसे भी कुलक्षयकृत उपाधिसे युक्त ही निर्लोभता कही गयी है। 'तन्मे क्षेमतरम्' तथा 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' इत्यादि उपक्रमसे 'धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः' इत्यादिमें धार्तराष्ट्रग्रहणसे स्वजनकर्तृक वधोपाधिक ही तितिक्षा है, दूसरेको मारनेमें तितिक्षा भाव स्पष्ट है। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि', 'हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव' इत्यादिमें भी गुरुवधनिमित्तक ही भिक्षामें उत्तमत्व कहा गया है। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' से भी लेकर 'हत्वा स्वजनमाहवे' इस उपसंहारसे भी स्वजनवधोपाधिक ही संन्यासीके समान योगक्षेम कहा है। इस प्रकार सब विशेषण सोपाधिक ही कहे हैं, निरुपाधिक नहीं। वे सोपाधिक वैराग्य आदि ज्ञानाधिकारीके विशेषण नहीं हो सकते, यह शास्त्रका निष्कर्ष है। अन्यथा स्वजनेष्टमरणादिनिमित्तक वैराग्य आदि सबको होते ही हैं, ये वैराग्य आदि उनके व्यावर्तक न होनेसे अधिकारिविशेषण हो ही नहीं सकेंगे, कारण इतरव्यावर्तक ही विशेषण सार्थक माना जाता है। यदि कहें कि संसारीको उक्त कारणोंसे जो वैराग्य आदि उत्पन्न होते हैं वे अज्ञानमूलक तथा क्षणिक हैं। अर्जुनका वैराग्य तो उससे कहीं विलक्षण है, तो वह भी ठीक नहीं, कारण अर्जुनका वैराग्य भी अज्ञानमूलक है अतएव क्षणिक ही है। इस अंशमें दोनोंमें वैलक्षण्य नहीं है। इसीलिये भगवान् आत्मतत्त्वका उपदेशकर अर्जुनका अज्ञान निवृत्त किया है, अज्ञानकी निवृत्ति

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

भगवन्, ये मेरे बन्धु-बान्धव है, इन सबोंके मर जानेपर मैं अकेला जीकर ही क्या करूंगा—इत्याकारक अभिनिवेशरूप ममता दोषसे मेरा युद्धोद्योगरूपी क्षात्र स्वभाव तिरस्कृत हो गया है तथा धर्मके विषयमें कोई निर्णायक प्रमाण न मिलनेसे मेरा चित्त नानाविध संशयोंसे व्याप्त हो गया है। इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि आत्यन्तिक परम पुरुषार्थभूत जो फल हो, वह मुझसे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, अतः शरणागत मुझे आप शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

तदेवं भीष्मादिसंकटवशात् 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति श्रुतिसिद्धभिक्षाचर्येऽर्जुनस्याभिलाषं प्रदर्श्य विधिवद्गुरूपसत्तिमपि तत्संकटव्याजेनैव दर्शयति—'कार्पण्य०' इति। यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते, स कृपण इति लोके प्रसिद्धः। तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति, स कृपणः' इति श्रुतेः। तस्य भावः कार्पण्यमनात्माध्यासवत्त्वं तन्निमित्तोऽस्मिन्जन्मन्येत एव

होनेसे उक्त सोपाधिक वैराग्यादि भी 'कारणनिवृत्ति' न्यायसे निवृत्त हो गये। अतः देवासुरसंपद्विभाग के अवसरमें 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिसे प्रस्तुतकर 'दैवीसंपद्विमोक्षाय' इत्यादि दैवीसंपत्तिको अधिकारीका विशेषण बतलाकर 'मा शुचः संपदं दैवीमभिजातस्य पाण्डव' यह जो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति कहा है, वही अधिकारी निरूपणपरक है। यहाँ ज्ञानोपदेशके क्रममात्रसे अर्जुनके शोकमोहोत्पत्तिका प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त दोनों पक्षोंमें विद्वानोंको जो उचित प्रतीत हो, उसे वे मानें। यह तो स्पष्ट है कि श्रीमधुसूदन सरस्वतीका लेख शङ्करभाष्यव्याख्यानका भाव व्यञ्जक होनेसे तदनुसारी है। इस विषयपर हम विशेष आगे कहेंगे] ॥ ६ ॥

इस प्रकार भीष्मादिसंकटसे अर्थात् भीष्मादि गुरुजनोंके वधके बिना न प्राप्त होनेवाले राज्य-सुख-भोग आदिको छोड़कर, 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस श्रुतिसे सिद्ध भिक्षाशनमें अर्जुनकी रुचि दिखलाकर शास्त्रविधानानुसार उसका गुरुसमीपगमन भी उक्त संकटके व्याजसे ही दिखलाते हैं—'कार्पण्य' इत्यादिसे। जो तनिक भी अपने धनकी हानि नहीं सहता, वही कृपण होता है। इसमें 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति, स कृपणः' यह श्रुति प्रमाण है। कृपणका भाव (प्रकारीभूत असाधारण धर्म) कार्पण्य है। अनात्मभूत शरीरादिमें आत्माका अध्यास अर्थात् शरीरादिको ही आत्मा मानना

मदीयास्तेषु हतेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममतालक्षणो दोषस्तेनोपहतस्तिरस्कृतः स्वभावः क्षात्रो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य स तथा। धर्मे विषये निर्णायकप्रमाणादर्शनात्संमूढं किमेतेषां वधो धर्मः किं मे (किं वै) तत्परिपालनं धर्मः। तथा किं पृथिवीपरिपालनं धर्मः, किं वा यथावस्थितोऽरण्यनिवास एव धर्म इत्यादिसंशयैर्व्याप्तं चेतो यस्य स तथा। 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यत्र व्याख्यातमेतत्। एवंविधः सन्नहं त्वामिदानीं पृच्छामि। श्रेय इत्यनुषङ्गः। अतो यन्निश्चितमैकान्तिकमात्यन्तिकं च श्रेयः परमपुमर्थभूतं फलं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि। साधनानन्तरमवश्यंभावित्वमैकान्तिकत्वम्, जातस्याविनाश आत्यन्तिकत्वम्। यथा ह्यौषधे कृते कदाचिद्रोगनिवृत्तिर्न भवेदपि, जाताऽपि च रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते, एवम्

कार्पण्य है, तद् हेतुक (कृपणतासे जन्य) इस जन्ममें ये ही मेरे हैं, इनके मारनेपर जीवनसे लाभ ही क्या ? इस प्रकार ममतारूप हठ ही दोष है, उससे उपहत (अभिभूत) है—स्वभावः क्षात्रः युद्धोद्योगलक्षणं यस्य सः—युद्धोद्योगस्वरूप क्षत्रियस्वभाव है जिसका, वह। तथा धर्मविषयमें निश्चायक प्रमाण न देखनेसे संमूढ़ (अप्रबुद्ध) है 'क्या इनके विनाशमें धर्म है या रक्षामें, एवं क्या पृथिवीका परिपालन धर्म है वा पहिलेके समान वननिवास ही धर्म है' इत्यादि सन्देहोंसे व्याप्त (भरा) है चित्त जिसका वह। न चैतद्विद्मः' इत्यादि वाक्यसे इसका पहले ही व्याख्यान हो चुका है कि 'युद्ध करना या न करना' इन दोनोंमें हम लोगोंके लिये श्रेष्ठ (लाभदायक) कौन है, यह भी संशय है। इस तरहका होकर यानी जब कि मेरा क्षात्रधर्म कार्पण्य दोषसे अभिभूत हो गया है और मेरा चित्त भी धर्मविषयक विचारमें सन्देहसे व्याप्त हो गया है तब मैं आपसे पूछता हूँ कि इनमें कौनसा श्रेय है ? यहाँ भी श्रेयकी अनुवृत्ति है। अतः जो असंदिग्ध, ऐकान्तिक, और आत्यन्तिक श्रेय यानी परम पुरुषार्थभूत फल हो वह मुझसे कहिये। अवश्यंभावी साधनानन्तर का नाम ऐकान्तिक है तथा उत्पन्न हुए का सर्वथा अविनाश ही आत्यन्तिक है। जैसे—औषध करने पर भी कभी रोगनिवृत्ति नहीं होती, निवृत्ति हुई भी तो फिर रोग होनेसे वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् उक्त विनाश आत्यन्तिक नहीं है। इसी प्रकार परलोकके फलोंमें भी योग करने पर भी प्रतिबन्धके प्रभावसे स्वर्ग नहीं भी होता है[1] और यदि स्वर्ग हुआ भी तो वह दुःखमिश्रित तथा विनाशी

---

१. शंका—तब तो वेदप्रामाण्य ही भङ्ग हो जायगा ?

समाधान—नहीं, प्रतिबन्धक न रहनेपर ही यागसे स्वर्ग होता है, यही वेदका तात्पर्य है। अथवा प्रारब्ध कर्मके प्रतिबन्धक रहनेसे यागोत्तर कालमें सद्यः स्वर्ग नहीं होता, किन्तु भोगादिसे उक्त प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर कालान्तरमें स्वर्ग होता है।

कृतेऽपि यागे प्रतिबन्धवशात्स्वर्गो न भवेदपि, जातोऽपि स्वर्गो दुःखाक्रान्तो नश्यति चेति नैका-न्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा तयोः। तदुक्तम्—

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्' ॥ इति।
'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' ॥ इति च।

ननु त्वं मम सखा, न तु शिष्योऽत आह—'शिष्यस्तेऽहम्' इति। त्वदनुशासनयोग्य-त्वादहं तव शिष्य एव भवामि, न सखा, न्यूनज्ञानत्वात्। अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि—शिक्षय, करुणया न त्वशिष्यत्वशङ्कयोपेक्षणीयोऽहमित्यर्थः। एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा-भिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्," "भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति" इत्यादिगुरूपसत्तिप्रतिपादकः श्रुत्यर्थो दर्शितः ॥ ७ ॥

ही रहता है। अतः ये दोनों ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं हैं। यही सांख्यकारिकामें भी कहा गया है—'दुःखत्रये'[1] इत्यादि।

तुम तो मेरे सखा हो शिष्य नहीं, यह शंका कर कहते हैं—'**शिष्यस्तेऽहम्**' से। चूँकि आपके अनुशासनके योग्य हूँ, इसलिए आपका मैं शिष्य ही हूँ—शिक्षा देनेके योग्य हूँ, सखा नहीं, क्योंकि मेरा ज्ञान न्यून है। अतः उपदेशयोग्य, प्रपन्न, शरणागत मुझको दया करके श्रेयसाधन ज्ञानका उपदेश दीजिए; शिष्य नहीं है, इस दृष्टिसे मेरी उपेक्षा न कीजिये। इससे 'तद्विज्ञानार्थम्' इत्यादि मूलस्थ श्रुति-कथित गुरुसमीपगमनका प्रकार दिखलाया गयाहै।

[शंका—यहाँ स्वामीजीके अर्थमें आक्षेप यह होता है कि धर्मविवेकमें संमूढचित्त यानी पूर्वोक्त ('क्या इनका वध करना धर्म है अथवा परिपालन' इत्यादि) संशयसे आक्रान्तचित्त में (अर्जुन) इस समय कल्याण (श्रेयः) पूछता हूँ, अतः यद्धेतुक आत्यन्तिक-ऐकान्तिक श्रेयः परमपुरुषार्थ मोक्षफल हो वह हमसे कहिये, यह अर्जुनका प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मविषयक सन्देहवान् मैं श्रेय (परम पुरुषार्थ)

---

१. तीन दुःख ये हैं—(१) आध्यात्मिक, (२) आधिदैविक और (३) आधिभौतिक। आत्ममनोयोगसे ही उत्पन्न होनेवाला, विषयदोषदर्शन समुत्पन्न, आत्मस्वरूपाज्ञानहेतुक, सांसारिक भोगविरागफलक दुःख प्रथम (आध्यात्मिक) है। ग्रहादिके आवेशसे जनित दुःख द्वितीय (आधिदैविक) है। पशु, सर्प आदिसे समुत्पन्न दुःख तृतीय (आधिभौतिक) है।

पूछता हूँ, यह असम्बद्ध प्रश्न है। यद्विषयक सन्देह होता है, तन्निर्णयार्थं तद्विषयक ही प्रश्न होता है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। उक्त प्रश्न 'अन्यद्भुक्तम्, अन्यद्वान्तम्' इस न्यायके समान है ?

समाधान—ठीक है, यहाँ धर्मशब्द 'धारयतीति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मपरक है। ब्रह्मविषयक मोहसे हुए प्रश्नमें ब्रह्मप्राप्तिसाधनोपदेशविषयक भगवदुक्ति भी ठीक है, यह भी समाधान-आभास है। क्योंकि पूर्वमें 'क्या इनका वध धर्म है, या परिपालन' इत्यादि विशेषोक्तिसे स्पष्ट है कि धर्मशब्द उक्तार्थमें रूढ है, यौगिक नहीं, 'रूढिर्योगमपहरति' यह न्याय भी रूढि अर्थके ग्रहणमें अनुकूल है। यदि यही अभिप्राय होता, तो 'ब्रह्मसंमूढचेता' ऐसा ही पाठ होता। अतः स्वामीजीका अभिप्राय यह है कि धर्म दो प्रकारके होते हैं, एक साभिसन्धि और दूसरा निरभिसन्धि। प्रथमका कर्मविधायकवाक्योक्त ही फल है, दूसरेका अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्ति फल है। अतः यदि गुरु आदिका वध धर्म हो, तो दृष्टफललिप्सारहित होकर करनेसे मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः उक्तधर्मविषयक मोह कहाँ ? भगवद्वाक्यसे यह सूचित होता है कि निरभिसन्धि सब वर्णाश्रम धर्मोंसे परम्परया मोक्ष होता है, अतएव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुति संगत होती है।

प्रश्न—अच्छा, तो विजयार्थं युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनके मोक्षविषयक प्रश्नका अवसर ही कहाँ है ?

उत्तर—पूर्वजन्मके पुण्यसे परिपूत-अन्तःकरणवाला, सद्वंशप्रसूत और सदाचारपरायण पुरुषकी कर्मप्रवृत्तिके समय इसपर दृष्टि पड़ती है, कि इस कर्मका परिणाम (फल) क्या होगा ? क्योंकि आरम्भमें अमृतोपम और परिणाममें विषोपम फलमें वे प्रवृत्त होनेकी इच्छा नहीं रखते। सब कर्मोंसे अन्तमें मोक्ष ही लिलक्षयिषित रहता है और जब ऐसे पुरुषधौरेयका पथप्रदर्शक भगवान् हैं, तो मोक्षप्राप्तिका पूरा अवसर है। इसलिये उस समयमें श्रेयःप्राप्तिविषयक प्रश्न ही का अवसर है, अतः वही पूछा गया है।

इन तीनोंमें अवाञ्छित सम्बन्धसे इनके निवर्तक साधनकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) होती है। इच्छा प्रवृत्तिका कारण है। तदनन्तर तदुपायोंकी खोज होती है। शंका हो कि खोजकी आवश्यकता ही क्या ? तदुपाय-बोधक शास्त्र तो स्पष्ट ही हैं। जैसे—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ प्रभृति अध्यात्मशास्त्र आध्यात्मिक दुःखके निवर्तक हैं, आधिदैविक दुःखनिवृत्तिके लिये मणि, मन्त्र, ग्रहशान्ति आदि बोधक ज्यौतिष-तन्त्रशास्त्र प्रसिद्ध हैं, तथा आधिभौतिक दुःखनिवृत्तिके लिये निर्बाधस्थानमें निवास आदि बोधक धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद प्रसिद्ध हैं, साथ ही वे सुकर भी हैं, इनमें अधिक श्रम नहीं है, तो इसका निराकरण करते हैं—'न' से। निषेधमें हेतु है। दुःखादिका ऐकान्तिकाद्यभाव। उक्त अभाव लौकिक-वैदिक दोनों उपायोंसे नहीं हो सकता, किन्तु व्यक्त महदादि और अव्यक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा आत्माके विवेक-साक्षात्कारसे हो होता है। विशेष 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' आदिमें देखिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥ ८ ॥

पृथिवीपर शत्रुरहित एवं सम्पत्तिशाली राज्य तथा देवताओंके स्वामित्वको प्राप्त कर लेनेपर भी मैं उन उपायोंको नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले शोकको नष्ट कर सकें ॥ ८ ॥

ननु स्वयमेव त्वं श्रेयो विचारय, श्रुतसंपन्नोऽसि किं परशिष्यत्वेनेत्यत आह—'न हि प्रपश्यामि' इति।

यच्छ्रेयः प्राप्तं सत् कर्तृ मम शोकमपनुद्यादपनुदेन्निवारयेत्तन्न पश्यामि। हि यस्मात्तस्मान्मां शाधीति 'सोऽहं भगवः शोचामि, तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इति श्रुत्यर्थो दर्शितः। शोकानपनोदे को दोष इत्याशङ्क्य तद्विशेषणमाह—'इन्द्रियाणामुच्छोषणम्' इति। सर्वदा संतापकरमित्यर्थः। ननु युद्धे प्रयतमानस्य तव शोकनिवृत्तिर्भविष्यति, जेष्यसि

अथवा—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इस वचनसे कर्मादि मोक्षसाधन नहीं है, यह सिद्ध होता है। 'तमेतमित्यादिवाक्यसे तथा 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'। इस सूत्रसे कर्म मोक्षसाधन कहा गया है। अतः कर्म मोक्षसाधन है या नहीं, इस सन्देहसे मूढचित्त मैं पूछता हूँ कि जो श्रेयःसाधन हो, उसे कहिये। कर्म मोक्षसाधन है, इस पक्षमें भी अनेक मत हैं। कर्म अन्तःकरणशुद्धिद्वारा मोक्षहेतु है साक्षात् नहीं, यह एक मत है, और दूसरा ज्ञानकर्मसमुच्चयसे मोक्ष होता है, एकैकसे नहीं। समुच्चय में भी होता है। यह तीसरा मत है। ज्ञानप्रधान समुच्चय, कर्मप्रधान समुच्चय, उभयप्रधान समुच्चय, इत्यादि। इन सबका विशेषरूपसे निर्णय करनेसे ग्रन्थ अधिक बढ़ जायगा और प्रकृतमें उसके विवेचनका उपयोग भी नहीं है। केवल संशय ही अपेक्षित है, वह उक्त प्रकारसे लब्ध हो जाता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि स्वामीजीके अर्थमें उक्त आक्षेप ठीक नहीं है] ॥ ७ ॥

तुम श्रुताध्ययनसे सम्पन्न हो, तो स्वयं अपना कल्याण विचारो, दूसरेका शिष्य क्यों बनते हो, इस शंकापर कहते हैं—'न हि प्रपश्यामि' इत्यादिसे। युद्धसे प्राप्त जो कल्याण मेरे शोकोंको दूर करेगा उस कल्याणको मैं नहीं देख पाता, इसी कारण मेरी ऐसी स्थिति हुई है। अतः मुझे उपदेश दीजिये। इस कथनसे 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इस श्रुतिका अर्थ दिखलाया गया है।

शोक दूर न होनेमें दोष क्या है, इस प्रकार शंका करके शोकके विशेषणसे समाधान करते हैं—'इन्द्रियाणाम्' से। इन्द्रियोंको अत्यन्त सुखानेवाला जो शोक होगा, वह सदा सन्तापकारी रहेगा, यह अर्थ है। युद्धव्यापारमें मनोयोग देनेसे वह शोक निवृत्त हो जायगा। यदि उस समरमें विजयी होंगे, तो

चेत्तदा राज्यप्राप्त्या, इतरथा च स्वर्गप्राप्त्या "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" इत्यादिधर्मशास्त्रादित्याशङ्कयाऽऽह—'अवाप्य' इत्यादिना। शत्रुवर्जितं सस्यादिसंपन्नं च राज्यम्, तथा सुराणामाधिपत्यं हिरण्यगर्भत्वपर्यन्तमैश्वर्यमवाप्य स्थितस्यापि मम यच्छोकमपनुद्यात्तन्न पश्यामीत्यन्वयः। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इति श्रुतेः, 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यनुमानात्प्रत्यक्षेणाप्यैहिकानां विनाशदर्शनाच्च नैहिक आमुत्रिको वा भोगः शोकनिवर्तकः, किन्तु स्वसत्ताकालेऽपि भोगपारतन्त्र्यादिना, विनाशकालेऽपि विच्छेदाच्छोकजनकः एवेति, न युद्धं शोकनिवृत्तयेऽनुष्ठेयमित्यर्थः। एतेनेहामुत्रभोगविरागोऽधिकारिविशेषणत्वेन दर्शितः॥ ८॥

राज्यप्राप्तिसे वह दूर होगा, अन्यथा स्वर्गप्राप्तिसे [मरना अशुभसूचक है, इसलिये 'युद्धमें मरनेपर' यह न कह 'इतरथा' कहा गया है] कारण धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ'—युद्धमें सम्मुख मरनेवाले वीरोंको स्वर्ग मिलता है, इस शंकापर कहते हैं—'**अवाप्य**' से। जीवित रहनेपर तुम्हारी पराजय असंभव है, शत्रुशून्य निष्कण्टक धन-धान्यादिसम्पन्न विशालराज्य, देवताओंका यह स्वामित्व तथा हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) पर्यन्त ईश्वरत्व प्राप्तकर स्थित भी मेरे शोकको जो निवृत्त करेगा, उसे नहीं देख रहा हूँ—यह अन्वयार्थ है। ['अवाप्य' यहाँ ल्यप् है, यह ल्यप्-आदेश समानकर्तृक धातुद्वयघटित वाक्यघटक अनञ्पूर्वक समस्तपूर्वधातुसे निष्पन्न क्त्वाके स्थानमें होता है। प्रकृतमें उत्तरमें कोई धातु न देखकर 'स्थितस्य' का अध्याहार किया गया है।] जैसे इस लोकमें कर्म-व्यापारसे किया गया कृषि आदि क्षीण होता है वैसे ही परलोकमें पुण्यचित स्वर्गादि भी क्षीण होता है—यह 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि मूलोद्धृत श्रुतिका अर्थ है। 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य चिरस्थायी अमृतत्वमें है, मुख्य अमृतत्वमें नहीं। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' इत्यादि श्रुतिसे कर्म मुक्तिसाधन नहीं हैं, यह निश्चित होता है। इस श्रुत्यर्थमें संवादार्थ अनुकूल अनुमान भी है, जो इस प्रकार है—जो क्रियासे उत्पन्न है, वह कृतक है और वह सर्वदा अनित्य होता है, वह घटादिवद्विनाशी है।

[शंका—ध्वंस भी कार्य है, परन्तु वह विनाशी नहीं है। ऐसी स्थितिमें आपका यह अनुमान व्यभिचरित हुआ ?

समाधान—'भावत्वे सति कार्यत्वम्' यह अनित्यत्वमें हेतु है। अतः अभावात्मक ध्वंसमें व्यभिचार नहीं है। कतिपय विद्वान् ध्वंसको भी विनाशी मानते हैं, अतः उनके मतमें भावत्व विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं है। इसलिये स्वामीजीने भी इसकी चर्चा नहीं की।]

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

निद्राके विजयी परन्तप अर्जुन सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर फिर मैं युद्ध न करूँगा, यह सर्वज्ञ भगवान्से कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तदनन्तरमर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायाम्—सञ्जय उवाच—'एवमुक्त्वा' इति । गुडाकेशो जितालस्यः परंतपः शत्रुतापनोऽर्जुनो हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामिणं गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञमादावेवं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना युद्धस्वरूपायोग्यतामुक्त्वा तदनन्तरं 'न योत्स्य' इति युद्धफलाभावं चोक्त्वा तूष्णीं बभूव बाह्येन्द्रियव्यापारस्य युद्धार्थं पूर्वं कृतस्य निवृत्त्या निर्व्या-

---

उक्त श्रुति और अनुमानसे तथा प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी यानी लौकिक कृत्रिम घटादि प्रत्यक्षतः विनाशी देखा जाता है, इसलिए भी न यहाँ और न परलोकका ही भोग शोकनिवर्तक है, अपि तु भोग अपने स्थितिकालमें भी विषय-पारतन्त्र्य आदिसे तदुत्कर्ष-निकर्षतारतम्यसे और विनाशकालमें भी वियोग होनेके कारण शोकजनक ही है तन्निवर्तक नहीं। अतः शोकनिवृत्तिके लिये युद्ध करना ठीक नहीं है, यह अर्थ है। इससे पारलौकिक फलभोगविराग भी, जो मुमुक्षुमें विशेषण है, अर्जुनमें है—यह स्फुट किया गया। निष्कर्ष यह है कि आप ही उक्त शोकको हटानेमें समर्थ हैं, दूसरा नहीं, अतः उपदेश दीजिये ॥ ८ ॥

इसके बाद अर्जुनने क्या किया ? इस प्रकार धृतराष्ट्रकी जिज्ञासाका सञ्जय समाधान करते हैं—'एवमुक्त्वा' इत्यादिसे। 'गुडाकाया ईशः—गुडाकेशः'—गुडाकाके तीन अर्थ हैं—निद्रा, आलस्य और पिण्डित केश। इन तीनों अर्थोंका विशेषणविधया समावेश अर्जुनमें है। यहाँ आलस्य अर्थ मानकर अर्जुनको जितालस्य कहा है। परन्तप—वैरिसन्तापक अर्जुन। हृषीकेश—सब इन्द्रियोंके प्रवर्तक सर्वान्तर्यामी। गोविन्द—गो अर्थात् वेदवाणी, उसके ज्ञाता। 'गां विन्दति इति गोविन्दः' इस व्युत्पत्तिसे सब वेदोंके उपादान कारण, अतएव सर्वज्ञ भगवान्से प्रथम 'भीष्म आदिको संग्राममें मैं कैसे मारूँगा' इस तरह युद्धको अकर्तव्य कहकर और उसके बाद—'न योत्स्ये'—युद्ध न करूँगा, इससे युद्धको निष्फल कहकर चुप हो गये यानी युद्धार्थं पूर्वमें जो बाह्य कर-चरणादि इन्द्रियोंका व्यापार किया था उसकी निवृत्तिके साथ वे निर्व्यापार हो गये। पूर्ववत् युद्धोपयिक व्यापारशील नहीं रहे, यह तात्पर्य है। स्वभावसे स्वतः आलस्यविजयी तथा शत्रुतापक अर्जुनमें आगन्तुक—कादाचित्क आलस्य तथा अतापकत्व कभी स्थान

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भारत, दोनों सेनाओंके बीचमें विषाद कर रहे अर्जुनसे हृषीकेश भगवान् हँसते हुएसे—यह वचन बोलने लगे॥ १०॥

पारो जात इत्यर्थः। स्वभावतो जितालस्ये सर्वशत्रुतापने च तस्मिन्नागन्तुकमालस्यमतापकत्वं च नाऽऽस्पदमाधास्यतीति द्योतयितुं ह-शब्दः। गोविन्द-हृषीकेशपदाभ्यां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वसूचकाभ्यां भगवतस्तन्मोहापनोदनमनायाससाध्यमिति सूचितम्॥ ९॥

एवं युद्धमुपेक्षितवत्यप्यर्जुने भगवान्नोपेक्षितवानिति धृतराष्ट्रदुराशानिरासायाऽऽह— 'तमुवाच' इति। सेनयोरुभयोर्मध्ये युद्धोद्यमेनाऽऽगत्य तद्विरोधिनं विषादं मोहं प्राप्नुवन्तम् तमर्जुनं प्रहसन्निवानुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानिदं वक्ष्यमाणमशोच्यानित्यादिवचः परमगम्भीरार्थमनुचिताचरणप्रकाशकमुक्तवान्न तूपेक्षित-

---

नहीं पा सकता। इसको स्फुट करनेके लिये 'ह' शब्द कहा है। सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्वके सूचक 'गोविन्द' और 'हृषीकेश' इन पदोंसे भगवान्के लिए अर्जुनका मोहनिराकरण अनायास साध्य है, यह सूचित होता है।

[अथवा 'ह' शब्द आश्चर्यका द्योतक है। भगवान्के इतने समझानेपर भी अर्जुन राज्यप्राप्तिके कामुक नहीं हुए, यही आश्चर्य है। किसीका यह मत है कि 'परमुत्कृष्टं[१] तपो यस्य सः, परन्तपः' इस व्युत्पत्तिसे अतितपस्वीका बोधक उक्त (परन्तप) शब्द यहाँ विवक्षित है, शत्रुतापक नहीं और वह भी धृतराष्ट्रमें विशेषण है (संबोधन है।) आप धृतराष्ट्र अतितपस्वी, धन्य हैं, जिनके सम्बन्धी धर्मविमुख और अन्यायके पक्षपाती होनेपर भी श्रीकृष्णके सामने जीवन त्यागकर कृतार्थ होंगे, यह अभिप्राय सूचित होता है। अतएव 'पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य' (३।२।२०) यह भागवत वचन संगत होता है]॥ ९॥

'इस प्रकार युद्धकी उपेक्षा करनेवाले अर्जुनकी भगवान्ने भी उपेक्षा की होगी' धृतराष्ट्रकी इस दुराशाके निवृत्त्यर्थ सञ्जयने कहा—'सेनयोरुभयोः' इत्यादि। युद्धोत्साहसे दोनों सेनाओंके बीच आकर युद्धोद्योगादिके विरोधी विषाद और मोहको प्राप्त हुए अर्जुनके प्रति परिहास करते हुए-जैसे अर्थात्

---

१. 'परमुत्कृष्टं तपो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे परन्तप शब्द शुद्ध नहीं होता, कारण 'मुम्' न होनेसे अनुस्वार नहीं होगा। 'परं' अव्यय 'किन्तु' अर्थमें है।

वानित्यर्थः । अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जोत्पादनं प्रहासः । लज्जा च दुःखात्मिकेति द्वेषविषये एव स मुख्यः । अर्जुनस्य तु भगवत्कृपाविषयत्वादनुचिताचरणप्रकाशनस्य च विवेकोत्पत्तिहेतुत्वादेकदलाभावेन गौण एवायं प्रहास इति कथयितुमिवशब्दः । लज्जामुत्पादयितुमिव विवेकमुत्पादयितुमर्जुनस्यानुचिताचरणं भगवता प्रकाश्यते । लज्जोत्पत्तिस्तु नान्तरीयकतयाऽस्तु, माऽस्तु वेति न विवक्षितेति भावः । यदि हि युद्धारम्भात्प्रागेव गृहे स्थितो युद्धमुपेक्षेत, तदा नानुचितं कुर्यात् । महता संरम्भेण तु युद्धभूमावागत्य तदुपेक्षणमतीवानुचितमिति कथयितुं सेनयोरित्यादिविशेषणम् । एतच्चाशोच्यानित्यादौ स्पष्टं भविष्यति ॥ १० ॥

अर्जुनके अनुचिताचरणके प्रकाशनसे उसे लज्जासमुद्रमें डुबाते हुए-जैसे सर्वान्तर्यामी भगवान्ने 'अशोच्यान्' इत्यादि वक्ष्यमाण वचन, जो अतिगम्भीरार्थ[1] तथा अनुचिताचरणका प्रकाशक है, कहा, अर्जुनकी उपेक्षा नहीं की। अनुचित चेष्टितके प्रकाशनसे लज्जाका उत्पादन हीं प्रकृतमें प्रहास है। लज्जा दुःखस्वरूप है, अतः द्वेषविषयक ही वह मुख्य है। [अनुचिताचरणप्रकाशनसे लज्जा अवश्य होती है वह दुःखात्मिका है ही। इस प्रकार दोनों अंशोंका समावेश होनेपर एकांशाभावप्रयुक्त गौण प्रहास कैसे ? यह आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों अंशोंके तात्पर्यसे जहाँ प्रहास किया जाता है—अनुचिताचरणप्रकाशनसे लज्जित करना ही जहाँ इष्ट रहता है। वहाँ वह मुख्य है, और जहाँ उक्त प्रकाशनसे अर्थान्तर इष्ट (विवक्षित) रहता है वहाँ तन्नान्तरीयक (तदविनाभूत) लज्जा प्रतीत होती है, परन्तु वक्ताका उसमें तात्पर्य नहीं रहता (केवल तत्प्रकाशनमात्रमें तात्पर्य रहता है) इसलिए वह गौण ही है, मुख्य नहीं]। प्रकृतमें भगवान्ने अर्जुनको लज्जितमात्र करनेके लिये उक्त प्रकाशन नहीं किया, किन्तु उससे अर्जुनको लज्जा हो या न हो, इसमें उदासीन रहकर केवल आत्मतत्त्वज्ञानोत्पत्तिके तात्पर्यसे उक्त प्रकाशन किया, इसलिये एकांशाभावप्रयुक्त गौण प्रहास है, यही कहनेके लिए यहाँ 'इव' शब्द दिया गया है। लज्जा उत्पन्न करनेके लिए यानी विवेक उत्पन्न करानेके लिए अर्जुनके अनुचिताचरणका प्रकाश भगवान्ने किया, नान्तरीयकरूपसे लज्जोत्पत्ति अर्जुनको हो या न हो, यह उन्हें विवक्षित नहीं है, यह भाव है। यदि युद्धारम्भसे पूर्व गृहमें रहकर ही युद्धकी उपेक्षा की होती, तो अर्जुनका यों कहना इतना अनुचित नहीं समझा जाता। परन्तु पूरी तैयारीके साथ समरांगणमें आकर प्रतिभटों और भटोंको देखनेके लिये दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े होकर युद्धकी उपेक्षा अत्यन्त अनुचित है, इसको स्फुट करनेके लिये 'सेनयोरुभयोः' यह विशेषण है। यह 'अशोच्यान्' इस श्लोककी व्याख्यामें आगे चलकर स्पष्ट होगा ॥ १० ॥

---

१. 'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये' इस अमरकोशके अनुसार यहाँ गुरुतरार्थक गम्भीरशब्द है।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन, शोक न करने योग्य मनुष्योंके लिए शोक करते हो और साथ ही पण्डितोंके समान वाणी भी बोलते हो। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं—उन दोनोंके लिए पण्डित लोग शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

तत्रार्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे स्वतो जाताऽपि प्रवृत्तिर्द्विविधेन मोहेन तन्निमित्तेन च शोकेन प्रतिबद्धेति द्विविधो मोहस्तस्य निराकरणीयः। तत्राऽऽत्मनि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपे सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणि स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूप एकः सर्वप्राणिसाधारणः। अपरस्तु युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपोऽर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनोऽसाधारणः। एवमुपाधित्रयविवेकेन शुद्धात्मस्वरूपबोधः प्रथमस्य निवर्तकः सर्वसाधारणः। द्वितीयस्य तु हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावबोधोऽसाधारणः। शोकस्य तु कारणनिवृत्त्यैव निवृत्तेर्न पृथक्साधनान्तरापेक्षेत्यभिप्रेत्य क्रमेण भ्रमद्वयमनुवदन् श्रीभगवानुवाच—'अशोच्या-

स्वधर्म युद्धमें अर्जुनकी स्वतः प्रवृत्ति होनेपर भी दो प्रकारके मोह और तन्निमित्तक शोकसे वह रुक गई, अतः प्रवृत्तिके रोकनेवाले शोकको दूर हटाना चाहिये। प्रथम मोह तो सकल प्राणियोंपर जाता है, अतः वह साधारण है। स्वप्रकाश, परमानन्द, सकल संसारधर्मातीत आत्मामें स्थूलशरीर-करचरणादिविशिष्ट पाञ्चभौतिक प्रत्यक्ष शरीर और इन्द्रियादि सप्तदशभावोपेत लिङ्गशरीररूप सूक्ष्म शरीर, इन दोनोंके कारणीभूत अविद्या, इन तीनों उपाधियोंके अविवेकसे असत्य संसारमें सत्यत्व आत्मधर्मत्वादि प्रतिभासरूप ही वह प्रथम मोह है। [अविवेकसे ही शरीरेन्द्रियादिमें रहनेवाला सुख-दुःख आत्मामें प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। यह प्राणियोंको सुषुप्ति अवस्थामें अनुभवसिद्ध है। विवेकज्ञान होनेसे ही इन धर्मोंसे छुटकारा मिलती है, यह नियम नहीं है। संप्रसादावस्थामें विवेकज्ञानके बिना भी इन धर्मोंका अभाव रहता है, इसलिए इसका कारण विवेकका अभाव है।] द्वितीय मोह तो स्वधर्म युद्धमें हिंसादिकी प्रचुरतासे अधर्मप्रतीतिरूप करुणादिदोषनिमित्तक अर्जुनकी ही है, जो असाधारण है। इस प्रकार तीन उपाधियोंके विवेकसे शुद्ध (शरीरेन्द्रियादिरूप उपाधिसे शून्य) आत्मस्वरूपावगम प्रथम मोहका निवर्तक है, जो सर्वसाधारण है। द्वितीय

नन्व०' इति । अशोच्यान्शोचितुमयोग्यानेव भीष्मद्रोणादीनात्मसहितांस्त्वं पण्डितोऽपि सन्नन्वशोचोऽनुशोचितवानसि—ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विना भूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेत्येवमर्थकेन 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' इत्यादिना । तथा चाशोच्ये शोच्यभ्रमः पश्वादिसाधारणः तवात्यन्तपण्डितस्यानुचित इत्यर्थः । तथा 'कुतस्त्वा कश्मलमि'त्यादिना मद्वचनेनानुचितमिदमाचरितं मयेति विमर्शे प्राप्तेऽपि त्वं स्वयं प्रज्ञोऽपि सन् प्रज्ञानामवादान्प्रज्ञैर्वक्तुमनुचितान्शब्दांश्च 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादीन्भाषसे - वदसि, न तु लज्जया तूष्णीं भवसि । अतः परं किमनुचितमस्तीति सूचयितुं चकारः । तथा चाधर्मे धर्मत्वभ्रान्तिर्धर्मे चाधर्मभ्रान्तिरसाधारणी तवातिपण्डितस्य नोचितेति भावः । प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान्भाषसे, परं न तु बुध्यसे इति वा । भाषणापेक्षयाऽनुशोचनस्य प्राक्कालत्वादतीतत्वनिर्देशः । भाषणस्य तदुत्तरकालत्वेनाव्यवहितत्वाद्वर्तमानत्वनिर्देशः । छान्दसेन तिङ्व्यत्ययेनानुशोचसीति वर्तमानत्वं वा व्याख्येयम् ।

मोहका निवर्तक तो हिंसादि दोष-सहित भी युद्ध स्वधर्म होनेके कारण अधर्म नहीं है, यह ज्ञान ही है, जो असाधारण है । कारणकी निवृत्तिसे ही शोककी निवृत्ति सिद्ध है, इसके लिए अलग कारणकी अपेक्षा नहीं है—इस अभिप्रायसे क्रमशः दोनों भ्रमोंका अनुवाद करते हुए श्रीभगवान्ने कहा—'अशोच्यानन्व०' इत्यादि ।

मेरे लिए वे मरेंगे, उनके बिना मैं राज्य-सुखादि लेकर क्या करूंगा ?, इस अभिप्रायवाले पूर्वोक्त 'दृष्ट्वेमम्' इत्यादि वचनसे शोकके अयोग्य ही अपने सहित भीष्म, द्रोण आदिके लिए विद्वान् होकर भी तुमने शोक किया और शोकके अयोग्यमें शोच्यका-भ्रम होना पशुओंके समान होनेके कारण तुम्हारे-जैसे पूर्ण पण्डितके लिए अनुचित है, यह अर्थ है। [शरीरमात्रके लिए शोक तो कथंचित् ठीक भी है, पर आत्माका मरणादिसे शोक करना अनुचित है—इसकी सूचनाके लिए 'आत्मसहितान्' कहा ।] इसी प्रकार 'कुतस्त्वा कश्मलम्' इत्यादि अपने वचनसे यदि यह भान हो कि मैंने अनुचित किया है, तो यह विचार प्राप्त होनेपर भी, भीष्म, द्रोण आदि गुरुओंका संग्राममें कैसे वध करूं, इत्यादि विद्वानोंसे अवाच्य वचन विद्वान् होकर भी तुम कहते हो, न कि लज्जासे चुप रह जाते हो । इससे बढ़कर अनुचित क्या हो सकता है—इसकी सूचनाके लिए चकार है । ऐसी परिस्थितिमें तुम्हारे—जैसे महाविद्वान्की अधर्ममें धर्मत्वकी, धर्ममें अधर्मत्वकी असाधारण भ्रान्ति सर्वथा अनुचित है । अथवा पण्डितोंके कहने योग्य बड़ी-बड़ी बातें तो कहते हो, किन्तु समझते नहीं हो । भाषणके पूर्व शोक है, अतः 'अन्वशोचः' इत्यादिसे शोकमें अतीत कालका निर्देश है और शोकके अनन्तर अव्यवहितरूपसे भाषण है, इसलिए 'भाषसे' इस पदसे भाषणमें वर्तमान कालका निर्देश है । अथवा तिङ्प्रत्ययको छान्दस मानकर 'अनुशोचसि' के सम्बन्धसे वर्तमानकी प्रतीति होती है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए ।

ननु बन्धुविच्छेदे शोको नानुचितः, वसिष्ठादिभिर्महाभागैरपि कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—'गतासून०' इति। ये पण्डिता विचारजन्यात्मतत्त्वज्ञानवन्तस्ते गतप्राणानागतप्राणांश्च बन्धुत्वेन कल्पितान्देहान्नानुशोचन्ति। एते मृताः सर्वोपकरणपरित्यागेन गताः किं कुर्वन्ति, क्व तिष्ठन्ति। एते च जीवन्तो बन्धुविच्छेदेन कथं जीविष्यन्तीति न व्यामुह्यन्ति, समाधिसमये तत्प्रतिभासाभावात्। व्युत्थानसमये तत्प्रतिभासेऽपि मृषात्वेन निश्चयात्। न हि रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभयकम्पादि संभवति, न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद् गुडे तिक्तताप्रतिभासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः संभवति, मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्त्वात्। एवमात्मस्वरूपाज्ञाननिबन्धनभावाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेतेति भावः। वसिष्ठादीनां तु प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तथा तथाऽनुकरणं न शिष्टाचार-

---

[शङ्का—उक्त अर्थ करनेपर भाषणकालमें शोककी निवृत्ति प्रतीत होती है जो गीतारम्भके प्रतिकूल होनेसे अनुपादेय है, क्योंकि शोक-मोहनिवृत्त्यर्थं ही गीताका उपदेश है, जैसा कि आगे गीतामें ही स्पष्ट है। भाषणके समय यदि शोक अतीत हो गया अर्थात् मिट गया, तो फिर इस उपदेशकी क्या आवश्यकता ? और गीतोपदेशके बिना मोहनिवृत्ति होनेपर वह काम भी न होगा।

समाधान—भाषणके पूर्व 'अन्वशोचः' इस पदसे शोकका होना स्पष्ट है। भाषण कालमें भी 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' इसमें तिङ्का छान्दस तिङ्विपर्यय होनेसे 'अनुशोचसि'के सम्बन्धसे शोकमें भी वर्तमान कालकी प्रतीति होती है। प्रथम पुरुषके बहुवचन प्रसङ्गमें मध्यम पुरुषका एकवचन इष्ट है। वस्तुतः अर्थानुसार विपर्यय इष्ट होनेसे छान्दस विपर्यासप्रयास व्यर्थ है।]

बन्धुओंके विनाशमें शोक करना अनुचित नहीं है, क्योंकि महर्षि वसिष्ठादिने भी ऐसी परिस्थितिमें शोक किया है। यह शङ्का कर कहते हैं—'**गतासून०**' इत्यादि। जिन पण्डितोंने शास्त्रविचारसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया है, वे मृतप्राणियों और जीवित प्राणियोंके लिए अर्थात् बन्धुत्वेन कल्पित शरीरके लिए शोक नहीं करते। [अन्त्येष्टिसंस्कारके लिए देह श्मशानभूमिमें ले जाते हैं, इससे प्राण ही इष्ट है, देह नहीं। प्राणशून्य शरीरको कोई क्षणभर भी नहीं रखता, अतः प्राणसम्बन्धसे ही शरीर उपादेय है। एवं सप्राण देहमें बन्धुत्वकी कल्पनासे शोक नहीं करते।] वे मर गये, सब सुखसाधनसामग्री छोड़कर चले गये, क्या करते हैं ? कहाँ ठहरते हैं ? वे जीते हुए भी बन्धुओंके वियोगसे कैसे जीवित रहेंगे ? इत्यादि व्यामोह नहीं करते, यह भाव है। [जैसे—दुर्योधन आदिके बिना गान्धारी और धृतराष्ट्र आदि कैसे जीवित रहेंगे ? इत्यादि व्यामोह अनुचित है।] ज्ञानियोंकी दो अवस्थाएं हैं—एक समाधि और

तयाऽन्येषामनुष्ठेयतामापादयति, शिष्टैर्धर्मबुद्धयाऽनुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्, अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम्। यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि पण्डितो भूत्वा शोकं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

दूसरी व्युत्थान। समाधिके समय उनको (किसी वस्तुका) भान ही नहीं होता और व्युत्थानके समय ज्ञान (वस्तुका भान) होनेपर भी उनमें मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है। रस्सीका यथार्थरूप समझ लेनेपर पूर्व ज्ञात सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, फिर तन्निमित्तक भय, कम्पादिका कभी संभव ही नहीं रहता। पित्तदोषसे दूषित रसनावालेको गुडमें तिक्तताके प्रतीत होनेपर भी कभी भी तिक्तार्थी होकर उसमें (गुड़में) किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि गुड़में माधुर्यज्ञानरूप बलवान् प्रतिबन्ध विद्यमान है। इसीप्रकार आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही शोच्यभ्रम होता है, आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर वह अज्ञान शुक्तिज्ञानसे रजतज्ञानकी तरह जब निवृत्त हो जाता है, तो फिर अज्ञानकार्यभूत शोच्यभ्रम ठहर हीं कैसे सकता है ? यह भाव है।

शंका—अच्छा तो वसिष्ठादि महर्षियोंकी क्या गति है ?

समाधान—प्रबल प्रारब्धकर्म रहनेसे उसके अनुसार उनका वह नाटकमात्र है, शिष्टाचारत्वेन वह कभी उपादेय नहीं है। यदि फिर प्रश्न करें कि कृपया यह तो कहिये कि कौन-कौन सत्य होनेसे उपादेय और कौन-कौन नाटकमात्र हैं, तो इसका उत्तर यह है कि धर्मबुद्धिसे शिष्टलोग जो अलौकिक यानी परलोकविषयक व्यवहार करते हैं वे ही सदाचारत्वेन अनुकरणीय हैं, इतर व्यवहार कभी अनुकरणीय नहीं है, अन्यथा (शिष्टकर्तृक आचरणमात्रमें सदाचारत्वापत्ति होनेसे) उनके थूत्कारादि भी अनुष्ठेय—अनुकरणीय होने लगेंगे। चूँकि ऐसी स्थिति है, इसलिए हे अर्जुन! तुम भी पण्डित होकर शोक मत करो, यह भाव है[1] ॥ ११ ॥

---

१. यहाँ श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'अगतासून्' का अर्थ किया है—जीवित स्वजन। उनका बन्धुविच्छेदनिमित्तक शोक निवर्तनीय है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'दृष्ट्वेमम्' इत्यादिसे सदाचारी और प्रिय भीष्मादि जो जीवित हैं तद्विषयक 'मेरे कारण ये मरेंगे, यह स्वगत शोक अर्जुनने साक्षात् कहा है, वही मुख्यः निराचिकीर्षित है। अतः 'अगतासु'शब्दसे भी स्वशोक ही का ग्रहण करना प्रस्तुत होनेसे उचित है, न कि युयुत्सुजनसंबन्धिबन्धुशोकका, क्योंकि वह अप्रस्तुत है। अन्यथा अर्जुनको गत-अगतासुविषयक शोकका लाभ नहीं होगा, केवल गतासुविषयक शोक ही निवृत्त होगा, फिर अगतासुविषयक शोक रुक जायगा।

प्रश्न—मृतविषयक शोकका निषेध करनेसे मरिष्यच्छोक (मरनेवालोंके शोकका) भी निषेध सिद्ध होता है, अतः पृथक् निषेधोंकी अपेक्षा नहीं है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

ऐसी बात नहीं है कि मैं किसी कालमें नहीं था, या तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसी ही बात है कि इससे आगे—भविष्यमें हम सब लोग नहीं होंगे ॥ १२ ॥

न त्वेवेत्याद्येकोनविंशतिश्लोकैरशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्येतस्य विवरणं क्रियते, स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्याद्यष्टभिः श्लोकैः प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्यस्य, मोहद्वयस्य पृथक्प्रयत्ननिराकर्तव्यत्वात् । तत्र स्थूलशरीरादात्मानं विवेक्तुं नित्यत्वं साधयति—'न त्वेवाहम्' इति ।

तुशब्दो देहादिभ्यो व्यतिरेकं सूचयति । यथाऽहमितः पूर्वं जातु कदाचिदपि नाऽऽसमिति नैव, अपि तु आसमेव, तथा त्वमप्यासीः । इमे जनाधिपाश्चाऽऽसन्नेव । एतेन प्रागभावाप्रतियोगित्वं दर्शितम् । तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्चातः परं न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एवेति ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम् । अतः कालत्रयेऽपि सत्तायोगित्वादात्मनो नित्यत्वेनानित्याद्देहाद्वैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ १२ ॥

'न त्वेवाहम्' आदि अग्रिम इक्कीस श्लोकोंसे 'अशोच्यान्' इत्यादि और 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादि आठ श्लोकोंसे 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इत्यादिका विवरण किया गया है । कारण कि मोहद्वयका भिन्न-प्रयत्नसे निराकरण करना है । उनमें प्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरसे आत्माके विवेकार्थ सर्वप्रथम आत्मामें नित्यत्वको सिद्ध करते हैं—'न त्वेवाहम्' से ।

'तु'शब्दसे आत्मामें देहादिभेद सूचित करते हैं । जैसे मैं इससे पूर्व कभी नहीं था, यह बात नहीं है, किन्तु था ही, वैसे ही तू भी था और ये राजा लोग भी थे ही । पहले भी रहनेसे इनका प्राक् कालमें अभाव नहीं था किन्तु भाव ही था, इससे इन सबमें 'प्रागभावाप्रतियोगित्व' दिखलाया है । इसी तरह हम

उत्तर—तो मृतसम्बन्धिबन्धुविच्छेद शोकनिषेध भी उसीसे कैमुतिकन्याय द्वारा सिद्ध है, फिर उसके लिये 'अगतासून् नानुशोचन्ति' यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं । अतः प्रस्तुतके निराससे अप्रस्तुतनिरासके अर्थतः सिद्ध होनेसे आसन्नविनाशविषयक भीष्मादिके शोकका ही अगतासुशोकसे ग्रहण करना चाहिये, यही व्याख्यान ठीक है । सारांश यह है कि अर्जुनका ही गतासु-अगतासुविषयक द्विविध मोह निरसनीय है । सम्बन्धियोंका शोक नहीं, इसलिये स्वामीजीका 'स्वजनसम्बन्धिशोक' व्याख्यान ठीक नहीं है । इसी प्रकार 'जीवित इव गतासून् न अनुशोचन्ति' यह माध्वव्याख्यान भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अगातासु' शब्द आसन्नमरण (अजीवि) वाचक होनेसे स्वस्थजीविवाचक नहीं है । 'इव' का भी श्लोकमें श्रवण नहीं है । समुच्चयवाचक चकारका उक्त रीतिसे मुख्यार्थमें अन्वय होनेमें बाधक न

सब अर्थात् हम, तुम और ये सब राजा लोग इससे आगे न रहेंगे, यह नहीं है, अपि तु रहेंगे ही, इससे 'ध्वंसाप्रतियोगित्वं' कहा है। इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालमें सत्तायोगी होनेसे आत्मा नित्य है, अतएव वह अनित्य देहादिसे विलक्षण है, यह सिद्ध हुआ।

रहनेपर अगतिकगतिकल्पनासे अनेकार्थक मानना ठीक नहीं है और दृष्टान्तपरत्वेन व्याख्यान भी उचित नहीं है। इसी तरह 'गतासून् देहान्, अगतासून् आत्मनश्च, नानुशोचन्ति' यह श्रीरामानुजाचार्यका व्याख्यान भी श्रद्धेय नहीं है। गतासु और अगतासु शब्द मृत और जीवितवाचक लोकमें प्रसिद्ध है और उसी अर्थमें उन दोनों शब्दोंका सम्भव होनेसे अप्रसिद्धार्थकल्पना निर्मूल है। आत्मामें 'अगतासु' शब्दका प्रयोग अप्रसिद्ध है। 'गता असवः प्राणाः यस्मात्' इस विग्रहसे गतासु यानी देह और 'न गता असवः यस्मात्' इस विग्रहसे उक्त शब्द आत्मवाची है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गतासुसे मृत और अगतासुसे अमृत प्राणीका ही लोकमें बोध प्रसिद्ध है। यहाँ गतासुसे अनित्य और अगतासुसे नित्य विवक्षित है, यह भी नहीं कहा जा सकता; अन्यथा घरमें गतासुका और आकाशमें अगतासुशब्दके प्रयोगका प्रसंग हो जायगा। लक्षणा माननेपर वही दोष होगा और 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता' इससे सम्भवत्प्राण-संयोगीमें अर्थात् प्राणसंयोगकालमें ही अगतासु और प्राणवियोगकालमें गतासुका प्रयोग लोकमें प्रसिद्ध है। उक्त शब्दोंसे जीवित और मृत प्राणी प्रतीत होते हैं। 'घटो मृतः, आकाशो मृतः' यह व्यवहार भी लक्षणावादीके मतमें प्रसक्त हो जायगा, अतः 'गतासून्—गतप्राणान् मृतान् इति यावत् अर्थात् मृत, अगतप्राणान् यानी जीवित' यह श्रीशंकराचार्यका व्याख्यान ही सुव्याख्यान है।

प्रश्न—अच्छा, तो यह कहिये कि मृत प्राणी गतासु कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि मृतावस्थामें भी तो लिङ्गशरीरका सम्बन्ध आत्माके साथ रहता ही है। वही इस लोक और परलोकमें आता-जाता है। पाँच प्राण, दस इंद्रियाँ और बुद्धि—ये सोलह उसमें रहते हैं। इसमें 'षोडशकलः पुरुषः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। लब्धवृत्तिक प्राणादि उसमें नहीं रहते और तादृश प्राणसंयोग और वियोग यहाँ उक्त शब्दोंसे विवक्षित है, यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि स्वर्गीयादि शरीर मिलनेपर तादृशप्राणसंयुक्त ही आत्मा है।

उत्तर—स्थूलशरीरसंयुक्त आत्मामें प्राणादिकी प्रतीति होनेसे तद्देहविशिष्ट आत्मा ही प्राणादिसत्ताकालमें अगतासु और प्राणवियोगकालमें गतासु कहा जाता है।

प्रश्न—देहविशिष्टमें प्राणादिकी प्रतीति होती है, यह तो निर्विवाद, है, परन्तु फिर भी प्राणसम्बन्ध देहके साथ है अथवा आत्माके साथ या दोनोंके साथ है? इसमें शास्त्रकारोंका मतभेद है। आपका इसमें क्या सिद्धान्त है?

उत्तर—वेदान्तसिद्धान्त ही मेरा सिद्धान्त है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः-असंगो न हि सज्जते' इस श्रुतिसे असंग आत्मामें वास्तविक किसीका सम्बन्ध इष्ट नहीं है, फिर प्राणसम्बन्धकी क्या चर्चा, यह पञ्चकोशव्याख्यानसे भी स्पष्ट है अन्नमय, प्राणमय, मनोमयादि कोशसे परे तदसम्बद्ध आत्मा है। आत्मामें प्राणादिमत्त्वका व्यवहार शरीरोपाधिक है। लोकमें उक्त व्यवहार (स्थूलशरीरोपाधिक गतासुत्वादिव्यवहार) प्रसिद्ध है, वही यहाँ भी विवक्षित है। निष्कर्ष यह है कि मृत (आसन्नविनाश भीष्मादि ही उक्तद्विविध अर्जुनगत मोहनिवृत्ति तत्त्वज्ञानोत्पादन द्वारा भगवान्को अभीष्ट है। 'दृष्ट्वेमम्' इत्यादि उपक्रमवाक्यसे वही प्रस्तुत है। जीवितस्वेष्टजनसमुच्छेदनिबन्धन शोकके अप्रस्तुत होनेसे उसका ग्रहण इष्ट नहीं है, यह भावार्थ है।

[पूर्व श्लोकसे आत्मा स्थूल शरीरसे भिन्न है, यह कहा। इस श्लोकसे सूक्ष्मशरीरविशिष्ट आत्मामें व्यवहारदृष्टिसे नित्यत्व सिद्ध किया, यह भेद है।

'अहं, त्वं, इमे' इत्यादिसे आत्मभेदप्रतिपादन देहभेदानुभवाधीन औपाधिक है, न कि आत्मभेदाभिप्रायसे पारमार्थिक। इसपर थोड़ा सुन लीजिये—परमात्मा नित्य है, इसमें तो किसीको सन्देह नहीं, अतः तन्नित्यत्वकथन दृष्टान्तार्थ है। जैसे सर्वेश्वर (सर्वाधिपति) 'मैं नित्य हूँ' वैसे ही आप सब लोग भी नित्य हैं। अज्ञानसे मुग्ध अर्जुनके प्रति मोहनिवृत्तिके लिये पारमार्थिक नित्यत्वके उपदेशकालमें 'अहं, त्वं, इमे' इत्यादि भेदव्यवहार है। औपाधिकभेद माननेपर भेदके अतात्त्विक होनेसे तत्त्वोपदेशसमयमें तत्कथन असंगत होगा। आत्मभेद स्वाभाविक है। श्रुति भी यही कहती है—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' [कठो० २।५।१३।] चेतन नित्य एक परमात्मा बहुत चेतनोंके कामनाओंको करता है, यह उपरोक्त श्रुतिका अर्थ है। अज्ञानकृत भेदवादीके मतमें परमार्थदृष्टिसे यानी निर्विशेष कूटस्थनित्यचैतन्यात्माके यथार्थज्ञानसे निवृत्ताज्ञानतत्कार्य होनेसे अज्ञानकृत भेददर्शन तन्मूलक उपदेशादि व्यवहार संगत नहीं हो सकता।

परमात्मा यद्यपि अधिगताद्वैतज्ञान है, तथापि बाधितानुवृत्तिरूप भेदज्ञान, दग्धपटादिके समान, बन्धक नहीं है। जला हुआ वस्त्र वस्त्राकार प्रतीत होता हुआ भी शरीरको ढँक नहीं सकता, यही उक्त न्यायका निचोड़ अर्थ है। उसी प्रकार उक्त भेदज्ञानको भी समझना उत्पत्तियोग्य नहीं है, क्योंकि मरुमरीचिका जलादि बाधित अनुवृत्त होकर भी जलानयनादिप्रवृत्तिमें कारण नहीं होता। बाधितानुवृत्त उक्त जलवान् जलार्थी होनेपर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यह किसीको अज्ञात नहीं है। एवं अद्वैतज्ञानसे बाधित भेदज्ञान अनुवर्तमान होकर भी मिथ्यार्थविषयक निश्चय होनेसे उपदेशादिप्रवृत्तिमें हेतु नहीं होता और ईश्वरमें प्रथम अज्ञान था, शास्त्रसे तत्त्वज्ञान हुआ, उससे पूर्वज्ञान बाधित होकर अभी अनुवर्तमान है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [मुण्डकोप० १।१।९], 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' [श्वेता० ६।८] इन श्रुतियों, तथा 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन' [गीता ७।२६] इस स्मृतिसे ईश्वराज्ञानमें विरोध भी है। वस्तुतः बाधितानुवृत्ति भी नहीं कह सकते, कारण कि बाधक अद्वैतात्मज्ञानसे आत्मभिन्न भेदज्ञान कारण अनादि अज्ञानका नाश हो गया; फिर उक्तानुवृत्ति कैसी ? द्विचन्द्रादिज्ञानमें तो चन्द्रैकत्वज्ञानसे पारमार्थिक तिमिरादि दोषका नाश नहीं होता। अतः यहाँ बाधितानुवृत्ति ठीक है। अनुवर्तमान भी प्रबल प्रमाणसे बाधित होकर अकिंचित्कर है। यहाँपर तो भेदज्ञानके सविषय सकारण पारमार्थिक (वस्तु यथार्थ) ज्ञानसे बाधित होनेके कारण किसी तरह अनुवृत्ति नहीं हो सकती। सर्वेश्वरको आजतककी गुरुपरम्पराका तत्त्वज्ञान है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि तब तो भेदज्ञान और तत्कार्योपदेशादिका सम्भव ही नहीं होगा। चूँकि भेदज्ञान है, अतः उपदेशका सम्भव है। यदि अज्ञान है, तो सुतरां उपदेशका सम्भव नहीं है।

अज्ञान तत्त्वज्ञानका उपदेशक नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। और भी सुनिये—गुरुगत अद्वितीयात्मविज्ञानसे ही सकार्य ब्रह्माज्ञानकी निवृत्ति होनेसे उपदेश ही निष्फल है। अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति ही उपदेशका फल है, सो गुरुज्ञान ही से हो चुकी है, फिर शिष्यका तादृशज्ञान व्यर्थ है। गुरु और उसका ज्ञान यदि कल्पित है, तो शिष्य और उसके ज्ञानके भी कल्पित होनेसे वह भी निवर्तक नहीं है। कल्पित होनेपर भी पूर्वविरोधी होनेसे ही निवर्तक होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो गुरुज्ञानमें भी समान ही है, फिर शिष्यज्ञानकी क्या आवश्यकता ? वही निवर्तक है, उपदेश व्यर्थ है, यह संक्षेपतः विशिष्टाद्वैतगीताभाष्यार्थ है।

जो 'अज्ञानमुग्ध' इत्यादिसे अर्जुनके प्रति भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने पारमार्थिक भेद कहा है, इसका निराकरण भी सुनिये—देहभेदानुवृत्तिसे बहुवचन है, आत्मभेदाभिप्रायसे नहीं, यह गीताभाष्यमें स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने कहा है, अतएव 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्यादि वाक्यसे नाना शरीरोंमें स्थित जीव मुझको ही समझो, यह भगवान्ने स्वयं आत्माभिन्न जीवको कहा है। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्, उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेषु एवमजोऽयमात्मा' इत्यादि श्रुतिसे ही उत्तर दिया गया है। और भी सुनिये—यहांपर जीवभेद किंवा जीव और परमात्माका भेद प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' यह न्याय प्रसिद्ध ही है, अतः अनन्यलभ्य अभेद ही प्रतिपाद्य है। प्रत्यक्षसिद्ध आत्मभेदका 'अहं त्वं इमे' से अनुवादकर आत्मनित्यत्व ही प्रतिपाद्य है। 'क्षेत्रज्ञं च' इत्यादिसे अद्वैत ही उत्तर छः अध्यायोंसे प्रतिपाद्य है। इस कारण अद्वैतियोंको अनुपपत्तिका लेश भी नहीं है। द्वैतवादियोंको ही उक्त श्रुतिविरोध अपरिहार्य है। और भी 'अहं त्वं इमे' इस व्यवहारमात्रसे भेद नहीं सिद्ध होता। रामायणगत राम और परशुरामके संवादमें 'ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वमित्रकृतेन च। अस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥' [वा० रा० १।७६।६] 'न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥' [वा० रा० १.७६।१९] इत्यादिसे राम और परशुरामने 'अहं, त्वं' का व्यवहार किया है। उनमें भी भेद हो जायगा। 'रामः शस्त्रभृतामहम्' [गीता १०।३१] राम शस्त्रधारियोंमें विभूति है अर्थान्तर नहीं है, यह तो आपने भी व्याख्यान किया है, अन्यथा अपसिद्धान्त होगा। यदि यह कहिये कि निश्चिताभेदमें भेदव्यवहार काल्पनिक है, तो प्रकृतमें भी समाधान तुल्य (बराबर) है। इससे श्रीकृष्णकी इस कालतक गुरुपरम्परा अनादि है, अतः अद्वितीय-आत्मतत्त्वज्ञान है, यह कहने पर तो निवृत्ताज्ञान तत्कार्यको अज्ञानकृत भेददर्शन और तन्मूलक उपदेश आदि व्यवहार ही अनुपपन्न हो जायगा। अतः कृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्रकी भी असंगति हो जायगी। यदि उन्हें ज्ञान नहीं है, तो अज्ञानी होनेसे उपदेशकर्ता नहीं हो सकते। अतः सुतरां गीताशास्त्रकी असंगति है, यह भी पूर्वदत्तदोष निरस्त हो गया। राम और परशुरामके संवादमें परस्पर अभेदज्ञान रहनेपर भी यानी भेददर्शनका सुतरां अभाव होने पर भी तद्धेतुक जयपराजयव्यवहार और तदुक्ति प्रत्युक्तिरूप संवादके समान यहाँ भी

तद्व्यवहारादिकी उपपत्ति हो जायगी। राम और परशुराममें वास्तविक अभेद होनेपर भी औपाधिक भेददर्शन है, यदि यह शंका हो, तो यहाँ भी वही समाधान है। क्योंकि 'उपाधिना क्रियते भेदरूपः' यह श्रुति है ही। किञ्च, एक ही परमेश्वरने अपनी मायासे दो रूप धारणकर लीलासे परस्पर संवादके समान किया, वास्तविक संवादादि नहीं, यदि यह कहें, तो फिर यहाँ भी वही कहिये। वस्तुतस्तु ऐन्द्रजालिकको दूसरेके संमोहनार्थं स्वमायाकल्पित वृश्चिकादिमें मिथ्यात्वनिश्चय होनेपर भी दूसरेको दृश्यमान मिथ्याभूत सर्पादिप्रतिभासके समान भगवान्को भी अद्वितीयात्मदर्शन रहनेपर भी हम लोगोंको उपलभ्यमान स्वमायाशक्तिकल्पित मिथ्या द्वैतप्रपंचका भान है ही। कल्पतरुकारकी ऐसी उक्ति है—'प्रतिबिम्बगताः पश्यन् ऋजुवक्रादिविक्रियाः। पुमान् क्रीडेत् यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः॥ मिथ्याभूत संसारको मिथ्यात्वेन देखनेवालेमें तत्त्वदर्शित्वका विरोध नहीं है, दोनोंका एकमें समावेश है। और जो यह कहा कि भगवान् निवृत्ताज्ञानतत्कार्य होनेसे उपदेशादि व्यवहार नहीं कर सकते, क्योंकि व्यवहार द्वैतदर्शी ही कर सकता है। नित्य सर्वज्ञ ईश्वरमें शास्त्रद्वारा अज्ञाननिवृत्ति हम लोगोंकी तरह नहीं कह सकते, अतः उनमें निवृत्ताज्ञानत्व ही प्रसिद्ध है।

प्रश्न—अच्छा तो, अज्ञानरहितत्व यदि उनमें है तो फिर अज्ञानमूलक उनका व्यवहार कैसे ?

उत्तर—महामायी भगवान्को अज्ञानराहित्य नहीं है यह आगे कहेंगे। 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्यादि वचनोंसे संक्षेपशारीरकादिमें इसका पूर्ण उपपादन किया गया है। सर्वज्ञमें अज्ञानसम्बन्ध कैसे, उपाधिके प्रतिबिम्बपक्षपाती होनेसे तत्कार्य प्रतिबिम्ब जीवमें ही हो सकता है, बिम्ब ईश्वरमें नहीं, इसलिये विरोध नहीं है अर्थात् ईश्वरमें नित्यमुक्तत्वका विरोध नहीं है। एक ही में ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रहेंगे ? क्योंकि ज्ञान स्वविषयावरक अज्ञानके साथ नहीं रहता। अनावरकके साथ ज्ञानका विरोध नहीं है। उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती होनेसे जीवका आवरक है, ईश्वरका नहीं, अतः भगवान्का तत्त्वज्ञान नित्य होनेपर भी ऐन्द्रजालिकके समान स्वाधीन मायानिमित्तक मिथ्याजगत्का प्रतिभास भी है। राम और परशुरामके व्यवहारके समान मायाहेतुक अर्जुनादिको उनका उपदेश भी संगत है। बाधितानुवृत्त भेदज्ञान है, अतः उपदेश भी युक्त ही है।

प्रश्न—ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर उपादान कारणके नाशसे तत्कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसलिये भेददर्शन ही नष्ट हो जायगा, तो फिर उसकी अनुवृत्ति कैसी ?

उत्तर—रज्जुतत्त्वज्ञानसे सर्पाज्ञान निवृत्त होनेपर भी भय, कम्प आदिकी कुछ देरतक अनुवृत्ति देखी जाती है। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये' इस श्रुतिसे बाधितकी अनुवृत्ति सिद्ध है। दृष्टमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती, अन्यथा दृष्ट ही कैसे ?

प्रश्न—अनुवर्तमान शुक्तिरजतज्ञान रजतार्थीकी प्रवृत्तिमें हेतु जैसे नहीं होता, वैसे ही द्वैतज्ञान भी उपदेशार्थ प्रवृत्तिमें हेतु नहीं होगा।

उत्तर—वहाँ वासनासहित अज्ञानका क्षय होनेसे अर्थक्रियाप्राप्ति नहीं होती। यहाँ तो वासना रहती है, इसलिये अर्थक्रिया उपदेशादिकी उपपत्ति है। अज्ञानका नाश होनेपर तदाश्रित वासना कैसे रहेगी, यह शंका भी समाहित होती है। पिटारीसे कस्तूरी निकाल लेनेपर भी कुछ कालतक पिटारीमें सुगन्ध रहती है। आश्रयनाशके अनन्तर क्षणभर कार्यद्रव्य रहता है, यह तार्किकोंका सिद्धान्त है। तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

वस्तुतस्तु गुरुशिष्यका वास्तविक अभेद होनेपर भी घटाकाश, मठाकाशके समान औपाधिक भेद होनेसे मठनाश होनेपर तदुपलक्षित आकाशमें महाकाशतापत्ति होनेपर भी घटाकाशमें महाकाशतापत्ति जैसे नहीं होती, वैसे ही गुरुज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर महाकाशतापत्ति गुरुमें ही हो सकती है, शिष्य अर्जुनमें उसका क्या सम्भव? इससे श्रीमाध्व–रामानुजका यह व्याख्यान कि श्रीकृष्णका सामर्थ्यातिशय अर्जुन अनेक बार देख चुके हैं, अचिन्त्यशक्तिमत्त्वेन उनमें जीववैलक्षण्य भी जानते हैं, अतः उनमें नित्यत्व निश्चित होनेसे 'अहं' कथन दृष्टान्तार्थ है। जैसे ईश्वर मैं नित्य हूँ वैसे तुम और ये नृपतिगण भी नित्य ही हैं, यह विचारणीय है, कारण कि जीवनित्यत्व भी वेदान्तमें प्रसिद्ध ही है। अतः सन्देहाभावसे उसके प्रतिपादनकी भी आवश्यकता नहीं है

शंका—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इस श्रुतिसे 'नित्यानाम्' इस निर्धारणषष्ठीसे जीवोंमें नित्यत्व और ईश्वरमें परमनित्यत्व जाना जाता है। नाशाभाव ही नित्यत्व है। अभावमें कोई तारतम्य नहीं, फिर ईश्वरके नित्यत्वमें परमत्व क्या है? अतः जीवनित्यत्व लिङ्गशरीर-वत्कल्पान्तस्थायित्वमें औपचारिक होनेसे तदनित्यवत्वकी शंकाको सुलभ समझकर प्रागभावध्वंसाप्रतियोगित्वसे जीवनित्यत्वका उपपादन करते हैं।

उत्तर—जीवनित्यत्वका प्रतिपादन भी 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [कठो० २।१८], 'अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' [बृहदा०। ५।१४] इत्यादि श्रुतियोंसे ही हो चुका है। 'नित्यानां चेतनानाम्' यानी नित्य चेतनोंके कामनाओंको एक ही ईश्वर करता है, इस प्रकार सामानाधिकरण्यसे अन्वय करनेसे श्रुत्यर्थकी अनायास ही उपपत्ति हो जाती है, फिर निर्धारणमें षष्ठी मानना व्यर्थ है। यदि यह कहिये कि जीवनित्यत्व अर्जुन जानते हैं, किन्तु यह भीष्मादिके अशोच्यत्वमें हेतु हैं, यह नहीं जानते; तदर्थ उपदेश युक्त ही है, तो श्रीकृष्णमें भी निश्चय नहीं है कि यह ईश्वर ही हैं, अन्यथा 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' यह अर्जुन कैसे कहते? क्योंकि ईश्वरके साथ रहनेपर स्वविजयमें सन्देह ही नहीं हो सकता, पराजयकी चर्चा तो दूर है। अतः शंकानिवृत्त्यर्थ अहमर्थमें भी नित्यत्वप्रतिपादन आवश्यक है। परमात्मामें अनित्यत्वकी यदि शंका ही नहीं है, तो जीवमें भी नित्यत्वकी शंका नहीं है, यह समान ही है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥13॥

इस शरीरमें जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था प्राप्त होती है वैसे ही शरीरान्तर भी प्राप्त होता है, इस विषयमें धीर पुरुष मोह नहीं करते ॥१३॥

ननु देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति लोकायतिकाः। तथा च स्थूलोऽहं, गौरोऽहं

वस्तुतस्तु श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, यह निश्चय अभीतक अर्जुनको नहीं है। यद्यपि भगवान्में अचिन्त्यसामर्थ्य असकृत् (अनेक बार) अर्जुन देख चुके हैं और युधिष्ठिरके राजसूयमें भीष्मादिसे सुना भी है कि यह ईश्वर हैं, तथापि विश्वरूपदर्शनसे पूर्व भगवान्के समान बल-पराक्रमशाली योगादिसे प्राप्त दिव्यशक्तिसम्पन्न कोई महापुरुष हैं। उन लोगोंने ईश्वररूपसे स्तुति की है, यही निश्चय है। विश्वरूपदर्शनके अनन्तर यह परब्रह्म हैं, ऐसा निश्चय हुआ।

प्रश्न—इसमें प्रमाण क्या है?

उत्तर—अर्जुनके वाक्य ही प्रमाण हैं। 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानतो महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥' 'पिताऽस्य लोकस्य चराचरस्य।' [गीता ११।४१–४३] (हे भगवन्, आपकी महिमा न जानकर और लोगोंके समान ही आपको सखा मानकर इससे पूर्व विहारमें, शय्या, आसन और भोजनके समय जो कुछ अकेले या बहुतोंके बीचमें आपके उपहासके लिए मैंने आपका अनादर किया है, उसका मैं क्षमा चाहता हूँ। आप सकल संसारके पिता ब्रह्म हैं।) इत्यादि अर्जुनोक्तिसे स्पष्ट है कि विश्वरूपदर्शनसे पूर्व श्रीकृष्णमें ब्रह्मत्वनिश्चय अर्जुनको नहीं था। तद्दर्शनके बाद ही ब्रह्मत्वनिश्चय हुआ। यदि आदिसे ही भगवान्में अर्जुनको ब्रह्मत्व निश्चय होता, तो चौथे अध्यायमें भगवान्के प्रति 'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवान् इति' ॥ यह अर्जुन कैसे कहते। परब्रह्ममें आधुनिक आपका पूर्वसिद्ध विवस्वान्को उपदेश कैसे, इस प्रश्नका सम्भव ही नहीं होता। यदि यह सर्वज्ञ ईश्वर हैं, ईदृश निश्चय अर्जुनको होता, तो 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥' यह भगवान्की उक्ति सार्थक होती, अतः 'न त्वेवाहं' यहाँ दृष्टान्तपरतया व्याख्यान श्रद्धेय नहीं है। तस्मात् श्रीशङ्करभगवत्पादकृत व्याख्यान ही साधु और श्रद्धेय है] ॥ १२ ॥

यदि यह शंका हो कि 'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है' यह चार्वाकका मत है। उसे मान लेनेसे 'मैं स्थूल (मोटा) हूँ' 'गौरवर्ण हूँ' 'चलता हूँ', आदि प्रत्यक्ष प्रतीतियोंका प्रामाण्य भी अबाधित होता है। फिर

गच्छामि चेत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां प्रामाण्यमनपोदितं भविष्यति । अतः कथं देहादात्मनो व्यतिरेकः, व्यतिरेकेऽपि कथं वा जन्मविनाशशून्यत्वम्, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इति प्रतीतेर्देहजन्मनाशाभ्यां सहाऽऽत्मनोपि जन्मविनाशोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—'देहिनोऽस्मिन्' इति ।

देहाः सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमाना जगन्मण्डलवर्तिनोऽस्य सन्तीति देही । एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेकवचनम् । सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वत्र देहभेदानुवृत्त्या, न त्वात्मभेदाभिप्रायेणेति न दोषः । तस्य देहिनः एकस्यैव सतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं यौवनं जरेत्यवस्थात्रयं परस्परविरुद्धं भवति, न

वह (आत्मा) देहसे भिन्न कैसे ? कदाचित् भेद मान भी लिया जाय, तो भी वह जन्मविनाशादिविकारशून्य कैसे हो सकता है, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न हुआ, देवदत्त मर गया आदि प्रतीतियोंसे शरीरोत्पत्ति और विनाशके साथ आत्माका भी जन्म और विनाश देखा जाता है, यह आशंका कर कहते हैं— **'देहिनोऽस्मिन्'** से ।

भूत, भविष्य, वर्तमान संसारमात्रवृत्ति सभी देह जिसके हैं वह देही अर्थात् आत्मा कहा जाता है। देहभेदसे आत्मभेदवादी तार्किकोंके मतका निराकरण करनेके लिए 'देहिनः' यह एकवचन किया गया है। तथा च सब देहोंमें जब एक ही आत्मा है, कारण कि वह विभु है, [तार्किक भी आत्माको व्यापक मानते हैं। जो उनके मतसे सर्वमूर्तसंयोगित्वरूप है। इसी तरह शरीरमें भी 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वरूप' मूर्तत्व है ही] तो सर्वदेहसंयोगी होनेसे एक ही आत्मासे सब शरीरोंमें चेष्टा हो सकती है, फिर अनेक आत्मा माननेका प्रयोजन भी क्या रहा ? उसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि तार्किक मतमें सर्वशरीरोंके साथ संयोगके बिना आत्मामें अभिव्यापकत्व ही न बन सकेगा ।

शंका—यदि एकवचनसे आत्मामें एकत्व विवक्षित है तो 'सर्वे वयम्' इस बहुवचनसे आत्मभेद ही क्यों न इष्ट हो ?

समाधान—ठीक है, परन्तु अब विचार करना यह है कि परस्पर विरुद्ध दो वाक्योंका समन्वय कैसे किया जाय ? एकको अमुख्यार्थक स्वीकार किए बिना गुणप्रधानभावसे समन्वय ही न होगा । जन्मभेदसे एक आत्मामें देहभेद तो सिद्ध ही है, तदनुवृत्तिसे तदुपाधिक भेदानुवृत्तिपरक बहुवचन है । आत्मभेदाभिप्राय से नहीं, इसलिए कोई हानि नहीं है । आत्माभेद अप्रतीत होनेसे प्रतिपिपादयिषित है अतएव मुख्यार्थैकत्वपरक एकवचनसे आत्मैकत्व ही इष्ट है । [एक ही आत्माका अनेक देहके साथ सम्बन्ध होता है, इसी को बुद्धिस्थ करनेके लिये उदाहरण है—'देहे' इत्यादि ।] जैसे एक ही उस आत्माकी इस वर्तमान देहमें बाल्य, यौवन,

तु तद्भेदेनाऽऽत्मभेदः, 'य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं, स एवाहं वार्धके प्रणप्तॄननुभवामी'-ति दृढतरप्रत्यभिज्ञानात्, अन्यनिष्ठसंस्कारस्य चान्यत्रानुसंधानाजनकत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेणा-विकृतस्यैव सत आत्मनो देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादत्यन्तविलक्षणदेहप्राप्तिः स्वप्ने योगैश्वर्ये च तद्देहभेदानुसंधानेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा च यदि देह एवाऽऽत्मा भवेत्तदा कौमारादिभेदेन देहे भिद्यमाने प्रतिसंधानं न स्यात्। अथ तु कौमाराद्यवस्थानामत्यन्तवैलक्षण्ये-ऽप्यवस्थावतो देहस्य यावत्प्रत्यभिज्ञं वस्तुस्थितिरिति न्यायेनैक्यं ब्रूयात्, तदाऽपि स्वप्नयोगैश्वर्य-

---

वार्द्धक्य—ये तीन परस्पर विरुद्ध अवस्थाएं होती हैं, इनके भेदसे आत्मभेद कोई भी नहीं कहता। कारण कि मैंने जिस बाल्यावस्थामें माता-पिताका अनुभव किया है, वही मैं वृद्धावस्थामें परपोतोंका अनुभव करता हूँ, यह दृढ़ प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि अवस्थाभेदसे आत्मभेद होता, तो जैसे देवदत्तके संस्कारसे यज्ञदत्तको स्मरण नहीं होता, वैसे ही बाल्यमें अनुभूतका वार्द्धक्यमें स्मरण नहीं होता। संस्कार और स्मरणका सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभाव है। इसी प्रकारसे अविकृत आत्माको देहान्तर प्राप्त होता है। भेद इतना ही है कि बाल्यादिशरीर सजातीय होते हैं और जन्मान्तरके शरीर अत्यन्तविजातीय होते हैं। [जाग्रदवस्थामें शरीरभेदसे आत्मभेद नहीं होता, यह सिद्धकर स्वप्नावस्थामें भी शरीरभेदसे आत्मभेद नहीं सिद्ध होता, यह दिखलाते हैं—'**स्वप्ने**' इससे। [किसीको पुण्यवश स्वप्नावस्थामें यदि देवशरीरप्राप्ति होती है, तो उस समय वह अपनेको देवता मानकर देवोचित भोगका भागी समझता है। स्वप्नके निवृत्त होने पर प्रकृतिस्थ होकर 'मैं देवशरीर नहीं हूँ' इस प्रकार देवशरीरका बाध होनेपर भी आत्माको देवशरीरमें बाधित नहीं करता कि मैंने उन भोगोंका भोग नहीं किया, किन्तु यही मानता है कि उस समय भी 'भोक्ता मैं ही था' यह प्रत्यभिज्ञा उसे होती है। बाधिताबाधित देहभिन्न होनेपर भी आत्मा दोनोंमें एक ही है। इसी तरह योगव्याघ्र तथा योगैश्वर्यको भी समझना चाहिये। योगबलसे इच्छानुसार योगी व्याघ्र शरीर धारणकर पुनः प्रकृतिस्थ हो जाता है। शरीरभेदका अनुभव वहाँ शिष्यादिको भी होता है, आत्मभेदानुभव किसीको नहीं होता। एवं कर्दमादि ऋषियोंने योगैश्वर्यसे अनेक शरीर धारणकर प्रत्येक शरीरोंमें भिन्न-भिन्न क्रियाओंका एक ही आत्मासे सम्पादन किया, यह पुराणादिपरिशीलन करनेवालोंसे छिपा नहीं है। अब स्वयं विचारिये, यदि देह ही आत्मा होती यानी देहभेदसे आत्मभेद होता, तो बाल्यादिशरीरभेदसे देहके भिद्यमान होनेपर आत्माओंमें स्मरण नहीं होता। यद्यपि बाल्यादि अवस्थाएं अत्यन्त विलक्षण हैं, फिर भी अवस्थाके कारण 'जबतक प्रत्यभिज्ञा होती है तब-तक पूर्ववस्तुकी ही स्थिति रहती है' इस न्यायसे एक ही देह मान लो, यदि यह कोई कहे, तो भी स्वप्न और योगैश्वर्यका देहधर्मभेद होनेसे प्रत्यभिज्ञा न होगी, अतः दोनोंका उदाहरण है। अतः मरु-मरीचिकासैकत-

योर्देहधर्मिभेदे प्रतिसंधानं न स्यादित्युभयोदाहरणम्। अतो मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धेरिव भ्रमत्वमवश्यमभ्युपेयम्, बाधस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। एतच्च 'न जायते' इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते। एतेन देहाद्व्यतिरिक्तो देहेन सहोत्पद्यते, विनश्यति चेति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः। तत्रावस्थाभेदे प्रत्यभिज्ञोपपत्तावपि धर्मिणो देहस्य भेदे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः। अथवा यथा कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिरविकृतस्याऽऽत्मन एकस्यैव, तथा देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादुत्क्रान्तौ। तत्र स एवाहमितिप्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि जातमात्रस्य हर्षशोकभयादिसंप्रतिपत्तेः पूर्वसंस्कारजन्याया दर्शनात्। अन्यथा स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्तस्या इष्टसाधनतादिज्ञानजन्यत्वस्यादृष्टमात्रजन्यत्वस्य चाभ्युपगमात्। तथा च पूर्वापरदेहयोरात्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्या-

---

भूमिसंसृष्टसौरालोक-मरुमारीचिका अर्थात् बालुकामय भूमिसे सम्बद्ध सूर्यका प्रकाश उदकादिबुद्धिके समान 'स्थूलोऽहम्' (मैं मोटा-ताजा हूँ) इत्यादि बुद्धि भी भ्रम है, यह अवश्य मानना ही पड़ेगा, क्योंकि भ्रमत्वसाधक बाधक दोनोंमें समान है। यह 'न जायते' इत्यादि श्लोक में विस्तारसे कहेंगे। इससे देहसे भिन्न आत्मा है, किन्तु देहके साथ उत्पन्न और विनष्ट होता है, यह पक्ष भी खण्डित हो गया। इस पक्षमें अवस्थाभेदस्थलमें प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति होनेपर भी आत्माकी देहके भेदसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी यानी स्वप्न और योगैश्वर्यादिके उदाहरणमें शरीरका नाश होनेसे आत्मभेद आवश्यक होनेसे प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति नहीं होगी। अथवा जैसे अविकृत एक ही आत्मामें बाल्यादि अवस्थाओंकी क्रमशः प्राप्ति होती है, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति है, इस देहसे निकलनेपर भी वहाँ यद्यपि 'वही मैं हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं रहती, तथापि तत्काल उत्पन्न हुए बालकमें पूर्वजन्मके संस्कारसे हर्ष, शोक, भय आदिकी प्राप्ति देखी जाती है। [अवस्थान्तरमें योऽहमित्यादि उक्त प्रत्यभिज्ञा होती है, जन्मान्तरमें तो ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, फिर जन्मान्तरीय आत्मा पूर्व जन्मकी आत्मा से अभिन्न है, इसमें क्या प्रमाण' यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि इस जन्ममें इष्टानिष्टविषयप्राप्तिपरिहारप्रयुक्त हर्षशोकादिका यदि अनुभव ही नहीं, तो तज्जन्य संस्कारकी क्या संभावना, इसको व्यक्त करनेके लिये 'जातमात्रस्य' कहा है। बाह्यचिन्त्यपरिचयाद्यभावसूचनार्थं यहाँ 'मात्र' पद है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, उसको अकारण हर्ष, शोक, भयादि देखा जाता है। बालक अकस्मात् कभी हँसता है, कभी रोता है, चिहुँक उठता है, जो कि भयसे होता है। कारणके बिना कार्य नहीं होते, यह सर्वत्र सिद्धान्त है, दृष्टहासादि कार्यका कोई दृष्टकारण नहीं देख पड़ता, इसलिये अदृष्ट जन्मान्तरानुभूततत्तद्विषयवासनाकी ही कल्पना की जाती है। यह शंका मत कीजिये कि जन्मान्तरानुभूत वासनासे जन्मान्तरीयजननीजनकजात्यादिका भी स्मरण क्यों नहीं होता ? इसमें कारण यह है कि कार्यसे संस्कारोन्मेषकी कल्पना होती है, अन्यथा नहीं। दृष्टाहेतुकहासादि देखनेसे जन्मान्तरीय वासनाकी अभिव्यक्तिकी कल्पना उचित है।]

गमप्रसङ्गादित्यन्यत्र विस्तरः। कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः—कृतनाशः। अकृतयोः पुण्यपापयोरकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः। अथवा देहिन एकस्यैव तव यथाक्रमेण देहावस्थोत्पत्ति- विनाशयोर्न भेदो नित्यत्वात्, तथा युगपत्सर्वदेहान्तर-

---

यदि जन्मान्तरीय वासनामात्रकी अनभिव्यक्ति मानेंगे, तो स्तनपानादिमें बालककी प्रवृत्ति ही न होगी; क्योंकि इष्टसाधनतादिज्ञान और अदृष्टमात्र ये दोनों उस प्रवृत्तिमें कारण माने गये हैं। [क्योंकि चेतनप्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनास्मृति कारण है। ऐहिक स्मृतिके असंभवसे जन्मान्तरस्मृतिकी कल्पना होती है। जीवनादृष्ट ही तादृशवासनाका उद्बोधक माना जाता है। संस्कारान्तरस्मृतिके बिना जीवनानुपपत्ति नहीं होती। अतः तत्कल्पनामें कोई बीज नहीं है। इसी अभिप्रायसे ःयानी बालस्तनपानप्रवृत्तिमें इष्टसाधनताज्ञानजन्यत्व, एतद्द्वारा अदृष्टजन्यत्व तथा अदृष्टजन्यस्मृतिजन्य प्रवृत्तिमें साक्षात्स्मृतिजन्यत्व है, यों परम्परया अदृष्टजन्यत्व माननेसे उभयजन्यत्वोक्ति सिद्ध की गई है। अदृष्टजन्य ही प्रवृत्ति क्यों नहीं मानते, स्मृतिजन्यत्वकी क्या आवश्यकता ? यह शंका नहीं कर सकते, क्योंकि दृष्ट सामग्रीसंघटनार्थ ही अदृष्ट व्यापार होता है, साक्षात्कार्योत्पादनार्थ नहीं, अन्यथा कार्यमात्रमें अदृष्ट ही कारण है, यह भी कह सकेंगे। फिर कार्यमें दृष्टकारणजन्यत्वका अपलाप ही हो जायगा।] इस प्रकारसे पूर्वापरदेहमें एक ही आत्माकी सिद्धि हुई। अन्यथा कृतनाश अकृताभ्यागमप्रसक्ति दोष होगा। इसका अन्यत्र विस्तृत वर्णन मिलेगा ही। किये गये पुण्य और पापका भोगके बिना जो नाश है वह कृतनाश है। यदि देहभेदसे आत्मभेद मानेंगे, तो वर्तमान देहमें जो देही पुण्य-पाप करता है उसका भोग जन्मान्तरमें भी होता है, जन्मान्तरमें वर्तमान देह नहीं रहता, यह तो निश्चित ही है। यदि आत्मा भी न रहेगा, तो कृतकर्म—किया हुआ कर्म, फल दिये बिना नष्ट होता है, यह मानना ही पड़ेगा, यही कृतनाश कहा गया है। जन्मकालमें ही नहीं किये गये पुण्य और पापोंमें अचानक फलदातृत्व शक्तिका आजाना ही अकृताभ्यागम कहलाता है अर्थात् जन्मसमयमें देह और आत्मा ये दोनों यदि आगन्तुक हैं, तो सकलाङ्ग, विकलाङ्ग, धनी, दरिद्र, दीर्घायु, अल्पायु देही क्यों होते हैं। एक ही माता-पितासे उत्पन्न देहियोंमें ये भेद पाये जाते हैं। उत्पत्तिके अनन्तर ही कोई देही सकलसुखसामग्रीसे सम्पन्न होता है, कोई दुःखसामग्रीसे सम्पन्न मिलता है, यह पूर्वका ही फल कहा जा सकता है। वर्तमानमें तो उत्पन्न होते ही वह कोई कर्म कर नहीं सकता, यही अकृत-आगम है। [ये दोनों नहीं माने जाते, अन्यथा संसार ही अव्यवस्थित हो जायगा। जन्मान्तर सुखेच्छासे शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति, तथा दुःखनिवृत्तिकी इच्छासे अविहित कर्मसे निवृत्ति भी किसीकी न होगी। ऐसी स्थितिमें मनुष्य पशुप्रकृतिप्राय हो जायगा। जो किसीको भी इष्ट नहीं है। (जिस जन्ममें जो पुण्य और पाप करता है उसी जन्ममें वह सब भोग लेता है, जन्मान्तरके लिये कोई कर्म रहता ही नहीं। जन्मान्तरके इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थ कर्मविधान प्रतारणार्थ ही है, इसीको ऐकभविक कर्म कहते हैं। इस प्रश्नका तो उत्तर हम दे

प्राप्तिरपि तवैकस्यैव विभुत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेन नित्यत्वायोगात्, अणुत्वे सकल-देहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्, विभुत्वे निश्चिते सर्वत्र दृष्टकार्यत्वात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा-

---

चुके हैं] [अनित्यात्मवादी चार्वाकादिके मतका निराकरण नित्यविभु-अनेकात्मवादिवैशेषिकादिमत-निराकरणपरक होनेसे उक्त ग्रन्थकी योजना करते हैं—'अथवा' से। या जैसे आपके मतमें एक ही नित्य विभु आत्मामें क्रमशः बाल्यादि अवस्थाओंके उत्पाद और विनाश होते हैं, तो भी इससे आत्मभेद नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है; वैसे ही आपके मतमें भी एक कालमें ही सकल देहप्राप्तिप्रसंग है, क्योंकि आत्मा एक ही और विभु है।

[सर्वमूर्तसंयोगी विभु माना जाता है, फिर एक आत्माका एक ही शरीरमें भोग होता है, शरीरान्तरमें नहीं, इसमें क्या कारण है, यदि यह कहें, तो इसका उत्तर यह है कि जिस आत्माका जिस शरीरके साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है उस आत्माको उसी शरीरसे भोग होता है, शरीरान्तरसे नहीं। अतः भोग प्रत्यात्माका प्रति शरीरमें नियत है, सर्वसाधारण नहीं है।

शङ्का—आत्मत्वेन आत्मा स्वामी और शरीरत्वेन शरीर स्व है, तो फिर ऐसी दशा में आत्मा आत्मत्वेन स्वामी है और सब शरीर शरीरत्वेन स्व हैं, इस प्रकार एक ही आत्मा सब शरीरोंका स्वामी है; फिर नियत भोग क्यों ?

समाधान—जो शरीर जिस आत्माके अदृष्टसे उत्पन्न होता है उसी शरीरका वह स्वामी होता है, सब शरीरोंका नहीं। स्वशरीरसे ही स्वका भोग होता है, शरीरान्तरसे नहीं।

प्रश्न—अच्छा, तो अदृष्ट ही का विचार कीजिये। एक शरीरारम्भक कर्म एक ही आत्मामें क्यों ? जिस शरीरक्रियासे धर्माधर्म जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह अदृष्ट उस शरीरसम्बन्धी आत्मामें उत्पन्न होता है, यह आपका मत है। उस शरीरमें सब आत्माएँ हैं, फिर एक ही में उत्पन्न हुआ, दूसरेमें नहीं, इसमें क्या कारण है ? क्योंकि व्यापक होनेसे दूसरी भी आत्मा तो आत्मा है ही।

उत्तर—जिस आत्माके मनसे प्रेरित शरीरादि द्वारा जो कर्म होता है वह उसी आत्मामें होता है, दूसरेमें नहीं, यह उत्तर तो डूबतेको तिनकेका सहारा है। आत्ममनः संयोगमें भी तो यही प्रश्न होगा कि एक मनका संयोग एक ही आत्मामें क्यों ? क्या उस मनसे आत्मान्तरसंयोग नहीं मानते। यदि नहीं, तो फिर आत्मा व्यापक है, यह कैसे कहते हैं ? अनन्त मनके साथ यदि सम्बन्ध नहीं है, तो आपकी व्यापकोक्ति बालकोक्ति ही है, जिसका फल कौतुकमात्र है। इससे तत्त्वनिर्णय नहीं हो सकता।]

यदि आत्माको मध्यमपरिमाण मान लिया जाय, तो उसके सावयव होनेसे उसमें नित्यता नहीं रह सकती। [रामानुजीयादि मतनिराकरणार्थ 'अणुत्वे' इत्यादि कहते हैं।] यदि उसे अणु मान लेते हैं,

त्वमिति निश्चितोऽर्थः। तत्रैवं सति वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि। धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति, अहमेषां हन्तैते मम वध्या इति भेददर्शनाभावात्। तथा च विवादगोचरापन्नाः सर्वे देहा

तो फिर सकल देहोंमें व्याप्त सुख आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मा अणु अतएव नित्य तथा प्रतिशरीर भिन्न है। यदि अणु है, तो सकलशरीरव्यापि सुखादि (शैत्यादि) का ग्रहण कैसे होगा, [क्योंकि आत्मा जिस प्रदेशमें रहेगा, उसी प्रदेशमें प्रकाशक होगा, अन्यत्र नहीं। यद्यपि आत्मा अणु है, तथापि तत्प्रकाश चैतन्य तद्गुण सकलशरीरव्यापक है अतः सकलशरीरस्थ शैत्यादिग्रहणमें आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—यदि आत्मा और उसके गुण चैतन्यज्ञानमें गुणगुणीभाव है, तो गुणी (धर्मी) से शून्य प्रदेशमें गुण कैसे रह सकता है ? घटादि गुणीका रूपादि गुण घटादिभिन्न देशमें नहीं पाया जाता।

उत्तर—जैसे प्रदीपका गुण प्रकाश प्रदीपभिन्न देशमें पाया ही जाता है। प्रदीप गृहके एकदेशमें स्थित रहता है और तत्प्रकाश गृहोदरमात्रमें देखा जाता है। तद्वत् ज्ञानगुण शरीरव्यापक होता है। एवं पुष्प, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य एक देशमें रहते हैं, तत्गुण गन्ध चारों दिशाओंमें दूरतक फैली रहती है, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं।

शङ्का—प्रदीप सावयव तेजोद्रव्य है, उसके अवयव प्रसरणशील हैं; इसलिये मूलसे सघन अनेक तेजोद्रव्यके अवयव निकलकर उनसे विभक्त होते रहते हैं। जहाँ तक विभक्त हो सकते हैं वहाँ तक वे जाते हैं। आगे उनकी गति रुक जाती है। जहाँ तक जाते हैं वहाँ तक तद्गुण प्रकाश भी रहता है, अन्यत्र नहीं। अतएव उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्व-पूर्वमें अधिक प्रकाश और ऊष्मादिकी उपलब्धि होती है। जब दूसरे लोग पूरा नहीं देख पाते, तब प्रदीपको पास करके देखते हैं। पुष्पादि भी सावयव द्रव्य हैं, अतः वहाँ भी तदवयव द्रव्य प्रसरणशील हैं। इसलिए अवयव द्रव्यके साथ ही वायुवश दूरतक फैल जाता है, केवल गुणमात्र नहीं। अवयवविश्लेष द्वारा विनष्ट हो जानेके भयसे अवयविद्रव्य कर्पूरादि अतिसुरक्षार्थ शीशी आदिमें प्रयत्नपूर्वक रखा जाता है।

समाधान—अच्छा तो, मणि द्रव्यको ही उदाहरणरूपमें ले लीजिए। मणि तेजोद्रव्य अति कठिन है। उसके अवयव प्रदीप-पुष्पाद्यवयवोंके समान प्रसरणशील नहीं हैं और न तद्वत् आशुविनाशी ही हैं। मणिद्रव्य एकस्थ होकर स्वप्रभाके द्वारा दूरतक जैसे देशको व्याप्त करता है वैसे ही ज्ञानगुणको भी समझना चाहिये।

शङ्का—क्या यह मत प्रभाकरमिश्रके अनुसार आत्माको अचेतन द्रव्य मानकर चैतन्यात्मक ज्ञानको तद्गुण मानता है अथवा नहीं।

समाधान—मिश्रमतसे इस मतमें वैलक्षण्य है। इस मतमें आत्मा अचेतन नहीं है, किन्तु चेतन है।

एकभोक्तृका देहत्वात्त्वद्देहवदिति । श्रुतिरपि—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादि ।

एतेन यदाहुर्देहमात्रमात्मेति चार्वाकाः, इन्द्रियाणि मनः प्राणश्चेति तदेकदेशिनः, क्षणिकं विज्ञानमिति सौगताः, देहातिरिक्तः स्थिरो देहपरिमाण इति दिगम्बराः, मध्यमपरिमाणस्य नित्यत्वानुपपत्तेर्नित्योऽणुरित्येकदेशिनः तत्सर्वमपाकृतं भवति, नित्यत्वविभुत्वस्थापनात् ॥१३॥

शङ्का—आत्मा चेतन है और तद्गुण ज्ञान भी चेतन है। तब प्रकाशक आत्मा है अथवा ज्ञान, किंवा दोनों ?

समाधान—दोनों। तब तो आत्माको अजागलस्तनके समान चेतन मानना है, कारण कि प्रकाश तो तद्गुण ज्ञानसे भी हो सकता है—इत्यादि विशेष बातें अन्यत्र देखिए। विस्तारभयसे विशेष निरूपण छोड़ देता हूँ।]

प्रकृतमें उक्त कारणोंसे आत्मा विभु है, यह निश्चित होनेपर सब शरीरोंमें सात्मकार्यदर्शनसे सबमें एक ही आत्मा है, यही त्वमर्थ निश्चित है।

आत्मा सब शरीरमें एक है, इस दशामें हिंस्य-हिंसकभावसे आत्मामें भेद मानकर अज्ञानी तुम मोह प्राप्त कर रहे हो, ज्ञानी इसमें मोह नहीं करते, कारण है कि हम इनके हन्ता हैं, वे मेरे वध्य हैं—इस तरहका भेदज्ञान उनको नहीं रहता और उचित भी यही है, क्योंकि सब देहोंमें एक ही आत्मा है या नाना, विवादमें स्वयं अनुमानादिकुशल मेधावीको निर्णय करना चाहिए; ऐक्यानैक्यमें मुग्ध नहीं होना चाहिए। ऐसे अनुमान इस प्रकार करो,—सब देहोंमें एक ही भोक्ता है, देह होनेसे, तुम्हारी देहके समान, [देहवत्, इसकी जगह 'देहान्तरवत्' भी पाठ है, आत्माको नित्य विभु मान ही चुके हो, फिर आत्मभेदकी क्या सम्भावना। भेदके बिना वध्य-घातकभाव नहीं हो सकता। अंगुली अपनेको स्पर्श नहीं करती, किन्तु दूसरेको स्पर्श करती है। कैसा भी बाजीगर (खेलाड़ी) क्यों न हो, फिर भी वह अपने कन्धेपर नहीं चढ़ सकता। खूब विचारकर देखो। क्रिया-कर्तृ-कर्मभाव भेदमें ही होता है। किसी भी क्रियामें जो कर्ता है वही कर्म नहीं हो सकता, फिर मारना क्रियामें यह कैसे होगा ?

प्रश्न—इस व्याप्तिमें क्या प्रमाण है ? भिन्न आत्मा मानने पर क्या देह नहीं हो सकती ? वही व्याप्ति प्रामाणिक मानी जाती है, जिसमें अनुकूल तर्क हो, अन्यथा 'त्वद्देहो मद्देहात्मभिन्नात्मकः, देहत्वात्, देहान्तरवत्', 'सर्वे देहा भिन्नभोक्तृकाः देहत्वात्, त्वद्देहवत्' इत्यादि अनुमानसे आत्मभेद ही क्यों न माना जाय ?]

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! शीत, गर्मी, सुख और दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग उत्पत्ति-विनाशशील एवं अनित्य हैं, अतएव हे भारत ! उनका तू सहन करो ॥ १४ ॥

नन्वात्मनो नित्यत्वे विभुत्वे च न विवदामः, प्रतिदेहमेकत्वं तु न सहामहे । तथाहि—बुद्धिसुखदुखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यनवविशेषगुणवन्तः प्रदिदेहं भिन्ना एव नित्याः

उत्तर—प्रथम उक्त व्याप्तिमें श्रुति भी प्रमाण है—'एको देवः सर्वभूतेषु' इत्यादि । [दीव्यति, क्रीड़ति, व्यवहरति इति देवः, एक ही आत्मा यदि सब भूतोंमें है, तो एकत्वेन क्यों नहीं प्रतीत होता ? अतः 'गूढ़ः' कहा । इसमें एकत्व आवृत है अर्थात् एकत्वेन आवृत है । 'शिखी ध्वस्तः' के समान गूढ़त्व विशेषणमात्रमें विवक्षित है । 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषण उपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे' यह न्याय प्रसिद्ध है । इसमें हेतु है सर्वव्यापी यतः सर्वव्यापी अतः सर्वभूतान्तरात्मा ।

सर्वभूतात्मा ही ठीक है, फिर 'अन्तः' पद किस लिए है ? यदि यह पूछिये, तो इसका उत्तर यह है कि आत्मा चिदचित्ग्रन्थि भी लोकमें प्रसिद्ध है, तद्व्यावृत्त्यर्थ ही 'अन्तः' पद है । उसके भी भीतर स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा वस्तुतः एक ही है । अतएव 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यमयति, यं पृथिवी न वेद' इत्यादि अन्तर्यामिब्राह्मणमें 'आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य है । अतः लौकिकात्मव्यवच्छेदार्थ 'अन्तः' पद है—इत्यादि वहीं स्पष्ट है ।]

इससे चार्वाकोंने जो कहा वह ठीक नहीं है । देहमात्र ही आत्मा है, यह उनका मत है । तदेकदेशियोंका यह मत है कि इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि आत्मा हैं । क्षणिक विज्ञान आत्मा है, यह सौगतका मत है । देहादिव्यतिरिक्त स्थिर देहपरिमाण आत्मा है, यह दिगम्बरका मत है । मध्यमपरिमाण आत्मा नित्य नहीं हो सकता, इसलिए नित्य अणु आत्मा है, यह श्वेताम्बरोंका मत है । ये सब मत पूर्व निराकरणसे निराकृत हो गये । एतन्निराकरणार्थं पृथक् प्रयासकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इन मतोंमें आत्मा नित्य और विभु नहीं माना जाता है । विचार द्वारा तथा श्रुतिसे आत्मा नित्य और विभु माना गया है, अतः श्रुतिविरुद्ध ये सब कपोलकल्पित होनेसे अप्रामाणिक और कल्याणार्थियोंके लिए अनुपादेय हैं । श्रुतिसे तो आत्मामें नित्यत्व और विभुत्व व्यवस्थित है ही[1] ॥ १३ ॥

आत्माके नित्यत्व और विभुत्वमें हम विवाद नहीं करते हैं, किन्तु प्रतिदेहमें एक ही जात्मा है, इसको हम नहीं सह सकते हैं ।

१. कौमाराद्यवस्थाभेद होनेपर भी आत्मप्रत्यभिज्ञासे जन्म और विनाश जैसे आत्माका नहीं माना जाता, वैसे ही देहान्तरप्राप्तिमें जन्मादि शरीरका ही धर्म है, आत्माका नहीं, यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, कारण कि देहान्तरप्राप्तिमें 'स एवाहम्' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती ।

विभवश्चाऽऽत्मान इति वैशेशिका मन्यन्ते। इममेव च पक्षं तार्किकमीमांसकादयोऽपि प्रतिपन्नाः। सांख्यास्तु विप्रतिपद्यमाना अप्यात्मनो गुणवत्त्वे, प्रतिदेहं भेदे न विप्रतिपद्यन्ते, अन्यथा सुखदुःखादि-संकरप्रसङ्गात्। तथा च भीष्मादिभिन्नस्य मम नित्यत्वे विभुत्वेऽपि सुखदुःखादियोगित्वाद्भीष्मादिबन्धुदेहविच्छेदे सुखवियोगो दुःखसंयोगश्च स्यादिति शोकमोहौ नानुचिताविति अर्जुनाभिप्रायमाशङ्क्य लिङ्गशरीरविवेकायाऽऽह 'मात्रा' इति। मीयन्त आभिर्विषया इति मात्राः-

शंका—क्यों ?

उत्तर—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना—ये नवगुण आत्मामें हैं। एतन्नवगुणविशिष्ट आत्मा प्रतिदेह भिन्न है इसी प्रकार नित्य और विभु आत्मा प्रतिदेह भिन्न है। इसी प्रकार नित्य और विभु आत्मा है, यह वैशेषिक मानते हैं। एतत्सम्मत ही आत्मा अक्षपाद और मीमांसक आदि भी मानते हैं। उन्हें इस विषयमें कोई विवाद नहीं है, परन्तु सांख्य लोगोंको आत्माके गुणवत्त्वमें विवाद है, पर प्रतिदेह आत्मभेदमें विवाद नहीं है। कारण, यदि एक ही आत्मा माना जाय, तो सुख-दुःखका सांकर्य हो जायगा। इसलिए हम भीष्मादिभिन्न नित्य और विभु हैं, तो भी सुख-दुःखादि भोगी भी हैं ही। अतः पूज्य भीष्मादि बन्धुओंके शरीरविनाशसे सुखाभाव, और दुःखश्लेष अवश्य होगा। इसलिये शोक और मोह अनुचित नहीं है। अर्जुनके इस अभिप्रायकी आशंकाकर लिङ्गशरीरज्ञान केलिए भगवान् कहते हैं—'मात्रा०' इत्यादिसे।

श्रुतिसे आत्मनित्यत्वका निश्चय किया जाता है, क्योंकि श्रुत्येकवेद्य आत्मामें लौकिक प्रत्यभिज्ञाका अभाव अकिंचित्कर है, इस आशयसे कहते हैं—'धीरस्तत्र न मुह्यति'। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [कठो० ।२।१८], 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' [छा० उ० ६।११।३] इन श्रुतियोंसे आत्मतत्त्वज्ञ पण्डित धीर हैं। 'मत्वा धीरो न शोचति' [कठो० ६।६] इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध ही यहाँ धीर विवक्षित है।

शङ्का—जब देहात्मैक्याध्यास ही नहीं बन सकता, तो फिर देहधर्मका अध्यास आत्मामें कैसे होगा, क्योंकि धर्म्यध्यासपूर्वक ही धर्माध्यास माना जाता है।

समाधान—देहात्मभेद प्रत्यक्षसे सिद्ध है और भेदाग्रह अध्यासमें हेतु है। यदि कहिये, यह कैसे ? तो सुनिये—जिस बचपनमें मैंने माता-पिताको देखा था, वही मैं परपोतोंको देखता हूँ। बाल-वृद्धशरीरको भेदज्ञानके साथ आत्मैक्य-प्रत्यभिज्ञा देखनेसे उन दोनों शरीरोंसे भिन्न और उनमें अनुवर्तमान आत्माका, पुष्पोंमें भिन्न और सब पुष्पोंमें अनुवर्तमान माला सूतके समान, भेद प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। प्रत्यक्षसिद्ध भेदोंका मिथः अध्यास कहीं भी दृष्ट नहीं है। अन्यथा 'मञ्चा क्रोशन्ति' (चौकी या कुर्सी चिल्लाती है) यहाँ भी अध्यासप्रसक्ति हो जायगी। इसी शङ्कासे कहते हैं—'अस्मिन् देहे'।

इन्द्रियाणि, तासां स्पर्शा विषयैः संबन्धास्तत्तद्विषयाकारान्तःकरणपरिणामा वा। त आगमापायिनः उत्पत्तिविनाशवतोऽन्तःकरणस्यैव शीतोष्णादिद्वारा सुखदुःखदाः, न तु नित्यस्य विभोरात्मनः, तस्य निर्गुणत्वान्निर्विकारत्वाच्च। न हि नित्यस्यानित्यधर्माश्रयत्वं संभवति, धर्मधर्मिणोरभेदात्संबन्धान्तारानुपपत्तेः साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वानुपपत्तेश्च। तदुक्तम्—'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी

'मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे। अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीवं कार्त्स्न्येऽवधारणे॥' यह मेदिनीकोश है। 'अल्पे च परिमाणे स्यात् मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' यह अमरकोश है। एतद् उभयकोशसे यद्यपि मात्राशब्द इन्द्रियार्थकत्व सिद्ध करते हैं। इन्द्रियोंमें यौगिक उक्त शब्द है; इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध स्पर्श है अथवा तत्तद्विषयाकार अन्तःकरणका परिणाम स्पर्श है। बहिरिन्द्रियोंके तात्पर्यसे स्पर्शका सम्बन्ध अर्थ किया गया है। मनके तात्पर्यसे तद्विषयाकार अन्तःकरण परिणाम स्पर्शका अर्थ किया गया। ये उत्पत्ति विनाशशाली अन्तःकरणके धर्म हैं। उसीको शीतोष्ण द्वारा सुख-दुःख देते हैं; नित्य, विभु और अविक्रिय आत्माको नहीं, क्योंकि आत्मा निर्गुण और निर्विकार है।

शंका—आत्मा निर्गुण क्यों है ?

समाधान—अनित्य धर्म नित्य धर्मीमें नहीं रहते, इसलिए।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—धर्म-धर्मीका तादात्म्य सम्बन्ध है, सम्बन्धान्तर नहीं। [नित्यानित्यका अभेदरूपी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, धर्मनाशसे तद्भिन्न धर्मिनाशापत्तिके कारण धर्मोंका नित्यत्व असंगत हो जायगा।

भाव यह है—मेरी जो बाल्यावस्थामें अति कोमल देह थी, वही वृद्धावस्थामें अति जरठ हो गई है, यह प्रत्यभिज्ञा देखनेसे 'योऽहं बाल्ये' इत्यादि आपकी उक्त प्रत्यभिज्ञा कौमारजरावस्थाभेदमात्रविषयक होनेसे बाल-स्थविरदेह भेदग्राहिणी नहीं है, अतः आत्मैक्याध्यासकी अनुपपत्ति नहीं है।

प्रश्न—अच्छा तो प्रत्यभिज्ञासे देहभेदग्रहण न सही, द्रव्यभेदग्रहण होता है। प्रकृतमें उक्तावस्थाद्वयगत परिमाणभेदग्रहणसे बाल-स्थविरशरीरभेद गृहीत ही हो जायगा, फिर अध्यास कैसे ?

उत्तर—एक ही देहसे कालभेदसे परिमाणभेद हो सकता है।

शङ्का—अवयवोंके उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) के विना परिमाणभेद नहीं होता। उसमें अवयवापचय होनेपर समवायिकारण तत्तदवयवोंके नाशसे पूर्व अवयवीका विनाश अवश्य होगा, क्योंकि कार्यद्रव्यका नाश दो प्रकारसे तार्किक मानते हैं—एक समवायी कारणके नाशसे और दूसरा असमवायी कारणके नाश से। अतः पूर्वावयव-

साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रियासहस्राणां साक्षितोऽहमविक्रियः बृ० वा० १-४-५६१, ॥ इति ॥ तथा च सुखदुःखाद्याश्रयीभूतान्तःकरणभेदादेव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्नं निर्विकारस्य

धर्म और धर्मीका सम्बन्धान्तर क्यों नहीं हो सकता ? सम्बन्धान्तर समवाय तो नैयायिक मानते ही हैं। आत्मामें ज्ञान समवायसम्बन्ध से रहता है इसमें क्या अनुपपत्ति ? प्रत्युत अनुमानसे उपपत्ति होती है। देखिये—'गुणवद्‌द्रव्यमित्यादिविशिष्टबुद्धिः विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डिपुरुषः इति विशिष्टबुद्धिवत्'—इस अनुमानसे जो सम्बन्ध सिद्ध होता है उसमें संयोग लक्षणका बाध होनेसे वह संयोगस्वरूप नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उससे अतिरिक्त समवायनामक सम्बन्धका उपपादन करते हैं—पर यह उनका उपपादन ठीक नहीं है। यदि कहिए, क्यों, तो इसपर सुनिये—

विनाश होनेपर पूर्वावयवीका भी विनाश होता है और अवशिष्ट अवयवोंसे दूसरे अवयवीकी उत्पत्ति होती है। एवं अवयवोपचयपक्षमें पूर्वसिद्ध अवयवोंमें पीछे आनेवाले अवयव कारण हो नहीं सकते, क्योंकि कार्यपूर्वक्षणवर्तीको ही वे लोग कारण मानते हैं। अतः पूर्वस्थित अवयवोंके साथ आगन्तुक मिलकर महान् अवयवीको उत्पन्न करते हैं, इसलिए परिमाणभेदसे द्रव्यभेद आवश्यक है। समान काल और देशमें मूर्तद्वयकी एकमें स्थितिविरुद्ध है, अतः उत्तरावयवीकी स्थितिके लिए पूर्वावयवीका नाश आवश्यक है, यह उनका मत समीचीन नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—पटमात्रमें कुविन्दतन्तुतुरीसंयोगवेमादि कारण है, यह सर्वत्र निश्चित है। केवल अवयवमात्रसे पटकी उत्पत्ति नहीं होती, फिर उक्त कारणकलापके बिना केवल आगन्तुक अवयवमात्रसे पटान्तरोत्पत्ति कैसे होगी ? अन्यथा तुरीतन्तुसंयोगादि पटके कारण ही नहीं होंगे, जिसके रहनेसे जो हो, वह उसका कारण है, यह बात नहीं है, किन्तु जिसके रहनेसे ही जो हो अर्थात् न रहनेसे न हो वह उसका कारण है, यही उसका भी सिद्धान्त है। प्रकृतमें स्वसिद्धान्त-विरुद्ध कर्ता आदि कारणके बिना दूसरे अवयवीकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यदि महापटोत्पत्तिके ही कुविन्दादि कारण हैं, खण्डपटोत्पत्तिके नहीं, महापटोत्पत्तिसे पूर्व खण्डपटमें भी कारण नहीं होंगे, फिर खण्डपटोत्पत्ति ही उक्तकारण-कलापके बिना केवल अवयवमात्रसे क्यों नहीं होती और खण्डपर भी स्वन्यूनपटकी अपेक्षा महान् है ही, फिर उसमें कारण क्यों नहीं ? महापटमें तुरीतन्तुसंयोगादिजन्यपटसे ही उक्त कारण है, तदन्य पटमें नहीं, इत्यादि कथन बालभाषित है। अभीतक तदन्य पटकी सिद्धि ही नहीं हुई और अन्योन्याश्रय भी स्पष्ट ही है। बड़े-बड़े किलोंमें कुछ ईंटोंके खिसक जानेसे पूर्व किले नष्ट होजाते हैं और क्षणभरमें नये किले उत्पन्न हो जाते हैं, यह किसीके मनमें आ नहीं सकता। इस असंभवार्थकल्पनासे आरम्भवादकी जड़ ही छिन्न-भिन्न हो जाती है, इत्यादि अन्यत्र देखिये। इससे कौमारादि देहभेद भी 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे देहभिन्न आत्मा है, एतत्प्रतिपादनपरक गीताका यह श्लोक है, इस भाष्यव्याख्यानका

सर्वभासकस्यात्मनः भेदे मानमस्ति, सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वत्रानुगमात्। अन्तःकरणस्य तावत्सुखदुःखादौ जनकत्वमुभयवादिसिद्धम्। तत्र समवायिकारणत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात्तदेव

समवाय किस सम्बन्धसे धर्मीमें रहता है? गुणके समान उक्त सम्बन्ध भी सम्बन्धीसे भिन्न है; अतः किसी सम्बन्धसे रहकर ही सम्बन्धिताका नियामक होगा, अन्यथा हिमवान् और विन्ध्य पर्वतकी भी सम्बन्धिता हो जायगी। इसका सम्बन्ध यदि कोई हो, तो उसका भी सम्बन्धान्तर पुनः उसका सम्बन्धान्तर—इस प्रकार सम्बन्धविशेषानुधावन करनेसे अनवस्था हो जायगी। अन्त्य सम्बन्धका यदि सम्बन्ध नहीं है, तो आमूल सम्बन्ध असिद्ध हो जायगा। इस दोषको वारण करनेके लिए यदि समवायका स्वरूपसम्बन्ध माना जाय, तो गुण-गुणीका ही स्वरूपसम्बन्ध मान लेनेसे समवायसम्बन्धकी सिद्धिका उपपादन नहीं हो सकता। गुण-गुणीका स्वरूप तत्सम्बन्ध होगा, सो तादात्म्य ही में पर्यवसित होगा। इसलिए दोष ध्रुव है।]

और सुनिये—ज्ञान-सुख आदि गुण साक्ष्य हैं, इन सबोंका साक्षी आत्मा है। ज्ञाता चेतन साक्षी है, ज्ञेयता साक्ष्य है। साक्ष्य साक्षीका धर्म कैसे होगा? देवदत्तके अभियोगका साक्षी यदि मैत्र होता है, तो वह अभियोग मैत्रका नहीं कहा जा सकता है और यदि मैत्रका हो, तो वह अभियोगका साक्षी ही नहीं हो सकता; सो 'नर्ते स्यात्' इत्यादिसे कहा है।

भी निराकरण समझना चाहिये। 'अस्मिन् देहे कौमारं यौवनं जरा' इस प्रकार उक्त अवस्था भिन्न होनेपर देह वही है, इस प्रत्यभिज्ञासे देह एक ही है, यह कण्ठतः कहा गया हैं, अतः उक्त व्याख्यान मूलविरुद्ध है। केवल देह एक हो पर कौमारादि-अवस्थाविशिष्टत्वसे भेदमें विरोध नहीं है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मामें भी वैसा भेदके सुवच होनेसे देहात्मवादका निरास ही नहीं होगा।

'देहिन' अर्थात् एक ही आत्माका जैसे कौमारादि, अवस्थाकी उत्पत्ति और नाशसे भेद नहीं होता, क्योंकि नित्य है; वैसे ही एककालावच्छेदसे सकलदेहप्राप्ति है, क्योंकि आत्मा विभु है अर्थात् सब देहोंमें एकही आत्मा है। ऐसी परिस्थितिमें वध्यघातककल्पना अर्थात् भीष्मादि वध्य हैं, मैं घातक हूँ, इस तरह भेदकल्पनासे तुम अधीर होकर मुग्ध होते हो और धीर विद्वान् इस विषयमें मुग्ध नहीं होते, यह मधुसूदन सरस्वतीका व्याख्यान यानी युगपत्सर्वदेहप्राप्ति यह अशब्दार्थकल्पना है, क्योंकि मूलमें उक्तार्थवाचक कोई शब्द नहीं है तथा विभुत्वका अध्याहार भी समर्थनार्थ करना होगा, अतः भाष्योक्तार्थ ही ठीक है। अनेकार्थ गीत है, इस मतमें यह भी अर्थ है कि जीवनाश मानकर शोक तो नहीं कर सकते हो। 'नरके नियतं वासः' से तुम भी जीवको नित्य ही मानते हो। शरीरका नाश मानकर भी शोक करना उचित नहीं है। कौमारावस्थाविशिष्ट देहनाशमें इस कारण शोक नहीं होता कि उससे अच्छा युवा शरीर मिलता है। जीर्ण शरीर देकर अच्छा कौमार शरीर मिलेगा, इसमें शोक क्यों? पुराना वर्तन देकर नूतन वदलनेमें प्रत्युत हर्ष ही लोग मानते हैं। दोनों सप्तमी निमित्तार्थक है। जरा-जीर्ण देह देखकर कमनीय सुकुमार बाल-शरीर लेनेमें क्या शोक है? 'केशेषु चमरीन् हन्ति' इसके समान ही यहाँ सप्तमी है।

कल्पयितुमुचितम्; न तु समवायिकारणान्तरानुपस्थितौ निमित्तत्वमात्रम् । तथा च 'कामः-संकल्पः' इत्यादिश्रुतिः 'एतत्सर्वं मन एव' इति कामादिसर्वविकारोपादानत्वमभेदनिर्देशान्मनस आह । आत्मनश्च स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूपत्वस्य श्रुतिभिर्बोधनान्न कामाद्याश्रयत्वम् । अतो वैशेषि-

विकारके विना आत्मा दुःखी नहीं हो सकता, इसके लिए यदि आत्माको विकारी मानें, तो उसमें साक्षित्व कैसे हो सकता है ? विकारी साक्ष्यकोटिमें है, साक्षिकोटिमें नहीं। 'अहं' आत्मा सहस्रों बुद्धिविकारोंका साक्षी है, अतः अविकारी है । इस प्रकार सुख-दुःखादि उक्त नव गुणोंके आश्रयीभूत अन्तःकरणके भेदसे प्रतिव्यक्ति नियत तद्भान व्यवस्थाकी उपपत्ति होती है। इसके लिए निर्विकार सर्वजगत् भासक आत्माके भेदमें कुछ प्रमाण नहीं है । सद्रूप और स्फुरण रूपसे सर्वत्र आत्मा का भान है। अस्ति, भातिका सर्वत्र व्यावहारिक जगत्में अनुवृत्ति है ।

शंका—'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीतिसे सुखादि आत्मनिष्ठतया प्रतीत होते हैं, फिर उनको मनोवृत्ति क्यों मानते हैं ?

समाधान—अन्तःकरणमें सुखादिजनकत्व आप और हम समानरूपसे ही मानते हैं। भेद उतना ही है कि आप निमित्तकारण मानते हैं, समवायिकारण नहीं। समवायसम्बन्धसे जिसमें कार्य हो, वह समवायिकारण है और असमवायिकारणमें रहकर ही कारण हो, वह असमवायिकारण है। इन दोनों कारणोंसे भिन्न निमित्तकारण कहलाता है, यह नैयायिकोंकी प्रक्रिया है। इसमें विचारणीय बात यह है कि मन समवायिकारण है या निमित्तकारण ? इसके लिए इन तीनोंमें मुख्य कौन है ? इसका विचार करना चाहिए । समवायीके विना असमवायी हो ही नहीं सकता, क्योंकि समवायघटित असमवायीका लक्षण है अतः समवायीके अधीन असमवायीके होनेसे समवायी प्रधान है। निमित्त तो दोनोंके अधीन होनेसे दोनों कारणोंसे अप्रधान है। यदि मन प्रधान कारण हो सकता है तो अप्रधान क्यों माना जाय ? इस कारणसे समवायिकारणको अभ्यर्हित कहा है। समवायिकारणान्तरके निश्चित होनेसे मनको निमित्त-कारण कह सकते हैं, किन्तु निश्चित यदि दूसरा समवायिकारण नहीं है, तो मनको ही समवायिकारण मानना उचित है।

शंका—उक्त प्रतीतिको समवायिकारणान्तरका निर्णायक दिखला चुके हैं।

समाधान—वह तो श्रुतिविरुद्ध होनेसे आभास है। 'अहं गौरः, अहं काणः' के समान सुखादिकोंके आत्मधर्म होनेसे प्रमाण नहीं है। देखिये—'कामः संकल्पः' तथा 'एतत् सर्वं मन एव' ये श्रुतियाँ अभेदका निर्देश होनेसे काम आदि सब विकारोंका उपादान मनको ही बतलाती हैं।

[शंका—श्रुतिमें 'मनसि' न होकर 'मनः' ऐसा पाठ क्यों है ?

कादयो भ्रान्त्यैवाऽऽत्मनो विकारित्वं भेदं चाङ्गीकृतवन्त इत्यर्थः । अन्तःकरणस्याऽऽगमापायित्वाद्, दृश्यत्वाच्च नित्यदृग्रूपात्त्वत्तो भिन्नस्य सुखादिजनका ये मात्रास्पर्शाः, तेऽप्यनित्या अनियतरूपाः । एकदा सुखजनकस्यैव शीतोष्णादेरन्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात्; एवं कदाचिद्दुःखजनकस्याप्यन्यदा सुखजनकत्वदर्शनात् । शीतोष्णग्रहणमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखोपलक्षणार्थम् । शीतमुष्णां च कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं, सुखदुःखे तु न कदाऽपि विपर्ययेते इति पृथङ्निर्देशः । तथा चात्यन्तास्थिरांस्त्वद्भिन्नस्य विकारिणः सुखदुःखादिप्रदान् भीष्मादिसंयोगवियोगरूपान् मात्रास्पर्शांस्त्वं तितिक्षस्व नैते मम किंचित्करा इति विवेकेनोपेक्षस्व-

समाधान—'मृद् घटः' इत्यादिके समान उपादानोपादेयका अभेद सकलानुभव सिद्ध है। अतः कामाद्यखिल विकारोंका उपादानत्वबोधन करनेके लिए 'मनः'—ऐसा पाठ है। मनः प्रतिशरीर भिन्न तथा विकारी है।]

श्रुतियोंके द्वारा स्वप्रकाश ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका, बोध न होनेसे वह काम आदिका आश्रय नहीं है, अतः वैशेषिक आदिकों ने भ्रान्तिसे ही आत्माको विकारी और भिन्न स्वीकार किया है, यह तात्पर्य है। अन्तःकरण उत्पत्ति-विनाशशाली और दृश्य भी है। मन नित्य, दृग् चैतन्यरूप त्वंपदार्थसे भिन्न है। उसमें जो सुखादिजनक मात्रास्पर्श हैं, वे भी अनित्य और अनियतरूप हैं।

शंका—अनित्य होनेपर भी अनियतरूप क्यों मानते हैं ?

समाधान—एक समय जो शीत और उष्ण सुखजनक होते हैं वे ही दूसरे समय दुःखदायी बन जाते हैं अर्थात् शीतकालमें जो सूर्यकी किरण सुखद रहती है, ग्रीष्मकालमें वही किरण दुःखद होती है। ग्रीष्मकालमें शीतस्पर्श सुखप्रद है, किन्तु शिशिरमें वही दुःखप्रद है—यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस प्रकार कदाचित् दुःखजनक कालान्तरमें सुख-जनक देखा गया है। शीतोष्णग्रहण आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखोंका उपलक्षण है।

प्रश्न—परस्परविरोधी शीतोष्णके ग्रहणसे सुख-दुःखबोध सिद्ध था, फिर सुखादिका ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर—शीत और उष्ण अनियत हैं, कभी सुखद और कभी दुःखद है, परन्तु सुख और दुःख ऐसे नहीं हैं, ये सदा अनुकूल वेदनीय और प्रतिकूल वेदनीय ही रहते हैं। इनका कभी विपर्यय नहीं होता, इस विशेषज्ञापनके लिए सुखादिका पृथक् निर्देश है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे नरपुंगव! सुख और दुःख को समान समझनेवाले जिस धैर्यवान् पुरुषको इन्द्रिय और विषयोंका संयोग व्याकुल नहीं करता, वह मोक्षका अधिकारी होता है ॥ १५ ॥

दुःखितादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं दुःखिनं मा ज्ञासीरित्यर्थः। कौन्तेय भारतेति संबोधनद्वयेनोभय-कुलविशुद्धस्य तवाज्ञानमनुचितमिति सूचयति ॥ १४ ॥

नन्वन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वे तस्यैव कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च चेतनत्वमभ्युपेयम्, तथा च तद्व्यतिरिक्ते तद्भासके भोक्तरि मानाभावान्नाममात्रे विवादः स्यात्, तदभ्युपगमे च बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः, अन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन बद्धत्वात्, आत्मनश्च तद्व्यतिरिक्तस्य मुक्तत्वादित्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह भगवान्—'यं हि' इति। यं स्वप्रकाशत्वेन स्वत एव प्रसिद्धम् "अत्रायं पुरुष० स्वयंज्योतिर्भवति" इति श्रुतेः पुरुषः पूर्णत्वेन पुरि शयानं

अत्यन्त अस्थिर त्वद्भिन्न विकारी अन्तःकरणको सुखादिप्रद भीष्मादि संयोग-वियोगरूप मात्रास्पर्शको तुम सहो अर्थात् ये मेरा कुछ नहीं कर सकते—इस बुद्धिसे मात्रास्पर्शकी उपेक्षा कर दो। दुःखी अन्तःकरणके तादात्म्याध्याससे अपनेको दुःखी न समझो, यह भाव है।

प्रश्न—'कौन्तेय' और 'भारत' इन दोनों पदोंसे सम्बोधन करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पितृकुल और मातृकुल दोनोंमें—शुद्धि-सूचक तथा शुद्ध कुलद्वयमें प्रसूत तुम विशुद्ध हो, अतः इस तरहका अज्ञान अत्यन्त अनुचित है—इसी अभिप्रायको सूचित करनेके लिए दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग किया गया है ॥ १४ ॥

सुख, दुःख आदिका आश्रय होनेसे अन्तःकरण कर्ता और भोक्ता है, इसीलिये उसको चेतन मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्तःकरणादिभासक भोक्तामें कुछ प्रमाण नहीं है। आत्मा और अन्तःकरण ये दो संज्ञाएँ हैं; संज्ञी एक ही है; अतः केवल नाममें विवाद है, आत्मपदार्थमें नहीं। किसीके मतसे आत्मशब्दसे कहा जाता है और किसीके यहाँ अन्तःकरणशब्दसे, पर वस्तु एक ही हुई। यदि सुखादिका आश्रय अन्तःकरण है और इससे अतिरिक्त आत्मा मुक्त होता है, तो बन्ध और मोक्षमें वैयधिकरण्य हो जायगा। अर्थात् बन्ध अन्तःकरणका और मोक्ष आत्माका होगा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशमें बन्ध और मोक्ष होने लगेगा, जो लोकानुभवविरुद्ध होनेसे अनुचित है। जो बद्ध है वही मोक्षकी इच्छा करता है और मुक्त होता है। अन्तःकरण अचेतन सुखादिका आश्रय और विकारी है। आत्मा सदा शुद्ध स्वयंप्रकाश और

"स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः, नैतेन किंचनानावृतं, नैतेन किंचनासंवृतम्" इति श्रुतेः, समदुःखसुखं समे दुःखसुखे अनात्मधर्मतया भास्यतया च यस्य निर्विकारस्य स्वयं-ज्योतिषस्तम्, सुखदुःखग्रहणमशेषान्तःकरणपरिणामोपलक्षणार्थम्, "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" इति श्रुत्या वृद्धिकनीयस्तारूपयोः सुखदुःखयोः प्रतिषेधात्, धीरं धियमीरयति प्रेरयतीति व्युत्पत्त्या चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरकं धीसाक्षिणमित्यर्थः। "सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति" इति श्रुतेः। एतेन बन्धप्रसक्तिर्दर्शिता। तदुक्तम्—

"यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा।
भावाभावविभागश्च स ब्रह्माऽस्मीति बोध्यते ॥" इति।

मुक्त ही है, ऐसी परिस्थितिमें वेदान्तोपदेश किसकी मुक्तिके लिये अपेक्षित है, इस अर्जुनकी शङ्काके निवारणके लिये श्रीभगवान्ने कहा—'यं हि' इत्यादि।

प्रकाशान्तरानपेक्ष प्रकाशरूप स्वप्रकाश आत्मा 'अत्रायं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध है। संप्रसाद (सुषुप्ति) अवस्थामें पुरुष स्वयंज्योति है, क्योंकि इन्द्रिय और मन की उस अवस्थामें उपरति है। पूर्ण होनेसे शरीरमें रहनेके कारण 'पुरुष' कहलाता है इसमें 'स वा अयं पुरुषः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। समदुःखसुखे—अनात्मधर्म तथा भास्य होनेके कारण जिस निर्विकार स्वयंज्योतिके दुःख-सुख दोनों एकसे रहते हैं उसको अर्थात् आत्माको सुख और दुःख समान है, कारण सुखादि आत्माका धर्म नहीं है। इसमें हेतु भास्यत्व है। साक्ष्य, साक्षीका धर्म नहीं हो सकता, यह पूर्वमें कहा जा चुका है। सुख और दुःखका ग्रहण समस्तमनोधर्मका उपलक्षण है। 'एष नित्यो महिमा०' (सकल मनोधर्मोंसे अतीत आत्मा शुभ कर्म से न बढ़ता है और न पापकर्मसे घटता है) इस श्रुतिसे वृद्धि और लघुता रूप सुख और दुःखका निषेध किया गया है। धीरम्—धियम् यानी बुद्धिको जो ईरयति यानि प्रेरित करता है इस व्युत्पत्तिसे चिदाभास द्वारा अर्थात् चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्तःकरणके साथ तादात्म्य (अभेद) का अध्यास (भ्रम) होनेसे बुद्धिके प्रेरक अर्थात् बुद्धिके साक्षी आत्माको, यह भाव है। इसमें "स धीः स्वप्नो भूत्वा" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। ['सधीः स्वप्नो भूत्वा' इस श्रुतिपाठमें 'धिया सह वर्तमानः' अर्थात् बुद्धिके साथ रहनेवाला—यह अर्थ होगा, इस प्रकार दोनों अर्थोंमें कोई भेद नहीं है। स्वयंज्योति चिन्मात्र आत्मामें बुद्धिसहितत्व आध्यासिक ही है। 'इमं लोकम्' अर्थात् जागरित लोकको अतिक्रामति—अतिक्रमण करता है] इससे आत्मामें बन्धकी प्रसक्ति दिखलाई गई है। वास्तविक बन्ध आत्मामें नहीं है, किन्तु आध्यासिक

एते सुख-दुःखदा मात्रास्पर्शाः हि यस्मान्न व्यथयन्ति परमार्थतो न विकुर्वन्ति, सर्वविकारभासकत्वेन विकारायोग्यत्वात्।

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः।

अतः स पुरुषः स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन सर्वदुःखोपादानतदज्ञाननिवृत्त्युपलक्षिताय निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपायामृतत्वाय मोक्षाय कल्पते—योग्यो भवतीत्यर्थः।

है। अज्ञानसे अन्तःकरणमें रहनेवाले सुख-दुःख, कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि समस्त संसारधर्मको आत्मामें मानकर अनात्मज्ञ सुखी और दुःखी होता है। इस विषयमें प्रमाण कहा भी है—'यतो मानानि सिध्यन्ति' (जिससे मान और जागर, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ; तथा भाव, अभाव और सद्-असद्का विवेक सिद्ध होता है वह ब्रह्म मैं हूँ, यह बोध कराया जाता है।)

ये सुख-दुख देनेवाले मात्रास्पर्श उस आत्माको वस्तुतः विकृत नहीं करते, क्योंकि आत्मा सब विकारोंका भासक है, अतः स्वयं विकारयोग्य नहीं है। विकारी घटादिके समान जड़ हैं, अतएव भास्य हैं, भासक नहीं। इसमें "सूर्यो यथा" इत्यादि श्रुति दृष्टान्त है। वह भासक बाह्य दोषसे युक्त नहीं है। सकल विश्वके भगवान् सविता नेत्र हैं, क्योंकि उनके विना नेत्र विषयका प्रकाशक नहीं होता। प्रदीपादिका आलोक भी सौर ही है। यहाँ सूर्यशब्द तेजोमात्रके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है। बाह्यालोक नेत्रका अनुग्राहक है। बाह्य चाक्षुष दोषसे सूर्य लिप्त नहीं होते। उसी प्रकार आत्मा सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है। वह लौकिक बाह्य दुःखोंसे दुःखी नहीं होता। इस प्रदर्शित उदाहरणसे पुरुष उक्त रूप है। इसलिए वह पुरुष स्व-स्वरूपब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानसे मुक्त होता है। आत्मा, ब्रह्म और एकत्व—ये सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, भिन्न नहीं। ईदृश निर्विकल्पक साक्षात्कार, सकल दुःख और उसके उपादान अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्ष है। उक्त ज्ञानसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति होती है क्योंकि ज्ञानका अज्ञानके साथ साक्षात् विरोध है। अज्ञानका कार्य, कारणरूप अज्ञानकी निवृत्तिसे निवृत्त होता है, इस प्रकार परम्परया अज्ञान कार्यका निवर्तक भी उक्त ज्ञान माना जाता है ज्ञानसे उभय निवृति फलित होती है।

प्रश्न—यदि अज्ञाननिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मस्वरूप ही मोक्ष है, तो वह सुख स्वरूप न होनेसे पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? पुरुषार्थ न होनेसे उसके उद्देश्यसे पुरुषप्रवृत्ति कैसे होगी।

उत्तर—इसीलिये तो 'निखिलद्वैतानुपरक्त' इत्यादि द्वितीय विशेषण दिया है। सकल द्वैतसे असंस्पृष्ट स्वप्रकाश परमानन्दात्मरूप मोक्ष है। पुरुषार्थ दो हैं—दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति। पूर्व विशेषणसे

यदि ह्यात्मा स्वाभाविकबन्धाश्रयः स्यात्, तदा स्वाभाविकधर्माणां धर्मिनिवृत्तिमन्तरेणानिवृत्तेर्न कदाऽपि मुच्येत । तथा चोक्तम्—

"आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः" ॥ इति

प्रागभावासहवृत्तेर्युगपत्सर्वविशेषगुणनिवृत्तेर्धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयकत्वदर्शनात् । अथाऽऽत्मनि बन्धो न स्वाभाविकः, किन्तु बुद्ध्याद्युपाधिकृतः "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"

दुःखनिवृत्ति और उत्तर विशेषणसे सुखप्राप्ति मोक्षमें कही गई है । दुःखकी निवृत्तिके विना उक्त सुख नहीं मिल सकता, इस अभिप्रायसे क्रमशः दोनों विशेषण हैं ।

प्रश्न—आत्मामें वास्तविक बन्ध होनेपर यदि आपत्ति हो, तो काल्पनिक बन्ध मानना चाहिये । अतएव तार्किक आदि आत्मामें वास्तविक बन्ध मानते हैं ।

उत्तर—यदि आत्मामें वास्तविक बन्ध माना जायगा, तो उसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मीकी निवृत्तिके विना नहीं होती, ऐसा शास्त्रकारोंने कहा भी है—'आत्मा कर्त्रादिरूप०, इत्यादि । यदि आत्मा वस्तुतः धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वरूप कर्तृत्वादिविशिष्ट है, तब मुक्तिकी इच्छा न कीजिये, क्योंकि भावोंका स्वभाव भावोंसे पृथक् नहीं होता, जिस प्रकार सूर्यकी उष्णता सूर्यसे पृथक् नहीं होती ।

सुवर्णसे कुण्डल बननेपर सुवर्णमें कुण्डल रहता है । अग्निमें तपानेपर वही सुवर्ण-खण्ड हो जाता है और उनमेंसे कुण्डलकी निवृत्ति हो जाती है । यह निवृत्ति प्रागभावसमानाधिकरण है, क्योंकि पुनः इस सुवर्णसे कुण्डल बन सकता है, इसलिए भावी कुण्डलका प्रागभाव भी है । इस तरह अतीत कुण्डलकी निवृत्ति और भावी कुण्डलका प्रागभाव—ये दोनों सुवर्णखण्डमें हैं, इसलिए यह निवृत्ति प्रागभावसमानाधिकरण है । जबतक सोना रहेगा, तबतक कुण्डलनिवृत्ति तदसमानाधिकरण न होगी, अतः यह कुण्डलनिवृत्ति आत्यन्तिक नहीं है, किन्तु अनात्यन्तिक है । यदि कुण्डलका आश्रय सुवर्ण भस्म कर दिया जाय, तो उसमें कुण्डलनिवृत्ति कुण्डलप्रागभावासमानाधिकरण होगी, क्योंकि स्वर्ण-भस्मसे कुण्डल नहीं बनेगा, अतः उसमें कुण्डलका प्रागभाव भी नहीं है । इसलिए धर्मीकी निवृत्तिके विना आत्यन्तिक धर्मकी निवृत्ति नहीं होती है, यह स्पष्ट देखा गया है ।

['न अन्तरा भवति' इस अर्थमें नान्तरीयकशब्द व्युत्पन्न है । न और अन्तरा—इन दोनोंका अभाव अर्थ है । अन्तरा—धर्मिनाशके विना धर्मनाश नहीं होता, किन्तु धर्मिनाश होनेपर ही धर्मनाश

होता है। अतः धर्मिनाश नान्तरीयक धर्मनाश है। धर्मिनाशव्याप्य आत्यन्तिक धर्मनाश है, यह फलितार्थ हुआ। शरीरकी निवृत्ति होनेपर रोगनिवृत्ति आत्यन्तिक है; शरीर रहनेपर रोगनिवृत्ति अनात्यन्तिक है, यह स्पष्ट है। असत्कार्यवादी नैयायिक आदिसे सिद्ध प्रागभावको यद्यपि सत्कार्यवादी वेदान्ती नहीं मानते, अतः उक्त लक्षण स्वमतसे नहीं हो सकता, तथापि प्रागभावपदसे कार्यशक्ति, तत्सूक्ष्मावस्था की निवृत्ति तिरोभावादिशब्दसे व्यपदेश्य लक्षणघटकत्वेन इष्ट है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

शंका—जिस व्यक्तिकी निवृत्ति होती है, उस व्यक्तिका प्रागभाव उस व्यक्तिकी उत्पत्तिसे ही नष्ट हो जाता है, अथवा तदुत्पत्ति ही तन्निवृत्ति मानी जाती है। इसलिए वह निवृत्ति स्वप्रतियोगिप्राग-भावासमानाधिकरण है और वह धर्मी रहनेपर भी होती ही है, फिर उसको धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयक क्यों कहते हैं?

समाधान—स्वप्रतियोगि-सजातीय प्रागभावासमानाधिकरणनिवृत्तिमें तात्पर्य है। साजात्य स्वप्रति-योगितावच्छेकरूपसे लेना वा प्रतियोगिमात्रवृत्ति धर्मसे या प्रागभावपद स्वप्रतियोगि-सजातीयप्रागभावपरक है—इत्यादि साजात्यविवेचन विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखते हैं।

शंका—शरीररूपी धर्मीके रहनेपर भी बाल्य, यौवन आदि अवस्थाविशेषकी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि पुनः उस शरीरमें बाल्यादि अवस्थाएँ नहीं आतीं। फिर धर्मिनिवृत्तिसे ही धर्मकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे होती है?

समाधान—अवयवोपचयापचयसे शरीरकी निवृत्ति भी इष्ट है, इसीसे सर्वधर्मनिवृत्ति कही गई। एकैक अवस्थारूप धर्मकी निवृत्ति होनेपर भी धर्मान्तरके रहनेसे सर्वधर्मकी निवृत्ति नहीं हुई। पूर्वधर्मोंकी निवृत्ति होनेपर भी उदीच्यधर्म तो रहेंगे ही, अन्यथा धर्मिकथन ही व्याहत होगा।

शंका—मुक्तिदशामें आत्यन्तिक दुःखादिकी निवृत्ति होनेपर भी नित्य होनेके कारण आत्मा और आकाशका संयोग उस अवस्थामें भी आत्मामें रहता है, अतः सकलगुणनिवृत्ति आत्मामें न होनेसे लक्षण-समन्वय नहीं होगा।

समाधान—इसीलिए तो विशेषपद कहा है। संयोग विशेष गुण नहीं है, जैसा कि कहा है—'रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। बुद्ध्यादि भावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिकाः गुणाः'। कालभेदसे सकल विशेष गुणोंका अभाव धर्मीकी निवृत्तिके विना भी रहता है, अतः 'युगपद्' कहा है। एक कालमें सब गुणोंका अभाव तत्त्वज्ञानसे ही होता है, अन्यथा नहीं। एकदेशकालवृत्तित्व सामनाधिकरण्य है, तद्भिन्न असामानाधिकरण्य है। तात्पर्य यह है कि तार्किक तत्त्वज्ञानसे आत्मामें स्वाभिमत अशेषविशेष-गुणोंका उच्छेद मोक्ष मानते हैं। आत्मा आकाशके समान जड़ द्रव्य है, उसमें चैतन्य ज्ञानगुणयोगित्वरूप है। काष्ठद्वयसंघर्षणसे जैसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्ममनःसंघर्षणसे प्रकाशात्मक ज्ञान

इति श्रुतेः। तथा च धर्मिसद्भावेऽपि तन्निवृत्त्या मुक्त्युपपत्तिरिति चेत्, हन्त तर्हि यः 'स्वधर्ममन्यनिष्ठतया भासयति, स उपाधिरित्यभ्युपगमाद्बुद्ध्यादिरुपाधिः स्वधर्ममात्मनिष्ठतया भासयतीत्यायातम्। तथा चाऽऽयातं मार्गे, बन्धस्यासत्यत्वाभ्युपगमात्। न हि स्फटिकमणौ जपाकुसुमोपधाननिमित्तो लोहितिमा सत्यः। अतः सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणोऽप्यात्मन उपाधि-वशात्तत्संसर्गित्वप्रतिभासो बन्धः, स्वस्वरूपज्ञानेन तु स्वरूपाज्ञानतत्कार्यबुद्ध्याद्युपाधिनिवृत्त्या तन्नि-

---

उत्पन्न होता है। वही चैतन्य है। इसीलिए सुषुप्ति-अवस्थामें जब मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट होता है, तब आत्मा अचेतन हो जाता है। शरीरादिका सम्बन्ध पुरातन अदृष्टके वश होता है। यद्यपि अदृष्ट, शरीरसंयोगके विना आत्मामें नहीं हो सकता। इस प्रकार शरीरसे अदृष्ट सम्बन्ध और अदृष्टसम्बन्धसे शरीरसम्बन्ध होनेसे अन्योन्याश्रय होता है, तथापि पूर्व-पूर्व शरीरसे उत्तरोत्तर अदृष्ट तत्परम्परासे शरीरपरम्परा उत्पन्न होती है। बीजाङ्कुरकी तरह अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोषकर नहीं है।

अखिल कर्मभोगके बाद शरीर, इन्द्रिय और मनःसंयोगकी निवृत्ति होनेपर अशेष आत्मज्ञानेच्छासुखादि-जन्य गुणोंकी निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। मुक्त आत्मामें ज्ञानसुख आदिकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। आत्माके ज्ञान आदि गुण वास्तविक हैं; कल्पित नहीं। इसीपर कटाक्ष होता है कि वास्तविक सकल धर्मकी एक कालमें निवृत्ति धर्मीकी निवृत्ति होनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं। धर्मी आत्माको नित्य माननेसे तदीय सकलधर्मनिवृत्ति एक समयमें अदृष्टचर हैं—इत्यादि विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिए।]

आत्मामें बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु बुद्ध्यादि-उपाधिसम्बन्धसे है। जैसे जपादि कुसुमोपाधि-सम्बन्धसे स्फटिकमणिमें अरुणिमा प्रतीत होती है। 'उप—समीपे स्थिते वस्तुनि स्वधर्ममाधत्ते' इत्युपाधिः। स्वसम्बन्ध=अति प्रत्यासन्न आत्मामें स्वधर्म बन्धका आधायक बुद्ध्यादि उपाधि कहलाती है। अतएव 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' शरीर इन्द्रियमनोयुक्त आत्मा भोक्ता है, एकाकी नहीं—ऐसा मनीषी लोग कहते हैं। यह श्रुति स्वयं बोधन करती है। ऐसी स्थितिमें धर्मीके रहनेपर उपाधिवियोगसे उपाधि द्वारा भासित अशेष धर्मोंकी निवृत्ति होनेसे मुक्ति उपपन्न होती है। जो स्वधर्मको अन्यनिष्ठ होकर भासित कराती है, उसे तो आप भी उपाधि कहते ही हैं। अतएव बुद्ध्यादि जो उपाधि है, वह स्वधर्मबन्धका आत्मनिष्ठ होकर भान कराती है, यह आपके मतसे भी सिद्ध है। इस प्रकार अब आप रास्तेपर आ गये, क्योंकि बन्ध असत्य है, इसे आपको भी मानना ही पड़ा। चूँकि स्फटिकमणिमें जपाकुसुमोपाधिनिमित्तक अरुणिमा सत्य नहीं है, अतः निखिल धर्मासंसर्गी भी आत्मामें उपाधिवश ही संसारधर्मसंसर्गित्व भानरूप बन्ध है। आत्मस्वरूपविवेकज्ञानसे तो स्वस्वरूपाज्ञान तदीय कार्य बुद्ध्याद्युपाधिकी निवृत्ति होनेसे तन्निमित्तक सकलभ्रम निवृत्त होता है। ऐसी दशामें 'निमृ'ष्टः निष्प्रोञ्छितः निखिल-भास्यस्य दृश्यस्य

मित्तनिखिलभ्रमनिवृत्तौ निमृ‌ष्टनिखिलभास्योपरागतया शुद्धस्य स्वप्रकाशपरमानन्दतया पूर्णस्याऽऽत्मनः स्वत एव कैवल्यं मोक्ष इति, न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः। अत एव नाममात्रे विवादः इत्यपास्तम्, भास्यभासकयोरेकत्वानुपपत्तेः। दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यो भास्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाद्भास्यस्य भासकत्वादर्शनात्। एकस्यैव भास्यत्वे भासकत्वे च कर्तृकर्मविरोधादात् आत्मनः कथमिति चेत्, न, तस्य भासकत्वमात्राभ्युपगमात्, अहं दुःखीत्यादिवृत्तिसहिताहंकारभासकत्वेन

उपरागः संसर्गो यत्रः तस्य भावः तत्ता तया' अर्थात् निरस्त समस्तदृश्यसंसर्ग अतएव शुद्ध परिपूर्ण आत्माके स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होनेसे उसमें स्वाभाविक कैवल्य यानी मोक्ष है, किसी हेतु द्वारा नहीं, अन्यथा वह आगन्तुक और 'अनृत' विनाशी हो जायगा। इस तरह बन्ध और मोक्षमें वैयधिकरण्यापत्ति नहीं है। औपाधिक बन्ध और स्वाभाविक कैवल्य—इनकी विषमसत्ता होनेसे एकत्र स्थितिमें विरोध हो भी नहीं सकता है। इसलिए नाममात्रमें विवाद है—यह पूर्वोक्त, विवाद भी निरस्त हुआ। भास्य और भासक चैतन्यमें अन्धकार और प्रकाशकी तरह एकता नहीं हो सकती—इसमें तर्ककुशलोंका अग्रिम अनुमान इस प्रकार हैः—'दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यः भास्यत्वात्, घटवत्'। इससे सिद्ध है कि भास्य भासक नहीं हो सकता।

शंका—प्रदीप घट तथा स्वका भासक है, उसमें भास्यत्व और भासकत्व जैसे दोनों हैं, उसी प्रकार बुद्धिमें भास्यत्व और भासकत्व मनानेमें क्या आपत्ति है।

समाधान—प्रदीपमें भी एक-एक निरूपित भासकत्व नहीं है। घटका भासक और नेत्रका भास्य प्रदीप है। एकभानक्रियानिरूपित कर्तृत्व-कर्मत्व एक प्रदीपादिमें नहीं रह सकता। अपने कंधेपर कोई आरूढ़ नहीं हो सकता, यह नियम स्पष्ट है। इसलिए कर्ता और कर्मका विरोध होनेसे एक ही आत्मा भास्य और भासक नहीं हो सकता।

[सकलभासक आत्माका भान होता है या नहीं ? यदि होता है, तो स्व से या पर से। उक्त न्यायसे तो स्वसे हो नहीं सकता, परसे भान होनेपर, उसी तरह उसका भी परसे भान, उसका भी परसे भान—आदि कल्पनाएँ होनेसे अनवस्था हो जायगी, और पूर्व-पूर्वकथित आत्मामें अनात्मत्वप्रसक्तिरूप दोष होने लगेगा। अप्रकाशमान आत्मा हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान अन्यत्र संशयात्मक होता है, पर आत्मा में नहीं। कोई भी प्राणी अपनी आत्मामें संशय नहीं करता, अतएव आत्मा सदा प्रकाशमान माना जाता है।] यदि यह कहिये कि आत्मा भास्य और भासक दोनों क्यों नहीं है, तो इसका यही समाधान है कि आत्मा भासक ही माना गया है। भास्य नहीं। दुःखाकारवृत्ति विशिष्ट अहंकारका भासक आत्मा है। आत्मा में दुःखादि नहीं होता—इसका निरूपण पूर्वमें कर चुके हैं। 'अहं दुःखी' यह भान अहंकारात्मक बुद्धिमें

तस्य कदाऽपि भास्यकोटावप्रवेशात् । अतएव दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षो भासकत्वाद्दीपवदित्यनुमानमपि न, भास्यत्वेन स्वातिरिक्तभासकत्वसाधकेन प्रतिरोधात् । भासकत्वं च भानकरणत्वं स्वप्रकाशभानरूपत्वं वा । आद्ये दीपस्येव करणान्तरानपेक्षत्वेऽपि स्वातिरिक्तभानसापेक्षत्वं दुःखिनो न व्याहन्यते, अन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः । द्वितीये त्वसिद्धो हेतुरित्यधिकबलतया भास्यत्वहेतुरेव विजयते । बुद्धिवृत्त्यतिरिक्तभानानभ्युपगमाद्बुद्धिरेव भान-

होता है । तादृशवृत्तिविशिष्ट अहंकारका भान आत्मासे होता है; इसलिये आत्मा भासक है, भास्य नहीं । भास्यकोटिमें आत्माका कभी भी प्रवेश नहीं है । अतएव 'दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षः भासकत्वात्, प्रदीपवत्'—यह अनुमान भी निरस्त हुआ । दुःखी भास्य है, वह स्वातिरिक्तभासकत्वका साधक है यानी भास्य स्वातिरिक्तभासक घटके समान सापेक्ष है । अतः प्रतिरोध सत्प्रतिपक्ष है ।

शंका—आत्माको अविक्रिय माननेपर भानप्रयोजक व्यापारशून्य वह भासक कैसे होगा ?

समाधान—भानकरणत्वरूप या स्वप्रकाशमानरूप भासकत्व उसमें है ही ।

'व्यापारवदसाधारणं कारणं कारणम्' इस लक्षणके अनुसार कारणत्व भी निर्व्यापार आत्मामें नहीं रह सकता । इसलिए 'भानकरणत्वं स्वप्रकाशभानत्वं वा' इत्यादि कहा । द्वितीय पक्षमें हेतु असिद्ध है, दुःखी भानस्वरूप है—यह आपको इष्ट नहीं है । नैयायिक आत्माको भानाश्रय मानते हैं, भानस्वरूप नहीं । हमारे पक्षसे यद्यपि आत्मा भानस्वरूप है, किन्तु दुःखाश्रय नहीं है, अतः दुःखीमें भानत्व उभयमतसे हेतु असिद्ध होता है । आपका हेतु असिद्धयादि हेतुसे न्यूनबल है और मेरा हेतु पञ्चरूपोपपन्न होनेसे अधिक बलवान् है । समानबल हेतुस्थलमें सत्प्रतिपक्षहोता है । 'दुःखी स्वातिरिक्तभास्यः, भास्यत्वात्, घटवत्'—यह वेदान्तियोंका अनुमान है । 'दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षः' भासकत्वात्, प्रदीपवत्'—यह नैयायिकोंका अनुमान है । इन दोनों हेतुओंसे सत्प्रतिपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि नैयायिकोंका हेतु दुष्ट होनेसे न्यूनबलवाला है । भासकत्व द्विधा विकल्पकर दूषित किया गया है । द्वितीय पक्षमें तो आपने सुन ही लिया । प्रथम पक्षमें कहना यह है कि भास्यत्व स्वातिरिक्त भासकसापेक्ष होता ही है । प्रदीप चेतन नहीं है—इसमें भास्यत्व तदतिरिक्त चेतन सापेक्ष है । यद्यपि प्रदीपको प्रदीप रूप करणकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु कर्ताकी अपेक्षा है ही । वस्तुतः चक्षूरूपी करणकी अपेक्षा रहती ही है, अन्यथा अंधका भी भासक हो जायगा । अतः प्रदीपभास्यत्व हेतु विजयी है, क्योंकि बुद्धिवृत्तिसे अतिरिक्त भान नहीं मानते हैं । इस प्रकारकी बुद्धिमें दुःख और तद्वृत्तिरूप भान आत्मासे होता है ।

शंका—बुद्धि स्वयं भानस्वरूप है और आत्मा जड़ है ।

रूपेति चेत्, न, भानस्य सर्वदेशकालानुस्यूततया भेदकधर्मशून्यतया च विभोर्नित्यस्यैकस्य चानित्यपरिच्छिन्नानेकरूपबुद्धिपरिणामात्मकत्वानुपपत्तेः । उत्पत्तिविनाशादिप्रतीतेश्चावश्य-कल्प्यविषयसंबन्धविषयतयाऽप्युपपत्तेः । अन्यथा तत्तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाशभेदादिकल्पनायामति-गौरवापत्तेरित्याद्यन्यत्र विस्तरः । तथाच श्रुतिः—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशि-त्वात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव, तदेतद्ब्रह्मापूर्वमन-परमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" इत्याद्या विभुनित्यस्वप्रकाशज्ञानरूपतामात्मनो दर्शयति । एतेनाविद्यालक्षणादप्युपाधेर्व्यतिरेकः सिद्धः । अतोऽसत्योपाधिनिबन्धनबन्धभ्रमस्य सत्यात्मज्ञानान्निवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमवदातम् । पुरुषर्षभेति संबोधयन्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन पुरुषत्वं, परमानन्दरूपत्वेन चाऽऽत्मन ऋषभत्वं-सर्वद्वैतापेक्षया श्रेष्ठत्वमजानन्नेव शोचसि, अतः

समाधान—यह तो अच्छा आपने श्रुति-सारांश निकाला। भान सब देश-काल में एकरस है। घट-भान, पटभान, इत्यादि स्थलमें 'घट, पट' आदि उपाधि पृथक् कर दी जाय, तो भानमात्र ही सर्वत्र अवशिष्ट रह जायगा। अतएव भेदक धर्म, जाति, गुण क्रिया आदिसे शून्य है। भान विभु, नित्य एक ही है और बुद्धि-परिणाम अनित्य परिच्छिन्नस्वरूप है। अतः वृत्त्यात्मक भान नहीं हो सकता ?

शंका—'घटभानं जातं नष्टम्' इत्यादिसे भानमें भी उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होता है, फिर यह नित्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—विषयका सम्बन्ध उत्पत्ति और विनाशशील है। तद्गततद्धर्मके भानमें 'घटाकाशो जातः' इत्यादिके समान आरोप है। आवश्यक विषय सम्बन्धगत बुद्ध्याद्यारोपसे भानमें तद्व्यवहार होता है, फिर भानमें वस्तुतः तत्सत्ता स्वीकारमें कोई प्रमाण नहीं है; प्रत्युत गौरव दोष है। विषयसम्बन्धमें उत्प-त्त्यादि-अनुभव सिद्ध होनेसे आवश्यक है। जिज्ञासुओंको इन सबका विस्तृत विवरण आकरग्रंथोंमें देखना चाहिए। यह कपोलकल्पित नहीं है, किन्तु श्रुतिमूलक है। 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' अविनाशी होनेके कारण द्रष्टाकी दृष्टिका विनाश नहीं होता। आकाशके समान सर्वगत और नित्य है। महान् अनन्त अपार विज्ञान धन आत्मा है। यह ब्रह्म आदि अन्त रहित अन्तर शून्य है। इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। ये श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि विभु, नित्य स्वप्रकाश और ज्ञानरूप आत्मा है।

इसके द्वारा अविद्यालक्षणोपाधिसे भी आत्माका व्यतिरेक सिद्ध हुआ। इसलिये असत्योपाधिनिमित्तक बन्ध-भ्रमकी सत्यात्म ज्ञानसे निवृत्ति होनेपर मुक्ति होती है। इस प्रकार सब शंकाएं निवृत्त हो गई।

प्रश्न—'पुरुषर्षभ' इस सम्बोधनका क्या तात्पर्य है ?

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है और सत् पदार्थका अभाव नहीं है। इन दोनोंकी नियतरूपता तत्त्वज्ञानियों द्वारा निश्चित की गई है।। १६ ॥

स्वस्वरूपज्ञानादेव तव शोकनिवृत्तिः सुकरा "तरति शोकमात्मवित्" इति श्रुतेरिति सूचयति । अत्र पुरुषमित्येकवचनेन सांख्यपक्षो निराकृतः, तैः पुरुषबहुत्वाभ्युपगमात् ॥ १५ ॥

ननु भवतु पुरुषैकत्वम्, तथापि तस्य सत्यस्य जडद्रष्टृत्वरूपः सत्य एव संसारः । तथाच शीतोष्णादिसुखदुःखकारणे सति तद्भोगस्याऽऽवश्यकत्वात्सत्यस्य च ज्ञानाद्विनाशानुपपत्तेः कथं वा सोऽमृतत्वाय कल्पत इति चेत्, न, कृत्स्नस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्याऽऽत्मनि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानाद्विनाशोपपत्तेः शुक्तौ कल्पितस्य रजतस्य शुक्तिज्ञानेन विनाशवत् । कथं पुनरात्मानात्मनोः प्रतीत्यविशेष आत्मवदनात्माऽपि सत्यो न भवेदनात्मवदात्माऽपि मिथ्या न भवेदुभयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याशङ्क्य विशेषमाह भगवान्—'नासतो विद्यते' इति ।

उत्तर—स्वप्रकाश चैतन्यरूपसे आत्मा पुरुष है। परमानन्दरूपसे श्रेष्ठत्व है, सब द्वैतकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ न समझकर शोक करते हो। अतः आत्मस्वरूपज्ञानसे ही तुम्हारी शोकनिवृत्ति सुन्दर है। 'तरति शोकं आत्मवित्' यह श्रुति आत्मज्ञानको शोकनिवृत्तिका उपाय बतलाती है। यहाँ 'पुरुषम्' इस एक वचनसे पुरुषबहुत्व माननेवाले सांख्यमतावलम्बियोंके मतका निराश किया गया ॥ १५ ॥

मान लेता हूँ कि पुरुष एक ही है, किन्तु उस सत्य पुरुषका जड़-दर्शित्वरूप संसार सत्य है और सुख दुःखादि व्यवस्था अन्तःकरणभेदसे उपपन्न है। शीतोष्ण आदिरूप सुख-दुःख रहनेपर तद्भोग आवश्यक है। ज्ञानसे सत्यका विनाश नहीं होता है, फिर तितिक्षा कैसे होगी ? और कैसे मोक्ष होगा ? ऐसी शंका नहीं कर सकते, क्योंकि सकल विश्व आत्मामें कल्पित है, आत्मज्ञानसे उसका विनाश सहज ही में हो जायगा। जैसे कि शुक्तिमें कल्पित रजतका नाश शुक्तिज्ञानसे होता है। आत्माका और अनात्माका प्रत्यक्ष समान है, फिर आत्माकी तरह अनात्मा सत्य क्यों नहीं है, अथवा अनात्माके समान आत्मा मिथ्या क्यों नहीं है ? दोनों तुल्ययोगक्षेम है, यों आशङ्काकर दोनोंमें विशेष क्या है, यह भगवान् कहते हैं—'नासतो' इत्यादिसे ।

यत्कालतो देशतो वस्तुतो परिच्छिन्नम्, तदसत्। यथा घटादि जन्मविनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिद्यते, ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात्। कादाचित्कं कालपरिच्छिन्नमित्युच्यते। एवं देशपरिच्छिन्नमपि तदेव, मूर्तत्वेन सर्वदेशावृतित्वात्। कालपरिच्छिन्नस्य देशपरिच्छेदनियमेऽपि देशपरिच्छिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य परमाण्वादेस्तार्किकैः कालपरिच्छेदानभ्युपगमात्, देशपरिच्छेदोऽपि पृथगुक्तः। स च किञ्चिद्देशवृत्तिरत्यन्ताभावः। एवं सजातीयभेदः, विजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति त्रिविधो भेदो वस्तुपरिच्छेदः। यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः। अथवा जीवेश्वरभेदः, जीवजगद्भेदः जीवपरस्परभेदः ईश्वरजगद्भेदः, जगत्परस्परभेद इति पञ्चविधो वस्तुपरिच्छेदः। कालदेशापरिच्छिन्नस्याप्याकाशादेस्तार्किकैर्वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमात्पृथङ्निर्देशः। एवं सांख्यमतेऽपि योजनीयम्। एतादृशस्यासतः

जो देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है, वह असत्य है, जैसे जन्म और विनाशशील घटादि पदार्थ पूर्व और परकालसे परिच्छिन्न हैं और अनित्य हैं। प्रागभावप्रतियोगित्व और ध्वंस-प्रतियोगित्वरूप पूर्वापरकालपरिच्छिन्नत्व, उनमें नियत है। कादाचित्कका अर्थ यह है जो कभी होते हैं, वे ही कालपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं। इसी तरह वे किसी देशमें होते हैं, सर्वत्र नहीं; अतः वे मूर्त होनेसे देशपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं।

शंका—जो काल-परिच्छिन्न हैं, वे मूर्त होनेसे देश-परिच्छिन्न भी हैं, अतः काल-परिच्छिन्नसे ही उनका बोध सिद्ध था, पुनः देशपरिच्छेदका पृथक् निर्देश क्यों किया ?

समाधान—कालपरिच्छिन्न अवश्य देशपरिच्छिन्न है, देशपरिच्छिन्न सभी कालपरिच्छिन्न नहीं है। परमाणु देशपरिच्छिन्न है, परन्तु नित्य होनेसे कालपरिच्छिन्न नहीं है। अतः कालपरिच्छिन्न परमाणुके संग्रहके लिये पृथक् देशपरिच्छेदका ग्रहण किया। किंचिद्देशवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगी देशपरिच्छिन्न कहलाता है। एवं सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे वस्तुपरिच्छेदरूप भेद तीन प्रकारका होता है। जैसे—वृक्षमें वृक्षान्तरका भेद सजातीय भेद है, शिलासे वृक्षका भेद विजातीय है और स्वावयव पत्र-शाखादि से वृक्षका भेद स्वगत है। अथवा जीवसे ईश्वरका भेद, जीवसे जगत्का भेद, जीवोंका परस्पर भेद, ईश्वर का जगद्भेद और जगत्का परस्पर भेद है; इस प्रकार वस्तुपरिच्छेद पांच प्रकारका होता है। तार्किक आकाशको नित्य मानते हैं, पर वस्तुपरिच्छेद मानते हैं। अतएव उसके संग्रहके लिये वस्तुपरिच्छेदका पृथक् उपादान है। इसी प्रकार सांख्यमतमें भी परिच्छेदकी योजना करनी चाहिए। 'भेदानां परिमाणात् समन्वयात्' इत्यादिकारिकामें स्पष्ट देखिये। एवंभूत असत्य शीतोष्ण आदि निखिल प्रपंचका भाव अर्थात्

शीतोष्णादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः—सत्ता पारमार्थिकत्वं स्वान्यूनसत्ताकतादृश-परिच्छेदशून्यत्वं न विद्यते—न संभवति, घटत्वाघटत्वयोरिव परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वयोरेकत्र विरोधात् । न हि दृश्यं किञ्चित्क्वचित्काले देशे वस्तुनि वा न निषिध्यते, सर्वत्राननुगमात् । न वा सद्वस्तु क्वचिद्देशे काले वस्तुनि वा निषिध्यते, सर्वत्रानुगमात् । तथाच सर्वत्रानुगते सद्वस्तुनि अननुगतं व्यभिचारि वस्तु कल्पितं रज्जुखण्ड इवानुगते व्यभिचारि सर्पधारादिकमिति भावः । ननु व्यभिचारिणः कल्पितत्वे सद्वस्त्वपि कल्पितं स्यात्तस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वेन व्यभिचारित्वादित्यत आह—'नाभावो विद्यते सतः' इति । 'सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छिन्नत्वम्' तच्च न तुच्छव्यावृत्तत्वेन तुच्छे

सत्ता पारमार्थिक नहीं है । प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओंमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सत्ता अन्यूनसत्ताक है । घटादि तद्गत त्रिविध भेद न्यायमतमें पारमार्थिकसत्ताक है, वेदान्तमतमें व्यावहारिकसत्ताक है । त्रिविध भेदवाले घटादिमें न्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व रह सकता है, किन्तु अन्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व नहीं रह सकता । अन्यूनसत्ताक भावनाओंमें विरोध है । स्वपदसे उक्त त्रिविध भेद, तदन्यूनसत्ताक तादृश भेदाभाव इनमें नहीं है, इसीको 'घटत्वा०' इत्यादिसे स्फुट किया है । जैसे घटत्व और तदभाव समसत्ताक एकमें नहीं रहते, एवं परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व एक धर्मीमें नहीं रह सकते, कारण एकत्र स्थितिमें परस्पर विरोध है । यह तो नहीं हो सकता कि दृश्यका निषेध किसी देश या कालमें न हो सके, क्योंकि वह सर्वदेशकालवर्ती नहीं है । इसलिये देशकालमें वह न रहेगा, उस देशकालमें उसका निषेध सुलभ है । सत् आत्मवस्तुका किसी देशकालमें निषेध नहीं कर सकते और न किसी वस्तुमें ही कर सकते, कारण वह सर्वत्र अनुगत है । सर्वानुगत सद्वस्तुमें जो अननुगत है वह व्यभिचारी, अतएव वह कल्पित वस्तु है । तात्पर्य यह है कि 'शुक्तिशकले रजतवत्, रज्जुखण्डे सर्पजलधारावत्' यानी रज्जु खण्डमें कभी सर्प कभी जलधारा आदि रूपसे भूच्छिद्रकी प्रतीति अनियत है ।

यदि परिच्छिन्न वस्तु व्यभिचारी होनेसे कल्पित है, तो सद्वस्तु भी तुच्छव्यावृत्त होनेसे व्यभिचारी है । अतएव वह भी कल्पित ही होगा । 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतिके समान 'सत् खपुष्पम्' इत्यादि प्रतीति नहीं होती, अतः असद्व्यावृत्त सद्वस्तु व्यभिचारी है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि । भाव यह है कि यद्यपि तुच्छनिष्ठ भेदप्रतियोगित्वरूप तुच्छव्यावृत्तत्वरूप वस्तुपरिच्छेद आत्मामें है, तथापि तुच्छ सत् नहीं है । तन्निष्ठ भेदप्रतियोगित्व सदधिकरणके नहीं है । जिस भेदके प्रतियोगित्वका अधिकरण सत् है वह भेदप्रतियोगित्व विवक्षित है ।

शशविषाणादौ सत्त्वायोगात् । "सदसद्भ्यामभावो निरूप्यते" इति न्यायात् । एकस्यैव स्वप्रकाशस्य नित्यस्य विभोः सतः सर्वानुस्यूतत्वेन सद्व्यक्तिभेदानभ्युपगमात् । घटः सन्नित्यादिप्रतीतेः सार्वलौकिकत्वेन सतो घटाद्यधिकरणकभेदप्रतियोगित्वायोगात् । अभावः परिच्छिन्नत्वं देशतः कालतो वस्तुतो वा सतः सर्वानुस्यूतसन्मात्रस्य न विद्यते—न संभवति, पूर्ववद्विरोधादित्यर्थः । ननु सन्नाम किमपि वस्तु नास्त्येव, यस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि सत्त्वं नाम परं सामान्यम्, तदाश्रयत्वेन द्रव्य-गुण-कर्मसु सद्व्यवहारः,

---

शङ्का—'घटभिन्न आत्मा' यह भी तो भेद प्रसिद्ध है तथा 'आत्मभिन्नो घटः' यह भी प्रसिद्ध है—इनका आश्रय लेकर क्यों नहीं दोष दिया ?

समाधान—प्रथम भेदसे आत्मामें प्रतियोगित्वरूप व्यावर्त्यत्व नहीं आता, किन्तु घटमें ही आता है। द्वितीय भेद प्रामाणिक सदसद्रूप प्रतियोग्यधिकरणक नहीं है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति, तथा 'तदनन्यत्वमारम्भण०' इत्यादि सूत्रसे कार्य-कारणाभेद न्यायसे 'उक्त भेद' अप्रामाणिक है, इत्यादि विस्तृत विवरण अन्यत्र है। शश-विषाण आदि—तुच्छमें सत्ता नहीं है, अतः तन्निष्ठ भेदप्रतियोगित्व सदधिकरणक नहीं हो सकता, अर्थात् सदधिकरणमें रहनेवाली भेदकी प्रतियोगिता सद्रूपी अधिकरणमें नहीं है; क्योंकि सत् और असत्से अभावका निरूपण होता है। अधिकरणसत्त्वेन प्रतियोगी असत्त्वेन अभावप्रतीतिका कारण होता है, यह न्याय है। एक ही स्वप्रकाश नित्य, विभु, सत्, सर्वत्रानुगत है। इसलिए सद्व्यक्तिके भेदमें प्रमाण नहीं है। 'घटः सन्' इत्यादि प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है, अतः घटनिष्ठभेदप्रतियोगित्व सत्में संभावित ही नहीं है। 'नीलो घटः' इस समानाधिकरणप्रतीतिसे घटमें नीलाभेद सिद्ध है, तो उसमें नीलभेद नहीं हो सकता। इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। परिच्छिन्नत्व फलतः अभाव है, जो सब देश-कालवस्तुमें अनुगत नहीं है, किन्तु कहीं अन्यत्र जिसका भाव है, वहीं देशकालवस्तुपरिच्छिन्न है। सत् तो सर्वत्र अनुगत सन्मात्ररूप है, अतः उसका अभाव कहीं नहीं है, उसका अभाव माननेसे पूर्ववत् विरोध होने लगेगा, यह तात्पर्य है।

सत्त्वनामक कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे देशकालवस्तुपरिच्छेदका निषेध किया जाय, किन्तु सत्त्व नामका पर (व्यापक) सामान्य है, जिसके आश्रयसे द्रव्य, गुण और कर्ममें सद्व्यवहार होता है। सामानाधिकरण्यसम्बन्धसे सामान्य, विशेष और समवायोंमें सद्व्यवहार होता है। [वैशेषिकके मतमें सात पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः भाव पदार्थ हैं तथा एक अभाव है। भाव सत्को कहते हैं, और अभाव असत्को। सत्में सत्ता जाति रहती है। सामान्य जातिपदार्थ है। सामान्य दो प्रकारका है—पर और अपर। अधिकदेशवृत्ति पर है और न्यूनदेशवृत्ति अपर है। सत्ता इतर

तदेकाश्रयत्वसंबन्धेन सामान्य-विशेष-समवायेषु। तथाचासतः प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वं कारणव्यापारात्, सतोऽपि तस्याभावः कारणनाशाद्भवत्येवेति कथमुक्तं 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इति। एवं प्राप्ते परिहरति—**उभयोरपीत्यर्धेन**। उभयोरपि सदसतोः सतश्चासतश्चान्तो मर्यादा नियतरूपत्वं यत्सत् तत्सदेव, यदसत् तदसदेवेति, दृष्टो निश्चितः श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्विचारपूर्वकम्। कैः? तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिः न तु कुतार्किकैः। अतः कुतार्किकाणां न विपर्ययानुपपत्तिः। तुशब्दोऽवधारणे। एकान्तरूपो नियमः एव दृष्टः, न त्वनेकान्तरूपोऽन्यथाभाव इति। तत्त्वदर्शिभिरेव दृष्टः, नातत्त्वदर्शिभिरिति वा। तथा च श्रुतिः "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्ः, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो," इत्युपसंहरन्ती सदेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम्

जातियोंसे अधिक देशमें रहती है, इसलिये पर है। द्रव्यत्वादि जाति उसकी अपेक्षा न्यून देशमें रहती है, इसलिये अपर है।] सत्ता द्रव्य, गुण, कर्ममें समवायसम्बन्धसे रहकर 'सत्' व्यवहारका कारण होती है। सामान्य विशेष और समवायमें सामानाधिकरण्यसम्बन्धसे रहकर उक्त व्यवहार कराती है। इस प्रक्रियाके अनुसार कारणव्यापारसे पूर्वकालमें असद्घटमें सत्ता होती है। सत्तासम्बन्धी घटादिका— समवायिकारणका नाशसे नाश (अभाव) होता ही है, फिर 'नासतो विद्यते' इत्यादि कैसे कहा? ऐसी शङ्का होनेपर इसका परिहार करते हैं—'उभयोः०' इत्यादि आधे श्लोकसे। उभय यानी सत् और असत्का अन्त (मर्यादा) अर्थात् नियतस्वरूपता—जो सत् है, सो सत् ही है और जो असत् है, सो असत् ही है— यह श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे विचार कर तत्त्वदर्शी विद्वानों द्वारा निश्चित किया गया है, कुतार्किकोंकी समझमें यह नहीं आया है। यह विषय तत्त्वदर्शियोंका है, साधारण विद्वानोंका नहीं। तत्—ब्रह्मत्व, जीव-तदुभयैक्यदर्शी। अथवा तद्—ब्रह्म तस्य भावस्तत्त्वं तद्दर्शी यानी ब्रह्मदर्शी। अथवा तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं ब्रह्मरूपं तद्दर्शी, उनके द्वारा अर्थात् ब्रह्मस्वरूपदर्शनशील ब्रह्मज्ञानियों द्वारा, न कि कुतार्किकों द्वारा। [रज्जु-भुजंगका वस्तुस्वरूप अधिष्ठानातिरिक्त स्वरूप नहीं माना जाता है, अतः कुतार्किकोंको भ्रम होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब उनका विषय ही नहीं है, तो वे तत्त्वतः जानेंगे कैसे?] तुशब्द एवकारार्थक है। एकान्तरूप नियम ही तत्त्वदर्शियों द्वारा निश्चित किया गया है, न कि अनेकान्तरूप अन्यथाभाव। अथवा तत्त्वदर्शियोंके ही द्वारा निश्चित किया गया है, अतत्त्वदर्शियोंके द्वारा नहीं, यों एवकारार्थक तुशब्दकी योजना करनी चाहिये। देखिये, श्रुति भी 'सदेव सोम्येदमग्र०' इत्यादिसे उपक्रमकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' से उपसंहार करती हुई सजातीय विजातीय स्वगतभेदरहित सत्यपदार्थको दिखलाती है। 'वाचारम्भणम्' इत्यादि श्रुति तो व्यभिचारि विकारमात्रको 'वाचैव केवलमारभ्यते, न तत्त्वतः'

सत्यं दर्शयति । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिश्रुतिस्तु विकारमात्रस्य व्यभिचारिणो वाचारम्भणत्वेनानृतत्वं दर्शयति । "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इति श्रुतिः सर्वेषामपि विकाराणाम् सति कल्पितत्वं दर्शयति । सत्त्वं च न सामान्यं, तत्र मानाभावात् । पदार्थमात्रसाधारण्यात्सत्सदिति प्रतीत्या द्रव्य-गुण-कर्ममात्रवृत्तिसत्त्वस्य स्वानुपपादकस्याकल्पनात् । वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । एकरूपप्रतीतेरेकरूपविषयनिर्वाह्यत्वेन संवन्धभेदस्य स्वरूपसत्त्वस्य चकल्पयितुमनुचितत्वात् । विषयस्याननुगमेऽपि प्रतीत्यनुगमे जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मादेकमेव

प्रदर्शन द्वारा मिथ्या कहती है । 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेना०' (हे सोम्य ! शुङ्ग—कार्यसे कारणका अनुमान होता है । धूप से अग्नि की तरह अन्न—पृथिवीसे तत्कारण जल को, जल से उसके कारण तेज को तथा तेज से तन्मूल सत् ब्रह्मको समझो—इत्यादि) यह श्रुति बतलाती है कि सभी विकारोंकी कल्पना सत् ब्रह्ममें है । [छान्दोग्य श्रुतिमें तेजकी ही प्रथम सृष्टि है । उसके तात्पर्यसे 'तेजसा' इत्यादि है । 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि वहाँ स्पष्ट है । तैत्तिरीयमें वायु-आकाशकी भी सृष्टि है । तत्तात्पर्यसे आकाश कार्यसे भी तन्मूल समझना चाहिए । वस्तुतः दृश्यमात्र कार्य है, इसलिए दृश्यसे मूलभूत सत्को समझो, इस अर्थमें उदाहृत श्रुतिका तात्पर्य है] वैशेषिकोंका यह कहना भी ठीक नहीं कि सत् सामान्य है, क्योंकि इसमें उन्होंने कोई प्रमाण भी नहीं दिया है । 'सत्' इत्याकारक प्रतीति ही प्रमाण है, यह न कहिये, क्योंकि 'सत् सामान्यम्' यह भी प्रतीति होती है, किन्तु उसमें सामान्यमें सत्ता जाति नहीं मानते, द्रव्यादित्रिकवृत्ति ही मानते हैं, सामान्यादि साधारण 'सत्' इत्यादि प्रतीतिका उपपादक सत्त्व नहीं हुआ, अतः उक्त प्रतीति साधारणसत्त्वमें प्रमाण नहीं है । समवायसम्बन्धसे सत्त्व द्रव्यादित्रिकमें ही रहता है, स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धसे सामान्यादिमें भी रहता है, अतः यदि 'सामान्यं सत्' इस प्रतीतिका भी उपपादक सत्त्व है, तो फिर विपरीत ही क्यों न हो ? [समवायसम्बन्धसे सामान्यादिमें सत्त्व रहता है और सामानाधिकरण्यसम्बन्धसे द्रव्यादित्रिकमें रहता है, अतः विनिगमकाभावसे तात्त्विक निर्णय नहीं हुआ] और एक प्रतीतिका एक ही विषयमें निर्वाह होना चाहिये, विषयभेदसे नहीं, अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्य हो जायगा । 'द्रव्यं सत्' इस प्रतीतिमें सत्त्वका संबन्ध समवाय है और 'सामान्यं सत्' इस प्रतीतिमें सत्त्वका स्वाश्रयवृत्तित्व संबंध है—इस प्रकार संबंधविषय भिन्न होनेसे दोनों स्थलोंमें 'सत् सत्' इस प्रकार समानाकार-प्रतीति कैसे होगी ? विषयभेद होनेपर भी यदि अनुगत प्रतीति मानेंगे, तो जातिमात्रका उच्छेद हो जायगा—गोत्वादि जाति भी न सिद्ध होगी । [गवादि निखिल व्यक्तियोंमें 'गौः

सद्वस्तु स्वतःस्फुरणरूपं ज्ञाताज्ञातावस्थाभासकं स्वतादात्म्याध्यासेन सर्वत्र सद्व्यवहारोपपादकम्। सन्घट इति प्रतीत्या तावत्सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्वं घटे विषयीकृतं, न तु सत्तासमवायित्वमभेदप्रतीतेर्भेदघटितसंबन्धानिर्वाह्यत्वात्। एवं द्रव्यं सद्, गुणः सन्नित्यादिप्रतीत्या सर्वाभिन्नत्वं सतः सिद्धम्। द्रव्यगुणादिभेदासिद्धचा च न तेषु धर्मिषु सत्त्वं नाम धर्मः कल्प्यते, किन्तु सति धर्मिणि द्रव्याद्यभिन्नत्वं लाघवात्। तच्च वास्तवं न संभवतीत्याध्यासिकमित्यन्यत्।

गौः' इत्यादि अनुगत प्रतीतिके उपपादनार्थं गोत्वजाति मानते हैं। स्वरूप-समवायादि विषयभेद होनेपर भी यदि उक्त प्रतीतिका निर्वाह है, तो गोत्वादि जातिकी कल्पना ही वृथा है, यह स्वयं विचारिये।] अतः स्वतःप्रकाशक एक ही सद्वस्तु है, जो ज्ञात और अज्ञात दोनों अवस्थाओंका भासक है। 'घटं जानामि, घटं न जानामि'—इसमें प्रथम ज्ञातावस्थाका बोधक है और द्वितीय अज्ञातावस्थाका बोधक है। स्वतादात्म्याध्यास द्वारा वह सर्वत्र 'सत्' व्यवहारका उपपादक है अर्थात् सकल वस्तु 'ज्ञातत्वेन', 'अज्ञातत्वेन' साक्षिचैतन्यविषय है। [यह वेदान्तसिद्धान्त है, यह गम्भीर विषय है, इसका पूरा विवरण करनेपर ग्रंथ अतिविस्तृत हो जायगा, इसलिये इसे यहीं छोड़ रहा हूँ। अब प्रकृतमें 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीति वेदान्तमतमें कैसे होती है, इसका उपपादन करते हैं—] 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीति सद्व्यक्ति मात्रके अभेदका घटमें विषय करती है। जैसे कि 'नीलो घटः' यह प्रतीति घटमें नीलाभेदको विषय करती है।

घटादिविषय जड़ है, सत् स्वयंप्रकाश चित् है, दोनोंका अभेद असंभव है, फिर उक्त प्रतीतिका विषय कैसे ? यह नहीं पूछ सकते, क्योंकि नील गुण है, घट द्रव्य है, यह आप (नैयायिक) मानते ही हैं, फिर 'नीलो घटः' यह अभेदभान क्यों होता है ?

यहाँ तो 'गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इस कोशके अनुसार नीलपद नीलवान् में लाक्षणिक है।

तो फिर यहाँ भी सत्ताध्यास घटादिमें मानकर सर्वत्र 'सत्' इत्याकारक प्रतीतिकी उपपत्ति कीजिये। आध्यासिक सत्तादात्म्य ही सत्ता है, इस प्रकार 'सत्' इत्याकारकप्रतीतिविषय सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्व ही है] सत्तासमवायित्व नहीं है। यदि कहिये, क्यों ? तो सुनिये—

भेदघटित सम्बन्धसे अभेदप्रतीतिका निर्वाह नहीं होता, किन्तु अभेदाख्य तादात्म्यसम्बन्धसे होता है। संयोगसम्बन्धसे दण्ड पुरुषमें रहता है और समवायसम्बन्धसे तन्तुमें पट रहता है। 'दण्डः पुरुषः', 'तन्तुः पटः' ऐसी समानाधिकरणप्रतीति कहाँ होती है ? एवं सत्ता समवायसम्बन्धसे द्रव्यादिमें मानें, तो भी 'सद् द्रव्यम्' इस समानाधिकरणप्रतीतिका उपपादन नहीं होता। इस तरह 'सद् द्रव्यम्', 'सन् गुणः' इत्यादि

तदुक्तं वार्तिककारैः—

"सत्तातोऽपि न भेदः स्याद्द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः ।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन् गुणस्तथा" ।। इत्यादि ।

सत्ताऽपि नासतो भेदिका, तस्याप्रसिद्धेः । द्रव्यत्वादिकं तु सद्धर्मत्वान्न सतो भेदकमित्यर्थः । अत एव 'घटाद्भिन्नः पट' इत्यादिप्रतीतिरपि न भेदसाधिका, घट-पट-तद्भेदानां सदभेदेनैक्यात् । एवं यत्रैव न भेदग्रहः, तत्रैव लब्धपदा सती सदभेदप्रतीतिर्विजयते । तार्किकैः कालपदार्थस्य

प्रतीतिसे सर्वाभिन्नत्व सत्में सिद्ध हुआ । तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर 'सत् द्रव्यम्', 'सन् गुणः' इत्यादि प्रतीतिसे द्रव्यगुणादिसे भिन्न पदार्थ ही नहीं सिद्ध होते, तो उसमें सत्त्वधर्म कैसे सिद्ध हो सकता है । बल्कि लाघवात् सिद्ध तो होता है—उक्त धर्मीमें द्रव्याद्यभिन्नत्व । अनेक धर्मिसत्ता तथा तत्सम्बन्धकल्पनाकी अपेक्षासे सत्तादात्म्यकी कल्पना ही लाघवात् प्रतीतिका विषय है । वह तादात्म्य जड़-चेतनका वास्तविक नहीं हो सकता, अतः आध्यासिक है, यह दूसरी बात है । यही वार्तिककारने भी कहा है—'सत्तातोऽपि न भेदः' इत्यादि । द्रव्यत्व गुणत्वादि धर्म स्वयं यदि भिन्न हों, तो द्रव्यत्वेन गुणत्वेन द्रव्य-गुणभेद हो सकता है । द्रव्यत्वादिसामान्य भी 'सत् सामान्यम्' इत्यादि प्रतीतिसे सद्भिन्न नहीं, किन्तु सत्स्वरूप ही है, तो तत्तद्रूपसे द्रव्य-गुणादिमें भेद सिद्ध नहीं होता । 'सद् द्रव्यं', 'सन् गुणः' इत्यादि सत्तांशमें एकाकार प्रतीति है । सत्ता जाति तो मानते ही हैं, सो किसका विशेषक है ? असत्का या सत्का ? असत्का विशेषक तो कहना ही व्याहत है, क्योंकि जो है ही नहीं, उसका कौन विशेषक होगा ? सत् एक ही है, उसमें भेदककी क्या आवश्यकता ? द्रव्यत्व-गुणत्वादि सत्स्वरूप है, अतः जब स्वतः भिन्न नहीं हैं, तो अपने आश्रयको कैसे भिन्न कर सकेंगे, इस तात्पर्य से कहते हैं—सत्ता भी असत्की भेदिका नहीं है । अप्रसिद्ध होनेसे उसका ज्ञान ही नहीं है । द्रव्यत्व आदि सत्का भेदक नहीं है, क्योंकि स्वयं तद्धर्म है, यह मतलब है । धर्म स्वधर्मिव्यतिरिक्तका भेदक है, स्वधर्मीका नहीं । उक्त वार्तिक भेद खण्डनपरक है ।

शंका—अच्छा, तो गुण और द्रव्यका भेद न सही, 'घटाद्भिन्नः पटः' इत्यादि बुद्धि तो भेद-साधक है ।

समाधान—इसलिए तो यह भी भेदसाधक नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्', 'पटः सन्', 'भेदः सन्', इत्यादि प्रतीतिसे 'घट, पट' भेद—ये भी सत्से भिन्न नहीं है । [स्वाभिन्नाभिन्नस्य स्वाभिन्नत्व नियम है । पटाभिन्न सत् तदभिन्न घटमें पटाभिन्न ही सिद्ध होगा, अतएव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति सबको ब्रह्माभिन्न बोध कराती है ।

शंका—'घटाद्भिन्नः पटः' यह प्रत्यक्षबुद्धि श्रुतिजन्य घट-पटविषयकाभेद बुद्धिकी प्रतिबन्धक है, फिर अभेदबुद्धि कैसे ?

सर्वात्मकस्याभ्युपगमात्तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ, तदतिरिक्तपदार्थकल्पने मानाभावात्तस्यैव सर्वानुस्यूतस्य सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वतादात्म्येन प्रतीत्युपपत्तेः। स्फुरणस्यापि सर्वानुस्यूतत्वेनैकत्वान्नित्यत्वं विस्तरेणाग्रिमश्लोके वक्ष्यते। तथाच यथा कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽघटस्य पटादेर्न देशान्तरे कालान्तरे वा घटत्वम्। एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा घटस्यान्यत्राघटत्वम्

समाधान—घट-पटमें बुद्धिभेद, बुद्धिमें घट-पटका भेद उक्त बुद्धिसे गृहीत नहीं हुआ, बुद्धि स्वग्रहणके विना स्वनिष्ठ या स्वप्रतियोगिक भेदका ग्रहण नहीं कर सकती। भेदग्रहमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है। एक क्रियामें स्वकर्तृक और स्वकर्मत्वका विरोध है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अतः घट-पटभेदका बुद्धिसे अभेदबोध उक्त वाक्यसे होनेपर घट-पटादिका भी अभेदबोधमें कोई प्रतिबन्ध नहीं रहेगा।

अच्छा, तो घट-पटभेदग्राहिबुद्धिमें स्वविषयभेद या स्वविषयमें स्वभद अन्य बुद्धिसे गृहीत हो जायगा। बुद्ध्यन्तर ही उक्ताभेदबोधमें बाधक होगा।

समाधान—बुद्ध्यन्तरके साथ ही बुद्ध्यन्तरविषयाभेदबोधमें अन्यबुद्धि उक्त रीतिसे प्रतिबन्धक नहीं होगा। स्वमें स्वविषयाभेद स्वविषयमें स्वाभेदका बोध उक्त श्रुतिसे निर्बाध हो जायगा—इस प्रणालीसे भेद सिद्ध नहीं हो सकता। स्वविषयविशिष्ट पूर्व-पूर्व बुद्धिके उत्तरोत्तर बुद्धिसे अभिन्न होनेपर घट-पटादिमें अभेद स्वाभिन्नाभिन्न न्यायसे सिद्ध हो जायगा।

शंका—बुद्ध्यन्तरसे तद्बुद्धि विषयोंका भेदग्रह हो ही जायगा, तो फिर अभेदका बोध कैसे होगा ?

समाधान—इस प्रकार बुद्धिपरम्परानुसरण यदि कहीं रुकेगा नहीं, तो विषयान्तरका बोध ही न होगा। उत्तरबुद्धिसे पूर्वबुद्धिका नाश होता है, यह न्यायसिद्धान्त है। सजातीय बुद्धिविच्छेदके विना विषयान्तरसञ्चार नहीं होगा। विजातीय बुद्धिविच्छेदसे पूर्व-पूर्व बुद्धि तद्विषयभेदग्राहिचरमबुद्धिमें स्वविषयभेद, तद्विषयमें तद्बुद्धिभेदका ग्रहण हुआ नहीं, अतः उस बुद्धिमें तद्विषयाभेदबोधपर पैर जमाकर श्रुति निष्कण्टक सर्वाभेद बोध करायेगी।

शंका—अच्छा, तो अनवस्थावश हमारी बुद्धिपरम्परा जहां विच्छिन्न होगी, वहां पुरुषान्तरबुद्धिसे भेदग्रह हो जायगा, तो फिर अभेदग्रह कैसे ?

समाधान—पुरुषान्तरबुद्धि आपकी चरमबुद्धि तद्विषयोंमें भेदका ही ग्रहण करेगी, अभेदका नहीं, इसमें आपको क्या प्रमाण है ? क्योंकि पुरुषान्तरबुद्धिका प्रत्यक्ष आपको हो नहीं सकता।

शक्रेणापि न शक्यते संपादयितुम्, पदार्थस्वभावभङ्गायोगात् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा सतो देशान्तरे कालान्तरे वाऽसत्त्वम्, कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽसतोऽन्यत्र सत्त्वं न शक्यते संपादयितुम्, युक्तिसाम्यात् । अत उभयोर्नियतरूपत्वमेव द्रष्टव्यमित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । अतः सदेव वस्तु मायाकल्पितासन्निवृत्त्याऽमृतत्वाय कल्पते, सन्मात्रदृष्ट्या च तितिक्षाऽप्युपपद्यत इति भावः ॥१६॥

शंका—अच्छा, तो अनुमानसे बुद्धि और तद्विषयका भेदग्रह कर लेंगे, इस तरह अनुमान होगा—चरमबुद्धिः स्वविषयभिन्ना, बुद्धित्वात्, पूर्वबुद्धिवत् ।

समाधान—या या बुद्धिः सा सा स्वविषयभिन्ना, इस व्याप्तिग्राहक बुद्धिमें भी बुद्धित्व है, परन्तु यह बुद्धि स्वस्कन्धारोहणन्यायसे स्वभेदग्रहण नहीं करती, इसीलिये इसीमें व्याप्तिग्रहका भङ्ग है, अतः उक्त व्याप्तिज्ञान द्वारा भी भेदग्रह नहीं हो सकता । यह भेदनिराकरणप्रकार खण्डनखण्डखाद्यमें अतिविस्तृत है, अतः विशेषजिज्ञासुजन वहीं देखें । इसी अभिप्रायसे लिखते हैं—'यत्रैव' इत्यादि ।] जहाँ भेदग्रह न हो, वहीं पैर जमाकर 'सद्द्रव्यम्' इत्याकारक प्रतीति सद्द्रव्याभेदबोधमें विजयिनी है । तार्किक कालपदार्थको सर्वात्मक मानते हैं । उसीसे सकल व्यवहार हो सकता है, तदतिरिक्त पदार्थकल्पनामें प्रमाण नहीं है, वह सबमें संबद्ध है । यदि उसको स्फुरणरूप चैतन्यरूप मान लें, तो सर्वतादात्म्येन प्रतीतिकी उपपत्ति हो जाती है । स्फुरण भी सर्वानुस्यूत होनेसे नित्य तथा एक है, यह विस्तारपूर्वक अग्रिम श्लोकमें कहेंगे । [यद्यपि नैयायिक जन्य को ही कालोपाधि मानते हैं, नित्य आकाशादिको नहीं । 'आकाशः सन्' इत्याकारक प्रतीति उक्त रीतिसे नहीं हो सकती; तथापि जन्यमात्रमें लाघवार्थं यह मानना चाहिये ।]

श्रुतिप्रमाणसे आकाशादि अनित्य ही हैं । इनमें औपचारिक नित्यत्वाभिधान है । नव्य नैयायिक आकाश और कालको आत्मासे भिन्न नहीं मानते, इसलिये यह सदुपदेश प्राचीन तार्किकके लिये है । इससे सारांश यह निकला कि जो जिस देश-कालमें अघट—घटभिन्न पटादि है, वह देशान्तर या कालान्तरमें घट नहीं हो सकता, यह जैसे नियम है वैसे ही जिस देश-कालमें जो घट है, देशान्तर या कालान्तरमें उसमें अघटत्व त्रिलोकीश्वरसे भी नहीं हो सकता, दूसरेकी सामर्थ्यकी चर्चा ही क्या ? क्योंकि पदार्थस्वभावका भङ्ग अयुक्त है, यह नियतिनियत है । इसका परिवर्तन क्रियाविषय नहीं है । इसी प्रकार किसी देश वा काल में सत्का कालान्तर या देशान्तरमें असत्त्व तथा किसी देश-कालमें असत्का देशान्तर या कालान्तरमें सत्त्व सम्पादन किसीसे भी शक्य नहीं है, क्योकि दोनोंमें युक्ति समान है । अतः दोनों सत् और असत्में नियतरूपता यानी सत्में सत्त्व और असत्में असत्त्व नियत है, न कि तार्किकमतसे उत्पत्तिके प्राक्काल तथा ध्वंसकालमें घटादि असत् तथा स्थितिकालमें सत् है—इत्यादि कुबुद्धिकल्पना ठीक नहीं है, इस विषयमें

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! जिस सद्रूप स्फुरणसे यह समस्त दृश्यसमूह व्याप्त है उसे तो तुम अविनाशी ही समझो। अविनाशी उस सद्रूप स्फुरणका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

नन्वेतादृशस्य सतो ज्ञानाद्भेदे परिच्छिन्नत्वापत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमभ्युपेयम्। तच्चानाध्यासिकम्, अन्यथा जडत्वापत्तेः। तथा चानाध्यासिकज्ञानरूपस्य सतो धात्वर्थत्वादुत्पत्तिविनाशवत्त्वं घटज्ञानमुत्पन्नं, घटज्ञानं नष्टमिति प्रतीतेश्च। एवं चाहं घटं जानामीतिप्रतीतेस्तस्य साश्रयत्वम् सविषयत्वं चेति देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वात्स्फुरणस्य कथं तद्रूपस्य सतो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह 'अविनाशि तु' इत्यादि। विनाशो देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदः, सोऽस्यास्तीति विनाशि परिच्छिन्नं, तद्विलक्षणमविनाशि सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यं तु—एव। तत् सद्रूपं स्फुरणं त्वं विद्धि जानीहि। किं तत्, येन सद्रूपेण स्फुरणेनैकेन विभुना सर्वमिदं दृश्यजातं स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्त्यध्यासेन रज्जुशकलेनेव सर्पधारादि

अधिक अद्वैतसिद्धिमें देखिये। इसलिए सत् वस्तु ही मायाकल्पित असन्निवृत्तिसे मोक्षभागी होती है। सन्मात्रदृष्टिसे तितिक्षा भी उत्पन्न होती है। अर्थात् जो है वह विनाशी नहीं है, जिसे विनाशी समझकर दुःखी होते हो। जब वह है ही नहीं, तो फिर दुःख करना उसके लिये मूर्खता ही है। १६ ॥

उक्त सत् यदि ज्ञानसे भिन्न है, तो परिच्छिन्नत्व दोष होगा, इसलिये उसे ज्ञानस्वरूप ही कहना होगा। ज्ञान दो प्रकारका है—आध्यासिक और अनाध्यासिक। प्रथम पक्ष में जड़त्वापत्तिरूप दोष होगा। आध्यासिक ज्ञान होनेसे बुद्धि जड़ ही कहलाती है। चैतन्यतादात्म्याध्याससे प्रकाश होता है, पर स्वरूपसे जड़ ही है एवं सत्में भी जड़त्वापत्ति होगी, अतः सत्को अनाध्यासिक ज्ञानरूप कहना ही पड़ेगा और वह ज्ञान 'ज्ञा' धात्वर्थ होगा, सो तो उत्पत्ति-विनाशवान् ही है। घटज्ञान उत्पन्न हुआ, घटज्ञान नष्ट हुआ, यह प्रतीति लोकमें प्रसिद्ध ही है। और भी दोष सुनिये—मैं घट जानता हूँ—मैं घटज्ञानवान् हूँ, इस प्रतीतिसे ज्ञानमें सविषयत्व और साश्रयत्व प्रसक्तिसे देश-काल-वस्तुपरिच्छेद भी प्रतीत होता है, फिर स्फुरणरूप सत् देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य कैसे हो सकता है ? यह आशङ्काकर कहते हैं—'अविनाशि तु' इत्यादिसे।

विनाश अर्थात् देशसे, कालसे, वस्तुसे जो परिच्छेद है वह जिसमें रहे वह विनाशी है—परिच्छिन्न है, उससे विलक्षण अविनाशी है।

प्रश्न—वह कौन है ?

स्वस्मिन्समावेशितं, तदविनाश्येव विद्धीत्यर्थः। कस्मात्, यस्माद्विनाशं परिच्छेदमव्ययस्यापरिच्छिन्नस्यापरोक्षस्य सर्वानुस्यूतस्य स्फुरणरूपस्य सतः कश्चित्कोऽपि आश्रयो वा विषयो वेन्द्रियसन्निकर्षादिरूपो हेतुर्वा न कर्तुमर्हति—समर्थो न भवति, कल्पितस्याकल्पितपरिच्छेदकत्वायोगात् आरोपमात्रे च इष्टापत्तेः। 'अहं घटं जानामी' त्यत्र हि अहंकार आश्रयतया भासते, घटस्तु विषयतया। उत्पत्तिविनाशवती काचिदहंकारवृत्तिस्तु सर्वतो विप्रसृतस्य सतः स्फुरणस्य व्यञ्जकतया, आत्ममनोयोगस्य परैरपि ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात्। तदुत्पत्तिविनाशेनैव च तदुपहिते स्फुरणरूपे सत्युत्पत्तिविनाशप्रतीत्युपपत्तेर्नैकस्य स्फुरणस्य स्वत उत्पत्तिविनाशकल्पनाप्रसङ्गः, ध्वन्यवच्छेदेन शब्दवत्, घटाद्यवच्छेदेनाऽऽकाशवच्च। अहंकारस्तु तस्मिन्नध्यस्तोऽपि

उत्तर—निखिलपरिच्छेदप्रकारशून्य 'सद्रूप स्फुरण' को तुम समझो यानी जान लो। जिस सद्रूप नित्य विभु एक स्फुरणसे—जो स्वतः सत्तास्फुरणशून्य है, जिसकी सत्ता स्वयं नहीं जानी जाती, जड़की सत्ता चेतन के प्रकाशसे ही मानी जाती है, ऐसा—सब सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च व्याप्त है। आत्मसत्तास्फूर्त्तिके अध्याससे जैसे रज्जुखण्डसे सर्पजलधारादि व्याप्त है। रज्जुखण्ड में ही जैसे सर्पजलधाराका भान है वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्म-स्फुरणमें सारा जड़वर्ग अध्यस्त होनेसे अधिष्ठानभूत आत्मस्फुरणसे ही स्फुरित होता है। उस सकल-दृश्याधिकरणपरमार्थ सत्को अविनाशी ही समझो, यह तात्पर्य है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यतः अपरिच्छिन्न अपरोक्षैकरस सर्वानुस्यूत स्फुरणरूप अव्यय सत्का कोई भी आश्रय, विषय या इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप हेतु परिच्छेदात्मकविनाश नहीं है। क्योंकि कल्पित (प्रातिभासिक) सत्ता वाला अकल्पित (पारमार्थिक) सत्ताका परिच्छेदक नहीं होता । परिच्छेदका आरोप तो इष्ट है 'अहं घटं जानामि' (मैं घट जानता हूं) यहांपर अहमर्थका आश्रयरूपसे घटका विषयरूपसे भान है अर्थात् यन्निरूपित आश्रयत्व-विषयत्वका भान होता है वह उत्पत्ति-विनाशवती अन्तःकरणवृत्ति है, जो सौरालोकवत् सर्वत्र फैले हुये उस सद्रूप स्फुरणप्रकाशकी व्यञ्जिका है। नैयायिक भी आत्ममनःसंयोगको ज्ञानका कारण मानते ही हैं। अन्तःकरणगत उत्पत्ति-विनाशकी तदुपहित (तत्समीपस्थित) स्फुरणरूप सत्में प्रतीति होती है, अतः वस्तुतः एक स्फुरणमें स्वतः उत्पत्ति और विनाशकी कल्पना अयुक्त है जैसे शब्द एक विभु आकाशमात्रमें व्याप्त है. वह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जहां ध्वनि रहती है वहां शब्दोपलब्धि होती है। ध्वनिनाशसे शब्दानुपलब्धि होती है। इसीसे शब्द उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि प्रतीति होती है पर वस्तुतः विचार करनेपर शब्दव्यञ्जकध्वनिकी उत्पत्ति और विनाश होता है व्यङ्ग्यशब्दका नहीं। फोनोग्राफ, रेडियो, यन्त्रोंसे यह स्पष्ट हो गया है कि शब्दको जो क्षणिक कहते हैं, वे

तदाश्रयतया भासते, तद्वृत्तितादात्म्याध्यासात् । सुषुप्तावहंकाराभावेऽपि तद्वासनावासिताज्ञान-भासकस्य चैतन्यस्य स्वतःस्फुरणात् । अन्यथैतावन्तं कालमहं किमपि नाज्ञासिषमिति सुषुप्तोत्थितस्य स्मरणं न स्यात्, न चोत्थितस्य ज्ञानाभावानुमितिरियमिति वाच्यम्, सुषुप्तिकालरूपपक्षाज्ञानाल्लिङ्गासंभवाच्च । असमरणादेर्व्यभिचारित्वात्स्मरणाजनकनिर्विकल्पकाद्य-

---

व्यंजकध्वनिको ही शब्द समझते हैं, सो ठीक नहीं है । अस्तु, इसी तरह घटाकाश उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ—इत्यादि प्रतीति घटगतोत्पत्ति और विनाशको आकाशमें आरोपित भान कराती है। अहंकार यद्यपि स्फुरणमें अध्यस्त है, अतः स्फुरणाश्रितरूपसे उसकी प्रतीति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, किन्तु स्फुरणाश्रयरूपसे उसकी प्रतीति होती है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—अहङ्कारकी वृत्तिका स्फुरणमें तादात्म्याध्यास होनेसे स्फुरणावृत्त्यात्मक ज्ञान होता है । वृत्ति अहंकारमें ही है, अतः तद्रूपेण ज्ञात स्फुरण भी अहमर्थाश्रितरूपसे ही प्रतीत होता है ।

शंका—यदि अहंकारवृत्तिसे चैतन्यका भान होता है, तो वृत्तिको ही प्रकाशक मानिये, तदरिक्त स्फुरणके सद्भावकी क्यों मानते हैं ?

समाधान—सुषुप्तिदशामें अहंकार नहीं रहता, अतएव वृत्तिका सुतरां अभाव है, फिर भी अहंकार-वासनाविशिष्ट अज्ञानभासक चैतन्यका स्वतःस्फुरण अनुभवसिद्ध है। इसलिये अहंकारवृत्त्यतिरिक्त स्वतःस्फुरण आवश्यक है । अन्यथा स्फुरणात्मक चैतन्य न हो, तो इतने समयतक यानी सुषुप्तितक 'मैं कुछ नहीं जान सका ?' यह स्मरण सुप्तोत्थित यानी जागे हुए पुरुषको नहीं होगा ।

[प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—संस्कारसे स्मरण होता है और संस्कार अनुभवसे होता है, यह समान नियम है। सुषुप्तिकालादिका अनुभव यदि नहीं है, तो फिर संस्कार कैसे होगा ? विना संस्कारके उक्त स्मरण नहीं हो सकता । चूँकि स्मरण होता है, इसलिये तात्कालिक अनुभव मानना आवश्यक है ।

तावत्काल में कुछ नहीं जाना, यह तो सुप्तोत्थितको ज्ञान होता है, परन्तु यह स्मरण होता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं, इसलिए यह अनुमानात्मक ज्ञान है ।

कैसा अनुमान है, यदि यह कहिये, तो सुनिये—अहं तदा ज्ञानसामान्याभाववान्, ज्ञानसामान्य-प्रयोजकसामग्रीशून्यत्वात्, यदा नैवं तदा नैवम्, यथा जागरितः । कारणके विना कार्य नहीं होता, यह तो विदित ही है । ज्ञानोत्पत्तिका साधारण कारण आत्ममनःसंयोग है, इसके विना ज्ञानमात्र नहीं होते । सुषुप्तिदशामें मन पुरीतति नाडीमें प्रवेश करता है, इसलिये ज्ञानोत्पादक आत्ममनःसंयोगके न रहनेसे कोई

भावासाधकत्वाच्च। ज्ञानसामग्र्यभावस्यान्योन्याश्रयग्रस्तत्वात्। तथा च श्रुतिः "यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तत् (द्रष्टव्यं) न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इत्यादिः सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्फुरणसद्भावं तन्नित्यतया दर्शयति। एवं घटादिर्विषयोऽपि तदज्ञातावस्था-

---

ज्ञान नहीं होता, यह न्यायमत है। कारणाभावसे कार्याभावका अनुमान सर्वसंमत है, अतः उक्त ज्ञान स्मरण-स्वरूप नहीं है, इसलिये उक्त स्फुरणमें कोई प्रमाण नहीं है।] यह जागे हुए पुरुष के ज्ञानाभावका अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि हेतुपक्षादिज्ञानके विना अनुमान नहीं होता। सुषुप्तिकालीन आत्म-पक्षज्ञान तथा सामग्रीविरहरूप हेतुका ज्ञान उस समय कैसे हुआ ? क्योंकि उस समय न तो उक्त पक्ष ही है और न हेतु ही है।

[यदि पूर्वापरकालसे मध्यकालका अनुमान करनेसे सुषुप्तिकालका पूर्वदिनावगत पदार्थस्मरणसे तत्कालमें आत्मसत्ताका अनुमान कर तत्कालीन आत्मामें अनुमित ज्ञानकरणाभावसे ज्ञानसामान्यभावका अनुमान है—'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि। यदि यह कहें, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उक्त रीतिसे कथंचित् पक्षका ज्ञान हो भी जाय, तो भी ज्ञानाभावका यानी लिङ्गज्ञानजनकसामग्र्यभावका ज्ञान कैसे होगा। आत्ममनःसंयोगके विना तदभावज्ञान नहीं हो सकता। आत्ममनःसंयोग उस कालमें है नहीं। यदि यह कहिये कि उस कालमें ज्ञान होता, तो उनका स्मरण होता—जैसे स्वप्नका स्मरण होता है। चूंकि कुछ भी स्मरण नहीं है, इसलिये अस्मर्यमाणत्व ही हेतु है। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जितने ज्ञान उत्पन्न होते हैं, सबका स्मरण होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि उपेक्षात्मक ज्ञानका स्मरण नहीं होता और न उसके विषयका ही स्मरण होता है, अतएव नियमेनास्मर्यमाणत्व भी व्यभिचारी है। ग्राम जानेके समय प्रत्येक तृणादिका स्पर्श होता है, पर सबका स्मरण नहीं होता, अन्यथा स्मरणमें ही मन व्यग्र रहेगा, तो ज्ञानान्तरोत्पत्तिका अवकाश ही न मिलेगा। एक कालमें विजातीय अनेक ज्ञान मनमें नहीं होते। देखिये न्यायसूत्र—'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसलिङ्गम्'। अच्छा तो ज्ञानसामान्याभावसे ज्ञानसामग्र्यभावका अनुमान होगा, इसमें अन्योन्याश्रय दोष है—ज्ञानाभावसे तत्सामग्र्यभावका, सत् सामग्रीके अभावसे ज्ञानाभावका अनुमान यह व्यक्त ही अन्योन्याश्रय दोष है। उक्तरीतिसे हेत्वन्तरस्मर्यमाणत्वादि व्यभिचारी है। किञ्च, ज्ञानाभावानुमानपक्षमें सामग्रीके अभावज्ञानके लिये हेत्वन्तरज्ञान आवश्यक है। वह भी ज्ञान अनुमानात्मक ही होगा, इसलिये तज्ज्ञानार्थ पुनः हेत्वन्तरज्ञान तदर्थं पुनः हेत्वन्तरज्ञान तदर्थं पुनः हेत्वन्तर-ज्ञान, तदर्थं पुनः पुनः—इसतरह अनवस्था दोष भी है। किञ्च, अभावज्ञानमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है। प्रतियोग्यादिका जो ज्ञान होगा, वह तो ज्ञानसामान्य ही होगा और ऐसा होनेसे तदभावानुमान ही असंगत हो जायगा। इस तरह जब उन दोनोंका ज्ञान न होगा, तो फिर अभावज्ञानके कारणके अभावसे तज्ज्ञान हो ही नहीं सकता, यह दोषपरम्पराव्यसन दुस्तर है।

भासके स्फुरणे कल्पितः, य एव प्रागज्ञातः, स एवेदानीं मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञानात् । अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, यथार्थानुभवः प्रमेति वदद्भिस्तार्किकैरपि ज्ञातज्ञापिकायाः स्मृतेर्व्यावर्तकमनुभवपदं प्रयुञ्जानैरेतदभ्युपगमात् । अज्ञातत्वं च घटादेर्न चक्षुरादिना परिच्छिद्यते, तत्रासामर्थ्यात्तज्ज्ञानोत्तरकालमज्ञानस्यानुवृत्तिप्रसङ्गाच्च । नाप्यनुमानेन, लिङ्गाभावात् । नहीदानीं ज्ञातत्वेन प्रागज्ञातत्वमनुमातुं शक्यम्, धारावाहिकानेकज्ञानविषये

भेदसादृश्य जैसे स्वरूपसे निर्विकल्पकज्ञानवेद्य होते हैं एवं अभाव भी उक्तोभयज्ञानके विना स्वरूपेण तज्ज्ञानगोचर है, अन्यथा निर्विकल्पकपूर्वक सविकल्पक ज्ञान होता है, कारण कि विशिष्टज्ञानमें विशेषणज्ञान कारण होता है, यह तार्किकसिद्धान्त है। अभावसादृश्य सप्रतियोगिक है। किसका अभाव, किसके सदृश, यह नियमेन अपेक्षा होती है। सबका अभाव या सादृश्य सर्वत्र नहीं होता, किन्तु किसीका किसीमें होता है, इसलिये प्रतियोग्यादिप्रकारक ही भेदसादृश्यादि ज्ञान होते हैं, निर्विकल्पक नहीं, इसलिये स्वरूपेण कहा गया है। भेदत्वेन सादृश्यत्वेन तज्ज्ञान सप्रकारक ही होगा, यह ठीक है, किन्तु भेदादि वस्तुस्वरूप हैं। नैयायिक सादृश्यको अतिरिक्त नहीं मानते। वस्तुस्वरूपसे ज्ञान उक्त कारणके विना भी होता है इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—'अस्मरणा दे०' इत्यादि] स्मरणाभावके व्यभिचारी होनेसे सुषुप्तिकालमें निर्विकल्पक ज्ञानाभावका ज्ञान होनेपर भी तो वह स्मरणजनक नहीं होता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान ही संस्काराधायक होता है, निर्विकल्पक नहीं, अतः स्मरणाजनक निर्विकल्पक सुषुप्तिकालीन ज्ञान तत्कालमें ज्ञानाभावका साधक नहीं है और ज्ञानसामग्र्यभाव भी उक्त न्यायसे अन्योन्याश्रय तथा अनवस्थादोषसे दुष्ट है। उक्त कालमें ज्ञान रहता है, एतदर्थक श्रुति देखिये—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तद् न पश्यति' इत्यादि । [इस विषयकी विशेष जिज्ञासा हो, तो वेदान्तके बड़े-बड़े ग्रन्थोंको देखिये । यहाँ संक्षिप्त ही लिखना उचित है ।] सुषुप्तिकालमें स्वप्रकाश स्फुरणकी सत्ता 'पश्यन् वै' से श्रुति स्पष्टबोध कराती है। उसमें नित्यत्वसिद्धिके लिये अविनाशित्व हेतुका स्फुट निर्देश है। जैसे सवृत्तिक अहंकारका स्वप्रकाश स्फुरणमें अध्यास है वैसे ही घटादि पदार्थका घटाद्यज्ञानावस्थाभासक स्फुरणमें अध्यास कल्पित है। जड़घटादिके भानार्थं स्फुरणमें अध्यास आवश्यक है। अज्ञातावस्थामें स्थित घटादि था वही अब प्रत्यभिज्ञात हुआ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (ज्ञातज्ञान होती है। [इस ज्ञानके द्वारा पूर्वापरकालावस्थित पदार्थमें ऐक्यका भान होता है। वही यह देवदत्त है, जिसको मथुरामें देखा था। देश-कालसे भिन्न होनेपर भी व्यक्तिमें अभेदप्रतीति होती है और घटज्ञान प्रामाण्यार्थं भी उक्तावस्थाविशिष्ट घटका स्वीकार अपेक्षित है] अज्ञातज्ञापकत्व स्मृतिव्यावृत ज्ञानमें प्रामाण्य है, यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है।

शंका—नैयायिकोंने 'यथार्थानुभव' प्रमाका लक्षण किया है 'अज्ञातज्ञापकत्व' नहीं किया है, अतः यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कैसे ?

व्यभिचारात्। इदानीमेव ज्ञातत्वं तु प्रागज्ञातत्वे सतीदानीं ज्ञातत्वरूपं साध्याविशिष्टत्वादसिद्धम्। न चाज्ञातावस्थाज्ञानमन्तरेण ज्ञानं प्रति घटादेर्हेतुता ग्रहीतुं शक्यते, पूर्ववर्तित्वाग्रहात्। घटं न जानामीति सार्वलौकिकानुभवविरोधश्च। तस्मादज्ञातं स्फुरणं भासमानम्

समाधान—शब्दतः भिन्न लक्षण है, पर अर्थतः उक्त लक्षण उन्हें भी अभिमत है। अनुभवपद स्मृतिव्यावृत्त्यर्थ ही है, अन्यथा 'यथार्थज्ञानं प्रमा' ऐसा ही लक्षण करते। ज्ञात पदार्थोंकी ज्ञापिका स्मृतिके व्यावर्तक अनुभवपदका प्रयोग नहीं करते। यथार्थानुभवजन्य स्मृतिभी यथार्थ है, परन्तु पदार्थव्यवस्थामें स्मृतिमूलभूतानुभवप्रामाण्य ही प्रयोजक होता है, क्योंकि वह स्वतंत्र है। स्मृतिप्रामाण्य अनुभवप्रामाण्याधीन होनेसे गौण माना जाता है। गुण और प्रधानमें प्रधानका ही सर्वत्र आदर होता है। घटादिनिष्ठ अज्ञातावस्थाका चक्षुरादिसे ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सामर्थ्य नहीं है। यदि सामर्थ्य माना जाय, तो चक्षुर्विषयसंयोगोत्तरकालमें अज्ञानकी अनुवृत्ति हो जायगी। तो फिर अनुमानसे तद्ग्रहण कह सकते हैं। इस समयमें यह ज्ञात हुआ, इससे पूर्वमें अज्ञात था। 'इदं पूर्वमज्ञातम्',' इदानींज्ञातत्वात्', 'यन्नेवं तन्नेवम्, यथा ज्ञानम्' यह अनुमानका रूप होगा। यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि लिङ्गका अभाव है अर्थात् दो-चार मिनट तक घटज्ञान ही निरन्तर होता रहे, मध्यमें ज्ञानान्तर यदि न हो, तो उसे धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। इसमें प्रथमज्ञानका विषय ही उत्तरोत्तरज्ञानका विषय होता है, अतः उत्तरोत्तरज्ञानमें पूर्व-पूर्वज्ञान ज्ञातज्ञापकत्व ही है, अज्ञातज्ञापकत्व नहीं। साध्याभाववान्में हेतुकी सत्ता होनेसे व्यभिचार है।

[जिस ज्ञानमें अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य विवक्षित हो तज्ज्ञानाज्ञानज्ञापकत्वरूप अभीके ज्ञातत्वहेतुसे प्राक्कालमें तज्ज्ञानाज्ञानत्वरूप प्राक्कालाज्ञातत्वका अनुमान करें, तो उक्त रीतिसे व्यभिचार नहीं है।

व्यभिचार तो नहीं है, पर उसका कोई साध्यसम दोष होगा। अनुमितिमें पाँच दोष प्रधान हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल। इनमें कोई भी दोष हेतुमें रहे, तो वह साध्यानुमापक नहीं होता। साध्यसम उसको कहते हैं, जो साध्यके समान अनुमानसे पूर्व पक्षमें ज्ञात न हो। ज्ञात हेतुसे अज्ञात साध्यका अनुमान पक्षमें होता है, यह अनुमानकी प्रणाली है। यदि साध्यवत्साधन भी पक्षमें ज्ञात न हो तो जन साध्य-साधनोंमें साध्य-साधनभाव ही कैसा ? उनमें कौन साध्य है और कौन साधन है—इसका निर्णय ही नहीं हो सकता। दोनों अज्ञातत्वेन साध्य ही हो सकते हैं। फिर भी यदि साध्य-साधनभाव कहें, तो विनिगमकविरहसे विपरीत ही क्यों न कहें। अतः साध्यसम हेतु हेत्वाभाससे दुष्ट होनेसे अनुमापक नहीं है।] इदानीमेव अर्थात् अभीके ज्ञातत्वसे पूर्व कालके अज्ञातत्वविशिष्ट एतज्ज्ञानविषयत्व हेतुका लाभ होगा। एवकारसे प्रागज्ञातत्वरूप साध्यका भी हेतुदलमें प्रवेश हो गया। साध्य तो अनुमानसे पूर्वमें अज्ञात रहता ही है, अन्यथा अनुमान ही न होगा। साध्यघटित हेतु ही साध्यसम है, अतः प्रागज्ञातत्वका अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि हेतु असिद्ध है। [प्रकारान्तरसे भी अज्ञातत्वांशग्रहणका

स्वाध्यस्तं घटादिकं भासयतीति घटादीनामज्ञाते स्फुरणे कल्पितत्वसिद्धिः, अन्यथा घटादेर्जड-त्वेनाज्ञातत्व-तद्भानयोरनुपपत्तेः । स्फुरणं चाज्ञातं स्वाध्यस्तेनैवाज्ञानेनेति स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति—"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इत्यत्र । एतेन विभुत्वं सिद्धम् ।

उपपादन करते हैं—] यदि घटकी अज्ञातावस्थाका ज्ञान न होगा, तो घटज्ञानके प्रति घट कारण है, यह भी नहीं सिद्ध होगा, कारणत्व कार्योत्पत्तिप्राक्क्षणवृत्तित्वरूप है। घटज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व क्षणमें घट है, ऐसा ज्ञान होनेपर उसके ज्ञानकारणत्वका घटमें ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा किससे पूर्ववर्तित्वका ग्रहण करेंगे, अतः अज्ञातत्वविशिष्ट घटका उसकी ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्वमें भी साक्षीसे ग्रहण होता है, यह सिद्ध हुआ। 'घटमहं न जानामि' यह सर्वलोकानुभव भी अज्ञानमें प्रमाण है। इसका विरोध होने लगेगा। [घटविषयका ज्ञानवान् अहम्, यह प्रत्यक्ष है। अज्ञानका साक्षीसे यदि प्रत्यक्ष न हो, तो फिर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती।

शङ्का—उक्त प्रतीति घटज्ञानाभावविषयक होनेसे भी हो सकती है। जिस इन्द्रियसे जिसका प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रियसे उसके अभावका भी प्रत्यक्ष होता है, इस नियमके अनुसार ज्ञानका मानस प्रत्यक्ष है, अतः ज्ञानाभावका भी मानस प्रत्यक्ष है 'घटमहं न जानामि ? मैं घटविषयक अज्ञानवान् हूँ, यह प्रत्यक्ष तो है ही।

समाधान—अभावज्ञानमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है। यदि उभयज्ञान है, तो घटज्ञानाभाव विषय ही नहीं है, तो ज्ञानाभाव ग्राहक सामग्री नहीं है। फिर उसके अभावका ज्ञान कैसे ? विस्तुत विवरण अन्यत्र देखिये।]

इसलिये अज्ञात भासमान स्फुरण अर्थात् स्वयंप्रकाश स्फुरण स्वाध्यस्त घटादिका भासक है। अतः घटादि अज्ञात कल्पित है, यह सिद्ध हुआ, अन्यथा जड़घटादिमें अज्ञातत्व और भान दोनोंकी अनुपपत्ति होगी।

[यदि कहिये, क्यों ? तो सुनिये—जड़के स्वयं प्रकाशनार्ह होनेसे उसमें आवरण अपेक्षित नहीं है। जैसे प्रदीपके आलोकको तिरोहित करनेके लिये वही आवृत किया जाता है, घटादि नहीं। जिसके अनावरणसे घटादिमें प्रकाशप्रसक्ति है उसीमें प्रकाशनिवृत्तिकी इच्छासे आवरण उचित है, घटादि तो स्वयं आवृत ही है, यदि प्रदीपादिके प्रकाशसे योग न हो।

शङ्का—घटादिको भी छिपाते हैं यानी अप्रकाशार्थ कोठरीके भीतर रख देते हैं, कदाचित् दूसरी वस्तुसे ढक देते हैं ?

समाधान—हाँ, ऐसा भी होता है, परन्तु उसका तात्पर्य प्रकाशसंबंध रोकनेमें है। सूर्यप्रकाशको साक्षात् नहीं रोक सकते, इसलिये ऐसा उपाय करते हैं, परन्तु वास्तवमें प्रकाशतिरोधानके लिये ही होता

तथाच श्रुतिः "महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव" इति, "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इति च ज्ञानस्य महत्त्वमनन्तत्वञ्च दर्शयति। महत्त्वम् स्वाध्यस्तसर्वसंबन्धित्वम्, अनन्तत्वं त्रिविध-परिच्छेदशून्यत्वमिति विवेकः। एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्रमायोगान्निरवधि-बाधायोगाच्च। तथा च श्रुतिः "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि। उक्तं च भाष्यकारैः—सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति, पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यति" इति। एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च। तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाश-

है, इसलिये जड़में अज्ञान न मानकर चेतनमें अज्ञान माना जाता है। अध्यासके विना जड़में प्रकाशकी अनुपपत्ति स्पष्ट है। आगके अध्यासके विना लोहामें प्रकाश कहाँ रहता है?

प्रश्न—अच्छा, तो स्फुरणका तिरोधायक कौन है?

उत्तर—अज्ञान।

प्रश्न—अज्ञान यदि स्फुरणमें मानते हैं, तो निर्विशेष चिन्मात्रका स्फुरण कैसे?

उत्तर—वास्तविक अज्ञानकी स्थिति नहीं मानते, किन्तु यह मरीचिमें जलस्थितिवत् अध्यस्त है। अध्यस्तका दोष-गुण अधिष्ठानमें नहीं आता, यह तो स्पष्ट है।]

अज्ञानने ज्ञानमें अध्यस्त होकर उसे आवृत किया है, यह भगवान् स्वयं आगे कहेंगे—**'अज्ञानेनावृतम्'** इस श्लोकमें। इससे स्फुरणमें विभुत्व भी सिद्ध होता है। देखिये—'महद्भूतमनन्तमपारम्' 'विज्ञानघन एव' तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति भी ज्ञानकी महत्ता तथा अनन्तता दिखलाती है। स्व यानी स्फुरण। उसमें अध्यस्त समस्त प्रपंच तत्संबन्धित्व महत्त्व तथा त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्व अनन्तत्व है, यह जान लेना चाहिए। श्रुतिसंमत स्फुरणनिरूपणसे शून्यवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि निरधिष्ठान भ्रम अदृष्टचर है और बाध भी निरवधि नहीं होता। शून्यवादमें उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ हैं, देखिये—'पुरुषान्न परं किञ्चित्' पुरुषसे आगे कुछ नहीं हैं, वही अवधि है, वही परम गति है, सभी नाशवान् वस्तुओंके नाशकी सीमा पुरुष है। यह श्रुति भी पुरुषको संपूर्ण बाधाओंकी अवधि घोषित करती है। 'सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तः०' विनाश कारणके अभावसे पुरुष विनष्ट नहीं होता। इत्यादि वाक्यसे भाष्यकारने भी बाधको सावधि कहा है, निरवधि नहीं। विनाशकी अवधि साक्षी पुरुषको बतलाती है। स्फुरणमें विभुत्वके व्यवस्थापनसे क्षणिकवाद भी निरस्त हुआ। [जैसे मैंने बाल्यकालमें पिता माताका अनुभव किया, वही मैं वृद्धावस्थामें पौत्रोंका अनुभव करता हूँ, यह बाल्य और वार्द्धक्यमें एक ही स्थिर आत्मा है, इसका साधक अबाधित प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है और अन्यानुभूत पदार्थका स्मरण भी

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

ये सभी देह विनाशशील हैं। वे सबके सब नित्य, अरिपच्छिन्न आत्माके सम्बन्धी कहे हैं चूंकि पूर्वोक्त न्यायसे नित्य, विभु, असंसारी तथा सदा एकरूप रहनेवाला आत्मा है, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करो—आत्माके नाशकी व्यर्थ आशङ्काकर युद्धसे मुख न मोड़ो ॥ १८ ॥

स्फुरणरूपस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नम्—'नाभावो विद्यते सतः' इति ॥ १७ ॥

ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य, देहधर्मत्वात् । देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनः तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति—'अन्तवन्तः' इति । अन्तवतो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहाः; उपचितापचितरूपत्वात् शरीराणि बहुवचनात्स्थूलसूक्ष्म-कारणरूपा विराट्सूत्राव्याकृताख्याः समष्टिव्यष्ट्यात्मानः सर्वे नित्यस्याविनाशिन एव शरीरिणः आध्यासिकसंवन्धेन शरीरवत एकस्याऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्फुरणरूपस्य संबन्धिनो दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन चोक्ताः श्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तथाच तैत्तिरीयकेऽन्नमयाद्यानन्दमयान्तान् पञ्च कोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति दर्शितम् । तत्र पञ्चीकृतपञ्च-

---

अन्यको नहीं होता, यह भी एक बात है। क्षणिक आत्मा होनेपर तो उक्त स्मरण नहीं हो सकेगा। इसलिये क्षणिकत्वपक्ष अयुक्त है।] अतः एक सर्वत्रानुवृत्त स्वयंप्रकाशात्मक स्फुरणमें सर्वप्रकारसे परिच्छेदशून्यत्व उपपन्न है। इस तात्पर्यसे 'नाभावो विद्यते सतः' यह समीचीन है ॥ १७ ॥

स्फुरणरूप सत् अविनाशी क्यों? स्फुरण देहधर्म है। देह प्रतिक्षण परिणामी होनेसे तद्धर्मस्फुरण भी प्रतिक्षण विनाशी है, यह भूतचैतन्यवादी चार्वाकादि कहते हैं। उनके निराकरणार्थ 'नासतो विद्यते भावः' इत्यादिका विवरण कहते हैं—'**अन्तवन्त**' इत्यादिसे । ये अपरोक्ष देह अन्तवान्—विनाशी हैं, क्योंकि प्रतिक्षण शरीर आगन्तुकावयवोंसे उपचित और वर्तमान अवयवोंसे अपचित होते रहते हैं। शरीरमें अवयवोंका संयोग और वियोग अनिवार्य है। बहुवचनसे त्रिविध शरीरका संग्रह विवक्षित है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीर हैं। विराट् सूत्र और अव्याकृत भी इनका नाम है। ये समष्टिव्यष्टि स्वरूप हैं। ये सब नित्य यानी अविनाशी आध्यासिक सम्बन्धसे शरीरी स्वप्रकाश स्फुरणरूप एक ही आत्माके दृश्यतया भोग्यरूपसे सम्बन्धी हैं, यह श्रुति, स्मृति तथा ब्रह्मवादियोंने कहा है। दृश्यत्वके द्रष्टृत्वनिरूपित तथा

महाभूततत्कार्यात्मको विराट्मूर्तराशिरन्नमयकोशः स्थूलसमष्टिः। तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्च-महाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः। "अयं वा इदं नाम रूपं कर्म च' बृ० उ० १-६-१ इति बृहदारण्यकोक्तत्र्यन्नात्मकः सर्वकर्मात्मकत्वेन क्रियाशक्तिमात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः। नामात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमात्रमादाय मनोमयकोश उक्तः। रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः। ततः प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयात्मैकः एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः। तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्यः आनन्दमयकोशः। ते च सर्व एकस्यैवाऽऽत्मनः शरीराणीत्युक्तम्। "तस्यैष एवशारीरः आत्मा, यः पूर्वस्य"तै० उ० २-३-४" इति। तस्य-प्राणमयस्यैष एव शरीरे-भवः शारीर आत्मा यः सत्यज्ञानादिलक्षणो गुहानिहितत्वेनोक्तः पूर्वस्यान्नमयस्य। एवं प्राणमय-मनोमय - विज्ञानमयानन्दमयेषु योज्यम्। अथवेमे सर्वे देहास्त्रैलोक्यवर्तिसर्वप्राणिसंवन्धिनः एकस्यैवाऽऽत्मन उक्ता इति योजना।

भोग्यत्वके भोक्तृत्वनिरूपित होनेसे और द्रष्टा भोक्ता प्रधान है। तदर्थं जड़वर्ग तद्देह है। यह तैत्तिरीयक श्रुतिमें स्पष्ट है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय--इन पांच कोशोंकी कल्पनाकर इन पाँचोंके प्रतिष्ठानको 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादिसे अकल्पित बतलाया है। ;पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा उनका जो कार्य है तत्स्वरूप विराट् मूर्तराशि जो अन्नमय कोश है वह स्थूलसमष्टि है। इसका कारणीभूत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत तथा तत्कार्यात्मक हिरण्यगर्भ (सूत्र) अमूर्तराशि जो सूक्ष्मसमष्टि है वह 'अयं वा इदं नाम रूपं कर्म च' इस बृहदारण्यकमें कथित त्र्यन्नात्मक सम्पूर्ण कर्मस्वरूप होनेसे एकमात्र क्रियाशक्तिको लेकर प्राणमयकोश कहा गया है। नामात्मक होनेसे ज्ञानशक्ति लेकर मनोमयकोश कहा गया है। रूपात्मक होनेसे तदुभयाश्रयकर्तृत्व लेकर विज्ञानमयकोश कहा गया है। इससे प्राणमय मनोमय-विज्ञानमय आत्मा एक ही हिरण्यगर्भनामक लिङ्गशरीरकोश है। उसके कारणरूपसे स्थित मायोपहित-चैतन्यात्मा सर्वसंस्कारोंका शेषरूप अव्याकृत नामवाला आनन्दमयकोश है। ये सब ही आत्माके शरीर हैं, यह कहा गया है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है, देखिये—'तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य' (उस प्राणमय कोशका यह शारीर—आत्मा है, जो पूर्वकोशका है)। [प्राणमय शरीरमें मायोपहितचैतन्यात्मा सर्व-संस्कारशेष होनेसे अव्याकृत कहलाता है। समस्त प्रपञ्च संस्काररूपसे—शक्तिरूपसे रहता है। उसीसे प्रपञ्चका आविर्भाव होता है। सत्कार्यवादसिद्धान्तके अनुरोधसे कार्य अपने कारणमें लीन रहता है अर्थात् सूक्ष्मरूपसे अवस्थित रहता है, अतः वह सर्वसंस्कारशेष है।] सत्य ज्ञानादिरूप गुहानिहित शारीरआत्मा जो प्राणमय-

तथा च श्रुतिः—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" ॥ श्वेता । ३-६-११

इति सर्वशरीरसम्बन्धिनमेकमात्मानं नित्यं विभुं दर्शयति । ननु नित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वम्, तथाचाविद्यादिवत्कालेन सह नाशेऽपि तदुपपन्नमित्यत आह—'अनाशिनः' इति । देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नस्याविद्यादेः कल्पितत्वेनानित्यत्वेऽपि यावत्कालस्थायित्वरूपमौपचारिकं नित्यत्वं व्यवह्रियते, "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्" इति न्यायात् । आत्मनस्तु परिच्छेदत्रयशून्यस्याकल्पितस्य विनाशहेत्वभावान्मुख्यमेव कूटस्थनित्यत्वम् ननु, परि-

---

कोशका है, वही पूर्वोक्त अन्नमयकोशका भी है । एवं प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयोंमें भी योजना करनी चाहिये । अथवा ये सब शरीर सकललोकवर्ती तथा सर्वप्राणसम्बन्धी एक ही आत्माके कहे गये हैं, यह योजना करनी चाहिए। इसमें प्रमाण श्रुति है—'एको देवः सर्व०' इत्यादि । यह श्रुति सर्वशरीरसम्बन्धी एक, नित्य, विभु, समस्तभूतोंके अन्तरात्मा कर्माध्यक्ष, सब प्राणियोंका निवासस्थान साक्षी तथा चेतन आत्माको स्पष्ट दिखलाती है ।

शङ्का—यदि यावत्कालावस्थायित्व नित्यत्व है, तो अविद्या यावत्कालस्थायी है, इसलिये नित्यत्व उसमें उपपन्न हो जायगा ।

समाधान—काल भी अविद्याका विकार है, अतः उसके नाशके साथ कालका भी नाश हो जाता है । इसलिये वह यावत्कालस्थायी नित्य कहलाती है । कालनाशोत्तर न रहनेपर भी उसके नित्यत्वमें कोई क्षति नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'अनाशिनः' इत्यादि । अविद्यादि देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न होनेके कारण कल्पित हैं, अतएव अनित्य हैं, फिर भी उनमें नित्यत्व व्यवहार जो होता है वह औपचारिक ही होता है यानी अगत्या यावत्कालस्थायित्वनिमित्तक ही मानना पड़ता है क्योंकि 'यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत्' यह सूत्रोक्त न्याय है ।

[उक्त सूत्रमें आकाशोत्पत्तिकी शङ्काके वारणके लिए यावद्विकार यानी जितने विकार दृष्ट हैं, वे किसीसे विभक्त हैं[1], जो अविकृत हैं, वे विभक्त नहीं हैं । आकाशका विभाग पृथिव्यादिसे है, इसलिये उत्पत्ति भी आवश्यक है ।

शङ्का—इस प्रकार तो आत्मा भी आकाशादिसे विभक्त है, इसलिये घटादिके समान उसमें भी कार्यत्वप्रसक्ति आजायगी ।

---

१. कारणसे कार्यका विभाग (उत्पत्ति) है । अर्थात् कार्य, एतत्परक यहाँ विभागशब्द है । भेद परक नहीं है ।

णामिनित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं चेत्यभिप्रायः। नन्वेतादृशे देहिनि किंचित्प्रमाणमवश्यं वाच्यम्, अन्यथा निष्प्रमाणस्य तस्यालीकत्वापत्तेः, शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेश्च। तथाच वस्तुपरिच्छेदो दुष्परिहरः "शास्त्रयोनित्वात् ब्र० सू० १-१-३" इति न्यायाच्च, अत आह—'अप्रमेयस्य' इति। "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् बृ० ङ० ३-४-१-२०" अप्रमयम्—अप्रमेयम्।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" मु०उ०२-२-१०

समधान—ऐसा नहीं, आत्मासे आकाश हुआ, यह तो 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुतिवाक्यमें सुना गया है। किन्तु आत्मा किसीसे उत्पन्न हुआ? एतदर्थक वाक्य कहां सुना गया है, कहीं नहीं। आत्माकी उत्पत्ति माननेमें अनवस्था, शून्यवादापत्त्यादि दोष भी है। जो उत्पन्न है, वह विनाशी होता है। आत्माकी यदि उत्पत्ति होगी, तो उसके विनाशकी भी आपत्ति होगी। आत्माका निराकरण असम्भव है। आत्मा ही निराकर्ता है। वह विद्यमानदशामें अपना निषेध कर ही नहीं सकता। अविद्यमान दशामें जो स्वयं नहीं है, तो फिर वह अपने अभावका दर्शी कैसे हो सकता है? असाक्षिक अभावमें कोई प्रमाण नहीं है—इत्यादि विशेष बातें भाष्यादिमें देखिये।] प्रकृतमें सत् परिच्छेदत्रयशून्य अकलित आत्मा विनाशकारणके अभावसे कूटस्थनित्य है। परिणामिनित्य नहीं, किन्तु कूटस्थनित्य ही मुख्य नित्यशब्दार्थ है। परिणामिनित्य तो गौण है। अभिप्राय यह कि यावत्कालस्थायित्व गौण ही है। एवंभूत देहीमें कुछ प्रमाण अवश्य कहना चाहिए, अन्यथा निष्प्रमाण ईदृश आत्मामें अलौकिकत्वापत्ति तथा शास्त्रारम्भवैयर्थ्य ये दो दोष आजायंगे। सभी शास्त्र आत्माके इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके उपाय दिखलानेके लिए ही है। उन उपायोंको करके दृष्ट अदृष्ट यानी दृष्ट—पशु, पुत्र आदि तथा अदृष्ट स्वर्गादि फल प्राप्त करो। इन कर्मोंका त्यागकर शरीररोगादि तथा नरकादि से बचो—इसी उपदेशके लिए तो शास्त्र हैं। यदि आत्मा ही अप्रामाणिक है, तो उक्त उपायोंके प्रदर्शनके लिये जो शास्त्र हैं, वे सभी व्यर्थ हो जायंगे। और देखिये—वस्तुपरिच्छेद भी दुष्परिहार्य है। यदि कहिये क्यों? तो उसका उत्तर यही है कि यदि आप उसमें कुछ प्रमाण कहेंगे, तो उस प्रमाणसे वह प्रमेयपरिच्छिन्न ही होगा, क्योंकि अभेदमें प्रमाण-प्रमेयभाव हो ही नहीं सकता। अतः वस्तुपरिच्छेद दुष्परिहार्य हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्' यह न्याय भी प्रमाणरूपमें उपस्थित है। [इस सूत्रका भाष्यकारने दो अर्थ किया है—शास्त्रका योनि—कारण ब्रह्म है अथवा शास्त्रं योनि प्रमाण है जिस ब्रह्म में। उभयथा प्रमाण-प्रमेयभाव कार्यकारणभाव भेदके विना नहीं हो सकता, अतः कार्यं प्रमाणनिष्ठ भेदप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व अर्थात् विनाश स्फुरणमें अनिवार्य है।] इसी दोषके परिहारके लिए—'अप्रमेयस्य' यह कहा है। 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' अप्रमयम् यानी अप्रमेयम्, 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है कि स्वप्रकाश चैतन्यरूप ही आत्मा है। अतः सर्वप्रकाशकको अपने भान केलिए भासककी अपेक्षा नहीं है।

इति श्रुतेश्च स्वप्रकाशचैतन्यरूप एवाऽऽत्मा। अतस्तस्य सर्वभासकस्य स्वभानार्थं न *स्वभासकापेक्षा, किन्तु कल्पिताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यर्थं कल्पितवृत्तिविशेषापेक्षा, कल्पितस्यैव कल्पितविरोधित्वात्, "यक्षानुरूपो बलिः" इति न्यायात्। तथा च सर्वकल्पितनिवर्तकवृत्ति-विशेषोत्पत्त्यर्थं शास्त्रारम्भः, तस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यमात्राधीनत्वात्। स्वतः सर्वदा भासमान-त्वात्सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वाद्दृश्यमात्रभासकत्वाच्च न तस्य तुच्छत्वापत्तिः। तथा चैकमेवाद्वितीयं, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रमेव स्वप्रमेयानुरोधेन स्वस्यापि कल्पितत्वमापादयति, अन्यथा

[अन्यथा एकात्मनिरूपित भास्यत्व और भासकत्व प्रसंग हो जायगा, जो एकारोहणनिरूपितकर्तृत्व-कर्मत्वके समान विरुद्ध है। वस्तुतः दूसरेसे सिद्ध हुए पदार्थसद्भावमें प्रमाणकी अपेक्षा होती है, स्वयंसिद्धमें नहीं। जो सर्वसाधक है उसकी सिद्धि साधकान्तरसे नहीं होती। अन्यथा अनवस्थादि दोष प्रसंग होगा।]

किन्तु कल्पित अज्ञान और उसके कार्यविशेषकी निवृत्तिके लिये कल्पितात्मक वृत्तिविशेषकी अपेक्षा अवश्य है।

[स्वोपहितात्मविषयक कल्पित चरमवृत्तिसे अज्ञान और उसके कार्यका नाश होता है, यह वेदान्त-संमत मार्ग है।] कल्पित ही कल्पितका विरोधी है। 'यक्षके अनुरूप बलि होती है' यह न्याय प्रसिद्ध है। ऐसी स्थितिमें सर्वकल्पित निवर्तकवृत्ति यानी चरमवृत्तिविशेषके उत्पादनके लिए शास्त्रारम्भ है। समस्त भ्रमोंके उपादान अज्ञानकी निवृत्ति 'तत्त्वमस्यादि' वैदिक वाक्यसे होती है। उसी वृत्तिके लिए शास्त्रारम्भ है। वह आत्मा सदा प्रकाश तथा सब कल्पनाओंका अधिष्ठान है, दृश्यमात्रका भासक होनेसे वह तुच्छ नहीं है।

[प्रश्न—जिसका प्रमाणसे ग्रहण नहीं होता, वह खपुष्पादि तुच्छ कहलाता है। उसी तरह आत्मा भी प्रमाणसंगृहीत न होनेसे तुच्छ क्यों नहीं कहलाता ?

उत्तर—यदि उक्त लक्षण तुच्छका मानियेगा, तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि प्रमाणके ग्रहणके लिए दूसरे प्रमाणको स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा, इसलिये मूलप्रमाण स्वयं प्रमाण है, इसके बिना दूसरी गति नहीं है। विषय भासक अन्तःकरणवृत्ति जड़ है, वह स्वतः भासक नहीं हो सकती। चिदुपरक्तताद्दश-वृत्ति भासक है। उपरागके लिए स्वयंप्रकाश आत्माको स्वीकार करना आवश्यक ही है। प्रमाणविषय आत्मा तुच्छ नहीं है।] देखिये 'एकमेवाद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र ही 'स्वप्रमेयके अनुरोधसे स्व भी कल्पित है' यह कहते हैं।

[शंका—'तत्त्वमस्यादि' प्रमाणवाक्यकी सत्ता मानते हैं अथवा नहीं ? प्रथमपक्षमें अद्वैतभङ्ग है। द्वितीयपक्षमें कल्पित होनेसे अप्रामाण्यापत्ति है—इस तरह उभयतः पाशा रज्जु है।

---

* स्वभास्यापेक्षेति—पु० मु० पा०।

स्वप्रामाण्यानुपपत्तेः । कल्पितस्य चाकल्पितपरिच्छेदकत्वं नास्तीति प्राक्प्रतिपादितम् । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं च युक्तितोऽपि भगवत्पूज्यपादैरुपपादितम् । तथाहि-यत्र जिज्ञासोः संशय-विपर्यय-व्यतिरेकप्रमाणामन्यतममपि नास्ति, तत्र तद्विरोधि ज्ञानमिति सर्वत्र दृष्टम्, अन्यथा त्रितयान्यतमापत्तेः । आत्मनि चाहं वा नाहं वेति न कस्यचित्संशयः, नापि नाहमिति विपर्ययो व्यतिरेकप्रमा वेति तत्स्वरूपप्रमा सर्वदाऽस्तीति वाच्यं, तस्य सर्वसंशयविपर्ययधर्मित्वात्, "धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" इति न्यायात् । अत एवोक्तम्—

"प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च । कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः" ।। इति ।। प्रमाभासः -संशयः । स्वप्रकाशे सद्रूपे धर्मिणि प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषो नास्तीत्यर्थः ।

समाधान—'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च,' इत्यादि तत्पदार्थशोधक वाक्यके प्रमेयको यदि सत्य कहेंगे, तो सत्यद्वयका अभेद असम्भव होनेसे तद्बोधक वाक्य अप्रमाण हो जायगा । इसलिये तत्प्रमेयको कल्पित ही मानना होगा । उसके अनुसार वाक्यको भी कल्पित ही मानना उचित है ।] अन्यथा स्वप्रामाण्य नहीं होगा । ['एकमेवाद्वितीयम्' से ब्रह्मातिरिक्त सब कल्पित है, यह बोध होता है । उक्त वाक्य यदि सत्य है, तो द्वैत होनेसे वाक्यमें प्रामाण्य अनुपपन्न होगा ।] कल्पित अकल्पितका परिच्छेदक नहीं हो सकता, इसका पूर्वमें प्रतिपादन हो चुका है । अतः परिच्छिन्नत्वलक्षण विनाशकी शंका आत्मामें नहीं है । श्रीशंकरचार्यजीने 'आत्मा स्वप्रकाश है' इसका युक्ति द्वारा भी प्रतिपादन किया है । सुनिये, जिज्ञासुजनको जिस विषयमें संशय-विपर्यय-व्यतिरेकप्रमाओंमें एक भी न हो, उस विषयका संशयादिविरोधि ज्ञान नियमसे रहता है, वह सर्वत्र देखा गया है । यदि उक्त त्रितयविरोधि ज्ञान न हो, तो उक्त त्रितयमें कोई एक अवश्य होगा । आत्मामें 'मैं हूँ अथवा नहीं' यह संशय किसीको नहीं होता । 'मैं नहीं हूँ' यह विपर्यय भी नहीं होता । किन्तु 'मैं हूँ' यह आत्मविषयक निश्चय सदा रहता है । [पदार्थान्तरव्यासक्तचित्त पुरुषको किसी विषयकी प्रमा न होनेपर भी उस विषयमें संशयादि नहीं होता । उक्त नियमव्यभिचारपरिहारार्थं 'जिज्ञासोः' यह कहा गया है । विषयान्तरासक्तचित्तको विषयान्तरकी जिज्ञासा ही नहीं होती ।] सब संशय-विपर्ययका धर्मी आत्मा है । ['स्थाणु र्वा' इत्यादि संशय आत्मामें होता है । संशयरूपधर्मका धर्मी आत्मा है । 'हमें यह संशय होता है'—इस प्रकार स्थाणु आदिके साथ आत्माका भी भान होता है । स्थाणु आदिमें यद्यपि संशय है तथापि आत्मांशमें निर्णय है । अथवा 'अयं स्थाणुर्न वा' इत्याकारक संशय स्थाणुत्वादिप्रकारीभूत कोटिमें है, किन्तु प्रकारीभूत धर्मका धर्म्यंश इदमंशमें संशय नहीं है, किन्तु निश्चय ही है ।] अतएव अभियुक्तोक्ति है—'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' । (संशयादिज्ञान धर्म्यंशमें प्रमा होता है, केवल प्रकारांशमें ही विपर्यय होता है) अतएव कहा है—'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च । कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः' ।।

आत्मनो भासमानत्वे च घटज्ञानं मयि जातं न वेत्यादिसंशयः स्यात्। न चाऽऽन्तरपदार्थे विषयस्यैव संशयादिप्रतिबन्धकत्वस्वभावः कल्प्यः, बाह्यपदार्थे क्लृप्तेन विरोधिज्ञानेनैव संशयादिप्रतिबन्धसम्भवे, आन्तरपदार्थे स्वभावभेदकल्पनाया अनौचित्यात्। अन्यथा सर्वविप्लवापत्तेः। आत्ममनोयोगमात्रं चाऽऽत्मसाक्षात्कारे हेतुः। तस्य च ज्ञानमात्रे हेतुत्वाद् घटादिभा-

(प्रमाण, अप्रमाण एवं प्रमाणाभास—ये धर्म्यंशमें प्रमा उत्पन्न करते ही हैं। उस धर्मीकी प्रमाणाभावसे असम्भावना कैसेकी जा सकती है।) [अन्य विषय प्रमाणज्ञानसे सिद्ध होते हैं। धर्मी—आत्मा तो स्वरूपज्ञानमात्रसे सिद्ध होता है। जो विषयान्तरका असाधक है, सो भी प्रकृतका साधक है, तो फिर इसके असत्वकी सम्भावना कहाँ।

शंका—प्रमाण और अप्रमाण—इन दो विकल्पोंसे ज्ञानमात्रका संग्रह हो जाता है, पुनः प्रमाणाभास क्यों कहा ?

समाधान—प्रमाणाभाससे संशयका संग्रह विवक्षित है। यद्यपि संशयके प्रमाणाभास होनेसे उसका लाभ हो जाता है तथापि प्रमाण निश्चयात्मक है तद्भिन्ननिश्चयात्मक विषयका ही बोधक होगा, इस अभिप्रायसे प्रमाणाभासका पृथक् निर्देश है।] प्रमाणाभासका ही नाम संशय है। स्वप्रकाश सद्रूप धर्मीमें प्रमाण और अप्रमाणमें कोई विशेष नहीं है। किन्तु घटादि जडपदार्थ विशेषमें साधकासाधकत्वप्रयुक्त विशेष इनमें है। आत्माके भासमान होनेपर ही घटज्ञान मुझे हुआ या नहीं,' यह संशय होता है।

[शङ्का—आत्माका भान न होनेपर 'मैं घटज्ञानवान् हूँ या नहीं, यह संशय नहीं हो सकता। धर्मिज्ञानाभावदशामें तद्विशेष्यक ज्ञान सम्भव नहीं है। भान होनेपर घटज्ञानका निश्चय ही होगा, फिर संशय कैसे ?

समाधान—ज्ञानस्वप्रकाशपक्षमें आत्मस्वप्रकाशपक्षमें ही उक्त संसयाभिधान है।]

शङ्का—यद्यपि आत्मामें संशय-विपर्यय नहीं है, तथापि वह स्वप्रकाश नहीं सिद्ध होता। यद्यपि अन्यत्र संशयविपर्ययाद्यभावका विरोधी ज्ञान प्रतिबन्धक है तथापि आत्मविषय संशयादिके प्रति आन्तर आत्मस्वभावविशेषको ही यदि प्रतिबन्धक मानें, तो कोई आपत्ति नहीं है। एकका जैसा स्वभाव है वैसा ही सबका है, यह नियम नहीं। संसार विचित्र स्वभावका है। समानस्वभावका नहीं। देखते ही हैं—अग्नि उष्ण और जल शीतल है। इसी तरह बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा आन्तरस्वभाववैलक्षण्यप्रयुक्त ही यह भेद कह सकते हैं। बाह्य विषयमें उसकी प्रमा होनेपर ही उसके संशय आदिका अभाव कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। आत्मा आदि आन्तर पदार्थमें तत्प्रमाव्यतिरेकमें भी संशय आदिका अभाव हो सकता है, फिर आत्मा स्वप्रकाश कैसे सिद्ध होता है ? यह भाव है।

नैऽप्यात्मभानं समूहालम्बनन्यायेन तार्किकाणां प्रवरेणापि दुर्निवारम् । न च चाक्षुषत्व-मानसत्वादिसंकरः, लौकिकत्वालौकिकत्ववदंशभेदेनोपपत्तेः । संकरस्यादोषत्वात्, चाक्षुषत्वादेर्जातित्वानभ्युपगमाद्वा । व्यवसायमात्र एवाऽऽत्मभानसामग्या विद्यमानत्वादनुव्यवसायोऽप्यपास्तः । न च व्यवसायभानार्थं सः, तस्य दीपवत्स्वव्यवहारे सजातीयानपेक्षत्वात् । न हि घटतज्ज्ञा-

---

समाधान—बाह्यपदार्थमात्रमें उसकी प्रमा होनेपर ही उसके संशयादिका अभाव क्लृप्त है। उसके अनुसार आत्मसंशयादिका अभाव भी आत्मनिश्चयप्रयुक्त है। यह मान लेनेसे उपपत्ति हो जाती है, तो फिर पृथक् स्वभावकल्पना गौरवादिदोषदूषित होनेसे अयुक्त है। अन्यथा स्वभावभेद मानकर परिहार करनेपर सब धर्म सबमें कह सकते हैं। [जलमें उष्णत्व है, वह्निमें शीतत्व है, परन्तु वे प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते। स्वभावभेदसे प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्वकी उपपत्ति हो सकती है। जलीयोष्णत्वका स्वभाव है कि जिस सामग्रीसे वह्निगत उष्णत्वका प्रत्यक्ष हो रहा है उस सामग्रीसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उससे विलक्षण सामग्रीसे प्रत्यक्ष होता है। एवं वह्निगत शीतत्वमें भी सामग्री भेद मानकर सब धर्मोंमें अनित्यत्व-व्यवस्था हो जायगी, जो सर्वथा अनुचित है। विद्वानोंको लोकसिद्ध मर्यादाका उलंघन नहीं करना चाहिये, अन्यथा विनेयको उनके वचनमें विश्वास नहीं होगा—इत्यादि स्वयं समझिये। विषयसाक्षात्कारदशामें आत्मसाक्षात्कारसामग्री न्यायमतमें भी है ही।] आत्मप्रत्यक्षमें आत्ममनःसंयोग कारण है। आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्रमें कारण है। घटादिज्ञानोत्पत्तिक्षणमें आत्मज्ञानसामग्री है।

प्रश्न—ऐसी दशामें दोनोंका प्रत्यक्ष क्यों न करें ? घट-पटोभयप्रत्यक्षसामग्रीसे तदुभयका समूहालम्बनप्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ तार्किक मानते ही हैं।

उत्तर—घट-पटके समूहालम्बनमें कोई आपत्ति नहीं, अतः तदुभयप्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु आत्मघटके प्रत्यक्षादिको समूहालम्बनात्मक मानें, तो उस ज्ञानमें चाक्षुषत्व और मानसत्वका साङ्कर्य हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। सुरभि 'चन्दनंखण्डं' इत्याकारक चन्दन सौरभ—उभयविषयक एक ज्ञान होता है। सौरभांशमें अलौकिकत्व और चन्दनांशमें लौकिकत्व मानकर अवच्छेदकभेदसे एक ज्ञानमें लौकिकालौकिकत्वस्थितिवत् घटात्मविषयावच्छेदकभेदसे चाक्षुषत्व और मानसत्वके स्वीकारमें उक्त दोष नहीं है। एकावच्छेदक उन दोनोंकी स्थितिमें सांकर्य होता है सांकर्य द्रव्यगत जातिमें ही दूषक माना जाता है, क्योंकि गो और अश्व रूप एक व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है। अन्यत्र लाघवानुरोधसे एक माननमें दोष नहीं है। अथवा सांकर्य जातिका बाधक माना गया है, उपाधिका नहीं। [प्रकृतमें चक्षुषत्व और मानसत्व जाति नहीं, किन्तु उपाधि है। समवेतत्वादिघटित जातिकी कल्पनापेक्षासे उपाधिकल्पनामें लाघव भी है। लाघवान्तर भी कहते हैं—] आत्मप्रत्यक्षघटादिप्रत्यक्षसामग्रीसे तद्दशामें ही हो सकता है, इसलिये व्यवसायोत्तर आत्म-प्रत्यक्षार्थं अनुव्यवसायकी कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है, यह लाघव है।] यह लाघव तो नहीं

नयोरिव व्यवसायानुव्यवसाययोरपि विषयत्वविषयित्वव्यवस्थापकं वैजात्यमस्ति, व्यक्तिभेदातिरिक्तवैधर्म्यानभ्युपगमात्। विषयत्वावच्छेदकरूपेणैव विषयत्वाभ्युपगमे घटतज्ज्ञानयोरपि तद्भावापत्तिः, अविशेषात्। ननु यथा घटव्यवहारार्थं घटज्ञानमभ्युपेयते, तथा घटज्ञानव्यवहारार्थं घटज्ञानविषयं ज्ञानमभ्युपेयं, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति चेत्, काऽनुपपत्तिरुद्भाविता देवानां प्रियेण स्वप्रकाशवादिनः। न हि व्यहर्तव्यभिन्नत्वमपि

है। यदि कहिये, क्यों ? तो सुनिये—व्यवसायभानार्थं अनुव्यवसाय मानना जरूरी नहीं है। 'अयं घटः' यह व्यवसाय है और 'घटमहं जानामि' यह अनुव्यवसाय है अनुव्यवसायसे व्यवसायका प्रत्यक्ष होता है। व्यवसायभानकेलिये अनुव्यवसायका मानना कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्यवसायभानमें प्रदीपवत्सजातीय प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है। प्रदीपप्रकाशके लिए विजातीय चक्षु, घट आदिकी अपेक्षा है, सजातीय प्रदीपादिकी नहीं। एवं व्यवसायमें व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नज्ञानत्वसजातीय ज्ञानान्तर अपेक्षित नहीं है। जैसे घटविषय है और उसका ज्ञान विषयी है वैसे ही व्यवसाय विषय और अनुव्यवसाय विषयी है। घटतज्ज्ञाननिष्ठ विषयविषयित्वव्यवस्थापककी अपेक्षासे व्यवसायानुव्यवसायनिष्ठ विषयविषयित्वव्यवस्थापक विलक्षण कोई धर्म नहीं है, क्योंकि व्यक्तिभेदसे अतिरिक्त व्यवस्थापकवैधर्म्य (वैलक्षण्य) नहीं मानते। विषयत्वव्यवस्थापक व्यवसायनिष्ठ विषयत्वावच्छेदक अन्य हो, अनुव्यवसायनिष्ठविषयित्वावच्छेदक दूसरा हो, तो विषयत्वावच्छेदक विषयित्वावच्छेदक नहीं बनता, इसलिये घटादिमें विषयित्व नहीं हो सकता। सो है नहीं, व्यक्तिभेदमात्रवैलक्षण्य यदि उसका प्रयोजक हो, तो घटद्वयव्यक्तिभेदप्रयुक्त विषयविषयिभावापत्ति हो जायगी। व्यवसायमें जैसे विषयित्व है वैसे ही घटादिमें भी विषयित्वापत्ति हो जायगी, कारण कि विषयतावच्छेदकरूपसे दोनों तुल्य हैं।

प्रश्न—जैसे घटव्यवहारार्थं घटज्ञानकी नियमसे अपेक्षा होती है, वैसे ही घटादिज्ञानव्यवहारार्थं तज्ज्ञानविषयज्ञानकी अपेक्षा आवश्यक है। अज्ञात विषयका व्यवहार नहीं होता। अतः व्यवहर्तव्यविषयक ज्ञान व्यवहारमें कारण है, यह नियम है। प्रकृतमें व्यवसायव्यवहारार्थं व्यवसायज्ञानमें अनुव्यवसायकी अपेक्षा नियत होनेसे अनुव्यवसाय सिद्ध होता है।

उत्तर—ज्ञानस्वप्रकाशवादीके मतमें आप क्या अनुपपत्ति देते हैं ? व्यवहर्तव्यभिन्नज्ञानत्वेन कारणता को आपने नहीं समझा है। यदि घटादिव्यवहार चिकीर्षित है, तो घटज्ञानकी अपेक्षा है। घटज्ञानमें घटभिन्नत्व भी है। जिस समय घटज्ञान व्यवहर्तव्य है, उस समय तो घटज्ञानमें व्यवहर्तव्यत्वके रहनेसे ज्ञानत्व है ही। व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नका निवेश गौरवसे नहीं होता।

[शङ्का—ज्ञान स्वरूपको कर्मकर्तृविरोधसे नहीं प्रकाशित करता, इसलिये व्यवसायमें व्यवसायविषयकत्व नहीं है, फिर उसका व्यवहार कैसे ?

ज्ञानविशेषणं व्यवहारहेतुतावच्छेदकम्, गौरवात् । तथेश्वरज्ञानवद्योगिज्ञानवत्प्रमेयमिति ज्ञानवच्च स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ, न ज्ञानान्तरकल्पनावकाशः । अनुव्यवसायस्यापि घटज्ञानव्यवहार-हेतुत्वं-किं घटज्ञानज्ञानत्वेन, किंवा घटज्ञानत्वेनैवेति विवेचनीयम्, उभयस्यापि तत्र सत्त्वात् । तत्र घटव्यवहारे घटज्ञानत्वेनैव हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्, तेनैव रूपेण घटज्ञानव्यवहारेऽपि हेतुतोपपत्तौ न घटज्ञानज्ञानत्वं हेतुतावच्छेदकं, गौरवान्मानाभावाच्च । तथा च नानुव्यवसायसिद्धिः, एकस्यैव व्यवसायस्य व्यवसातरि व्यवसेये व्यवसाये च व्यवहारजनकत्वोपपत्तेरिति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकराः । औपनिषदास्तु मन्यन्ते-स्वप्रकाशज्ञानरूप एवाऽऽत्मा, न स्वप्रकाशज्ञानाश्रयः, कर्तृकर्म-

---

समाधान—जैसे ईश्वरको सर्वज्ञ मानते हैं। सब पदार्थमें स्वयं ज्ञान भी आता है, उक्त विरोधसे यदि ज्ञान अपने स्वरूपको प्रकाशित न करेगा, तो सर्वविषयक ज्ञानवत्त्वेन ईश्वर सर्वज्ञ कैसे होंगे ? एवं योगी भी सर्वज्ञ माने जाते हैं। उनका भी ज्ञान यदि अपनेको ग्रहण न करेगा, तो वे भी सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इसी प्रकार प्रमेमत्वादि केवलान्वयि धर्म भी नहीं सिद्ध होंगे। स्वमें स्वस्थिति अन्योन्याश्रयादि दोषसे नहीं बनती। स्ववृत्ति होनेपर केवलान्वयित्वकीक्षति हो जायगी। इन स्थानोंमें जो परिहार होगा, सो व्यवसायव्यवहारमें भी दण्ड वारित नहीं है।

शङ्का—तो क्या ज्ञानमें स्वकर्तृ-कर्मत्वके विरोधको त्याग दें।

समाधान—यहाँ तीन प्रकारके मत हैं—बौद्ध ज्ञानव्यवहारानुरोधसे उक्त विरोधको ज्ञानातिरिक्तमें मानते हैं, ज्ञानमें नहीं। अन्यथा अव्यवस्था अथवा ज्ञानव्यवहारानुपपत्ति—इन दोनोंमें एक अवश्य होगा, जो मान्य नहीं है। प्रभाकरमिश्र—ज्ञानको स्वप्रकाश मानकर विषयत्वसंबन्धसे घटादिका, आश्रयत्वसंबन्धसे आत्माका और असंबन्धसे स्वका घटादिज्ञान भासक होता है। स्वको स्वयं स्वविषय नहीं करता, तो भी वह स्वप्रकाश होनेसे स्वव्यवहारक्षम होता है। प्रकाशान्तरानपेक्ष स्वव्यवहारजनकत्व है—यह मानते हैं। वेदान्तमतमें वृत्तिरूपज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूपज्ञान मिश्रमतके समान स्वप्रकाश है। विशेष इतना है कि विषयज्ञानके विना आत्माका भान मिश्रमतमें नहीं होता। वेदान्तिमतमें आत्मस्फुरण सदा सुषुप्ति-प्रलयमें भी रहता है।]

इस तरह सिद्ध है कि ईश्वर और योगीके ज्ञानके समान प्रमेयज्ञान स्वयंप्रकाश होनेसे ज्ञानान्तरके विना स्वव्यवहारजनक है। अपने से ही अपने व्यवहारकी उपपत्ति हो जानेपर किसी दूसरे ज्ञानकी कल्पना की जरूरत नहीं है। अनुव्यवसायमें भी आप घटज्ञानव्यवहारहेतुत्व क्या घटज्ञानज्ञानत्वेन मानते हैं अथवा घटज्ञानत्वेन ? इसका विचार कीजिये, क्योंकि अनुव्यवसायमें दोनों है। घटव्यवहारमें घटज्ञानत्वेन हेतुत्व तो क्लृप्त ही है। इसी रूप से घटज्ञानव्यवहारका भी यदि कारण हो सके, तो घटज्ञानज्ञानत्वेन पृथक् कारणत्वकी

विरोधेन तद्भानानुपपत्तेः । ज्ञानभिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वेन कल्पितत्वापत्तेश्च । स्वप्रकाशज्ञानमात्रस्वरूपोऽप्यात्माऽविद्योपहितः सन्साक्षीत्युच्यते। वृत्तिमदन्तःकरणोपहितः प्रमातेत्युच्यते। तस्य चक्षुरादीनि करणानि । स चक्षुरादिद्वाराऽन्तःकरणपरिणामेन घटादीन् व्याप्य तदाकारो भवति । एकस्मिंश्चान्तःकरणपरिणामे घटावच्छिन्नचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं चैकलोलीभावापन्नं भवति । ततो घटावच्छिन्नचैतन्यं प्रमात्रभेदात्स्वाज्ञानं नाशयदपरोक्षं भवति । घटं च स्वावच्छेदकं स्वतादात्म्याध्यासाद्भासयति । अन्तःकरणपरिणामश्च वृत्त्याख्योऽतिस्वच्छः स्वावच्छिन्नेनैव चैतन्येन भास्यत इत्यन्तःकरण-तद्वृत्ति-घटानामपरोक्षता । तदेतदाकारत्रयमहं जानामि घटमिति । भासकचैतन्यस्यैकरूपत्वेऽपि घटं प्रति वृत्त्यपेक्षत्वात्प्रमातृता, अन्तःकरण-तद्वृत्तीः प्रति तु वृत्त्यनपेक्षत्वात्साक्षितेति विवेकः । अद्वैतसिद्धौ सिद्धान्तबिन्दौ च विस्तरः । यस्मादेवं प्रागुक्तन्यायेन नित्यो विभुरसंसारी सर्वदैकरूपश्चाऽऽत्मा, तस्मात्तन्नाशशङ्कया स्वधर्मे-

---

कल्पना अनावश्यक है। इसमें हेतु प्रमाणाभाव और गौरव है, फिर अनुव्यवसायकी सिद्धि नहीं होती। एक ही व्यवसाय, स्वव्यवसायि व्यवसाय और स्वव्यवसेय घटादि—इन तीनोंका व्यवहारजनक है, यह त्रिपुटीवादी प्रभाकरमिश्रका मत है त्रयाणां मातृ-मेय-मितीनां पुटानां समाहारः समुदायस्त्रिपुटी अर्थात् प्रमाता प्रमेय और प्रमिति—इन तीनोंके समुदायको त्रिपुटी कहते हैं, इनका ज्ञापक ज्ञान होता है। वेदान्ती मानते हैं कि स्वप्रकाश ज्ञानरूप ही आत्मा है, स्वप्रकाशज्ञानाश्रय नहीं। कर्तृ-कर्मविरोधसे स्वयं स्वका ग्रहण नहीं करता, यह ठीक ही है। [ज्ञानक्रियानिरूपित कर्मत्व कर्तृत्व विरोधसे हो नहीं सकता, इसलिये 'स्वप्रकाशज्ञानाश्रय' मिश्रमत हेय है] और यदि आत्माको ज्ञानभिन्न मानें, तो घटादिके समान जड़ होनेसे वह कल्पित हो जायगा। स्वप्रकाशज्ञानमात्रस्वरूप आत्मा अविद्योपहित होकर साक्षी होता है तथा वृत्तिमदन्तःकरणोपहित होकर प्रमाता यह कहा जाता है। उसके चक्षुरादि करण हैं। वह प्रमाता चक्षुरादिद्वारा अन्तःकरणके परिणामसे घटादिको व्याप्तकर तदाकार होता है—अन्तःकरण विषयदेशमें प्राप्त होकर विषयाकार होता है। एक ही अन्तःकरणपरिणाममें घटावच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातासे अभिन्न होता है। अतएव अपने अज्ञानका नाश करता हुआ वह अपरोक्ष होता है और स्वावच्छेदक घटका स्वतादात्म्याध्याससे भान कराता है। वृत्त्याख्य अन्तःकरणपरिणाम अतिस्वच्छ है, अतएव स्वावच्छिन्न चैतन्यसे ही उसका भान होता है। इस तरह अन्तःकरण तद्वृत्ति और घटादिका अपरोक्ष भान होता है, यही आकारत्रय 'घटमहं जानामि' है। भासक चैतन्यके एकरूप होनेपर भी घटके प्रति वृत्तिसापेक्ष होनेसे प्रमाता कहलाता है, अन्तःकरण और तद्वृत्तिके प्रति वृत्त्यनपेक्ष होनेसे साक्षी है, यह दोनोंमें भेद है, यह जान लेना आवश्यक है। विस्तृत विवरण अद्वैतसिद्धि और सिद्धान्तबिन्दुमें है। यतः पूर्वोक्त रीतिसे नित्य विभु असंसारी सदा

युद्धे प्राक्प्रवृत्तस्य तव तस्मादुपरतिर्न युक्तेति युद्धाभ्यनुज्ञया भगवानाह—'तस्माद्युध्यस्व भारत' इति । अर्जुनस्य स्वधर्मे युद्धे प्रवृत्तस्य तत उपरतिकारणं शोकमोहौ । तौ च विचारजनितेन विज्ञानेन बाधिताविस्यपवादापवादे उत्सर्गस्य स्थितिरिति न्यायेन युद्ध्यस्वेत्यनुवादः, न विधिः । यथा "कर्तृकर्मणोः कृति" इत्युत्सर्गः । "उभयप्राप्तौ कर्मणि" इत्यपवादः । "अका-

---

एकरूप आत्मा है, अतः उसके नाशकी आशङ्कासे स्वधर्म युद्धमें स्वतःप्रवृत्त तुम्हें उससे विमुख होना उचित नहीं है; इसप्रकार युद्धकी अनुमतिप्रदानद्वारा भगवान् कहते हैं—'तस्माद् युद्धयस्व भारत' यह । स्वधर्म युद्धमें स्वतःप्रवृत्त अर्जुनकी निवृत्तिका कारण शोक और मोह है। वे दोनों विचारनिष्पन्न निर्णयसे यदि बाधित हुए, तो प्रवृत्ति स्वतः है। 'अपवादकी निवृत्ति होनेपर उत्सर्गकी स्थिति होती है' इस न्यायसे युद्धका अनुवाद है, विधि नहीं। अप्रवृत्तप्रवर्तन विधि कहलाती है अर्थात् जिस कार्यमें जो स्वयं प्रवृत्त नहीं है, किन्तु किसीकी प्रेरणासे प्रवृत्त होता है, वह विधि है। जैसे कि राजप्रेरित भृत्यकी प्रवृत्ति। जिस कार्यमें जो स्वयं प्रवृत्त है, किन्तु किसी प्रतिबन्धसे उपरत होता है और यदि कोई पुरुष उसके प्रतिबन्धका निराकरण कर देता है, तो वह पूर्ववत् स्वतःप्रवृत्त पुरुष फिर उस कार्यमें लग जाता है, वह अनुवाद कहलाता है, क्योंकि उसमें पुरुष स्वेच्छासे ही प्रवृत्त हुआ है। शास्त्रमें इसका उदाहरण देते है—'यथा' इत्यादि।] देखिए—'कर्तृकर्मणोः कृति' यह उत्सर्ग है। कृत् प्रत्ययके योगमें कर्ता और कर्ममें 'षष्ठी' होती है। इसका अपवाद है—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' पूर्वसूत्रसे यदि कर्ता और कर्म—दोनोंमें षष्ठीकी प्राप्ति हो, तो कर्ममें ही षष्ठी होती है, कर्तामें नहीं। ['देवदत्तेन तण्डुलस्य पाकः' यही प्रयोग साधु है, 'देवदत्तस्य तण्डुलस्य पाकः' यह साधु नहीं है। 'पाकः' में पच् धातुसे भावमें घञ्' प्रत्यय हुआ है, अतः कर्ता और कर्म दोनों अनुक्त हैं, दोनोंमें षष्ठीकी प्राप्ति है।] परन्तु अपवादसूत्रके अनुसार कर्ममें ही षष्ठी साधु है। कर्ता-कर्म—दोनोंमें नहीं। 'उभयप्राप्तौ' का बाधक 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' यह कात्यायनका वचन है। स्त्रीत्वबोधक 'अक' और 'अकार' इसके योगमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस अपवादशास्त्रका प्रतिषेध कर 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस उत्सर्गशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है [देखिये—'भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः' यहांपर कर्ता रुद्र और कर्म जगत्—दोनोंमें उक्त शास्त्रसे षष्ठी सिद्ध होती है। 'भिद्' धातुसे 'भेदनं भेदिका' इस व्युत्पत्तिसे 'पर्यायार्हणोत्पत्तिषु' इस सूत्रसे अथवा 'धात्वर्थनिर्देश' इत्यादि वचन से भावमें 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है 'ण' और 'च' की इत्संज्ञा होनेपर 'युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थानमें 'अक' उससे 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्'। प्रत्ययस्थात्कात्' इत्यादिसे इत्व होनेसे 'भेदिका' शब्द सिद्ध होता है।

भेत्तुमिच्छति बिभित्सति इति बिभित्सा 'भिद्' धातुसे 'धातोः कर्मणः स०' इत्यादिसे 'सन्'। 'सन्यङोः' से द्वित्व, हलन्ताच्च' इससे कित्व होनेसे गुणाभाव, 'अप्रत्ययात्' से अप्रत्यय, ततः टाप्, इस तरह

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला तथा जो दूसरेके द्वारा मारा जानेवाला समझता है, वे दोनों ही इसको ठीक-ठीक नहीं समझते, क्योंकि यह न तो किसी को मारता है और न किसीसे स्वयं मारा ही जाता है ॥ १९ ॥

कारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्" इति तदपवादः। तथाच मुमुक्षोर्ब्रह्मणः जिज्ञासेत्यत्रापवादापवादे पुनरुत्सर्गस्थितेः 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेनैव षष्ठी। तथा च 'कर्मणि च' इति निषेधाप्रसराद्ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठीसमासः सिद्धो भवति। कश्चित्त्वेतस्मादेव विधेर्मोक्षे ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति प्रलपति। तन्न, युध्यस्वेत्यतो मोक्षस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वाप्रतीतेः। विस्तरेण चैतदग्रे भगवद्गीतावचनविरोधेनैव निराकरिष्यामः ॥ १८ ॥

नन्वेवमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना भीष्मादिबन्धुविच्छेदनिबन्धने शोकेऽपनीतेऽपि तद्वधकर्तृत्वनिबन्धनस्य पापस्य नास्ति प्रतीकारः। नहि यत्र शोको नास्ति, तत्र पापं नास्तीति

'बिभित्सा' की सिद्धि होती है। यद्यपि 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः' यह वार्तिक सिद्धान्तकौमुदीमें है, परन्तु अर्थमें भेद नहीं है। मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः। मुच्लृधातुसे सन् प्रत्यय करनेके बाद 'सनाशंस०' इत्यादिसे 'उ' प्रत्यय करनेपर मुमुक्षुशब्द सिद्ध होता है। जिज्ञासा, ज्ञाधातुसे भावमें सन् प्रत्यय है।] कर्ता मुमुक्षु और कर्म ब्रह्म—दोनोंमें अपवाद-प्रतिषेध होनेपर उत्सर्गसे दोनोंमें षष्ठी होती है। 'ब्रह्मणो जिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा' यहांपर अपवाद 'उभयप्राप्तौ' इत्यादिके अप्रवृत्ति होनेपर उत्सर्ग 'कर्तृकर्मणोः' इत्यादि की प्रवृत्ति होनेसे षष्ठी हुई है। इसी प्रकार 'कर्मणि च' इस सूत्रकी निषेधाप्रवृत्तिसे 'ब्रह्मजिज्ञासा' यहांपर कर्ममें षष्ठीका समास सिद्ध हुआ। किसी विद्वान्का यह मत है कि 'युद्धयस्व भारत' इस विधिसे ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्षमें है। केवल ज्ञानसे यदि मोक्ष होता, तो 'युद्धयस्व' से स्वधर्मानुष्ठान व्यर्थ है, यह उनका प्रलापमात्र है। 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' अर्थशून्य वाक्य प्रलाप कहलाता है। 'युद्धयस्व' में विधि नहीं है, किन्तु अनुवाद है, यह निर्णीत हो चुका है और 'युद्धयस्व' इससे मोक्षमें ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं सिद्ध होता। आगे चलकर गीतावचनविरोधसे ही इसका हम विस्तारके साथ निराकरण करेंगे ॥ १८ ॥

'अशोच्यान्' इत्यादि पूर्ववाक्यसे भीष्मपितामहादि बन्धुवर्गकी हिंसाप्रयुक्त शोक-मोहका उक्त रीतिसे परिहार भले ही हो जाय, परन्तु तद्वधनिमित्तक पापोत्पत्तिका प्रतीकार नहीं है। यह तो कोई नियम है नहीं कि जिस कर्ममें शोकादि नहीं हों, उसमें पाप नहीं होता। वैरी ब्राह्मणको मारनेपर शोक नहीं होता,

नियमः, द्वेष्यब्राह्मणवधे शोकाविषये पापाभावप्रसङ्गात् । अतोऽहं कर्ता त्वं प्रेरक इति द्वयोरपि हिंसानिमित्तपातकापत्तेरयुक्तमिदं वचनं, तस्माद्युद्धयस्व भारतेत्याशङ्क्य काठकपठितया ऋचा परिहरति भगवान्—'य एनं वेत्ति' इति । एनं प्रकृतं देहिनमदृश्यत्वादिगुणकं यो हन्तारं-हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति—अहमस्य हन्तेति विजानाति । यश्चान्य एनं मन्यते हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं देहहननेन हतोऽहमिति विजानाति । तावुभौ देहाभिमानित्वादेनमविकारिणमकारक-स्वभावमात्मानं न विजानीतः—न विवेकेन जानीतः शास्त्रात् । कस्मात्, यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते-कर्ता कर्म च न भवतीत्यर्थः । अत्र य एनं वेत्ति हन्तारं हतं चेत्येतावति वक्तव्ये, पदानामावृत्तिर्वाक्यालंकारार्था । अथवा य एनं वेत्ति हन्तारं तार्किकादिः, आत्मनः कर्तृत्वाभ्युप-गमात् । तथा यश्चैनं मन्यते हतं चार्वाकादिः, आत्मनो विनाशित्वाभ्युपगमात् । तावुभौ न विजानीत इति योज्यम् । वादिभेदख्यापनाय पृथगुपन्यासः । अतिशूरातिकातरविषतया वा पृथगुपदेशः । "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्" इति पूर्वार्धे श्रौतः पाठः ॥ १६ ॥

किन्तु ब्राह्मणवधजन्य पाप होता ही है । अतः श्येनयागको फल द्वारा अधर्म कहा गया है । अतएव वृत्रासुरको मारनेसे उपस्थित पापका प्रतीकार इन्द्रने उपायान्तरसे किया । वह पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है । अतः मैं इस पापका कर्ता हूं और आप प्रेरक हैं, इस कारण हम दोनोंको पाप लगेगा ही । अतः 'तस्मात् युद्ध्यस्व' इत्यादि यह आपका वाक्य ठीक नहीं है, इस आशंकापर काठकोपनिषद्में पठित ऋचासे भगवान् इसका परिहार करते हैं—'य एनं वेत्ति' इत्यादि । जो पुरुष प्रकृत अदृश्यत्वादिगुणविशिष्ट इस देहीको हननक्रिया का कर्ता मानता है यानी 'मैं इसका हन्ता हूँ', यों जानता है तथा जो पुरुष इसे मारा गया यानी हनन क्रियाका कर्मभूत जानता है अर्थात् देह हननसे आत्महनन जानता है, वे दोनों देहात्मवादी होनेसे अकारकस्वभाव अविकारी इस आत्माको नहीं जानते । वे दोनों आत्मविवेकशून्य हैं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—चूंकि यह न तो किसीको मारता है और न स्वयं किसीसे मारा ही जाता है । यह आत्मा न हननका कर्ता है और न उसका कर्म ही है, यह मतलब है । 'य एनम्' इत्यादि पूर्ववाक्यसे ही विवक्षित अर्थ सिद्ध होता है, फिर उक्त पदानुवृत्ति वाक्यालङ्कारार्थ है । अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादिसे तार्किकमतका निरास है । व लोग आत्माको कर्ता मानते हैं । एवं 'यश्चैनं मन्यते हतम्' (जो इसको हत मानता है,) यह चार्वाकका मत है, क्योंकि वे आत्माको विनाशी मानते हैं । वे दोनों यानी चार्वाक और तार्किक आत्मस्वरूपानभिज्ञ हैं । इस तरह योजना करनी चाहिए । वादिभेदज्ञापनके लिए अलग उपन्यास है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता ही है। भूतकालमें होकर भविष्यमें फिर कभी होनेवाला भी यह नहीं है। इसलिए यह अज, नित्य शाश्वत तथा पुराण है। शरीरके मार दिये जानेपर भी यह कभी मारा नहीं जा सकता ॥२०॥

"जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावविकारा इति वार्ष्यायणिः" इति नैरुक्ताः। तत्राऽऽद्यन्तयोर्निषेधः क्रियते—'न जायते म्रियते वा' इति।

कस्मादयमात्मा हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति, अविक्रियत्वादित्याह द्वितीयेन मन्त्रेण—'न जायते म्रियते वा' इति।

अथवा पूर्वार्धमें जो पाठ है उसके स्थानपर 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' यह काठकश्रुतिमें पाठ मिलता है।

[अति शूर तथा अति कायरका विषय होनेसे पृथक् उपदेश है—इसका भाव यह है कि कायर प्रतिपक्षीको देखकर यह मारनेवाला ही है, वध्य नहीं है, इसलिए भागता है और शूर प्रतिपक्षीको समझता है कि यह वध्य है, मारनेवाला नहीं, अभी इसे हम मारते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीके उक्तार्थमें भाष्योत्कर्ष-दीपिकामें यह आक्षेप है कि—["कर्ता मुझमें और प्रेरक आपमें हिंसानिमित्तक पापापत्ति होगी, अतः यह वचन ठीक नहीं है, इस शंकाका उत्तर काठक ऋचासे देते हैं, सो विचारणीय है, क्योंकि उक्त ऋचासे 'पाप नहीं होता' इसका परिहार कुछ नहीं कहा है और कहना ठीक भी नहीं है, कारण कि हनननिमित्तक बन्धुनाशके अभावसे 'आत्मा नित्य है' इस प्रतिपादनसे ही आत्माके नाशका प्रतिषेध सिद्ध होनेपर तन्मूलक पापका भी निवारण हो ही चुका, फिर पापोत्पत्ति की शंका ही नहीं होती, अतः उक्त रीतिसे नित्य विभु तथा असंसारी अतएव सदा एकरूप आत्मा है, अतः स्वधर्म युद्धमें पहिले ही प्रवृत्त तुम्हारी तन्नाशकी शंकासे उससे उपरति ठीक नहीं है, यह स्वकीय पूर्वोक्तिसे विरोध भी है और यह जो कहा कि द्वेष्य ब्राह्मणवधमें शोक नहीं होता, तो भी पाप होता ही है, यह दृष्टान्त भी समीचीन नहीं है, क्योंकि द्वेष्यत्व हेतु पापका असाधक है, यह सिद्ध ही नहीं है। शरीरेन्द्रियादिसंघातवधनिमित्तक पापाभावका क्षात्रधर्म-बोधक अग्रिमग्रन्थसे वर्णन करेंगे। 'न त्वेवाहं जातु नासम्' इत्यादि उन्नीस श्लोकोंसे 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिका विवरण करते हैं। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इन आठ श्लोकोंसे 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इस मोहरूपका पृथक् प्रयत्नसे निराकरण करना है, इस स्वकीय आगेके ग्रन्थसे विरोध आता है"] ॥१९॥

यह आत्मा हननक्रियाका कर्ता और कर्म क्यों नहीं होता, यह प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि यह

वाशब्दःसमुच्चयार्थः। न जायते न म्रियते चेत्यर्थः। कस्मादयमात्मा नोत्पद्यते, यस्मादयमात्मा कदाचित्कस्मिन्नपि काले न भूत्वाऽभूत्वा प्राक्, भूयः पुनरपि भविता न। योह्यभूत्वा भवति, सः उत्पत्तिलक्षणां विक्रियामनुभवति। अयं तु प्रागपि सत्त्वाद्यतो नोत्पद्यते, अतोऽजः। तथाऽयमात्मा भूत्वा प्राक्कदाचिद्भूयः पुनर्न भविता। 'न वा' शब्दाद्वाक्यविपरिवृत्तिः। यो हि प्राग्भूत्वोत्तरकाले न भवति, स मृतिलक्षणां विक्रियामनुभवति। अयं तूत्तरकालेऽपि सत्त्वाद्यतो न म्रियते, अतो नित्यो विनाशायोग्य इत्यर्थः। अत्र न भूत्वेत्यत्र समासाभावेऽपि नानुपपत्तिर्नानुयाजेष्वितिवत्, भगवता पाणिनिना महाविभाषाधिकारे नञ्समासपाठात्। यत्तु कात्यायनेनोक्तं समासनित्यताभिप्रायेण "वावचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्" इति, तद्भगवत्पाणिनिवचनविरोधा-

---

अविक्रिय है। यही उत्तर ठीक द्वितीय मन्त्र से देते हैं—'न जायते' इत्यादि। जायते, अस्ति, वर्धते विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—ये छः भावविकार होते हैं, यह वार्ष्यायणिका मत है, यह निरुक्तकारने कहा है। इन छः विकारोंमें आदि और अन्तका भागी—उत्पत्ति और विनाशका प्रतिषेध करते हैं—'न जायते म्रियते वा' इत्यादिसे। वा शब्द समुच्चयार्थक है और न तो उत्पन्न होता है और न मरता ही है, यह अर्थ है।

प्रश्न—आत्मा क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

उत्तर—चूँकि यह आत्मा कदाचित् यानी किसी कालमें भी न होकर अर्थात् पूर्वकालमें न रहकर आगे फिर नहीं होनेवाला है। जो उत्पत्तिसे पूर्व न रहकर उत्पन्न होता है वही उत्पत्ति क्रियाका अनुभव करता है। अपूर्व उत्पन्न होता है, घटादि अनित्यकी उत्पत्ति होती है। यह तो स्वोत्पत्तिसे पूर्व भी है, अनुत्पन्न होनेसे अज है। पहिले रहकर किसी समय फिर नहीं होगा, यह नहीं होगा ही—इस प्रकार वाक्यका परिवर्तन है। इसमें 'न वा' शब्दका स्वारस्य है जो पूर्वकालमें होकर पश्चात् नहीं होता वही मरणलक्षण विकारका अनुभव करता है, वही विनाशी है, यह तो उत्तरकालमें भी रहता है। चूँकि यह नहीं मरता, अतः नित्य है। विनाशके योग्य नहीं है, यह अर्थ है। 'न भूत्वा' यहाँ पर्युदास होनेसे समास होना चाहिये, किन्तु यह समास विकल्प होता है। अतः 'यजतिषु ये यजामहं करोति, नानुयाजेषु' यहाँ जैसे नानुयाजमें असमस्त नञ्का श्रवण है वैसे ही असमस्तका निर्देश यहाँ भी अनुचित नहीं है। इसीलिए भगवान् पाणिनि-आचार्यने महाविभाषाधिकारमें नञ्' का पाठ किया है। कात्यायनने 'वावचनानर्थक्यम्' इत्यादि वार्तिक पाठ द्वारा नञ् समास नित्य है, यह जो अपना अभिप्राय सूचित किया है, सो ठीक नहीं है क्योंकि उक्ताचार्यवचन-विरुद्ध कात्यायनवचन अग्राह्य है। आचार्य शबरस्वामीने भी यह व्यक्त किया है कि कात्यायन असद्वादी हैं।

दनादेयम् । तदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना—"असद्वादी हि विद्यमानमप्यनुपलभ्य ब्रूयात्" (शा० भा०, पृ० २०६१) इति । अत्र न जायते म्रियते वेति प्रतिज्ञा । कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय इति तदुपपादनम् । अजो नित्य इति तदुपसंहार इति विभागः । आद्यन्तयोर्विकारयोर्निषेधेन मध्यवर्तिविकाराणां तद्व्याप्यानां निषेधे जातेऽपि, गमनादिविकाराणामनुक्तानामप्युपलक्षणाय । अपक्षयश्च वृद्धिश्च स्वशब्देनैव निराक्रियते । तत्र कूटस्थनित्यत्वादात्मनो निर्गुणत्वाच्च न स्वरूपतो गुणतो वाऽपक्षयः संभवतीत्युक्तम्—'शाश्वतः' इति । शश्वत्सर्वदा भवति नापक्षीयते नापचीयत इत्यर्थः । यदि नापक्षीयते, तर्हि वर्धतामितिनेत्याह—'पुराणः' इति । पुराऽपि नवः एकरूपो न त्वधुना नूतनां कांचिदवस्थामनुभवति । यो हि नूतनां कांचिदुपचयावस्थामनुभवति, स वर्धत इत्युच्यते लोके । अयं तु सर्वदैकरूपत्वान्नापचीयते नोपचीयते चेत्यर्थः । अस्तित्वविपरिणामौ तु जन्मविनाशान्तर्भूतत्वात्पृथङ् न निषिद्धौ । यस्मादेवं सर्वविकारशून्य आत्मा, तस्माच्छरीरे हन्यमाने तत्संबद्धोऽपि केनाप्युपायेन न हन्यते—न हन्तुं शक्यत इत्युपसंहारः ॥ २० ॥

असमस्तपर्युदासार्थक 'नञ्' का प्रयोग लोक और वेदमें अनेक जगह पाया जाता है, इसलिये कात्यायनवचन अनुपादेय है—ग्राह्य नहीं है । यहाँ 'न जायते म्रियते वा' यह प्रतिज्ञा है, 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' यह प्रतिज्ञात अर्थका उपपादन है, 'अजो नित्यः' यह उसका उपसंहार है—इस प्रकार वाक्यविभाग है । आद्यन्तविकार यानी जन्म और मरणके निषेधसे उनके व्याप्य बीचमें रहनेवाले विकारोंका निषेध सिद्ध होता है, फिर भी अनुक्त गमनादिविकारोंके उपलक्षणार्थ, अपक्षय और वृद्धिका नामतः निराकरण करते हैं । आत्मा कूटस्थ है, नित्य निर्गुण है, अतः उसका स्वरूपसे या गुणसे अपक्षय नहीं होता है, यह 'शाश्वतः' इत्यादिसे कह चुके हैं । शाश्वतः,–'मुहुः पुनः पुनः शश्वत्' इत्यादि कोशसे सार्वदिक् 'शाश्वत' शब्दार्थ है यानी जो सदा रहता है उसका अपक्षय नहीं होता हैं । यदि अपक्षय नहीं होता, तो वृद्धि क्यों नहीं होती, इसपर कहते हैं—'पुराणः' इत्यादिसे । पहले भी यह नवीन एक रूप ही था, अब भी किसी नूतन अवस्थाका अनुभव नहीं करता ।

जो कोई पदार्थ पूर्वावस्थासे विलक्षण नवीन अवस्थाको प्राप्त करता है वह बढ़ता है, ऐसा लोकमें प्रयोग होता है । यह तो सदा एकरूप है, अतः न घटता है, न बढ़ता है । सत्ता और परिणाम—ये दोनों जन्म और विनाशसे पृथक् नहीं हैं, इसलिए उनका अगला निषेध नहीं है । अतः सर्व विकारशून्य आत्मा है, अतः शरीरके मारे जानेपर भी उससे सम्बद्ध इस आत्माका हनन किसी भी उपायसे नहीं हो सकता, यह उपसंहार है ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

हे पार्थ! जो इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय समझता है वह विद्वान् पुरुष भला कैसे किसीको मारता है या किसीके द्वारा किसीको मारने के लिए प्रवृत्त करता है?॥ २१॥

'नायं हन्ति न हन्यते' इति, प्रतिज्ञाय न हन्यत इत्युपपादितम्, इदानीं न हन्तीत्युपपादयन्नुपसंहरति—'**वेदाविनाशिनम्**' इति। न विनष्टुं शीलं यस्य, तमविनाशिनमन्त्यविकाररहितम्। तत्र हेतुः अव्ययं न विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य, तमव्ययमवयवापचयेन गुणापचयेन वा विनाशदर्शनात्तदुभयरहितस्य न विनाशः संभवतीत्यर्थः। ननु जन्यत्वेन विनाशित्वमनुमास्यामहे, नेत्याह—'**अजम्**' इति। न जायत इत्यजम्-आद्यविकाररहितम्। तत्र हेतुः—नित्यं—सर्वदा विद्यमानम्, प्रागविद्यमानस्य हि जन्म दृष्टं, न तु सर्वदा सत इत्यभिप्रायः। अथवाऽविनाशिनम्-अबाध्यं सत्यमिति यावत्। नित्यं-सर्वव्यापकम्। तत्र हेतुः—अजमव्ययं-जन्मविनाशशून्यं, जायमानस्य विनश्यतश्च सर्वव्यापकत्व-सत्यत्वयोरयोगात्। एवं सर्वविक्रियाशून्यं प्रकृतमेनं देहिनं स्वमात्मानं यो वेद—विजानाति—शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां साक्षात्करोति—अहं सर्वविक्रियाशून्यः सर्वभासकः सर्वद्वैतरहितः परमानन्दबोधरूप इति। स एवं विद्वान्पुरुषः

उक्त वचनसे प्रतिज्ञाकर 'आत्मा किसीसे मारा नहीं जाता' इसका उपपादन हो गया। अब 'न हन्ति' इसका उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—'वेदाविनाशिनम्' इत्यादिसे। जिसका विनाश शक्य नहीं है वह अविनाशी अर्थात् अन्त्यविकाररहित है, जिसके अवयवोंके ह्रास या गुणोंके ह्राससे पदार्थका विनाश देखा जाता है, एतदुभयशून्य आत्माके विनाशका संभव नहीं है, यह तात्पर्य है।

प्रश्न—जन्यत्वलिङ्गसे आत्मामें विनाशका अनुमान करेंगे। उसका स्वरूप ऐसा होगा—'आत्मा विनाशी, जन्यत्वात्, घटादिवत्'।

उत्तर—विकाररहित आत्मामें जन्यत्व यदि नहीं है, तो फिर उक्तलिङ्गकविनाशित्वका अनुमान कैसे होगा? यह कहते हैं—'अजम्' इस विशेषणसे। वह कभी उत्पन्न नहीं होता, इसलिये अज है यानी आद्यविकारशून्य है। यदि पूछिये कि वह अज क्यों? तो सुनिये, उसमें यह हेतु है—वह नित्य है—सदा विद्यमान है। जो पूर्वमें नहीं रहता, उसका जन्म देखा गया है। जो सदा है उसका जन्म नहीं देखा जाता, यह अभिप्राय है। अथवा अविनाशीका अर्थ है—अबाध्य यानी परमार्थ सत्य। नित्य—सर्वव्यापक। इसमें हेतु है—

पूर्णरूपः कं हन्ति, कथं हन्ति । किंशब्द आक्षेपे । न कमपि हन्ति—न कथमपि हन्तीत्यर्थः । तथा कं घातयति—कथं घातयति, कमपि न घातयति, कथमपि न घातयतीत्यर्थः । नहि सर्वविकारशुन्य-स्याकर्तुर्हननक्रियायां कर्तृत्वं संभवति । तथा च श्रुतिः—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" ।। बृ०उ० ४-४-२

इति शुद्धमात्मानं विदुषस्तदज्ञाननिबन्धनाध्यासनिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषाद्यभावात्कर्तृत्व-भोक्तृत्वाद्यभावं दर्शयति । अयमत्राभिप्रायो भगवतः—वस्तुगत्या कोऽपि न करोति, न कार-यति च किंचित्, सर्वविक्रियाशून्यस्वभावत्वात् । परं तु स्वप्न इवाविद्यया कर्तृत्वादिकमात्मन्य-भिमन्यते मूढः । तदुक्तम्—"उभौ तौ न विजानीतः" इति । श्रुतिश्च "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ—उ० ४-३-७) इत्यादिः । अत एव सर्वाणि शास्त्राण्यविद्वदधिकारिकाणि । विद्वांस्तु समूलाध्यासबाधान्नाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमभिमन्यते स्थाणुस्वरूपं विद्वानिव चोरत्वम् ।

अज और अव्यय । अर्थात् जन्म और नाशसे रहित यानी जायमान और विनश्वरमें सर्वव्यापकत्व और सत्यत्व नहीं रहता । इस तरह सर्वविकारशून्य प्रकृत इस देहीको— अपनी आत्माको जो जानता है—शास्त्रोंसे तथा आचार्योपदेशोंसे जो जानता है—साक्षात्कार करता है (प्रकृतमें ज्ञान साक्षात्कारके तात्पर्यसे है) 'मैं सब निकारोंसे शून्य सर्वभासक तथा सर्वद्वैतरहित परमानन्दबोधरूप हूँ'—इस तरह जो आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न है वही ऐसा विद्वान् पुरुष पूर्णरूप है । वह भला किसको कैसे मारता है । 'किं' शब्द आक्षेपार्थ है । वह किसीको भी किसी तरह नहीं मरवाता । सर्वविकारशून्य अकर्तामें हननादि क्रिया कर्तृत्व कैसे हो सकता है । देखिये—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः' इत्यादि श्रुति भी शुद्धात्मतत्त्वके साक्षात्कार किया हुआ विद्वान्को आत्मैकत्वाज्ञाननिमित्तक अध्यासनिवृत्तिदशामें तन्मूलक रागद्वेषाभावसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वाद्यभावका प्रदर्शन करती है। भगवान्का यह अभिप्राय है—वस्तुतः कोई भी नहीं करता है और न कुछ कराता ही है, क्योंकि सर्वक्रियाशून्यस्वभाव है, किन्तु मूढ़ पुरुष आत्मामें कर्तृत्वादिका अविद्यासे अभिमान करता है जैसे कि स्वप्नमें । स्मृतिने भी ऐसा ही कहा है—'उभौ तौ न विजानीतः' इत्यादि । 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुति भी उक्तार्थ में है। अर्थ-बुद्धिके ध्यान करनेपर चिदाभास (जीवात्मा) ध्यान करता-सा जान पड़ता है तथा विषयदेशमें जानेपर वहाँ जाता-सा जान पड़ता है अतएव सम्पूर्ण शास्त्रोंमें अविद्वान्का ही अधिकार है। समूल अध्यासका बाध होनेसे विद्वानका शास्त्र में अधिकार नहीं है। कारण कि वह कर्तृत्वादिका आत्मामें अभिमान नही करता । देखिए—जो स्थाणुतत्त्वको जानता है उसको स्थाणुमें

अतो विक्रियारहितत्वादद्वितीयत्वाच्च विद्वान्न करोति कारयति चेत्युच्यते । तथा च श्रुतिः—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै०उ०, २-९) । अर्जुनो हि स्वस्मिन्कर्तृत्वं भगवति कारयितृत्वमध्यस्य हिंसानिमित्तं दोषमुभयत्राप्याशशङ्के । भगवानपि विदिताभिप्रायो हन्ति घातयतीति तदुभयमाचिक्षेप । आत्मनि कर्तृत्वं, मयि च कारयितृत्वमारोप्य प्रत्यवायशङ्कां मा-कार्षीरित्यभिप्रायः । अविक्रियत्वप्रदर्शनेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रतिषेधात्सर्वकर्माक्षेपे भगवदभिप्रेते हन्तिरुपलक्षणार्थः, पुरःस्फूर्तिकत्वात् । प्रतिषेधहेतोस्तुल्यत्वात्कर्मान्तराभ्यनुज्ञानुपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति । अतोऽत्र हननमात्राक्षेपेण कर्मान्तरं भगवताऽभ्यनुज्ञायतइति मूढजनजल्पितमपास्तम् । तस्माद्युद्धस्वेत्यत्र हननस्य भगवताऽभ्यनुज्ञानाद्वास्तवकर्तृत्वाद्य-भावस्य कर्ममात्रे समत्वादिति दिक् ॥ २१ ॥

चौरज्ञानका अभिमान नहीं है। स्थाणुतत्त्व के अविद्वान्को ही 'स्थाणुर्वा चौरो वा' यह संशय, अथवा 'अयं चौरः' यह विपर्यय होता है। अधिष्ठानतत्त्वको नहीं। अतः विक्रियारहित तथा अद्वितीय होनेसे विद्वान् कर्म नहीं करता या न किसीसे कराता ही है, यह कहते हैं। इसी प्रकार विद्वान किसीसे न डरता है। देखिये श्रुति भी कहतीं है—'विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति,' अपनेमें कर्तृत्व भगवान्में कारयितृत्वका अध्यासकर अर्जुनने हिंसादोषारोपणकी आशंका दोनोंमें की। अर्जुनाभिप्रायज्ञ भगवान्ने भी मारने और मरवाने दोनोंका आक्षेप किया। अपनेमें कर्तृत्वका और मुझमें कारयितृत्वका आरोप कर प्रत्यवायकी शंका मत करो, उनका यह अभिप्राय है। अविक्रियत्वप्रदर्शनसे कर्तृत्वका प्रतिषेध होता है, इससे अखिल कर्मोंके आक्षेप में भगवान्का तात्पर्य है। इसलिए 'हन्ति' यह उपलक्षण है। जिसमें कर्तृत्वमात्रका प्रतिषेध है उसमें हन्ति कर्मत्वमात्रका प्रतिषेध विफल है। सामान्याभावसे विशेषाभाव गतार्थ होता है। उस समय वही सामने उपस्थित था, इससे हन्तिका जो यह अर्थ लगाते हैं कि 'हन्ति' का प्रतिषेध इतर कर्मोंकी अभ्य-नुज्ञा के लिए है—हनन निषिद्ध है, न करें। विहित नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करें—इस अभिप्रायसे 'हन्ति' का उपादान है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि अविक्रियत्वादिसे यदि हननकर्तृत्व नहीं है, तो तुल्यन्यायसे विहित कर्म कर्तृत्व भी नहीं है। अविक्रियत्वदर्शन दोनोंके अनुष्ठान में विरोधी है, यह आगे कहेंगे—'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादिसे। अतः यहाँ हननमात्रके आक्षेप से कर्मान्तरानुष्ठानकी अनुमति भगवान् देते हैं—यह मूर्खजन प्रलाप उपेक्ष्य हैं। 'तस्मात् युद्ध्यस्व' इत्यादिसे युद्धमें हनन भगवान्को अनुमत है। वास्तवमें कर्तृत्वभोक्तृत्वादिका अभाव कर्ममात्रमें समान ही है। यह संक्षिप्त व्याख्या है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रको उतारकर नवीन वस्त्र धारण करते हैं वैसे ही यह आत्मा पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरको परित्याग कर अन्य नूतन शरीर धारण करता है ॥२२॥

नन्वेवमात्मनो विनाशित्वाभावेऽपि देहानां विनाशित्वात्, युद्धस्य च तन्नाशकत्वात्कथं भीष्मादिदेहानामनेकसुकृतसाधनानां मया युद्धेन विनाशः कार्य इत्याशङ्कायां उत्तरम्— 'वासांसि जीर्णानि' इति । जीर्णानि विहाय वस्त्राणि नवानि गृह्णाति विक्रियाशून्य एव नरो यथेत्येतावतैव निर्वाहे, अपराणीति विशेषणमुत्कर्षातिशयख्यापनार्थम् । तेन यथा निकृष्टानि वस्त्राणि विहायोत्कृष्टानि जनो गृह्णातीत्यौचित्यायातम् । तथा जीर्णानि-वयसा तपसा च कृशानि भीष्मादिशरीराणि विहाय, अन्यानि देवादिशरीराणि सर्वोत्कृष्टानि चिरोपार्जितधर्मफलभोगाय संयाति-सम्यग्गर्भवासादिक्लेशव्यतिरेकेण प्राप्नोति । देही-प्रकृष्टधर्मानुष्ठातृदेहवान्भीष्मादि-रित्यर्थः । "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा गान्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा" (बृ०उ० ४-४-४) इत्यादिश्रुतेः । एतदुक्तं भवति—भीष्मादयो हि यावज्जीवं धर्मानुष्ठान-

आत्मा विनाशी नहीं है, तो भी देह तो विनाशी अवश्य है और युद्ध देहका नाशक है, इसमें सन्देह नहीं, फिर भीष्मादि महापुरुषकी देह अनेक जन्मोपार्जित सुकृतविशेषसे उत्पन्न है, साधारण देहारम्भ सामग्रीसे नहीं । उनका युद्धमें 'मैं विनाश कैसे करूं' इस शंकाका उत्तर है कि विकारशून्य ही मनुष्य पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रोंको उतारकर नवीन वस्त्र धारण करता है । 'जैसे नवीन धारण करता है ।' नवीन तो पुरानेसे भिन्न होता ही है, भिन्न तात्पर्यसे 'अपराणि' कहनेकी क्या आवश्यकता ? सुनिये—केवल 'यथा' इतनेसे ही निर्वाह हो जाता है । उत्कर्षविशेषबोधनार्थं उक्त पद है । जैसे नवीन और पुराने वस्त्रोंमें विशेष है यानी नवीनमें उत्कर्ष और पुरानेमें अपकर्ष है वैसे ही नवीन और पुराने शरीरोंमें भी तारतम्य है । जीर्ण वस्त्रके समान अवस्था, तप आदिसे जीर्ण भीष्मादिदेहको त्यागकर अन्य नवीन देवादिशरीर बहुकालार्जित-धर्मफलभोगके लिए ग्रहण करेंगे—तपःप्रभावसे गर्भवासादिक्लेशके विना आनन्दपूर्वक प्राप्त कर लेंगे। देही यानी उत्कृष्टधर्मानुष्ठानपरायण भीष्मादि । इस अर्थमें प्रमाण 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरम्' इत्यादि श्रुति है । अर्थ—दूसरा नया सुन्दर शरीरको करता है पितृलोक, गन्धर्वलोक, देवलोक, प्रजापतिलोक तथा सत्य लोकमें उपभोग योग्य है । सुनिये-भीष्मादि पुरुषधौरेय जीवनतक धर्मानुष्ठानका क्लेससे जर्जरशरीर हैं, वर्तमान शरीरके

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

उस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल आर्द्र नहीं कर सकते और वायु भी सूखा नहीं सकती ॥ २३ ॥

क्लेशेनैव जर्जरशरीरा वर्तमानशरीरपातमन्तरेण तत्फलभोगायासमर्था यदि धर्मयुद्धेन स्वर्गप्रतिबन्धकानि जर्जराणि शरीराणि पातयित्वा दिव्यदेहसंपादनेन स्वर्गभोगयोग्याः क्रियन्ते त्वया, तदाऽत्यन्तमुपकृता एव ते । दुर्योधनादीनामपि स्वर्गभोगयोग्यदेहसंपादनान्महानुपकार एव ।

तथा चात्यन्तमुपकारके युद्धेऽपकारकत्वभ्रमं मा कार्षीरिति । अपराणि, अन्यानि, संयातीतिपदत्रयवशाद्भगवदभिप्राय एवमभ्यूहितः । अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम् ॥ २२ ॥

त्यागके विना सुकृत कर्मफल भोगनेमें असमर्थ हैं । धर्मयुद्धसे स्वर्गभोगप्रतिबन्धकीभूत जीर्ण शरीरको त्यागकर स्वर्गसुखभोगोपयोगिदिव्यशरीर धारणद्वारा यदि वे स्वर्गभोगयोग्य तुम्हारी सहायतासे हो जायं, तो वे तुमसे कृतकृत्य ही होंगे, अपकृत नहीं । यदि तुम्हें दुर्योधनादिके अनिष्टोंमें शंका हो, तो सुनो, उनका भी स्वर्गभोगयोग्यदेहसम्पादनद्वारा उपकार ही होगा, वे विहित ही स्वर्गभोगभागी होंगे । विचारसे अत्यन्तोपकारक युद्धमें अपकारत्वभ्रम मत करो । 'अपराणि, अन्यानि, संयाति' इन तीनों पदोंसे भगवान्‌का अभिप्राय इस प्रकार सूचित किया ।

[टीकान्तरमें 'लोग पुराने वस्त्रका त्यागकर नवीन वस्त्र ग्रहण करते हैं, उसमें पुरुष विकारी नहीं होता एवं पूर्वशरीर त्यागकर उत्तर शरीर ग्रहणमें विकारी नहीं है, केवल इतना ही अर्थ है, भीष्मादिके उपकार और अपकारकी सूचना नहीं है, अतः अपदार्थ होनेसे अमूल (कल्पनामात्र) है—इस भ्रमके निराकरणार्थं अपने उक्तार्थमें उक्तपदत्रय दत्तदस्तावलम्ब है ।] इस दृष्टान्तसे आत्मामें अविकृतत्वप्रतिपादन करते हैं, यह प्राचीन व्याख्यान अति स्पष्ट है । [अति स्पष्टसे प्राचीन व्याख्यानमें कटाक्षकी सूचना है । व्याख्यान गूढ़-तत्त्वोंका होना चाहिये, स्पष्ट तो अपने आप ज्ञेय है । उसका शब्द द्वारा प्रकाशन व्यर्थ है । भाष्यकारने भी पूर्वापर प्रकरणानुरोधसे अविक्रियत्वप्रतिपादनमें उक्त वाक्यका तात्पर्य कहा है, अतः कटाक्ष उचित नहीं है । हाँ, यह कथन उपादेय है कि प्रकृतमें अन्य और अपरशब्द भिन्नार्थतात्पर्यमात्रमें प्रयुक्त नहीं है, किन्तु लक्षणया उत्कृष्टार्थक है उसमें तात्पर्यग्राहक श्रुति वाक्य है । अन्यथा नवत्व और पुराणत्वसे उत्कृष्टको सूचित करता होगा । पुरानेसे नवीन उत्कृष्ट होता है, यह नियम नहीं है । चावल आदि कतिपय पदार्थ नूतनसे पुरातन ही अच्छे होते हैं । विक्रियासे प्रकृतमें मनोविकारको भी कह सकते हैं, इत्यादि विशेष कथन प्रकृतमें उपयुक्त नहीं है, इसलिए विस्तार नहीं किया गया है] ॥ २२ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

चूंकि यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य और अशोष्य है, इसलिए नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु (अविकारी), स्थिर और सनातन (सर्वदा एकरूप) है ॥ २४ ॥

ननु देहनाशे तदभ्यन्तरवर्तिन आत्मनः कुतो न विनाशः, गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषवदित्यतः आह—'नैनम्' इति।

शस्त्राणि—अस्यादीनि अतितीक्ष्णान्यपि एनं–प्रकृतमात्मानं न च्छिन्दन्ति—अवयवविभागेन द्विधा कर्तुं न शक्नुवन्ति। तथा पावकोऽग्निरतिप्रज्वलितोऽपि नैनं भस्मीकर्तुं शक्नोति। न चैनमापोऽत्यन्तं वेगवत्योऽपि आर्द्रीकरणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नुवन्ति। मारुतो वायुरतिप्रबलोऽपि नैनं नीरसं कर्तुं शक्नोति। सर्वनाशकाक्षेपे प्रकृते युद्धसमये शस्त्रादीनां प्रकृतत्वादवयुत्यानुवादेनोपन्यासः। पृथिव्यप्तेजोवायूनामेव नाशकत्वप्रसिद्धेस्तेषामेवोपन्यासः, नाऽऽकाशस्य॥२३॥

शस्त्रादीनां तन्नाशकत्वासामर्थ्ये तस्य तज्जनितनाशानर्हत्वे हेतुमाह–'अच्छेद्योऽयम्॰' इति। यतोऽच्छेद्योऽयम्, अतो नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। अदाह्योऽयं यतः, अतो नैनं दहति पावकः।

देहनाशसे तदन्तर्वर्ति पुरुषको नाश क्यों नहीं होगा ? गृहदाह होते समय उसके भीतर स्थित पुरुषको दुःख होता ही है, इस शंकापर कहते हैं—'नैनम्' इत्यादि। असि आदि—तलवार, भाला, बर्छी आदि अतितीखे भी शस्त्र उक्तस्वरूप आत्माका छेदन नहीं कर सकते, तथा अति प्रज्वलित-स्फुरज्ज्वालाजालजटिल पावक—अनल इसको भस्म नहीं कर सकता। इसको अत्यन्तवेगवान् जल आर्द्र बनाकर विश्लिष्ट-अवयव नहीं कर सकता तथा प्रबल वेगवान् मारुत यानी पवन भी नीरस नहीं कर सकता—सुखा नहीं सकता।

शंका—विष आदिका उपन्यास न करनेसे न्यूनता प्रतीत होती है।

समाधान—सबसे नाशाभावका आक्षेप उपलक्षणतया विवक्षित है। प्रकृत युद्धसमयमें शस्त्र आदिके प्रकृत होनेसे यानी युद्धमें नाशकान्तरकी प्रसक्तिके अभावसे संभवतः पृथिव्यादिका भी अवयुत्यानुवाद है। अवयुत्य—अलग-अलगकर अनुवाद अर्थात्—आंशिक सबमें कुछका नामनिर्देश है। पृथिव्यादिमें ही नाशकत्व-प्रसिद्धि है, अतः इनका ही नामनिर्देश भगवान्ने किया है, आकाशका नहीं ॥ २३ ॥

शस्त्रादि आत्माका नाश करनेमें असमर्थ हैं और वह शस्त्रजन्यनाशयोग्य नहीं है, इसमें हेतुका निर्देश करते हैं-'अच्छेद्योऽयम्॰' इत्यादिसे। चूंकि आत्मा छेदनके अयोग्य है, अतः शस्त्रादि उसके छेदनमें असमर्थ हैं। चूंकि यह अदाह्य—अशक्यदाह है, अतः अग्नि दहनमें असमर्थ है। चूंकि यह अक्लेद्य—जल-

यतोऽक्लेद्योऽयम्, अतो नैनं क्लेदयन्त्यापः। यतोऽशोष्योऽयम्, अतो नैनं शोषयति मारुत इति क्रमेण योजनीयम्। एवकारः प्रत्येकं संबध्यमानोऽच्छेद्यत्वावधारणार्थः। चः समुच्चये हेतौ वा। छेदाद्यनर्हत्वे हेतुमाहोत्तरार्धेन—नित्योऽयं पूर्वापरकोटिरहितः, अतोऽनुत्पाद्यः। असर्वगतत्वे ह्यनित्यत्वं स्यात्, "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्"(२-३-७)इति न्यायात्, पराभ्युपगतपरमाण्वादीनामनभ्युपगमात्। अयं तु सर्वगतः–विभुः, अतो नित्य एव। एतेन प्राप्यत्वं पराकृतम्। यदि चायं विकारी स्यात्, तदा सर्वगतो न स्यात्। अयं तु स्थाणुः–अविकारी। अतः सर्गगत एव। एतेन विकार्यत्वमपाकृतम्। यदि चायं चलः–क्रियावान्स्यात्, तदा विकारी स्याद्, घटादिवत्। अयं त्वचलः, अतो न विकारी। एतेन संस्कार्यत्वं निराकृतम्। पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विक्रिया, अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं

संयोगजनित शिथिलावयवसंयोगके योग्य नहीं है, अतः जल सड़ानेमें असमर्थ है। चूँकि यह अशोष्य—निपीतस्नेहयोग्य नहीं है, अतः वायु शोषणमें अशक्त है—इस क्रमसे योजना करनी चाहिए। एवकारको प्रत्येक वाक्यमें संबंध होनेसे यह निश्चितार्थक है। अछेद्य ही है, छेद्य नहीं। अदाह्य ही है, दाह्य नहीं—इत्यादि। चकार समुच्चय या हेतुमें है। उत्तरार्द्ध श्लोकसे छेदादियोग्यत्वाभावमें हेतु कहते हैं—आत्मा नित्य—पूर्वापरकोटिरहित है। पूर्वकोटि प्रागभाव है और उत्तरकोटि ध्वंस है। अनित्यमें दोनों कोटियाँ रहती हैं, आत्मामें नहीं। प्रागभावका अप्रतियोगी रहते हुए प्रध्वंसाभावका अप्रतियोगी आत्मा है, अतः अनुत्पाद्य—उत्पादनायोग्य है। यदि असर्वगत होता, तो अनित्य होता।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इस सूत्रमें कारण कह चुका हूँ, अतः पूर्वोक्त न्यायका स्मरण करो।

परमाणुको विभक्त तथा नित्य नैयायिक मानते हैं, इसलिए विभक्तत्व तथा अनित्यत्व नहीं है—यह शंका असंगत है। वेदान्ती परमाणुको नहीं मानते, अतः उक्त न्यायमें कोई दोष नहीं है। यह आत्मा तो सर्वगत और विभु है, इस कारण नित्य ही है। इससे प्राप्यत्वको भी आत्मामें निराकृत ही समझना चाहिए। [जो प्राप्त है, सो प्राप्ति क्रियाका कर्म होता है। जैसे ग्राम चैत्रप्राप्तिक्रियाका कर्म है, इसलिये चैत्र ग्राम जाते हैं—इस प्रयोगमें ग्राम कर्म है, जो सदा प्राप्त है, वह प्राप्तिक्रियाका कर्म नहीं हो सकता। जैसे—आकाश। एवं आत्मा विभु होनेसे प्राप्य नहीं है।] यदि आत्मा विकारी होता, तो सर्वगत न होता। यह ऐसा नहीं है, किन्तु यह स्थाणु—अविकारी है, अतः सर्वगत है। इससे विकार्य कर्मत्वका भी निराकरण होता है। अथवा यदि यह चलनक्रियावान् होता, तो घटादिवत् विकारी होता। यह तो अचल है, अतः विकारी नहीं है। इससे संस्कार्य कर्मत्वका भी निरास समझना चाहिये। पूर्वावस्थात्यागपूर्वक नवीनोत्तरावस्था-

क्रियेति विशेषः । यस्मादेवं तस्मात्सनातनोऽयं सर्वदैकरूपो न कस्या अपि क्रियायाः कर्मेत्यर्थः । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृत्यन्यतमक्रियाफलयोगे हि कर्मत्वं स्यात् । अयं तु नित्यत्वान्नोत्पाद्यः, अनित्यस्यैव घटादेरुत्पाद्यत्वात् । सर्वगतत्वान्न प्राप्यः, परिच्छिन्नस्यैव पय आदेः प्राप्यत्वात् । स्थाणुत्वादविकार्यः, विक्रियावतो घृतादेरेव विकार्यत्वात् । अचलत्वादसंस्कार्यः, सक्रियस्यैव दर्पणादेः संस्कार्यत्वात् । तथा च श्रुतयः—"आकाशवत्सर्वगतश्च[1] नित्यः" (छ्व-३-१४-३), वृक्ष इव स्तब्धः

प्राप्तिका नाम विकार है। जैसे—चावलको पाकावस्था स्वाभाविक कठिनावयवसंयोगनिवृत्तिपूर्वक तापजन्यशिथिलावयवसंयोग विकार है। विकार और क्रियामें भेद यह है कि विकारसे अवस्थाभेद होता है। जैसे—पक्व और अपक्व तण्डुल अवस्थासे भिन्न है तथा क्रियामें अवस्था एक होनेपर भी चलन होता है। जैसे कि स्थिरपक्षमें घटादिमें चलन है। चूँकि यह ऐसा है, अतः यह सनातन—सदा एक रूप है। तात्पर्य यह कि यह किसी क्रियाका कर्म नहीं है। उत्पत्ति, विकृति, संस्कृति और आप्ति—एतच्चतुर्विध क्रियानिरूपित कर्मत्व होता है। इनमें अन्यतम उत्पत्त्यादि किसी क्रियाफलसे निरूपित कर्मत्व आत्मामें नहीं है। नित्य होनेसे आत्मा उत्पाद्य कर्म नहीं है। अनित्य घटादि ही उत्पाद्य कर्म हैं। सर्वगत होनेसे यह आकाशवत् प्राप्य नहीं है। परिच्छिन्न—असर्वगत घटादि ही प्राप्य हैं। स्थिर हैं, अतः अविकार्य हैं। विक्रियावान् घृतादि ही विकार्य होते हैं। मलिन दर्पणादि सुरखी-चूनासे साफ कर दिये जाते हैं। इसमें प्रमाण ये

---

१. 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतियाँ तत्पदार्थका शोधन करती हैं। इनका यहां उल्लेख आवश्यक नहीं है, क्योंकि गीताके प्रथम छ अध्यायोमें त्वंपदार्थका निरूपण किया गया है। इसी प्रकार आत्मा शस्त्रादिका भी प्रेरक स्फूर्त्तिदायक एवं अन्तर्यामी है उसको शस्त्रादि कैसे काट सकता है यह भी कथमपि युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि लौहमें लौह तत्त्व वर्तमान है फिर भी लोहा लोहाको काटता है। इन युक्तियुक्त विषयोंपर किसीने आक्षेप किया है। 'तत्त्वमसि' वाक्यमें तत् पदार्थका निरूपण प्राथमिक है उसी प्रकार गीतामें भी प्रथम छ अध्यायोंमें तत् पदार्थका ही निरूपण है तदनुसार इन श्रुतियोंका निर्देश है। पर यह उत्तर तो 'दरिद्र-दम्पती' न्यायका अनुसरण करता है अत्यन्त दरिद्र स्त्री-पुरुष भीषण जाड़ासे बचनेके लिये छोटे वस्त्रको एक अपनी ओर खींचता है तो दूसरा वस्त्र रहित हो जाता है, यदि दूसरा अपनी ओर वस्त्र खींचता है तो प्रथम वस्त्र रहित हो जाता है। उसी प्रकार यहाँकी मधुसूदनी व्याख्याके समर्थनके लिये तत् पदार्थका शोधन यदि करते हैं तो आरम्भमें मधुसूदनीमें त्वं पदार्थ शोधन प्रथम छ अध्यायोंमें है यह असङ्गत हो जाता है। यदि उसको यथावस्थित रखते हैं तो यहाँ तत् पदार्थ शोधक श्रुतियोंका निर्देश असंगत होता है। ऐसी स्थिति में दूसरा आक्षेप भी निरर्थक है।

दिवि तिष्ठत्येकः" (श्वेता० ३-९-ना-३-१२-३), "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेता० ६-१९) इत्यादयः। "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः, योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः, यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरः, यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरः" (बृ० ३-७-३) इत्याद्या च श्रुतिः सर्वगतस्य सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति। यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति, तं शस्त्रादयश्छिन्दन्ति[1]।

श्रुतियाँ हैं। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति' इत्यादि श्रुतियाँ सर्वगत आत्माके सर्वान्तर्यामी होनेसे वह सर्वक्रियाका विषय नहीं है—यह स्पष्ट बतलाती हैं। जो शस्त्रादिमें नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं। आत्मा तो शस्त्रादिमें सत्तास्फूर्तिप्रद है, आत्मासे ही शस्त्रादिसत्ताका ज्ञान होता है। यह तत्प्रेरक है, तदन्तर्यामी है। अतः शस्त्रादि इसे स्वव्यापारका कर्म कैसे बना सकते हैं, यह भाव है। इस अर्थमें 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इत्यादि श्रुतियोंका अनुसन्धान करना चाहिये। सप्तमाध्यायमें भगवान् स्पष्ट करेंगे।

[वस्तुतः अपने उक्त अर्थमें श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन हृदयग्राही नहीं है, यह उत्कर्षदीपिकामें है—प्रथम छः अध्यायोंसे त्वंपदार्थका शोधन है, यह भाष्यकारोंका सिद्धान्त है, आपने भी यही कहा है। 'गतासून्' इत्यादि उपक्रम है, 'देहिनोऽस्मिन्' इत्यादि तथा 'अन्तवन्त इमे देहाः' एवं 'वासांसि' इत्यादि परामर्श है, 'देही नित्यमवध्योऽयम्' इत्यादि उपसंहारप्रकरणार्थ है। तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिङ्गान्तर्गत उक्त उपक्रम-परामर्शोपसंहाररूप त्रिविधलिङ्गसे त्वंपदार्थनिरूपणकी प्रतीति स्फुट है। तत्त्वंपदार्थभेदप्रतीति तो नियम्यनियामकभावनिर्मुक्त शुद्ध-चैतन्यमें है, वह वास्तविक है, औपाधिक तो जीव-ब्रह्ममें भेद ही है। 'अविद्याप्रत्युपस्थापित कार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽप्ययं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशः, न पारमार्थिकः' यह भाष्यकारने भी कहा है। इस प्रकार जिस शुद्धका जिस शुद्धके साथ अभेद है उसमें नियामकत्व नहीं है, इसलिये 'अन्तर्यामि' श्रुत्युदाहरण प्रकृतमें उपयोगी नहीं है। औपाधिकभेदप्रतिपादक तो भगवान् बादरायणके ये सूत्र हैं। देखिये—'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (१।२।१८), 'न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्' (१।२।१९), 'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' (१।२।२०) और जो अच्छेद्यत्वादिमें निमित्त तदन्तःस्थिति बतलायी गयी है, सो भी उपेक्ष्य है। लोहासे लोहा कटता है। दोनोंमें लोहतत्त्व समान है, इसलिये सर्वज्ञ

---

१. 'यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयः छिन्दन्ति'—अर्थात् जो शस्त्रमें नहीं रहता उसीको शस्त्रादि काटते हैं। इसपर यह कहना कि ऐसा नियम नहीं है, कारण लोह तत्त्व समान रूपसे रहनेपर भी एक लोहा दूसरेको काटता है। यदि यह नियम होता कि जो शस्त्रमें न रहे वही कटता है तब लोहेसे लोहा कैसे कट जाता है। इसमें अपनेसे अपनेको काटनेका क्या प्रसङ्ग है। अतः अप्रासङ्गिक विषयका आरोपकर कुछ लिख देना ठीक नहीं है। यहाँ तो तात्पर्य यह है कि लोह तत्त्वकी समानता होनेपर भी एक लोहा दूसरेको काटता ही है, उसी प्रकार आत्मा सर्वत्र अनुस्यूत रहकर भी काटा जा सकता है, अतः यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति यह युक्ति दुर्बल है, अच्छेद्यत्वमें भगवान् भाष्यकारकी निरवयवत्व युक्ति ही ठीक है।

अयं यु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी। अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापार-विषयीकुर्युरित्यभिप्रायः। अत्र "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (तै० ब्रा० ३-१२-९-७) इत्यादिश्रुतयोऽनुसंधेयाः। सप्तमाध्याये च प्रकटीकरिष्यति श्रीभगवानिति दिक् ॥ २४ ॥

भाष्यकारने अच्छेद्यत्वादिमें निमित्तनिरवयवत्व कहा है, वही समीचीन है। छेदन अवयवविभागानुकूल व्यापार है, जो सावयवमें होता है, निरवयव आकाशादिमें उक्त व्यापारका संभव ही नहीं है। एवं निरवयव आत्मामें शस्त्रादिनिबंधन छेद्यत्वादिका असंभव स्पष्ट है।

शङ्का—'न जायते म्रियते' इत्यादि वाक्यसे आत्माके यथार्थस्वरूपका निरूपण हुआ, फिर पुनः पुनः कथित विषयका कथन पुनरुक्त दोषसे अनुपादेय होता है, ज्ञातज्ञापकवाक्यश्रवणमें सुननेवालोंको श्रद्धा भी नहीं होती, निष्प्रयोजन समययापन होता है और वक्ता भी अनवहित प्रतीत होता है। यह शङ्का सुननेवालेकी स्वाभाविक है कि पूर्वोक्तका वक्ताको स्मरण नहीं है, अन्यथा कथितकथनमें इसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण मनुष्योंमें ये दोष सहज हैं, पर भगवद्वाक्यमें ये क्यों आये। गीतामें तो इनकी भरमार है—नित्य, विभु, निरवयवत्व आदिका कथन आत्मामें है।

समाधान—क्रियाफल दो प्रकारका होता है—एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। फलपर्यन्त व्यापार होना आवश्यक है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'व्रीहीनवहन्ति' ये दोनों वाक्य वैदिक हैं। प्रोक्षण अदृष्टार्थ है और अवघात दृष्टार्थ है। प्रोक्षण सकृत् किया जाता है। सकृत्समन्त्रक प्रोक्षणसे अदृष्टफलकी उत्पत्ति हो जाती है, अतः पुनः तदनुष्ठान आवश्यक नहीं है, परन्तु अवघात असकृत् किया जाता है। यह दृष्ट (तण्डुल-निष्पत्तिरूप) फल है। फलार्थं उपायानुष्ठान विहित है, इसलिये जबतक फलकी उत्पत्ति नहीं हो जाती है तबतक उसकी आवृत्ति की जाती है, जो सर्वथा उचित ही है, अन्यथा सकृत् अनुष्ठान भी व्यर्थ ही हो जायगा। गीताका उपदेश अवघातके समान दृष्टफलार्थं है। जबतक निर्विचिकित्सनिर्विशेषनित्यानन्द-ज्ञानात्मैकत्वका निश्चय न हो, तबतक आत्मनिरूपणकी आवृत्ति अवघातके समान आवश्यक है। आत्मा दुर्बोध और दुष्प्रतिपाद्य है, अर्जुन श्रोता और भगवान् स्वयं वक्ता हैं, तो भी पुनरुक्तोंकी भरमार है। तदतिरिक्त वक्ता और श्रोताको जन्मभर कहने-सुननेमें उक्त दोषकी शंका नहीं हो सकती, कारण कि असकृत् भगवदुपदेशसे अर्जुनको आत्माका यथार्थज्ञान हो गया, जिसे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरा मोह निवृत्त हो गया। अब आपके वचनोंका पालन करूँगा। आजकल प्राचीन शुभकर्मवश परिपूतान्तःकरण-वृत्ति पुरुषधौरेयको असकृदुपदेशसे भी आत्माका यथार्थज्ञान यदि हो जाय, तो वह धन्य है। अन्यको तो इस दोषकी संभावना ही नहीं है। प्रतिश्लोकश्रवणमें अपूर्व अर्थके समान ही ज्ञान होता है, अतएव भगवान् व्यासजीने स्पष्ट कहा है कि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४-१-१)। आत्मज्ञानके लिए श्रुतियोंमें असकृदुपदेश बतलाया गया है। यावदात्मज्ञानप्रत्ययावृत्तिसूचनार्थ 'असकृदुपदेश' है, तदनुसार गीतामें भी है। इससे अधिक उत्कर्षदीपिकामें देखिये]॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है। इसलिए उपर्युक्त रीतिसे इस आत्माको जानकर तुम शोक नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

छेद्यत्वादिग्राहकप्रमाणाभावादपि तदभाव इत्याह—'अव्यक्तोऽयम्' इत्यर्धेन। यो हीन्द्रियगोचरो भवति, स प्रत्यक्षत्वाद्व्यक्त इत्युच्यते। अयं तु रूपादिहीनत्वान्न तथा। अतः न प्रत्यक्षं तत्र च्छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः। प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानं स्यादित्यत आह—'अचिन्त्योऽयम्'। चिन्त्योऽनुमेयस्तद्विलक्षणोऽयम्। क्वचित्प्रत्यक्षो हि वह्न्यादिर्गृहीतव्याप्तिकस्य धूमादेः दर्शनात्क्वचिदनुमेयो भवति। अप्रत्यक्षे तु व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमेयत्वमिति भावः। अप्रत्यक्षस्यापीन्द्रियादेः सामान्यतोदृष्टानुमानविषयत्वं दृष्टम्, अत आह--'अविकार्योऽयम्।' यद्विक्रियावच्चक्षुरादिकं तत्स्वकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानमर्थापत्तेः, सामान्य तो

छेद्यत्वादिग्राहक प्रमाणके अभावसे भी छेद्यत्वादिका अभाव है, यह कहते हैं—'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि आधे श्लोकसे। जो इन्द्रियविषय होता है वह प्रत्यक्ष होनेसे व्यक्त कहा जाता है। आत्मा तो रूपादिशून्य होनेसे प्रत्यक्ष नहीं है, अतएव व्यक्त भी नहीं है, फिर छेद्यत्वादिग्राहक प्रत्यक्षकी क्या सम्भावना।

शंका—प्रत्यक्ष नहीं है, तो अनुमान क्यों नहीं ?

समाधान—यह अचित्य है, चिन्त्य अनुमेय कहलाता है। उससे भी यह विलक्षण है। कहीं प्रत्यक्ष ही महानसादि स्थलमें अग्निका धूममें व्याप्तिसम्बन्धग्रहण होनेपर ही पर्वतादिमें धूमसे अग्निका अनुमान होता है। अप्रत्यक्ष पदार्थमें व्याप्तिग्रह न होनेसे अनुमान नहीं होता। अतः अनुमेय भी नहीं है।

शंका—इन्द्रियादिसे सूर्यादिगतिका प्रत्यक्ष कहीं नहीं है, फिर भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान इनका होता है, अतः तद्विषयत्व इनमें जैसे है वैसे ही आत्मामें भी तद्विषयत्व क्यों नहीं है ?

समाधान—आत्मा अविकार्य है, इसमें तद्विषयत्व नहीं है। जो पदार्थ विकारी होता है वही सामान्यतो दृष्टका विषय होता है। जैसे—चक्षुरादि विकारी हैं, क्योंकि विषयेन्द्रियसंयोगानुकूल व्यापार इन्द्रियोंमें पाया जाता है। अतः तत्तद्विषय प्रत्यक्षरूप तत्तकार्यान्यथानुपपत्ति होनेसे कल्प्यमान इन्द्रियादि अर्थापत्ति, तथा सामान्यानुमानके विषय होते हैं। [जैसे—देवदत्तः चक्षुष्मान्, रूपादिदर्शित्वात्, अहमिव। अहं चक्षुष्मान्, रूपादिदर्शित्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा अन्धः। अथवा रूपाद्युपलब्धिक्रिया सकरणिका, क्रिया-

दृष्टानुमानस्य च विषयो भवति। अयं तु न विकार्यो न विक्रियावान्, अतो नार्थापत्तेः, सामान्यतो दृष्टस्य वा विषय इत्यर्थः। लौकिकशब्दस्यापि प्रत्यक्षादिपूर्वकत्वात्तन्निषेधेनैव निषेधः, ननु वेदेनैव तत्र च्छेद्यत्वादि ग्रहीष्यत इत्यत आह—'उच्यते'। वेदेन सोपकरणेनाच्छेद्याव्यक्तादिरूप एवायमुच्यते—तात्पर्येण प्रतिपाद्यते अतो न वेदस्य तत् प्रतिपादकस्यापि च्छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्वमित्यर्थः। अत्र "नैनं छिन्दन्ति" इत्यत्र शस्त्रादीनां

त्वात्, छेदनादिक्रियावत्—इत्यादि विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिये।] सारांश यह है कि यह आत्मा तो विक्रियावान् नहीं है, अतः यह अर्थापत्ति या सामान्यतोदृष्टका विषय नहीं है। [नित्यत्वादि अच्छेद्यत्वादिमें हेतु हैं। उनमें प्रमाण ये श्रुतियाँ हैं—'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गी० १२।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० उ० ६।११), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० उ० १।१), 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः (कठ० २।४।१), 'अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्यादि श्रुतियोंसे क्रमशः नित्यसर्वगतादिस्वरूप आत्मा कहा गया है।]

[प्रश्न—अच्छा तो शब्दका विषय आत्मा हो सकता है।

उत्तर—शब्द दो प्रकारके हैं—लौकिक और वैदिक। लौकिक शब्दोंका विषय आत्मा नहीं है। इसका उपपादन करते हैं—] लौकिक शब्द भी प्रत्यक्षादिपूर्वक ही है। प्रत्यक्षका निषेध आत्मामें कर चुके हैं। और उसीसे शब्दका भी निषेध सिद्ध होता है।

[प्रश्न—शब्द प्रत्यक्षपूर्वक कैसे ?

उत्तर—गृहीतशक्तिक ही शब्द अर्थका बोधक होता है, अगृहीतशक्तिक शब्द नहीं। शब्दशक्तिग्रह प्रयोज्य-प्रयोजकवृद्धव्यवहारसे होता है। वृद्धशब्द यहाँ गृहीतशक्तिकपरक है। देखिये—प्रयोजकने प्रयोज्यसे कहा—'घटमानय'। प्रयोज्यने घटको लाकर रख दिया। इन दोनोंके समीप स्थित बालक यह अनुमान करता है कि 'यह प्रयोज्यप्रवृत्ति घटानयनधर्मिक-इष्टसाधनताज्ञानजन्य है, प्रवृत्ति होनेसे, मदीयस्तनपानादि प्रवृत्तिवत्'। इसको घटानयका ज्ञान' इस वाक्यसे हुआ, उसीसे यह लानेमें प्रवृत्त हुआ है। स्वतः उक्त कार्यमें प्रवृत्त नहीं हुआ, अन्यथा शब्दश्रवणसे पूर्वमें भी प्रवृत्त्यापत्ति आ जायगी। अतः घटानयनज्ञानं प्रयोजकशब्दजन्यम् तदनन्तरभावित्वात्, यो यदनन्तरं भवति, स तज्जन्यो भवति' इससे घटानयनज्ञानमें शब्दात्मक वाक्यजन्यत्वका ज्ञान हुआ। तदनन्तर 'घटमानय' यह वाक्य घटानयनज्ञान ही का जनक है, अर्थान्तरज्ञानका नहीं। क्यों नहीं है ? अतः फिर यह अनुसन्धान करता है कि वाक्य स्वसम्बद्ध अर्थका ही प्रत्यायक होता है, असम्बद्ध अर्थका नहीं, अन्यथा एक ही वाक्यसे सकल पदार्थका बोध होने लगेगा। वाक्यान्तर व्यर्थ हो जायँगे, इसलिये नियतार्थबोधान्यथानुपपत्त्या घटानयन अर्थमें ही उक्त वाक्यका सम्बन्ध है, यह ज्ञान अर्थापत्तिसे होता है। इस तरह शब्दार्थसम्बन्धज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति—इन तीनों प्रमाणोंसे होता है, केवल प्रत्यक्षसे नहीं। तथापि प्रत्यक्ष सर्वप्रथम कारणत्वेन अपेक्षित है। तदनुयायी अनुमान और अर्था-

तन्नाशकसामर्थ्याभाव उक्तः। अच्छेद्योऽयमित्यादौ तस्य च्छेदादिकर्मत्वायोग्यत्वमुक्तम्। अव्यक्तोऽयमित्यत्र तच्छेदादिग्राहकमानाभाव उक्त इत्यपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्। 'वेदाविनाशिनमि'-त्यादीनां तु श्लोकानामर्थतः शब्दतश्च पौनरुक्त्यं भाष्यकृद्भिः परिहृतम्—"दुर्बोधत्वा-दात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरमापन्नं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यात्" इति वदद्भिः गी०-भा-२-२४। एवं पूर्वोक्तयुक्तिभिरात्मनो नित्यत्वे निर्विकारत्वे च सिद्धे तव शोको नोपपन्नः इत्युपसंहरति—'तस्मात्' इत्यर्धेन। एतादृशात्मस्वरूपवेदनस्य शोककारणनिवर्तकत्वात्त-स्मिन्सति शोको नोचितः, कारणाभावे कार्याभावस्याऽऽवश्यकत्वात्। तेनाऽऽत्मानमविदित्वा यदन्वशोचः, तद्युक्तमेव। आत्मानं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

पत्ति हैं। प्रत्यक्षसे 'घटानयन' देखकर ही इतरप्रमाणद्वयका उपपादन होता है, अतः प्रधान प्रत्यक्षनिवृत्तिसे शब्दकी निवृत्ति कही गयी है, इतरप्रमाणद्वयकी मूलभूतप्रत्यक्षनिवृत्तिसे निवृत्ति स्पष्ट है, इसलिये उन दोनोंकी निवृत्तिकी चर्चा नहीं की है।]

शङ्का—अच्छा, तो वैदिक शब्दोंसे आत्मामें छेद्यत्व ग्रहण करेंगे ?

समाधान—'उच्यते' अर्थात् निगमनिरुक्ताद्यङ्गजातोपबृंहित वेदसे अच्छेद्य अव्यक्तरूप ही आत्मा बोध्य है। यद्यपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेदवाक्यसे विशुद्ध आत्मा शब्दगम्य भी नहीं है, तथापि लक्षणया (तात्पर्यवृत्त्या) तद्बोधनमें तात्पर्य है यह कहते हैं। उक्तनिषेध शक्यांशद्वयगम्यत्वतात्पर्यसे है। अतः आत्मप्रतिपादक वेदमें छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्व नहीं हो सकता। 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि वचनोंसे शस्त्रादिकोंमें आत्मछेदनसामर्थ्याभावका, 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादिसे आत्मामें शस्त्रकर्तृकछेद्यत्वाभावका, 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादिसे तदुभयग्राहकमानाभावका बोधन किया है, अतः पुनरुक्तकी शङ्का नहीं है। आर्थिक लब्धार्थतात्पर्यसे पुनरुक्त नहीं होता, किन्तु साक्षादभिहिताभिधानसे ही उक्त दोष होता है। 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकोंमें पौनरुक्त्यका शब्दतः और अर्थतः—दोनों तरहसे भाष्यकारने 'आत्मवस्तु दुर्बोध है। असकृत् उपदेशसे भी अकृतबुद्धियोंको बुद्ध्यारूढ़ नहीं होता, अतः पुनः पुनः प्रसङ्ग लाकर शब्दान्तरसे फिर उसी वस्तुका निरूपण भगवान् वासुदेव करते हैं, जिनका निरूपण पूर्वमें कर चुके हैं। कैसे संसारी पुरुषोंके ज्ञानका विषय होकर तत्त्व संसारका निवर्तक हो।' यह कहते हुए परिहार किया है, अतः उसके परिहारप्रदर्शनार्थं प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे आत्मा नित्य तथा निर्विकार है, यह सिद्ध होनेपर तुम्हारा शोक उचित नहीं है, यह उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इस अर्धश्लोकसे। ईदृश आत्मस्वरूपज्ञान शोकके कारणका निवर्तक है, फिर यह ज्ञान होतेपर शोक करना ठीक नहीं है। कारणभाव

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथवा मेरे इस कथनको स्वीकार न कर किसी दूसरे मतका अवलम्ब करके यदि इस आत्माको तुम नित्य उत्पन्न या नित्य मरा हुआ समझते हो, तो भी हे महाबाहो ! तुम शोक नहीं कर सकते—शोक करना तो तुम्हें किसी दशामें भी उचित नहीं है ॥ २६ ॥

एवमात्मनो निर्विकारत्वेनाशोच्यत्वमुक्तम्, इदानीं विकारवत्त्वमभ्युपेत्यापि श्लोकद्वयेनाशोच्यत्वं प्रतिपादयति भगवान्। तत्राऽऽत्मा ज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षणविनाशीति सौगताः। देह एवाऽऽत्मा, स च स्थिरोऽप्यनुक्षणपरिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लौकायतिकाः। देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते, नश्यति चेत्यन्ये। सर्गाद्यकाल एवाऽऽकाशवज्जायते, देहभेदेऽप्यनुवर्तमान एवाऽऽकल्पस्थायी नश्यति प्रलय इत्यपरे। नित्यएवाऽऽत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः। तथाहि—प्रेत्यभावो जन्म। स चापूर्वदेहेन्द्रियादि'सम्बन्धः, एवं मरणमपि पूर्वदेहेन्द्रियादिविच्छेदः। इदं चोभयं धर्माधर्मनिमित्तत्वात् तदाधारस्य नित्य-

---

से कार्याभाव आवश्यक है। [अग्निके न रहनेपर तो धूम नहीं रहता—इसका व्यभिचार नहीं है।] इसलिये यदि आत्माको वस्तुतः न जानकर शोक किया तो ठीक ही है। आत्माको जानकर तो तुम शोक नहीं कर सकते हो, यह अभिप्राय है ॥ २५ ॥

इस प्रकार आत्मा निर्विकार होनेसे अशोच्य है, यह कहा। अब आत्मामें विकार मानकर भी दो श्लोकोंसे 'अशोच्यत्व' का उपपादन भगवान् करते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रतिक्षण विनाशी है, यह सौगत—बौद्धका मत है। देह ही आत्मा है, सो स्थिर है, फिर भी प्रतिक्षण परिणामी है, अतएव वह उत्पन्न तथा नष्ट होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, यह चार्वाकमत है। देहातिरिक्त आत्मा है, परन्तु देहके साथ ही उत्पन्न और उसके साथ ही नष्ट होता है, यह किसीका मत है। सृष्टिके आरम्भकालमें ही आकाशादिके समान उत्पन्न होता है, प्रत्येक जन्ममें देहभेद होनेसे वही सब देहोंमें अनुवर्तमान होकर आता है। देहके साथ उत्पन्न नाशशील नहीं है, किन्तु कल्प तक स्थायी है। हाँ, प्रलयमें आकाशादिके समान नष्ट होता है, यह भी किसीका मत है। नित्य ही आत्मा उत्पन्न होता तथा मरता है यह तार्किकोंका मत है। देखिये—प्रेत्य यानी मरकर भाव होना जन्म है। यह जन्म नवीनशरीरेन्द्रियादिसंबन्ध है। इसी प्रकार मरण भी पूर्वदेहेन्द्रियादिका वियोग है। ये दोनों धर्माधर्मनिमित्तक होनेसे तदाधार—धर्माद्याधार नित्य आत्माके ही मुख्य धर्म हैं।

स्यैव मुख्यम् । अनित्यस्य तु कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन धर्माधर्माधारत्वानुपपत्तेर्न जन्ममरणे मुख्ये इति वदन्ति । नित्यस्याप्यात्मनः कर्णशष्कुलीजन्मनाऽऽकाशस्येव देहजन्मना जन्म, तन्नाशाच्च मरणं, तदुभयमौपाधिकमसुख्यमेवेत्यन्ये । तत्रानित्यत्वपक्षेऽपि शोच्यत्वमात्मनो निषेधति—'अथ चैनम्' इति । अथेति पक्षान्तरे । चोऽप्यर्थे । यदि दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः असकृच्छ्रवणेऽप्यवधारणासामर्थ्यान्मदुक्तपक्षानङ्गीकारेण पक्षान्तरमभ्युपैषि । तत्राप्यनित्यत्व-पक्षमेवाऽऽश्रित्य यद्येनमात्मानं नित्यं जातं, नित्यं मृतं वा मन्यसे । वाशब्दश्चार्थे । क्षणिकत्व-पक्षे नित्यं-प्रतिक्षणं पक्षान्तरे आवश्यकत्वान्नित्यं नियतं जातोऽयं मृतोऽयमिति लौकिकप्रत्यय-वशेन यदि कल्पयसि, तथाऽपि हे महाबाहो ! पुरुषधौरेयेति सोपहासं कुमताभ्युपगमात्, त्वय्येतादृशी कुदृष्टिर्न संभवतीति सानुकम्पं वा । एवम्—"अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः वयम्" इत्यादि यथा शोचसि—एवंप्रकारमनुशोकं कर्तुं स्वयमपि त्वं तादृश एव सन्नार्हसि—

यदि अनित्य आत्मा हो, तो कृतहानि और अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति होगी । पूर्वकृतधर्मादिका मरणानन्तर भोग न होगा । कर्ता आत्मा देहके साथ नष्ट हो गया, दूसरे शरीरमें जो दूसरा आत्मा उत्पन्न होगा, तो उसमें जो दुःख-सुखादि होगा, वह अकृताभ्यागम होगा । उस आत्माने गर्भमें आनेसे पूर्व कोई सुकृत-दुष्कृत नहीं किया है । अकृत कर्मका फलभोग अकृताभ्यागम कहलाता है । एतदुभयदोषसे धर्माधर्माधार भी नहीं होगा, अतः जन्म-मरण मुख्य आत्माके नहीं हैं, किन्तु देहादिद्वारा हैं, यह कहते हैं । नित्य भी आत्माका देहके जन्मसे जन्म कानके छिद्राकाशके समान जन्म माना जाता है । कानका आकाश साक्षात् उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कान उत्पन्न होता है, उसीकी उत्पत्तिसे 'कर्णपुटाकाशो जातः' इत्यादि व्यवहार होता है । अतः देहजन्मके साथ जन्म और तन्मरणके साथ मरण वे दोनों आत्मामें मुख्य नहीं हैं, किन्तु औपाधिक हैं, यह किसी औरका मत है । अनित्यत्व पक्षमें शोच्यत्वका निषेध करते हैं—'अथ चैनम्' इत्यादि । आत्मा शोच्य नहीं है 'च' अपिके अर्थमें है आत्मवस्तु दुर्बोध है, अनेकबार सुननेपर भी निश्चयात्मक ज्ञानसामर्थ्याभावसे मेरे कहे पक्षका त्यागकर यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो, उसमें भी अनित्यपक्ष ही का आश्रयण कर यदि इस आत्माको नित्यजात और नित्यमृत मानते हो । 'वा' शब्द 'च' के अर्थमें है । क्षणिकत्वपक्षमें नित्यम् यानी 'प्रतिक्षणम्' दूसरे पक्षमें अर्थात् नित्यत्वपक्षमें आवश्यक होनेसे 'यह निश्चित उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ' इस लौकिक प्रत्यक्षसे यदि कल्पना करते हो, तो भी हे महाबाहो—हे पुरुषधुरीण—पुरुषश्रेष्ठ ['धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' यह अमरकोश है ।] 'महाबहो' का प्रयोग करनेसे तदुपहार सूचित होता है । अथवा कुमत स्वीकारमे तादृश कुदृष्टिका तुममें संभव नहीं, यह सदय प्रयोग है । इस तरह—'अहो ? में बड़ा पाप करनेमें उद्यत हुआ' इत्यादि जैसा शोचते हो, एतादृश अनुशोक करनेके योग्य तुम नहीं हो, क्योंकि

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

हे अर्जुन! जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी तथा जो मर चुका है उस प्राणीका भी जन्म अनिवार्य है। इसलिए जिसका किसी तरह भी परिहार नहीं किया जा सकता, ऐसे विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ २७ ॥

योग्यो न भवसि। क्षणिकत्वपक्षे, देहात्मवादपक्षे, देहेन सह जन्मविनाशपक्षे च जन्मान्तराभावेन पापभयासंभवात्पापभयेनैव खलु त्वमनुशोचसि। तच्चैतादृशे दर्शने न संभवतीत्यर्थः। क्षणिकत्वपक्षे च दृष्टमपि दुःखं न संभवति बन्धुविनाशदर्शित्वाभावादित्यधिकम्। पक्षान्तरे दृष्टदुःखनिमित्तं शोकमभ्यनुज्ञातुमेवंकारः दृष्टदुःखनिमित्तशोकसंभवेऽप्यदृष्टदुःखनिमित्तः शोकः सर्वथा नोचित इत्यर्थः प्रथमश्लोकस्य ॥ २६ ॥

नन्वात्मन आभूतसंप्लवस्थायित्वपक्षे नित्यत्व पक्षे च दृष्टादृष्टदुःखसंभवात्तद्भयेन शोचामीत्यत आह द्वितीयश्लोकेन—'जातस्य हि' इति।

तुम भी तो स्वयं वैसा ही हो क्षणिकत्वपक्षमें, देहात्मवादपक्षमें तथा देहके साथ ही आत्माका जन्मविनाश होता है, इस पक्षमें भी इष्टबन्धुविनाशरूप दुःख भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा क्षणिक है, शोकक्षणमें आत्मा विभिन्न है। कालान्तरभाविबन्धु-विनाशको देखता ही नहीं, तो फिर उसे शोक कैसा? क्षणिकत्वातिरिक्त पक्षमें यानी देहके साथ आत्मा उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, इत्यादि पक्षमें संप्रति उत्पन्नका नाश होनेपर फिर उत्पत्ति होगी नहीं, तो बन्धुवधादिप्रयुक्त पाप हमको जन्मान्तरमें कष्टदायी होगा, वह शोक कैसा? जन्मान्तराभावसे पापभयका असंभव है। पापके भयसे ही तुम शोक करते हो, सो तो उक्त दर्शनमें संभव नहीं है। क्षणिकत्वपक्षमें देखे गये दुःखका भी संभव नहीं है, क्योंकि बन्धुविनाशदर्शित्वका अभाव है, इतना यह भी अधिक समझ लेना चाहिये। पक्षान्तरमें दृष्टदुःख निमित्त शोककी अभ्यनुज्ञाके लिए एवकार दृष्टदुःखनिमित्तक शोकका संभव, अदृष्टदुःखनिमित्त शोक सर्वथा अनुचित है, यह 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि पूर्व श्लोकका निष्कर्ष है। अर्थात् अदृष्टदुःखनिमित्त शोक तो सर्वदा अनुचित है। उक्त दशा में यदि आत्माका उच्छेद नहीं है, तो तन्निमित्तक शोक ही कहां हो सकता है? ॥ २६ ॥

'आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते' (वि० पु० अ० २-५-श्लोक ९६) इस श्लोकोक्त नित्यत्वपक्षमें दृष्टादृष्टोभयविध दुःखका सम्भव है, अतः तन्निमित्तक शोक करता हूँ, इस शङ्कापर द्वितीय श्लोकसे कहते हैं—'जातस्य हि' इत्यादि। पूर्वजन्मकृत पुण्यपापनिमित्तक जात शरीरेन्द्रियसंबन्ध स्थिर आत्माक

हि यस्माज्जातस्य स्वकृतधर्माधर्मादिवशाल्लब्धशरीरेन्द्रियादिसंबन्धस्य स्थिरस्याऽऽत्मनो ध्रुवः—आवश्यको मृत्युः—तच्छरीरादिविच्छेदस्तदारम्भककर्मक्षयनिमित्तः, संयोगस्य वियोगावसानत्वात् । तथा ध्रुवं जन्म मृतस्य च प्राग्देहकृतकर्मफलोपभोगार्थं सानुशयस्यैव प्रस्तुतत्वान्न जीवन्मुक्तेर्व्यभिचारः। तस्मादेवमपरिहार्ये—परिहर्तुमशक्येऽस्मिञ्जन्ममरणलक्षणेऽर्थे विषये त्वमेवं विद्वान्न शोचितुमर्हसि। तथा च वक्ष्यति—"ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे" (गी०अ०११-३२) इति। यदि हि त्वया युद्धेऽनाहन्यमाना एते जीवेयुरेव, तदा युद्धाय शोकस्तवोचितः स्यात्। एते तु कर्मक्षयात्स्वयमेव म्रियन्त इति, तत्परिहारासमर्थस्य तव दृष्टदुःखनिमित्तः शोको नोचित इति भावः। एवमदृष्टदुःखनिमित्तेऽपि शोके "तस्मादपरिहार्येऽर्थे" इत्येवोत्तरम्। युद्धाख्यं कर्म

मरण आवश्यक है, क्योंकि शरीरके आरम्भक कर्मोंसे शरीर उत्पन्न हुआ और उस शरीरके उपभोगजनक प्रारब्ध कर्मकी स्थिति जबतक रहेगी, तबतक शरीरस्थिति नियत है। उसके आरम्भक अदृष्ट विनाशके बाद उसका विनाश अवश्यं भावी है। 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' यह सर्वसंमत सिद्धान्त है। संयोग-वियोगनियत है—जिनका मिथः संयोग हुआ है उनका वियोग जरूर होगा। एवं मृतका जन्म भी ध्रुव है।

प्रश्न—यह क्यों।

उत्तर—भोगकालिक शरीरोपार्जित शुभाशुभकर्मफलभोगार्थं पुनः शरीर-धारण आवश्यक है।

शङ्का—मृतका जन्म यदि आवश्यक है तो विदेहकैवल्य कैसे होगा ? जीवन्मुक्तको शरीरपातानन्तर ही उसकी प्राप्ति होती है। यदि पुनः शरीर-सम्बन्ध होगा, तो कैवल्य नहीं होगा और यदि शरीरसबन्ध न होगा, तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' का व्यभिचार है।

समाधान—व्यभिचार नहीं है, सानुशय शरीरभोगयोग्यकर्मशेषको अनुशय कहते हैं, तद्विशिष्ट सानुशय है, जीवका शरीरवियोग मरण प्रकृतमें विवक्षित है। जीवन्मुक्तकी कर्मराशि तत्त्वज्ञानसे भस्म हो जाती है। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' यह भगवद्वाक्य है। शरीरभोगयोग्य कर्मशेष अनुशय है। जीवन्मुक्त शरीरवियोगदशामें सानुशय नहीं रहता, इसलिए उसका शरीरवियोग मरण नहीं है, अतः उक्त व्यभिचारकी सम्भावना नहीं है। इसलिए जो परिहारके योग्य नहीं है, जन्ममरणचक्रका कोई परिहार नहीं कर सकता, अतः इस विषयमें तुम्हारे जैसे विद्वान्‌को शोक करना उचित नहीं है। इस विषयमें आगे चलकर 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' इत्यादि स्वयं भगवान् कहेंगे। यदि युद्धमें तुम्हारे द्वारा न मारे जानेपर भी ये जीवित रह सकते, तो फिर तुम्हारा इनके लिए शोक करना उचित होता, किन्तु ये तो भीष्मादि स्वकृत कर्मक्षयसे स्वयं मरेंगे, फिर उसके परिहारमें तुम समर्थ नहीं हो। अतएव

क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवत्। तच्च "युध संप्रहारे" इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं शत्रुप्राण-वियोगानुकूलशस्त्रप्रहाररूपं विहितत्वादग्नीषोमीयादिहिंसावन्न प्रत्यवायजनकम्।

तथा च गौतमः स्मरति--"न दोषो हिंसायामाहवे", "अन्यत्र व्यश्वासारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्ण-केशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः" इति। ब्राह्मणग्रहणं चात्रायोद्धृ-ब्राह्मणविषयम्, गवादिप्रायपाठादिति स्थितम्। एतच्च सर्वं 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्ये' त्यत्र स्पष्टी-करिष्यते। तथा च 'युद्धलक्षणेऽर्थेऽग्निहोत्रादिवद्विहितत्वादपरिहार्यें' परिहर्तुमशक्ये तदकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गात्त्वमदृष्टदुःखभयेन शोचितुं नार्हसीति पूर्ववत्। यदि तु युद्धाख्यं कर्म काम्यमेव, "य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराजिता। अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा" ॥ (आ०

दृष्टदुःखनिमित्त शोक तुमको उचित नहीं है। इसी प्रकार अदृष्टनिमित्तक शोकमें जो अर्थ अपरिहार्य है, जिसको कोई भी रोक नहीं सकता, उसके होनेसे शोक क्या? वह तो होकर ही रहेगा, फिर युद्धादि कर्म तो क्षत्रियोंके लिये अग्निहोत्रादि नित्य कर्मके समान अवश्यानुष्ठेय है। उसके अनुष्ठानमें शोक नहीं? युद्धशब्द 'युध संप्रहारे' धातुसे भावमें क्तप्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है। संप्रहार शत्रुप्राणवियोगजनक शस्त्र शत्रुशरीरसंयोगरूप है। यद्यपि हिंसाफलक वह कर्म है इसलिये पापजनक मानकर यदि इसको त्यागते हो, तो अग्नीषोमीयादि याग भी पशुहिंसाफलक प्रत्यवायदर्शनसे त्याज्य ही मानोगे। वह विहित है, अतः उसमें प्रत्यवायजनक शङ्का यदि नहीं है,तो युद्ध भी उसी तरह तुम्हारे लिये विहित ही है, फिर इसमें शंका क्यों करते हो। गोतम महर्षिने कहा है कि 'न दोषो हिंसायामा०' इत्यादि। अश्वरहित, सारथिशून्य, आयुधरहित, बद्धाञ्जलि, मुक्तकेश, पृष्ठदर्शी, स्थिति, वृक्षारूढ, उच्चस्थलारूढ, दूत, अपने को गो तथा ब्राह्मण कहनेवाला, इनसे व्यतिरिक्तको युद्धमें मारनेसे प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता। [अश्वरथादिशून्यका तात्पर्य अश्वारूढको अश्वारूढसे युद्ध करना चाहिए। यदि प्रतिभट अश्वहीन हो गया हो, तो जबतक वह पुनः अश्वारूढ न हो जाय, तबतक उसके ऊपर शस्त्रप्रहार नहीं करना चाहिये, यह धर्मयुद्ध है, यह पापजनक नहीं है। आजकलका युद्ध स्पष्ट है।] इस स्मृतिवाक्यमें जो ब्राह्मणका ग्रहण किया है वह युद्ध न करनेवाले ब्राह्मणके लिए है। यह ब्राह्मणके साथ 'गो' के पाठसे प्रतीत होता है। यह सब 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इस श्लोमें विशेषरूपसे आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। युद्धलक्षण अर्थ अग्निहोत्रादिवत् विहित कर्म होनेसे परिहारयोग्य भी नहीं है। अतः उसके न करनेमें ही प्रत्यवाय है। नित्याग्निहोत्रके न करनेपर प्रत्यवाय होता है, करनेपर नहीं। इसलिए इस युद्धके विषयमें तुमको शोक नहीं करना चाहिये, यह पूर्ववत् विवक्षित है। अतः युद्धको तुम नित्य न मानकर काम्य कर्म मानो, क्योंकि 'य आहवेषु युध्यन्ते' इत्यादि याज्ञवल्क्य तथा 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' भगवान्के इस वाक्यसे वह काम्य ही है। [जिस विधायक वाक्यमें कर्मफलका निर्देश रहे वह

प्र० १३ श्लो० ३२४) इति याज्ञवल्क्यवचनात्, "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" इति भगवद्वचनाच्च, तदापि प्रारब्धस्य काम्यस्यापि अवश्यपरिसमापनीयत्वेन नित्यतुल्यत्वात्तया च युद्धस्य प्रारब्धत्वादपरिहार्यत्वं तुल्यमेव। अथवाऽऽत्मनित्यत्वपक्ष एव श्लोकद्वयम्। अर्जुनस्य परमास्तिकस्य वेदबाह्यमताभ्युपगमासंभवात्। अक्षरयोजना तु नित्यश्चासौ देहेन्द्रियादिसंबन्धवशाज्जातश्चेति नित्यजातस्तमेनमात्मानं नित्यमपि सन्तं जातं चेन्मन्यसे, तथानित्यमपि सन्तं मृतं चेन्मन्यसे। तथाऽपि त्वं नानुशोचितुमर्हसीति प्रतिज्ञाय हेतुमाह—

काम्य कर्म है और जिसमें फलका निर्देश न हो, केवल कर्मका विधान हो वह नित्य कर्म है। नित्य न करनेपर प्रत्यवाय लगता है, काम्य कर्मके न करने पर प्रत्यवाय नहीं लगता, क्योंकि नित्यकर्ममें प्रवृत्ति शास्त्रकी आज्ञासे होती है। उसे न करनेपर शास्त्राज्ञाभङ्ग होता है, जो राजाज्ञाभङ्गसम है, अतः उसका उल्लंघन करनेवाला पुरुष प्रत्यवायी होकर दण्डनीय होता है। जैसे राजाज्ञाभङ्गकारी दण्डनीय होता है वैसे ही शास्त्राज्ञाभङ्गकारी भी दण्डनीय है। जैसे राजाज्ञाभङ्गकारी विना अभियोग लगाये दण्डनीय नहीं होता, वैसे ही शास्त्राज्ञाभङ्ग करनेवाले केलिये भी प्रत्यवायरूप अभियोग है। काम्यकर्ममें फलानुरागसे तदुपायमें स्वतः पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, केवल तत्फलोपाय कर्मका निर्देश शास्त्र करता है। जो स्वर्ग चाहता है पर उसका उपाय नहीं जानता, उसके प्रति शास्त्र कहता है—यदि स्वर्ग चाहते हो, तो याग करो, चाह न हो मत करो। ऐसा बोधन करनेपर यदि वह नहीं करता, तो शास्त्राभङ्ग नहीं होता, वह तो उसकी इच्छापर निर्भर है।] तो भी प्रारब्धकाम्य अवश्य ही समाप्त होनेवाला है, अतः प्रारब्ध भी नित्यतुल्य ही है। यदि प्रारब्धकर्मवश युद्ध प्राप्त है, तो तुम परिहार नहीं कर सकते हो, दोनों तुल्य है। नित्यका परिहार नहीं करना चाहिये। प्रारब्धका परिहार स्वाधीन ही नहीं है, इसलिये दोनोंमें अपरिहार्यत्व तुल्य है अथवा आत्मनित्यत्वपक्षमें ही दोनों श्लोंका अर्थ है। परम आस्तिक (परलोकफलोद्देशसे विहित कर्मानुष्ठान) अर्जुनको वेदबाह्य (आत्मानित्य) पक्ष स्वीकार नहीं हो सकता। इस अर्थमें उक्तश्लोकाक्षरार्थ योजना इस प्रकार है—नित्य जो देहेन्द्रियादिसंसर्गवश जात है वह नित्यजात है [यद्यपि आत्मानित्य है तथापि अनित्य शरीरके सम्बन्धसे जात भी व्यवहृत होता है, जैसे कि—'घटाकाशो जातः'। इस प्रकार इस आत्माको नित्य न होते हुए भी जात यदि मानते हो तथा नित्य होते हुए भी इसको शरीरमरणसे मृत (मरा हुआ) मानते हो, तो भी तुम्हें शोक करना उचित नहीं है, यह प्रतिज्ञा कर इसमें हेतु कहते हैं—'जातस्य हि' इत्यादिसे। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मर चुका है उसका जन्म भी निश्चित ही होगा, इसलिए अपरिहार्य अर्थमें मूढ़जनोंको शोक होता है, विद्वानोंको नहीं। अतः तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। नित्यमें जायत्व और मृतत्वका व्याख्यान तो हम पहले ही कर चुके है और सब तो स्पष्ट ही है। इस

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे भारत ! पृथिवी आदि भूतमय ये जितने शरीर हैं वे सब जन्मके पहले अव्यक्त ही रहते हैं—इनकी उपलब्धि नहीं होती, जन्म लेनेके बाद और मृत्युके पूर्व तक ये सभी व्यक्त—प्रत्यक्षविषय रहते हैं एवं मृत्यु हो जाने पर वे फिर अव्यक्त—अनुलब्ध हो ही जाते हैं। ऐसी स्थितिमें इन भूतोंके विषयमें क्या विलाप करना ? ॥ २८ ॥

'जातस्य हि' इत्यादिना। नित्यस्य जातत्वम्, मृतत्वं च प्राग्व्याख्यातम्, स्पष्टमन्यत्। भाष्यमप्यस्मिन्पक्षे योजनीयम् ॥ २७ ॥

तदेवं सर्वप्रकारेणाऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपादितम्, अथेदानीमात्मनोऽशोच्यत्वेऽपि भूत-संघातात्मकानि शरीराण्युद्दिश्य शोचामीत्यर्जुनाशङ्कामपनुदति भगवान्—'अव्यक्तादीनि' इति। आदौ जन्मनः प्रागव्यक्तानि—अनुपलब्धानि भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि मध्ये-जन्मानन्तरं मरणात्प्राग् व्यक्तानि उपलब्धानि सन्ति। निधने पुनरव्यक्तान्येव भवन्ति। यथा स्वप्नेन्द्रजालादौ प्रतिभासमात्रजीवनानि शुक्तिरूप्यादिवन्न तु ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा स्थितानि, दृष्टिसृष्टयभ्युपगमात्। तथा च "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथे" तिन्यायेन, मध्येऽपि,

पक्षमें भाष्यकी भी योजना करनी चाहिये। [वास्तवमें तो आत्माके] नित्यत्वपक्षमें ही भाष्यकारका तात्पर्य है। परमास्तिक अर्जुनको वेदबाह्य (आत्मानित्य) पक्ष अभिमत नहीं है, यह शङ्का भी ठीक नहीं है, है, क्योंकि भगवान्का यह अभ्युपगम वाक्य है—इत्यादि उत्कर्षदीपिकामें स्पष्ट है] ॥ २७ ॥

इस प्रकारसे आत्मामें अशोच्यत्वका उपपादन हुआ। अब आत्मा अशोच्य है, यह ठीक है, फिर भी पञ्चभूतात्मक शरीरके उद्देश्यसे शोक करता हूँ—अर्जुनकी इस शङ्काका भगवान् निवारण करते हैं—'अव्यक्तादीनि' इत्यादि से। आदिमें यानी उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्त (अग्राह्य) पृथिव्यादिभूतमय शरीर, मध्यमें यानी जन्मके बाद और मरणसे पूर्व (जन्ममरणके मध्यमें) व्यक्त यानी प्रत्यक्षविषय हैं। मरणमें पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं। जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल आदिमें [सिनेमाका संग्रह है] जीवन एकमात्र प्रतिभासिक ही होता है। जितने कालतक भान है उतने कालतक स्वाप्निक तथा ऐन्द्रजालिक पदार्थोंकी स्थिति रहती है। चांदी और सीपके समान वे भी हैं। ज्ञानसे पहले या बाद में वे नहीं रहते। दृष्टिसृष्टिका इसीमें स्वारस्य है। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (जो आदि अन्तमें नहीं हैं। वह वर्त्तमानकाल

न सन्त्येवैतानि। "नासतो विद्यते भावः" इति प्रागुक्तेश्च। एवं सति तत्र तेषु मिथ्याभूतेष्वत्यन्ततुच्छेषु भूतेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापः, न कोऽप्युचित इत्यर्थः। न हि स्वप्ने विविधान्बन्धूनुपलभ्य प्रतिबुद्धस्तद्विच्छेदेन शोचति पृथग्जनोऽपि। एतदेवोक्तं पुराणे— "अदर्शनादापतितः पुनश्चा दर्शनं गतः"। भूतसंघ इति शेषः। तथाच शरीराण्यप्युद्दिश्य शोको नोचित इति भावः। आकाशादिमहाभूताभिप्रायेण वा श्लोको योज्यः। अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः—प्रागवस्था येषां तानि, तथा व्यक्तं नामरूपाभ्यामेवाभिव्यक्ताभ्यां प्रकटीभूतं, न तु स्वेन परमार्थसदात्मना मध्यं-स्थित्यवस्था येषां, तादृशानि भूतानि आकाशादीनि अव्यक्तनिधनान्येवाव्यक्ते स्वकारणे मृदीव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां, तेषु भूतेषु का परिदेवनेति पूर्ववत्। तथा च श्रुतिः "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृ०उ०१-४-७) इत्यादिरव्यक्तोपादानतां

से भी वैसा ही यानी अवर्तमान ही है।) इस न्यायसे मध्यमें भी वे नहीं हैं 'नासतो विद्यते भावः' यह पहले कह चुके हैं। इस प्रकारकी स्थिति रहते मिथ्याभूत अतएव तुच्छ भूतोंमें कौन-सी परिदेवना या कौन-सा दुःखप्रलाप ? ['विलापः परिदेवनम्' यह अमरकोश है, प्रकृतमें दुःखविषयमें प्रलाप है, इसलिये दुःख प्रलाप है।] इस विषयमें तुम्हारा कोई भी प्रलाप उचित नहीं है, यह तात्पर्य है। विविध बन्धुवर्गोंको देखकर स्वप्नोत्थित मूढ़जन भी उनको न देख उनके लिए शोक नहीं करते, क्योंकि वे भी यह जानते हैं कि उस समय जिनको हम देख रहे थे, वे वास्तविक नहीं थे, केवल दर्शनमात्र था, यह प्रकृतिकी लीला (तमाशामात्र) है। तुम विद्वान् होकर भी वैसे पदार्थोंको शोचते हो इससे अधिक आश्चर्य क्या है। पुराणमें भी यही कहा गया है—'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।' भूतसमूहके अदर्शनसे आया और अदर्शन को पुनः प्राप्त हो गया। यहांपर 'भूतसंघः' यह शेष है। सारांश यह है कि शरीरको उद्देश्य बनाकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। अथवा आकाशादि महाभूताभिप्रायपरक इस श्लोककी योजना करनी चाहिये। अव्यक्त-अविद्योपहित चैतन्य-अव्याकृत प्रपञ्चकारणावस्था जिनकी है वे तथा जिनकी मध्यावस्था व्यक्त यानी आविद्यक नाम और रूपोंसे ही प्रकट है, स्वकीय परमार्थ सद्रूपसे प्रकट नहीं है एवंभूत आकाशादिका अव्यक्त स्वकारण पदार्थमें निधन (लय) नियमित है। जैसे मिट्टीसे उत्पन्न घटका मिट्टीमें नियमसे लय होता है, वैसे ही अव्यक्तसे उत्पन्न आकाशादिका अव्यक्तमें लय नियत है। इनकी परिवेदना क्या अर्थात् इनके विषयमें शोक-दुःखादि करना व्यर्थ है। देखिये—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' यह श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्चमें अव्यक्तोपादानता दिखलाती है। अव्यक्त लयस्थान है, यह अर्थतः सिद्ध है, कारण ही में

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आत्माको कोई आश्चर्य-सा देखता है तथा कोई दूसरा इसे आश्चर्य-सा कहता है एवं कोई अन्य विद्वान् तो आत्माको आश्चर्य-सा सुनता है तथा सुनकर भी इसे कोई भलीभाँति नहीं जान पाता ॥२९॥

सर्वस्य प्रपञ्चस्य दर्शयति। लयस्थानत्वं तु तस्यार्थसिद्धम्, कारण एव कार्यलयस्य दर्शनात्। ग्रन्थान्तरे तु विस्तरः। तथा चाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादिभूतान्यप्युद्दिश्य शोको नोचितश्चेत्, तत्कार्याण्युद्दिश्य नोचित इति किमु वक्तव्यमिति भावः। अथवा सर्वदा तेषामव्यक्तरूपेण विद्यमानात्वाद्विच्छेदाभावेन तन्निमित्तः प्रलापो नोचित इत्यर्थः। भारतेत्यनेन संबोधयञ्शुद्धवंशोद्भवत्वेन शास्त्रीयमर्थं प्रतिपत्तुमर्होऽसि, किमिति न प्रतिपद्यसे इति सूचयति ॥ २८ ॥

ननु विद्वांसोऽपि बहवः शोचन्ति, तत्किं मामेव पुनः पुनरेवमुपालम्भसे। अन्यच्च

कार्यका लय होता है। मृद्घटन्यायसे कारणमें कार्यका लय दृष्ट है। पुराणादिमें ग्रन्थान्तरमें इसका विस्तार है। विस्तृत विवरण देखनेवालोंको पुराणादिमें देखना चाहिये। सारांश यह है कि अज्ञानकल्पित तुच्छ आकाशादि भूतोंके भी उद्देश्यसे शोक करना उचित नहीं है यानी कारणोंकी जब यह अवस्था है, तो उनके कार्य शरीरादिके विषयमें क्या कहना ? अर्थात् कैमुतिक न्यायसे शोकानौचित्य सिद्ध है, क्योंकि कारण से विपरीत-स्वभाव कार्य नहीं होते अथवा सर्वदा अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहनेके कारण उनका कभी विच्छेद नहीं होता, अतः उनके लिए प्रलाप करना उचित नहीं है, यह अर्थ है। 'भारत' इस शब्दसे सम्बोधित करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम विशुद्धवंशोत्पन्न हो, शास्त्रीय अर्थ समझनेके योग्य हो, फिर क्यों नहीं समझते हो। [वस्तुतः शरीराद्यव्यक्तोंके उद्देश्यसे यह श्लोक है। पञ्चमहाभूतपरक नहीं। अतएव भाष्यमें 'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः। नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥'—इसका अवतरण है। अर्जुन पञ्चमहाभूतोंके विषयमें नहीं शोच कर रहे थे, किन्तु भीष्मपितामहादिके शरीरोंके विषयमें शोच कर रहे थे, क्योंकि उन्हींका उस समय निधन प्रसक्त था, अतः प्रतिषेध भी उसीका उचित है। हाँ, उस तात्पर्यसे भी श्लोकको संगति है, यह दूसरी बात है। कारणस्वभावका कार्यमें प्रदर्शन करनेसे अपरिहार्यत्व दृढ़ होता है] ॥ २८ ॥

शङ्का—बहुतसे विद्वान् भी शोच करते हैं, फिर इस विषयमें आप बार-बार मेरी ही शिकायत क्यों कर रहे हैं अर्थात् बार-बार मुझे ही क्यों कोस रहे हैं। 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' इस न्याय

"वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते" इति न्यायात्त्वद्वचनार्थाप्रतिपत्तिरपि मम न दोषः, तत्रान्येषामपि तवेवाऽऽत्मापरिज्ञानादेव शोक आत्मप्रतिपादकशास्त्रार्थाप्रतिपत्तिश्च तवाप्यन्येषामिव स्वाशयदोषादिति नोक्तदोषद्वयमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—'आश्चर्यवत्' इति ।

के अनुसार यदि मुझे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, तो फिर वह भी आपका ही दोष है, मेरा नहीं। क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि है कि श्रोता न समझे, तो वक्ताकीही जड़ता समझी जाती है। वक्तामें समझानेकी शक्ति ही नहीं है। श्रोताके अज्ञान-संशयको प्रथम समझना चाहिये कि इसको कैसा संशय है, किस विषयमें अज्ञान है। इसको पूरा समझ कर वक्ता प्रथम अज्ञानका निराकरण करे। तदनन्तर संशयकोटिका निराकरण करे। ज्ञेय अर्थको सहेतुक स्वल्प (परिनिष्ठित) शब्दोंसे कहे, जिससे कि श्रोताके हृदयमें वह बैठ जाय। यदि वक्ता समझानेमें निपुण नहीं है, तो अधिकारी श्रोता भी नहीं समझ पाता। न समझनेसे श्रोतामें जाड्य-निर्णय उचित नहीं है। सम्भव है कि वक्ता ही में जड़ता हो, फिर श्रोताके न समझनेपर उसका कोई दोष नहीं है, बल्कि दोष है वक्ताका। अतः उसको ही सावधान होना चाहिये।

सामाधान—हां, और लोग भी शोक करते हैं, वे भी तुम्हारे ही सदृश हैं। तुम्हारी तरह उन्हें भी यथार्थ आत्मज्ञान नहीं हो पाया है और न उन्हें आत्मप्रतिपादक शास्त्रोंकी प्रतिपत्ति ही हुई है। उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। आशयका ग्रहण यहां वासनाके तात्पर्यसे है। वासना सूक्ष्म, परन्तु प्रबल दोष है। दोषका लक्षण न्यायसूत्रमें प्रवर्तनालक्षणादोष कहा है। राग, द्वेष और मोह ये इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायमें पुरुषकी प्रवृत्ति कराते हैं, अतः ये स्थूल दोष हैं। सारांश यह कि दूषितमनोवृत्ति पुरुष ही आत्मज्ञानाभावसे शोकसन्तप्त होते हैं। तुम्हें उनके समान शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुममें तो पूर्वोक्त दोनों दोष नहीं है। आपमें समझानेकी शक्ति नहीं है, इसलिए मैं नहीं समझ सका, इस अर्जुनाभिप्रायशङ्कासे आत्माको भगवान् दुर्विज्ञेय कहते हैं—'आश्चर्यवत्' इत्यादिसे। [आत्मा ही दुर्विज्ञेय स्वभाव है। श्रोता और वक्ताका दोष नहीं है। प्रतिपाद्य विषय ही दुर्विज्ञेयस्वभाव है। जो कुशाग्रबुद्धि महापुरुषसे असकृत् सुनने पर भी हृदयंगम नहीं कर सकता, इसीसे श्रवणके अनन्तर मननादिका विधान 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतिने किया है। इस वाक्यके तीन अर्थ सरस्वतीजीने किये हैं—'कश्चिदाश्चर्यवत् एनं पश्यति' ऐसी वाग्योजना करनेपर 'आश्चर्यवत्' का सम्बन्ध 'एनम्' के साथ है। दर्शनकर्म आत्मामें आश्चर्यवत्त्व विवक्षित है। 'कश्चिदेनं आश्चर्यवत्पश्यति' ऐसा वाग्विन्यास करके 'आश्चर्यवत्' का दर्शनके साथ सम्बन्ध करनेसे दर्शनक्रियामें आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत होता है। 'आश्चर्यवत्कश्चिदेनं पश्यति' इस पदसमभिव्याहारसे दर्शनकर्ता कश्चित्पदार्थमें आश्चर्यवत्त्व इष्ट है। प्रथमोक्त अर्थका पहले निरूपण करते हैं—] एनम् प्रकृत-

एनं प्रकृतदेहिनमाश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानमाविद्यकनानाविधविरुद्धधर्मवत्तयो सन्तमप्यसन्तमिव स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवाऽऽनन्दघनमपि दुःखितमिव निर्विकारमपि सविकारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव संभावितचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति

देहिनम्—जिस आत्माके विषयमें हम लोग विचार कर रहे हैं उस प्रकृत देहमें अभिव्यक्त आत्मामें आश्चर्यवत् लोगोंकी समझ है। 'अद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानम्' व्याकरणके इस वाक्य के अनुसार आश्चर्यवत्पदका व्युत्पत्त्यर्थ है। ['विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्' अमरकोशके इस वाक्य के अनुसार आश्चर्यका अद्भुत अर्थ है। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे तृतीयान्त आश्चर्यशब्दसे 'वत्' प्रत्यय हुआ है। 'आश्चर्यप्रतियोगिकसादृश्यः' का वर्तमानमें अन्वय है। आश्चर्यप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगि आत्मस्थिति, यह शब्दार्थ हुआ। जो जिस प्रकारकी प्रतीतिके योग्य न हो और उस प्रकारसे वह प्रतीत होता हो, तो उसको आश्यर्यवत्प्रतीतिविषय कहते हैं। आत्मामें आश्यर्यको स्फुट कहते हैं—] वस्तुतः सकलधर्मशून्य आत्मा स्वप्रकाश सर्वसाधक स्वयं सिद्ध है, तथापि अविद्यासे अनेक विरुद्ध धर्मोंसे प्रतीत होता है। कोई इस आत्माको आश्चर्यवत् देखता है—रहते हुए भी नहीं-सा, स्वप्रकाश चैतन्यरूप होते हुए भी जड-सा, आनन्दघन होते हुए भी दुःखित सा, निर्विकार रहते हुए भी इसे विकारयुक्त-सा, नित्य होते हुए भी अनित्य-सा, प्रकाशमान होते हुए भी अप्रकाशमान-सा, ब्रह्मभिन्न होते हुए भी उससे पृथक्-सा, मुक्त होते हुए भी बद्ध-सा तथा अद्वितीय भी इसे सद्वितीय-सा देखता है। वस्तुतः जिसके योग्य नहीं है यही प्रतीयमान आत्मगत आश्चर्य है। [विरोधाभासालङ्कारालङ्कृत वाक्यसे वास्तविक और कल्पित विरुद्ध अनेकधर्मप्रकारक आत्मप्रतीति शब्द द्वारा स्पष्ट दिखलाते हैं—सदा वर्तमानमें 'जातो मृतः', 'नास्ति' इत्यादिसे असत्त्वका व्यवहार, स्वप्रकाश चैतन्यमें 'न जानामि जडः' इत्यादिका, आनन्दमयमें 'देवदत्तो दुःखी रुग्णः' इत्यादिका, निर्विकारमें सविकारका यानी बालः, युवा, स्थविरः—इसका, नित्यमें 'मृतो नष्टः' इत्यादि अनित्यका, स्वयं प्रकाशमानमें 'न बुद्ध्यते, न चेतयते' इत्यादि अप्रकाशमानका ब्रह्माभिन्नमें 'नाहमीश्वरः ब्रह्म वा' इत्यादिका, सदा मुक्तमें 'अहं संसारी बद्धः' इत्यादिका, अद्वितीयमें सद्वितीयका व्यवहार तथा एक चन्द्रमामें अनेक चन्द्रका भान काल्पनिक नानाविध विरुद्ध धर्मोंके रहनेसे आत्मामें होता है।] इस प्रकार और भी अनेक धर्मोंकी सम्भावना है। 'ब्राह्मणः क्षत्रियः गौरः कृशः' इत्यादि अनेक धर्मप्रकारक प्रतीतिके विषय आत्माको देखता है। पूर्वपूर्व वास्तविक स्वरूप है। उत्तरोत्तर इवशब्दघटित वाक्य प्रदर्शित पूर्वविरुद्ध धर्म आविद्यक है। विरुद्धानेकधर्मप्रकारकप्रतीतिविषय आत्माका यथार्थस्वरूपनिश्चय सहज नहीं है, किन्तु शास्त्राचार्योपदेशसे पवित्रात्माको होता है, सबको नहीं होता। उपदेश समान होता है। जो शुद्धाशय हैं, उनको ज्ञान होता है। जो अशुद्धाशय हैं, उनको नहीं। जैसे कि मेघमुक्त जल समान है, किन्तु आश्रयभेदसे मधुर, अम्ल, लवण

शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामाविद्यकसर्वद्वैतनिषेधेनपरमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्यजन्यायाम् सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन (ए) साक्षात्करोति, कश्चि-

आदि भेदसे अनेक प्रकार का होता है। अश्रोत्रियाचार्यकी व्यावृत्तिके लिए शास्त्रोंका उपादान है। व्युत्पन्न स्वतः शास्त्रसे आत्मज्ञानी हो सकता है, इस भ्रमकी व्यावृत्तिके लिए आचार्यका ग्रहण है। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि वाक्योंसे आत्मज्ञान एकैकसे नहीं होता, किन्तु शास्त्र और आचार्योपदेश दोनोंसे होता है। शास्त्र अभ्यर्हित और अल्प अच्वाला है, इसलिए पूर्वमें शास्त्रका निर्देश है। यद्यपि आचार्यके विना भी व्युत्पन्नको शास्त्र द्वारा आत्मज्ञान शाब्दात्मक हो सकता है, तथापि वह आत्मज्ञान मुक्तिजनक नहीं हो सकता, अतः वह विवक्षित नहीं है। यहाँ निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार आत्मज्ञानसे इष्ट है। साक्षात्कारज्ञानोत्पादनोपायका भी निर्देश कहते हैं—'नेह नानास्ति किञ्चन, 'सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः पश्येत्, एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रौतवाक्यसे आत्मा अद्वितीय परमार्थ सत् है, यह ज्ञात होता है। लेकिन घट, पट आदि अनेक पदार्थ आदि का प्रत्यक्ष उक्त ज्ञानमें विरोधी है। प्रत्यक्षमें लोककी अधिक श्रद्धा है और इसके सहायक अन्तःकरणके दोष हैं, जो श्रौतोक्तज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। यज्ञ, दान, तप आदि निरभिसन्धिकर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणके पाप—राग-द्वेषादि दोष निवृत्त होते हैं। तदनन्तर मन परिशुद्ध होता है, तदनन्तर आत्मैकत्वज्ञानोत्पत्तियोग्यतावश उक्त वाक्यसे घटादि प्रपञ्चनिषेधज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष शुक्ति-रजत, तथा रज्जु-सर्पादि असत्पदार्थका भासक भी होता है और स्वप्नमें तो असत्पदार्थोंका भान निश्चित ही है। अतः प्रत्यक्षोपस्थित द्वैत अविद्याकल्पित शुक्ति-रजतादिके समान है। इसलिये प्रतीयमानाधिकरणमें प्रतीतिकालमें भी नहीं है, किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है। इस भावनासे 'नेह नानास्ति' इत्यादि वाक्योंसे द्वैतप्रतिषेधमें विश्वास कर द्वैताभावविशिष्टात्मविषयक दृढ़ बोध होता है, यही बोध द्वैतज्ञानका बाधक है।

शङ्का—द्वैताभावविशिष्ट आत्मज्ञान द्वैतका बाधक नहीं हो सकता, प्रत्युत तत्साधक ही है। कारण कि द्वैतके विना विशिष्ट पदार्थ ही नहीं होता, विशेष्य विशेषणसमुदायात्मक विशिष्ट है।

समाधान—विशिष्टज्ञानोत्तर द्वैताभावोपलक्षित चैतन्यात्मविषय प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, एतदर्थ मात्रपद है, वही वास्तविक सकल द्वैतका निवर्तक है। निदिध्यासनोत्तर यह ज्ञान अन्तःकरणमें होता है। 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त महावाक्यसे उक्त ज्ञान होता है। एतादृश अन्तःकरणवृत्ति सब सुकृतोंका फल है। फलेच्छाशून्य बुद्धिसे अनुष्ठित नित्यादि कर्मसे पापनिवृत्ति होती है। तदनन्तर अन्तःकरण परिशुद्ध होता है। तब समाधिपरिपाक होता है यानी बहिर्विषयवृत्तिरहित मनसे निर्विकल्पक समाधि होती है, जिसको समाधिपरिपाक भी अर्थतः कहते हैं। तदनन्तर उक्त ज्ञान होता है। इसीको स्फुट करनेके लिये

उक्त विशेषण है। इसी ज्ञानको चरमवृत्ति भी कहते हैं। इसका विशेष परिचय करना आवश्यक है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्राभ्यासका मुख्य फल यही है। एतदर्थ ही संसारका त्याग कहा गया है। कर्तव्यकी समाप्तिकी यही सीमा है। इसको समझनेके लिये श्रोतागणको भी यथाशक्ति मनोयोग देना चाहिये। अनेकजन्मार्जित-सुकृतफलभूतशुद्धचैतन्यमात्रविषयकान्तःकरणवृत्तिमें आत्माका प्रतिबिंब पड़ता है। उसी प्रतिबिम्बको प्रतिफलित कहा है, वही आत्मा है। उसीको अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप जीव समाधिपरिपाकसे देखता है।

[शङ्का—आत्माका प्रतिबिम्ब आत्मासे भिन्न है, अतएव अवस्तुसत् है, आत्मा नहीं, फिर यह आत्मदर्शन कैसे हुआ ?

समाधान—प्रतिबिम्बसे भिन्न नहीं है, किन्तु बिम्बस्वरूप ही है, केवल अन्यत्र दर्शन भ्रम है, इसका निरूपण विस्तारसे बड़े ग्रन्थोंमें किया गया है।

शङ्का—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, अद्रेश्यम्, यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे यह समझाया गया है, कि शुद्ध आत्ममात्रविषयक मनोवृत्ति नहीं होती, इसलिये आत्मा विषय नहीं है, किन्तु विषयी है, फिर आप यहां चैतन्यमात्रविषयकान्तःकरणपरिणाम कैसे कहते हैं ?

उत्तर—सकलद्वैतप्रतिषेधविषयकवृत्तिसद्भावदशामें आत्मा शुद्ध नहीं रहता, कारण कि वृत्तिसत्ता से ही वह द्वैत है, केवल नहीं। जब उक्त वृत्ति भी नहीं रहती, तब आत्मा केवल शुद्ध रहता है, यह समझ लें। उस समय वृत्तिविषयत्वकी सम्भावना नहीं है।

शङ्का—यदि वृत्तिसत्तासे आत्मा शुद्ध नहीं रहता, तो अविद्यातत्कार्यविषयक शुद्धात्मज्ञानसे द्वैत-निवृत्ति जो आप कहते हैं, सो कैसे होगी, वृत्ति रहनेपर आत्मा शुद्ध ही नहीं रहता। उसके शुद्ध रहनेपर वृत्ति ही असम्भव है।

समाधान—वृत्ति रहनेसे आत्मा शुद्ध नहीं रहता, यह ठीक है, किन्तु वृत्ति शुद्धात्मविषयक है।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—वृत्तिसे आत्मा सद्वितीय होनेके कारण केवल नहीं है। यह तो आप समझ ही गये। अब वृत्तिको देखिये। वृत्ति केवलात्मविषयक है। स्वविषयक कर्म-कर्तृविरोधन्यायसे वह अपनेको विषय न कर केवल आत्माको ही अपना विषय बनाती है। अतएव वह अज्ञानतत्कार्यविषयक केवलात्मविषयक हुई। इसलिये समस्त द्वैतका निवर्तक है।

शङ्का—वृत्तिकालमें आत्मा शुद्ध नहीं है, फिर भी वृत्ति शुद्धात्मविषयक है। यह समझमें नहीं आता कि शुद्धात्मा नहीं है, तो भी तद्विषयक वृत्ति शुद्ध है—शुद्धात्मविषयक है, यह कैसे हो सकता है ? प्रत्यक्ष-वृत्ति वर्तमानार्थविषयक होती है, यह प्रत्यक्षात्मक वृत्ति वर्तमानार्थक ही है।

च्छमदमादिसाधनसंपन्नचरमशरीरः कश्चिदेव, न तु सर्वः। तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति, तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम्। आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव, यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य व्यञ्जकमाविद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपघ्नत्तत्कार्यतया स्वात्मानमप्युपहन्तीति। तथा यः कश्चिदेनं पश्यति, स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम्। यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि

समाधान—ठीक है, इसीसे तो भगवान् कहते हैं कि आत्मा दुर्बोध है। बुद्धिमानोंको भी शीघ्र समझमें नहीं आता। फिर दृष्टि दीजिये, वृत्तिदशामें आत्मा सद्वितीय है, किन्तु भास्यकोटिमें केवल आत्मा ही है। वृत्ति भासक है। भासकका भास्यकोटिमें प्रवेश नहीं है।

शङ्का—प्रदीपका तो दोनों कोटियोंमें प्रवेश है। वह घटका भासक और स्वयं भास्य भी है।

समाधान—नहीं, वहाँ भासक दो हैं—प्रदीप और चक्षु। प्रदीपकी भास्यकोटिमें केवल घटका ही प्रवेश है, प्रदीपका नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—एक तो एककर्म-कर्तृन्यायका स्मरण कीजिये, दूसरा घटादि प्रकाशके लिये प्रदीपादिकी इसलिये अपेक्षा होती है कि घटावरक अन्धकारकी अन्यथानिवृत्ति नहीं होती। प्रदीप तो अन्धकारका विरोधी होनेसे उससे आवृत ही नहीं हो सकता, फिर किसकी निवृत्तिके लिये प्रदीपकी आवश्यकता है। चक्षुकी भास्यकोटिमें घटादिवत्प्रदीपका भी प्रवेश है, किन्तु उस कोटिमें भासक चक्षुका प्रवेश नहीं है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि केवलात्मविषयक वृत्तिप्रतिफलित आत्माको जीव देखता है। इस दर्शनमें कठिनाई द्वैतभान के परिहारमें है। इन्द्रियाँ परागवृत्तिप्रवण होनेसे सुचिरबाह्यविषयाभ्यासपरायण होती हैं, इसलिये उनके प्रत्याहारार्थ योगाभ्यास परम आवश्यक है। इसके बिना उक्त ज्ञान दुर्लभ है।] शम-दम आदि साधनसे संपन्न विरक्त कोई महापुरुष उक्तात्मस्वरूप देखनेका अधिकारी है, सब नहीं हैं, इसलिये 'कश्चित्' है। [अब द्वितीय वाक्यार्थको कहते हैं—'तथा' इत्यादिसे] जो कोई भी आत्माको देखता है, सो भी आश्चर्यवत् है। 'आश्चर्यवत्' यह विशेषण दर्शनक्रियामें है। आत्मदर्शन भी आश्चर्यसे रहित नहीं है, किन्तु तन्मय है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—इसके रहस्यपर दृष्टिपात कीजिये। स्वयं स्वरूपसे तो मिथ्या है, परमार्थसत् आत्माका व्यञ्जक है। स्वयं अविद्यासे उत्पन्न है, फिर भी अविद्याका नाशक है। [उपजीव्यविरोध अन्याय है, तो भी यह उससे विरत नहीं होता। 'उपघ्नमाश्रये' इस सूत्रसे उपघ्न आश्रय अर्थमें साधु है।] उक्तज्ञान अन्तःकरण-परिणामविशेष है, इसलिये मूलभूत अविद्यामें आश्रित होकर अविद्याका विनाशक है। उसके द्वारा अपना

प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तद्वानिव व्यवहरति, सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति, व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽतः आश्चर्यवदेव भवति। यदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः। एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जानाति, स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासंभवात्, जानंस्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु। व्युत्थितचित्तोऽपि परेण ज्ञातुमशक्यः। यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि

भी नाशक है। [भाव यह है कि सकल द्वैतकी निवृत्ति उक्त तत्त्वसाक्षात्कारसे होती है, तो भी अद्वैत आत्मा नहीं हो सकता। दूसरा उक्त ज्ञान नहीं होगा, इसलिये इसकी भी निवृत्ति आवश्यक है। इसका निवर्तक यदि ज्ञानान्तर कहें, तो आत्मज्ञानसे सकल द्वैतकी निवृत्ति होती है, यह सिद्धान्त ही भङ्ग होता है। द्वैतोमें उक्त ज्ञान ही अवशिष्ट रह गया। तन्निवृत्त्यर्थं यदि ज्ञानान्तर कहें, तो फिर उसमें भी यही प्रश्न होगा कि उसकी निवृत्ति किससे होगी ? ज्ञानान्तरकी चर्चामें अनवस्था दोष है। अद्वैतात्मसिद्ध्यभाव होगा, इसलिये उक्त चरमवृत्तिको स्वनाशक भी मानना पड़ता है, इसमें दृष्टान्त निर्मलीका रज है। पङ्किल जलमें निर्मली घिसकर छोड़नेसे भूमिके रजको जलके निम्न भागमें वह बैठा देती है और स्वयं भी बैठ जाती है, जिससे जल स्वच्छ हो जाता है। एवं अग्नि काष्ठको नष्टकर स्वयं नष्ट हो जाती है, इत्यादि स्व-परनिवर्तकके अनेक उदाहरण है। स्व-परनाशक ऐसे ज्ञानको महात्मा लोग भी चाहते हैं। इसकी प्राप्तिके लिये वेदान्त-शास्त्रका उपदेश है, यह भी कौतुक ही है।] अब तृतीय वाक्यार्थको स्फुट करते हैं—'यः कश्चित्' इत्यादि से। जो कोई इसको देखता है, सो भी आश्चर्यवत् है। इस प्रकार 'आश्चर्यवत्' यह कर्ताका विशेषण है।

प्रश्न—इसमें क्या आश्चर्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्योंसे निवृत्त होकर भी प्रारब्ध कर्मवश अविद्वान् जैसा व्यवहार करता है। सदा समाधिनिष्ठ होकर भी समाधिसे उपरत होता है। उपरत होकर भी पुनः समाधिनिष्ठ होता है। प्रारब्ध कर्मके वश जैसा-जैसा उक्त कर्म चाहता है, वैसा-वैसा ज्ञानीको भी नाचना पड़ता है। जगद्विजयी होकर भी तुच्छ प्रारब्ध कर्मपर विजय नहीं कर सका, यह भी थोड़ा आश्चर्य नहीं है। पुरुषान्तरको दुष्प्राप्य आत्मैकत्वविज्ञानको पाकर सकल पुरुषोंकी श्रद्धा, आदर, स्तुति आदिका भाजन होता है, अतएव आश्चर्यवान् ही होता है। इस प्रकार आत्मा, उसका ज्ञान और उसका ज्ञाता इन तीनोंमें आश्चर्य है। अतः परम दुर्विज्ञेय आत्माको अनायास ही तुम कैसे जान सकते हो, यह अभिप्राय है।

[शङ्का—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे व्युत्पन्न 'वति' प्रत्ययान्तका क्रिया के साथ ही सम्बन्ध होता है, अन्यत्र नहीं। अतएव 'पर्वतो वह्निमान्, महानसवत्' इत्यादि प्रयोगके साधुत्वार्थं 'भवितुमर्हति' इसका अध्याहार किया जाता है। यहाँ द्रष्टा आदि अक्रियामें उक्तार्थका अन्वय कैसे ?

लाभ-पूजा-ख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्षत्वान्न ब्रवीत्येव। कथंचित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह—'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' इति। यथा जानाति, तथैव वदति। एनमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः। स चान्यः सर्वज्ञजनविलक्षणः। न तु यः पश्यति, ततोऽन्य इति व्याघातात्। अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम्। तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्रागाश्चर्यवत्त्वं व्याख्यातम्, क्रियायास्तु व्याख्यायते। सर्वशब्दावाच्यस्य

समाधान—अतएव यहाँ भी अवस्थान आदिका अध्याहार कर 'आश्चर्यवत् अवस्थितं आत्मानम्' अर्थात् आश्चर्यवत् अवस्थित आत्मा—इत्यादि यथायोग्य क्रियासम्बन्धको समझना चाहिये। इसी प्रकार उपदेष्टाके अभावसे भी दुर्विज्ञेय है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—जो आत्माको तत्त्वतः स्वयं जानता है, वही दूसरे को निश्चितरूपसे कह सकता है। जो स्वयं उस विषयमें अज्ञ है, वह दूसरोंको उपदेश क्या देगा ? जो जानता है, वह समाधिनिष्ठ होनेपर कहेगा कैसे ?

प्रश्न—समाधिसे व्युत्थित होनेपर तो कह सकता है।

उत्तर—हाँ, कह सकता है, परन्तु दूसरेको यह निश्चय करना ही कठिन है कि इस समय समाधिसे यह उपरतचित्त है। यदि क्रियाविशेषसे यह मालूम भी हो जाय और पूछा भी जाय, तो वे कहेंगे ही क्यों, उनका उसके कहनेमें निजी कोई स्वार्थ नहीं है। लाभ, पूजा, ख्याति आदि बाह्य आभ्यन्तर किसीकी उन्हें इच्छा तो है नहीं। हां, करुणासे सांसारिक दुःखमग्न पुरुषोद्धारेच्छासे यदि वह कहें भी, तो फिर वह परमेश्वरवत् दुर्लभ हैं, सबको नहीं प्राप्त हो सकते, यही कहते हैं—'आश्चर्यवत् वदति' इत्यादिसे। जैसा जानते हैं, वैसा ही कहते हैं। आत्माके परामर्शार्थ चकार है।

शङ्का—'यः पश्यति ततोऽन्यः वदति' ऐसा अर्थ गीतावाक्यसे आपाततः प्रतीत होता है, जो वर्तमान समयके अनुसार है, परन्तु भगवान्‌को वह अर्थ उस समय विवक्षित नहीं है।

समाधान—ईदृशकरुणामयस्वभाव मुमुक्षु उन सर्वज्ञ महर्षियोंसे भिन्न हैं। जो जानकर स्वयं तदानन्दानुभवनिपीतरसमय होकर एकक्षण भी तादृशानन्दसन्दोहानुभववियोगासहिष्णु किसीसे मिलते ही नहीं। जो आत्माको देखता है, उससे अन्य कहता है, यह गीताका अर्थ नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—इस अर्थमें व्याघात दोष स्पष्ट है। जो ज्ञाता ही नहीं, वह तत्त्वतः कहेगा कैसे ? इस वाक्यार्थमें भी पूर्व वाक्यार्थवत् कर्ता, कर्म और क्रियामें आश्चर्यवत्त्वका सम्बन्ध समझना चाहिए। कर्म-

शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं, तदाश्चर्यवत् । तथा च श्रुतिः—"यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' (तै. उ. प्र. २० अनु. ९) इति । केनापि शब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनः विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणया कल्पितसंबन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनम्, तदपि निर्विकल्पक साक्षात्काररूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः । अथवा विना शक्ति, विना लक्षणां, विना संबन्धान्तरं

कर्तामें आश्चर्यवत्त्वका व्याख्यान पूर्वमें कर चुके हैं। अब वदनक्रियागत आश्चर्यवत्त्वका व्याख्यान करते हैं—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे ।

यह निश्चय हो चुका है कि ब्रह्म किसी शब्दका वाच्य नहीं है, अतएव वह सर्वशब्दावाच्य है। इसमें कारण यह है कि किञ्चित् धर्मविशिष्ट ही शब्दवाच्य होते हैं। स्वप्रवृत्तिनिमित्त धर्मविशिष्टके वाचक शब्द होते हैं, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा सकलधर्मशून्य चिन्मात्र है, अतएव शब्दवाच्य नहीं है। शब्दसे सप्रकारक ज्ञान होता है, इस नियममें, यह भी हेतु है कि केवल व्यक्तिमात्रका वाचक शब्द नहीं माना जाता। आत्मा व्यक्तिमात्र है, अतः शब्दवाच्य नहीं है।

शङ्का—तो फिर 'वदते' यह कैसे कहा ? क्या कोई कहता है ?

समाधान—इसीसे तो 'आश्चर्यवत्' कहा। कहनेका साधन नहीं है, फिर भी कहता है, यही तो आश्चर्य है।

प्रश्न—आखिर कहता तो है, सो कैसे ?

उत्तर—किसी भी जात्यादिविशिष्टार्थवाचक शब्दका शुद्धात्मा वाच्य नहीं है, यह तो समझ चुके हो, फिर भी जहदजहल्लक्षणासे विशिष्ट वाचक शब्दोंका काल्पनिक सम्बन्ध उक्त आत्मामें मानकर लक्ष्यतावच्छेदक धर्मके विना उसका प्रतिपादन किया जाता है, सो भी शाब्दज्ञान परोक्ष नहीं है, किन्तु निर्विकल्पात्मक साक्षात्कारस्वरूप है, यह आश्चर्य है।

[भाव यह है—शब्द दो प्रकारके होते हैं—वाचक और लक्षक। रूढ-यौगिकादि भेदसे वाचक चार प्रकारके होते हैं। शुद्धगौणादिलक्षणाभेदसे लक्षक अस्सी प्रकारके होते हैं। इनका विशेषनिरूपण साहित्यदर्पणादि साहित्यशास्त्रोंमें है। लक्षणाका अवान्तरभेद है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा। जो शब्द स्वमुख्यार्थके दोनों विशेष्य-विशेषणोंका त्यागकर अर्थान्तरके बोधक होते हैं उनमें जहत्स्वार्थलक्षणा मानी जाती है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः'। जो अपने उक्त दोनों अंशोंका न त्यागकर अधिक अर्थ कहते हैं उनमें अजहत्स्वार्था लक्षणा मानी जाती है। जैसे कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'। यहाँ काकशब्द स्वार्थके साथ दधिभक्षक प्राणिमात्रपरक है, क्योंकि दधिकी रक्षामें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य है,

काकसे द्वेष नहीं है। जहदजहल्लक्षणा उसमें है, जो शब्द अपने विशेषण अंशका त्यागकर केवल विशेष्य अंशमात्रको कहता है। जैसे कि 'तत्त्वमसि, सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि। यहाँ तच्छब्द सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यका वाचक है। 'त्वम्' शब्द किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यका वाचक है। विशिष्टपदार्थद्वयका अभेद नहीं हो सकता। सर्वज्ञत्व और किञ्चिद्ज्ञत्व ये दोनों एक नहीं हो सकते, इसलिये विशेषणीभूत सर्वज्ञत्व और किञ्चिद्ज्ञत्वका त्यागकर 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद केवलचैतन्यमात्रके उक्त लक्षणासे बोधक होते हैं। यद्यपि अन्यलाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तरके बोधक होते हैं, इसलिये उन शब्दोंसे निर्विकल्पक शाब्दबोध नहीं होता, परन्तु जिन शब्दोंने स्वप्रवृत्तिका त्यागमात्र किया, अर्थान्तरका ग्रहण नहीं किया, उनसे निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक ही बोध होता है। प्रकारविशेष शब्दोत्थ नहीं है, इसलिये व्यक्तिविशेष ही का बोध होता है। शाब्दबोधमें शब्दोपस्थित अर्थका ही भान होता है, यह नियम है।

प्रश्न—'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें उक्त लक्षणा माननेकी क्या आवश्यकता ?

उत्तर—अन्यथा 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थका अभेदबोध न होगा। भेदबोधजनक सामग्री है नहीं। सर्वथा बोध न होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति होगी।

प्रश्न—यह तो आप विपरीत ही कहते हैं, चैतन्यमात्रकी पदद्वयसे लक्षणया यदि उपस्थित मानेंगे, तो 'घटो घटः' की तरह यहाँ भी शाब्दबोध नहीं होगा। अभेदविषयक शाब्दबोधमें विरूपोपस्थिति कारण है। विभिन्नधर्मद्वयप्रकारक एकार्थविषयकोपस्थिति अभेदप्रकारक तत्संसर्गक शाब्दबोधमें कारण है। जैसे—'नीलो घटः' इत्यादि। नीलत्वघटत्वरूपधर्मद्वयप्रकारक घटविशेष्यकोपस्थितिरूपसे शाब्दबोध होता है। प्रकृतमें यदि 'तत्' और 'त्वम्' पदसे चैतन्यमात्रकी उपस्थिति मानियेगा, तो उक्त बोधानुपपत्ति वज्रलिप्त होगी—'शुष्के पतिष्यामीति बुद्ध्या लंघयतः कर्दमे निपातः' इस न्यायकी आपत्ति होगी। किञ्च, आत्मा असङ्ग है, इसलिये यदि शब्दका शक्तिरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव शब्दवाच्य आत्मा नहीं है, तो लक्षणापक्षमें भी दृष्टि दीजिये। 'लक्षणा शक्यसम्बन्धः' इत्यादि वचनोंसे मुख्यार्थसम्बन्धवान्‌में ही लक्षणा भी होती है। सम्बन्धशून्यमें शक्तिवत् लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः प्राचीनोंसे स्वीकृत जहदजहल्लक्षणा-पक्ष उपादेय नहीं है।

उत्तर—ठीक है, इसी अरुचिसे मूलकारने कहा है—'विना सम्बन्धान्तरम्।' उक्त कारणसे शक्ति-लक्षणा न सही, तात्पर्याख्यावृत्तिसे तत्त्वंपदसे शुद्धात्मविषयक बोध होगा। शब्द, वाच्य या लक्ष्यमें प्रमाण नहीं है, किन्तु तात्पर्यविषय अर्थमें प्रमाण माना जाता है। 'विषं भुङ्क्ष्व' यह वाक्य शत्रुगृहभोजननिवृत्ति-तात्पर्यपरक होनेसे उसी अर्थका तात्पर्यवृत्तिसे बोधक होकर प्रमाण है।

सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं, तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्। नच विना संबन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसंबन्धरूपानेकसाधारणत्वात्। तात्पर्यविशेषान्नियम इति चेत्, न, तस्यापि सर्वान्प्रत्यविशेषात्। कश्चिदेव

प्रश्न—तात्पर्याख्या वृत्ति यदि आत्मामें मानेंगे, तो आत्मा ससङ्ग हो ही गया, फिर शक्ति और लक्षणा माननेमें क्या अपराध है ? असङ्गत्वरक्षार्थं शक्ति और लक्षणाका त्याग किया। तात्पर्याख्या वृत्ति माननेसे उक्त रक्षा तो नहीं हुई, किन्तु वही 'घट्टकुटीप्रभात' न्यायानुस्मृति हुई।

उत्तर—ठीक है, इसी तात्पर्यसे 'सुषुप्तोत्थापक वाक्यवत्' कहते हैं। भाव यह है—जो पुरुष सुषुप्त है, उसके जागरणार्थ कोई उसका नाम लेकर पुकारता है कि 'अये देवदत्त' इस पर वह जाग जाता है। एक बार पुकारनेसे यदि न जाग सका, तो कई बार पुकारनेसे तो अवश्य ही जाग जाता है, यह तो निश्चित ही है। अब विचारना यह है कि उस शब्दका सम्बन्ध अपनेमें समझकर अर्थात् 'मैं' देवदत्तपद वाच्य हूँ, मेरे जगानेके लिये इस शब्दका प्रयोग हो रहा है, यह समझकर जागता है, अथवा शब्दसम्बन्धज्ञानके विना ही। प्रथम पक्षका सम्भव नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिदशामें मन स्वकारणमें लीन है, इसलिये उसमें उक्त सम्बन्धज्ञान हो ही नहीं सकता। सम्बन्धज्ञानके विना केवल शब्दमात्र अगृहीतसम्बन्ध सुषुप्तपुरुषको बोध कराता है। हमें जागना चाहिये, यह समझकर ही जागता है। अन्यथा शब्दव्यापारसे पूर्व भी जागरणापत्ति हो जायगी। विना जागे शब्द भी नहीं सुन सकता, सम्बन्धग्रह तो दूर है। विना शब्द सुने जागता है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि शब्दोच्चारणकालिक जागरण यदि शब्दजन्य न होता, तो तदुच्चारणसे पूर्वमें भी जाग जाता, तथा यदि सुषुप्तका बोधक शब्द न मानियेगा, तो उसमें प्रबोधकारणत्वज्ञान न होनेसे जागरणार्थ कोई शब्द प्रयोग हो नहीं करेगा। अन्वय-व्यतिरेकसे शब्दप्रबोधका कारण है, यह लोग जानते ही हैं, इसलिये अगृहीतसम्बन्ध शब्द व्यक्तिविशेषका बोधक होता है, यह 'गले पादुका' न्यायसे मानना पड़ता है। तद्वत् 'तत्त्वमसि' आदि शब्द भी अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, अतः प्रकृतमें शक्ति-लक्षणाका विचार करना 'काकदन्तपरीक्षावत्' निष्फल है।] प्रकृतमें आश्चर्य व्यक्त करते हैं—अथवा उक्त रीतिसे तत्त्वमस्यादिवाक्यमें न शक्ति है, न लक्षणाग्रह है, न वृत्त्यन्तर-तात्पर्याख्यादिवृत्तिग्रह ही है, तो भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य सुप्तोत्थापक वाक्यके समान आत्मबोधक है, यह आत्मप्रतिपादन शक्ति आदि सम्बन्धके विना आश्चर्य है। शब्दसामर्थ्य वाणीके अगोचर है अर्थात् विना शक्तिग्रह, विना लक्षणा या विना किसी अन्य सम्बन्धके सोये हुए पुरुषको उठानेवाले वाक्यकी तरह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जो आत्मतत्त्वप्रतिपादन है वह आश्चर्यवत् है।

तात्पर्यविशेषमवधारयति न सर्वं इति चेत्, हन्त तर्हि पुरुषगत एव कश्चिद्विशेषो निर्दोषत्वरूपो नियामकः। स चास्मिन्पक्षेऽपि न दण्डवारितः। तथा च यादृशस्य शुद्धान्तः-

---

शङ्का—बोधक स्वसम्बद्ध अर्थंका बोधक होता है, असम्बद्धका नहीं। अन्यथा एक ही शब्दसे असम्बद्धत्वाविशेषात् सब अर्थोंका बोध हो सकता है। शेष शब्द ही व्यर्थ हो जायँगे और असम्बद्धार्थं बोधपक्षमें नियामकाभावसे यह निश्चय नहीं हो सकेगा कि इस वाक्यसे यही अर्थं कहा गया है, अर्थान्तर नहीं। 'घटमानय' यह वाक्य सुनने पर भी घट लावे अथवा पटादि, यह संशय होगा ही। ऐसी दशामें शब्द द्वारा निश्चित असन्दिग्ध प्रवृत्ति न होगी, इस प्रकार लोकमर्यादाका भङ्ग हो जायगा, इसलिये लक्षणादि वृत्ति जरूर माननी चाहिये।

समाधान—लक्षणापक्षमें भी तो यही शङ्कापिशाची है, शक्यसम्बन्धवान्में लक्षणा मानते हैं, तो शक्यसम्बन्ध तो एक ही व्यक्तिमें नहीं, किन्तु अनेक व्यक्तिसाधारण है, अतः यह निर्णय करना कठिन है कि अमुक व्यक्तिमें ही लक्षणा है, व्यक्त्यन्तरमें नहीं। अतः 'भक्षितेऽपि लशुने व्याधिर्न शान्तः' इस न्याय से लक्षणा वृत्ति माननेपर भी अमुक व्यक्ति ही अमुक पद का लक्ष्य है इस निर्णयके विना शब्दसे असन्दिग्ध प्रवृत्ति न होगी।

तात्पर्य विशेषके निर्णयसे व्यक्तिविशेषका निर्णय कर सकते हैं—जैसे 'सैन्धवमानय' इस वाक्यमें सैन्धवशब्द अश्व और नमक दोनोंका बोधक है, इस कारण उक्त वाक्यसे दोनोंको ले आना प्रतीत होता है। इन दोनोंमें क्या लावें, इस निर्णयके पूर्व वक्ताने किसको लानेके लिये इस वाक्यका प्रयोग किया है, इसका निर्णय आवश्यक है। वक्ताके तात्पर्यका निर्णय प्रकरण आदिसे होता है। भोजन, यात्रा आदि प्रकरण है। प्रकृत में भोजनप्रकरणसे नमकमें और यात्राप्रकरणसे अश्वमें वक्ताका तात्पर्य निर्णय कर उक्त वाक्यार्थमें श्रोताकी असन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी तापर्यविशेषसे लिलक्षयिषित व्यक्ति-विशेषका निर्णय हो जायगा।

उक्त तात्पर्यग्राहक भोजनादि प्रकरण दृश्य है, अतएव उनसे तात्पर्यनिर्णय होता है। प्रकृतमें आत्माका क्या स्वरूप है सविशेष या निर्विशेष? तथा स्वप्रकाश अथवा अस्वप्रकाश? इत्यादि निर्णायक वाक्योंके अलौकिक अर्थविशेषका निर्णय साधारण जनोंको नहीं हो सकता, प्रत्युत सब पक्षोंमें तात्पर्य प्रतीत होता है। अतएव इस विषयमें संप्रदायभेद चिरकालसे चला आता है, यह भेद महर्षियोंकी तत्त्वदृष्टिसे है, दुराग्रह या पक्षपात आदि दृष्टि निमित्तोंसे नहीं।

ठीक है, किन्तु ईश्वरानुगृहीत किसी पुरुषधौरेयको ही 'तत्त्वमसि' आदिका तात्त्विक तात्पर्यनिर्णय होता है, सभी विद्वानों को नहीं। अतएव "ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना। महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते॥" यह खण्डनकारने ठीक ही कहा है परन्तु यह विशेष पुरुषगत है, न कि शब्दगत शक्तिलक्ष-

करणस्य तात्पर्यानुसंधानपुरःसरं लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवद्भिरङ्गीक्रियते, तादृशस्यैव केवलः शब्दविशेषोऽखण्डसाक्षात्कारं विनाऽपि संबन्धेन जनयतीति किमनुपपन्नम्। एतस्मिन्पक्षे शब्दवृत्त्यविषयत्वाद् "यतो वाचो निवर्तन्त" इति सुतरामुपपन्नम्। अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः—

"दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्तं मोहहानतः॥
अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते र्बोधिताः परैः॥
जाग्रवन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम्॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत्।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्"॥ इत्यादिना ग्रन्थेन।

णादिविशेष है, क्योंकि किसी पुरुषधुरीणमें ही उक्त वैदिक वाक्यके तात्पर्यविशेषके निर्णय करनेकी योग्यता होती है, सबों में नहीं। जिसमें उक्त योग्यता है; उसको ही निर्विचिकित्स 'तत्त्वसि' आदि वाक्यका अर्थबोध होता है, यह निष्कर्ष हुआ। ऐसी स्थिति में यह कहने में संकोच नहीं होता कि उक्त पुरुषको उसकी योग्यता के बलसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे आत्मैकत्वका निश्चयात्मक बोध होता है, यह योजना पुरुषगत विशेष निर्दोषत्वस्वरूप है, यही उक्तवाक्यार्थबोधोत्पत्तिमें नियामक है। असंबद्ध शब्द तद्बोधक है, इस पक्ष में भी वह पौरुषेय विशेष दण्डवारित नहीं है, अर्थात् डंडा से हटाया नहीं गया है। इसके माननेमें दण्डप्रहारका भय नहीं है, यह भी कोई अर्थ करते हैं, यह विशेषकर्मात्मक नहीं है, जिसके लिये शास्त्रविधिकी अपेक्षा हो, किन्तु दोषाभावस्वरूप है—अतः कर्मसंन्यासियोंको भी अनायास लभ्य है। 'तथा च' से उपसंहार करते हैं, सारांश यह है कि यादृश शुद्धान्तःकरण ईश्वरानुगृहीत पुरुषरत्न को तदीययोग्यता के प्रभाव से तात्पर्यनिश्चयपूर्वक लक्षणावृत्तिसे उक्त वैदिक वाक्यार्थबोध आप लोग मानते हैं, तादृश पुरुषरत्नको तदीययोग्यतासे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य लक्षणावृत्यादिज्ञानके विना अखण्ड जीव-ब्रह्माभेद साक्षात्कार करता है, ऐसा कहें, तो इसमें क्या अनुपपत्ति है, कुछ नहीं। बल्कि इस अर्थमें उपपादक श्रुति है—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि। यह श्रुति शक्तिलक्षणातात्पर्यादिवृत्त्यविषयत्वका आत्मामें स्पष्ट समर्थन करती है।

तदेवं वचनविषयस्य, वक्तुः, वचनक्रियायाश्चात्याश्चर्यरूपत्वादात्मनो दुर्विज्ञानत्वमुक्त्वा, श्रोतुर्दुर्लभत्वादपि तदाह—'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं न वेद' इति। अन्यो प्रष्टुर्वक्तुश्च मुक्ताद्विलक्षणो मुमुक्षुर्वक्तारं ब्रह्मविदं विधिवदुपसृत्यैनं शृणोति-श्रवणाख्य-विचारविषयीकरोति—वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिश्चयेनावधारयतीति यावत्। श्रुत्वा चैनं मनन-

---

'शब्दवृत्त्याविषयत्वात्' यह पाठ मुद्रणदोषसे है। 'वृत्त्यविषयत्वात्' यह पाठ पुस्तकान्तरमें है, सो ठीक है। पूज्यपाद भगवच्छ्रीशङ्कराचार्यके इस अभिप्रायका विस्तार वार्तिककारने 'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वा-द्बोधरूपिणः।'[1] (बृ० व० १-४-८६०-८६३) इत्यादि ग्रन्थसे किया है।

इस प्रकार वचनका कर्मतया विषय जिज्ञासित आत्मा, तथा वक्ता एवं वचनक्रिया, ये तीनों आश्चर्यमय हैं। इसलिए आत्मामें दुर्विज्ञेयत्व कहकर श्रोता भी दुष्प्राप्य है, इस कारणसे भी आत्मामें दुर्विज्ञेयत्व है, यह कहते हैं—'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं न वेद' इससे। द्रष्टा और वक्ता इन दोनोंसे अन्य (विलक्षण) संसारी अतएव संसारका त्याग करनेकी चाह रखनेवाला शम-दमादिसाधन-सम्पन्न मुमुक्षु सविधि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य वक्ताके समीप पहुँचकर आत्माको सुनता है—श्रवणनामक विचारको विषय बनाता है। अर्थात् वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यका निर्णयकर अवधारण करता है।

[इसका यह तात्पर्य है—यहाँ श्रवणका 'गीतं शृणोति' के समान केवल शब्द श्रवणमात्रका 'श्रोतव्यः' से विधान नहीं है, किन्तु उसके अर्थज्ञानका भी विधान है। श्रुतिवाक्य विभिन्नप्रकारक आत्म-विषयक बोधजनक है, इसलिए नाना वाक्योंसे श्रुत आत्मस्वरूपमें संशय होना स्वाभाविक है। संशयज्ञानसे वास्तविक असन्दिग्ध अर्थमें प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उसका अर्थनिर्णय अपेक्षित है। निर्णय विना विचारके नहीं होता, इसलिये विचार करना जरूरी है। विचारके समय वाक्यतात्पर्यनिर्णय अपेक्षित है। इसके विना

---

१. आत्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, क्योंकि आत्मस्वरूप बोध प्रबल है, अविद्या तदाश्रित दुर्बल है। 'प्रबल दुर्बलका बाधक होता है' यह लोकप्रसिद्ध है। शब्दशक्ति वाक् से परे है अतः अज्ञानका नाश होने-पर शब्दार्थसम्बन्धज्ञानके विना सुषुप्त पुरुषके समान अचिन्त्य शब्दशक्ति द्वारा 'मैं प्रबुद्ध होता हूँ', नींद ले रहा पुरुष पुकारनेपर जागता है। जागनेसे पहले शब्दार्थसम्बन्धज्ञान नहीं है, यह लोकमें प्रसिद्ध है इसीको स्पष्ट करते हैं—जैसे जागता हुआ पुरुष शब्दार्थसम्बन्ध जानता है, सुषुप्तिमें वैसा कोई नहीं जानता, अतः ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) यह फल होता है। अविद्यानाशक शब्दसे 'मैं ब्रह्म हूँ,' यह ज्ञान होता है। औषध जैसे रोगका नाश कर स्वयं नष्ट हो जाता है वैसे ही ज्ञान भी अविद्याका नाशकर उसके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है, यह वार्तिकका भावार्थ है।

निदिध्यासनपरिपाकाद्वेदापि-साक्षात्करोत्यपि आश्चर्यवत्, तथा चाऽऽश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमिति व्याख्यातम्। अत्रापि कर्तुराश्चर्यरूपत्वमनेकजन्मानुष्ठितसुकृतक्षालितमनोमलतयाऽतिदुर्लभत्वात्।

वाक्यार्थ निर्णय नहीं हो सकता, इसलिये श्रुतितात्पर्यनिर्णयपूर्वक यथार्थ-आत्मविषयक बोधपर्यन्त 'श्रोतव्यः' इस विधिका व्यापार है।] 'श्रुत्वा' का यह अभिप्राय है—एवंभूत वाक्यार्थबोधका सम्पादनकर कोई विरल पुरुष ही मनननिदिध्यासनपरिपाकसे इस आत्माका साक्षात्कार करता भी है, यह आश्चर्यवत् है। [दीर्घकालके आदरसे यानी नैरन्तर्यसत्कारसेवनादिसे मननादिका परिपाक होता है। एक बारके ध्यानसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, किन्तु तत्परिपाकसे होता है।

शङ्का—यदि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य आत्मसाक्षात्कारका जनक है, तो सकृत् श्रुत भी वह तादृशकार्यजनक होगा, क्योंकि सकृत् आनीत प्रदीप घटादिका प्रकाशक होता है। नहीं तो आवृत्ति भी व्यर्थ ही है। अकारणकी पुनः पुनः आवृत्तिसे भी कार्य नहीं होता, बल्कि पूर्व-पूर्व आवृत्तिके समान उत्तरोत्तर आवृत्ति भी साक्षात्कारकी अजनक ही सिद्ध होगी।

समाधान—ऐसा नहीं है, जौहरी यानी रत्नपरीक्षक एक बारके देखनेसे रत्नतत्त्वका निर्णय नहीं कर सकता, किन्तु असकृत् देखनेसे उसके तत्त्वका साक्षात्कार पाता है।

शङ्का—रत्न तो गुणदोषविशिष्ट अवयवसमुदायात्मक है, इसलिये प्रत्यक्षसे किसी गुणके दोषको देखा, किसीसे किसीको, इस प्रकार पूर्व-पूर्व प्रत्यक्षागृहीत गुण-दोषादिग्रहणार्थ उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष आवश्यक है। आत्मा तो गुण-दोषशून्य निरंशचैतन्यैकव्यक्तिमात्र है। यदि इसका प्रत्यक्ष हुआ, तो हो ही गया, आवृत्ति व्यर्थ है। नहीं हुआ, तो जन्मभर आवृत्ति करते रहिये, पूर्व-पूर्ववत् उत्तरोत्तर वाक्य या निदिध्यासन व्यर्थ ही हैं।

समाधान—व्यर्थ नहीं हैं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य जीवब्रह्माभेदविषयक बोधमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक है। अयोग्यताज्ञानका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञानजन्य अयोग्यताज्ञान अनेक प्रकारका है, अतः तत्तत् अयोग्यता ज्ञानकी निवृत्तिके लिये वाक्यार्थकी आवृत्ति आवश्यक है। तत्तादावर्तमान वाक्यजन्य ज्ञानसे तत्तदयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होती है। निःशेष अयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होनेपर शेषमें एकबार श्रुत उक्त वाक्य प्रतिबन्ध न रहनेसे उक्त साक्षात्कारका जनक होता है। एवं उत्तरोत्तर ध्यान भी सार्थक होता है। विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिये।]

इस तरह 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' का व्याख्यान हो गया। इनमें भी कर्तामें आश्चर्यवत्त्व यह है कि अनेक जन्मसे अनुष्ठित जो शुभ कर्म हैं उनके द्वारा मनोगत राग-द्वेषकामादि मलको जिसने

तथा च वक्ष्यति—

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" ॥ इति ।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" ॥
इति श्रुतेश्च ॥ एवं श्रवणश्रोतव्ययोराश्चर्यत्वं प्राग्वद्व्याख्येयम् ।

ननु यः श्रवणमननादिकं करोति, स आत्मानं वेदेति किमाश्चर्यमत आह—**'न चैव कश्चित्' इति**। चकारः क्रियाकर्मपदयोरनुषङ्गार्थः । कश्चिदेनं नैव वेद श्रवणादिकं कुर्वन्नपि । तदकुर्वंस्तु न वेदेति किमु वक्तव्यम्। "ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" (ब्र० सू० ३-४-५१) इति न्यायात् ।

निःशेष निवृत्त करा दिया है, वही द्रष्टा है, सो अतिदुर्लभ है, यह भगवान् स्वयं श्रीमुखसे गीतामें ही आगे चलकर कहेंगे—'मनुष्याणाम्' (गी० अ० ७, श्लो० ३) इत्यादिसे। श्रवण, वेदन, कथन आदि आश्चर्यमय है—इस अर्थको 'श्रवणायापि बहुभि०' (कठ० उ० २-७), 'आश्चर्योऽस्य वक्ता' इत्यादि श्रुतियाँ भी कहती हैं। इसी प्रकार श्रवण और श्रोतव्य—श्रुतिकर्म आत्मामें आश्चर्यवत्त्व, दर्शन और दर्शनकर्म आत्मगत आश्चर्यवत्त्वके समान है। पूर्वमें व्याख्यात आश्चर्यवत्त्वसे यह भी व्याख्यात है, इसलिये पुनर्व्याख्यानकी आवश्यता नहीं है।

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिसे आत्मदर्शनोपाय स्पष्ट है। जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन करेगा, वह आत्मदर्शी होगा ही, फिर उक्त उपायसे आत्मदर्शनमें आश्चर्यवत्त्व ही क्या ? जो पथ्यका सेवन करेगा, वह नीरोग होगा ही, इसके अनुसार यदि कोई पथ्यासेवी नीरोग हो गया, तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उपायसे उपेयकी प्राप्ति होती ही है, यह निश्चित है। यदि श्रवणादि करनेपर भी आत्मदर्शन न हो, तो और अधिक आश्चर्य है, क्योंकि 'हृदि स्नेहक्षयो नाभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि' इसके समान कारण रहनेपर भी कार्य नहीं हुआ। इसपर कहते हैं—**'न चैव कश्चित्'** इति । यहाँ क्रिया और कर्म इन दोनों पदोंके सम्बन्धके लिए चकार है। कोई श्रवणादि करता ही रहता है, फिर भी आत्माको नहीं जानता। जो श्रवणादि नहीं करता, वह नहीं जानता, इसमें क्या आश्चर्य है ? चलनेसे भी प्राप्तव्यको नहीं पाया, इसमें आश्चर्य है। जो चला ही नहीं, वह यदि नहीं पा सका तो, इसमें क्या कहना है, यह कैमुतिकन्यायप्रसिद्ध अदर्शन है। न्याय देखिये—'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (वेदान्तसूत्र ३।४।५१)।

उक्तं च वार्तिककारैः—

"कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्तते॓ऽथवा" ॥ इति ।

श्रवणादि कुर्वतामपि प्रतिबन्धपरिक्षयादेव ज्ञानं जायते । अन्यथा तु न । स च प्रतिबन्धपरिक्षयः कस्यचिद्भूत एव । यथा हिरण्यगर्भस्य । कस्यचिद्भावी । यथा वामदेवस्य । कस्यचिद्वर्तते । यथा श्वेतकेतोः । तथा च प्रतिबन्धक्षयस्यातिदुर्लभत्वात् "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इति स्मृतेश्च दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेति निर्गलितोऽर्थः । यदि तु श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदित्येव व्याख्यायेत, तदा "आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" इति

[इसमें यह विचार आया है कि श्रवणादिसे इसी जन्ममें आत्मविद्या प्राप्त होती है या जन्मान्तरमें भी। यहाँ पूर्वपक्ष यह है कि इसी जन्ममें, क्योंकि वर्तमान जन्ममें ही विद्यालाभके लिए श्रोताकी श्रवणादिमें प्रवृत्ति होती है। जन्मान्तरमें उक्त विद्या प्राप्त हो, इस इच्छा से कोई श्रवणादिमें प्रवृत्त नहीं होता। सिद्धान्त-पक्ष सुनिये—ऐहिक विद्या है, पर प्रतिबन्धके प्रस्तुत न रहनेपर अर्थात् यदि विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक दुरितादि कोई न हो, तो इसी जन्ममें वह उत्पन्न होती है, अन्यथा जन्मान्तरमें। जन्मान्तरमें भी विद्या पूर्वजन्मानुष्ठितसे होती है, इसमें 'गर्भस्थ एव वामदेवः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। 'श्रवणायापि' इत्यादि श्रुतिसे विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक कर्म प्रसिद्ध है—इत्यादि विशेष विचार भाष्यमें है। यहाँ के लिये सारांशमात्र दिया गया है। श्रवण आदिका अनुशीलन करने पर भी आत्मविद्योत्पत्ति प्रतिबन्धक कर्मवश नहीं भी है।] यही वार्तिककारने भी 'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्' इत्यादिसे कहा है। (वृ० वा० सं० श्लो० ९४) वार्तिकमें बन्धशब्द प्रतिबन्धपरक है।

प्रश्न—किसी श्रवणादिपरायणको इसी जन्ममें आत्मज्ञान क्यों होता है ?

उत्तर—बन्धपरिक्षयसे। अन्यथा—प्रतिबन्धकक्षयाभावसे ज्ञानप्राप्ति इस जन्ममें नहीं होती। वह बन्धपरिक्षय किसीको जन्मसे पूर्वमें सिद्ध रहता है, किसीको वर्तमानमें होता है और किसीको भावी यानी भविष्य कालमें होता है। प्रथम पक्षमें दृष्टान्त हिरण्यगर्भ, द्वितीय पक्षमें वामदेव और तृतीय पक्षमें श्वेतकेतु है। इस तरह प्रतिबन्धका क्षय अति दुर्लभ है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' यह स्मृति—प्रतिबन्धकीभूत पाप कर्मका नाश होनेपर ही आत्मज्ञान होता है, अन्यथा नहीं—इसमें प्रमाण है। आत्मा दुर्विज्ञेय है, यह निचोड़ अर्थ हैं।

शङ्का—आत्माको सुनकर भी कोई नहीं जानता, यह अर्थ 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' का स्पष्ट प्रतीत होता है। इसको क्यों नहीं कहते हैं ?

श्रुत्यैकवाक्यता न स्यात् "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" इति भगवद्वचनविरोधश्चेति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः। अथवा न चैव कश्चिदित्यस्य सर्वत्र संबन्धः। न पश्यति। न वदति। न शृणोति। श्रुत्वाऽपि वेदेति पञ्च प्रकारा उक्ताः कश्चित्पश्यत्येव न वदति कश्चित्पश्यति च वदति च, कश्चित्तद्वचनं शृणोति च तदर्थं जानाति च, कश्चिच्छ्रुत्वाऽपि जानाति च कश्चित्तु सर्वबहिर्भूतं इति। अविद्वत्पक्षे तु असंभावनाविपरीतभावनाभिभूतत्वादाश्चर्यतुल्यत्वं दर्शनवदनश्रवणेष्विति निगदव्याख्यातः श्लोकः। चतुर्थपादे तु दृष्ट्वोक्त्वा श्रुत्वाऽपीति योजना ॥ २९ ॥

समाधान—यदि ऐसा व्याख्यान माना जाय, तो श्रुतिके साथ एकवाक्यता न होगी और भगवद्वचनरूप स्मृतिसे विरोध भी होगा। देखिये—'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (ब्रह्मवेत्ता कुशलबुद्धिसे सुशिक्षित ज्ञाता आश्चर्य है)' यह श्रुति तथा 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (सिद्धोंमें भी कोई तत्त्वतः मुझको जान पाता है) यह स्मृति है। उभय प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञानी कुशलाचार्योपदिष्ट है, फिर कोई आत्मदर्शी नहीं, यह विरुद्ध अर्थ कैसे माना जाय ? इसलिये सुहृद्बुद्ध्या उपदिष्ट अर्थको अस्वीकार करनेसे जो कुछ अविनय सूचित होता है, सो विद्वानोंसे क्षन्तव्य है, क्योंकि उनको यह विदित है कि श्रुति-स्मृतिका कितना गौरव है। इसके विरुद्ध कोई भी अर्थ, चाहे भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट, मान्य नहीं है। अथवा 'न चैव कश्चित्' का सर्वत्र सम्बन्ध है। कोई इसको नहीं देखता है, नहीं कहता है, न इसके वचनको सुनता है, सुनकर भी नहीं जानता [यह आदर्श पुस्तकानुसार अर्थ है, यह ठीक पाठ नहीं है। सुनकर नहीं जानता 'श्रुत्वा न वेद' यह पाठ होना चाहिये। द्वितीय पुस्तकमें ऐसा ही है।] यों पाँच प्रकार कहे गये हैं। कोई देखता ही है कहता नहीं, कोई देखता भी है कहता भी है, कोई आत्मबोधक वाक्यको सुनता है और उसका अर्थ भी जानता है, कोई सुनकर भी नहीं जानता और कोई सबसे अलग रहता है।

शङ्का—अविद्वत्पक्षमें अर्थात् सर्वबहिर्भूतपक्षमें आश्चर्यवत्का सम्बन्ध कहाँ और क्यों है ?

समाधान—दर्शन, वदन, श्रवण तीनोंमें सम्बन्ध है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसमन्वित तथा सर्गकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका मूल है और जीव किञ्चिदज्ञ असर्वज्ञत्वादियुक्त उसके आधीन है। दोनों एक कभी नहीं हो सकता, यह अभेदासम्भावना है। जीव सदा ईश्वरसे भिन्न है, अनेक है और स्वकर्मका फल भोगता है, किन्तु ईश्वर इससे विपरीत है—तम और प्रकाशके समान विरुद्धस्वभाव है। इनका अभेद असंभव है, यह विपरीत भावना है। इन दोनों भावनाओंसे बुद्धि दब गई है, अभेदबोधोन्मुख ही नहीं होती, यह आश्चर्य है। शेष श्लोकार्थ निगदव्याख्यात है अर्थात् स्पष्टार्थक गीता शब्द ही व्याख्यान है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे भारत ! चूँकि सम्पूर्ण प्राणियोंकी देहमें विद्यमान लिङ्गोपाधि यह आत्मा अवध्य है, यह निश्चित है। इसलिये स्थूल और सूक्ष्म भीष्मादिभावापन्न जितने भूत हैं उनके विषयमें तुम शोक करने योग्य नहीं हो—उनके लिए तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

इदानीं सर्वप्राणिसाधारणभ्रमनिवृत्तिसाधनमुक्तमुपसंहरति—'देहि नित्यम०' इति। सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही लिङ्गदेहोपाधिरात्मा वध्यो न भवतीति। नित्यम्-नियतं यस्मात्, तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च भीष्मादिभावापन्नान्युद्दिश्य

'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इस अन्तिम पादमें 'दृष्ट्वा' इत्यादिका सम्बन्ध है यानी देखकर, कहकर, सुनकर भी कोई नहीं जानता, यह योजना है ॥ २९ ॥

अब सर्वप्राणिसाधारण भ्रमकी निवृत्तिके कारणका उपसंहार करते हैं—'देही नित्यम०' इत्यादिसे। देहके नाशसे आत्मा नष्ट हो जाता है, क्योंकि देहके अनन्तर उसकी सत्तामें कुछ प्रमाण नहीं दीख पड़ता, यह सर्वसाधारण—पढ़, अपढ़ सबको भ्रम है, इसकी निवृत्तिका कारण प्राणिमात्रके देहवधसे आत्माका वध नहीं होता, यह निश्चय समझो।

शङ्का—गीतामें देही अवध्य है, ऐसा लिखा है। देही देहविशिष्ट है। देहवधसे आत्मा अवध्य हो, परन्तु विशिष्ट देहीका वध तो अवश्य होता ही है, फिर देही अवध्य कैसे ?

समाधान—देह दो प्रकारके हैं—एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, जिसको लिङ्ग शरीर कहते हैं। यह शरीर सर्गादिसे सर्गांत एक ही रहता है। इसी शरीरमें इन्द्रियादि रहते हैं। इसीका प्रत्येक स्थूल शरीर में सम्बन्ध जन्म और तद्वियोग मरण कहा जाता है। सूक्ष्म होनेसे क्षुद्र जन्तु शरीरमें भी इसका अनायास प्रवेश हो जाता है। कर्मराशिका फल इस सूक्ष्म शरीरसे प्राणी भोग नहीं सकते, इसलिये स्थूल शरीरमें इसका प्रवेश आवश्यक है। लिङ्गोपाधि—लिङ्गशरीरोपहित चैतन्य आत्मा प्रकृतमें 'देही' पदसे विवक्षित है। उस देहका भी नाश नहीं होता। तदुपहित चैतन्यके नाशकी क्या सम्भावना ?

शङ्का—'नित्यम्' यह आत्मामें विशेषण नहीं है, अन्यथा 'नित्यः' पुल्लिंग होता। अतः वधक्रियामें ही विशेषण है, सो तो अवध्य कहनेसे ही नित्यावध्य का लाभ हो जाता है, कारण कि जिसका कभी वध होगा, सो तो अवध्य नहीं कहा जा सकता।

समाधान—ठीक है, यहाँ नित्य शब्द अविनाशीके तात्पर्यसे नहीं है, किन्तु नियत अर्थके तात्पर्यसे है। लिङ्गात्मामें अवध्यत्व निश्चित है, इस कारणसे यानी चूँकि सबकी देहमें विद्यमान यह आत्मा नित्य

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

तथा अपने धर्मका भी पर्यालोचन कर तुम विचलित नहीं हो सकते—अपने धर्मका खयाल कर, इस युद्धभूमिसे कभी नहीं हट सकते, क्योंकि धर्मयुद्धसे बढ़कर और कोई दूसरा श्रेयका साधन क्षत्रियके लिए नहीं है ॥ ३१ ॥

त्वं न शोचितुमर्हसि । स्थूलदेहस्याशोच्यत्वमपरिहार्यत्वात्, लिङ्गदेहस्याशोच्यत्वमात्मवदेवावध्यत्वादिति 'न स्थूलदेहस्य' लिङ्गदेहस्य, आत्मनो वा शोच्यत्वं युक्तमिति भावः ॥३०॥

तदेवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वय-तत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूपं सर्वप्राणिसाधारणमर्जुनस्य भ्रमं निराकर्तुमुपाधित्रयविवेकेन आत्मस्वरूपमभिहितवान् । संप्रति युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपमर्जुनस्यैव

अवध्य है, इसलिए सभी भूत चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म भीष्मादिभावापन्न हैं, यों उद्देश्य करके उनमें किसी का भी तुम शोक मत करो ।

शङ्का—लिङ्ग शरीरका शोक नहीं, स्थूल शरीरका शोक तो उचित है ।

समाधान—यह तो अवश्य विनश्वर है । दिनके बाद रात्रि जैसे निश्चित है, वैसे ही इस शरीरकी उत्पत्तिके अनन्तर विनाश भी इसका निश्चित ही है । इसको कोई भी महापुरुष रोक नहीं सकता, यह प्रकृतिका स्वाभाविक नियम है । जो अपनी शक्तिसे परे है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है । वह तो अवश्य होगा ही । उसके सहनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये । उसमें चीं, चूं करना मूर्खता है, जो नासमझोंमें रहती है, अतः लिङ्गदेह नित्य है और स्थूल देहका नाश अपरिहार्य है । वह आत्मवत् शोच्य नहीं है, क्योंकि वे दोनों अवध्य हैं, यह समझ ही चुके हो । इस प्रकार स्थूल देह, सूक्ष्म देह और आत्मा—ये तीनों अशोच्य सिद्ध हुए । इनके अतिरिक्त भीष्मादि हैं नहीं, फिर तुम किसको शोचते हो, इसपर दृष्टि दो, यह अभिप्राय है ॥ ३० ॥

अतः स्थूल और सूक्ष्म ये दोनों शरीर और इनका कारण अविद्या—इन तीनों उपाधियोंके अविवेकसे—विवेकाभावसे मिथ्या भूत संसारमें सत्यत्व-आत्मधर्मत्वका मिथ्याज्ञान सब प्राणियोंमें है, यही सर्व साधारण भ्रम अर्जुनमें भी है, इसीका निराकरण करनेके लिये उक्त उपाधित्रयका विवेचन कर आत्मतत्त्वका

करुणादिदोषनिबन्धनमसाधारणं भ्रमं निराकर्तुं हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावम् बोधयति भगवान्—'स्वधर्ममपि' इति ।

न केवलं परमार्थतत्त्वमेवावेक्ष्य, किं तु स्वधर्ममपि-क्षत्रियधर्ममपि युद्धापराङ्मुखत्व-रूपमवेक्ष्य—शास्त्रतः पर्यालोच्य विकम्पितुं-विचलितुं धर्मादधर्मत्वभ्रान्त्या निवर्तितुं नार्हसि । तत्रैवं सति "यद्यप्येते न पश्यन्ति" इत्यादिना "नरके नियतं वासो भवति" इत्यन्तेन युद्धस्य, पापहेतुत्वं त्वया यदुक्तं "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादिना च गुरुवध-ब्रह्मवधाद्यकरणं यदभिहितम्, तत्सर्वं धर्मशास्त्रापर्यालोचनादेवोक्तम् । कस्मात् ? हि यस्माद्धर्म्यादपराङ्मुखत्वधर्मादनपेताद्युद्धा-दन्यत्क्षत्रियस्य श्रेयः—श्रेयःसाधनं न विद्यते । युद्धमेव हि पृथिवीजयद्वारेण प्रजारक्षण-ब्राह्मण-शुश्रूषादिक्षात्रधर्मनिर्वाहकमिति तदेव क्षत्रियस्य प्रशस्ततरमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं पराशरेण—

"क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रचण्डवत् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्" ॥ इति ।

उपदेश अर्जुनको किया [यह केवल अर्जुनमात्रके लिये नहीं, किन्तु सब अधिकारियोंके लिये भगीरथानीत-गङ्गाप्रवाहवत् है ।] सर्वसाधारणभ्रम, जो अर्जुनमें भी कह चुके हैं, उसका निराकरण कर अब अर्जुन-मात्रके युद्धनामक स्वधर्ममें हिंसादिके बाहुल्यसे अधर्मत्वप्रतिभासरूप करुणादिदोषपूर्ण असाधारण भ्रमके निराकरणार्थ भगवान् अर्जुनको समझाते हैं—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादिसे ।

स्वधर्मको हिंसापूर्ण होनेसे अधर्म समझते हो, सो ठीक नहीं है । केवल परमार्थदर्शनसे ही अपनी भ्रान्ति दूर करो, यही नहीं, किन्तु अपने धर्मको भी देख भ्रान्ति दूर करो । स्वधर्म यानी क्षत्रियधर्म—युद्धसे पराङ्मुख न होना, किन्तु सोत्साह युद्धमें प्रवृत्त होना है । इसको केवल मेरे कथनसे ही नहीं, किन्तु महर्षि-प्रणीत धर्मशास्त्रोंका विमर्श कर देखो, क्या लिखा है । मनोयोगसे यदि शास्त्रोंको देखो, तो तुम्हारी जो धर्ममें अधर्मबुद्धि हो गई है, जिससे युद्धसे विचलित हो रहे हो, सो न होगी और यह भी बात न रहेगी कि 'यद्यपि लोभी दुर्योधनादि इस दोषको नहीं देखते हैं, तो भी मैं कैसे न देखूँ', तथा 'नरके नियतं वासः' इत्यन्त वाक्यसे जो तुमने युद्धमें पापकरणत्व कहा एवं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिसे गुरुवध-ब्रह्मवधमें अकार्यत्वादि कहा—यह सब धर्मशास्त्रके रहस्यको न समझकर ही कहा है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्षत्रियोंका कल्याणकारण धर्मसे अनपेत—रहित नहीं है, किन्तु सहित ही है । क्षत्रियोंका

मनुनाऽपि—

"समोत्तमाधमै राजा चऽऽहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम्" ॥ इत्यादिना ।

राजशब्दश्च क्षत्रियजातिमात्रवाचीति स्थितमवेष्टयधिकरणे । तेन भूमिपालस्यैवायं

धर्म युद्धसे पराङ्मुख न होना है, क्षत्रियोंका युद्धसे अतिरिक्त धर्म नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह है कि युद्ध ही पृथिवीविजय द्वारा प्रजाकी रक्षा तथा ब्राह्मणोंकी सेवा ही क्षत्रियधर्मका निर्वाहक है। यही क्षत्रियोंके लिए सर्वोत्तम है। यही पराशरने (महर्षी व्यासके पिताजीने) कहा है—'क्षत्रियो हि' (परा० स्मृ० १.५८) इत्यादिसे। और महर्षी मनुने भी 'समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः' (अ०७ श्लोक० ८८) इत्यादिसे कहा है। क्षत्रिय धर्मका स्मरण करता हुआ प्रजापालक राजा अपने समान बड़े या छोटे शत्रुओंसे ललकारे जानेपर युद्धसे नहीं भागे, युद्धसे नही भागना, प्रजा पालन करना, तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करना राजाकेलिए कल्याणकारी है। प्रजाकी रक्षा करता हुआ शस्त्रपाणि उग्र प्रतापवाला क्षत्रिय शत्रु सेनाको पराजित कर धर्मसे पृथ्वीका पालन करें। [उक्त अर्थमें दृढ़तर प्रामाण्यके लिये दो महर्षियोंके वचनोंका उपादान है। संवादसे प्रामाण्य अधिक दृढ़ होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है।

शङ्का—तो संप्रति राजा दुर्योधन हैं, भावी युधिष्ठिर हो सकते हैं, मैं तो इस समय भी राजा नहीं हूँ और भविष्यमें भी नहीं हो सकूँगा, फिर मेरे लिये तो अधर्म ही रहा न ?]

समाधान—राजशब्द राज्यसिंहासनारूढ़को ही नहीं कहता, अन्यथा ब्राह्मण-वैश्य भी उक्त सिंहासनस्थ राजशब्दार्थ हो जायेंगे, किन्तु क्षत्रियजातिमात्रका वाचक है। इसका विचार 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामः-यजेत' इस वाक्यके द्वारा पूर्वमीमांसाके अवेष्टयधिकरणमें (२-३-२.) है। वहाँ यही निष्कर्ष निकाला गया है कि राजशब्द क्षत्रियवाची है, अतः क्षत्रियोंका ही इस यागमें अधिकार है। ब्राह्मण और वैश्य यदि समर्थ भी हों, तो भी उनका इस यागमें अधिकार नहीं है, यह विस्तृत विचार है, इसलिये निष्कर्षमात्र यहाँ लिखा गया है। 'राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः'—यह क्षत्रियजातिवाचक पर्यायशब्दोंका बोध करनेवाला अमरकोश भी है। शब्दार्थनिर्णयमें सर्वसंमत प्रमाण कोश ही है। इससे भूमिपालका ही यह धर्म है, क्षत्रियजातिमात्रका नहीं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये। उदाहृत पराशर और मनुवचनमें भी इसका निर्णायक लिङ्ग है। प्रथम-वचनमें 'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन्' यह पाठ है और द्वितीयमें 'क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्' यह पाठ है। इससे स्पष्ट

धर्म इति न भ्रमितव्यम् । उदाहृतवचनेऽपि क्षत्रियो हीति, क्षात्रं धर्ममिति च स्पष्टं लिङ्गम् । तस्मात्क्षत्रियस्य युद्धं प्रशस्तो धर्म इति साधु भगवताऽभिहितम् ।"अपशवो वाऽन्ये गो अश्वेभ्यः, पशवो गोअश्वाः" (तै.सं.५-२-९-४) इतिवत्प्रशंसालक्षणया युद्धादन्यच्छ्रेयःसाधनं न विद्यत इत्युक्तमिति,

---

प्रतीत होता है कि युद्ध केवल भूमिपालमात्रके लिए ही विहित नहीं है किन्तु क्षत्रियमात्रके लिए विहित है, चाहे वह राजा हो वा प्रजा हो। इन कारणोंसे युद्ध क्षत्रियोंका उत्तमधर्म है, यह भगवान्ने बहुत ही उत्तम कहा है।

[शङ्का—क्षत्रियोंका उत्तम धर्म है, इतना कहते तो ठीक था, परन्तु भगवान्के पासमें क्षत्रियोंके लिये दूसरा उपाय ही नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिविहित नित्य नैमित्तिकादि, भगवद्भक्ति, तत्त्वज्ञान आदि अनेक कर्मान्तर हैं, फिर इससे अतिरिक्त श्रेयस्कर उन लोगोंके लिए नहीं है, ऐसा उन्होंने क्यों कहा ?

समाधान—यह कहनेका एक प्रकार (ढङ्ग) है। किसी विशिष्ट अर्थकी स्तुति व्यक्त करनेके लिए बड़े लोग इस प्रकारका आश्रय लेते हैं, परन्तु उनका तात्पर्य प्रतिषेधमें नहीं रहता, कथित अर्थ सर्वोत्तम है, इसके द्वारा उसकी स्तुतिमें रहता है। स्तुति अविद्यमान गुणके आरोपसे ही होती है। विद्यमान गुण के कथनसे तो वस्तुतत्त्व ही सिद्ध होता है। बृहस्पतिको बृहस्पति कहनेसे स्तुति नहीं होती, किन्तु किसी पण्डितको कहिये कि यह तो बृहस्पति है, तो उसकी स्तुति अवश्य होती है। स्तुति दो प्रकारकी होती है। अन्यत्र विद्यमान गुणोंका अन्यत्र आरोप पहली स्तुति है, जैसे कि उक्त वाक्यसे बृहस्पतिके गुण अबृहस्पतिमें कहे गये हैं। द्वितीय स्तुति—तदारोपितगुणका अन्यत्र प्रतिषेध है, जैसे कि 'पार्थ एव धनुर्धरः' अर्जुन ही धनुर्धर हैं, दूसरा नहीं। पार्थसे अन्य भी धनुर्धर हैं, उनका वास्तविक निषेध नहीं करना है, किन्तु इनके समान दूसरा नहीं है, यह कहना है। वस्तुतत्त्व नहीं है, किन्तु स्तुतिमात्र है, जो गौओंके लौटानेमें स्पष्ट है। गीताकालसे ही इस प्रकारका उदय नहीं हुआ, किन्तु श्रुतिमें भी ऐसा है। इसलिये यह प्रथा अति प्राचीन है।] देखिये श्रुति—'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः, पशवो गो अश्वाः' [लोमवल्लाङ्गूलवान् पशुशब्दका अर्थ है। जिनकी पूछमें केश होते हैं वे पशु हैं। लोमशून्य पूछवाले चूहादि पशु नहीं हैं। यहाँ श्रुतिसें कहा है कि गौ अश्वसे अतिरिक्त पशु नहीं है। गो और अश्व ये ही दो पशु हैं। इसका तात्पर्य यदि इतरमें पशुत्वाभावबोधमें माना जाय, तो 'पशुना यजेत' इत्यादिसे विहित अग्नीषोमीययागादि में पशुसे छागादिका ग्रहण नहीं होगा। पशुयागमें पशुशब्दसे छागका ही ग्रहण होता है, इसलिये अन्यत्र पशुत्वनिषेध गौ-अश्वमें इतरापेक्षया प्राशस्त्यबोधनार्थ स्तुतिमात्र है। अन्यकी अपेक्षा ये उत्तम पशु हैं, इसमें श्रुतिका तात्पर्य है।] एवं प्रकृत में भी युद्धस्तुतिमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है, धर्मान्तरनिषेधमें नहीं, यह संक्षेप है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

विना किसी यत्नके प्राप्त, स्वर्गप्रवेशके खुले हुए द्वारभूत ऐसे युद्धको जो क्षत्रिय प्राप्त करते हैं, हे पार्थ ! वे अवश्य ही सुखी होते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३१ ॥

न दोषः । एतेन युद्धात्प्रशस्ततरं किंचिदनुष्ठातुं ततो निवृत्तिरुचितेति निरस्तम् । "न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" इत्येतदपि ॥ ३१ ॥

शङ्का—यदि भगवान्‌को युद्धकी स्तुति करना ही उस समय इष्ट था, तो उक्त प्रथम पक्षका ही आश्रय क्यों नहीं किया । निषेधपक्षके आश्रयमें उनका क्या अभिप्राय था ?

समाधान—यह तो प्रश्न ही उचित नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यदि प्रथम पक्षके अनुसार कहे हों, तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि द्वितीय पक्षके अनुसार स्तुति न कर प्रथम पक्षानुसार स्तुति करनेमें क्या भाव था, अन्ततः किसी पक्षको लेकर कहना ही है; इनमें विशेष क्या ?

प्रश्न—विशेष क्यों नहीं ? विधिपक्षमें अन्यत्र प्रसिद्धगुणोंका तुष्टूषित स्तुतिका इच्छित विषयमें आरोपमात्र करना है इससे अधिक और कुछ नहीं । निषेधपक्षमें प्राशस्त्यका आरोप और अन्यत्र प्रतिषेध दोनों करने पड़ते हैं, अतः पूर्वमें लाघव और उत्तरमें गौरव दोष है । लघु उपायसे प्रतिपित्सित अर्थको समझा सके, तो गुरु उपायका आश्रय उचित नहीं है । लोकमें कहावत है कि पासकी झाड़ीमें मधु मिल जाय, तो उसको लानेके लिये घोर जंगलमें क्यों जाय ।

उत्तर—यदि इतरका निषेधरूप द्वितीय पक्षका आश्रय भगवान् लेते, तो युद्धसे अतिरिक्त कोई अच्छे कर्म करनेके लिये युद्धसे निवृत्ति उचित है । युद्ध हिंसामय है, अतः धर्म होनेपर भी अहिंसामय अधर्मसे अच्छा नहीं है, इसीलिये आत्मकल्याणार्थं कर्मान्तरानुष्ठान ही उचित है, यह शंका अर्जुनको हो सकती थी । ईदृशशंकोदयावसरके निरासार्थं भगवान्‌ने तदितरका स्पष्ट प्रतिषेध ही कर दिया कि दूसरा इस युद्धसे बढ़कर अत्यन्त उत्तम अनुष्ठेय नहीं है, फिर तुम करोगे क्या ? 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' से जो कुछ कहा, सो भी इसीसे निरस्त हुआ । इसीसे तो क्षत्रियोंको श्रेय होता है, तुम भूलते हो कि इसमें श्रेय नहीं है, किन्तु अन्यत्र है । अन्यत्र श्रेय नहीं है, किन्तु इसीमें है । यदि श्रेय चाहते हो, तो युद्ध करो, यह भाव है ॥ ३१ ॥

ननु युद्धस्य कर्तव्यत्वेऽपि न भीष्मद्रोणादिभिर्गुरुभिः सह तत्कर्तुमुचितम्, अतिगर्हितत्वादित्याशङ्कयाऽऽह—'यदृच्छया' इति।

यदृच्छया - स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण, चोऽवधारणे। अप्रार्थनयैवोपस्थितमीदृशं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं कीर्ति-राज्यलाभदृष्टफलसाधनं युद्धं ये क्षत्रियाः प्रतियोगित्वेन लभन्ते, ते सुखिनः-सुखभाज एव। जये सत्यनायासेनैव यशसः-राज्यस्य च लाभात्। पराजये चातिशीघ्रमेव स्वर्गस्य लाभादित्याह—'स्वर्गद्वारमपावृतम्' इति। अप्रतिबद्धं स्वर्गसाधनं युद्धमव्यवधानेनैव स्वर्गजनकं, ज्योतिष्टोमादिकं तु चिरतरेण देहपातस्य प्रतिबन्धाभावस्य चापेक्षणादित्यर्थः। स्वर्गद्वारमित्यनेन श्येनादिवत्प्रत्यवायशङ्का परिहृता। श्येनादयो हि

प्रश्न—अच्छा तो युद्ध क्षत्रियोंका कर्तव्य ही है, यह मान लेते हैं, पर पूज्य भीष्मादिके साथ भी वह अवश्य कर्तव्य है, यह उचित नहीं समझते, क्योंकि यह अतिनिन्दित है। संसार इसको अच्छा नहीं मानता।

उत्तर—ठीक है। तुम्हारी दुश्चेष्टासे यदि यह युद्ध उपस्थित होता, जिसमें भीष्मादिवध अपरिहार्य है, तो लोकनिन्दा होनेसे गर्हित होता, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु ऐसा यह नहीं है। यह दुर्योधनादिव्यापारसे, जिसमें तुम्हारा प्रयत्न नहीं है—विना तुम्हारी चाहसे उपस्थित हुआ है, जिसमें भीष्म-द्रोणादिका वध अवश्यंभावी है। ऐसा युद्ध जिसमें कीर्ति, राज्य और धर्म—इन तीनोंकी प्राप्ति हो अर्थात् तीनों इष्ट फलोंका साधनरूप ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियोंको मिलता है वे सुखके पात्र हैं। जिस युद्धमें भीष्मादि सब महारथी प्रतियोगी—प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं उस युद्धकी विजयमें कीर्ति है। जो युद्धका मूल है वह अनुयोगी है, जो कर्तव्यवश अन्योत्थापित युद्धमें प्रवृत्त होता है, वह प्रतियोगी है। प्रकृत युक्तका लाभ दोनों दलोंको है, पर दुर्योधनादिकोऽनुयोगितया लाभ है, अतः वे सुखी नहीं हैं और न कीर्त्यादिका लाभ ही उनको है, प्रत्युत यावच्चन्द्रदिवाकर अपकीर्ति ही रहेगी। तुमको प्रतियोगितया लब्ध है, इसलिये उक्तार्थफलक है। अथवा प्रतियोगीरूपसे यानी प्रतिभटरूपसे तुमको यह लब्ध है। भीष्मादिप्रतियोगिक युद्धका प्रतिभट तुम हो—इस प्रकार तुल्यबलशाली प्रथितप्रभाव महापुरुषोंका युद्ध सबको नहीं मिल सकता। इसमें सब प्रकारका लाभ तुमको है, क्योंकि भगवान् तो परिणाम जानते ही थे, भीष्म अभयदान दे ही चुके थे, कर्ण कुन्तीकी प्रार्थनासे पाण्डवोंको अभयदान—अवध्यत्व दे ही चुके थे। द्रोणाचार्य अनुकूल ही थे, फिर अनिष्टकी क्या आशंका। विजय होनेपर अनायास साम्राज्य तथा यशका लाभ है। पराजय होनेपर तुरत स्वर्ग होगा, यही 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' से कहा है। अप्रतिबद्ध स्वर्गसाधन युद्ध है यानी विना किसी व्यवधानके ही युद्ध स्वर्गजनक है।

विहिता अपि फलदोषेण दुष्टाः, तत्फलस्य शत्रुवधस्य "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि", "ब्राह्मणं न हन्यात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धस्य प्रत्यवायजनकत्वात्फले विध्यभावाच्च न "विधिस्पृष्टे

[स्वर्ग साधन दो प्रकारके हैं—एक प्रतिबन्धकसहित और दूसरा प्रतिबन्धकरहित। 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यविहित याग प्रथम है, क्योंकि यागोत्तर सद्यः स्वर्ग नहीं हो जाता। प्रारब्धकर्माधीन शरीर प्रतिबन्धक है। शरीरनाशोत्तर स्वर्ग होता है, अतः यागादि सप्रतिबन्धक कर्म है। द्वितीय युद्ध है। युद्धमें सविधि मरणान्तर ही स्वर्ग होता है, क्योंकि प्रतिबन्धक शरीर है। उसका युद्धमें नाश ही हो जाता है, इसलिये यह अप्रतिबन्ध स्वर्गसाधन है। इस अभिप्रायसे 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' कहा। युद्धमें स्वर्ग द्वार खुला रहता है, स्वर्गप्राप्तिमें कुछ भी विलम्ब नहीं रहता। यागादिसे स्वर्ग विलम्बसे होता है, इसलिये उसमें द्वार खुला नहीं रहता। देहपातोत्तर द्वार खुलेगा। यागादिसे भी यह प्रशस्त स्वर्गोपाय है, इस अभिप्रायसे कहा है कि प्रतिबन्धशून्य स्वर्गसाधन युद्ध है, क्योंकि युद्धके अविलम्बोत्तरकालमें स्वर्ग होता है] ज्योतिष्टोमादि याग देरसे स्वर्गजनक हैं। यागोत्तर जब शरीरपात होगा तब स्वर्ग होगा। इसमें प्रतिबन्धकीभूत देहाभावकी अपेक्षा है, यह मतलब है। 'स्वर्गद्वारम्' इससे श्येनादि यागमें जैसे पाप होता है वैसे इसमें भी हिंसा है, इसलिये पाप होगा, इस शङ्काका निरास हुआ। उक्त याग स्वर्ग का कारण नहीं है किन्तु मरणका कारण है, यह वैसा नहीं है, यह स्वर्गका प्रवेशद्वार है।

प्रश्न—दोनों शास्त्रविहित हैं। हिंसा भी समान ही है, बल्कि युद्धमें गुरुतर हिंसा है, फिर श्येनवत् युद्धमें पाप क्यों नहीं ?

उत्तर—श्येन स्वतः दुष्ट नहीं है, किन्तु इसका फल शत्रु मारण है। शत्रुका वध 'मा हिंस्यात्' इयादि श्रुतिसे निषिद्ध है, इसलिये तत्फल शत्रुवध दुष्ट होनेसे तदुपाय श्येनयाग भी फलदोषसे दुष्ट होता है।

शंका—शास्त्रविहित शत्रुवध निषिद्ध क्यों ? शास्त्रसे क्या निषिद्धका भी विधान होता है ?

उत्तर—नहीं, सो विहित है श्येन याग सो निषिद्ध है शत्रुवध, सो विहित नहीं है। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' (षड्वि० ब्रा.प्र-३., खं. ८) इस वाक्यसे उक्त यागमात्रका विधान है, शत्रुवधरूप फलका नहीं। इस अभिप्रायसे फले विध्यभावाच्च' कहा है। अतएव 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इस न्यायकी प्रवृत्ति नहीं है। शत्रुवध विधिस्पृष्ट नहीं है, अतः उसमें 'मा हिंस्यात्' इस निषेधका अवतार है। निषेध और विधिके अतिक्रमसे पाप होता है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है।

शंका—फलसे विधि क्यों नहीं है ?

उत्तर—जिसमें पुरुषकी प्रवृत्ति स्वतः नही होती, उसमें प्रवृत्ति करानेके लिये विधिकी आवश्यकता है, अन्यथा तत्कर्मानुष्ठान ही नहीं होगा, क्योंकि स्वतः न करेगा, विध्यभावसे विधिवश भी न करेगा, इसलिये उसमें विधि मानते हैं। आस्तिक पुरुषोंकी तदधीन प्रवृत्ति होनेसे फल सबको इष्ट है।

निषेधानवकाशः" इति न्यायावतारः। युद्धस्य हि फलं स्वर्गः, स च न निषिद्धः। तथा च मनुः—

"आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः" ॥ (अ. ७. श्लो. ८९.) इति।

अतः उसमें स्वतः प्रवृत्ति पुरुषोंकी होती है। उसमें प्रवर्तक विधिकी क्या आवश्यकता? युद्धका फल स्वर्ग है, सो निषिद्ध नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'आहवेषु' इत्यादि मनुवचन देखिये।

शंका—[श्येन स्वतः दुष्ट नही है, किन्तु शत्रुवधरूप फल द्वारा दुष्ट कहा गया है। युद्ध तो स्वतः दुष्ट है, इसमें हिंसा ही प्रधान है, फिर स्वरूपतः निषिद्धका शास्त्रसे विधान क्यों? यदि निषिद्धका भी विधान मानते हो, तो निषिद्धका शास्त्रसे विधान नहीं होता, यह कहना ही गलत है। ऐसी स्थितिमें शास्त्रके उल्लंघनसे पाप होता है, यह व्यवस्था भी ठीक नहीं है। हाँ, किसी शास्त्रके उल्लंघनसे पाप होता है, यह कहो, तो ठीक होगा।

समाधान—मनोयोगसे सुनो, कर्मकी गति गहन है, यह शास्त्रोंमें कहा गया है। 'मा हिंस्यात्सर्वा-भूतानि' यह शास्त्र कहता है कि जीवोंको मत मारो, पर इतने कहने मात्रसे जिसकी हिंसासे स्वार्थसिद्धि है उसकी उससे निवृत्ति नहीं होगी। वह पूछेगा—हम क्यों नहीं मारें। उसको यह समझाना आवश्यक होगा कि जीवहिंसासे जितनी तुम इष्टसिद्धि समझते हो, उससे बहुत अधिक अनिष्टकी प्राप्ति होगी। यदि भविष्यमें अधिक अनिष्ट नहीं चाहते हो, तो हिंसा मत करो। इस प्रकार वह समझेगा कि हिंसासे पाप होता है, जिसका फल दुःख है, इसलिये हिंसा त्याज्य है। युद्धमें भी हिंसा है, इसलिये यह भी त्याज्य है, यह आपाततः प्रतीत अर्थ हुआ। अब दूसरा अर्थ सुनो—'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्यसे यह कहा गया है कि 'यदि स्वर्ग चाहते हो, तो सोमयाग करो' सोमयागका अंग है अग्नीषोमीय पशुयाग, जो 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्यसे विहित है उसके विना सोमयागका अनुष्ठान नहीं हो सकता है। अग्निश्च सोमश्च अग्नीषोमौ 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः' इस सूत्रसे अग्निका इकार दीर्घ हो जाता है। 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' इस सूत्रसे सोमके सकारको षकार होता है। इस तरह 'अग्नीषोमौ' यह प्रयोग हुआ है। ये दोनों जिसके देवता हैं, सो अग्नीषोमीय पशु हुआ। उसका आलंभन करना चाहिये अर्थात् उक्त यागमें हिंसा करनी चाहिये। अब यह विचार आवश्यक है कि पूर्व वचनसे यह कहा गया है कि हिंसा पापजनक है, इसलिये नहीं करनी चाहिये और इस वचनसे यह कहा जाता है कि अग्नीषोमीय

पशुहिंसा पुण्यजनक है, इसलिये करनी चाहिये, क्योंकि विना पुण्यसे स्वर्ग नहीं होगा। यागसे प्रत्येक कर्म पुण्यजनक माने जाते हैं। प्रत्येक पुण्यसे महापुण्य होता है, जो स्वर्गका साधन है, यह अपूर्वप्रक्रिया अपूर्वाधिकरणशास्त्रदीपिकामें विस्तृत है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओंको वहीं देखनी चाहिये। मिथोविरुद्ध वचनद्वयसे हिंसा पुण्यजनक है अथवा पापजनक है, यह संशय होता है। तदनुसार वह करनी चाहिये अथवा न करनी चाहिये, यह भी संशय होता है,

सांख्याद्यनुसारि अर्थका संक्षेप

इस विषयमें दो प्रकारका निर्णय है—एक सांख्यादिकोंका और दूसरा मीमांसकादिकोंका है। अद्वैतवेदान्ती मीमांसानुसारी हैं। किन्तु कुछ वेदान्ती भी सांख्यानुसारी हैं। सांख्याद्यनुसारिसंक्षिप्तार्थ यह है कि 'मा हिंस्यात्' और 'अग्नीषोमीयम्' इन दोनों वाक्योंमें विरोधाभावसे बाध्य-बाधकभाव नहीं है। निषेधवाक्य विधिके अधीन और अनारभ्याधीत है अर्थात् किसी यागप्रकरणमें नहीं पढ़ा गया है, विधिवाक्य यागप्रकरणमें पढ़ा गया है, इसलिये अग्नीषोमीय पशुहिंसा क्रत्वर्थ—क्रतूपकारक है, एतावन्मात्रका बोधक है, पापजनक नहीं है, इस अर्थका बोधक नहीं। निषेधवाक्य भूतहिंसा पुरुषानर्थहेतु—पापजनक है, एतावन्मात्रका बोधक है, यागोपकारक हिंसा नहीं है, इसका बोधक नहीं है। अतः यागोपकारकत्व और पापजनकत्व ये दोनों धर्म विरुद्ध नहीं हैं। यदि हिंसासे यागका उपकार हो और पाप भी हो, तो इसमें क्या विरोध है। जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह पुरुषार्थ निषेध है, वैसे ही 'मा हिंस्यात्' यह निषेध भी पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं है। यदि यागकर्ता कलञ्जभक्षण करे, तो याग विगुण होगा या नहीं, इस संशयमें निर्णय यह किया गया है कि कलञ्जभक्षणनिषेध पुरुषार्थ है, इसलिये भोक्ताको पाप होगा, किन्तु यागसिद्धिमें कोई हानि न होगी। याग करनेका उसे पुण्य होगा और कलञ्जभक्षण करनेका पाप भी होगा। दोनोंका फल सुख और दुःख कर्ताको होगा। जैसे कहा है—

यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत्।

न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथाचोदितसिद्धितः'॥ (तं० वा० पृ० ६१२) इति। तद्वत् यहाँ भी समझना चाहिये। अतएव पञ्चशिखाचार्यने कहा है कि 'स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्शः'। इसका अर्थ सुनिये—अग्नीषोमीयादि याग स्वपुण्य पश्वादिहिंसाजन्य स्वल्प पापसे संकीर्ण है।

शङ्का—यदि पाप भी होगा, तो उसमें पुरुषकी प्रवृत्ति क्यों होगी?

समाधान—वह परिहार्य है। कुछ प्रायश्चित्तविधिसे उसका परिहार हो सकता है। पापनिवृत्तिके लिये प्रायश्चित्तका विधान है, इसके द्वारा पाप निवृत्त हो जायगा। केवल सुखमात्र ही भोगना होगा।

प्रश्न—यदि प्रमादादिसे प्रायश्चित्त न कर सका, तो?

उत्तर—तो सप्रत्यवमर्श है। प्रत्यवमर्श—सहिष्णुता अर्थात् स्वर्गभोगसमयमें दुःख भी थोड़ा-थोड़ा भोगना पड़ेगा। कर्ममात्रमें क्लेश कुछ होता ही है, परन्तु तज्जन्य फलमें सुख अधिक है, इसलिये फल-साधनमें पुरुषकी प्रवृत्ति दृष्ट ही है। तद्वत् दुःखलवमिश्रित महासुखानुभवार्थं यागप्रवृत्तिमें कोई अड़चन नहीं है।

मीमांसकादि मत का संक्षेप

मीमांसकादि यह कहते हैं कि विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका बाध होता है। सामान्य शास्त्र है निषेध, जो हिंसामात्रका निषेध करता है और 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विशेष शास्त्र है, यह केवल अग्नीषोमीय पशुहिंसामें ही पापजनकत्वाभावका बोध कराता है, हिंसामात्रमें नहीं। दोनों शास्त्र हैं, अतः दोनोंको प्रमाण मानना चाहिये, इसलिये यागाङ्ग पशुभिन्न पशुहिंसाके निषेधमें उक्त शास्त्रका तात्पर्य है, इस संकोच द्वारा विभिन्न विषयत्वसे दोनों प्रमाण हैं।

शंका—विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्रका बाधक क्यों होता है ?

समाधान—सामान्य शास्त्र पशुसामान्यकी हिंसाको निषेध करता है। सामान्यकी हिंसा ही असम्भव है। कारण कि सकल पशु एक समयमें उपस्थित ही नहीं हो सकते। एक तो भूभाग ही अति विस्तृत है दूसरी बात यह है कि जलीय—और वायवीय भी भूत हैं। सबकी हिंसा ईश्वरातिरिक्त मनुष्यसाध्य नहीं है। फिर कालके ऊपर दृष्टि दीजिये, तो असम्भवकी सीमा ही नहीं है। भूत, भावी और वर्तमान प्राणि-समुदायकी हिंसा प्रसक्त ही नहीं है। शास्त्र मनुष्यके लिये है, ईश्वरके लिये नहीं है, अतः सामान्य हिंसा असम्भव होनेसे सामान्य शास्त्रका विशेषव्यक्तिमें अनन्तर सम्बन्ध होगा अर्थात् प्रथम सामान्यमें तब उसके द्वारा विशेषमें और 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विशेषशास्त्रका पहिले ही विशेषव्यक्तिके साथ सम्बन्ध है। उस समय सामान्यशास्त्रका विशेषव्यक्तिमें उपसर्पण ही नहीं था। शीघ्र प्रवृत्त विशेष शास्त्र बलवान् हुआ। पश्चात् प्रवृत्त सामान्यशास्त्र दुर्बल हुआ। बलवान्से दुर्बलका बाध होता है, इसमें सन्देह ही नहीं है। 'किञ्च, मा हिंस्यात्' यह निषेध यागीय हिंसाका निषेध नहीं करता, किन्तु मांसभक्षण रसिकोंकी हिंसामें जो रागतः प्राप्ति है, उसीका निषेध करता है।

प्रश्न क्यों ?

उत्तर—सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये—निषेधका ज्ञान निषेध्यज्ञानानुसारी होता है, इसीसे अभावज्ञानमें प्रतियोगिज्ञान कारण माना जाता है, जो घट जहाँ प्रसक्त होता है वहीं उसका 'घटो नास्ति' इस वाक्यसे निषेध होता है। इसलिये निषेध्यानुसारी निषेध माना गया है। निषेध्य हिंसा यदर्थ है निषेध भी तदर्थ ही होगा। हिंसा पुरुषार्थ है, अतः निषेध भी पुरुषार्थ ही है। दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'नानृतं वदेत्' यह वाक्य है। इसका विचार पूर्वमीमांसामें इस प्रकार है—अनृतवदनप्रतिषेध यानी मिथ्या बोलनेका निषेध क्रत्वर्थ

है या पुरुषार्थ ? इस निर्णयके लिये दूसरा भी विचार आवश्यक हुआ कि प्रतिषेध्य प्रवृत्ति किमर्थ है ? अनृतवदनप्रवृत्ति किस प्रयोजनके लिये है, पहिले समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जो यदर्थ प्रवृत्त होनेपर निवारित होता है—मना किया जाता है वह उसीके लिये निवारित होता है। किसीके लिये हिंसामें प्रवृत्ति है, इसके निर्णयके लिये यह विचार आवश्यक है कि आख्यात लिङ्स्थानिक तकार कर्ताका वाचक है या नहीं ? यदि वह कर्ताका वाचक है, तो प्रधान प्रत्ययसे कर्ताका अविघटन होनेसे प्रवृत्तिके प्रयोजनकी आकांक्षामें प्रकरणका बाधकर आख्यातश्रुतिसे कर्ताके इष्टोपायार्थ प्रवृत्ति है, यह निर्णय होगा। यदि द्वितीयपक्षका आश्रयण है, तो प्रकरणका बाधक श्रुत्यादि नहीं है अर्थात् प्रवृत्तिके प्रति कर्ताके गुणभूत होनेसे प्रकरणसे प्रवृत्ति क्रत्वर्थ है, यह निर्णय होता है। यहाँ पूर्व पक्ष है—'देवदत्तः किं करोतीति प्रश्ने पचति' अर्थात् देवदत्त क्या करता है इस प्रश्नका उत्तर यह मिलता है कि वह पाक करता है। 'पचति' लकार-स्थानिक आख्यातसे देवदत्तकी प्रतीति होती है। 'लः कर्मणि च' इत्यादि सूत्रसे चकारसे कर्ताका परामर्श कर कर्तामें लस्थानिक आख्यातका विधान होनेसे स्थानिवद्भावसे आख्यात कर्ताका वाचक है, इस पूर्व पक्षका सिद्धान्त किया है कि लकार कर्ताका वाचक नहीं है, किन्तु प्रधानीभूत भावनाका वाचक है। 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोः प्रत्ययः प्राधान्येन' इस न्यायसे भी भावना ही अर्थ उचित है। वैयाकरण और मीमांसक दोनोंके मतमें भावनाविशेष्यक शाब्दबोध आख्यातान्त से होता है। परन्तु यह विशेष है कि वैयाकरणमतमें भावना धात्वर्थ है मीमांसकमतमें आख्यातार्थ है।

शङ्का—तो 'पचति' से कर्ताकी प्रतीति कैसे होगी ?

उत्तर—भावना व्यापार है, यह विना कर्ताके नहीं हो सकती, इसलिये भावनासे कर्ताका आक्षेपसे लाभ हो जायगा। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' यह न्याय है। इसका अर्थ यह है—जो अन्य उपायसे लभ्य न हो वही शब्दका अर्थ है। कर्ताके लाभका उपाय है, इसलिये वह आख्यातार्थ नहीं है और इसपर भी ध्यान देना चाहिये कि सूत्रमें चकारसे कर्ताका अनुकर्षण करनेपर भी उसमें आख्यातका विधान नहीं है, किन्तु 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इस सूत्रसे कर्तृगत एकत्वादिमें 'तिप्' आदिका विधान है, कर्तामें नहीं। जिस अर्थमें जिस प्रत्ययका विधान होता है वही अर्थ उस प्रत्ययसे उक्त होता है, अर्थान्तर नहीं।

शङ्का—यदि आख्यात कर्तामें न मानोगे, तो कर्ता अनुक्त है, इसलिये अनभिहित कर्तामें तृतीया होती है एतदर्थक 'अनभिहिते कर्तरि' कर्तृकरणयोस्तृतीया इस सूत्रसे तृतीयाप्रवृत्ति होगी। ऐसी स्थितिमें 'देवदत्तेन पचति' यह प्रयोगापत्ति होने लगेगी। इस दोषके परिहारार्थ अभिधेयके स्थानमें गम्यमानका निवेशकर तद्गम्यमानत्व ही तदुक्तत्व है। आख्यातसे भावना द्वारा कर्ता गम्य है, अतः उक्तदोष न होगा, यदि यह कहें, तो 'देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते' यहाँ भी उक्तरीतिसे कर्ता गम्यमान है। इसलिये तृतीया न होगी।

समाधान—यद्यपि भावनामें प्रत्यय करनेसे कर्ता अनभिहित है तथापि इतर कारकोंकी अपेक्षासे कर्ता ही प्रधान है, क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस सूत्रसे स्वतन्त्र व्यापारवान्‌को ही कर्ता कहते हैं। कारकचक्र-प्रयोक्तृत्वरूप कर्तृत्वलक्षणसे भी यह प्रतीत होता है। कारकान्तर कर्तृव्यापाराधीन है। कर्ता स्वतन्त्र है—कारकान्तरानधीन है, इसलिये सबमें प्रधान कर्ता ही है। भावना कर्ताका व्यापार है, अतः प्रधानरूपसे कर्ता ही आख्यातद्योत्य है। 'अनभिहिते' इसका अधिकार करके कारकविभक्तियोंका विधान है। प्रधानरूपसे द्योतित अभिहित है। तदन्य अनभिहित है, इसीमें अनभिहिताधिकारका तात्पर्य है। 'पच्यते तण्डुलः' इत्यादिसे कर्ता प्रधानरूपसे द्योतित नहीं होता, किन्तु कर्मकी ही प्रधानरूपसे प्रतीति होती है। इसलिये उक्त प्रयोगमें तृतीयाप्राप्ति नहीं है। अनुपदोक्तमें तृतीयानुपपत्ति भी नहीं है, अतः अनृतवदन पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु दर्शपूर्णमासप्रकरणपाठसे क्रत्वर्थ ही है, यह पूर्वमीमांसाके अतिसंक्षेप विचार है। इसी तरह 'न तौ पशौ करोति' इसका भी अर्थ समझ लेना चाहिये।

शङ्का—याग प्रकरणमें 'मा हिंस्यात्' का पाठ नहीं है इसलिये अनृतवदननिषेधवत् हिंसाप्रतिषेध क्रत्वर्थ नहीं है, यह हमने मान लिया फिर भी यह पुरुषार्थ है, यह कैसे सिद्ध होता है, क्योंकि इस वाक्यमें पुरुष तदर्थ कुछ भी नहीं है।

समाधान—'हिंस्यात्' इस वाक्यसे विधिसहित पुरुषव्यापारकी प्रतीति है। विधिविषय कौन है? हिंसा तो हो नहीं सकती, कारण कि वह श्रेयःसाधन नहीं है, किन्तु पुरुषार्थको ही भाव्य मानना होगा। वह इष्टरूप श्रेयःसाधन है। क्षुन्निवृत्ति इष्ट है। उसका साधन भक्षण द्वारा हिंसा है, इसलिये पुरुषार्थके लिये प्रवृत्त पुरुष 'मा हिंस्यात्' इस निषेधवाक्यसे मना किया जाता है। 'यदर्थं प्रवर्तमानः निषिध्यते, तदर्थो निषेधः' इस न्यायसे निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं, यह सिद्ध हुआ। 'मा हिंस्यात्' का निष्कर्ष यह हुआ कि जो पुरुषार्थहनन है, सो नहीं करना चाहिये।

शङ्का—क्रत्वर्थ-पुरुषार्थसाधारण दोनों हिंसाओंका अनुवाद कर निषेध करें, तो क्या आपत्ति है? हिंसामात्र नहीं करनी चाहिये चाहे वह पुरुषार्थ हो या क्रत्वर्थ। 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' का यही अर्थ क्यों न हो?

समाधान—रागतः प्राप्त हिंसाविषयमें उक्त निषेधवाक्य चरितार्थ है, फिर क्रतुप्रकरणोपदिष्ट क्रत्वर्थ-हिंसामें अनुवादविषयत्व और निषेधविषयत्व माननेमें गौरव है और दोनोंके निषेधमें वाक्यभेद हो जायगा। एक ही यह वैदिक वाक्य है। इससे एक जातीय ही हिंसाका निषेध कर सकते हैं। उक्त युक्तिसे पुरुषार्थ ही हिंसाका यह निषेध है, यह निर्णय हो चुका। अब यदि क्रत्वर्थ हिंसाका भी निषेध चाहते हो तो उसके लिये अन्य निषेध वाक्य चाहिये। 'सकृदुच्चरितश्शब्दस्सकृदेवार्थं गमयति' इस न्यायसे एक वाक्यसे दो अर्थोंका बोध नहीं होता, यह निश्चित है। जहां दो अर्थोंका बोध इष्ट होता है वहाँ वाक्यकी आवृत्ति की जाती है।

परन्तु उसमें प्रमाण होना चाहिये। अतएव 'सोमेन यजेत' यहाँ मत्वर्थमें लक्षणा मानी गयी है, अन्यथा वाक्यभेद होगा। लक्षणा पददोष है वाक्यभेद वाक्यदोष है, अतः लक्षणासे भी वाक्यभेद दोष गुरु है। इसलिए लक्षणा मानी गई। वाक्यभेद नहीं, यह मीमांसामें स्पष्ट है।

यहाँपर कोई विद्वान् उत्सर्गापवाद मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि 'मा हिंस्याद्' यह निषेध क्रत्वर्थपुरुषार्थसाधारण हिंसामात्रका है, अतएव व्यापक विषय होनेसे उत्सर्ग है। 'अग्नीषोमीयम्' यह हिंसाविधायक वाक्य निषेधाप्राप्तियोग्यमें कहीं चरितार्थ नहीं है। अतः व्याप्यविषय होनेसे अपवाद है। उत्सर्ग और अपवादमें अपवाद बलवान् होता है, इसलिए उत्सर्गका बाधक होता है। उत्सर्गप्राप्तियोग्यमें अचरितार्थत्व ही अपवादकी बलवत्तामें प्रयोजक है। बाधका स्वरूप उत्सर्गशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नमें अपवादशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन संकोच है अर्थात् अग्नीषोमीयातिरिक्त पशुकी हिंसा पापजनक है, यह 'मा हिंस्यात्' इसका अर्थ है। और सुनिये, यागीय पशुहिंसामें उक्त वाक्यकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए यह हिंसा अनर्थकर नहीं है, अतएव 'आहवनीये जुहोति', 'पदे जुहोति' इन वाक्योंमें उत्सर्गापवादभाव मीमासकोंने माना है। होममात्रमें आहवनीयसम्बन्ध 'आहवनीये जुहोति' से बोधित होता है। 'पदे जुहोति' इत्यादि विशेषवाक्योंसे पदादिसम्बन्ध होममें कहा गया है, अतः आहवनीयाविषयमें कहीं अचरितार्थ पदादिवाक्य उक्तरीतिसे पदहोमातिरिक्त होमसम्बन्ध आहवनीयमें बोधन कराते हैं। पदादिहोम पद हीमें होता है, आहवनीयमें नहीं, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'मा हिंस्यात्' यह वाक्य उक्त कारणोंसे रागतः प्राप्त भक्षणार्थस्वरूप पुरुषार्थ हिंसाविषयक है, क्रत्वर्थविषयक नहीं है। इसलिए उत्सर्गापवादकी यहाँ संभावना ही नहीं है। निषेधविषय पुरुषार्थ हिंसाविषय पशुव्यतिरिक्त क्रत्वर्थसाधन पशुमें अग्नीषोमीयादि वाक्य चरितार्थ है। कोई कहते हैं कि यह उत्सर्गापवाद है। देखिये— 'मा हिंस्यात्' इस निषेधविधिका विषय हिंसामात्र है, जिसमें विहित क्रत्वर्थ हिंसा भी अन्तर्गत है। मरणफलक—मरणकारण पुरुषव्यापार हिंसा प्रसिद्ध है। तादृश हिंसात्व यागीयहिंसामें भी है।

शङ्का—यह तो ठीक नहीं है, कारण कि आख्याताभिहित भावनासे आक्षिप्त जो कर्ता तच्छेषभूत हिंसा है वही हिंसा धातुसे प्रतीत होती है, क्रतुप्रकरणाम्नात हिंसा नहीं, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

समाधान—जरूर कहा है, पर ठीक नहीं कहा है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—उद्देश्य हिंसामें पुरुषार्थत्वादि विशेषण नहीं हो सकते। अन्यथा 'आहवनीये जुहोति' यहाँ भी आख्यातोक्त भावनाक्षिप्त कर्तासे होमका ही अनुवाद होगा, क्रत्वर्थ होमका नहीं, तो ज्योतिष्टोमक्रत्वर्थपदहोम उक्त विधिका विषय न होनेसे इन दोनोंमें मीमांसकाभिमत उत्सर्गापवाद ही न होगा।

शङ्का—उत्सर्गापवाद न होगा, तो दोष ही क्या है ? पदहोममें आहवनीय संबन्धव्यावृत्ति उत्सर्गापवाद न्यायका मत है वह उपायान्तरसे भी हो गई, फिर उत्सर्गापवादभाव नहीं हुआ, तो कोई दोष नहीं है।

समाधान—दोष क्यों नही है ? क्रत्वर्थं नारिष्टहोमादिका आहवनीयके साथ सम्बन्ध नही होगा। आहवनीयका केवल पुरुषार्थं होम ही के साथ सम्बन्ध मानते हैं।

उत्तर—अच्छा तो 'यदाहवनीये जुहोति' एतद्वाक्यघटक 'हु' धातुसे यावद्वचनबोधित होमका अनुवाद करते हैं, जिससे प्रत्यक्ष विधिबोधितनारिष्टानारिष्ट सकल होमका भी ग्रहण हो जायगा। वहाँ विशेष होम अनपेक्षित है। अतएव इसको उद्देश्य विशेषण माननेपर वाक्यभेद ध्रुव है, अतः पुरुषशेषत्व उद्देश्यमें विशेषण नही है। सकल होमका अनुवादक 'आहवनीये जुहोति' घटक 'हु' धातु है। प्रकृतमें 'नानृतं वदेत्' यह क्रत्वर्थ है, क्योंकि इसका दर्शपूर्णप्रकरणमें पाठ है और 'मा हिंस्यात्' यह किसी यागप्रकरणमें पठित नहीं है, तो भी यदि इससे लौकिक हिंसा और वैदिक हिंसा दोनोंका निषेध कीजियेगा, तो 'नानृतं वदेत्' इस वाक्यसे भी लौकिक अनृतवदनका क्रत्वर्थं अनृतवदनके साथ निषेध सिद्ध हो जाएगा जो इष्ट नही हैं। 'लौकिके वाक्ये पुरुषशेषत्वं वैदिके वाक्ये क्रतुशेषत्वं' यह वाक्योंमें वैरूप्यापत्ति भी होगी। लोकानुसार ही वेदवाक्योंका अर्थबोध होता है। लौकिकार्थबोधशैलीका वेदमें त्याग नही है। 'मा हिंस्यात्' में लौकिक हिंसा का निषेध प्रतियोगिता ग्रहण है उत वैदिक हिंसाका ? इस शंकामें 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पने मानाभावः' इस न्यायसे पुरुष विशेषणतया प्रतीयमान लौकिक हिंसाका ही ग्रहण होता है। अनुपस्थित क्रतुशेषभूत हिंसाका नहीं।

शंका—यह समाधान ठीक नही हैं। लौकिक-वैदिक उभयहिंसानिषेधमें पुरुषार्थंकरूपत्व हैं। पापाजनकत्व दोनोंमें समान है। अग्नीषोमीय पशुहिंसा न करनेसे याग विगुण हो सकता है, पाप नहीं होगा जो निषेध और निषेध्यका विषयैक्य कहा है, सो नियम नहीं है, स्त्रीगमन-मांसभक्षणादिका प्रतिषेध भी क्रत्वर्थ है। आपके कथित नियमसे तो इन कर्मोंमें लौकिक सुखार्थंकी ही प्रवृत्ति होती है, इसलिये इनका निषेध भी पुरुषार्थं ही होगा, क्रत्वर्थं नहीं। परन्तु वार्तिककारादिने इनका प्रतिषेध क्रत्वर्थं भी कहा है। 'स्त्र्युपायमांसभक्षादिपुरुषार्थोऽयमाश्रितः। प्रतिषेधः क्रतोरङ्गमिष्टः प्रकरणाश्रयात्॥' (तं. वा.) इसका अर्थ स्पष्ट है।

समाधान—अच्छा तो पुरुषार्थं भी क्रत्वर्थं होता है, इसलिये इस विषयमें 'यदर्थं निषेध्य है तदर्थं ही निषेध होता है' यह नियम छोड़ देते हैं, परन्तु यह क्रत्वर्थंका निषेध क्रत्वर्थं ही होता है, इस अंशमें अभीतक व्यभिचारप्रदर्शन नहीं किया, इसलिये इस अंशको अब भी मानते हैं।

उत्तर—यह निर्युक्तिक है। 'यदर्थो निषेध्यस्तदर्थो निषेधः' यही सामान्य नियम आपके नियममें भी प्रयोचक है, इसका व्यभिचार स्त्रीगमनादिकमें दिखला चुके, तो फिर आपका इष्ट नियम भी कहाँ रहा ? 'यो ब्राह्मणाय अवगुरेत्, शतेन तं यातयात्' इस वाक्यसे विहित लौकिक-वैदिकसाधारण अवगण-प्रतिषेध पुरुषार्थ माना जाता है, अन्यथा अनुष्ठानप्रतिबन्धक यागप्रकरणमें पुरुषस्वातन्त्र्यप्रसक्ति होगी।

शंका—क्रतुसम्बन्धी कार्यानुष्ठानार्थं भाषण यदि अनृत होगा, तो क्रतुमें वैगुण्य होगा और यदि क्रतुस्थित लौकिक कार्यार्थं भाषण करें और वह यदि अनृत हो जाय, तो क्रतुमें वैगुण्य नहीं होगा, किन्तु

पुरुषको प्रत्यवाय होगा। अतः जबतक यज्ञमें स्थित रहें तबतक अनृतवदन न करे, यह कर्त्रधिकरणमें निर्णीत हो चुका है, सो उक्त नियम न माननेसे भङ्ग हो जायगा। नियमभङ्ग होनेपर जितने अनृतवदन हैं, चाहें—क्रत्वर्थ हों या पुरुषार्थ सबका निषेध क्रत्वर्थ ही हो जायगा।

समाधान—दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'नानृतं वदेत्' ऐसा पढ़ा गया है, इसका नञ्रहित वाक्य 'अनृतं वदेत्' यह हुआ। इसका अर्थ हुआ कि अनृतवदनसे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी उपकार करें, फिर 'नञ्' के साथ सम्बन्ध करनेसे अनृतवदनांश अनुवाद हो गया। अब विधि नहीं रही। प्रथम अज्ञातज्ञापक उक्त वाक्य विधि था, पर द्वितीय बारके कथनसे उक्त अंश ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवाद हो गया। अतः नञ्घटित सम्पूर्ण वाक्यका यह अर्थ होता है कि अनृतवदनसे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी जो उपकार करना था, सो न करो, इस प्रकार उक्त वाक्यकी योजना वार्त्तिककारने बतलाई है, इस रीतिसे प्रकरणसामर्थ्यसे क्रत्वर्थानृतवदननिषेध ही क्रत्वर्थ है, इसका लाभ हो गया। अतएव तन्नियमलाभार्थ उक्त नियमकी आवश्यकता नहीं है।

शंका—प्रकरणाम्नात अनृतवदननिषेधवाक्यार्थकथनमें अनारभ्याधीत हिंसानिषेधवाक्यका क्रत्वर्थ हिंसा विषय नहीं है, किन्तु पुरुषार्थ हिंसामात्र पुरुषको, हिंसासे जो उपकार करना था सो न करे, यही अर्थ हुआ। हिंसासे पुरुषका उपकार है क्रतुका नहीं, क्योंकि उसके प्रकरणमें इसका पाठ नहीं है। अतः 'मा हिंस्यात्', 'अग्नीषोमीयम्' का उत्सर्गापवाद विषय नहीं हो सका इसलिये तदर्थ आपका कथन यह घट्ट कुटीप्रभातवत् है।

समाधान—क्रत्वर्थ हिंसासे भी पुरुषका उपकार अवश्य है। लौकिक हिंसा भक्षणार्थ होनेसे सद्यः साक्षात् उपकारक है। वैदिक हिंसा अदृष्ट द्वारा कालान्तरमें उपकार है। भेद इतना है कि यह देरसे तथा परम्परया उपकारक है इसलिये हिंसासे जो पुरुषका उपकार करना है, इसमेंसे लौकिक हिंसा और वैदिक-हिंसा उपकारकरूप होनेसे दोनोंका संग्रह होता है। साक्षात् अथवा क्रतूपकार द्वारा यथा कथञ्चित् पुरुषो-पकारका अमुवाद्यकोटिमें प्रवेश है। अनृतवदन भी पुरुषार्थानपेक्ष क्रतूपकारक नहीं होता। यज्ञकर्ताका जब यज्ञाङ्ग द्रव्य कम हो गया, तो उसका सम्पादन करना आवश्यक है। उस समयके लिये द्रव्यार्जनोपाय जो बताये गये हैं सत्प्रतिग्रहादि, उन्हींके समान यह भी कहा गया है कि 'नानृतं वदेत्'। यदि कोई दाता द्रव्य देना चाहे, तो उससे उतना ही द्रव्य माँगना चाहिये, जितनेकी न्यूनता हो, अधिक नहीं, जैसा कि आजकल देखनेमें आता है। इस प्रकार अनृतवदन भी पुरुषार्थसाधन द्वारा ही क्रतूपकारक है। इसी प्रकार पहले संकल्प किया कि व्रीहिसे यज्ञ करेंगे, पीछे देखा कि व्रीहि कम मिलेगा, इसलिये 'यवसे ही याग करें' यह संकल्प कर यवसंग्रहमें प्रवृत्त होनेपर 'नानृतं वदेत्' यह वचन प्रवृत्त होता है कि झूठ नहीं बोलना चाहिये। जो संकल्प किया, उसके अनुष्ठान होना चाहिये, विपरीत नहीं, अतः निष्कर्ष निकला कि उद्देश्यकोटिमें भावनाक्षिप्त कर्तृविशेष पुरुषार्थहिंसा ही का ग्रहण है, वैदिक हिंसाका नहीं। इसलिये 'मा हिंस्यात्' का 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' के साथ विरोध ही नहीं है। दोनों भिन्नविषयक हैं। निषेधवाक्य भोजनार्थ हिंसामें पापजन-

कत्वबोधद्वारा पुरुषको उससे अलग करता है और अग्नीषोमीयवाक्य स्वर्गार्थी पुरुषको स्वर्गसाधनीभूत अग्नीषोमीय पशुहिंसामें पुण्यजनकत्वबोधनद्वारा स्वर्गसाधनीभूत उक्त हिंसामें पुरुषको प्रवृत्त कराता है। इस प्रकारकी वचनव्यवस्था असङ्गत है। इसमें कारण कह चुके हैं कि नारिष्टहोमादिमें आवहनीयार्थत्वानुपपत्ति दोष होगा, अधिक विचार अन्यत्र देखिये।

शंका—निषेध्य और निषेधक एकार्थक होते हैं; इस नियमका त्यागकर क्रत्वर्थपुरुषार्थसाधारणहिंसा-मात्रका 'मा हिंस्यात्' इस वाक्यसे निषेध होता है, ऐसा माननेसे सांख्य ही विजयी होंगे, क्योंकि वैदिक हिंसामें भी वे लोग अनर्थजनकत्व मानते हैं। यदि वह भी अनर्थजनक है, तो उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? कोई भी पुरुष जानकर अनर्थक कार्य नहीं करता।

समाधान—यह शंका ही नहीं हो सकती।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—जिसमें दुःख थोड़ा हो और सुख अधिक हो, उस कार्यमें अधिक सुखलाभके लोभसे पुरुष प्रवृत्त होते हैं, यह प्रसिद्ध है। 'कष्टं कर्म' इस न्यायसे कर्म न कर चुपचाप बैठे रहनेकी अपेक्षा कुछ करनेमें यानी शारीरिक, वाचिक और मानसिक कोई भी व्यापार करनेमें कार्यानुसार कष्ट होता ही है। परन्तु सुखप्राप्तिके लिए लोग चाहे कितना भी कष्टकर कार्य क्यों न हो, पारलौकिक तथा ऐहिक कर्म करते ही हैं। कृच्छ्र चान्द्रायण, आजन्म ब्रह्मचर्य, तप-शम-दानादि पारलौकिक कर्म तथा कृषि-व्यवसायार्थ अतिदूरदेशगमन एवं दूसरोंकी सेवादि लौकिक कार्य प्रसिद्ध ही है। तद्वत् स्वल्प दुःखद तथा भूरिसुखप्रद अग्नीषोमीयादि याग में प्रवृत्ति क्यों न होगी ? इसी प्रसङ्गमें आचार्य वाचस्पति मिश्रने कहा है कि 'मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीतस्वर्ग-सुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोत्पादितां दुःखवह्निकणिकाम्' (तत्व.कौ.पृ.२२) अर्थात् अग्नीषोमीयादि यागजन्य स्वर्गसुखानुभवके समय तदनुष्ठानसमयकृत पश्वादिहिंसाजन्य पापपरिपाकप्रभव दुःखलेश सहना ही पड़ता है। परन्तु सुखानुभवापक्षेया वह नगण्य है, इसलिये प्रवृत्तिमें बाधक नही है। जो उत्सर्गापवाद भावसे बाध्यबाधकभाव माना गया है, सो भी ठीक नही है, तो वैदिक हिंसामें अनर्थजनकत्व और क्रतूपकारकत्व दोनों हैं, फिर उक्त न्यायसे 'मा हिंस्यात्' इस उत्सर्गका 'अग्नीषोमीयम्' इस अपवादसे बाध क्यों ? यदि वैदिक हिंसामें 'मा हिंस्यात्' इस वाक्यकी प्रवृत्ति कराना इष्ट न हो, तो उक्त हिंसामें पुरुषार्थशेषत्व पहिले ही विशेषण दीजिये, भक्षणार्थ रागतः प्राप्त हिंसाके विषयमें सामान्यशास्त्र है, वैदिक हिंसा उक्तशास्त्रका विषय नही है। ऐसी परिस्थितिमें उत्सर्गापवादभावका सम्भव ही नही है। जहां अपवादशास्त्राधीन उत्सर्गशास्त्रकी विषयव्यवस्था होती है वहां उक्त न्याय होता है। यहां तो अपवादशास्त्र व्यापारके विना ही प्रकारान्तरसे ही सामान्यशास्त्र लौकिक हिंसामें ही प्रवृत्त होता है, यह विषयव्यवस्था हुई है, अतः उत्सर्गा-पवादभाव नहीं है।

निषेध और निषेध्य एक ही विषयमें होते हैं, यह नियम मानकर पुरुषार्थहिंसाका ही सामान्यशास्त्रसे निषेध है, वैदिक हिंसाका नहीं, इसका समर्थन करने पर भी उत्सर्गापवाद न्याय दूर नहीं होता।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—बहुत हिंसाओंका परिहार करना आवश्यक है। देखिये—मरणान्त प्रायश्चित्त, संग्रामाभिमुख हनन, चोर-स्तेन हननादि जो पुरुषार्थ हैं इनका भी परिहार करना इष्ट है। मरणान्त प्रायश्चित्तके विषयका उदाहरण यह है कि 'सुरापस्य ब्राह्मणस्य उष्णाप: सिञ्चेयुः, सुरापास्ये मृतः शुध्येत्' मद्यपी ब्राह्मणके मुखमें अतितप्त मद्यधारा छोड़े, जिससे वह मरकर शुद्ध हो जाय। यदि कोई ब्राह्मण मद्य पीकर शुद्ध होनेके लिए उक्त कर्म करे, तो उसको आत्मघातका पाप नहीं होता, कारण कि उसने धर्मशास्त्रोक्त शुद्धिके उपायका अनुष्ठान किया। इसलिये इस हिंसामें उक्त सामान्य शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं है एवं 'न दोषो हिंसायामाहवे' अर्थात् परस्पर ललकार कर प्रवृत्त हुए युद्धमें हिंसा दोष नहीं है तथा 'अदण्ड्यान्दण्डन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति'॥ (मनु० स्मृ०, अ० ८-श्लो० १२८), 'स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमीयात्कर्माचक्षाणः पूतोबन्धमोक्षाभ्यां घ्नन्नेन यशस्वी राजा।' हननयोग्यका हनन राजा न करे तो दोष है, हनन करे, तो दोष नहीं है, यह धर्मशास्त्रकी आज्ञा है। जिसका पालन अब भी होता है। समयभेदसे हननयोग्य निर्णयमें मतभेद है, परन्तु फांसीकी सजा अब भी दी जाती है। फाँसी देनेवाला दोषी नहीं कहा जाता। इन सबका परिहार करना आवश्यक है, इसलिए पुरुषार्थहिंसानिषेधपक्षमें अनुपदिष्ट प्रायश्चित्तविहितहिंसातिरिक्त-हिंसाविषयमें सामान्यशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह अवश्य ही मानना पड़ता है और ऐसा ही वैदिक पशुहिंसाका भी उत्सर्गापवाद न्यायसे परिहार सिद्ध हो ही जाता है, फिर पूर्वमें ही पुरुषार्थहिंसाका ही सामान्यशास्त्र निषेध करता है, वैदिक हिंसाका नहीं, यह कहनेका क्या प्रयोजन ? 'अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः' (अ० ८ खं० १५) इस छान्दोग्योपनिषद्वाक्यसे हिंसानिषेधमें तीर्थपर्युदास स्फुट होनेसे हिंसानिषेधविधानमें उत्सर्गापवाद न्यायका आश्रय श्रुतिसंमत है। उपनिषद्गत तीर्थशब्दसे अगर्हित हिंसाका पर्युदास विवक्षित है, अगर्हित वह हिंसा है, जिसमें प्रायश्चित्तका विधान नहीं है अथवा वेदविहित है। अतएव 'श्येनेनाभिचरन् यजेत', 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' इनसे विहित अभिचार आततायिवधमें प्रायश्चित्तका उपदेश है, अतः ये उपदिष्ट प्रायश्चित्त होनेसे पर्युदासकोटिमें नहीं हैं, अतः इनमें सामान्यशास्त्रकी प्रवृत्ति है। इससे वैदिक हिंसामें स्वल्प दोष है, यह माननेवाले सांख्य परास्त हुये। सांख्यमतका खण्डन करनेमें असमर्थ विद्वानोंने कहा है कि वैदिकी हिंसा हिंसा ही नहीं है, इसलिए सामान्यशास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती। उनका मत यह है कि अनर्थप्रापक व्यापरवत्त्वहिंसाका लक्षण है अर्थात् जिस व्यापारसे हन्यमानको अनर्थप्राप्ति होती है वह हिंसा है। अग्नीषोमीयादि पशुको अनर्थप्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वर्गप्राप्ति होती है, इसलिये यागीय पशुहिंसा हिंसा नहीं है। मन्त्रलिङ्गसे—संज्ञपनमंत्रके सामर्थ्यसे पशुकी रक्षा ही प्रतीत होती है 'न वा उ वेतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ, इदेषि पथिभिः सुगेभिः, यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः, तत्र त्वा देवः सविता दधातु'

(तै॰ब्रा॰३ ७, ७·१४) (हे पशो, तुम इस संज्ञपनव्यापारसे सर्वथा न मरोगे अतएव न विनाशी होगे, किन्तु सुख योग्य—सुखद मार्गसे देवलोकमें पहुँचोगे, जिस उत्तम लोकमें पापी नहीं जाते, पुण्यवान् जाते हैं, उस उत्तम लोकमें सूर्य तुमको रखें)। इससे स्पष्ट है कि उत्तम लोकप्राप्ति पशुको होती है।

शङ्का—मन्त्रलिङ्गसे जो कुछ प्रतीत हो, यागीय पशुको दुःखप्राप्ति मारनेसे नहीं होती, यह कहना तो मिथ्या है, क्योंकि दुःखप्रद व्यापारके विना मरण नहीं हो सकता।

समाधान—दुःखजनक व्यापार हिंसा नहीं है। रोगीके रक्षणार्थ शल्यव्यापार—नस्तर देना—दुःखजनक व्यापार है, परन्तु हिंसा नहीं है। नस्तर देनेका उद्देश्य रोगीको कष्ट पहुँचानेका नहीं है, किन्तु भावी भीषण कष्टको दूर करनेका है, जो नस्तरकालिक कष्टके विना नहीं हो सकता, इसलिये भाविकष्टनिवृत्तिसाधक होनेसे तात्कालिक डाक्टरीका व्यापार होता है। वह हिंसा नहीं है। एवं सांसारिक कष्टनिवर्तक यागीय पशुसंज्ञपनव्यापार हिंसा नहीं है, किन्तु भावि-आनन्द प्रदानौपयिक व्यापार है। भेद इतना है कि डाक्टरके व्यापारसे इसी शरीरमें रोगीको सुखानुभव होता है, यागीय पशुको लोकान्तरमें शरीरान्तरसे होता है तथा यजमानको भी स्वर्ग होता है, यह डाक्टरकी फीस है।

शङ्का—अच्छा तो प्राणवियोगानुकूल व्यापारको हिंसा मानेंगे, डाक्टरका व्यापार उक्त रूप नहीं है और यागीय व्यापार उक्त रूप है।

समाधान—डाक्टरव्यापारसे भी कभी प्राणवियोग होता हैं, पर हिंसा नहीं मानी जाती, क्योंकि डाक्टरका उद्देश्य मारनेमें नहीं था, वह तो रोगका निराकरण कर दीर्घजीवी करनेमें था। पर अदृष्टवश विपरीत भी होता है और जो प्राणवियोगानुकूल व्यापार नहीं है, उसमें भी हिंसाका प्रयोग होता है। सर्वस्वहरण नरकपीड़ामें भी हिंसाका प्रयोग होता है। ये प्राणवियोगानुकूल व्यापार नहीं है।

शंका—सर्वस्वहरणमें हिंसाका प्रयोग शास्त्रमें आता है, 'वृत्तिच्छेदो वधः स्मृतः' इसके समान औपचारिक प्रयोग है।

समाधान—जब शास्त्रमें उक्तार्थमें हिंसाशब्दका प्रयोग पाया जाता है तब आपकी कल्पनाके विपरीत भी कह सकते हैं सर्वस्वहरणादिमें ही मुख्य प्रयोग है, प्राणवियोगानुकूल व्यापारमें औपचारिक है। विनिगमकके विरहसे दोनोंमें समान प्रयोग है, अतः उक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष है, किन्तु पापजनक हिंसा प्राणवियोगानुकूल व्यापारत्व लौकिक हिंसाका लक्षण है। सर्वस्वहरण नरकादि साधारण अनर्थपर्यवसायी दुःखजनकव्यापारत्व है, प्रकृत यागीय हिंसामें अनर्थपर्यवसायित्व नहीं है, इसलिये यह हिंसा नहीं है। अतएव मनु महर्षिने कहा है कि 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा। यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः '(अ॰५-श्लो॰३९) इस साधारण दृष्टिसे अनुवाद कर तात्त्विक शास्त्रदृष्टिसे वह अवध है। दुःखजनक व्यापार है, परन्तु अनर्थपर्यवसायी नहीं है। यजमान और पशु दोनोंको स्वर्ग होता है, अनर्थ किसीको नहीं होता।

युद्धं तु अग्नीषोमीयाद्यालम्भवद्विहितत्वान्न निषेधेन स्प्रष्टुं शक्यते। षोडशिग्रहणादिवत् ग्रहणाग्रहणयोस्तुल्यबलतया विकल्पवत्सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण संकोचसंभवात्। तथा च "विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः" इति न्यायाद्युद्धं न प्रत्यवायजनकम्, नापि भीष्मद्रोण-

---

प्रश्न—आपके मतमें उत्सर्गापवादभाव कैसे ?

उत्तर—सामान्यविषयमें अनवकाशशास्त्रसे विशेषशास्त्राविषयमें सावकाश सामान्यका बाध होता है। बाध विशेषशास्त्रविषयातिरिक्तका समान्यशास्त्रविषयमें संकोच है। प्रवृत्ताका निवर्तकत्वलक्षण बाध नहीं होता, अन्यथा शास्त्रमें अप्रमाण्यापत्ति प्रसङ्ग होगा और 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्ष्व' इस न्यायसे प्रत्युत्तर बाध व्यर्थ है। इन सबका निष्कर्ष यह हुआ कि 'मा हिंस्यात्', 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विधि-निषेधशास्त्रोंमें उत्सर्गापवाद न्याय नहीं है। अतः प्रतिषेधजन्य दुःख तो है। परन्तु वह स्वल्प है और यागजन्य जो सुख है वह अधिक है, इसलिए यागमें प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—वेदान्तमतमें उत्सर्गापवाद न्याय है, इसलिये यागीयहिंसामें पाप नहीं होता। उत्सर्गशास्त्रमें अपवादातिरिक्त विषयकत्वका निवेश होता है। हिंसा प्राणवियोगानुकूल व्यापार ही सोमयागमें भी है। श्रीरामानुजीय मतमें यागहिंसा हिंसा ही नहीं है, इसलिये निषेधशास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु यह मत प्रकारान्तरसे शाङ्कर मत ही है। संकोचोत्तर निष्कर्षका स्वीकार है। हिंसाका शास्त्रमें विधान नहीं है, किन्तु पिष्टपश्वादिका विधान है—इत्यादि अशास्त्रीय अर्थका निरूपण उपेक्ष्य है। इस तात्पर्यसे इसकी चर्चा ही हमने छोड़ दी है। प्रसङ्गानुप्रसङ्गविचारधारा बहुत दूरतक बह आयी। हम मूल स्थानसे बहुत दूर चले आये। शायद श्रोतृगण इतना सुननेमें समय न लगाना चाहते हों, अतः इस शुष्कविचारके पन्नेको उलटकर गीतार्थका अवलोकन करनेको इच्छा रखते हों, तो यह लेख व्यर्थ होगा, इसलिये अब इसको यहीं हम समाप्त करते हैं और संक्षेपमें यह कह देना अनुचित न होगा कि यह दार्शनिक विचार है, इसमें न्याय-वेदान्त-मीमांसादिका श्रुति-स्मृति-तर्कानुकूल गवेषणापूर्ण विचार अतिविस्तृत है। दिग्दर्शनमात्र इसमें किया गया है। अब हम प्रकृतमें आते हैं।] विधिप्रयुक्तमें निषेधशास्त्रका प्रवेश नहीं होता है। 'अग्नीषोमीय' हिंसाके समान युद्धहिंसा विहित है, अतः पापजनक नहीं है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' में जैसे विकल्प होता है अर्थात् ग्रहणाग्रहण दोनों शास्त्रविहित हैं, समानबल विधि-निषेध है, अतः बाध्यबाधकभाव नहीं होता। अन्यथा एकतर वचन व्यर्थ हो जायगा, वैसे ही यहाँ विकल्प नहीं है, किन्तु उत्सर्गापवादन्यायसे बाध्यबाधकभाव है। उक्त न्यायसे दोनों शास्त्रोंकी विषयव्यवस्था होनेसे परस्पर विरोध का परिहार होता है। यागादि हिंसामें अनर्थजनकत्वकी भी व्यावृत्ति होती है यही 'विधि-स्पृष्टे निषेधानवतारः' न्यायका फल है। युद्ध पापजनक नहीं है, यह निष्कर्ष हुआ।

दिगुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तो दोषः, तेषामाततायित्वात् । तदुक्तं मनुना—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" ॥
प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ (८-३५०.३५१) इत्यादि ।

तथा—आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ (वा. ध. अ. ३ श्लो. २०)

ननु—"स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः" ॥ (इति याज्ञ०-२-२१-)

शङ्का—यह तो शास्त्र और लोकव्यवहारसे सिद्ध है कि युद्धमें पाप नहीं है, परन्तु पूज्य भीष्म, द्रोणादि गुरु-ब्राह्मणवधनिमित्तक दोष तो होगा ही। युद्ध इनके साथ करना है, यही अनुचित है, फिर उसमें इनको मारना कहाँ तक उचित हो सकता है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, मनुने कहा है—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ।।" इत्यादि । यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आततायीके वधमें दोष नहीं है। ये पूज्य हैं, गुरु हैं, ब्राह्मण हैं, इत्यादि विचारको छोड़कर देखते ही मार डालना चाहिये । इनके वधमें कोई दोष नहीं है ।

शङ्का—'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः । अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥" याज्ञवल्क्यश्लोकसे यह सिद्ध है कि स्मृतिके दो वचनोंमें विरोध आनेपर व्यवहारसे न्याय बलवान् है अर्थात् उन दोनों वचनोंकी विषय-व्यवस्था उत्सर्गापवाद न्यायसे करनी चाहिये, यह न्याय बलवान् है। बलवान् द्वारा की गई व्यवस्थाको दोनों विरोधी मानते हैं, यह लोकमें दृष्ट है ।

शङ्का—[उत्सर्गापवाद न्यायको कैसे समझें ?

समाधान—वृद्धव्यवहारसे ।

शङ्का—अच्छा तो जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रका परस्पर विरोध हो वहाँ कौन मानना चाहिये ?

समाधान—इन दोनोंके विरोधमें अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है ।

शङ्का—दोनों वचन एक ही आचार्यके हैं, अतः स्वरूपगत श्रुति-स्मृतिके समान कोई विशेष नहीं है, फिर भी धर्मशास्त्र अर्थशास्त्रसे बलवान् क्यों ?*

---

* इसका उत्तर प्रथमाध्यायके ३५ वें श्लोकमें विस्तारसे दिया गया है, वहीं देखिये ।

समाधान—स्वविषयके बलाबलसे स्वमें भी बलाबल होता है। अर्थकी अपेक्षा धर्म बलवान् है, इसलिये धर्मके प्राबल्यसे तद्वचनमें प्राबल्य है, यह शास्त्रकी मर्यादा है, अतः धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके विरोधमें अर्थशास्त्रज्ञका बाध ही होता है। न तो विषयव्यवस्था होती है और न विकल्प ही होता है।

प्रश्न—इसमें उदाहरण क्या है ?

उत्तर—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥' यह मनुस्मृति है तथा 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्। जिघांसन्तं जिघांसीयान् न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥' इत्यादि अर्थशास्त्र है। 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजं। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इत्यादि धर्मशास्त्र है। पूर्व वाक्यसे यह कहा गया है कि यदि जानकर ब्राह्मणका वध करे, तो निष्कृति (तत्पापनिवृत्तिका उपाय नहीं है) अर्थात् ब्राह्मणके वधका पूरा पाप लगेगा, इसमें विरोध स्पष्ट है, इसलिये निर्णय आवश्यक है कि क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—ये दोनों वचन एकविषयक नहीं हैं, अतः इनमें विरोध ही नहीं है, फिर बलाबलन्यायके विचारका अवसर कहाँ ? शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रो रुध्यते' (८-३४८) यह मनुवचन है अर्थात् जहाँ धर्मका उपरोध हो यानी धर्म करनेमें रुकावट हो वहाँ द्विजातियोंको शस्त्रग्रहण करना चाहिये। विरोधियोंका विनाश कर धर्मका प्रचार करना चाहिये, इसके उपक्रममें 'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानाञ्च संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥' अर्थात् आत्मरक्षण, दक्षिणा, यज्ञसाधनसामग्रीकी रक्षामें, युद्धमें, स्त्री-ब्राह्मणकी हिंसामें, आततायीको शस्त्रसे मारनेसे पुरुष दण्डभागी नहीं होता, यह कहकर [यह अर्थवाद-स्तुतिवाक्य है, कर्तव्यार्थबोधक नहीं है] 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादिसे जो कहा है उस पर भी ध्यान देना चाहिये। अर्थात् जो सर्वदा अत्यन्त अवध्य गुर्वादि हैं उनका भी वध करे, यदि वे आततायी हों। दूसरे आततायीके वधमें तो सन्देह ही क्या है ? प्रथम मनुश्लोकमें 'वा' शब्द है और द्वितीय श्लोकमें 'अपि' है। इन दोनों शब्दोंके श्रवणसे यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि ये आततायी होनेपर भी वध्य नहीं हैं, अतएव 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र ब्राह्मणवधात्' इस सुमन्तुके वचनसे स्पष्ट अवध्योक्ति है। 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः' ॥ यह मनुवचन है। आततायी आचार्यादिकी हिंसाका प्रतिषेध करके ही यह वचन सार्थक होता है, अन्यथा नहीं। हिंसामात्रका प्रतिषेध तो 'मा हिंस्यात्' इत्यादि पूर्व वचनसे ही सिद्ध है, निषेध आततायि गुर्वादिपरक है।

शङ्का—'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचन फिर क्यों ?

उत्तर—यह वचन ब्राह्मणादिव्यतिरिक्त आततायिवधपरक है। 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' तथा 'उद्यतासिः विषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा।

इति याज्ञवल्क्यवचनादाततायिब्राह्मणवधेऽपि प्रत्यवायोऽस्त्येव । "ब्राह्मणं न हन्यात्" इति दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वाद्धर्मशास्त्रम्, "जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्" इति च स्वजीवनार्थत्वादर्थशास्त्रम् । अत्रोच्यते—"ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत" इतिवद्युद्धविधायकमपि धर्मशास्त्रमेव "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्र दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान् विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥' इत्यादि वचनोंसे आततायिसामान्यका निर्देश किया है। ब्राह्मणव्यतिरिक्त आततायीका वध तो विना विचारके करना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं, पर ब्राह्मण और गुरुके आततायी होने पर भी इनकी हिंसा ज्ञानपूर्वक नहीं करनी चाहिये। आत्मरक्षार्थं मारनेकी इच्छासे नहीं। यदि किसी उपायसे इनका वध हो जाय, तो 'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचनोंसे उसका प्रायश्चित्त कम होता है, क्योंकि मारनेका उद्देश्य नहीं था। केवल आत्मपरित्राणार्थ उपायसे इनकी यदि मृत्यु हुई तो राजदण्ड भी नहीं होगा, अतः यह अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है, इसका उदाहरण नहीं हुआ। अच्छा तो उदाहरणान्तर सुनिये,—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः। अतो यतेत तत्प्राप्तौ' इत्यादि अर्थशास्त्र है। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।' यह धर्मशास्त्र है। सुवर्णभूमिलाभसे भी मित्रलाभ उत्तम है, यह अर्थशास्त्रका अर्थ है। धर्मशास्त्रोपदेशानुसार क्रोध-लोभसे बचे रहना चाहिए, यह धर्मशास्त्रके वचनका भाव है। किसी विषयमें इन दोनोंका विरोध भी होता है, जैसे—व्यवहारमें दो अभियुक्त हैं, एककी विजयसे मित्रलाभ होता है, धनलाभ नहीं होता। दूसरेकी विजयसे धर्मका पालन होता है, पर मित्रलाभ नहीं होता, बल्कि शत्रुलाभ होता है। धनलाभसे भी मित्रलाभ उत्तम है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। ऐसे अवसरमें किसकी विजय चाहे तथा उसके लिये उचित सहायता करे, इस संशयमें यह न्याय प्रवृत्त होता है कि 'अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है' इसलिए धर्मशास्त्रकी चेष्टा उचित है, अर्थप्राप्तिकी नहीं। अतएव धर्मार्थविरोध में जो धर्मकी उपेक्षाकर अर्थग्रहणमें प्रवृत्त होता है वह धर्मशास्त्रबलवत्ताबोधक उक्त न्यायका अतिक्रम करता है, इसलिये आपस्तम्बने उसके लिये बारह वर्षका प्रायश्चित्त कहा है। सारांश यह है कि आततायिब्राह्मणवधबोधक वाक्यमें 'वा' और 'अपि' ये दो शब्द हैं, जिससे उक्त वाक्य अर्थवाद प्रतीत होता है, विधि नहीं। अर्थवादवाक्यका स्वार्थमें परम तात्पर्य नहीं रहता, किन्तु विधेयार्थकी स्तुतिमें रहता है 'उत अपि वा' इत्यादि घटित वाक्य स्तावक होनेमें सम्भावितार्थक भी कहे जाते हैं। सम्भावितार्थका अनुष्ठान नहीं होता, यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है। सम्भावित अर्थ दो प्रकारके होते हैं—एक तो अशक्य और दूसरे गर्हितानुष्ठान। पहला यह है—'अपि स्तुयाद्विष्णुं किं पुनर्देवदत्तम्'। किसीने कहा—यह देवदत्तकी स्तुति कर सकते हैं। दूसरेने कहा—अवाङ्मनसगोचर विष्णुकी स्तुति यह कर सकते हैं, देवदत्तकी स्तुतिमें क्या लाभ ? यहांपर 'अपि स्तुयाद्विष्णुम्' यह सम्भावितार्थ वाक्य है, क्योंकि

याज्ञवल्क्यवचन्तुन दृष्टप्रयोजनोद्देश्यककूटयुद्धादिकृतवधविषयमित्यदोषः । मिताक्षराकारस्तु 'धर्मार्थसंनिपातेऽर्थग्राहिण एतदेवे (मि० पृ० ४३२) 'ति द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यैतच्छब्द-परामृष्टस्याऽऽपस्तम्बेन विधानान्मित्रलब्ध्याद्यर्थशास्त्रानुसारेण चतुष्पाद्वयवहारे शत्रोरपि जये धर्मशास्त्रातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत्परं वचनमेतत्' इत्याह । भवत्वेवं न नो हानिः । तदेवं युद्धकरणे सुखोक्तेः "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव" इत्यर्जुनोक्तमपाकृतम् ॥३२॥

विष्णुकी स्तुति अशक्य है। इसमें कारण अवाङ्मनसगोचरत्व स्पष्ट कहा गया है, केवल स्तुति शक्तिके उत्कर्षबोधनके लिये 'अपि स्तुयाद्विष्णुम्' यह अपि घटित है। अन्यथा 'स्तुयाद्विष्णुम्' ऐसा ही वाक्य होता। दूसरा 'अपि वेदान्तपारगम्' हैं। इसका अनुष्ठान अशक्य नहीं है। उक्तको मार सकते हैं। पर धर्मशास्त्रसे निषिद्ध होनेसे गर्हित हैं। आततायी ब्राह्मणका वध धर्मशास्त्रमें विहित नहीं है, अतः यहाँ उत्सर्ग 'न ब्राह्मणं हन्यात्' का 'आततायिवधबोधक' वाक्य अपवाद नही हैं, किन्तु विषयव्यवस्था है। ब्राह्मणव्यतिरिक्त आत-तायीके वधमें दोषशंका नहीं है, आततायी यदि ब्राह्मण, गुरु, आचार्य आदि हों तो उनका वध न करना यह मिताक्षरानुसारी धर्मशास्त्रकी व्यवस्था हैं।] इससे सिद्ध हैं कि आततायी ब्राह्मणके वधमें दोष तो हैं ही। 'ब्राह्मणं न हन्यात्' यह दृष्ट प्रयोजन न होनेसे धर्मशास्त्र हैं तथा 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' यह स्वजी-वनार्थ होनेसे अर्थशास्त्र है। 'अत्रोच्यते' से इसका समाधान करते हैं। 'न ब्राह्मणं हन्यात्' यह निषेध उत्सर्ग है। इसका अपवाद है—'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' (तै. ब्रा.-३-४-१) ब्रह्माके लिये ब्राह्मणवध करना चाहिये, जैसे यह वाक्य है वैसेही युद्ध विधायक भी वाक्य धर्मशास्त्र ही है—'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इत्यादि। अतः पूर्वोत्तरवाक्यानुसार ब्रह्मदेवत्ययाग युद्धातिरिक्त स्थलमें न करना, यह अर्थ निकलता है। इसलिये युद्धमें इसकी चिन्ता नहीं है। दृष्ट प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है। इसका वर्णन 'सुखदुःखे समे कृत्वा' यहाँ पर आगे चलकर मिलेगा। 'स्मृत्योर्विरोधे' इत्यादि याज्ञवल्क्यका वचन दृष्टप्रयोजनके लिये है तथा कूट युद्ध—अन्याय युद्धके विषयमें है। भूमि आदि लाभके लिये तथा निरस्त्र अथवा धोखा देकर आततायी ब्राह्मणको भी नहीं मारना चाहिये, इस तात्पर्यसे है, सो प्रकृतमें नहीं है, अतः कुछ दोष नहीं है। मिताक्षराकारका अभिप्राय तो स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्मार्थसन्निपातमें धर्मका अतिक्रमणकर अर्थग्रहणमें प्रवृत्त हुआ, 'एतच्छब्द' से उसका परामर्शकर द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्तका विधान है। इस प्रकार आपस्तम्बवचनकी व्याख्याकर चतुष्पादव्यवहारमें भी शत्रुविजयके लिये धर्मशास्त्रका अतिक्रम नहीं करना चाहिये, यह स्पष्ट कहा है। एतदर्थं उक्त न्याय है। प्रकृतमें उसका सम्बन्ध नहीं है। उक्त रीतिसे ब्राह्मणालम्भनवचनवत् युद्धविधायक वचन भी प्रामाणिक है। इसलिए उसके अनुष्ठानमें कोई दोष नहीं है। अच्छा तो आप जो कहते हैं वही हो, इसमें हमारी हानि नहीं है। 'हे माधव! अपने आदमियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे,' यह अर्जुनकी शङ्का भगवान्ने निवृत्त कर दी। आत्मा मरता ही नहीं, उसके मरनेका ज्ञान ही भ्रम है। शरीर विनश्वर ही है, इसका शोक ही व्यर्थ है, यह तात्पर्य है॥ ३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि तुम यह धर्मोपेत संग्राम न करोगे तो फिर तुम अपने धर्म और कीर्तिका परित्याग कर यानी नाश कर पाप प्राप्त करोगे ॥ ३३ ॥

ननु नाहं युद्धफलकामः, "न काङ्क्षे विजयं कृष्ण", "अपि त्रैलोक्यराज्यस्य" इत्युक्तत्वात् । तत् कथं मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽकरणे दोषमाह—'अथ चेत्त्व०' इति । अथेतिपक्षान्तरे । इमं-भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्र तियोगिकं धर्म्यं-हिंसादिदोषेणादुष्टं, सतां धर्मादनपेतमिति वा । स च मनुना दर्शितः—

"न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नाऽऽसीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥
नाऽऽयुधव्यसनप्राप्तं नाऽऽर्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्" ॥ (७ अ० ९०-९३.)इति ।

शङ्का—ठीक है, उक्त विवेचनसे युद्धमें दोष नहीं है, फिर भी फलकामनासे कर्म किया जाता है । जिनकी फलेच्छा नहीं होती, वे कर्म नहीं करते, 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' इत्यादि वाक्योंसे आपके समक्ष यह निवेदन कर चुका हूँ कि न तो मैं विजय चाहता हूँ और न तीनों लोकोंका राज्य ही चाहता, किन्तु भिक्षा-वृत्तिद्वारा अपना जीवननिर्वाह करना चाहता हूँ, फिर मैं यह युद्ध क्यों करूँ ?

उत्तर—अब यदि तुम युद्ध न करोगे, तो तुमको पाप होगा, यह अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे । यहाँ 'अथ' शब्द पक्षान्तरमें है। प्रत्यक्ष भीष्म-द्रोणादि महापराक्रमशाली पुरुषोंसे समवेत धर्मसंपृक्त यह युद्ध है । पूर्वोक्त रीतिसे यह निश्चय हो चुका है कि युद्धहिंसामें दोष नहीं है, अतः यह अदुष्ट है अथवा सबसे बड़े धर्मज्ञानी भीष्म हैं, उन्होंने इसका अनुसरण किया है, इसलिए सदाचारसे भी धर्माधर्म-का ज्ञान होता है । तुम वस्तुतः जैसा समझते हो वैसा दोषपूर्ण यदि यह कार्य होता, तो भीष्म स्वयं करनेको

सतां धर्ममुल्लङ्घ्य युध्यमानो हि पापीयान्स्यात्, त्वं तु परैराहूतोऽपि सद्धर्मोपेतमपि संग्रामं-युद्धं न करिष्यसि, धर्मतो लोकतो वा भीतः परावृत्तो भविष्यसि चेत्। ततो "निर्जित्य परसैन्यानि "क्षितिं धर्मेण पालयेत्" इत्यादिशास्त्रविहितस्य युद्धस्याकरणात्स्वधर्मं हित्वा-अननुष्ठाय कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा "न निवर्तेत संग्रामात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धसंग्रामनिवृत्त्या च रणजन्यं पापमेव केवलमवाप्स्यसि, न तु धर्मं कीर्तिं चेत्यभिप्रायः। अथवाऽनेकजन्मार्जितं धर्मं त्यक्त्वा राजकृतं पापमेवावाप्स्यसीत्यर्थः। यस्मात्त्वां परावृत्तमेते दुष्टा अवश्यं हनिष्यन्ति, अतः परावृत्तहतः संश्चिरोपार्जितनिजसुकृतपरित्यागेन परोपार्जितदुष्कृतमात्रभाङ्मा भूरित्यभिप्रायः। तथा च मनुः—

"यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥
यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु"॥७ अ० ९४-९५ इति॥

प्रवृत्त न होते। कैसा युद्ध गर्हित है, इसको मनु भगवान्ने 'न कूटैरायुधैर्हन्याद्' इत्यादि श्लोकोंसे स्पष्ट कहा है। 'सतां धर्ममनुस्मरन्' इस मनुवाक्यसे धर्मका उल्लंघन कर जो युद्ध करता है, वह अधिक पापी है। तुमको तो युद्धके लिये शत्रुओंने ललकारा है। तब तुम इस युद्धमें आये हो, अतः धर्मसंपृक्त भी यदि यह संग्राम न करोगे, धर्मसे या लोकसे डरकर यानी धर्मनाशकी आशङ्कासे या भीष्मादि लोकके नाशसे भीरु होकर युद्धसे लौटोगे, तो 'निर्जित्य' इत्यादि शास्त्रविहित युद्ध न करनेसे स्वधर्मका अनुष्ठान न कर तथा महादेवजीके साथ लड़ाई करनेसे प्राप्त कीर्तिका परित्याग कर 'न निवर्तेत संग्रामाद्' इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध संग्रामनिवृत्तिसे जन्य केवल पाप ही पावोगे। धर्म और कीर्ति तुम्हें न मिलेगी, अर्थात् स्वाश्रमविहित धर्मके अनुष्ठानाभावसे पाप होना निश्चित है। धर्म तथा कीर्ति मिलनेकी तो आशा ही नहीं है, यह अभिप्राय है। अथवा अनेक जन्मोंसे अर्जित जो पुण्य है उसका त्यागकर राजकृत जो पाप है वही पावोगे, यह अभिप्राय है। यदि तुम युद्धसे हटोगे, तो हटते समय तुम्हें ये दुष्ट अवश्य मारेंगे। इनको पापका भय तो है नहीं। भय है तुम्हें, तुम हटोगे, तो अवसर पाकर धर्माधर्मका विचार न कर तुम्हें अवश्य मारेंगे, अतः लौटकर सुरक्षित रहनेपर भी अनन्तकालके अति परिश्रमसे संचित जो सुकृत हैं, उनका त्याग हो जायगा और राजकृत जो दुष्कृत हैं, वे अनायास मिल जायंगे, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग अवश्य होंगे, उसका भागी मत बनो; यह अभिप्राय है।

अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

और देवता तथा मनुष्य आदि सबके सब तुम्हारी अकीर्तिका वर्णन करते रहेंगे अर्थात् 'यह अर्जुन धर्मात्मा नहीं है, वीर नहीं है, इस तरह आपसमें कहते रहेंगे, और सम्भावित पुरुषको अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्योऽपि "राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्" १.३२५ इति । तेन यदुक्तम्-

"पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः" ।

"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन" ॥

इति, च तन्निराकृतं भवति ॥ ३३ ॥

एवं कीर्तिधर्मयोरिष्टयोरप्राप्तिः, अनिष्टस्य च पापस्य प्राप्तिर्युद्धपरित्यागे दर्शिता । तत्र

शंका—मेरे सुकृत निवृत्त होंगे और राजकृत पाप मुझको प्राप्त होंगे, ऐसा क्यों ?

समाधान—इसमें प्रमाणभूत 'यस्तु भीतः परावृत्तः' इत्यादि मनुवचन देखो। इसमें साफ है कि जो डरकर संग्रामसे पराङ्मुख होता है और शत्रुओंसे मार खाता है इसमें स्वामीका जो कुछ पाप होता है उन सबका भागी होता है और भागनेवालेका जो उसका जन्मान्तरार्जित पुण्य रहता है उन सबको उसका स्वामी पाता है, यह उचित ही है। [अन्यथा योद्धा राजकीय सेनामें भर्ती होकर अन्य दिनोंमें आरामकर युद्धमें उपस्थित होनेपर भागना आरम्भकर देंगे, इस भगदौड़को रोकनेके लिये नैतिक बलसे पूर्वमें ही रोके जाते हैं। यदि सैनिक युद्धसे भागे, तो उनका सम्पूर्ण पुण्य स्वामिगामी हो जायगा। केवल यही आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वामिकृत सकल पापोंका भोक्ता भी होना होगा। यह समझनेपर ही लोग संग्राममें दृढ़ रहेंगे, इसलिये संसारस्थितिके अनुकूल ही यह नियम है।] याज्ञवल्क्यकी भी इस अंशमें स्पष्ट सम्मति है। देखो—'राजा सुकृतमादत्ते' इत्यादि। [इससे यह निर्णय करना अनुचित नहीं है कि यह मनूक्तार्थका अवयुत्य (पृथक्कृत्य) अनुवाद है, दोनोंका प्रयोजन एक है। यदि अन्यदीय पुण्यका अन्यमें संश्लेष होता है, तो वैसे ही पापका भी संश्लेष हो सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। युद्धसे भागनेवाले राजाके पापके भागी होते हैं, इसका निषेध याज्ञवल्क्यजी ने नहीं किया है। अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्यायसे मनूक्त सर्वांशमें याज्ञवल्क्यकी भी सम्मति है।) इस भगवदुपदेशसे अर्जुनने 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः, 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' इत्यादि जो कहा था, उन सबका खण्डन हो गया ॥ ३३ ॥

पापाख्यमनिष्टं व्यवधानेन दुःखफलदम्,। आमुत्रिकत्वात्। शिष्टगर्हालक्षणं त्वनिष्टमासन्नफलदमत्यसह्यमित्याह—'अकीर्तिम्' इति।

भूतानि-देवर्षिमनुष्यादीनि। ते-तव। अव्ययां-दीर्घकालामकीर्ति-न धर्मात्माऽयं न शूरोऽयमित्येवंरूपां कथयिष्यन्त्यन्योन्यं कथाप्रसङ्गे। कीर्तिधर्मनाशसमुच्चयार्थौ निपातौ। न केवलं कीर्तिधर्मौ हित्वा पापं प्राप्स्यसि, अपि तु अकीर्तिश्च प्राप्स्यसि। न केवलं त्वमेव तां प्राप्स्यसि। अपि तु भूतान्यपि कथयिष्यन्तीति वा निपातयोरर्थः। ननु युद्धे स्वमरणसंदेहात्तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या, आत्मरक्षणस्यात्यन्तापेक्षितत्वात्।

इस प्रकार इष्ट कीर्ति और धर्म इन दोनों की अप्राप्ति तथा अनिष्ट पापकी प्राप्ति युद्धके परित्यागमें भगवान्ने दिखलाई। इसमें अनिष्ट—पाप पारलौकिक है, इसलिये देशान्तर तथा कालान्तरमें वह फल देगा। अतः इसका फल देश-कालादिसे व्यवहृत होनेसे तत्काल चित्तपरितापक नहीं है। शिष्टगर्हालक्षण-प्रतिष्ठित पुरुषोंको जो अधिक्षेप होगा, वह अतिसन्निहित और बहुत असह्य होगा। देवर्षि-नारदादि। मनुष्य प्रसिद्ध ही हैं। ये लोग बहुत दिनोंतक तुम्हारी अकीर्ति कहेंगे कि न तो यह धर्मात्मा है और न शूरवीर ही है। इत्यादिरूप अकीर्ति कहेंगे ही। परस्पर बातचीतके प्रसंगमें तुम्हारा अपयश ही मुख्य विषय हो जायगा। नवीन अद्भुत विषयकी प्रायः सर्वत्र चर्चा होती ही है। सबसे नवीन अद्भुत युद्धसे तुम्हारा पलायन होगा, जो कि स्वप्नमें भी किसीके मनोगोचर न था। 'अपि' और 'च'—ये दोनों निपात कीर्ति और धर्म इन दोनोंके नाशके समुच्चायक हैं। धर्मनाशके साथ कीर्तिनाश भी होगा। केवल कीर्ति और धर्मका त्याग ही नहीं होगा, अपितु अकीर्ति भी प्राप्त होगी। [अप्रकाश रूपसे ये अनिष्ट तुमको न मिलेंगे, किन्तु प्रकाशरूपसे प्राप्त होंगे। इसको स्फुट कहते हैं—'भूतानि' से।] अथवा केवल तुम्हीं अकीर्ति प्राप्त करोगे, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सब लोग भी कहेंगे—यह जनता भी कहेगी पक्षान्तरमें उक्त निपातद्वयका अर्थ है।

प्रश्न—युद्धमें मरणकी संभावना रहती है, अतः उसके परिहारके लिए अकीर्ति सोढव्य है, क्योंकि 'आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि' इत्यादि वाक्यसे आत्मरक्षण अत्यन्त अपेक्षित हैं। ['गुणोंका ग्रहण और दोषोंका परिहार' सब कुछ आत्मार्थ ही है। प्रधानीभूत आत्माकी रक्षा यदि कीर्ति और धर्मके नाशसे भी हो, तो कर्तव्य है। 'जीवन् नरो भद्राणि पश्यति' इस न्यायसे रक्षित आत्मा कालान्तर तथा देशान्तर में पुनः कीर्ति और धर्मका लाभ कर सकता है। अतएव 'गुणप्रधानयोर्विरोधे गुणे त्वन्यायकल्पना' यह शास्त्रका निष्कर्ष हैं। सारांश यह कि गुण और प्रधान दोनोंकी रक्षा न हो सके, तो प्रधानकी ही रक्षा करनी चाहिए। गुणरक्षासे प्रधानकी उपेक्षा उचित नहीं है।] अतएव शान्तिपर्वमें लिखा है—'साम्ना दानेन भेदेन' इत्यादि।

तथा चोक्तं शान्तिपर्वणि—

"साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्ध्येत कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युद्ध्येत संयत्तो विजयेत रिपून्यथा" ॥ इति ॥

एवमेव मनुनाऽप्युक्तम् । तथा च मरणभीतस्य किमकीर्तिदुःखमिति शङ्कामपनुदति—संभावितस्य-धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिरनन्यलभ्यैर्गुणैर्बहुमतस्य जनस्याकीर्तिर्मरणादप्यति-

---

साम, दान, भेद और दण्ड ये चार अर्थ साधनके उपाय शास्त्रमें कहे गये हैं। पूर्व-पूर्वके विफल होनेपर उत्तरोत्तरका आश्रयण कहा गया है। सर्वप्रथम साम है। शान्तिसे जो कार्य हो सके, तो उसके लिये उपायान्तरका प्रयोग नहीं करना चाहिये। सामसे न हो, तो दानसे। इससे भी न हो, तो भेदसे, उससे भी न हो अर्थात् एकैक उपायसे न हो, तो तीनोंका साथ ही प्रयोग करना चाहिये। युद्धसे शत्रुपर विजयका प्रयास करना उचित नहीं है।

[प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—युद्ध करनेवालोंमें किसकी विजय होगी, यह निश्चित नहीं रहती। जय तथा पराजय दोनों अनियत हैं, यह भी देखनेमें आता है कि युद्धमें जिसकी विजय समझी जाती है, उसकी पराजय हो जाती है और जिसकी पराजय निश्चित रहती है उसीकी विजय हो जाती है। इसलिये ये दोनों युद्धमें अनियत रहते हैं। इसलिये विचारशीलोंका यही कथन है कि जहाँ तक हो सके, सामादि प्रयोगसे ही शत्रुपर विजय प्राप्त करनी चाहिए, युद्धसे नहीं।

प्रश्न—तो फिर युद्धका विधान क्यों है ?

उत्तर—यदि पूर्वोक्त उपायोंसे शत्रुपर विजय न हो सके, तो अन्तिम उपाय युद्ध है, किन्तु अनुकूल समय देखकर यानी अपनी साधनसामग्रीको शत्रुकी सामग्रीसे विशिष्ट देखकर ऐसा युद्ध करें, जिससे शत्रुपर विजय अवश्य ही कर सके।] इसी प्रकार भगवान् मनुने भी कहा है। युद्धसे हटनेपर अकीर्ति दोष आप कहते हैं, युद्धमें लगनेसे मरणका सन्देह है। मरणत्राससे भीरुको अकीर्तिलाभ कोई दोष ही नहीं है। कीर्ति हो, अकीर्ति जीवन रहना चाहिए, इस शङ्काका निवारण करते हैं—'संभावितस्य' इत्यादिसे। पुरुषान्तरके जो दुष्प्राप्य गुण हैं यानी यह धर्मात्मा हैं, शूर है, वीर है पराक्रमशाली है, इत्यादि जो गुण हैं

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

जो महारथी भीष्मपितामह आदि तुम्हें गुणी समझकर आदरकी दृष्टिसे देखते हैं वे ही लोग डरकर युद्धसे भगेड़ू तुम्हें समझेंगे। अतः युद्धसे उपरत होकर तुम लघुताको प्राप्त हो जाओगे—सब जगह तुम्हारा अनादर होने लगेगा ॥ ३५ ॥

रिच्यते-अधिका भवति। चो हेतौ। एवं यस्मात्, अतोऽकीर्तेर्मरणमेव वरं, न्यूनत्वात्। त्वमप्यतिसंभावितोऽसि महादेवादिसमागमेन। अतो नाकीर्तिदुःखं सोढुं शक्ष्यसीत्यभिप्रायः। उदाहृतवचनं त्वर्थशास्त्रत्वात् "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादिधर्मशास्त्राद्दुर्बलमिति भावः ॥३४॥

इनसे सम्भावित जो पुरुष है उसका समयपर सब गुण नहीं हैं। इसमें पूर्वगुणोंसे विपरीत कायरता आदि दुर्गुण हैं। इस प्रकारकी अकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखद है। यद्यपि सब दुःखोंसे बड़ा दुख मरण है, पर उससे भी यह दुःख असह्य है। 'च' हेतुमें है। चूँकि बात ऐसी है, इसलिए अकीर्तिसे मरण ही अच्छा है, क्योंकि इसमें कम दुःख है।

शङ्का—हाँ, सम्भावित पुरुषके लिये तो आपका यह उपदेश बहुत ठीक है। लेकिन भीष्म-द्रोणादिके सामने मैं सम्भावित कैसे ?

समाधान—लोग यह भी जानते हैं कि तुमने संग्राममें विशेषप्रकर्षलाभके लिए गुह्यक पर्वतपर जगत्संहारैकलील भगवान् भूतभावन करुणाकर श्रीशंकरजीकी उग्र तपस्याकर उनका साक्षात्कार किया है। भगवान् शंकरके पूछनेपर कि तुम क्या चाहते हो ? इसके उत्तरमें तुमने कहा था—'भारतयुद्धमें विजयलाभ करूं' इसके योग्य अस्त्र चाहता हूँ तथा हम लोगोंकी आप रक्षा करें, इत्यादि चाहता हूं तथा जो कुछ विजय करनेमें आवश्यक हो, सो कृपया आप दें, यही चाहता हूँ, भगवान् शंकरने कहा—यह काम तुमसे न होगा। इसके लिए हम समरमें आकर तुम्हारी इष्टसिद्धि करेंगे। इन अपराजित अस्त्रोंको लो, नाम तुम्हारा ही होगा। मैं अदृश्य होकर तुम्हारा काम करूँगा। तुम मुझे देख सकोगे। इन सब कारणोंसे तुम भी अति सम्भावित ही हो। अतः युद्धसे भागनेपर तुम्हारी अकीर्ति मरणसे भी जघन्य होगी, जिस अकीर्तिको तुम सह न सकोगे। 'न युद्धयेत कदाचन' यह उदाहृत वचन अर्थशास्त्र होनेसे 'न निवर्तेत संग्रामात्' इत्यादि धर्मशास्त्रसे दुर्बल है, अत एव तद्बाध्य है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके परस्पर विरोधमें धर्मशास्त्र बलवान् है, इसकी व्यवस्था पूर्वमें हो चुकी, अतः सम्प्रति युद्ध करना ही श्रेय है, यह अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

ननूदासीना जना मां निन्दन्तु नाम, भीष्मद्रोणादयस्तु महारथाः कारुणिकत्वेन स्तोष्यन्ति मामित्यत आह—'भयाद्रणाद्०' इति ।

कर्णादिभ्यो भयाद्युद्धान्निवृत्तं, न कृपयेति त्वां मंस्यन्ते भीष्मद्रोणदुर्योधनादयो महारथाः। ननु ते मां बहु मन्यमानाः कथं भीतं मंस्यन्त इत्यत आह—येषामेव - भीष्मादीनां त्वं बहुमतः- बहुभिर्गुणैर्युक्तोऽयमर्जुन इत्येवं मतः । त एव त्वां महारथा भयादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः ।

जिनका युद्धसे विशेष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसमें उदासीन हैं वे हमारी निन्दा अवश्य करेंगे, किन्तु महारथी भीष्मपितामह आदि महापुरुष तो, जो मेरे धार्मिक विचारोंसे परिचित हैं, करुणासे अर्जुन युद्ध विरत हुये, हम लोगोंकी हिंसा उनको सह्य न हुई—इस प्रकार मेरी स्तुति ही करेंगे। बड़े पुरुषोंकी स्तुति निन्दा उपादेय हेय है। इतर जो निन्दाप्रिय हैं, वे तो उचित कार्य करनेपर भी आरोपित दोषसे निन्दा करते ही हैं। 'प्रजानने कः करमर्पयिष्यति' इस न्यायसे उनका मुँह बन्द करना तो असम्भव ही है, इसपर कहते हैं—'भयाद्रणा०' इत्यादिसे।

उत्तर—भीष्मपितामहादि महापुरुष भी यही कहेंगे कि अर्जुन युद्धमें कर्णसे डरकर वहाँसे भाग गया, न कि हम लोगोंके ऊपर दया आ जानेसे, [क्योंकि कर्ण कुन्तीसे यह कह चुका है कि हम युधिष्ठिरादि चारोंको नहीं मारेंगे, हमारा लक्ष्य अर्जुन ही है। तुम्हारे पाँचों पुत्रोंकी रक्षा अर्जुनके मारनेपर भी रहेगी, पाँचवाँ मैं रहूँगा। दुर्योधनादिको भी यह विश्वास था कि कर्ण ही अर्जुनपर विजयकर सकता है, दूसरा नहीं । अर्जुनादिने द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या पायी थी और कर्णने द्रोणाचार्यके गुरु श्री परशुराम भगवान्से विधिवत् अस्त्रविद्या ग्रहण की थी। इस कारण गुरुता विशेष कर्णमें विद्यमान है। इसलिए तुम्हारी दयालुतापर दृष्टिपात न कर भीरुता ही को देखेंगे। करुणाबुद्धि तो युद्धस्थलागमनसे पूर्वमें भी हो सकती थी, किन्तु सैन्यावलोकनानन्तर निवृत्तिमें कारणत्वजिज्ञासासे भय ही प्रथम उपस्थित होगा।]

शङ्का—साधारण पुरुषोंके मनमें भय ही प्रथम उपस्थित होगा, यह सही है, पर भीष्मादि हमको बहुत मानते हैं, इसलिये युद्धमें भीरु मुझे कदापि न मानेंगे।

उत्तर—हाँ भीष्मादि ही, जो युद्धसे पूर्व तुमको बहुत मानते थे—सौर्यतेजः प्रभादिगुणसम्पन्न मानते थे, वे ही युद्धका भगेड़ू तुम्हें मानेंगे ? 'बहुमतो भूत्वा लाघवं यास्यसि' इस वाक्यके मध्यमें कुछ और शब्दोंकी आवश्यकता है। अन्यथा बहुमत होकर लघु होंगे क्यों ? इस आकांक्षाकी शान्ति नहीं होती। इसलिये मध्यमें युद्धादुपरतः' इसका सम्बन्ध करते हैं। पूर्वमें उनको बहुमत होकर युद्धसे उपरत होकर लघु होंगे, इस प्रकार लाघवका हेतु युद्धोपरति कही गई है। लाघवसे अनादरकी सूचना है। केवल भीष्मादिके ही

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तुम्हारे शत्रु सब तुम्हारी सामर्थ्यं निन्दा करते हुए बहुत कुवाच्य बोलियाँ बोलेंगे। तब तुम्हारे लिए उससे बढ़कर और भला दुःख ही क्या होगा ॥ ३६ ॥

बहुमतो भूत्वा युद्धादुपरत इति शेषः । लाघवम्-अनादरविषयत्वं । यास्यसि-प्राप्यसि । सर्वेषामिति शेषः । येषामेव त्वं प्राग्बहुमतोऽभूः, तेषामेव तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसीति वा ॥ ३५ ॥

ननु भीष्मादयो महारथा न वहु मन्यन्ताम् । दुर्योधनादयस्तु शत्रवो बहु मंस्यन्ते, मां युद्ध-निवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यत आह—'अवाच्य' इति ।

अनादर भाजन न बनोगे, किन्तु सबके अनादर भाजन बनोगे। सब लोग यही समझेंगे कि यह चंचा-पुरुषके[1] समान निर्वीर्य है। अथवा लाघव और गौरवमें भीष्मादिका ही सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, किन्तु सर्वसाधारणका। इस अभिप्रायसे जिनके युद्धसे पूर्व बहुमत समादृत थे, युद्धसे उपरत होकर उन सबके अनादरभाजन बनोगे। 'वा' शब्दसे यह सामान्यार्थ सूचित है। [महाभारतमें विजयलाभके लिये युधिष्ठिरादि चारो भाइयोंसे शस्त्रादिग्रहणार्थं कायक्लेशसहन आदि कर्म प्रधानतः अधिक अर्जुनने ही किया था, इसलिये अधिकप्रभावशाली होनेसे सबके आदरपात्र थे। युद्ध आरम्भ होनेपर सबसे निकृष्ट कर्म युद्धपलायन करनेको भी अर्जुन ही प्रवृत्त हुए, इसलिये 'सबके अनादरपात्र होगे' यह भगवान्का कहना सयुक्तिक ही है। आदर-अनादर-गुण-दोष हेतुक है, यह भाव है] ॥ ३५ ॥

[भीष्मादि महारथी युद्धोपरतिसे मेरा सम्मान न करें, क्योंकि वह क्षात्रधर्मके धुरंधर पण्डित हैं। अम्बालाके विवाहप्रसङ्गसे स्वगुरु श्रीपरशुराम भगवान्से लड़ गये थे। माता भगवती भागीरथीने पुत्र-वात्सल्यसे आकर पलंगपर पड़े श्रीपरशुरामजीके बाणोंसे बेचैन भीष्मसे कहा—'बेटा, तुम यह काम अच्छा नहीं करते हो, जिनकी कृपासे तुमको धनुर्विद्या प्राप्त हुई, जिससे कोई क्षत्रिय वीर तुम्हारा सामना नहीं कर सकता, उन महापुरुष गुरुसे तुम युद्ध करते हो, बाणोंसे उनको मारते हो, उस समय उनमें शत्रुभाव करते हो, यह कितना अनुचित कार्य है। अगर वह तुम्हारा सिर भी काटना चाहें, तो काटने दो। उनसे मत लड़ो, धर्मविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए, फिर तुम विशिष्ट कुलोत्पन्न धार्मिक पुरुष हो' इत्यादि, भीष्मपितामहने कहा—'माँ, उचित ही करता हूँ। अनुचित नहीं करता। मुझपर दयाकर आप ही अन्यथा कहती हैं।

१. चञ्चापुरुष अर्थात् तृणसे बनी हुई पुरुषकी आकृति।

तवासाधारणं तत्सामर्थ्यं लोकप्रसिद्धं तन्निन्दन्तस्तव शत्रवो दुर्योधनादयोऽवाच्यान्वादान्-व-चनानर्हान् षण्ढतिलादिरूपानेव शब्दान्बहून्-अनेकप्रकारान् वदिष्यन्ति, न तु वहु मंस्यन्त इत्यभिप्रायः। अथवा तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्तीत्यन्वयः। ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः शत्रुकृतसामर्थ्यनिन्दनादिदुःखं सोढुं शक्ष्यामीत्यत आह—ततः-तस्मान्निन्दाप्राप्तिदुःखात्कि नु दुःखतरम्-ततोऽधिकं। किमपि दुःखं नास्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा परम धर्म है—'आहूतो न निवर्तेत'। मैंने स्वयं गुरुजीसे युद्ध आरम्भ नहीं किया, किन्तु उन्होंने श्रीमुखसे कहा कि या तो इससे विवाह करो या सवेरे युद्धके लिये मैदानमें आओ। मैं पितृवचन-प्रतिज्ञाबद्ध था, इसलिये विवाह नहीं कर सकता था, फिर युद्ध करना ही मेरे लिये अनिवार्य हुआ। मैंने गुरुकी आज्ञा मानकर प्रातः रणस्थलमें पहुँच गया, यह मैं जानता हूँ कि उनसे मेरी पराजय निश्चित है, फिर भी यावच्छक्ति युद्ध करूंगा। युद्धके समय भी उनमें मेरा शत्रुभाव नहीं रहता, गुरुभाव ही रहता है, फिर भी दावंमें कसर नहीं करता। मरने-जीनेका तो प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न है धर्मका यानी स्वधर्मत्याग कैसे करूं? धर्मत्यागी पुत्रके जीवनसे आपको भी क्या लाभ? इसलिये अन्ततक मैं युद्ध करूंगा' इत्यादि विस्तृत वर्णन महाभारतमें ही देखिये। जिनके स्वभाव ऐसे हैं] वे भीष्मादि तो अवश्य मेरा आदर न करेंगे, किन्तु जिनको मेरे युद्धोपरमसे लाभ है, वे दुर्योधनादि मेरा तो बहुमान करेंगे, इसपर कहते हैं—'अवाच्य' इत्यादिसे।

नहीं, वे भी तुम्हारे प्रसिद्ध सामर्थ्यकी निन्दा ही करेंगे और जो न कहना चाहिये, उन अनेक प्रकारके शब्दोंका तुममें प्रयोग करेंगे। जैसे षण्ड, तिल आदि। 'तृतीया प्रकृतिः षण्ढः क्लीवः पण्डो नपुंसकम्' यह अमरकोश है। षण्ढशब्द नपुंसकका वाचक है। अनेक जगह 'षण्ड' यह पाठ मिलता है। अर्थात् सांड़की तरह खा-पीकर मोटा बना है, इसमें काम करनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है। मनुष्यमें जो काले दाग होते हैं उनमें भी तिलशब्दका प्रयोग होता है 'तिलकः तिलकालकः' यह अमरकोश ही इसमें भी प्रमाण है। पर 'तिल स्नेहने' धातुसे तिलशब्द बनता है। इसका अन्वर्थ उस अर्थमें घटता है जिससे तेल निकलता है, पर वही मुख्य तिलशब्दका अर्थ है। मनुष्यशरीरगत काला दाग तिलके समान होता है, इसलिये उसको भी तिल कहते है, लेकिन उससे तेलकी आशा करना व्यर्थ है। वैसे ही अर्जुनको धनुर्धारी देखकर कोई वीर कह सकता है, पर वीरत्वकी आशा इनमें मृगतृष्णा ही समझनी चाहिये। यद्यपि 'तिलकः तिलकालकः' इस अमरकोशमें तिलक है, तिल नहीं है, तथापि 'तिल इव' इस व्युत्पत्तिसे 'कन्' प्रत्ययान्त तिलकशब्द है। 'तिलो द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीबं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियान्तु विशेषके ॥' इस विश्व तथा

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

युद्धमें यदि तुम किसी तरह मार दिये जाओगे, तो फिर मरकर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि युद्धमें अपने दुश्मनोंको जीत लोगे तो उन्हें जीतकर पृथ्वीका राज भोगोगे। दोनों तरहसे तुम्हें लाभ है। इसलिए हे कौन्तेय ! या तो मैं इन शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा या स्वयं मर जाऊँगा—ऐसा दृढ़ निश्चय करके युद्धके लिए उठ जाओ—तैयार हो जाओ ॥ ३७ ॥

ननु तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थकृता निन्दा, ततो निवृत्तौ तु शत्रुकृता निन्देत्युभयतः पाशा रज्जुरित्याशङ्क्य, जये पराजये च लाभध्रौव्याद्युद्धार्थमेवोत्थानमावश्यकमित्याह—'हतो वा' इति।

स्पष्टं पूर्वार्धम्। यस्मादुभयथाऽपि ते लाभः, तस्माज्जेष्यामि शत्रून्, मरिष्यामि वेति-

मेदिनीकोशमें काले तिलका वाचक तिल शब्द है। तात्पर्य यह है कि युद्धविरत होनेपर तुम्हारी निन्दा इतनी अधिक होगी कि जीवन भार हो जायगा। तुम्हें आदरकी दृष्टिसे कोई नहीं देखेगा। अथवा—तुम्हारी सामर्थ्यकी यानी स्तुति-योग्यताकी निन्दा करते हुए तुम्हारे दुश्मन कुवाच्य बोलियाँ बोलेंगे, यह अन्वय है।

ठीक है, हम भीष्मद्रोणादिवधसे जो अतिकष्ट होगा, उसको न सहकर युद्धसे निवृत्त होकर दुर्योधनादिकृत सामर्थ्यनिन्दाका दुःख सह सकेंगे। स्वसामर्थ्यनिन्दादुःख उतना दुःसह नहीं है जितना कि पूज्यचरणोंके वधसे जायमान दुःख। इसके परिहारार्थ 'ततः' यह कहा। ततः अर्थात् निन्दादुःखसे बढ़कर और अधिक दुःख हो ही क्या सकता है ? अर्थात् निन्दादुःखसे अधिक दुःख कोई है ही नहीं। [भीष्मादिवधजन्यदुःख तो अपरिहार्य है। भीष्मके लिये शिखण्डी तथा द्रोणाचार्यके लिये धृष्टद्युम्न हैं ही। तुम्हारी उपरतिसे इनके वधका परिहार नहीं हो सकता। तुम्हारे निन्दादुःख परिहार्य है। जो परिहार्य है उसका परिहार न करोगे, तो दोनों दुःख सहने पड़ेंगे। इसलिए मनस्वियोंका जो सबसे अधिक निन्दादुःख है उसका परिहार अवश्य करो]॥ ३६ ॥

शङ्का—युद्धमें पूज्य गुरुजनोंका वध करें, तो जो युद्धमें लिप्त नहीं हैं, किन्तु उदासीन सज्जन बृन्द है वे अवश्य कहेंगे कि विचारशील अर्जुनने तुच्छ लाभके लिये परमोपकारी पितामह आचार्यका वध किया, यह उनके योग्य कर्म नहीं था, और यदि युद्धसे निवृत्त होते हैं, तो शत्रु निन्दा करेंगे कि धनुर्विद्यामें कुशल था, परन्तु कायर—डरपोक यानी प्राणप्रिय था। शौर्यादि गुण इसमें नहीं हैं इत्यादि। अतः दोनों तरफ पाशा रज्जु है। युद्ध करें, तो निन्दा, न करें तो भी निन्दा। निन्दा पिण्ड नहीं छोड़ती। इसलिये क्या करें ? सो कृपाकर आप बतलाइये।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख-दुःख तथा लाभ-अलाभ एवं जय और पराजय—सबको समान समझकर फिर युद्धके लिए सन्नद्ध हो जाओ। ऐसा करनेसे तुम्हें पाप न लगेगा ॥ ३८ ॥

कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ, अन्यतरफलसंदेहेऽपि युद्धकर्तव्यताया निश्चितत्वात्। एतेन "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" इत्यादि परिहृतम् ॥ ३७ ॥

नन्वेवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य नित्यत्वव्याघातः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे त्वर्थशास्त्रत्वाद्धर्मशास्त्रापेक्षया दौर्बल्यं स्यात्, ततश्च काम्यस्याकरणे कुतः पापं ? दृष्टार्थस्य

समाधान—सुनो, जय-पराजयमें लाभ ध्रुव है। जयमें भूमिलाभ और पराजयमें स्वर्ग—इस तरह दोनों हाथमें लड्डू है। अतः युद्ध करनेके लिये उठ खड़े हो जाओ, यही उचित कर्म है। यही भगवान्‌ने कहा है—'हतो वा' इत्यादिसे। इस श्लोकका पूर्वार्द्ध स्पष्ट है। चूँकि दोनों प्रकारसे तुम्हें लाभ निश्चित है अतः शत्रुओंको जीतेंगे अथवा युद्धमें मरेंगे इस प्रकार दृढनिश्चयी होकर युद्धके लिये उठ जाओ। विजय सन्दिग्ध होनेसे तत्फल राज्यलाभ सन्दिग्ध है। मरनेपर स्वर्ग भी सन्दिग्ध है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—कूटयुद्धसे स्वर्ग नहीं होता, किन्तु शास्त्रविहित उपायसे। युद्धमें सर्वथा विधिपालन तो मर्यादा पुरुषसे भी नहीं हो सका। यदि यह सन्देह हो, तो भी युद्ध करना ही न्याय है, क्योंकि क्षत्रियोंको युद्ध विहित है, इसका निश्चय कर चुके हैं। इससे 'यह नहीं जानते कि दोनोंमें कौन अच्छा है' इत्यादिका परिहार हो गया ॥ ३७ ॥

यदि स्वर्गके उद्देश्यसे युद्ध करोगे, तो युद्ध नित्यकर्म नहीं हो सकेगा, जो फलके उद्देश्यसे कर्म किया जाता है वह काम्य कर्म है। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादि। राज्यलाभके उद्देश्यसे युद्ध करोगे, तो अर्थशास्त्र धर्मशास्त्रसे दुर्बल होता है, इस नियमसे अर्थशास्त्रनिमित्तक युद्ध करना चाहिये। 'मा हिंस्यात्' इस प्रबल धर्मशास्त्रसे बोधित निवृत्ति ही उचित है। तन्निवृत्तिसे सम्भावना भी नहीं है। राज्यफलक होनेसे युद्ध काम्य कर्म हुआ, नित्य नहीं। काम्य कर्मका यदि अनुष्ठान करें, तो पुरुषको पाप नहीं होता। काम्य कर्म इच्छाधीन हैं और गुरुब्राह्मणादिका वध अवश्यंभावी है, यह तद्वध राज्यलाभार्थं होनेसे दृष्टफलक है अर्थात् इसका ऐहिक राज्य लाभफल है, तो इसमें धर्म कहाँ ? ऐसी स्थितिमें आपने जो यह कहा कि यदि तुम इस धर्मयुद्धको न करोगे, तो कीर्ति और धर्म दोनों नष्ट हो जायँगे, सो अपने

गुरुब्राह्मणादिवधस्य कुतो धर्मत्वम् ? 'तथा 'चाथ चेदि' (२-३३) ति श्लोकार्थो व्याहत इति चेत् । तत्राऽऽह—सुखदुखे' इति ।

समताकरणं-रागद्वेषराहित्यम् । सुखे तत्कारणे लाभे, तत्कारणे जये च रागमकृत्वा, एवं दुःखे तद्धेतावलाभे, तद्धतौ, अपजये च द्वेषमकृत्वा, ततो युद्धाय युज्यस्व-संनद्धो भव । एवं सुखकामनां, दुःखनिवृत्तिकामनां वा विहाय स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानो गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं

व्याहत—असङ्गत कहा। यदि अदृष्टार्थं युद्ध होता, तो आपका वचन उक्तार्थमें लागू होता। यह तो उक्तरीतिसे दृष्टार्थक है। इसमें पुरुष स्वतन्त्र है। करें या न करें, इसमें धर्मशास्त्रका दबाव नहीं है। उसपर कहते हैं—'सुखदुःखे' इत्यादिसे। [सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय—इनको सम मानकर तुम युद्ध करो, पाप न होगा। अभिप्राय यह है कि यथा अग्निहोत्र कर्म दो प्रकारके हैं—नित्य और काम्य। फलेच्छाके विना जो किया जाता है वह नित्याग्निहोत्र है और स्वर्गकामनासे जो किया जाता है, सो काम्य है, एवं युद्ध राज्यलाभादि दृष्टफलके उद्देश्यसे यदि किया जायगा, तो काम्य कर्म होगा। यदि राज्यादिफलकी कामनाका त्यागकर केवल मेरा धर्म युद्ध है, इस भावसे आहूत होनेपर कुछ फल हो या न हो जो किया जाता है वह नित्य है। नित्य बुद्धिसे जो करता है। उसको पाप नहीं होता, जो फलेच्छासे युद्ध करता है उसीको पाप होता है।

प्रश्न—सुख अनुकूल वेदनीय है। प्राणिमात्र इसको सदा चाहता है। दुःख प्रतिकूल वेदनीय है। प्राणिमात्र उससे द्वेष करते हैं, कोई नहीं इसका स्वागत करता, फिर विरुद्ध दोनोंका लाभ कैसे हो सकता है।]

उत्तर—रागद्वेषराहित्य समताका कारण है। सुख और उसके कारण जयमें राग न करके तथा दुःख एवं उसके हेतु अलाभ और उसके हेतु पराजयमें द्वेष न करके उसके बाद युद्धके लिए सन्नद्ध हो जाओ। [सुखमें स्वभावतः राग और दुःखमें द्वेष सबको रहता है। राग-द्वेषके त्यागनेपर दोनों समकक्ष हो जा सकते हैं। मनका गुण होनेसे दोनों सम हैं ही। भेदक उक्त रूप ही थे, उनका त्याग ही कर दिया, फिर तो दोनों सम हो हुये। एवं सुखकारण लाभ, और लाभकारण जय—इनमें भी रागका त्याग करे तथा दुख और तत्कारण अलाभ तत्कारण पराजय, इनमें द्वेषका त्याग करे, तो सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय—ये सब सम हो जाते हैं। युद्धमें विजय लाभार्थ लोग चाहते। लाभ सुखार्थ है। सुख वास्तविक पुरुषार्थ है। साक्षात्साधन लाभ है परम्परया तत्साधन विजय है, इसलिये ये भो पुरुषार्थ माने जाते हैं, अतएव तदर्थ पुरुषकी वृत्ति होती है। एवं दुःख द्वेष्य है। तत्साधन अलाभ साक्षात् तद्धेतु, पराजय परम्परया तत्साधन द्वेष है, इसलिये एतदर्थं पुरुषप्रवृत्ति नहीं होती। यदि राग-द्वेष छोड़ दिया जाय तो ये सब सम ही हैं,

नित्यकर्माकरणनिमित्तं च पापं न प्राप्स्यसि। यस्तु फलकामनया करोति, स गुरुब्राह्मणादि-वधनिमित्तं पापं प्राप्नोति, यो वा न करोति, स नित्यकर्माकरणनिमित्तम्। अतः फलकामना-मन्तरेण कुर्वन्नुभयविधमपि पापं न प्राप्नोतीति, प्रागेव व्याख्यातोऽभिप्रायः। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" इति त्वानुषङ्गिकफलकथनमिति न दोषः।

जैसे कि दूसरेके जय-पराजय, लाभालाभ, सुख-दुःख, उदासीनको सम होते हैं, क्योंकि उनसे उदासीनको सुख-दुःख, उदासीनको सम होते हैं, क्योंकि उनके उदासीनको सुख-दुःख नहीं होता।] इस प्रकार सुखकामना तथा दुःखनिवृत्तिकामनाका त्यागकर 'मेरा धर्म है' इस बुद्धिसे युद्ध करते हुए तुम गुरुब्राह्मणा-दिहिंसाजन्य पापको नहीं पा सकते और नित्य कर्माकरणजन्य प्रत्यवायका भी भागी नहीं हो सकते। युद्ध न करने पर तो नित्य कर्माकरणजन्य प्रत्यवाय क्षत्रियको होता है। युद्ध करनेपर तद्जन्य पाप नहीं होता। अर्थात् धर्मबुद्धिसे करनेपर पाप नहीं होता है अर्थबुद्धिसे नहीं, इसलिए पाप भी नहीं होता। जो अर्थलाभबुद्धिसे युद्ध करता है और यदि उसमें ब्राह्मणादिका वध हो जाता है, तो वह पापभागी होता है। जो क्षत्रिय नहीं करता, तो वह नित्यकर्माकरणजन्य प्रत्यवायी होता है, अतः फलकामनात्यागी युद्ध करता हुआ भी गुरुब्राह्मणादिहिंसाजन्य और नित्यकर्म युद्धाकरणप्रयुक्त—एतदुभयविध पापका भागी नहीं होता। यह अभिप्राय पूर्वमें ही कह चुके हैं।

[शङ्का—युद्ध नित्यकर्म है, यह आपका कथन भगवद्वाक्यविरुद्ध है; क्योंकि 'हतो वा' इत्यादि वाक्यसे विजयी होनेपर तथा मरनेपर दोनों प्रसङ्गोंमें फल कहा गया है इससे युद्ध काम्य कर्म है अतएव एकतर फलकी कामना कर युद्ध करो यह उपदेश—मरणपक्षमें फलाभावशङ्कानिवृत्तिके लिये स्वर्ग फलका निर्देश उपयुक्त है।

समाधान—फल दो प्रकारका है—एक मुख्य और दूसरा आनुषङ्गिक। जो प्रवृत्ति मुख्यफलकी कामनासे होती है वही काम्य है। जैसे—'तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनं'ति।' गरम दूधमें दही छोड़नेसे दूधका दो प्रकारसे परिणाम होता है—एक घनीभूत अंश, जिसको संस्कृतमें आमिक्षा और भाषामें छेना कहते हैं और दूसरा जलका अंश है, जो वाजिन कहलाता है, भाषामें जो कहते हों। आमिक्षा और वाजिन—ये दो द्रव्य हुये। प्रथम द्रव्यके देवता विश्व देव और द्वितीयके वाजी हैं। द्रव्य और देवता यागके स्वरूप माने जाते हैं, इसलिये विश्वदेवदेवताक आमिक्षाद्रव्यक वैश्वदेव-याग तथा वाजिदेवताक वाजिनद्रव्यक वाजिन याग है। जहांपर पूर्वमीमांसामें यह विचार है कि दधिसंयोगसे गरम दूधके दो परिणाम हुए—आमिक्षा और वाजिन। इनमें कौन गरम दूधमें दधिसंयोगका प्रयोजक है, यदि यह पूछें, तो यही कहना पड़ेगा कि दोनोंको प्रयोजक माननेमें गौरव है। एक ही को प्रयोजक

तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमिते (उप्ते) छायागन्धा इत्यनूत्पद्यन्ते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते, नोचेदनूत्पद्यन्ते, न धर्महानिर्भवति"! (आप० ध०-१-२०-३-४) इति। अतो युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वाभावात् "पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्" इत्यादि निराकृतं भवति ॥३८॥

मानें, तो दोष क्या है? दोष तो कोई नहीं है, पर विनिगमक कुछ नहीं है कि अमुक ही प्रयोजक है, अमुक नहीं। विनिगमक तो सूक्ष्म दृष्टिसे प्रतीत होगा। 'आमिक्षा' बनानेके लिए तप्त दुग्धमें दधिसंयोग होगा, तो 'वाजिन' आपसे आप सिद्ध होगा। उसके लिए पृथक् व्यापार नहीं करना होगा। यद्यपि यह भी कह सकते हैं कि "'वाजिन' बनानेके लिये उक्त उपाय करेंगे तो, 'आमिक्षा' भी आपसे आप बन जायगी, उसके लिये अलग प्रयत्नकी जरूरत नहीं है, तो यह भी आपका कहना ठीक है, कह सकते हैं, किन्तु यह भी कहिये कि दोनोंको प्रयोजक कहना उचित है अथवा एकको।

उचित तो एक ही को कहना है, अतः आमिक्षा मुख्य प्रयोजन है 'वाजिन' अनुनिष्पादि होनेसे आनुषङ्गिक प्रयोजन है। आमिक्षा प्रयोजन प्रथम कहा गया है और सारवान् वस्तु है और 'वाजिन' अनन्तरोक्त और निःसार है। मिठाई बनानेवाले रसगुल्ला बनानेके लिये दूध फाड़ते हैं, तो आमिक्षाके उद्देश्यसे, अतः उसको ग्रहण कर 'वाजिन' को फेंक देते हैं, क्योंकि वह निःसार है। याज्ञिक लोग उसको भी काममें लाते हैं, यह उनकी बुद्धिमत्ता है। पर तप्त दूधमें दधि मिलानेका मुख्य प्रयोजन आमिक्षा ही है। 'वाजिन' आनुषङ्गिक फल है। एवं 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः' इत्यादि है। आम्रथालामें पितृतर्पण करनेसे पितृ-तृप्ति मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है और आम्रवृक्षसेक आनुषङ्गिक फल है। एवं फलकी इच्छासे आम्र वृक्ष लगाया जाता है। छाया और पुष्पके समय गन्ध भी मिलती है, यह आनुषङ्गिक फल है, मुख्य फल फलास्वाद ही है,] 'हतो वा' इत्यादि तो आनुषङ्गिक फलका कथन है, इसलिये दोष नहीं है। यह महर्षि आपस्तम्बने 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्ध इत्यनूत्पद्येन्ते' इत्यादिसे स्पष्ट कहा है। कर्मानुष्ठान-शीलको अर्थप्राप्ति होती है, यह धार्मिक पुरुष है, यह समझकर लोकका अनुराग होता है, अनुरागका फल है—दान। जिसमें जिसका अनुराग होता है उसको ही वह यथाशक्ति देता है, यह समझकर देनेमें दाताको सन्तोष होता है कि मेरा दत्त द्रव्य समुचित कार्यमें बिनियुक्त होगा। अगर कोई न भी दे, तो प्रधानीभूत उद्देश्यमें हानि नहीं। द्रव्यप्राप्ति तो आनुषङ्गिक थी। सारांश यह निकला कि स्वधर्मबुद्धिसे युद्ध करो, राज्यादिलाभ आनुषङ्गिक फल है। उसकी प्राप्ति और अप्राप्तिकी चिन्ता मत करो। प्राप्तिसे हर्ष नहीं और अप्राप्तिसे विषाद नहीं। अप्राप्तिपक्षमें फलाभावशङ्कासे तदुपरति अनुचित है। तुम्हारे युद्ध करनेका मुख्य फल तो धर्म वा मतभेदसे प्रत्यवायनिवृत्ति है, सो तो नियत है। आनुषङ्गिक फल हुआ तो कोई हर्ष नहीं, नहीं हुआ, तो भी कोई विषाद नहीं, इस दृष्टिसे युद्ध अर्थशास्त्र नहीं हुआ। राज्यलाभकी दृष्टिसे किया जाता, तो अर्थशास्त्र होता, यह तो स्वधर्मदृष्टिसे करोगे, तो धर्मशास्त्र ही होगा। धर्ममें हिंसा दोष नहीं है, यह

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! परमार्थवस्तुविवेकविषयमें यह मैंने सर्वानर्थनिवृत्तिकारणरूप ज्ञानका उपदेश तुम्हें दे दिया। इस तरह सांख्यबुद्धिका उपदेश देनेपर भी यदि तुम्हें आत्मतत्त्वसाक्षात्कारकी सम्भावना नहीं दीखती, तो फिर अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कारके लिए कर्मयोगविषयमें बुद्धिका श्रवण करो, जिस बुद्धिसे युक्त होकर तुम कर्मात्मक बन्धनका अच्छी तरह त्याग कर दोगे ॥ ३९ ॥

ननु भवतु स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानस्य पापाभावः, तथाऽपि न मां प्रति युद्धकर्तव्यतोपदेशः तवोचितः, "य एनं वेत्ति हन्तारम्" इत्यादिना, "कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्" इत्यनेन च विदुषः सर्वकर्मप्रतिक्षेपात्। नह्यकर्त्रभोक्तृशुद्धरूपोऽहमस्मि, युद्धं कृत्वा तत्फलं भोक्ष्य इति च ज्ञानं संभवति, विरोधात्। ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभवात्प्रकाशतमसोरिव। अयं चार्जुनाभिप्रायो "ज्यायसी चेदि" त्यत्र व्यक्तो भविष्यति। तस्मादेकमेव मां प्रति ज्ञानस्य

स्पष्ट कह चुके हैं, अतः 'पापमेवाश्रयेत्' इत्यादिसे युद्ध करनेमें प्रायश्चित्ती होगे, यह अर्जुनकी आशङ्का निराकृत हो गई ॥ ३८ ॥

प्रश्न—अच्छा, तो स्वधर्मबुद्धिसे युद्ध करनेवालेको पाप नहीं होता, यही सही, पर मैं युद्ध करूँ, इसके लिये आपका उपदेश उचित नहीं है, क्योंकि 'य एनं वेत्ति हन्तारं' इत्यादिसे तथा 'कथं स पुरुषः पार्थ' इससे विद्वान्के सब कर्मोंका प्रतिक्षेप हो समर्थित है, अर्थात् जो मारनेवालेको मारनेवाला समझता है वह अनात्मज्ञ है। निर्व्यापार उदासीन आत्मामें प्राणवियोगानुकूल क्रिया कहाँ ? आत्मज्ञके प्रति आपका उपदेश है। 'पार्थ, कौन किसको मारता है, कौन मरवाता है' प्रेरणात्मक व्यापार भी उदासीन आत्मामें नहीं रहता। इस परिस्थितिमें तत्त्ववेत्तामें सब कर्मोंका वास्तविक अभाव ही समर्थित है। जब कि मैं यह जानता हूँ कि किसी भी कर्मका कर्ता मैं नहीं हूं और न तत्फलभोक्ता ही हूँ—इस प्रकार जब मैंने अपनेको अकर्ता और अभोक्ता मान लिया है तब युद्ध करके युद्धफलराज्यस्वर्गादिका भोग करूँ, यह ज्ञान मुझको नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही आत्मामें अकर्तृत्वज्ञानविरोधी कर्तृत्वादिज्ञानका सम्भव नहीं है। प्रकाश और तमके समान ज्ञान-कर्मका समुच्चय—दोनोंकी एकत्र स्थिति नहीं हो सकती, यह अर्जुनका अभिप्राय 'ज्यायसी चेत्' इस अग्रिमश्लोकमें स्पष्ट होगा। अतः मेरे एक ही के प्रति ज्ञान और कर्मका उपदेश ठीक नहीं जंचता।

कर्मणश्चोपदेशो नोपपद्यत इति चेत् । न । विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मोपदेशोपपत्तेरित्याह-भगवान्—'एषा तेऽभिहिता' इति ।

एषा-'न त्वेवाहमित्याद्यै'कविंशतिश्लोकैस्ते-तुभ्यमभिहिता । सांख्ये-सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्या-उपनिषत्,तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः;

उत्तर—एक ही पुरुषके प्रति अज्ञानावस्था तथा ज्ञानावस्थाके भेदसे ज्ञान और कर्म इन दोनोंका उपदेश असम्भव नहीं है। एक कालमें दोनोंका पालन नहीं हो सकता, यह ठीक है, पर अवस्थाभेदसे दोनोंके अनुष्ठानमें कोई बाधा नहीं है यही भगवान् कहते हैं—'एषा तेऽभिहिता' इत्यादिसे। प्रथम 'न त्वेवाहम्' से लेकर २१ श्लोकोंसे सांख्यबुद्धि—ज्ञानबुद्धि कही गई।

प्रश्न—श्रीकपिलमुनिप्रणीत पञ्चविंशतितत्त्वोपदेशपरक शास्त्रमें सांख्यशब्द रूढ़ है। उसमें प्रकृति और पुरुषका विवेचन है। पुरुषस्वरूप वेदान्तमतानुरूप अकर्तृ, अभोक्तृ, चैतन्यमात्ररूप है, परन्तु एवंभूत आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है। एवं परमात्माके स्वीकारका निर्देश भी सांख्यमें नहीं है। अतः तत् और त्वं-पदार्थके शोधनका अवकाश नहीं है, फिर 'तत्त्वमसि'से अखण्डार्थबोधकी क्या सम्भावना ? गीतामें 'तत्' और 'त्वं' पदार्थके शोधनका आपने पूर्वमें ही समर्थन कर उसके अनुसार ही आत्मस्वरूपका निरूपण किया है 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' श्रोता इत्यादि श्रुत्यनुसार आत्मैकत्वका आपने समर्थन किया है, फिर सांख्यानुसारी आत्मतत्त्वका आपने उपदेश दिया, यह क्यों कहते हैं ?

उत्तर—यहाँ सांख्य-उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मा है, शास्त्र नहीं।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—सम्यक्यथार्थतः ख्यायते—सर्वोपाधिकर्तृत्व-भोक्तृत्वादि तच्छून्यतया-तद्बहिर्भूततया प्रतिपाद्यते—बोध्यते परमात्मतत्त्वं परमं अविद्याद्युपाधिरहितमात्मतत्त्वं चैतन्यमात्रम्। अथवा 'परमश्चासौ आत्मा-चेति परमात्मा'—परब्रह्म तदेव तत्त्वं-सर्वबाधावधिः। वस्तुतः सकलकल्पनाधिष्ठान वही अवशिष्ट रहता है तदितर सबकी निवृत्ति हो जानेसे वे अतत्त्व हैं। त्रिकालाबाध्य ब्रह्म ही तत्त्व है, इसका प्रतिपादन—निरूपण जिससे होता है वह संख्या उपनिषत् है। उपनिषत्से जो प्रतिपादित होता है, सो सांख्य पुरुष है, शास्त्र नहीं।

शङ्का—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा विशिष्टशब्दवाच्य नहीं है, इसका पूर्वमें निरूपण कर फिर यहां उपनिषत्से वह प्रतिपाद्य है यह पूर्वापर विरुद्ध कहते हैं। विरुद्धकथनसे श्रोताकी श्रद्धा ही उपदेशश्रवणमें नहीं होती, मानना तो दूर रहा।

समाधान शक्ति या लक्षणासे शब्दप्रतिपाद्य ब्रह्म नहीं, यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि शक्ति लक्षणा कोई भी धर्म असंग ब्रह्ममें नहीं रहता, किन्तु पूर्वोक्तरीत्या तात्पर्यवृत्तिसे ही उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

स सांख्य औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः। तस्मिन्बुद्धिः-तन्मात्रविषयं ज्ञानं सर्वानर्थनिवृत्तिकारणं त्वां प्रति मयोक्तं। नैतादृशज्ञानवतः क्वचिदपि कर्मोच्यते, 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति वक्ष्यमाणत्वात्। यदि पुनरेवं मयोक्तेऽपि तवैषा बुद्धिर्नोदेति चेत् चित्तदोषात्, तदा तदपनयेनाऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्काराय कर्मयोग एव त्वयाऽनुष्ठेयः। तस्मिन्योगे-कर्मयोगे तु करणीयामिमां "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्रोक्तां फलाभिसंधित्यागलक्षणां बुद्धिं विस्तरेण मया वक्ष्यमाणां शृणु। तुशब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थः। तथा:, च शुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानोपदेशः, अशुद्धान्तःकरणं प्रति

तात्पर्यवृत्ति भी तो वृत्ति है। शक्त्यादिवृत्तिवत् यह वृत्ति ब्रह्ममें कैसे रहेगी, इस संशयका समाधान पूर्वमें कह चुके हैं—प्रसुप्तोत्थापक शब्दवत् अगृहीतसम्बन्ध ही शब्द तद्‌बोधक होता है, फिर भी यदि संशय हो तो वहीं देखिये। सांख्य है यहां औपनिषद पुरुष। उसमें बुद्धि—तन्मात्रविषयक ज्ञ‌ान, बुद्धिमात्रसे सकल उपाधिकी निवृत्ति सूचित होती है। अद्वैतात्मविषयक निर्विकल्पज्ञान ही सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्तिका कारण है, यह तुम्हारे प्रति मैंने कहा है। एतादृश ज्ञानवान् पुरुषको कहीं भी कर्म करनेके लिये नहीं कहा गया है, क्योंकि उसके प्रति 'तस्य कार्यं न विद्यते' इस शास्त्रने स्वयं आगे चलकर कहा है कि उसको कोई कर्तव्य नहीं है। [अतएव वह कृतकार्य कहा जाता है। जो कर्तव्य था, सो सब कर चुका, अब कुछ करनेके लिये बाकी नहीं है। क्यों कर्तव्य नहीं है, इसका उत्तर श्रुतिने स्वयं दिया है कि उसको करण—कार्यका-साधन ही नहीं रहा, तो करेगा कैसे ? 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे शरीरेन्द्रियादि रहनेपर भी उनमें मिथ्यात्वनिर्णय मानता है, इसलिये ममताद्यभिमाननिवृत्तिसे वे करण नहीं हो सकते! ममताभिमानपुरःसर ही सब लोग व्यवहार करते हैं। अपनी आँखोंसे देखता हूँ, अपने हाथोंसे काटता हूँ इत्यादि। और साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता, क्रिया, फलभेदज्ञानोपमर्दन होनेसे कर्तव्यबुद्धि हो ही नहीं सकती।] यदि इस प्रकार मेरे कहनेपर भी तुमको ऐसी बुद्धि नहीं होती, तो इसमें कारण तुम्हारा चित्तदोष है। जबतक उसकी निवृत्ति नहीं होगी, तबतक उपदेशसे आत्मज्ञान नहीं होगा, इसलिये तन्निवृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये कर्मयोग ही का अनुष्ठान करो। [कर्मयोगसे चित्तदोष निवृत्त होगा, तब आत्मसाक्षात्कारोत्पत्तियोग्यता उसमें होगी। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक मनोदुरित है, इसमें प्रमाण 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यादि स्मृति है।] वह योग करनेके लिये जो बुद्धि आवश्यक है, वह 'सुखदुःखे समे कृत्वा' यहाँपर कह चुके हैं। उसी फलाकांक्षारहित अवश्यकरणीय बुद्धिका विस्तारसे आगे वर्णन करता हूँ, उसको सावधान होकर सुनो और समझो। 'योगे तु' इस मूलमें 'तु' शब्द पूर्वबुद्धि योगविषयक नहीं है, किन्तु सांख्यविषयक है, एतज्ज्ञापनार्थ है। इससे सारांश यह निकला कि जो शुद्धान्तःकरण हैं, उनके लिये ज्ञानोपदेश है और जो अशुद्धान्तःकरण हैं, उनके लिये कर्मोपदेश है। इस व्यवस्थासे

प्रति कर्मोपदेश इति, कुतः समुच्चयशङ्कया विरोधावकाश इत्यभिप्रायः। योगविषयां बुद्धिं फल-कथनेन स्तौति। यया-व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या कर्मसु युक्तस्त्वं कर्मनिमित्तं बन्धम्-आशया-शुद्धिलक्षणं ज्ञानप्रतिबन्धं प्रकर्षेण-पुनःप्रतिबन्धानुत्पत्तिरूपेण हास्यसि-त्यक्ष्यसि। अयं भावः—कर्मनिमित्तो ज्ञानप्रतिबन्धः कर्मणैव धर्माख्येनापनेतुं शक्यते "धर्मेण पापमपनुदति" इति म० ना० उ० १३-६ श्रुतेः। श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्धरहितस्यासंभावनादि-प्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति, न कर्मबन्धनिराकरणायोपदेष्टुं शक्यते। अतोऽत्यन्तमलिनान्तः-करणत्वाद्वहिरङ्गसाधनं कर्मैव त्वयाऽनुष्ठेयम्, नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेति। तथा च वक्ष्यति—"कर्मण्येवाधिकारस्ते" इति। एतेन सांख्यबुद्धेरन्त-

समुच्चयशङ्कासे जो विरोध प्रतीत होता था उसका अवसर ही नहीं रहा। कर्म तथा ज्ञानके अधिकारी भिन्न हैं। अवस्थाभेदसे एकमें ज्ञान-कर्मका भी कालभेदसे समावेश है। एक कालमें एक ही पुरुष युवा और वृद्ध नहीं हो सकता, पर कालभेदसे होता ही है। एवं ज्ञान-कर्माधिकारमें विरोध नहीं है। फलकथन द्वारा योगबुद्धिकी स्तुति करते हैं—जिस व्यवसायात्मक बुद्धिसे कर्ममें व्यापृत होकर तुम कर्मनिमित्तक बन्धका प्रकर्षसे त्याग करोगे। त्यागमें प्रकर्ष है कि फिर दोष चित्तमें न होंगे। आत्यन्तिक दोषत्यागका यह अभिप्राय है कि कर्मनिमित्तक जो ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक चित्तदोष दुरित राग-द्वेषादि हैं उनकी निवृत्ति कर्म ही से कर सकते हो, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' यह श्रुति धर्मको पापनिवृत्तिका उपाय कहती है। श्रवणादिलक्षण-विचार तो कर्मात्मक प्रतिबन्धरहित पुरुषका जो असम्भावनादि दृष्ट दोष प्रतिबन्ध है उसीका निवर्तक है, इस कारण कर्मबन्धनिराकरणार्थ उसका उपदेश नहीं कर सकते। सारांश यह कि आत्मसाक्षात्कारोत्पत्ति-प्रतिबन्धक दोष हैं—दृष्ट और अदृष्ट। कर्मसे अदृष्ट पापादि दोष चित्तमें होते हैं अतः उनकी निवृत्ति शुभकर्म-जन्यपुण्यरूप अदृष्टसे होती है। इसमें प्रमाण उदाहृत 'धर्मेण' इत्यादि श्रुति है। दृष्ट दोष असम्भावनादि है। आत्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, प्रतिशरीरव्यावृत्त संसारधर्मवान् प्रतीत होता है। उसका यदि कोई भी उपदेश करे कि वह अकर्ता, अभोक्ता, सुख-दुःखादिरहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, सकलशरीरमें एक अनुवृत्त, संसारधर्मातीत ब्रह्मस्वरूप है, तो उसको असम्भव प्रतीत होता है कि यह कभी हो ही नहीं सकता, उपदेष्टाके गौरवसे क्षोदक्षेम न करे, तो भी इस उपदेशको केवल मनोरञ्जनार्थ समझकर उपदिष्ट उपायमें प्रवृत्त नहीं होता, अतः दोनों प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति आवश्यक है। अदृष्ट दोषकी निवृत्ति अदृष्ट शुभकर्मजन्य पुण्यसे तथा दृष्ट असम्भावनादि दोषकी निवृत्तिके लिये श्रवणादिका उपदेश नहीं कर सकते, क्योंकि उसका वह साधन ही नहीं है।] तुम अर्जुन अत्यन्त मलिनान्तःकरण हो, अतः बहिरङ्ग साधन कर्मानुष्ठान ही तुमको करना चाहिये। तुममें अभी श्रवणादियोग्यता नहीं उत्पन्न हुई है,

रङ्गसाधनं श्रवणादि विहाय, बहिरङ्गसाधनं कर्मैव भगवता किमित्यर्जुनायोपदिश्यत इति निरस्तम्। कर्मबन्धं-संसारम्, ईश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्या प्रहास्यसीति प्राचां व्याख्याने त्वध्याहारदोषः, कर्मपदवैयर्थ्यं च परिहर्तव्यम् ॥ ३९ ॥

फिर ज्ञानोत्पत्तियोग्यता तो बहुत दूर है। [भाव यह है कि ज्ञानोपत्तिके दो साधन हैं—एक बहिरङ्ग और दूसरा अन्तरङ्ग। जो परम्परया उपकारजनक हैं वे बहिरङ्ग हैं। जैसे, निरभिसन्धि कर्मानुष्ठान। इनसे धर्म होगा, उसकी फलकामना न होनेसे वह अन्तःकरणके मलोंका निवर्तक होगा, मलनिवृत्तिसे अन्तकरण शुद्ध होगा। जैसे कि शीशामें कज्जलादि मल होनेसे प्रकाश साफ नहीं निकलता। चूना आदिसे साफ करनेपर प्रकाश विशद होता है, जिससे सूक्ष्म वस्तु भी देख सकते हैं, जिनका मलिनावस्थामें देखना असम्भव-सा प्रतीत होता था। इसलिये ये शुद्धियाँ परम्परया प्रकाशप्रकर्षका कारण होनेसे उसमें बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तरङ्ग साधन श्रवण मननादि हैं। ये आत्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक असम्भावनादि दोषके निवर्तक हैं। ज्ञानोत्पत्तियोग्यता होनेपर भी प्रतिबन्धवश ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञानोत्पत्तिका साक्षात् प्रतिबन्धक असम्भावनादि दोष है। अतः ये अन्तरङ्ग दोष हैं। इनका निवर्तक श्रवण-मननादि अन्तरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्ग साधनके विना अन्तरङ्ग साधनमें प्रवृत्ति व्यर्थ है। कारण कि अन्तरङ्ग साधनकी उत्पत्ति ही बहिरङ्ग साधनके विना नहीं होती, फिर उसके उपायानुष्ठानसे कालक्षेप व्यर्थ है। आजकल ऐसे ही अधिक श्रोता पाये जाते हैं, जो बहिरङ्गानुष्ठानको कठिन समझकर त्याग देते हैं। अन्तरङ्ग श्रवणादिमें लगे रहते हैं। लगे रहें, पर उन्हें ज्ञानोत्पत्ति कहाँ ? अन्तरङ्गसाधन बहिरङ्गसाधनके विना व्यर्थ है। शीशा साफ नहीं है तो तेल उत्तम मार्केका ही क्यों न हो तथा बत्ती भी अच्छी क्यों न हो पर प्रकाश विशद नहीं होगा, इसलिये अन्तरङ्ग साधनके विना भी बहिरङ्ग साधन सफल है, पर बहिरङ्गसिद्धिके बिना अन्तरङ्ग साधनका अनुष्ठान केवल क्लेशप्रद ही है।] ऐसा ही आगे चलकर भगवान् स्वयं कहेंगे—'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिसे। तुम्हारा कर्म ही में अधिकार है, अभी ज्ञानमें नहीं। इसमें हेतु चित्तदोष कह चुके हैं। बहिरङ्गसाधनोंका ही अभी अनुष्ठान करो, इससे किसीकी यह शंका भी निरस्त हुई कि सांख्यबुद्धिके अन्तरङ्ग-साधन श्रवणादिका उपदेश न देकर बहिरङ्ग साधन कर्मानुष्ठानका ही उपदेश अर्जुनको भगवान् क्यों देते हैं ? [भगवान्ने पहले सांख्यबुद्धिका उपदेश दिया, पर अर्जुनकी समझमें नहीं आई। आवे कैसे ? बहिरङ्गसाधनवैकल्यसे चित्तमें तदुत्पत्तियोग्यता ही नहीं थी। योग्यता सूक्ष्मपदार्थ है, अतः कार्यसे तत्सत्ता और कार्याभावसे तदसत्ताका बोध होता है। सांख्यबुद्धिका उपदेश करनेपर भी जब अर्जुनके चित्तमें उसका उदय न हुआ, तब कार्याभावसे योग्यताविरहका निश्चय कर योग्यतोत्पादनार्थ कर्मयोगका उपदेश देना उचित समझकर उसीका भगवान्ने उपदेश दिया।

शंका—आप कहते हैं कि तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यतासम्पादनार्थं कर्मयोगका उपदेश अर्जुनको भगवान्‌ने दिया है, किन्तु यह कथन भगवद्वाक्यसे विरुद्ध है। भगवद्वाक्य तो ऐसा है कि 'यया कर्मबन्धं प्रहास्यसि' जिस कर्मयोगव्यवसायात्मक बुद्धिसे कर्मनिमित्तक बन्धका त्याग करोगे। इससे स्पष्ट है कि यह साक्षात्पुरुषार्थ-साधन है। इसीसे बन्धनिवृत्ति हो जायगी, अतएव श्रवणादि अन्तरङ्ग साधनोंकी आवश्यकता ही न होगी। अथवा आपका अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविवेचन ही असंगत है। दोनों साक्षाद्‌बन्धनिवृत्तिके कारण होनेसे अन्तरङ्ग ही हैं।

समाधान—भगवदुक्तिका अभिप्राय यह है कि बहिरङ्ग कर्मयोगबुद्धि भी तो उक्त ज्ञानका कारण ही है। बहिरङ्ग होनेपर भी उक्त बुद्धिका साधन है, इसलिये कर्मयोगबुद्धिसे ईश्वरप्रसाद, इसको धर्म भी कहते हैं, प्राप्त होता है। 'तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत्' इत्यादि ईश्वरप्रसादसे चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति, ततः कर्मबन्धप्रहाण, इस प्रकार भगवद्वाक्यका तात्पर्य है जैसे लोकमें भी कहा जाता है कि 'गोघृत लाओ' इसका अर्थ यह नहीं होता कि घृत दुग्धके समान साक्षात् गौसे निकलता है, किन्तु गौसे दुग्ध, ततः दही, फिर उसके मथनसे घृत होता है, यह प्राचीन रीति है। गो दुग्ध दधि घृतकी अपेक्षा संक्षिप्ताभिधानके तात्पर्यसे गोघृत कहा जाता है। इसीसे घृतान्तरकी व्यावृत्ति होती है, फिर इसके लिए अधिक शब्दोपादान व्यर्थ है। एवं कर्मयोगबुद्धिसे ईश्वरप्रसाद, ईश्वरप्रसादसे आत्मज्ञान, आत्मज्ञानसे मुक्ति, इस तात्पर्यसे परम्परया कर्मयोगबुद्धिसे कर्मबन्ध—संसारमूलप्रत्यवायसमुदायका भी त्याग करोगे, यह अर्थ प्राचीनोंने किया है। [इसका खण्डन करते हैं—'एतेन' इत्यादिसे। अभिप्राय यह है कि 'यया' इस तृतीयान्तका 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' इस वाक्यसे बोध्य-कर्मबन्धोचित प्रहाणक्रियामें करणतया अन्वय किया जाय, तो प्राचीन व्याख्यान उचित हो सकता है, पर उसमें 'यया' का अन्वय विवक्षित नहीं है, किन्तु सन्निहित युक्तघटक युज्‌का त्याग करोगे। बन्धका अर्थ यहाँ प्रतिबन्ध है। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक कर्म है। कर्म उपलक्षण है—राग द्वेषादि चित्तदोषका। जिस कर्मयोगबुद्धिसे त्याग करोगे, यह अर्थ भगवान्‌को अभीष्ट है। अतएव कर्म-पद भी सार्थक होता है। संसारबन्धका इससे त्याग न होगा, किन्तु कर्मबन्धकका हो त्याग होगा। उक्त बन्धका त्याग तो तत्त्वज्ञान ही से होगा। 'परम्परया' इस बुद्धिसे भी ससारबन्धका त्याग होता है,] इस प्राचीनोक्त अर्थमें कर्मपद सार्थक नहीं होता और अध्याहार दोष स्पष्ट है। [ईश्वरप्रसादरूप धर्म तथा संसार गीताके इस श्लोकमें है नहीं, अतः उसका और तत्त्वज्ञान तथा संसारका अध्याहार करना होगा यह वाक्यदोष है। वक्ताकी असावधानता इससे सूचित होती है। अवश्य वक्तव्य शब्दोंके त्यागसे वाक्यार्थबोध परिनिष्ठित-नहीं होता, इसलिये मैंने जो अर्थ किया है कि जिस कर्मयोगबुद्धिसे अन्तःकरणदोषोंकी, जो ज्ञानोत्पत्तिका प्रति-बन्धक है, अतएव कर्मबन्ध का ही इस बुद्धिसे त्याग होता है, संसारबन्धका नहीं। उसका त्याग तो तत्त्वज्ञान

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

निष्काम कर्मयोगमें प्रारम्भका नाश नहीं है और इसमें कोई प्रत्यवाय भी नहीं। इस धर्मका थोड़ा भी अनुष्ठान जन्म-मरण आदिरूप महान् संसार भयसे रक्षा करता है ॥ ४० ॥

ही से होगा, अध्याहार दोष भी मेरे अर्थमें नहीं है। इन दोनों अर्थोंके समालोचकोंका कहना है कि 'कर्मपद' स्वर्ग और नरकादिके साधन पुण्य और पापका वाची है। उसका अन्तःकरणदोष अर्थ मानकर संकोच करना चाहिये। व्यापक अर्थको छोड़कर व्याप्य अर्थ करनेमें प्रमाण नहीं है। एवं बन्धशब्दका प्रतिबन्धप्रतिबन्धक अर्थमें भी प्रमाण नहीं है। कर्म और बन्ध, ये दोनों लाक्षणिक मानने पड़ेंगे। सामान्यवाची शब्दोंका विशेष अर्थमें लक्षणा ही से प्रयोग होता है। जैसे, किसीने कहा—मकान बढ़िया क्यों नहीं बनवाते ? उत्तर मिला—द्रव्य नहीं है। यहां द्रव्यशब्द रुपयोंके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है; पृथिवी, जल, वायु आदि तात्पर्यसे नहीं, क्योंकि इनका अभाव नहीं है। इस अर्थमें नहीं, इसलिये द्रव्यशब्द लाक्षणिक है। शक्यार्थबोधसे उपपत्ति हो सके, तो फिर जघन्य लक्षणा वृत्तिका आश्रयण उचित नहीं है, जो मूलकार यह कहते हैं कि दृष्ट-असंभावनादि दोष श्रवणादिसे ही निवृत्त होता है, कर्मयोगसे नहीं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' यह वचन आत्मज्ञानार्थ श्रवणका विधायक है। इसमें नियमविधि है, अपूर्वविधि नहीं है। ज्ञानार्थ श्रवणका विधायक है। ज्ञानार्थ श्रवण प्राप्त ही है। आत्मश्रवण श्रुतिवाक्यसे होता है, और भाषावाक्यसे भी। जिस समय भाषावाक्य द्वारा पुरुष श्रवणमें प्रवृत्त होगा उस समय श्रुतिवाक्य अप्राप्त है। अतः उसकी प्राप्तिके लिए 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि है। श्रुतिवाक्य ही से आत्मश्रवण करना चाहिये, भाषावाक्यसे नहीं, यह नियमविधि है।

शङ्का—आत्मज्ञान तो दोनों प्रकारसे होगा, फ़िर श्रुतिवाक्यसे ही सुनना ऐसा 'नियम' क्यों।

समाधान—नियमसे अदृष्ट होता है जो असंभावनानिमित्त दुरितादिप्रयुक्त चित्ताशुद्धिका 'निवर्तक' होता है, यह विवरणाचार्यने कहा है। वेदान्त-श्रवणजन्य पुण्यसे पापनिवृत्ति होती है। निवृत्तपापको समीचीन आत्म-तत्त्वज्ञान होता है, यह सर्वसंमत है। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ता' यहां जैसे जन्मपद है वैसे कर्म-बन्धमें कर्मपद भी बन्धस्वरूपज्ञापनार्थ है। बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं—रज्जु, निगड़ प्रभृति। किस बन्धकी निवृत्ति होती है। इसको स्पष्ट करनेके लिये 'कर्म पद है। आत्मज्ञानोपदेशानन्तर तच्चिन्तनरूप ज्ञानयोग ही का उपदेश उचित था, परन्तु कर्मयोगके विना ज्ञानयोग नहीं हो सकता, इसलिये उत्पत्ति क्रमानुसार पूर्वमें कर्मयोगका निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर 'प्रजहाति यदा कामान्' से एतत्फलस्वरूप ज्ञानयोग आगे कहेंगे। आत्मज्ञानपूर्वक मोक्ष-साधनभूत कर्मानुष्ठानमें जो बुद्धियोग है। भाष्यकारने 'कर्मैव बन्धः कर्मबन्धः' यह कहा है, संसार नहीं] ॥ ३९ ॥

ननु "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन" बृ० उ-४-२२।

['तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे आत्माको वेदानुवचन, यज्ञ दानादिसे ब्राह्मण जानना चाहते हैं। यहाँपर शंका यह होती है कि 'विविदिषन्ति'*से वेदन और इच्छा दोनोंकी प्रतीति होती है। यागादि करण ब्रह्मवेदनका है अथवा तदिच्छाका ? इसका समाधान यह है कि—यद्यपि इच्छा ही प्रधान है, वेदन इच्छामें विशेषण है, पदार्थका पदजन्योपस्थितीयमुख्यविशेष्यताश्रय अर्थके साथ अन्वय होता है, क्योंकि वही प्रधान पदार्थ कहा जाता है। विशेषणतया उपस्थित गुण पदार्थ कहलाता है। उसमें अन्वय नहीं होता। यहाँ 'विद्' धातुसे इच्छाके कर्ममें सन् प्रत्यय हुआ है। 'विविदिषन्ति'से ब्रह्मवेदन-विषयक इच्छाकी प्रतीति होती है, इसलिये इच्छा ही प्रधान है। उसीके करण याग-दानादि हैं।

अन्य लोगोंका यह मत है कि यद्यपि इच्छा शब्दतः प्रधान है, तथापि अर्थतः प्राधान्य ज्ञानमें है। ज्ञान इच्छाका कर्म है। कर्ताके अत्यन्त अभीष्टकी कर्मसंज्ञा होती है। और ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है। वह फलप्रद होनेसे अभीष्ट है, इसलिये इच्छाकी अपेक्षासे ब्रह्मज्ञान ही प्रधान है, अतः उसीके साधन यागादि कर्म हैं, अतएव 'अश्वेन ग्रामं जिगमिषति' यहाँ 'अश्व' गमनक्रियाका करण है, तदिच्छाका नहीं। एवं 'यज्ञेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' यहाँपर 'यज्ञ' ब्रह्मज्ञानका करण है, तदिच्छाका नहीं।

शङ्का—शब्दतः प्राधान्य जैसे इच्छामें है वैसे ही अर्थतः प्राधान्य ब्रह्मज्ञानमें भी है। ब्रह्मज्ञानमें यज्ञादिका अन्वय करनेसे पदार्थका प्रधान पदार्थके साथ अन्वय होता है, गुणभूतके साथ नहीं इस नियमका अतिक्रमण कहाँ होता है।

समाधान—ठीक है, अर्थप्राधान्य ब्रह्मज्ञानमें मानते हैं, पर शाब्दान्वय अर्थप्राधान्यके अनुसार नहीं होता, किन्तु शब्दप्राधान्यके अनुसार ही होता है। अतएव 'राज्ञः पुरुषमानय' (राजपुरुषको बुलावो) ऐसा कहनेपर शब्दतः प्रधान पुरुषका ही 'आनयन' क्रियामें अन्वय होता है, अर्थतः प्राधान्य राजाका नहीं। यदि अयोग्यार्थ होनेसे इसमें श्रद्धा न हो, तो 'आनय' के स्थानमें 'पश्य' कहिये—राज्ञः पुरुषं पश्य। दर्शन-क्रियामें राजाका अन्वय नहीं हो सकता, यह शाब्द नय है, इसलिये विविदिषा ही में अन्वय है। फिर भी अश्वेन जिगमिषति' यहाँ क्यों अश्व गमनका ही करण होता है, इच्छाका नहीं, इसका उत्तर यह है कि इसमें अयोग्यता है। इसका विशेष निरूपण करनेसे ग्रन्थ बढ़ जायगा और श्रोताको विशेष लाभ भी नहीं होगा, इसलिये इस विचारको यहीं रोक देते हैं। इतने अंशका निर्देश ग्रन्थ समझनेके लिये आवश्यक है। निष्कर्ष हुआ कि मतभेदसे दो, दोनों या एक उद्देश्य हो सकता है, किन्तु मूलमें 'विविदिषां ज्ञानं वोद्दिश्य' ऐसा पाठ

* यहाँ दो धातु हैं—एक 'विद्', जिसको 'भूवादयो धातवः' से धातुसंज्ञा होती है और दूसरा विविदिषा है, उसको 'सनाद्यन्ता०'से धातुसंज्ञा होती है। यज्ञादि करणत्वका जिसमें अन्वय है, सन्प्रकृत्यर्थमें अथवा सन्नन्तार्थमें उक्त दोनोंमें है।

इति श्रुत्या विविदिषां ज्ञान-चोदिश्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन सर्वकर्मणां विनियोगात्तत्र चान्तःकरण-

नहीं है, 'ज्ञानं विविदिषाञ्चोद्दिश्य' ऐसा ही पाठ है। इस पाठसे तो ज्ञान और विविदिषा दोनों उद्देश्य प्रतीत होते हैं, सो कैसे हो सकता है, इसकी उपपत्ति नहीं की गई है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है—शुद्ध इच्छाकी उपस्थिति 'विविदिषन्ति' से नहीं है, किन्तु वेदनविशिष्ट इच्छाकी उपस्थिति 'विविदिषन्ति' से है। वेदन और इच्छा दोनों उपस्थित हैं, इसलिये विशिष्टमें यागादि करणत्वका संबन्ध करनेसे विशेषण ज्ञान और विशेष्य—इच्छा, इन दोनोंके उद्देश्यसे यागादिकरणत्वका विधान है। इस तात्पर्यसे 'विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य' यह मूल है। अथवा विविदिषा ज्ञानार्थ है, अतः दोनों उद्देश्य है।

अब संयोगपृथक्त्वन्यायका संक्षिप्त समाधान सुनिये—विशेष जिज्ञासा हो, तो मीमांसामें ४-३-३ देखिये। उक्त न्यायके स्वरूपमात्रका ज्ञान होनेके लिये यहाँ थोड़ी विवेचना करते हैं—मीमांसाके चतुर्थाध्यायमें यह विचार है कि 'खादिरे पशुं बध्नाति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' अग्नीषोमीय पशुको बांधनेके लिये यूपकी आवश्यकता होती है। 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' इत्यादि वाक्यसे यूपसामान्यका विधान है, किस काष्ठका यूप होना चाहिये, इस जिज्ञासासे 'औदुम्बरो यूपो भवति' 'खादिरो यूपो भवति' इन वाक्योंसे गूलर या खेरका यूप बनाना चाहिये। देशानुसार व्यवस्था है। कहीं खैर सुलभ है, गूलर नहीं, कहीं गूलर सुलभ है, तो खेर नहीं। जहां जो मिल सके वहां वही लेना चाहिये। धान और यवके समान विकल्प है। फिर कहा—'वीर्यकामस्य खादिरं यूपं कुर्यात्' (यागद्वारा जिसको बलकी कामना हो, वह खेरका यूप बनावे, यहाँपर यह संशय होता है कि खैरका दो बार विधान हैं पूर्व वाक्यमें किसी कामनाका निर्देश नहीं है, इसलिये यागमें खादिरत्व नित्य (क्रत्वर्थ) हैं। दूसरे वाक्यमें 'वीर्यकामस्य' इस फलका निर्देश है, अतः जिसको बलकी कामना हो, सो खैरका यूप बनावे। जिसको न हो,सो न बनावे इससे खादिरत्व अनित्य (पुरुषार्थ) सिद्ध होता है। यदि काम्य खादिरत्व है, तो नित्यसे भिन्न तो नहीं कह सकते, अन्यथा नित्यत्व ही भङ्ग हो जायगा। इसलिये एक ही खादिरत्वमें नित्यत्व और काम्यत्व दोनों मानने पड़ते हैं। इसमें कारण कहते हैं—'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' [मी. सू. ४-३-५···] एकस्य उभयत्वे—नित्यत्वे नैमित्तिकत्वे च संयोगपृथक्त्वं कारणम्—एक ही में उक्त दोनों धर्म हैं, इसमें कारण संयोगपृथक्त्व है—विनियोजक वाक्यों का भेद है—खादिरो यूपो भवति' और दूसरा वाक्य है—'खादिरं वीर्यकामस्य कुर्यात्' (वीर्यकामखादिर का यूप करे)। अतः नित्यार्थमें कामनाके लिये खादिरत्वका विधान है।

शङ्का—पूर्व ही का शेष क्यों नहीं मानते ? खादिरका फल वीर्य है, ऐसा माननेसे वह और यह दोनों एक वाक्य ही है।

समाधान—नहीं, ये दोनों भिन्न अर्थ हैं। जो खादिरका 'बध्नाति' के साथ संयोग है और जो वीर्यके साथ संयोग है, ये दो अर्थ हैं और दोनों विधेच्छाविषय हैं एक अर्थ होनेसे एकवाक्य माना जाता है।

शुद्धेर्द्वारत्वान्मां प्रति कर्मानुष्ठानं विधीयते । तत्र "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" छा.उ.८.१.६ इति श्रुतिबोधितस्य फलनाशस्य संभवाज्ज्ञानं विविदिषां

यहाँ दो अर्थ होनेसे वाक्यभेद होता है। देखिये—'जुहोति' के साथ संयुक्त एक विधिविभक्तिका असंभव होनेसे श्रौत विधानका समभिव्याहृत गुणका विधान हो सकता है। उसके असंभव होनेपर गुणफलसंबन्धका विधान होता है। वाक्यके अनुरोधसे श्रुतिका अत्यन्त त्याग नहीं होता। एक ही कालमें संभवासंभव नहीं होता। इसलिए जो नैमित्तिक है वही नित्यार्थ भी है। सारांश यह है कि एक खादिरत्वका क्रत्वर्थ-पुरुषार्थत्वोभयात्मत्वमें संयोगपृथक्त्ववचनरूपसे क्रतुशेषत्व फलशेषत्वलक्षण संयोगभेद अर्थ एक खादिरत्व क्रत्वर्थ है और पुरुषार्थ भी है। यज्ञनिष्पादक और बलसंपादक है। प्रथम पक्षमें नित्य है, द्वितीय पक्षमें अनित्य है। 'खादिरो यूपो भवति' इस वाक्यसे नित्य प्रयोगाङ्गसे खादिरत्वका विधान है। 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' इस वाक्यसे अनित्य प्रयोगाङ्गत्वेन खादिरत्वका विधान है। नित्य प्रयोगाङ्गत्व और अनित्य-प्रयोगाङ्गत्वेन खादिरत्वका विधान है। नित्य प्रयोगाङ्गत्व और अनित्य प्रयोगाङ्गत्वका एक वाक्यसे बोध करानेमें विरोध है; क्योंकि एकसे क्रत्वर्थका बोधन करायेंगे, तो पुरुषार्थत्वका बोध नहीं करा सकते। पुरुषार्थत्वबोधनपक्षमें क्रत्वर्थत्वका बोध नहीं करा सकते। सकृदुक्त न्यायसे एक वाक्य द्वारा एक ही अर्थका बोध होता है, दो अर्थोंका नहीं। परन्तु यहाँ दो वाक्य हैं, इसलिये उभयबोधनमें क्षति नहीं है, एवं 'दध्ना जुहोति' 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि' त्यादिमें भी पूर्वोत्तर पक्षको जानना चाहिये। 'चमसेनापः प्रणयेत्' यहांपर यह अप्प्रणयन क्रत्वर्थ है। 'गोदोहनेनापः प्रणयेत्' इस वाक्यसे विहित अप्प्रणयन पुरुषार्थ है। पूर्व अप्प्रणयन नित्य है। और उत्तर अनित्य है। वचनभेदसे एक ही अप्प्रणयनमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंका बोधन होता है, अतः दोष नहीं है। प्रकृतमें नित्यकर्मोंका दुरितक्षयके लिये विधान है। जिस फलको उद्देश्य कर जिस कर्मका विधान है उस कार्यका वही फल है, फलान्तर नहीं। आप नित्य कर्मोंको वेदन तथा वेदनेच्छामें कारण कहते हैं, सो कैसे होगा अर्थात् नित्यत्वानित्यत्वके समान प्रत्यवायपरिहारार्थत्व और मोक्षसाधनज्ञानौपयिकान्तःकरणशुद्धि एतदुभयार्थक कैसे होगा ? इसका उत्तर संयोगपृथक्त्वन्यायसे है। यहां भी दो वाक्य हैं,—एक प्रत्यवायानुत्पत्तिबोधक, जो कर्म विधिस्थलमें है। और दूसरा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि। एकसे प्रत्यवायनिवर्तकत्व और दूसरेसे मोक्षज्ञानोत्पादाङ्गत्वका बोधन है। वचनमें अचिन्त्यशक्ति है, अतः कोई दुर्बोध नहीं है। यद्यपि नित्यकर्मोंका ही ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु यहाँ कहा गया है, तथापि आगे इसी न्यायसे काम्य-नैमित्तिक कर्मोंका भी ज्ञानोत्पत्तिमें उपयोग कहेंगे। इस तात्पर्यसे 'सर्वकर्मणां विनियोगात्' यह लिखा है। वाक्यार्थोपयोगी पदार्थोंका निर्णय कर अब मूलपङ्क्तियोंकी व्याख्या करते हैं—] अर्जुन शंका करते हैं कि ब्रह्मवेदनेच्छा यानी ब्रह्म जानने की चाह, तथा ब्रह्मज्ञान, इन दोनोंके उद्देश्यसे संयोगपृथक्त्वन्यायसे तत्तत्फलोद्देशसे विहित कर्मोंके भी तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विनियोगका विधान है उक्त यज्ञादि कर्म साक्षात् ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं, किन्तु अन्तःकरणशुद्धिद्वारा हैं।

चोद्दिश्य क्रियमाणस्य यज्ञादेः काम्यत्वात्सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठेयस्य यत्किंचिदङ्गासंपत्तावपि वैगुण्यापत्ते'र्यज्ञेने' त्यादिवाक्यविहितानां च सर्वेषां कर्मणामेकेन पुरुषायुषपर्यवसानेऽपि कर्तुमशक्यत्वात्कुतः कर्मबन्धं प्रहास्यसीति फलं प्रत्याशेत्यत आह भगवान्—'नेहाभिक्रम०' इति।

अन्तःकरणशुद्धि द्वार है। जैसे,—गृहमें प्रवेश करनेसे पूर्व द्वारमें प्रवेश करना आवश्यक है। इसके विना गृहप्रवेश नहीं हो सकता। एवं यज्ञादिसे ज्ञानोत्पादनमें अन्तःकरण शुद्धि द्वार है, इसके विना वे ज्ञानसाधन नहीं होते हैं, इसी लिये मुझे कर्मानुष्ठानका उपदेश है कि मेरा अन्तकरण कर्मोंसे शुद्ध हो तदनन्तर मुझको ज्ञानप्राप्ति हो। परन्तु इस प्रकार ज्ञानोत्पत्तिकी आशा हमको नहीं है, अत एव वक्ष्यमाणमें मेरी प्रवृत्ति न हो सकेगी।

प्रश्न—क्यों आशा नहीं है ?

उत्तर—'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि। पहिले तो कर्मजन्य फल ही अनित्य है। जैसे इस लोकमें कृष्यादिकर्मसंपादित धान्यादि फल अनित्य है वैसे ही यागादिकर्मजन्य परलोकमें स्वर्गादि फल भी विनाशी है। श्रुत्यनुसारी अनुमानसे भी यही सिद्ध होता है। देखिये—स्वर्गो विनाशी, भावत्वे सति कर्मजन्यत्वात्, कृष्यादिफलवत्। ध्वंसमें व्यभिचारवारणार्थं 'भावत्व' विशेषण है। कर्मोपादान श्रुत्यादरार्थं उपरंजकमात्र है। जन्यत्वमात्रमें तात्पर्य है दूसरा कारण यह है कि यज्ञादिके उद्देश्यसे क्रियमाण यज्ञादि काम्य कर्मके साधन इतिकर्तव्यतामें कुछ भी विगुणता—अन्यथाभाव होगा, तो याग ही विगुण हो जायगा। विगुण यागसे फल नहीं होता, अतएव जहाँ यागसे फल नहीं हुआ, वहाँ व्यभिचारवारणार्थं 'न कर्तृ-कर्म-साधन-"वैगुण्यात् न्या. द. अ. २- आ- १. सू. ५६ इस न्यायसूत्रसे उक्त वैगुण्यत्रय फलाभावमें कारण कहा गया है। सब अङ्गोंका यथार्थ अनुष्ठान करो, जिससे वैगुण्य न हो, यह तो कहने-सुननेकी बात है। मनुष्यमें भ्रम-प्रमादादिके कारण किसी अनुष्ठानमें कुछ वैगुण्य न होने देंगे, यह कहना भी अनुचित ही है। दुरदृष्टवश किसी अनुष्ठेयादिमें कुछ वैगुण्य होगा, जिसकी प्रायः संभावना रहती है, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। केवल परिश्रम ही हाथ लगेगा, जो फलके विना सबको अनिष्ट है। तीसरा कारण यह है—जिसके स्मरणसे ही यह कार्य बाहुसे समुद्र तरणके समान अशक्य प्रतीत होता है, 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिसे विहित यज्ञ-दान-तपःप्रभृति सकल कर्मोंका अनुष्ठान। एक मनुष्य समर्थ होनेपर भी अपनी आयु भरमें भी नहीं कर सकता। फिर वह कैसे इनके द्वारा कर्मबन्धसे छुटकारा पा सकता है? इस शंका भगवान् उत्तर देते है—'नेहाभिक्रम०' इत्यादिसे। कर्मसे प्रारब्ध होता है, सो अभिक्रम है। 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित विनाश इसका नहीं होता, अर्थात् निष्काम कर्मयोगका विनाश नहीं होता।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'कर्मचितो लोकः' इस श्रुतिमें 'लोक' शब्दका प्रयोग है। 'यः कर्मचितः, स क्षीयते' ऐसा ही

अभिक्रम्यते-कर्मणा प्रारभ्यते यत्फलम्, सोऽभिक्रमः, तस्य नाशः 'तद्यथेहे'त्यादिना प्रतिपादितः । इह निष्कामकर्मयोगे नास्ति, एतत्फलस्य शुद्धेः पापक्षयरूपत्वेन लोकशब्दवाच्य-

कहना उचित था, क्योंकि कर्मजन्यत्वावच्छेदेन विनाशित्वबोधन उक्त श्रुतिका अर्थ, यह आप कहते हैं और मानते भी हैं, फिर 'लोक' पदका प्रयोग क्यों किया गया ? व्यर्थ तो कह नहीं सकते, अतः 'लोक' शब्द भोग्यका बोधक है। कर्मजन्य भोग्य कोई भी अविनाशी नहीं है। भोग्यातिरिक्त कर्मजन्य अविनाशी यदि कोई हो, तो उसका निषेध श्रुति नहीं करती, प्रत्युत उसकी सत्ता मानती है। अतः इसकी व्यावृत्तिके लिए 'लोक' शब्दका स्वयं प्रयोग किया है।

प्रश्न—निष्काम कर्मजन्य फल भोग्य क्यों नहीं है ? अभोगजनक कर्मानुष्ठानमें विद्वानोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' तथा मनुभगवान्ने भी कहा है कि 'न कुर्याच्च वृथा-चेष्टाम्' अर्थात् जिससे सुखप्राप्ति या दुःखनिवृत्ति न हो, ऐसी चेष्टा वृथा है। वह नहीं करनी चाहिये।

उत्तर—ठीक है, यह फल चित्तशुद्धि है, जो पापक्षयात्मक है। भावभूत पदार्थ नहीं है। अतएव भोग्य भी नहीं है। अभाव का उपभोग कहाँ ? इसीसे इसकी निवृत्ति नहीं होती। दण्डप्रहारजन्य घटनिवृत्ति उक्त कारणजन्य है। परन्तु उसका विनाश नहीं होता, अन्यथा घटका पुनः प्रादुर्भाव हो जायगा। अतएव 'जन्यो विनाशी, भावत्वात्, घटादिवत्' यह अनुमान साधु है। विनाशित्वकी व्याप्ति केवल जन्यत्वके साथ नहीं, किन्तु जन्यत्वविशिष्ट भावत्वके साथ है। जन्य भावमात्र अनित्य होता है। पापक्षय भावस्वरूप नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप है। अतएव विनाशी नहीं है। ज्ञानेच्छा विविदिषा है। फलोत्पत्तिके अनन्तर इच्छाकी निवृत्ति होती है, वह अनुभवसिद्ध है। ज्ञान उत्पन्न होकर स्वाव्यवहितोत्तरक्षणमें अज्ञानका नाश करेगा। तदनन्तर स्वयं नष्ट हो जायगा, तो कोई भय नहीं है। मोक्षप्राप्त्यनन्तर सकल द्वैतकी निवृत्ति इष्ट ही है। फल दिये बिना अज्ञानका बिना नाश किये ज्ञान नष्ट हो जायगा, इसकी संभावना ही नहीं है। अज्ञाननिवृत्तिरूप फल ज्ञानका है, इसका तो नाश ही नहीं होगा। नाशका नाश मानें, तो अनवस्था होगी और प्रतियोग्युन्म-ज्जनापत्ति अर्थात् प्रतियोगीका पुनरागमन भी होगी। कर्मयोगका फल ब्रह्मज्ञान और तद्विविदिषा, ये दोनों विना 'फल' दिये नहीं नष्ट होंगे विविदिषाका फल ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान है। फलसिद्धिके विना इच्छाका नाश नहीं होता। फलसिद्धि ही इच्छाकी नाशक मानी जाती है। इसमें संदेह ही नहीं है। ज्ञानका फल अज्ञाननाश है, सो ज्ञानोत्पत्ति-अनन्तरक्षणमें नियत हो है, फिर उसका नाश नहीं होता। अन्तिम फलसदृश मोक्ष है, सो नित्य ही है। अतएव भगवान्ने ठीक ही कहा है—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इत्यादि। अभियुक्तों-का यह कथन है कि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयेत" इत्यादिसे कर्मफल क्षयी है, यह निन्दा फलकी की गई है, कर्मकी नहीं। निन्द्यकी निन्दा निन्दार्थ नहीं की जाती। बेमतलबकी निन्दा करना अनुचित है, अतएव शिष्टजनोपेक्ष्य है किन्तु त्याग के लिए निन्दा की जाती है, जो त्याज्य है उसमें त्यागेच्छा उत्पादनार्थ निन्दा

भोग्यत्वाभावेन च क्षयासंभवात् । वेदनपर्यन्ताया एव विविदिषायाः कर्मफलत्वाद्वेदनस्य चाव्यवधानेनाज्ञाननिवृत्तिफलजनकस्य फलमजनयित्वा नाशासंभवादिह फलनाशो नास्तीति साधूक्तम् । तदुक्तम्—

> "तद्यथेहेति या निन्दा सा फले न तु कर्मणि ।
> फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं कर्म विशुद्धिकृत्" ॥

की जाती है । निन्द्यदोषोंको देखकर पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं होगा । कर्मफलकी निन्दासे उसका ही त्याग विवक्षित है, कर्मका नहीं, क्योंकि उसकी निन्दा ही नहीं की गई है ।

शङ्का—यदि कर्मफल निंद्य होनेसे त्याज्य है, तो कर्म करेंगे ही क्यों ? कर्म तो स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, तत्फल पुरुषार्थ होता है, सो त्याज्य ही है ।

समाधान—फलत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका फल अन्तःकरणशुद्धि है, तदर्थं कर्मानुष्ठान करना चाहिये ।

शङ्का—यह तो बालवञ्चनामात्र है ।

समाधान—क्यों ?

'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' १–१–२४ यह न्यायसूत्र है (जिसके उद्देश्यसे पुरुष प्रवृत्त होता है, सो प्रयोजन या फल है) फल और प्रयोजन एकार्थक है विना फलकी इच्छासे किसी कर्ममें अविक्षिप्तकी प्रवृत्ति नहीं होती । चेतनप्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण हैं, प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' यह तो प्रयोजन प्रसिद्ध है । अतः यदि अन्तःकरणशुद्धिकामनासे कर्म करेंगे, तो वही फल हुआ, अतः यह साभिसन्धि कर्म ही हुआ, निरभिसन्धि नहीं । यदि उसकी भी इच्छाका त्यागकर कर्म करे, तो इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्तिमें कारण हैं, इसका व्यभिचार होगा । जो यह नहीं जानता कि निरभिसन्धि कर्मसे मनःशुद्धि होती है उसको फलेच्छाके विना किसी विहित कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, फिर यह भी विचारणीय है कि कर्मयोगमें पक्व, पच्यमान तथा पक्ष्यमाण कर्मोंपर दृष्टि भी रखनी पड़ती है । इतने मेरे कर्म पक्व हुये, इतने पच्यमान हैं और इतने पक्ष्यमाण हैं, ऐसी दृष्टि रहनेपर फलत्याग कहा गया है । शब्दसे न कहे पर मनःशुद्धिरूप फलकी इच्छा ही से कर्म करेगा, इसलिये निरभिसन्धि कर्मानुष्ठान ही नहीं हो सकता ।

हाँ यह तो है, परन्तु शास्त्रमें निरभिसन्धि कर्मानुष्ठानका विधान है इसलिये ऐसा होता ही नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है । विचित्र संसार है इसलिये हम ऐसा न कर सकें, यह तो कहना ठीक है, पर कोई भी पुरुष निरभिसन्धि नहीं कर सकता, यह कहना साहसमात्र है । अथवा—निरभिसन्धिका अर्थ है,—भोग्यफलेच्छाभाव । भोग्यफलेच्छासे जो कर्म किया जाता है, उसका फल विनाशी है । अन्तःकरणशुद्धि

तथा प्रत्यवायोऽङ्गवैगुण्यनिबन्धनम्, वैगुण्यमिह न विद्यते, 'तमेतमि'तिवाक्येन नित्यानामेवोपात्तदुरितक्षयद्वारेण विविदिषायां विनियोगात्। तत्र च सर्वाङ्गोपसंहारनियमाभावात्। काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विनियोग इति पक्षेऽपि फलाभिसंधिरहितत्वेन तेषाम् नित्यतुल्यत्वात्। न हि काम्य-नित्याग्निहोत्रयोः स्वतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। फलाभिसंधि-तदभावाभ्यामेव तु काम्यत्व-नित्यत्वव्यपदेशः। इदं च पक्षद्वयमुक्तं वार्तिके—

दुरिताभावात्मक है। दुरिताभाव भोग्य नहीं है, अतः इस इच्छासे जो कर्म किया जाता है, सो निरभिसन्धि कर्म है। इस अर्थमें कोई दोष नहीं है।

अङ्गवैगुण्यसे अङ्गिवैगुण्यकी आशंका की निवृत्ति करते हैं—'प्रत्यवायः' इत्यादिसे। अङ्गका वैगुण्य-कर्तृवैगुण्य संस्कारोपहतत्वानधिकारित्वायथाविहितकारित्वादि है। साधनवैगुण्य-व्रीहि-यवादि साधनमें अन्यायोपार्जितत्वामेध्यत्वादि है। कर्मवैगुण्य-यथाविहितानुष्ठानत्वाभाव न्यूनाधिकाङ्गोपेतत्वादि है। यह 'न 'कर्तृ-कर्म-साधनवैगुण्यात्' इस न्यायसूत्रमें स्पष्ट है। उक्तवैगुण्य की इसमें आशंका नहीं है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे दिनदिन उपचीयमान दुरितनिवृत्त्यर्थ नित्य कर्मोका ही विविदिषामें विनियोग कहा गया है, काम्यादिका नहीं। नित्यकर्मानुष्टानमें यह नियम नहीं है, कि यावद्विहित कर्मका अनुष्ठान करे, किन्तु उसमें यह स्वतन्त्रता है कि जितना हो सके उतना ही करो, छोड़ो मत। संध्यावन्दनोत्तर अष्टोत्तर शत गायत्री जपनेपर प्रत्यवाय न होगा। यदि उतनेका भी समय न मिले, तो दश बार ही जप करे। इस प्रकार न्यून वा अधिक अङ्गवैकल्यसे नित्य कर्ममें वैकल्य नहीं है। प्रत्यवायनिवृत्ति दोनोंमें सम है, इस लिये कहते हैं कि सर्वाङ्गोपसंहारका नियम नित्यकर्ममें नहीं है [विहित सब अङ्गोंका अनुष्ठान द्वारा अङ्गीके साथ संबंधस्पर्श सर्वाङ्गोपसंहार है। विहित पूर्वोत्तराङ्गसमुदायका बिना विलम्बके अनुष्ठान करना चाहिये, यह निष्कर्ष है।] जिस संयोगपृथक्त्वन्यायसे नित्य कर्मोका विनियोग विविदिषामें कहा गया है उसी न्यायसे काम्य कर्मोका भी विविदिषामें विनियोग है, इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर— काम्यफलोंकी अपेक्षा न कर उनका अनुष्ठान करेंगे, तो वे भी नित्यकर्मतुल्य ही हुये। [इन दोनों में भेद तो यही था कि नित्य कर्मोका अनुष्ठान फल-कामनाके बिना किया जाता है और काम्य कर्मोका अनुष्ठान कामना छोड़कर अनुष्ठान किया जाय, तो दोनों फलाभिसन्धिशून्य पुरुषकर्तृकत्वेन सम है। साम्यमें दृष्टान्त कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे।] 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह काम्य अग्निहोत्र है। स्वर्गकामी पुरुष इसका अनुष्ठान करता है। जिसको स्वर्गसुख की इच्छा नहीं रहती वह नहीं करता।

"वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः" ॥ इति ।

तथा च फलाभिसंधिना क्रियमाण एव कर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारनियमात्तद्विलक्षणे शुद्धयर्थे कर्मणि प्रतिनिध्यादिना समाप्तिसंभवान्नाङ्गवैगुण्यनिमित्तः प्रत्यवायोऽस्तीत्यर्थः ।

न करनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं लगता । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' यह नित्य अग्निहोत्र है । इसमें फलकामनाका निर्देश नहीं है । जीवन इसमें निमित्त कहा गया है । इन दोनों अग्निहोत्रोंमें द्रव्य-देवतादिप्रयुक्त-भेद नहीं है । दोनोंके देवता द्रव्यादि सम हैं, फिर भी एक नित्य और दूसरा काम्य है इस भेदका कारण केवल कामना और तदभाव है । कामनाको त्याग दी जाय, तो दोनोंमें कोई भेदक नहीं रहा । इसलिये काम्य भी नित्यतुल्य हुआ । कामनाशून्यत्व दोनोंमें हैं । दोनों पक्ष वार्तिकमें 'वेदानुवचनादीनाम्०' इत्यादिसे कहे गये हैं । नित्य कर्मोंका विविदिषामें विनियोग है काम्यका नहीं; यह प्रथम पक्ष है । काम्य कर्मोंका भी उक्त रीतिसे विविदिषामें विनियोग होता है—ये दोनों पक्ष वार्तिकमें हैं ।

प्रथम श्लोकका अर्थ यह है—जीवब्रह्मात्मैक्यज्ञानोत्पत्तिके लिये—'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानोत्पत्तिके लिये 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि वाक्यसे वेदानुवचन यज्ञदानादि नित्य कर्मोंका विविदिषामें विनियोग कहेंगे । ['यद्वासे द्वितीय पक्ष कहते है—] विविदिषामें काम्य कर्मोंका भी संयोगपृथक्त्वन्यायसे 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विनियोग है । फलेच्छासे काम्य कर्मानुष्ठानमें ही सर्वाङ्गोपसंहारका नियम है, तद्विलक्षण जो अन्तःकरणशुद्धिके लिये कर्म किया जाता है, उसमें अङ्गवैगुण्यकी संभावना बहुत कम है या है ही नहीं । कारण कि इच्छानुसार उसका अनुष्ठान होता है [धूपाभावे अक्षतान् समर्पयामि, नैवेद्याभावमें भी उक्त प्रतिनिधि हो सकता है, यद्यपि काम्य कर्ममें यजमानका प्रतिनिधि नहीं होता । इसका विचार मीमांसामें छठवें अध्याय के प्रतिनिधिपाद में विस्तृत है कि किसके प्रतिनिधि होते हैं, किसके नहीं । यहाँ उनका विचार करें, तो ग्रन्थकलेवर बहुत बढ़ जायगा, इसलिये वह छोड़ देते हैं । नित्यकर्ममें कर्ताका भी प्रतिनिधि होता है—'हावयेन्न तु हापयेत्' । 'स्वामिनोऽस्ति प्रतिनिधिर्न वा द्रव्यवदस्ति सः । न मृते प्रेरकाभावाज्जीवनेऽप्यफलित्वतः ॥' यह न्यायमाला का वचन है । नित्याग्निहोत्रीको यदि अशौच हो जाय, तो या ज्वरादिसे स्नानादिमें असमर्थ तथा कर्म करनेमें भी असमर्थ हो, तो अग्निहोत्र दूसरेसे करावें । अथवा अग्निहोत्र ही तबतकके लिये बन्दकर दे, जबतक कि कर्ता समर्थ न हो जाय, इस संशयसे पूर्वपक्ष है कि कर्ताका प्रतिनिधि नहीं होता, इसलिये कर्मको ही बन्द करना उचित है । उत्तरपक्ष है कि

तथाऽस्य शुद्धयर्थस्य धर्मस्य "तमेतमि" त्यादिवाक्यविहितस्य मध्ये स्वल्पमपि-संख्यया, इतिकर्तव्यतया वा यथाशक्तिभगवदाराधनार्थं किंचिदप्यनुष्ठितं सत् महतः-संसारभयात्त्रायते-भगवत्प्रसादसंपादनेनानुष्ठातारं रक्षति ।

"सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः" ॥ इत्यादिस्मृतेः' ।

काम्यकर्ममें कर्ताके प्रतिनिधिका निषेध है, क्योंकि शास्त्रफलं प्रयोक्तरि इस मी० द. ३-७-१८ सूत्रसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल कर्ताको होता है, दूसरेको नहीं। इसलिये यदि कर्ताका कोई प्रतिनिधि मानकर कर्म किया जायगा, तो यजमानको फल नहीं होगा, इसलिये यजमानका प्रतिनिधि नहीं होता। नित्य कर्ममें तो यह शंका नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें फल नहीं। अतः इसमें किसी योग्यको प्रतिनिधि बनाकर अग्निहोत्रादि कर्म करावे 'हावयेन्न तु हापयेत्' किसीके द्वारा हवन करावे, त्याग न करे। 'हुदानादानयोः' और 'ओहाक् त्यागे' इन धातुओंसे णिच् प्रत्ययकर लिङ् लकारमें 'हावयेत्' 'हापयेत्' रूप बनते हैं इस तात्पर्यसे कहते हैं कि कर्ताका भी प्रतिनिधि नित्यकर्ममें होता है, अतः किसी कारणसे स्वयं न कर सके, तो प्रतिनिधिके द्वारा कर्म समाप्त हो जाता है, इसलिये अङ्गवैगुण्यादि दोषकी सम्भावना नहीं है। यद्यपि नित्यकर्मकी समाप्ति जीवनसमाप्तिपर ही होती है, मध्यमें समाप्ति नहीं होती, तथापि काम्यकर्मोंका सावधिक होनेपर भी फल त्यागकर अनुष्ठान करनेसे नित्य तुल्य है,] इस लिये इनकी समाप्ति प्रतिनिधि द्वारा भी हो जाती है, अतः अङ्गवैगुण्यप्रयुक्त प्रत्यवाय नहीं है, यह अर्थ है। शुद्धयर्थ अनुष्ठीयमान 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यविहित वेदानुवचन यज्ञ-दान-तप प्रभृतिमें संख्यापेक्षासे या इतिकर्तव्यतापेक्षासे थोड़ा भी [अष्टोत्तरशत अपेक्षा दश बार संख्यासे न्यून है। षोड़शोपचार पूजा न हो सके, तो पञ्चोपचार ही पूजा करे, इत्यादि कुछ अङ्गोंका त्याग कर अङ्गीका अनुष्टान करे, इस प्रकार इतिकर्तव्यतासे थोड़ा हुआ] यथाशक्ति परमेश्वरप्रसादके लिये कुछ भी जो अनुष्ठित होता है, सो बड़े संसारभयसे रक्षा करता है। भागवत्प्रसादकर होनेसे थोड़ा भी यथा तथा कृत कर्म करनेवाली की रक्षा करता है। इसमें 'सर्वपाप' इत्यादि स्मृति प्रमाण है। सब पापोंमें प्रसक्त भी पुरुष क्षण भर भी अच्युत भगवान्का ध्यान करता हुआ फिर तपस्वी-परम पवित्र हो जाता है।

प्रश्न—कैसा तपस्वी होता है?

उत्तर—पंक्तिपावनपावनः *—पंक्तिपावनोंको भी पवित्र करनेवाला।

---

* पंक्ति पावन लक्षण मनु भागवान्ने तृतीयाऽध्यायके १८३ वें श्लोकसे उपक्रमकर कहा है—'अपांक्त्योपहता पंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः। तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान् पंक्तिपावनान् ॥ साथ भोजन करनेमें अयोग्यस्तेनादि यदि एक पंक्तिमें भोजन करें, तो वह पंक्ति दूषित हो जाती है उसको पवित्र करने वाले ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ हैं,

"तमेतमि"ति वाक्ये समुच्चयविधायकाभावाच्चाशुद्धितारतम्यादेव अनुष्ठानतारतम्योपपत्तेर्युक्तमुक्तं "कर्मबन्धं प्रहास्यसीं"ति ॥ ४० ॥

[यज्ञ, दान, तप, वेदानुवचन आदि सकल कर्मोंका एक जन्ममें अनुष्ठान ही अशक्य होनेसे कर्मयोगबुद्धिसे उक्तानुष्ठान असम्भव है, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—] 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यमें सब कर्मोंके समुदायका विधान नहीं है, किन्तु इनमें जिससे जितना हो सके, उतना ही करे । [हाँ यह आवश्यक है कि जिस पुरुषके अन्तःकरणमें जितनी अधिक अशुद्धियाँ हैं उसको अधिक कर्मोंके अधिक कालतक अनुष्ठानकी आवश्यकता है । जिनकी अशुद्धियाँ कम हैं उनको कर्मानुष्ठान कम अपेक्षित है । इस तात्पर्यसे कहते हैं—] अशुद्धितारतम्य-न्यूनाधिक्यसे ही कर्मानुष्ठानमें तारतम्यसे अन्तःकरणशुद्धिकी उपपत्ति हो जाती है, इसलिए 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' यह भगवदुपदेश युक्तियुक्त है ॥ ४० ॥

उन सबको कहते हैं । सुनिये—'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च । श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ चारों वेदोंमें श्रेष्ठ चतुर्वेदाध्ययनकुशलमति ब्राह्मण पंक्ति पावन हैं, जो सर्वप्रवचन-सकलवेदाङ्गवेत्ता हों, साङ्ग चतुर्वेदाभिज्ञ हों, एवं श्रोत्रियकुलोत्पन्न भी हों वे पंक्तिपावन हैं । 'वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः शतायुश्चैव विज्ञेयो ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥' यदि वेदाङ्ग गुरुमुखसे सम्यक् पढ़ा हो, गुरूपदेशसे वेदार्थ जानता हो, उसका प्रवचन करता हो, ब्रह्मचारी—प्रथमाश्रमी हो सहस्रदायी हो, यद्यपि देय पदार्थका निर्देश नहीं है कि हजार क्या दे ? 'गावो वै यज्ञस्य मातरः' इस श्रुतिसे गौकी स्तुति की गई है, इसलिये सहस्र गोदान बहुप्रदमें उपलक्षण है । शतवर्षजीवी हो तथा जो श्रोत्रिय हो, सो ब्राह्मण पंक्तिपावन है ।

शङ्का—उसको भी पवित्र करनेवाला अच्युतध्यान कर्ता है वह सब पापोंमें प्रसक्त हो और क्षण भर ही ध्यान करे, तो उक्त रूप है । इस प्रकारके श्लोकोंसे मनुष्यका हित है या अहित है, इसका विद्वान् लोग स्वयं विचार करे । यदि यह ठीक है, तो किसी पाप कर्मसे डरना नहीं चाहिये । अच्युतध्यान मानसी क्रिया है, साक्षात्कार तो है नहीं, फिर इस प्रायश्चित्तके करनेमें क्या देर ? यदि यह कहिये कि शुद्ध तो हो जायगा, किन्तु कृत पाप कर्मोंका फल भोगना ही पड़ेगा । तत्फलभोगसे निवृत्ति तो नहीं कही गई है ।

समाधान—शुद्धि तो पापनिवृत्ति होनेपर ही हो सकती है । यदि पूर्ववत् पाप कर्म स्थित है, शुद्धि कहाँ ? यदि वे फल दिये विना ही अच्युत-स्मरणसे निवृत्त हो गये, तो फिर दुष्कर्मके भोगका भय कैसा ? यदि भक्तविशेषके लिये उक्त श्लोक है, सर्वसाधारणके लिये नहीं, तो उसकी विशेषताको ही पवित्रका हेतु कह सकते हैं, क्योंकि वह अव्यभिचरित हैं और भक्त क्षणमात्र ही क्यों ध्यान करेगा, इत्यादिसे यह अर्थवाद है अथवा विधि है, यह अपनी बुद्धिके अनुसार विद्वान् स्वयं विचार करें ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन, इस मोक्षमार्गमें आत्मतत्त्वनिश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमोंके पुरुषोंके लिए साध्य विवक्षित हैं तथा अव्यवसायी पुरुषोंकी-प्रमाण-जनितविवेकबुद्धिरहित कामियोंकी बुद्धियां बहुत शाखाओंवाली अनन्त हैं ॥ ४१ ॥

एतदुपपादनाय तमेतमितिवाक्यविहितानामेकार्थत्वमाह—'व्यवसायात्मिका' इति । हे कुरुनन्दन, इह-श्रेयोमार्गे, 'तमेतमिति' वाक्ये वा व्यवसायात्मिका आत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव चतुर्णामाश्रमाणां साध्या विवक्षिता, "वेदानुवचनेन" इत्यादौ तृतीयाविभक्त्या

उक्तार्थकी उपपत्तिके लिये 'तमेतम्' इत्यादिवाक्यविहित यज्ञ दान आदि एकार्थक है, यह कहते हैं—'व्यवसायात्मिका इत्यादिसे । हे कुरुनन्दन, इस श्रेयोमार्गमें—मोक्षमार्गमें । अथवा 'तमेतम्' इस वाक्यमें व्यवसायात्मिका—आत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है । विशिष्ट अवसायः-तत्त्वनिश्चयः आत्माऽस्या इति व्यवसायात्मिका । बुद्धि—अन्तःकरणवृत्ति यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यसे उत्पन्न ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्ति जो समस्त वृत्तियोंको बाधकर उत्पन्न होती है, सो एक ही है । यह बुद्धि चारों आश्रमविहित कर्मोंसे साध्य है । [वेदानुवचन—वेदाध्ययन, यह ब्रह्मचर्याश्रममें प्रधान है । यज्ञ और दान ये दोनों गृहस्थाश्रममें प्रधान हैं । "पत्न्येवक्षितमाज्यं भवति" पत्नीसे अवेक्षित आज्य होता है, इसके अनुसार पत्नी कर्तृक आज्यसंस्कारार्थं अवेक्षण आवश्यक हैं । अतः ब्रह्मचर्य और सन्यासमें याग नहीं हो सकता । वैखानसमें भी पत्नीका रहना आवश्यक नहीं है । यह केवल कामानशन तपःप्रधान है, अतः यज्ञ, दान गृहस्थाश्रममें प्रधान है । सन्यास तो मुख्य ही है । ये यज्ञदानादि तत्तत् आश्रमविहित कर्मोंके उपलक्षण हैं । निरभिसन्धि तत्तदाश्रमविहित निखिल कर्मोंसे अज्ञाननिवर्तक ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार होता है ।

शंका-यदि निखिल कर्मोंसे यह बुद्धि होती है, यह माना जाय, तो 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इस वाक्यसे यह कहा गया कि यदि अन्तःकरण ब्रह्मचर्याश्रममें ही पवित्र हो गया हो, तो गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसी आश्रममें व्यवसायात्मक बुद्धिके उत्पादनार्थं श्रवण, मनन आदि करे, ऐसा करनेसे गृहस्थाश्रमादि कर्म नहीं हुये, अतः सकल कर्मोंसे अन्तःकरण शुद्धि कैसे ?

समाधान—इसका अर्थ यह नहीं है कि तावत्कर्मसमुदायसे उक्त बुद्धि होती है । समुदायबोधक शब्द नहीं है । जहां समुदायमें कारणत्व विवक्षित होता है वहां द्वन्द्व समास या चकारका निर्देश रहता है, यह आगे स्पष्ट होगा ।] यहांपर 'यज्ञेन दानेन' इत्यादिसे प्रत्येक साधनके आगे तृतीया विभक्तिका निर्देश है,

प्रत्येकं निरपेक्षसाधनत्वबोधनात् । भिन्नार्थत्वे हि समुच्चयः स्यात् एकार्थत्वेऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यामि'तिवद् द्वंद्वसमासेन, 'यदग्नये च प्रजापतये चे'तिवच्चशब्देन वा । न तथाऽत्र किंचित्प्र-

इसलिये वेदानुवचन इतरनिरपेक्ष उस बुद्धिमें कारण है। [जन्मान्तरानुष्ठित यज्ञ दानादिसे जिसका मन शुद्ध है, उसके लिये केवल वेदानुवचन ही उक्त बुद्धिके लिये अपेक्षित है। एवं गृहस्थाश्रमादिमें पूर्वजन्मार्जित ब्रह्मचर्याश्रमकर्मपरिनिष्ठित मनवालेको गृहस्थाश्रमविहित यज्ञ-दानादिसे ही उक्त बुद्धि होती है। इतराश्रम-कर्मकी उस अवस्थामें आवश्यकता नहीं रहती। जो उक्तस्वरूप नहीं हैं उनके लिए दोनों आश्रमकर्मोंकी आवश्यकता होती है। एवं उत्तरोत्तर आश्रममें भी समझ लेना चाहिए। शुक, वामदेव आदिको ब्रह्मचर्याश्रमकर्मोंकी भी आवश्यकता नहीं हुई। अतः अन्तःकरणशुद्धितारतम्यसे एक दो तीन या चारों आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा है। यदि प्रत्येकमें कारणत्व न माना जाय, तो किसीको प्रथम आश्रममें किसीको द्वितीयमें, किसीको तृतीयमें और किसीको चतुर्थमें तत्त्वज्ञान होता है। किसीको किसीमें नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इस तात्पर्यसे 'वेदानुवचनादि' को प्रत्येक मात्रमें कारणत्वबोधनके लिए इतरनिरपेक्ष कहा। यज्ञ, दान आदि निरपेक्ष वेदानुवचन ही केवल उक्त बुद्धिमें कारण है। एवं वेदानुवचनादिनिरपेक्ष यज्ञदानादि ही उसमें कारण हैं, अतः प्रत्येकमें कारणत्व है।

शंका—'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां तण्डुलं पचति' यहाँपर एक ही पाकके लिये सब कारकोंका व्यापार होता है, परन्तु पाककारणता कारकव्यापारसमुदायमें है, एकैकव्यापारमें नहीं। अन्यथा काष्ठाद्यभावदशामें भी पाकापत्ति हो जायगी। तद्वत् यहाँ समुदायमें कारणत्व क्यों नहीं? एकैकाश्रममें जहाँ तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होती है वहां जन्मान्तरानुष्ठित कर्म कह सकते हैं।

समाधान—'भिन्नार्थत्वे' इत्यादि। भाव यह है कि जहां प्रधानफल निष्पादक व्यापार भिन्न-भिन्न होते हैं वहां एक कारकके न रहनेपर प्रधानोत्पादक तदीय व्यापार नहीं होता, अतः प्रधानफल भी नहीं होता। जैसे कि उक्त उदाहरणमें कर्तृ-कर्म-करणादिव्यापार भिन्न है, कर्ताका व्यापार काष्ठोत्क्षेपण फूत्कारादि, कर्मका शिथिलावयवसंयोगानुकूल व्यापार और करणका प्रज्वलनानुकूल व्यापार है। इन सब भिन्न-भिन्न स्वकीयावान्तरव्यापार द्वारा उक्त कारणकलाप पाकके साधक हैं। इनमें एकका व्यापार न हो, तो पाक नहीं हो सकता, इसलिये यहाँ समुदायत्वेन कारणता मानी जाती है, सो ठीक ही है, यहाँ प्रधानीभूत फल है व्यवसायात्मक बुद्धि। यज्ञदानादि चित्तशुद्धि द्वारा इसमें कारण है। चित्तशुद्ध्यात्मक व्यापार एक ही है, सो यदि यज्ञ दान ही से हो गया, तो तत्त्वज्ञानोत्पत्ति भी हो ही जायगी, फिर इतर कारणका विरह अकिंचित्कर है। इसलिये यहाँ समुदायत्वेन कारणता असम्भव है, अतः प्रधानोपयिक व्यापारभेद रहनेपर ही समुदायत्वेन कारणता होती है, सो यहाँ नहीं है। यज्ञदानादि सब कर्मोंका चित्तशुद्धि ही स्वकीयावान्तर व्यापार है, सो एकैकसे भी हो जाती है। इसलिये समुदायमें कारणत्व नहीं हो सकता।

माणमस्तीत्यर्थः । सांख्यविषया योगविषया च बुद्धिरेकफलत्वादेका व्यवसायात्मिका सर्व-

भिन्नार्थं होमें समुदायत्वेन कारणता होती है, एकार्थमें नहीं, यह नियम नहीं है। जहां प्रमाणद्वारा समुदायमें कारणत्व कहा गया है वहां यह माना जाता है कि इतरसापेक्ष ही एक कार्योत्पादक होता है, स्वतन्त्र नहीं। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' यह श्रुति है। आग्नेय पुरोडाश, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः— ये तीन याग दर्शमें हैं। आग्नेय, उपांशुयाज और अग्नीषोमीय ये तीन पौर्णमासीमें हैं। दर्शमें उक्त यागत्रय होते हैं, इसलिये उनका नाम दर्श है। जो पूर्णमासीमें होते हैं उन तीनोंका नाम पूर्णमास है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' वहाँ एक ही स्वर्गके लिये दोनोंका विधान है। दर्शपूर्णमास याग देवतोद्देश्यक वेधाधारमें सविधि द्रव्यत्यागानुकूल व्यापार है, सो क्षणिक है। शरीरपातानन्तर स्वर्ग होगा, उस समय स्वरूपसे उक्त याग नहीं रह सकता। कार्योत्पत्त्यव्यवहित पूर्वक्षणवृत्ति ही कारण होता है, इसलिये उक्तयागमें कारणत्व-निर्वाहार्थं तद्व्यापारको अपूर्व मानते हैं। अपूर्व अनेक प्रकारके होते हैं, परन्तु यहां अपूर्वसे प्रधानापूर्व विवक्षित है। उक्तयागद्वय स्वजन्यप्रधानापूर्वावान्तरव्यापारद्वारा स्वर्गसाधन है। यद्यपि स्वर्गोत्पत्तिपूर्वक्षणमें क्षणविनश्वर क्रियाकलापरूप याग नहीं है। तथापि तज्जन्य प्रधानापूर्व व्यापार है। इसलिए कारणमें क्षति नहीं है।] यहांपर 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' यह इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। इससे दर्श-पूर्णमाससमुदायमें कारणत्वका बोधन किया गया है, इसलिये एकैकमें कारणत्व नहीं है। दोनोंसे प्रधानापूर्व एक ही होता है, इसलिये यहाँ एकार्थकत्व दोनोंमें है।

[शङ्का—दर्शयाग अमावस्यामें होता है और पूर्णमासयाग पूर्णमासीमें होता है, दोनों एक समयमें नहीं रह सकते, फिर दोनों मिलकर प्रधानापूर्वके कारण हैं, यह कैसे ? तदुभयसमुदाय ही एक समयमें नहीं है।

समाधान—दर्शसे एक अपूर्व होगा और पूर्णमाससे एक अपूर्व होगा। दोनों अपूर्वोंसे प्रधानापूर्व होगा, सो एक ही होगा।

शङ्का—दर्शमें आपने तीन याग कहे हैं पहले पूर्णमास याग होता है, उसके बाद दर्शयाग होता है, दोनों दो दिनमें होते हैं अतः प्रकृतियाग द्वयहकाल है, पौर्णमासयागमें सद्यः काल सूत्रोक्त है "सद्यो वा-प्रातः "का० श्रौ० सू० २१-.६। लेकिन आजकल प्रतिपदमें ही किया जाता है। इन छः यागोंका समुदाय जैसे एक समयमें नहीं रहता वैसे ही दर्शत्रय और पूर्णमासत्रयका भी समुदाय एक समयमें नहीं रहता, अतः दर्शापूर्व एवं पूर्णमासापूर्वके उत्पादक कैसे होंगे ?

समाधान—ठीक है, दर्शसे तीन अपूर्व होते हैं, जो उत्पत्त्यपूर्व कहे जाते हैं। एवं पूर्णमाससे भी तीन अपूर्व होते हैं। इनका भी नाम वही है, जो पूर्वमें कह चुके हैं। इन तीन-तीन उत्पत्त्यपूर्वोंसे दो अवान्तरापूर्व होते हैं, जो समुदायापूर्व कहे जाते हैं, दोनों अवान्तरापूर्वोंसे प्रधानापूर्व होता है। प्रधानापूर्वसे स्वर्ग होता है—यह मीमांसकोंकी प्रक्रिया है। विशेष जिज्ञासा हो, तो मीमांसामें अपूर्वाधिकरण ही देखिये।

यहां तो केवल दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। तात्पर्य है कि द्वन्द्वनिर्देशसे समुदायमें कारणत्वबोधन करानेमें। यह ध्यानमें अवश्य रखना चाहिये कि यहां दोनों यागोंका व्यापार प्रधानापूर्व एक ही है, भिन्न-भिन्न व्यापार नहीं है, तो भी कारणता समुदायमें है, एकैकमें नहीं। द्वितीय उदाहरण यह है—'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'। इस वाक्यसे स्वर्गके लिये अग्निहोत्रका विधान है। अग्निहोत्र किस द्रव्यसे करे? इस आकांक्षासे 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इस वाक्यसे द्रव्यविशेषका विधान किया, फिर आकांक्षा हुई कि किस देवताके लिये होम है और किस कालमें करना चाहिये, तो कहा कि 'अग्नये च प्रजापतसे च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये जुहोति' इति।

शङ्का—यदि इसको देवताविषायक मानियेगा, तो वाक्यभेद हो जायगा। 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥' वचनान्तरसे यदि कर्म प्राप्त हो, अर्थात् कर्मका विधान हो, तो उसमें अनेक गुणोंका विधान नहीं कर सकते, अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा। यदि कर्मप्राप्त न हो, तो अनेक गुण विशिष्ट कर्मका एक ही यत्नसे विधान कर सकते हैं। यहां अग्निहोत्र कर्म वाक्यान्तरसे प्राप्त है, अतः तदुद्देश्यसे दोनों देवताओंका विधान नहीं कर सकते।

समाधान—ठीक है, यहां 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि मन्त्रसे प्राप्त अग्निदेवताका अनुवाद कर प्रजापात-देवताका विधान करनेसे उभयदेवताका होम सिद्ध होगा।

प्रश्न—'प्रजापतये च' में चकारका क्या प्रयोजन है?

उत्तर—'च' के विना प्रजापतिसे अग्निदेवताका बाध हो जायगा।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते। देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलञ्च परम्परम्' तं०वा०पृ०५३३॥

तद्धितसे, चतुर्थीसे और मन्त्रवर्णसे देवताका संबन्ध होता है। परस्पर विरोधमें उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्वसे दुर्बल हैं।

यहां चतुर्थीसे प्रजापतिका विधान है और मन्त्रवर्णसे अग्निकी प्राप्ति हैं दुर्बल मन्त्रवर्णसे प्राप्त अग्निको बाधकर चतुर्थीसे प्राप्त प्रबल प्रजापति ही हो जायँगे, इसलिये 'च' से अग्निसमुच्चित प्रजापतिका विधान इष्ट है, केवल प्रजापतिका नहीं। अब यदि अग्निका बाध हो, तो केवल प्रजापति ही रह जायँगे, अग्निसमुच्चित प्रजापति तो अग्निदेवता रहनेपर ही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये प्रजापतिदेवतासे अग्निदेवताका बाध नहीं हो सकता। एकदेवताक होमसे स्वर्ग नहीं हो सकता, इसलिये उभयदेवताक होम माना गया। यहाँ भी उक्त न्यायसे स्वर्गजनक व्यापार एक ही है, भिन्न नहीं। तथापि 'च' कारसे समुच्चय प्रतीत होता है, इसलिये समुच्चयमें कारणता है। अर्थशब्द यहां प्रयोजनवाची है। प्रयोजन दो हैं—मुख्य और गौण।

विपरीतबुद्धीनां बाधिका निर्दोषवेदवाक्यसमुत्थत्वात् । इतरास्त्वव्यवसायिनां बुद्धयो बाध्याः इत्यर्थ इति भाष्यकृतः । अन्ये तु परमेश्वराराधनेनैव संसारं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैक-निष्ठैव बुद्धिरिह कर्मयोगे भवतीत्यर्थमाहुः । सर्वथाऽपि तु ज्ञानकाण्डानुसारेण "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" इत्युपपन्नम् । कर्मकाण्डे पुनर्बहुशाखाः- अनेकभेदाः कामानामनेक-

---

मुख्य हैं—व्यवसायात्मक बुद्धि और गौण है— चित्तशुद्धि । मुख्य प्रयोजन भिन्न होनेपर तो समुच्चयमें कारणत्वका संभव नहीं है । जैसे—घट पट भिन्न हैं । इनके कारणमें—चक्र-दण्ड-चीवरादि तथा तुरी-तन्तु-वेमादि, इनके समुदायमें कारणत्वका संभव नहीं है, घट पटोभयात्मक कार्य अदृष्टचर है, अतः अर्थसे यहाँ गौण अर्थका ग्रहण है । चित्तशुद्धिमें भिन्नार्थत्व और अभिन्नार्थत्वका विचार है । तत्तदशुद्धिके भावतात्पर्यसे भिन्नार्थ है । अशुद्धित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अशुद्धिसामान्याभावकी विवक्षासे अभिन्नार्थत्व है । जिसके अन्तः-करणमें अधिक अशुद्धियाँ हैं उसको ब्रह्मचर्य गृहस्थाद्याश्रमोचित कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है । जिसको अशुद्धि न्यून है उसके लिये एक वा दो आश्रम कर्मकी आवश्यकता होती है । सारांश यह है—] सांख्यवि-षयक और योगविषयक बुद्धि एकफलक होनेसे एक ही है, जो व्यवसायात्मक कही गई है । यह बुद्धि बहुशा-खाओंवाली सब बुद्धियोंकी बाधिका है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—निर्दोषवेदवाक्यजन्य होनेसे प्रमात्मक है, इतर अव्यवसायियोंकी बुद्धियाँ बाध्य हैं । अव्यवसायी-प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहित हैं, अतः उनकी बुद्धि अतत्त्वविषयक हैं । तत्त्वविषयक बुद्धिसे अतत्त्वविषयक-बुद्धिका रज्जुसर्पादिवत् बाध सुप्रसिद्ध है, यह भाष्यकार कहते हैं । अपना अभिप्राय 'अन्ये तु से' व्यक्त करते हैं—परमेश्वरके आराधनसे ही संसारसे तरेंगे–एतादृश निश्चयात्मक परमेश्वरनिष्ठ बुद्धि इस कर्मयोगमें होती है, यह अर्थ अन्य यानी भाष्यकारसे अन्य कहते हैं । [यद्यपि 'भाष्यकृतः' 'अन्ये तु' इस लेख से दोनोंमें भेद प्रतीत होता है तथापि व्यवसायात्मक बुद्धिदार्ढ्य संपादनार्थ 'परमेश्वर' इत्यादि बुद्धि है । इस विश्वासके विना परमेश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति न होगी, इसलिये तद्दार्ढ्यार्थं उक्त बुद्धि आवश्यक है, अतः मतभेद नहीं हैं] सर्वथा ज्ञानकाण्डके अनुसार इन धर्मोंमें थोड़ा भी अनुष्ठित भयानक भवभयसे रक्षा करता है । यह युक्तियुक्त हुआ । कर्मकाण्डकी बुद्धियाँ बहुशाखाओं वाली है ।

प्रश्न—बुद्धिमें शाखा कहाँ ?

उत्तर—शाखाशब्दका अर्थभेद हैं । बहुशाखाका अर्थ बहुभेद है ।

प्रश्न—क्यों ?

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे पार्थ, वेदोंमें प्रतिपादित हुए। अर्थवादवाक्योंमें ही रत रहनेवाले, अतः कर्मकाण्ड तथा उसके फलकी अपेक्षा ज्ञानकाण्ड एवं उसके फलको निरतिशय न माननेवाले, स्वर्गको ही एकमात्र परम पुरुषार्थ समझनेवाले, विचारजन्यतात्पर्यके परिज्ञानसे शून्य जो कामात्मा पुरुष हैं वे लोग इस वक्ष्यमाण जिस आपातरमणीय, जन्म, कर्म तथा फल प्रदान करनेवाली, भोग एवं ऐश्वर्यके प्रति साधनभूत अग्निष्टोम आदि क्रियाविशेषोंकी प्रतिपादक वाणीको कहते हैं यानी प्रकृष्ट परमार्थस्वर्गादि फलवाली कहते हैं। उस वाणीसे अपहृत चित्तवाले उन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्ति रखनेवाले पुरुषोंके अन्तःकरणमें व्यवसायात्मिका बुद्धि प्रविष्ट नहीं होती ॥ ४२-४४ ॥

भेदत्वात्, अनन्ताश्च कर्मफल-गुणफलादिप्रकारोपशाखाभेदात् बुद्धयो भवन्त्यव्यवसायिनाम् तत्तत्फलकामानाम् । बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । अतः काम्यकर्मापेक्षया महद्वैलक्षण्यं शुद्ध्यर्थकर्मणामित्यभिप्रायः ॥ ४१ ।

अव्यवसायिनामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवति, प्रमाणस्य तुल्यत्वादि-

---

उत्तर—काम्य फल ही अनेक हैं, अतः फलके बहुशाख होनेसे तद्बुद्धियाँ भी बहुशाख हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या ? [जैसे व्यवसायबुद्धि विषयके एक होनेसे एक कही गई वैसे ही कर्मकाण्डीय काम्यफल-विषयकबुद्धि भी विषयफलके भेदसे बहुभेदवाली कही गई है। अन्तःकरणवृत्तिरूप स्वरूपभेद से तो दोनों बुद्धियाँ बहुशाखावाली ही हैं ।]

शङ्का—भेद होनेसे भी बहुभेदवाली कह सकते हैं ।

समाधान—हाँ, कह क्यों नहीं सकते, परन्तु यहा बहुशब्द अनन्तके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है। अनन्त फल होनेसे अनन्तभेदवाली[1] है। कर्मफल और गुणफलसे भेद अव्यवसायि-बुद्धियाँ अपरिसंख्येयभेदवाली हैं।

---

१. अथवा प्रधानफल बहुत हैं, इसलिये अव्यवसायी बुद्धियाँ बहुभेद हैं। गुणफल अनन्त है, इसलिये अनन्त है। प्रधानगुणफलभेदद्वयप्रतिपादनार्थं बहुशाख और अनन्त पदद्वय है। अतः पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं है, अन्यथा बहुशाख और अनन्त इन दोनोंमें एक पद व्यर्थ हो जायगा।

त्याशङ्क्य प्रतिबन्धकसद्भावान्न भवतीत्याह त्रिभिः—'यामिमाम्' इति। यामिमां वाचम् प्रवदन्ति, तया वाचाऽपहृतचेतसाम्-अविपश्चितां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवतीत्यन्वयः। इमाम्-अध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धां। पुष्पितां-पुष्पितपलाशवदापातरमणीयाम्, साध्यसाधन-सम्बन्धप्रतिभानान्निरतिशयफलाभावाच्च। कुतो निरतिशयफलत्वाभावः। तत्राह—जन्मकर्म-

---

कर्मफल "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्यसे विहित दर्शपूर्णमास कर्मका फल स्वर्ग है। 'गोदोहनेनापः प्रणयेत् पशुकामस्य' इस वाक्यसे विहित गोदोहनाप् प्रणयन गुण है। उक्त यागमें यदि चमससे अप्प्रणयन करेगा, तो स्वर्ग ही फल है। उसी यागमें यदि गोदोहनीसे अप्प्रणयन करेगा, तो पशु होंगे। यहाँ याग एक ही है, पर गुणभेदसे फलभेद होता है। एवं 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' 'खादिरम् वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' इत्यादि स्थलमें गुणभेदसे फलभेद समझना चाहिये] अव्यवसायिनां—गुणप्रधान-फलकामियोंकी बुद्धिमें आनन्त्य प्रसिद्ध है, एतत्द्योतनार्थं 'हि' शब्द है। अतः काम्यकर्मकी अपेक्षा शुद्ध्यर्थं कर्ममें महा वैलक्षण्य है, यह अभिप्राय है॥ ४१॥

प्रश्न—अव्यवसायियोंको व्यवसायात्मक बुद्धि क्यों नहीं होती, प्रमाण तो दोनोंके लिये समान है। जिस वेदवाक्योंसे व्यवसायियोंको उक्त बुद्धि होती है, उन्हीं वेदवाक्योंसे अव्यवसायियोंको वह बुद्धि नहीं होती, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—कारण प्रतिबन्धकबाहुल्य है, यह कहते हैं—'यामिमाम्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे। कर्मकाण्डके विद्वान् जो इस कर्मकाण्डवाणीको कहते हैं तद्वाक्योक्तफलरागवशीभूत अतएव तदपहृतचित्तवालोंको व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती, यह अन्वय है।

प्रश्न—यह 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिके विषयरूपसे प्रसिद्ध ऋग्-यजुः-सामलक्षणा त्रयी कैसी है।

उत्तर—पुष्पिताम्-यानी फूले पलाशके समान आपातरमणीय है। परिणामपर दृष्टि न देनेपर इतर वृक्षोंसे बहुत पलाश जैसे अच्छा प्रतीत होता है वैसे ही यह है। पलाश फूलनेपर बहुत अच्छा दीख पड़ता है, परन्तु उसमें पुष्प ही होता है, फल नहीं, अतः निष्फल है। इसीसे आपातरमणीय है। केवल देखने भरके लिये है, आपातरमणीयत्वमें हेतु है—साध्य-फल, साधन-कर्म, तत्सम्बन्ध-उपायोपेयभाव और फलके साथ आत्माके स्वस्वामिभाव आदिका प्रतिभान है। तथा फल भी सातिशय है—छोटा-बड़ा है। निरतिशय यानी जिससे उत्तम न हो सके अर्थात् सर्वोत्तम—पूर्ण फल भी नहीं है।

प्रश्न—क्यों?

फलप्रदां-जन्म चापूर्वशरीरेन्द्रियादिसंबन्धलक्षणं। तदधीनं च कर्म तत्तद्वर्णाश्रमाभिमाननिमित्तम्, तदधीनं च फलं—पुत्र-पशु-स्वर्गादिलक्षणं विनश्वरम्। तानि प्रकर्षेण घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा ताम्। कुत एवम्। अत आह—भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाम्-अमृतपानोर्वशीविहार-पारिजातपरिमलादिनिबन्धनो यो भोगः, तत्कारणं च यदैश्वर्यम्-देवादिस्वामित्वम्। तयोर्गतिम्-प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषाः-अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोमादयः, तैर्बहुलां-विस्तृतामतिबाहुल्येन भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापप्रतिपादिकामिति यावत्। कर्मकाण्डस्य हि

उत्तर—'जन्म' इत्यादि। जन्म कर्म और फल—इन तीनोंको देनेवाली है। आत्माका जन्म अभूत्वा भवन तो नहीं होता, अतः 'अपूर्वशरीरेन्द्रियादिसंम्बन्ध' कहा। शरीरेन्द्रियादिसम्बन्ध जीवनपर्यन्त रहता है, तन्निमित्तक जन्मव्यवहारापत्तिपरिहारार्थं 'अपूर्व' कहा। उत्पत्तिके क्षणमें अपूर्वशरीरादिसम्बन्ध है, आगे पूर्वशरीरादिका सम्बन्ध है, अपूर्व शरीरादिका नहीं, इसलिये उक्त दोष नहीं है। जन्माधीन ही कर्म है, क्योंकि कर्मानुष्ठानमें तत्तद्वर्ण और आश्रमका अभिमान नियत निमित्त है। ब्राह्मणको जो विहित कर्म है उसको ब्राह्मणाभिमानी ही करता है। एवं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादिमें भी नियम है। आश्रमोचित कर्म आश्रमाभिमानी ही करता है, अन्य नहीं, यह अति स्पष्ट है। कर्माधीन फल है, जो जैसा उत्तम, मध्यम कर्म करता है वह वैसा फल भोगता है। फल ऐहिक और पारलौकिक भेदसे दो प्रकारके हैं। ऐहिक पुत्र, पशु आदि और पारलौकिक स्वर्ग आदि हैं। आदि पदसे नरकका ग्रहण है। ये सब फल कर्मजन्य होनेसे विनाशी हैं। इन सबको घटीयन्त्र—जलकी चर्खीकी तरह कर्मकाण्डविद्या देती है। घटीयन्त्रमें अनेक कलसी बँधी रहती हैं। यह निरन्तर आती जाती रहती हैं सदा जल देती रहती हैं, एक गई, तो दूसरी आई। कभी इसका उक्त कार्यमें विराम नहीं होता, तद्वत् जन्मकर्मफलोंका निरन्तर प्रवाह चलता रहता है। एवंभूत कर्मकाण्डवाणी है।

प्रश्न—क्यों ऐसी है ?

उत्तर—भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके प्रति क्रियाविशेषोंसे बहुत ज्यादा विस्तृत है। स्वर्गमें जो अमृतपान, ऊर्वशी-अप्सराविशेषके साथ विहार-रति-क्रीड़ासुखानुभव तथा पारिजात (देववृक्षविशेष) आदिकी गन्धजनितसुख होता है वह भोग है और उसमें जो कारण ऐश्वर्य है ['मन्दारः पारिजातकः' 'परिमल-'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' यह अमरकोश है। आदिसे दिव्यरूप-स्पर्शादि इन विषयोंके सेवनसे जो सुखानुभव मिलता है, सो भोग है, इसमें कारण ऐश्वर्य—शक्तिविशेष देवादिस्वामित्व है, एतल्लोकका कुछ देवताओंका भी स्वामी होता है। देवलोकके परिचारक देवगण ही होते हैं, भोग्यविषयकी प्राप्ति उन्हींके अधीन रहती है, अतः उनपर स्वामित्व होना आवश्यक है। उक्त दिव्य विषयभोग और तत्

ज्ञानकाण्डापेक्षया सर्वत्रातिविस्तृतत्वं प्रसिद्धम् । एतादृशीं कर्मकाण्डलक्षणां वाचं प्रवदन्ति-प्रकृष्टां परमार्थस्वर्गादिफलामभ्युपगच्छन्ति । के ? येऽविपश्चितः-विचारजन्यतात्पर्यपरिज्ञान-शून्याः । अत एव वेदवादरताः-वेदे ये सन्ति वादाः-अर्थवादाः "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति आप. श्रौ. ८-२-२" इत्येवमादयः । तेष्वेव रताः-वेदार्थसत्यत्वेनैवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन संतुष्टाः । हे पार्थ, अत एव नान्यदस्तीतिवादिनः-कर्मकाण्डापेक्षया नास्त्यन्यत् ज्ञानकाण्डम्, सर्वस्यापि वेदस्यकार्यपरत्वात् । कर्मफलापेक्षयाच नास्त्यन्यन्निरतिशयं ज्ञानफलमिति

देवेश्वरत्व—] इन दोनोंकी प्राप्तिमें साधन—कारण जो क्रियाविशेष—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम-आदि हैं, इनसे अतिविस्तृत हे यानी अधिकतर भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापोंका प्रतिपादन करनेवाली है, यह अभिप्राय है। ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा कर्मकाण्ड सर्वत्र अतिविस्तृत प्रसिद्ध है। [तत्तत्स्वर्गसुखादिके लिये अनेक याग, दान और होम आदिका विधान है। मोक्षकी तो चर्चा भी नहीं है। ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा कर्मकाण्ड विषयतः तथा स्वरूपतः अतिविशाल है, यह प्रसिद्ध है। संहिता-ब्राह्मणोंके जितने बृहद् ग्रन्थ हैं उतने उपनिषदोंके नहीं हैं, फिर प्रतिपाद्य विषय केवल एक आत्मा ही उपनिषदोंमें है। कर्मकाण्डमें अनेक यागादि प्रतिपाद्य विषय हैं। उपनिषत्प्रमेयके लिये एक उपनिषत् ही प्रमाण है। कर्मविद्यामें श्रुत्यादि प्रमाण अनेक हैं, अधिकारी भी अनेक हैं। मोक्षमें वीतराग कोई एक कभी होता हैं, इस तात्पर्यसे 'सर्वत्र'] एवंभूत कर्मकाण्डलक्षण वाणीको कहते हैं अर्थात् प्रकृष्ट— परमार्थस्वर्गादिफलप्रद कहते हैं।

प्रश्न—कौन कहते हैं ?

उत्तर—जो वस्तुतः पण्डित नहीं हैं अर्थात् विचारजन्यवेदवाक्यतात्पर्यज्ञानसे शून्य हैं, अतएव जो वेदवादरत हैं यानी वेद में जो 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः' इत्यादि अर्थवाद हैं उन्हींमें वे रत हैं। उनकी यह समझ है कि जो वेदमें विहित है या श्रुत है सब सत्य ही है। वेद में मिथ्या वा अन्यथा नहीं लिखा है। यदि चातुर्मास्ययागजन्य सुकृत क्षयी ही होता, तो 'अक्षय्य' क्यों कहा जाता ? यह हो नहीं सकता कि स्वर्ग कारण सुकृत रहनेपर ही हो और तज्जन्य स्वर्ग विनाशी हो—यह उन लोगोंका विश्वास मिथ्या है। परन्तु वे सत्य समझकर सन्तुष्ट हैं। हे अर्जुन, अतएव यानी मिथ्या विश्वासजन्य संतोष से ही वे कहते हैं कि स्वर्गादि से अन्य मोक्ष है ही नहीं। इसके लिये तत्प्रतिपादक शास्त्रोंका भी अभाव कहते हैं। उनके मतसे कर्मकाण्डसे अतिरिक्त ज्ञानकाण्ड है ही नहीं। सम्पूर्ण वेद कार्य धर्म तत्परक हैं कर्मफलकी अपेक्षा अन्य निरतिशयत्वेन इष्ट ज्ञानका फल मोक्ष है, ऐसा नहीं कहते हैं। बड़े प्रबन्धसे ज्ञानविरुद्ध अर्थ कहते हैं, यह अर्थ है। [प्रबन्ध-कल्पना यह है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' 'मी०द० १-२-१।' इस मीमांसासूत्रसे यह विचार किया है कि वेद क्रियार्थ-कर्तव्यार्थबोधक है, जिसके अनुष्ठान-परिवर्जनसे मनुष्य सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति

वदनशीला-महता प्रबन्धेन ज्ञानकाण्डविरुद्धार्थभाषिण इत्यर्थः। कुतो मोक्षद्वेषिणस्ते। यतः कामात्मानः-काम्यमानविषयशताकुलचित्तत्वेन काममयाः। एवं सति मोक्षमपि कुतो न कामयन्ते। यतः स्वर्गपराः-स्वर्ग एवोर्वश्याद्युपेतत्वेन परः उत्कृष्टो येषां ते तथा। स्वर्गातिरिक्तः पुरुषार्थो नास्तीति भ्राम्यन्तो विवेकवैराग्याभावान्मोक्षकथामपि सोढुमक्षमा इति यावत्। तेषाञ्च पूर्वोक्तभोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वादिदोषादर्शनेन निविष्टान्तःकरणानां तया-

कर सके। उसी अर्थके लिए वेद है। वह अर्थ असिद्ध है। अतएव अनुष्ठेय है। ब्रह्म सिद्ध अर्थ है, साध्य नहीं। अतः उसका बोधक वेद नहीं है. कर्मकाण्ड कर्तव्यार्थोपदेशक है, इसलिये प्रमाण है। उपनिषत्काण्ड यागकर्तृ-आत्म-समर्पकत्वेन कर्मविध्येकवाक्यतासे प्रमाण है, साक्षात् नहीं। केवल ब्रह्मज्ञान अपुरुषार्थ है, अतः उसका उपदेश व्यर्थ है। सात द्वीपकी पृथिवी है—इत्यादिवत्। इस बातको सुनकर किसमें प्रवृत्त होकर इष्टलाभ करे या किससे निवृत्त होकर अनिष्टनिवृत्ति मनुष्य करे, कर्तव्यार्थका तो निर्देश हुआ नहीं है। 'नायं सर्पः, रज्जुरेषा' इस वाक्यको सुनकर जैसे भयकम्पादिकी निवृत्ति होती है एवं तुम ब्रह्म हो, संसारी नहीं सिर्फ इतने उपदेश से संसारधर्मकी निवृत्ति हो जाती है, कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, यह कहना तो बालप्रलोभनमात्र है। 'असकृत्' इस उपदेशसे किसीकी संसारधर्मनिवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रतिदिन उपनिषत्का जो पाठ करते हैं वे भी पूर्ववत्संसारी देखे जाते हैं और ब्रह्म सिद्धार्थ होने से प्रमाणान्तरका भी विषय हो जायगा। तो उपनिषत् लौकिकवाक्यवत् अनुवादक होगा, अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य ही उसमें भङ्ग हो जायगा। इसलिये यदि उपनिषत्को प्रमाण मानना है, तो कार्यार्थक मानिये, सिद्धार्थक नहीं—इत्यादि बड़ी-बड़ी कल्पनाओंसे उपनिषत्प्रतिपाद्यात्मैकत्वविज्ञानफल मोक्षका निराकरण मीमांसकोंने किया है, सब लिखनेसे बड़ा ग्रन्थ हो जायगा, इसलिये हमने अति संक्षिप्त लिखा है।]

प्रश्न—मीमांसक मोक्षसे विद्वेष क्यों करते हैं?

उत्तर—वे कामात्मा हैं। काम्य—पशु-पुत्र-स्वर्गादि सैकड़ों विषयोंसे उनका चित्त आकुल है। तत्तद्-कामनाओंमें ही व्यस्तचित्त रहते हैं। मोक्षके विचारका उनको अवकाश ही नहीं रहता।

शङ्का—अन्य कामोंकी अपेक्षा मोक्ष तो अधिक कमनीय है, फिर इसकी कामना क्यों नहीं करते।

समाधान-ऊर्वश्यादि अप्सराओंसे संयुक्त स्वर्ग ही उन्हें सबसे उत्कृष्ट प्रतीत होता है, मोक्ष नहीं। स्वर्गानुरागनिमग्नचित्त होनेसे इससे अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थ नहीं है। इस भ्रममें पड़कर अतएव विवेकवे-राग्यशून्य होनेसे मोक्षकथा सुननेके लिये भी क्षम नहीं हैं, विचार तो दूर रहा।

शङ्का—विषयपराधीनत्व, सातिशयत्व, क्षयित्व आदि दोष-इन भोगोंमें स्पष्ट है। इनसे मुमुक्षओंको जैसे विवेकवैराग्य होता है वैसे इनको क्यों नहीं होता।

क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतम्-आच्छादितं चेतो विवेकज्ञानं येषां, तथाभूतानामर्थवादाः-स्तुत्यर्थाः। तात्पर्यविषये प्रमाणान्तराबाधिते वेदस्य प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धमपि ज्ञातुमशक्तानां समाधौ-अन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते—न भवतीत्यर्थः। समाधिविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषां न भवतीति वा। अधिकरणे, विषये वा सप्तम्यास्तुल्यत्वात्। विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः। समाधीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या समाधिः-अन्तःकरणं वा

समाधान—पूर्वोक्त भोगैश्वर्यमें ये इतने निमग्नचित्त रहते हैं कि इनकी क्षयित्वादि दोषका ज्ञान ही नहीं होता, इसलिये वे उक्त भोगमें ही परिनिष्ठितान्तःकरण होते हैं तथा विविध याग, दान, होम आदि क्रियाप्रतिपादक कर्मकाण्ड-वाक्योंके विचारसे ही उनके चित्तको अवकाश नहीं रहता। तद्विचारप्रचुरकर्म वेदवाक्यसे—[भाष्यमें चित्तशब्द तद्वृत्तिविशेष विवेकपरक है, इस आशयसे चेतः-विवेकज्ञान कहा] आच्छादित—ढका है विवेकज्ञान जिनका एवंभूत जो पूर्वोक्त मीमांसक हैं उनको भूतार्थवाद स्तुत्यर्थ है। प्रमाणान्तराबाधित तात्पर्यविषयमें वेद प्रमाण है, यह सुप्रसिद्ध है, फिर भी इसके जाननेमें अशक्त मीमांसकोंके अन्तःकरणमें व्यावसायात्मक बुद्धि नहीं होती [सारांश यह है कि मीमांसकोंको भोगैश्वर्यमें ही आत्मकर्तव्यत्वबुद्धि दृढ़ है, तदीयदुराग्रहगृहीत चित्तमें स्वर्ग ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है, यह किस प्रमाणसे सिद्ध हो, इसके लिये व्याकुलचित्त होकर अन्वेषण करनेपर 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इस वाक्यको देखा। देखते ही उनका मन इसके ऐसा वशंवद हुआ कि यह वाक्य स्तावक हैं, इसका मुख्य तात्पर्य कहाँ, यह विवेक ही छिप गया—लुप्तप्राय हो गया, इसलिये स्वाभीष्टसाधकके गुण और दोषपर विचार न कर इसीमें उनका चित्त अभिनिविष्ट हुआ। इस प्रकार अविवेकाभिनिविष्टचित्तमें व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती, आश्चर्य क्या है ?] अथवा उन्हें समाधिविषयक व्यवसायात्मिक बुद्धि नहीं होती, यह अर्थ है। अधिकरण या विषयमें सप्तमीका विधान समान हैं। 'विधीयते' यह कर्मकर्तामें लकार है।

[संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेदसे दो प्रकारकी समाधि—अन्तःकरणवृत्ति होती है, यह योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है। उसमें बुद्धिकी प्रसक्ति ही नहीं, तो निषेध व्यर्थ है। समाधि स्वयं बुद्धि स्वरूप ही है, इसलिये उसकी प्रसक्ति समाधिमें कहाँ ? इस शंकासे भाष्यकारने यहाँ समाधिशब्द योगवृत्तिसे चित्तपरक है, यह व्याख्यान किया, 'समाधीयते' इत्यादि भाष्यकारकी व्युत्पत्तिसे समाधि अन्तःकरण हुआ, पुरुषके भोगके लिये सब अन्तःकरणमें समाहित होते है। आत्मा तो असङ्ग है, अतः उसमें किसीकी समाधि नहीं।] अथवा 'समाधीयते अस्मिन्' इस व्युत्पत्तिसे परमात्मा समाधिशब्दसे गृहीत होता है, [क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार निखिल प्रपञ्चका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। अतः परमात्मा समाधि है। भोगौपयिक बुद्धि वासना और अदृष्ट आदि सब अन्तःकरणमें होते हैं। प्रयोजनके विना किसीकी उत्पत्ति भी नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त

परमात्मा वेति नाप्रसिद्धार्थकल्पनम् । अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिः, तन्निमित्ता व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यत इति व्याख्याने तु रूढिरेवाऽऽदृता । अयं भावः—यद्यपि काम्यान्यग्निहोत्रादीनि शुद्धयर्थेभ्यो न विशिष्यन्ते, तथाऽपि फलाभिसंधिदोषान्नाऽऽशयशुद्धिं संपादयन्ति ।

है । सकल संसार जीवके भोगार्थं होनेसे तददृष्टाधीन है, सबका निमित्त अदृष्ट अन्तःकरणमें रहता है । भोग भी अन्तःकरणमें है । अदृष्ट द्वारा सर्वसमाधि अन्तःकरण भी होता है । अन्तिम पक्षसे अन्तःकरणमें व्यवसायात्मक बुद्धिवृत्ति नहीं होती, यह अर्थ है । ब्रह्मपक्षमें ब्रह्मविषयक बुद्धि उनको नहीं होती, यह अर्थ है । अधिकरण तीन प्रकारका होता है,—औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । अन्तकरणपक्षमें औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी और ब्रह्मपक्षमें वैषयिक सप्तमी है । समाधिसे विवक्षित ब्रह्ममें विषयिता-सम्बन्धसे व्यवसायात्मक बुद्धि है । तद्विषयक ब्रह्मभाव अन्तःकरणमें समझना चाहिये । 'प्रतियोग्यभावौ-तुल्ययोगक्षेमौ' इस न्यायसे जहाँ प्रतियोगीकी प्रसक्ति है वहीं निषेध होता है, इस नियमसे बुद्धि अन्तः-करणमें होती है । तन्निषेधाधिकरण अर्थात् अन्तःकरण है, यह अर्थ लब्ध होता है ।] दोनोंमें किसी अर्थमें सप्तमी माननेसे अर्थमें भेद नहीं होता—अप्रसिद्ध अर्थकी कल्पना नहीं करनी पडती ।

शंका—विपूर्वक धाञ् धातु सकर्मक है । कर्ममें प्रत्यय करनेसे 'विधीयते' यह रूप होता है । इसका विवरण 'भवति' कैसे होगा ? भूधातु अकर्मक है ।

समाधान—कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा करनेसे उक्त धातु भी अकर्मक हो जाता है । कर्तृव्यापार-सौकर्यविवक्षार्थं कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा कर कर्तामें लकार करनेसे 'पच्यते तण्डुलः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग जैसे होता है वैसे ही 'विधीयते'में भी व्यवसगात्मक बुद्धि कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा कर कर्तामें लकार करनेसे होता है । 'कर्मवत् कर्मणा' इस सूत्रसे यक्प्रत्यय तथा आत्मनेपद आदि होता है । 'विधीयते' का 'स्वयमेव भवति' यह अर्थ हुआ । इस अभिप्रायसे 'कर्मकर्तरि' कहा ।

शंका—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि दोनोंमें निरूढ़ समाधि शब्द है । इसका ब्रह्म या अन्तः-करण अर्थ कैसे हो सकता है ?

समाधान—'समाधीयते' इत्यादि उक्त व्युत्पत्तिसे यहाँ समाधि योगिक शब्द विवक्षित है, रूढ़ि नहीं । यौगिक समाधिशब्दका प्रयोग ब्रह्म अथवा अन्तःकरणमें कर सकते हैं । इसलिये अप्रसिद्धार्थकी कल्पना नहीं है । जो यौगिकार्थ भी न हो उसे प्रयोग करनेसे अप्रसिद्धार्थकल्पना होती है, सो दोष प्रकृतमें नहीं है ।

शङ्का—'रूढिर्योगमपहरति' इस न्यायसे योगार्थापेक्षया रूढ्यर्थका ग्रहण होता है, अतएव 'वर्षासु रथकारो अग्नीनादधीत' इस श्रुत्यर्थ विचारावसरमें रथकारसे बढ़ईका ग्रहण होता है । द्विजातिका नहीं,

भोगानुगुणा तु शुद्धिर्न ज्ञानोपयोगिनी। एतदेव दर्शयितुं 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानामि'ति पुनरुपात्तम्। फलाभिसंधिमन्तरेण तु कृतानि ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधतीति, सिद्धं विपश्चिदविपश्चितोः फलवैलक्षण्यम्। विस्तरेण चैतदग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ ४२-४४ ॥

क्योंकि आपत्कालमें जीविकानिर्वाहार्थं द्विजाति भी रथादिका निर्माण करता ही है। स्वकीय वृत्तिसे निर्वाह न हो सके, तो परकीय वृत्तिका आश्रयण करे, यह धर्मशास्त्रसे विहित है यह संशय कर पूर्वपक्ष किया कि योगार्थका ही ग्रहण करना चाहिये। वेदके अग्न्याधान मन्त्रोंका उच्चारणकर अग्न्याधान होता है। द्विजातियोंका वेद पढ़नेका अधिकार है। बढ़ईका ग्रहण करोगे, तो उसको तो वेदाधिकार है नहीं, अतः वह वैदिक मन्त्रोंको पढ़कर अग्न्याधान कैसे करेगा ? सिद्धान्त किया है कि उक्त न्यायसे बढ़ईका ही ग्रहण इष्ट है, क्योंकि रूढ़ि शीघ्र स्वार्थोपस्थापक होती है। अवयवार्थचिन्तनोत्तर यौगिक शब्द देरसे स्वार्थकी उपस्थिति कराता है। असंजातविरोधित्वेन प्रथमोपस्थित अर्थमें शास्त्र कृतार्थ हो जाता है, इसलिये विलम्बोपस्थित अर्थकी आकांक्षा ही नहीं रहती। यद्यपि उसको वेदाधिकार नहीं है। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयेयाताम्' से प्रतिषेध है। तथापि अग्न्याधानके अन्यथानुपपत्तिसे आधानौपयिक (आधानोपयोगी) वेदमन्त्राध्ययनाधिकारकी इसीसे कल्पना होती है। फलमुखकल्पनामें गौरव दोष नहीं है, अतः रूढिके अनुसार बढ़ई वर्षाकालमें अग्न्याधानाधिकारी है, यह पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त है तद्वत्समाधिशब्द यहाँ रूढ्यर्थक विवक्षित है। [ब्रह्म और अन्तःकरण उक्त शब्दका योगार्थ है, रूढ्यर्थ नहीं।]

समाधान—'अहं ब्रह्मास्मि' यह जो अवस्थिति है यही यहाँ समाधि है। ध्याता और ध्यानका परित्याग करके क्रमशः ध्येयैकगोचरवृत्ति असंप्रज्ञात समाधि है, अतः रूढ्यर्थ ही समाधि प्रकृतमें विवक्षित है। इस समाधिका निमित्त है—व्यवसायात्मक बुद्धि। निष्काम कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही यह बुद्धि होती है। व्यवसायात्मक बुद्धिका यह फल है। 'फलमपीह हेतुः' इस अभियुक्तोक्तिसे समाधि भी निमित्त हुई। व्यवसायात्मक बुद्धि और समाधि दोनोंमें निमितत्व है। भेद यह है कि व्यवसायात्मक बुद्धिमें लौकिक निमितत्व है और समाधिमें वाचनिकत्व। वाचनिक निमित्तसे 'निमित्तात्कर्मयोगे' इस वार्तिकसे सप्तमी होती है, अतएव 'चर्मणि द्विपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीनं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः' ॥ इस श्लोकमें हनननिमित्त चर्मादिमें सप्तमी है। तद्वत् समाधिमें भी सप्तमी है, इस अर्थमें रूढ़िका ही आदर है। रूढ्यर्थक समाधि यहाँ है, यौगिक नहीं

शङ्का—अग्निहोत्रादि कर्म निरभिसन्धि कर्मानुष्ठायियोंका और कामिपुरुषोंका समान ही है, स्वरूपतः विशेष नहीं है, फिर क्यों निष्काम पुरुषोंके समान सकामपुरुषोंकी अन्तःकरण शुद्धि नहीं होती।

समाधान—ठीक है, कर्म तो दोनोंका एक ही-सा है, परन्तु कामिपुरुषान्तःकरणकी शुद्धिमें प्रतिबन्धक कामनायें हैं। काम्यकी इच्छासे कृत कर्म कालान्तरमें फल प्रदानके लिये स्वव्यापार धर्मादिका

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

समस्त वेद काममूल—संसार विषयक ही हैं, अतः हे अर्जुन, तुम निष्काम हो जाओ एवं निर्द्वन्द्व, निश्चल धैर्यमें स्थित, योग और क्षेमसे रहित तथा आत्मवान् हो जाओ॥ ४५॥

ननु सकामानां मा भूदाशयदोषात् व्यवसायात्मिका बुद्धिः, निष्कामानांतु व्यवसायात्मकबुद्ध्या कर्म कुर्वतां कर्मस्वाभाव्यात्स्वर्गादिफलप्राप्तौ ज्ञानप्रतिबन्धः समानः इत्याशङ्क्याऽऽह—'त्रैगुण्यविषया' इति।

चित्तमें आधायक होता है और यही चित्तकी अशुद्धियां हैं। निष्काम पुरुष केवल वही कर्म करता है परन्तु फल कामना न रहनेसे वे कर्म फलोपयिक अदृष्टाधायक न होकर चित्तगत अशुद्धिके निवारक होते हैं।

शङ्का—पापसे चित्त अशुद्ध होता है, पुण्यसे नहीं। अग्निहोत्रादि काम्यसे भी तो पुण्य ही होगा, अतः कामी जनोंकी भी चित्तशुद्धि उक्त कर्मोंसे उचित है।

समाधान—शुद्धि दो प्रकारकी है—एक भोगानुगुण और दूसरी तद्विगुण। भोगानुगुण यानी पुण्यजन्यभोगानुकूल शुद्धि तत्त्वज्ञानजनक नहीं है, किन्तु स्वर्गादि भोगजनक है, यही दिखलाने लिये 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्' फिर कहा गया है। फलेच्छाके बिना जो कर्म किये जाते हैं, वे ज्ञानोत्पत्त्यनुकूल शुद्धिके अन्तःकरणमें उत्पादक होते हैं। अतः विद्वान् और अविद्वान्के कर्ममें फलवैलक्षण्यसे भेद सिद्ध ही है। आगे चलकर इसका और विस्तारसे प्रतिपादन करेंगे॥ ४२-४४॥

अच्छा तो सकाम पुरुषोंका अन्तःकरण दुष्ट है, शुद्ध नहीं, इसलिए व्यवसायात्मक बुद्धिकी उत्पत्ति मत हो, निष्काम पुरुषोंको तो अर्थात् व्यवसयात्मक बुद्धिसे कर्म करनेवालोंको तो काम्याग्निहोत्रादि कर्म करनेसे कर्मका फलदातृत्व स्वभाव है, अतः स्वकर्म फल स्वर्गादिप्राप्ति होनेपर ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्ध समान है [भाव यह है कि कर्म जन्य जो धर्मादि है वही चित्तमें अशुद्धि है। फलकामियोंका कर्म फलदानानुकूल धर्मका उत्पादक होनेसे चित्तमें कर्म द्वारा अशुद्धि बढ़ती ही जायगी, इसलिये शुद्धिकी सम्भावना नहीं, परन्तु इस प्रकारकी अशुद्धियाँ तो निष्काम कर्मियोंको भी होंगी। पापके फलकी कोई भी कामना नहीं करता, पर वह फल देता ही है, क्योंकि कर्मका यह स्वभाव है कि फलकी इच्छा करे अथवा न करे, फल अवश्य होता है, इस नियमसे निष्काम कर्मानुष्ठानियोंको भी स्वर्गादि फलकी प्राप्ति अवश्य होगी, तो ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्ध समान ही रहा, फिर दोनोंके कर्मोंमें क्या विशेष ?], यह आशङ्का कर कहते हैं—'त्रैगुण्य०' इत्यादिसे। तीनों सत्त्व, रज और तम गुणोंका कार्य त्रैगुण्य है। सत्त्वादिगुणत्रय संसारकी

त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यं-काममूलः संसारः। स एव प्रकाश्यत्वेन विषयो येषाम् तादृशा वेदाः कर्मकाण्डात्मकाः—यो यत्फलकामस्तस्यैव तत्फलं बोधयन्तीत्यर्थः। न हि "सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासावि" ति विनियोगेऽपि सकृदनुष्ठानात्सर्वफलप्राप्तिर्भवति तत्तत्कामना-विरहात्। यत्फलकामनयाऽनुतिष्ठति, तदेव फलं तस्मिन्प्रयोग इति स्थितं योगसिद्ध्यधिकरणे।

उत्पत्तिमें कारण है। कारणका कर्म कार्य होता है, अतः तीनों गुणोंका कर्म संसार है। काममूल संसार है, यह प्रसिद्ध है। यही संसार प्रकाश्यत्वेन जिनके विषय है वे वेद कर्मकाण्डात्मक हैं। जो जिस फलका कामी है उसीको उस फलका बोधन कराते हैं, यह अभिप्राय है। 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इसका विनियोग होनेपर भी एक बार दर्शपूर्णमासके अनुष्ठानसे सम्पूर्ण फलोंकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इनमें तत्तत्कामनाका निर्देश नहीं है। जो जिस फलकी कामनासे जिसका अनुष्ठान करता है उस प्रयोगमें वह वही फल प्राप्त करता है। यह योगसिद्धि-अधिकरणमें मी.द.४-३-१२ कहा गया है। [सर्वेभ्यो कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इसका अर्थ यह है—जितने काम्यफल हैं वे सब दर्शपूर्णमासके हैं। इसमें यह शङ्का होतीं है कि यदि सब फल दर्शपूर्णमासके हैं, तो फलविशेषके लिये यागविशेषका विधान ही व्यर्थ है। एक ही बार दर्शपूर्णमास करनेसे सकल फलकी प्राप्ति हो जायगी, तो फिर कर्मान्तरविधान ही व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारके लिये यह निर्णय किया गया है कि एक बार दर्शपूर्णमास करनेसे सब फल नहीं मिलते, किन्तु प्रत्येक फलके लिये अनुष्ठानभेद आवश्यक है। एक अनुष्ठानका एक ही फल होता है, फलान्तरकी इच्छा हो तो फिर तदनुष्टानान्तर अपेक्षित होगा, जिस प्रयोगमें जो कामना होगी, वही कामना उस प्रयोगसे सिद्ध होगी।

शङ्का—यदि सकलफलदानसामर्थ्य दर्शपूर्णमासमें है, सकृदनुष्ठानसे भी सब फल होने चाहिये, यदि नहीं है, तो तत्तत्फलके लिये पृथक् पृथक् अनुष्ठान करनेपर भी वे फल नहीं होंगे। जैसे घट-पटादिके प्रकाशकी सामर्थ्य प्रदीपमें है, तो घटप्रकाशनार्थ आनीत प्रदीपसे पटका भी प्रकाश हो ही जाता है। गन्धादि प्रकाशन सामर्थ्य प्रदीपसे नहीं है, इसलिये घटप्रकाशनेनच्छासे आनीत भी प्रदीप गन्धका प्रकाश नहीं करा सकता।

समाधान—प्रदीप स्वरूपसे घट-पटका प्रकाशक है। दर्शपूर्णमास क्रियाकलापात्मक होनेसे विनाशी है, अतः वह कालान्तरभावी स्वर्गादिका कारण स्वरूपेण नहीं हो सकता है, किन्तु स्वजन्यप्रधानापूर्वावान्तर-व्यापार-द्वारा हो सकता है। प्रधानापूर्व केवल दर्शपूर्णमाससे नहीं होता, किन्तु पूर्वोत्तराङ्गानुष्ठानजन्य उत्पत्त्यपूर्वोंसे कृत जो दर्शाद्यपूर्व हैं उनके द्वारा परमापूर्व होता है। यदि अङ्गोंके अनुष्ठानमें कुछ भी वैगुण्य हो जायगा, तो परमापूर्वकी उत्पत्ति न होगी। अतः शब्दैकसमधिगम्य अर्थमें प्रमाण शब्दको ही मानना चाहिये। कर्तृपुरुषमें विशेषण कामना है—स्वर्गकामः, पशुकामः' इत्यादि। तत्तत्पुरुषकामना भी अपूर्वो-

त्पादक हैं। काम एकवचनान्त है, इसलिए एक ही कामनासे अनुष्ठानमें अपूर्वोत्पत्ति होगी, अनेक कामनाओंसे नहीं, अतः सकृदनुष्ठानमें निखिल कामना नहीं हो सकती। इसलिये सकलफलदानसामार्थ्य रहनेपर भी उक्त यागसे अनेक फल एक समयमें नहीं होते, किन्तु जिस प्रयोगमें जो फलकामना होगी उस प्रयोगसे वही फल होगा, सब नहीं। अतएव 'यजेत स्वर्गकामः' ऐसा कहा गया है। 'स्वर्गाय यजेत' ऐसा निर्देश होता, तो कामना यागाङ्ग न होती। उस दशामें सवफल देनेकी शक्ति यदि दर्शपूर्णमासमें है, तो एक बार दर्शपूर्णमास करनेपर सकलफलापत्ति दे सकते। फलकामना केवल यागस्वरूपोत्पत्तिमात्रमें कारण नहीं है, अन्यथा उक्त दोषका परिहार नहीं हो सकेगा, किन्तु यागजन्यादृष्टका कारण भी है। एवं च तत्तत्फलजनकादृष्टसहकृत दर्शाद्यपूर्व प्रधानापूर्वके निष्पादक हैं, एक बारसकृत् प्रयोगसे सकल फलावाप्ति नहीं है।

शङ्का—ठीक है, परन्तु 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वाक्यमें कामना नहीं है, फिर आपके कहनेमें क्या मूल है।

समाधान—पशुस्वर्गादितत्तत्फलविधायकवचनोत्तर उक्त वाक्यका पाठ है। पूर्ववाक्योंमें 'पशुकामः' 'स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यसे पशु स्वर्गादि फलोपरक्त कामना प्रक्रान्त है। प्रक्रान्तका वाची सर्वशब्द होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे देवदत्तने नीबू खाया, यज्ञदत्तने केला खाया, विष्णुमित्रने सेव खाया, चैत्रने सब खाया। यहाँ 'सब' शब्द प्रकान्त नीबू, केला और सेवका ही बोधक है, विश्वमात्रका नहीं, वैसे ही 'सर्वेभ्यः' यहाँका 'सर्व शब्द तत्तत्फलनिरूपित कामनाओंका बोधक है। अतः 'तत्तत्फलकामः' यह अर्थतः प्राप्त होता है। 'कामः' यह पुरुषका विशेषण है। इस प्रकार कामनाका लाभ होता है, यहींके लिये 'फलकामः'का सम्बन्ध इस प्रणालीसे है, सो नहीं है, अन्यत्र भी ऐसा ही सम्बन्ध माना जाता है। 'प्रतितिष्ठन्ति हवा य एताः रात्रीरुपयन्ति' यह अर्थवादवाक्य है। इसमें प्रतिष्ठाफलका निर्देश है। रात्रिसत्रविधायक वाक्यमें फलका निर्देश नहीं है बिना फलके किसीकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिये फलकी कल्पना आवश्यक है। यद्यपि फलकल्पनाके बारेमें 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' (यह मीमांसासूत्र है।) किस फलकी कल्पना की जाय ? यदि कुछ नियम न होगा, तो इच्छानुसार फलकल्पनासे शास्त्र अव्यवस्थित हो जायगा, इसलिये ऐसे फलकी कल्पना करनी चाहिए, जो सबको अभीष्ट हो। पुत्र पश्वादि फल ऐसे नहीं हैं, जो सबको इष्ट ही हों। स्वर्ग ऐसा है, जिसको सब चाहता है। अनुक्तफल कर्मस्थलमें स्वर्ग ही की कल्पना करनी चाहिए, फलान्तरकी नहीं, यह कहकर कहा है कि ठीक हैं, अन्यत्रके लिए यही नियम है, किन्तु जहाँ अर्थवादवाक्यमें फलकी श्रुति है वहाँ आर्थवादिक ही फलका ग्रहण करना उचित है, अन्यथा अर्थवादवाक्य ही असङ्गत हो जायगा। इसलिये 'प्रतिष्ठाकामः रात्रिसत्रं कुर्यात्' यह कहा गया है।

शङ्का—'सर्वेभ्यः' इस बहुवचननिर्देशसे फलसमुदायकी कामनासे भी उक्त याग होता है, फिर आप किस आधारपर कहते हैं कि फल समुदाय फल नहीं है।

यस्मादेवं कामनाविरहे फलविरहः, तस्मात्त्वं निस्त्रैगुण्यः-निष्कामो भव। हेऽर्जुन! एतेन कर्मस्वाभाव्यात्संसारो निरस्तः। ननु शीतोष्णादिद्वंद्वप्रतीकाराय वस्त्राद्यपेक्षणात्कुतो निष्कामत्वम्। अत आह—निर्द्वंद्वः। सर्वत्र भवेति संबध्यते। मात्रास्पर्शास्त्वित्युक्तन्यायेन शीतोष्णादिद्वंद्व-

समाधान—बहुत्वसंख्या उद्देश्यगत है, इसलिये अविवक्षित है। 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' यहाँपर मीमांसकोंका ऐसा विचार है कि ग्रहमें एकवचनका निर्देशसे एक ही ग्रहका सम्मार्जन करना चाहिए या सब ग्रहोंका? 'गृह्यते सोमरसः अस्मिन्निति ग्रहः अर्थात् सोमरसाधार पात्र, सो ऐन्द्रवायवादि अनेक हैं। उनकी शुद्धिके लिये 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' से वस्त्रखण्डसे [दशापवित्रेण] सम्मार्जनका विधान है। परन्तु वाक्यमें एकवचनान्त ग्रहशब्द है, इसलिये एक ही ग्रहका सम्मार्जन वचनसे प्राप्त होता है—यह पूर्वपक्ष कर निर्णय किया है कि उद्देश्यगत संख्याकी विवक्षा नहीं है, वाक्यभेदके कारण। अतः एकत्व विशिष्ट ग्रह संमिमृक्षित—सम्मार्जनेच्छा-विषय नहीं है, किन्तु सब ग्रहोंका सम्मार्जन इष्ट है। तद्वत् 'सर्वेभ्यः एतद्गत बहुत्व अविवक्षित है। एकैक फल है, फलसमुदाय यहाँ फलत्वेन विवक्षित नहीं है, अतः एकैकफलकामनावान् दर्शपूर्णमासाधिकारी है। तत्तत्फलकी कामना भी परम्परया उक्त फलमें कारण है, अतः यत्फलकामनावान् कर्ता होगा तत्फलोत्पत्त्य-नुकूलादृष्ट ही उक्त यागसे उत्पन्न होगा, फलान्तरोत्पत्त्यनुकूल अदृष्ट नहीं। यद्यपि तत्तत्फलोत्पत्तिशक्ति दर्शपूर्णमासमें है, परन्तु तत्कारणादृष्टोत्पादककामनावैकल्यसे फलान्तरोत्पत्ति नहीं होती। यद्यपि 'सर्वेभ्यः कामेभ्यः' ऐसा पाठ है, तो भी केवल कामनाका निर्देश होनेपर भी तत्तत्फलोंका लाभ उक्त प्रकारसे ही होगा। [*इत्यादि सारवान् विचारोंसे मीमांसकोंने जिस संसारको वस्तुतः सारवान् अतएव अनुच्छेद्य कहा है उन्हीं विचारोंसे वेदान्तियोंने निःसार अतएव सुच्छेद्य सिद्ध किया है, यह विद्याका वैभव है] इस विचारका सारांश यह है कि काम्य कर्ममें कामना भी फलजनक है, अतः निष्काम दृष्टिसे जो नित्य कर्म किये जायँगे उनका निर्दिष्ट फल न होकर केवल चित्तशुद्धि ही होगी।] चूंकि इस तरह कामनाके अभावसे फलका अभाव होता है, अतः हे अर्जुन तुम, निस्त्रैगुण्य हो जाओ। [यह काम्य कर्मके विषयमें है, नित्य कर्ममें तो कामना है नहीं, इसलिये उसका अनुष्ठान उक्त रूप ही से होगा, फिर भी गीतामें आगे नित्यकर्मानुष्ठानका आनुषङ्गिक फल स्वर्ग है, यह कहेंगे। उसके साथ विरोध नहीं है। आनुषङ्गिक ऐहिक फल और पारलौकिक फल नित्य कर्मोंसे होता है, ऐसा माननेपर भी उन कर्मोंसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं, इसलिये निष्काम कहे जाते हैं। वे अन्तःकरणशुद्धिके भी कारण होते हैं। कामना करनेसे रागरूपदोष अन्तःकरणमें होता है। कामना त्यागनेसे उक्त दोष नहीं होता, यही सकाम और निष्काम पुरुषमें वैलक्षण्य है। लोकमें भी जो पुरुष अपने कर्तव्यका पालन करता है और स्वामीसे कुछ माँगता नहीं, जो मिलता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है, उसके ऊपर स्वामी प्रसन्न रहता है और जो पुरुष कर्तव्य पूरा नहीं करता, बार-बार फलकी प्रार्थना करता है उसके ऊपर स्वामीकी प्रसन्नता नहीं रहती। परमात्मा सब कर्मोंका फल देते हैं। मनुष्य भूल भी सकता है, परन्तु परमात्मा नहीं भूलते] इससे संसार कर्मस्वभाव है, अतः सकाम कर्मसे

सहिष्णुर्भव। असह्यं दुःखं कथं वा सोढव्यमित्यपेक्षायामाह—नित्यसत्त्वस्थः-नित्यम्-अचञ्चलं यत्सत्त्वं धैर्यपरपर्यायं, तस्मिंस्तिष्ठतीति तथा। रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वो हि शीतोष्णादि-पीडया मरिष्यामीति मन्वानो धर्माद्विमुखो भवति। त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमात्रा-

संसार ही रहेगा, छूटेगा नहीं, इसका खण्डन हो गया। [कामशून्य कर्मसे संसारनिवृत्ति सिद्ध होती है, अतः संसारभीरुओंको भगवत्प्रीतिरूप फलवाले कर्मोंसे अतिरिक्त कर्म नहीं करना चाहिये]।

शङ्का—ऐहिक सब कामनाओंका त्याग कैसे हो सकता है? जाड़ा पड़ने पर वस्त्रकी अपेक्षा और गर्मीमें शीतल छायाकी अपेक्षा अवश्य होगी। अन्यथा उनको अनिवृत्तिसे दुःख होगा, फिर निष्कामत्व कैसे?

समाधान—'निर्द्वन्द्व हो जाओ सर्वत्र हो जाओ'—इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्थात् सर्वत्र निर्द्वन्द्व होकर उनको सहो। [द्वन्द्व—सुख-दुःख, मानापमान, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण, इत्यादि युगल—द्वन्द्व है। जिसमें एक सुखका कारण है, दूसरा दुःखका कारण है। सुख दुःख और उक्त तत्कारणोंका जोड़ा द्वन्द्व है, जो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी—विरोधी है। निर्गतः द्वन्द्वो यस्मात्स भव-यानी द्वन्द्वसे रहित हो जाओ] 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'' 'गी-२-१४,' इस श्लोकमें उक्त न्यायसे शीतोष्णादि द्वन्द्व सहो।

प्रश्न—दुःख प्रतिकूल वेदनीय अतएव असह्य है, उसको कैसे सहें?

उत्तर—नित्य जो सत्त्व है उसमें स्थित होकर।

प्रश्न—सत्त्वको सांख्य नित्य ही मानते हैं, उसमें नित्य विशेषण क्यों?

उत्तर—यहां नित्यका अर्थ अचञ्चल है। जो सत्त्व है उसका दूसरा नाम धैर्य है। उसमें जो स्थित रहता है वह नित्यसत्त्वस्थ कहा जाता है। अर्थात् अचल धैर्यका धारण करो। [अन्तःकरण त्रिगुण—सत्त्व, रज और तम एतदात्मक है। इनमें रज और तमको दबाकर सत्त्वगुणका जब अधिक परिणाम होता है तब प्रकाश—सुखस्फूर्ति आदि चित्तमें होती है और जब रजोगुण सत्त्व और तमको दबा कर स्वयं अधिक-रूपसे परिणत होता है, तो दुःख, चिन्ता, अशान्ति, चञ्चलता प्रभृति उत्पन्न होते हैं तथा जब सत्त्व और रजको दबाकर तम स्वयं उपचित होता है तब मोह, आलस्य, गुरुत्वादि होते हैं। इनका कारण सुख, दुःख है। मोहका कारण विषयका संसर्ग, स्मरण आदि और अदृष्ट भी है। इसीसे चित्त चञ्चल होता है। एवं गुणद्वयसे भी एकैकका अभिभव होता है—सत्त्व और रजसे तमका, सत्त्व और तमसे रजोगुणका, रज और तमसे सत्त्वका। यदि दो गुणोंका उपचय होगा, तो दोनों गुणोंके धर्म प्रतीत होंगे। जो अभिभूत होगा उसीके गुणोंका अभाव रहेगा।]

जिसके चित्तका सत्त्व रज और तमसे अभिभूत हो जाता है यानी दब जाता है, उस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है कि जाड़ा और गर्मीकी पीड़ासे मर जायँगे, यह मानकर धर्माचरणसे विरत हो जाता

लम्बनोभव। ननु शीतोष्णादिसहनेऽपि क्षुत्पिपासादिप्रतीकारार्थं किंचिदनुपात्तमुपादेयम्, उपात्तश्च रक्षणीयमिति, तदर्थं यत्ने क्रियमाणे कुतः सत्त्वस्थत्वमित्यत आह—निर्योगक्षेमः-अलब्ध-लाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमः। तद्रहितो भव। चित्तविक्षेपकारिपरिग्रहरहितो भवेत्यर्थः। न चैवं चिन्ता कर्तव्या—कथमेवं सति जीविष्यामीति। यतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव

है, यह साधारण मनुष्योंका स्वभाव है। तुम विशिष्ट पुरुष हो इसलिये रज और तमके उद्रेकको दबाकर सत्त्वमात्रका आलम्बन करो। [उक्त संकल्पमें रजोगुणोंके उद्रेकसे शीतोष्णादिसहनमें दुःख प्रतीत होता है। तमोगुणोंके उद्रेकसे तदाचरणसे निवृत्ति होती है, अतः यहाँ गुणद्वयोद्रेकसे एक गुणका अभिभव है।]

शङ्का—खैर, जाड़ा गर्मी सहेंगे, पशु, पक्ष्यादि सहते ही हैं न, परन्तु भूख-प्यास कैसे सहें? यह तो प्रतिदिन दुःख देनेवाले अपवारितद्वार हैं, अतः इनकी निवृत्तिके लिये प्रतिदिन भक्ष्य और पेयका संग्रह करना आवश्यक है। अगर महीना-पन्द्रह दिनके लिये संग्रह भी कर लें, तो उसकी रक्षा करना आवश्यक हैं, जिसके लिये भी प्रयत्न आवश्यक है, फिर नित्यसत्त्वस्थ कैसे हो सकते हैं? रजोगुणके प्रादुर्भावके विना प्रयत्न नहीं होगा। उक्त गुणके उद्रेकसे सत्त्व दब जायगा और चित्त चञ्चल हो जायगा।

समाधान—'निर्योगः' इत्यादि। अलब्धका लाभ योग है। लब्धका परिपालन क्षेम है, इन दोनोंसे रहित हो जाओ। अर्थात् चित्तमें विक्षेप पैदा करनेवाले परिग्रहसे रहित हो जाओ।* [इतना अधिक संग्रह मत करो कि उसकी रक्षणादिचिन्तासे चित्तमें विक्षेप हो। क्षुत्, पिपासा आदि जितनेसे निवृत्त हो जायं, उतना संग्रह करो, इस प्रकार एक दिन तो फिर विक्षेप न होगा। एवं दिनान्तरमें भी पुनःपुनः विक्षेपका परिहार अनायाससे हो सकता है। अधिक सञ्चय करनेपर असकृद् विक्षेपका सम्भव है] यह चिन्ता न करना कि ऐसा करनेसे कैसे जीवित रह सकूँगा? क्योंकि सबके अन्तर्यामी भगवान् परमेश्वर स्वयं तुम्हारे योगक्षेमका निर्वाह करेंगे [केवल चित्तमें यह दृढ़ता होनी चाहिये। कितने ही महात्मा इस समय भी इस विश्वाससे हैं और उनका निर्वाह परमात्मा कर ही रहे हैं], यह कहते हैं—'आत्मवान्' से। आत्मा—परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमनिर्वाहकत्वेन च अस्ति यस्य, स आत्मवान्। ध्यानविषय परमात्मा जिसके हृदयमें हैं वह आत्मवान्—निरन्तरात्मध्यानपरायण है। फलित अर्थ यह होता है—योगक्षेमनिर्वाहक परमात्मा जिसके हृदयस्थ हैं, सो आत्मवान् हैं। [यद्यपि सकल प्राणी आत्मवान् हैं, क्योंकि सबके हृदयमें अन्तर्यामी भगवान् विराजते हैं, "हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (गी. १८-६१) इस वक्ष्यमाण गीताश्लोकसे भी यह स्पष्ट है। अतः आत्मवान् यह विशेषण अव्यावर्तक होनेसे व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारके लिए 'योगक्षेमनिर्वाहकत्वेन' यह विशेषरूपसे कहा गया है। केवल ध्येयत्वेन कहनेसे

तव योगक्षेमादि निर्वाहयिष्यतीत्याह—आत्मवान् - आत्मा-परमात्मा ध्येयत्वेन, योगक्षेमादि-निर्वाहकत्वेन च वर्तते यस्य, स आत्मवान्। सर्वकामनापरित्यागेन परमेश्वरमाराधयतो मम स एव देहयात्रामात्रमपेक्षितं संपादयिष्यतीति निश्चित्य, निश्चिन्तो भवेत्यर्थः। आत्मवान्-अप्रमत्तः भवेति वा ॥ ४५ ॥

विवक्षित पुरुषविशेषका संग्रह नहीं होता। प्रायः ध्यानगोचर आत्मा सबके हृदयमें रहते हैं। प्रातः सायं प्रायः संसारी भी परमात्माका ध्यान करते हैं, परन्तु योगक्षेमनिर्वाहक परमात्मा उन्हीं महापुरुषोंके हृदयमें रहते हैं, जो परमात्मामें पूर्ण भक्तिभावसे सारी अपनी निर्वाहचिन्ता भी उन्हींके चरणकमलोंमें समर्पण कर स्वयं अचल मनसे भगवद्ध्यानपरायण होते हैं।] सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर परमेश्वरकी आराधनामें व्यापृत हो 'मेरा वही शरीरयात्राके लिए अपेक्षित वस्तुजातका सम्पादन करेंगे', यह निश्चय कर तद्विषयकी चिन्ता छोड़ो, यह अभिप्राय है। अथवा 'आत्मवान् यानी अप्रमत्त हो जाओ' यह अर्थ है। ['वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इस अमरकोशसे 'अर्जुन' शब्द शुक्लवर्णका वाचक है। 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्तवीर्यमयूरयोः। मातुरेकसुतेऽपि स्याद्धवले पुनरन्यवत् ॥' इससे अर्जुनशब्द अनेकार्थ है। 'अर्ज अर्जने' धातुसे 'अर्जेर्णिलुक्च' इस उणादि सूत्रसे णि का लुक् 'उनन्' प्रत्ययसे 'अर्जुन' सिद्ध होता है। अर्जयति-भगवदुदेशफलं सम्पादयति इति अर्जुनः। अर्जुनशब्द शुक्लपर्यायवाची है। सत्त्व भी शुक्ल है। एतद्वाची अर्जुनशब्दसे सम्बोधन करनेका तात्पर्य अर्जुनमें सत्त्वगुणप्राचुर्यबोधन द्वारा आत्मज्ञानोपदेशा-धिकारित्व सूचित किया है। तुममें सत्त्वगुण प्राचुर्य सिद्ध है, उसीको बढ़ाओ। विहिताकरण निषिद्धानुष्ठानसे रज और तमको मत बढ़ाओ।

शङ्का—यह तो ठीक नहीं है। यदि कहिये क्यों? तो सुनिये, 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इस वाक्यसे गुणत्रयसाधारणनिषेधकी प्रतीति है, फिर रज और तमको न बढ़ाओ, सत्त्वगुण ही को बढ़ाओ यह अर्थ कैसे करते हैं?

समाधान—उक्त निषेध संकीर्णविषयक है। रज और तमसे मिश्रित शत्त्वगुणविषयक प्रतिषेध है। शुद्ध सत्त्वका प्रतिषेध उक्त वाक्यसे नहीं किया गया है। अन्यथा 'नित्यसत्त्वस्थः' इसके साथ विरोध होगा।

रज और तमकी वृद्धि मत करो, किन्तु सत्त्वकी वृद्धि करो, इस प्रकार निषेध और विधि दोनों ठीक नहीं है। यदि इसपर आप प्रश्न करें कि क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि यह रज है, यह तम है, इसको मैं बढ़ाता हूँ, इस बुद्धिसे किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं है, जिससे उक्त रूपसे निषेध हो सके और सत्त्ववृद्धिका उपाय भी नहीं जानता, जिससे उक्तोपायमें प्रवृत्ति हो। अतः मुमुक्षु रज और तमकी वृद्धि न करे, किन्तु सत्त्वकी वृद्धि करे, तो कैसे करे? इस आशयसे 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' कहा है।

यावानर्थं उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन जैसे छोटे-छोटे जलाशयोंमें सिद्ध होता है उतना प्रयोजन सर्वत्र व्याप्त जलवाले महान् जलाशयोंमें भी सिद्ध होता ही है, वैसे ही समस्त वेदोक्त काम्य कर्मोंमें हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार कर चुके ब्राह्मणको भी अवश्य होता ही है ॥ ४६ ॥

न चैवं शङ्कनीयं सर्वकामनापरित्यागेन कर्म कुर्वन्नहं तैस्तैः कर्मजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामिति । —'यावानर्थः' इति ।

यस्मात्-उदपाने-क्षुद्रजलाशये, जातावेकवचनम् । यावानर्थः-यावत्स्नानपानादि प्रयोजनं भवति, सर्वतःसंप्लुतोदके-महति जलाशये तावानर्थो भवत्येव । यथा हि पर्वतनिर्झराः सर्वतः स्रवन्तः क्वचिदुपत्यकायामेकत्र मिलन्ति, तत्र प्रत्येकं जायमानमुदकप्रयोजनं समुदिते

शङ्का—निर्योगक्षेमका बोधन करते हैं, तो क्या आत्मज्ञानौपयिक (आत्मज्ञानोपयोगि) श्रवणादि व्यापार भी न करे ?

समाधान—नहीं, आत्मस्वरूपप्राप्तिसे अतिरिक्त अर्थोंका—योगप्राप्तिसे प्राप्त अर्थका त्याग कर 'आत्मवान्' होओ—आत्मान्वेषणपरायण होओ अर्थात् आत्मप्राप्तिसाधक श्रवण-मननादिमें आत्मवान्—अप्रमत्त होओ । इसमें प्रमाद—अनवधानता न होने पावे, यह भी अभिप्राय हो सकता है] ॥ ४५ ॥

यह तो शङ्का ही मत करो कि सब कामनाओंका परित्याग करके यदि हम कर्म करेंगे, तो तत्तत्कर्मफल आनन्दोंसे वञ्चित ही रह जायँगे । क्योंकि उदपानमें—जलाशयमें । यहाँ जातिमें एक वचन है । अर्थात् छोटे जलाशयोंमें जितना इष्ट कार्य—स्नान-पानादि जितना प्रयोजन होता है (अर्थका यहाँ अर्थ प्रयोजन है) उतना प्रयोजन 'सर्वतः सम्प्लुतोदके यानी बड़े महाह्रदोंमें भी होता ही है । जैसे पर्वतके झरने चारों तरफ बहते हुये कहीं उपत्यकामें एकत्र मिलते हैं, ['उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इस अमरकोशके अनुसार पर्वतके भूप्रदेश दो प्रकारके होते हैं, जो पर्वतके ऊपरकी समतल भूमि है वह 'अधित्यका' है और जो पर्वतके समीप निम्न प्रदेश है उसको 'उपत्यका' कहते हैं । अनेक दिशाओंसे छोटे-मोटे झरने निम्नभागमें एकत्रित होकर महाजलाशय हो जाते हैं, यह पर्वतीय लोगोंको तो ज्ञात ही है । अपर्वतीय भी जिन लोगोंने कुतूहलवश या तीर्थयात्रावश पर्वतोंको जाकर देखा है, उनसे भी यह छिपा नहीं है । इसमें किसीको यह सन्देह नहीं हो सकता कि छोटे-छोटे झरनोंमें जो स्नानादिसुख होता है वह उन झरनोंमें न जाकर बड़े

सुतरां भवति, सर्वेषां निर्झराणामेकत्रैव कासारेऽन्तर्भावात्। एवं सर्वेषु वेदेषु-वेदोक्तेषु काम्यकर्मसु यावानर्थः-हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्त स्तावान्विजानतः-ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कृतवतः, ब्राह्मणस्य-ब्रह्म बुभूर्षोर्भवत्येव। क्षुद्रानन्दानां ब्रह्मानन्दांशत्वात्, तत्र क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात्। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" बृ.उ.४-३-३२ इति श्रुतेः। एकस्याप्यानन्दस्याविद्याकल्पिततत्तदुपाधिपरिच्छेदमादायांशांशिवद् व्यपदेश आकाशस्येव घटाद्यवच्छेदकल्पनया।

जलाशयोंमें जायँगे, तो उन स्नान-पानादि सुखोंसे कोरे रह जायँगे, क्योंकि बिखरे साधनोंसे जो सुख होता है वह एकत्र समुदितसे क्यों नहीं होगा? बल्कि उससे कहीं अधिक होगा। झरनोंमें उद्धृत स्नान होता है, गोता लगाकर स्नान महाजलाशयोंमें होता है। उद्धृत स्नानसे गोता मार स्नानमें बहुत अधिक सुख है। महाह्रदावगाहनसुखानुभवी पुरुष झरनेके स्नानसुखका पछतावा कभी नहीं करता।] वहाँ प्रत्येक जायमान प्रयोजन अच्छी तरहसे समुदितमें होता ही है, कारण कि सब झरनोंका समावेश एकत्र महासरमें—तडागमें है ही। ['कासारः सरसी सरः' इस अमरकोशसे 'कासार' तडागको कहते हैं, यह दृष्टान्त है। अब दार्ष्टान्तिक अर्थ सुनिये—यथा महासरोवरमें झरनोंका जल एकत्रित है] एवं वेदोक्त-निखिलकाम्य कर्मोंके जितने फल हैं—मनुष्यलोकसे लेकर हिरण्यगर्भलोकपर्यन्तमें जितने छोटे-बड़े आनन्द हैं यानी तत्तत्काम्यकर्मानुष्ठानजन्य जितने सुख हैं, वे सब सुख ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारवान् ब्राह्मणको यानी ब्रह्म बुभूषुको होते ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि छोटे आनन्द ब्रह्मानन्दके अंश हैं, अतएव ब्रह्मानन्दके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—वैषयिक आनन्द विषयेन्द्रियसम्पर्कजन्य अतएव सातिशय है, किन्तु ब्रह्मानन्द नित्य निरतिशय है। नित्यानन्दके अनित्य आनन्द अंश कैसे? अंशांशिभाव सांशमें ही होता है। ब्रह्म निरंश मानते हो, उसमें अंशांशिभाव-कथा कैसी?

उत्तर—परमार्थतः आनन्द एक ही है, इसमें प्रमाण 'एतस्यैव' इत्यादि श्रुति है।

आनन्द एक ही है, फिर भी अविद्या कल्पित तत्तदुपाधिविषयेन्द्रियादि परिच्छेदको लेकर अंशांशिभावके समान व्यवहार है। घटावच्छेदभेदकी कल्पनासे एक ही आकाशमें घटावच्छिन्न आकाश अंश है और महाकाश अंशी है, यह व्यवहार जैसे लोकमें कल्पित ही है, वास्तविक अंशांशिभाव अद्वितीयमें नहीं है वैसे ही विषयानन्द महानन्दमें भी काल्पनिक अंशांशिभाव कहा जाता है। ब्रह्मानन्दसे विषयानन्द भिन्न नहीं है, ऐसी दशामें निष्काम कर्मानुष्ठानसे परिशुद्धान्तःकरण तुमको आत्मज्ञान होनेपर परमानन्दप्राप्ति ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक आनन्दानुभव होगा। उसीसे सब आनन्दोंकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिये विषयानन्दकी जो प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तव्याकुलीभाव न होगा। *जैसे एक जिलामें जितने ग्राम हों,

तथा च निष्कामकर्मभिः शुद्धान्तःकरणस्य तत्राऽऽत्मज्ञानोदये परब्रह्मानन्दप्राप्तिः स्यात्, तयैव च सर्वानन्दप्राप्तौ, न क्षुद्रानन्दाप्राप्तिनिबन्धनवैयग्र्यावकाशः । अतः परमानन्दप्रापकाय तत्त्वज्ञानाय निष्कामकर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः। अत्र 'यथा, तथा, भवती'तिपदत्रयाध्याहारः, यावांस्तावानिति-पदद्वयानुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः ॥ ४६ ॥

उनमें प्रत्येकके मिलनेसे जो आनन्द होता है वह आनन्द उस मण्डल (जिला) के मिलनेसे होता है, अतएव उनमेंसे किसीके न मिलनेका पश्चात्ताप नहीं होता है। कारण कि वे सब ग्राम मण्डलके अन्तर्गत हैं, अतएव तत्प्राप्तिसुखमें सकल तदन्तर्गत ग्रामप्राप्तिसुखोंका अन्तर्भाव है, वैसे ही ब्रह्मानन्दमें सकल वैषयिकानन्दोंका अन्तर्भाव है। विशेष केवल इतना ही है कि यहाँ अंशांशिभाव वास्तविक है। एकैक ग्राम अंश है तत्समूह मण्डल अंशी है अतएव तत्प्राप्तिसुखमें भी अंशांशिभाव है, क्योंकि ये दोनों सुख अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्वरूप हैं, ब्रह्मानन्द वृत्तिविशेषात्मक नहीं है, अतः उसके साथ इन आनन्दोंका घटाकाश और माहाकाशके समान काल्पनिक अंशांशिभाव है। अतः परमानन्दप्रद तत्त्वज्ञानप्राप्तिके लिये निष्काम कर्मोंको करो, यह भगवानका अभिप्राय है।

इस श्लोकमें 'यथा, तथा, भवति' इन तीन पदोंका अध्याहार करना चाहिये। तथा यावान्, 'तावान्' इन दो पदोंका सम्बन्ध भी दार्ष्टान्तिकमें देखना करलेना चाहिये [अर्थात् अभिमत वाक्यार्थके बोधके लिये 'यावान् अर्थः-फलं वेदेषु-वैदिककर्मसु तावान् अर्थो ब्रह्मज्ञानिनः' (जितना प्रयोजन वैदिक कर्मोंमें है उतना ब्रह्मज्ञानमें हैं)—इसके लिये 'यावान्, तावान्', इन पदोंका उत्तर वाक्यमें सम्बन्ध करना चाहिये। वेदमें जैसे प्रयोजन होता है वैसे ब्रह्मज्ञानमें प्रयोजन होता है, इसके लिये 'यथा, तथा और भवति' इन तीन पदोंका अध्याहार करना चाहिये।

किसीने इसका यह अर्थ किया है कि पूर्वश्लोकमें यह कहा है—आत्मवान् होओ अर्थात् आत्मज्ञानी बनो। आत्मज्ञानी चित्तशुद्धि होनेपर ही होगा, अन्यथा नहीं। चित्तशुद्धि सकल निष्काम वैदिक कर्मानुष्ठानसे ही होती है। सकल कर्मानुष्ठान एक जन्ममें असम्भव है। सम्भव होनेपर निस्त्रैगुण्यत्व दुर्लभ ही है। इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि बड़े जलाशयमें जितने जलसे पुरुषका स्नान-पानादि होता है, उतना ही जल पुरुष लेता है। यदि एक घड़े जलसे उसका उक्त कार्य होता है, तो वह उतना ही लेता है, अधिक नहीं; वैसे ही वेदमें अनेक कर्मोंका विधान है। रहने दो, ब्रह्मज्ञानीको जितनेसे मतलब है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मज्ञानमें श्रवण, मनन आदिकी अपेक्षा है, इसलिये मुमुक्षुको उतना ही कर्म करना चाहिये, सब नहीं, सो एक जन्ममें सुलभ है। सकल कर्मानुष्ठान एक जन्ममें असम्भव है, यह ठीक है, पर उन सब कर्मोंकी ब्रह्मज्ञानमें आवश्यकता ही नहीं है।

शङ्का—चित्तशुद्धि कैसे होगी ?

समाधान – चित्तशुद्धि जन्मान्तरीय यत्किञ्चित्कर्मानुष्ठानसे या ऐहिक किंचित्कर्मानुष्ठानसे होगी। अनन्तर उपनिषत्के श्रवणसे निस्त्रैगुण्यत्वका सम्भव है।

शङ्का—श्लोकमें 'ब्राह्मणस्य विजानतः' ऐसा पाठ है। भाष्यकारने 'ब्राह्मणस्य' का अर्थ 'संन्यासिनः' किया है। भाष्यकारके मतसे ब्राह्मण ही को संन्यासका अधिकार है और उसीको ब्रह्मज्ञान होता है, दूसरेको नहीं। यदि ऐसी मर्यादा है, तो अर्जुन क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण नहीं। अतः इनको संन्यास या ब्रह्मज्ञानमें अधिकार नहीं है, तो मर्यादापालक भगवान् स्वयं ब्रह्मविद्याका उपदेश अर्जुनको कैसे दे रहे हैं और इसपर भी ध्यान देना चाहिये कि वेदमें त्रैवर्णिकका अधिकार माना गया है, तो ब्रह्मविद्यामें क्षत्रिय और वैश्यका अधिकार नहीं है, केवल ब्राह्मणका ही है, यह क्यों ? 'विजानतः' यह विशेषण भी निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। कर्मकाण्डमें भी कर्मज्ञानीका अधिकार माना गया है, विज्ञानीका अधिकार सर्वत्र है। अज्ञानी कैसे करेगा—जिसको जिसका ज्ञान ही नहीं है उसकी उसमें प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? प्रवृत्तिसामर्थ्यसे ही ज्ञानका लाभ हो जाता है, फिर 'विजानतः' यह व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

समाधान—यहाँ ब्राह्मणशब्द 'ब्रह्म-जानाति' इस विग्रहसे 'तदधीते तद्वेद अ.४-पा.२-सू.५९इस सूत्रसे ब्रह्मसे अण्प्रत्यय करके निष्पन्न हुए ब्राह्मण' के अर्थमें है। ब्राह्मण जातिपरक नहीं है। क्षत्रिय और वैश्य भी ब्रह्मज्ञ हों, तो इस ब्राह्मण शब्दके वे भी अर्थ हैं।

शंका—यह समाधान ठीक नहीं है, 'ब्रह्म वेत्ति' इस विग्रहसे 'ब्राह्म' यह प्रयोग बनेगा, ब्राह्मणः' यह नहीं बन सकता, कारण कि 'ब्राह्मोऽजातौ' (अ.६पा.४सू.१७१) यह पाणिनि आचार्यका सूत्र है। इससे जातिभिन्न अर्थमें 'ब्राह्म' यह निपातन किया गया है। अतः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट अर्थमें 'ब्राह्मण' यह शब्द साधु है। इसलिये अर्जुनको क्यों उपदेश दे रहे हैं ? यदि भाष्यकारका मत इष्ट नहीं है, तो 'ब्राह्मणः' यह क्यों कहा ?

समाधान—ठीक है, ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणः, ब्रह्मपूर्वक शब्दार्थक अण् धातु से पचाद्यच्। ब्रह्म + अण, शकन्ध्वादिसे पररूप, तब ब्राह्मण हुआ। प्रज्ञादि मानकर अण् प्रत्यय हुआ, तो 'ब्राह्मणः' यह शब्द सिद्ध हुआ। ब्रह्मसे यहाँ वेदका ग्रहण है। 'यावान् वेदेषु सर्वेषु' इस वाक्यसे वेद ही प्रसक्त है। उसीका ग्रहण उचित है। अतः यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द वैदिकमात्रपर है, इसलिये क्षत्रियको उपदेश देनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—अच्छा, 'ब्राह्मण शब्द' इस युक्तिसे क्षत्रियादिका वाची है, तो भी उक्त युक्तिसे वह ब्रह्मज्ञानवान् सूचित होता है, सो तो मुक्त ही है। उसके लिये उपदेश व्यर्थ है।

समाधान—ब्रह्मज्ञानी वही है, जिसको ब्रह्मका साक्षात्कार है। उसके लिये उपदेश नहीं है, यह उपदेशका फल है कि वही ब्राह्मण यहाँ विवक्षित है जिसको ब्रह्मसाक्षात्कार है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अशुद्धान्तःकरण, तात्त्विक ज्ञानोत्पत्तिके अयोग्य तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्योंके विचार आदिमें नहीं है और कर्म करते हुए तुम्हारा इनके फलोंमें अधिकार किसी भी अवस्थामें (कर्मानुष्ठानसे पहले, पीछे या तत्कालमें) नहीं है, अतः कर्मफलके हेतु तुम मत होओ, फलोंके अभावमें भी कर्म न करनेमें तुम्हारो प्रीति न हो ॥ ४७ ॥

ननु निष्कामकर्मभिरात्मज्ञानं सम्पाद्य', परमानन्दप्राप्तिः क्रियते चेत्। आत्मज्ञानमेव तर्हि सम्पाद्यम्, किं बह्वायासैः कर्मभिर्बहिरङ्गसाधनभूतैरित्याशङ्क्याऽऽह—'कर्मण्येवा०' इति।

ते—तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येव-अन्तःकरणशोधके अधिकारः-मयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु, न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ। कर्म च कुर्वतस्तव तत्फलेषु-स्वर्गादिषु कदाचन-कस्याञ्चिदप्यवस्थायां कर्मानुष्ठानात्प्राक्, उर्ध्वम्, तत्काले वा

शंका—तो 'विजानतः' का भी अर्थ यही है, इसलिये पुनरुक्त दोष होता है।

समाधान—'विजानतः' का अर्थ हेयोपादेयविषयक ज्ञानवत्त्वरूप विशिष्ट ज्ञानवत्त्व विवक्षित है, इसलिये भिन्नार्थवाची होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं है। हेयोपादेयविषयक ज्ञानवान् मुमुक्षु होता है। ऐहिकामुष्मिक स्वर्गादि फल आपातरमणीय होनेसे मधुविषसंपृक्तान्नवत् हेय है। भगवत्प्राप्तिसाधक श्रवण-मननादि उपादेय है, यह ज्ञान जिसको है वही मुमुक्षु होता है, उस ज्ञानोपदेशसे वही ब्राह्मण होता है, ब्रह्मसाक्षात्कावान् वही मुक्त है, यही उपदेशका फल है] ॥ ४६ ॥

निष्काम कर्मोंसे आत्मज्ञानका सम्पादन कर परमानन्दप्राप्ति की जाती है, यदि यही सिद्धान्त है, तो आत्मज्ञानार्जनके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि साक्षात् मोक्षसाधन तो यही है, इसका करना परमावश्यक है। परम्परया साधनसे-अधिक प्रयत्नसे साध्य बहिरङ्ग कर्मानुष्ठान एतदर्थं व्यर्थ है, यह आशंका कर कहते है—'कर्मण्येवा०' इत्यादिसे। तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध है, अतः साक्षात् ज्ञानसाधन श्रवण,मननादिसे तुममें ज्ञानोत्पत्तिका सम्भव नहीं है, इसलिये अन्तःकरणके शोधक कर्ममें ही अभी अधिकार है। अधिकारानुसार कृतप्रयत्न फलग्राही होता है, अन्यथा नहीं। मुझको करना चाहिये, यही बोध तुमको हो, ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्य विचारादिमें नहीं। कर्म करते समय तुमको कर्मफल स्वर्गादिमें कभी भी कर्मानुष्ठानकालमें या तत्पूर्वकालमें या तदुत्तर कालमें अधिकार यानी मुझको भोग हो, यह बोध मत हो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे धनञ्जय ! योगमें स्थित होकर फलकी अभिलाषा तथा कर्तृत्वाभिमान छोड़कर सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्मोंको करो, क्योंकि समता ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

अधिकारः-मयेदं भोक्तव्यमिति बोधो माऽस्तु । ननु मयेदं भोक्तव्यमिति बुद्ध्यभावेऽपि कर्म स्वसामर्थ्यादेव फलं जनयिष्यतीति चेत् । नेत्याह—मा कर्मफलहेतुर्भूः । फलकामनया हि कर्म कुर्वन् फलस्य हेतुरुत्पादको भवति । त्वं तु निष्कामः सन् कर्मफलहेतुर्मा भूः । न हि निष्कामेन भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कर्म फलाय कल्पत इत्युक्तम् । फलाभावे किं कर्मणेत्यतः आह—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि । यदि फलं नेष्यते, किं कर्मणा दुःखरूपेणेति, अकरणे तव प्रीतिर्मा भूत् ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्तमेव विवृणोति—'योगस्थः' इति ।

हे धनञ्जय, त्वं योगस्थः सन् सङ्ग-फलाभिलाषं कर्तृत्वाभिमानञ्च (अभिनिवेशं) त्यक्त्वा कर्माणि कुरु । अत्र बहुवचनात्, ''कर्मण्येवाधिकारस्ते'' इत्यत्र जातावेकवचनम् ।

शंका—हमको इसका भोग हो, इस बुद्धिके न रहनेपर भी कर्म स्वभावसे ही फलप्रद होता है । दुरित कर्मका कर्ता यह नहीं चाहता कि इसका फल हमको हो, पर वह कृत कर्म स्वफलदाता होता ही है । एवं सुकृत भी स्वफल प्रदानके लिये उक्त बुद्धिकी अपेक्षा न कर अपने स्वभावसे ही फल देता है ।

समाधान—नहीं, कर्मफलमें हेतु तृष्णा है, उसका उत्पादक मत होओ । फलकी कामनासे कर्म करनेवाला फलहेतु तृष्णाका उत्पादक होता है । तुम निष्काम होकर कर्मफलहेतु मत होओ । निष्काम अतएव भगवदर्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म फलके लिये नहीं होता, यह कह चुके हैं । फलाभावमें भी अकर्ममें तुम्हारा सङ्ग मत हो, यदि फलेच्छा नहीं, तो दुःखमय कर्म करनेसे क्या मतलब ? इस प्रकार कर्माभावमें—कर्म न करनेमें भी तुम्हारी प्रीति न हो ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त ही का विवरण करते हैं—'योगस्थः' इत्यादिसे । हे धनञ्जय ! तुम योगस्थ होकर फलाभिलाषा तथा कर्तृत्वाभिमान छोड़कर कर्म करो ।

शङ्का—पूर्वश्लोकमें 'कर्मण्येव' यहाँ कर्मशब्दोत्तर एक वचनसे एक कर्म करनेका अधिकार कहा गया है इस श्लोकमें कर्मशब्द बहुवचनान्त है, इसलिये अनेक कर्मोंको योगस्थ होकर करो, यह प्रतीत होता है । इस प्रकार यथाश्रुत विरोधका परिहार कैसे हो ?

सङ्गत्यागोपायमाह—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा - फलसिद्धौ हर्षम्, फलासिद्धौ च विषादम् त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनबुद्ध्या कर्माणि कुर्वित्यर्थः। ननु योगशब्देन प्राक्कर्मोक्तम्, अत्र तु योगस्थः कर्माणि कुर्वित्युच्यते; अतः कथमेतद्बोद्धुं शक्यमित्यत आह—"समत्वं योग उच्यते"। यदेतत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वम्-इदमेव योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोच्यते, न तु कर्मेति, न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन व्याख्यानं क्रियत इत्यपौनरुक्त्यमिति भाष्यकारीयः पन्थाः। "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्र जयाजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता। इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलपरित्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेषः॥ ४८॥

समाधान—इसमें बहुवचन होनेसे अनेक कर्मोंको योगस्थ बुद्धिसे करो, यह तो निश्चित ही है। इसके अनुसार पूर्व श्लोकमें कर्मपद जातितात्पर्यसे एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। 'जात्याख्यायामेकस्मिन्' १-२ ५८ इत्यादि सूत्रसे अनेकार्थकी विवक्षासे जातिपक्ष मानकर एकवचनान्त भी साधु है। अतः पूर्व श्लोकस्थ कर्मपद अनेक कर्मका बोधक है। इस प्रकार पूर्वापर कर्मशब्दोंका एक ही अर्थ है।

सङ्गत्यागका उपाय कहते हैं—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'। फलसिद्धिमें हर्षका और फलासिद्धिमें विषादका त्यागकर केवल परमात्माराधनबुद्धिसे कर्मोंको करो।

शङ्का—पूर्वमें योगशब्दसे कर्म कहा था, यहाँ योगस्थ होकर कर्म करो, यह कहते हैं, इसका अर्थ क्या हुआ, यह नहीं समझमें आता।

समाधान—यहाँ योगसे समत्व विवक्षित है। सिद्धि और असिद्धिमें समता ही यहाँ योग है, कर्म नहीं, इसलिये कोई विरोधशङ्का नहीं है। यहाँ पूर्वार्द्धका उत्तरार्द्धसे व्याख्यान है, इसलिये पौनरुक्त्यकी शङ्का नहीं है, यह भाष्यकारका मार्ग है। 'सुखःदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ' इत्यादिसे जयाजयसाम्यप्रतिपादनद्वारा युद्ध अवश्य करना चाहिये। युद्ध ही यहाँ प्रक्रान्त है, तदनुसार तत्फलमें साम्यबुद्धि रखकर कर्म अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह क्षत्रियोंका अपना धर्म है। यहांपर तो दृष्ट और अदृष्ट सकल फलोंका त्यागकर सब कर्म करना चाहिये, यह कहा गया है, यही पूर्व और उत्तरमें विशेष है।

[यद्यपि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस पातञ्जल योगसूत्रमें योगशब्द चित्तवृत्तिनिरोधका वाची है, सकल वृत्तियोंका निरोध होनेपर चित्त एकाग्र होता है, चित्तके चञ्चलताका कारण वृत्तियाँ हैं, तथापि यहाँ तदेकदेश हर्ष-विषादात्मक वृत्तित्यागके तात्पर्यसे योगशब्दका प्रयोग हुआ है।

शंका—सङ्गका त्यागकर और सिद्धि एवं असिद्धिमें सम होकर कर्म करो, यह अर्जुनके प्रति भगवान्का उपदेश है। इसमें शंका यह है कि सङ्गत्याग और समत्व दोनोंको योग न कहकर, केवल समत्व

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे धनञ्जय, बुद्धियोगकी अपेक्षा—आत्मबुद्धि साधनीभूत निष्काम कर्म योगकी अपेक्षा—फलाभिसन्धिसे किया जानेवाला कर्म अत्यन्त निकृष्ट होनेसे अधम है। इसलिये सर्वानर्थनिवर्तक परमात्मबुद्धिमें शरण गहो, क्योंकि फलकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य सर्वदा परवश बने रहते हैं ॥ ४९ ॥

ननु किं कर्मानुष्ठानमेव पुरुषार्थः ? येन निष्फलमेव सदा कर्तव्यमित्युच्यते, "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इति न्यायात्। तद्वरं फलकामनयैव कर्मानुष्ठानमिति चेत् ? नेत्याह—'दूरेण ह्यवरम्' इति।

ही को योग क्यों कहा ? यदि वही 'योगस्थः' इस पदमें योगशब्दसे विवक्षित है, तो योगस्थ होकर कर्म करो, इसके अनन्तर 'सङ्गं त्यक्त्वा' कहनेकी क्या आवश्यकता, क्योंकि यह तो योग नहीं है।

समाधान—सङ्गत्याग भी योग ही है। तात्पर्य यह है कि विना सङ्गत्यागसे सिद्धि और असिद्धिमें समता नहीं हो सकती। सङ्गत्याग उक्त समताबुद्धिमें कारण है। कार्यग्रहणसे कारणका ग्रहण अर्थात् हो जाता है, इसलिये संक्षेपाभिधानके तात्पर्यसे समत्वग्रहणका उपदेश है। उक्त समताके ग्रहणसे सङ्गत्यागका स्वतः ग्रहण हो जाता है, अतः विशिष्य सङ्गत्यागका उपादान नहीं है। पटग्रहणसे तत्कारण तन्तुका ग्रहण स्वतः सिद्ध है, अतः पट ग्रहण करो, इसीसे तन्तुका ग्रहण करो, यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है, इसलिये पट और तत्कारण तन्तुका ग्रहण करो, यह नहीं कहा जाता। तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

शंका—समत्व और योग भिन्न है, यह शंका किसने की ? क्योंकि समाधानार्थ दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। एतद्बोधनार्थ समत्वयोगका ऐक्यप्रतिपादन 'समत्वं योग उच्यते' से योग क्या है, इस आकांक्षासे सिद्धि एवं असिद्धिकी समता—ये दोनों योग हैं, यह भगवान्की व्याख्या है। समे यानी स्वल्पबुद्धि वाले यह भी समझ सकते हैं कि सङ्गत्याग और सिद्धि एवं असिद्धिमें समता—यह योगसे अतिरिक्त है, उनके ऊपर दया कर भगवान्ने स्वयं व्याख्या कर दी—कि उक्त न्यायसे सङ्गत्यागके साथ समता योग है। इससे मन्दबुद्धिवालोंका बहुत बड़ा उपकार हुआ। विशिष्ट बुद्धिवाले तो अपने प्रज्ञावैभवसे दोनोंको योग समझ लेंगे, परन्तु मन्दबुद्धिवालोंको बिना उपदेशसे उक्तार्थका बोध नहीं होगा, इसलिये जगत्पिता परमात्माकी विशेष अनुकम्पा यहाँ मन्द बुद्धिवालोंपर है, उन्हींकी अनुजिघृक्षा—अनुग्रहेच्छासे 'समत्वं योगः' यह कहा है। योगैकदेशमें यहाँ योग शब्दका गौण प्रयोग है] ॥ ४८ ॥

क्या कर्मानुष्ठान स्वयं पुरुषार्थ है ? कि उसका सतत अनुष्ठान करो, उसमें यह मत देखो कि इसका कुछ फल है या नहीं, यह आप कहते हैं। अल्पज्ञ पुरुष भी फलकी कामनाके विना कोई कर्म नहीं करता,

बुद्धियोगात्-आत्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगाद् दूरेण-अतिविप्रकर्षेणाऽवरम्,-अधमम् कर्म फलाभिसंधिना क्रियमाणं जन्म-मरणहेतुभतम्। अथवा परमात्मबुद्धियोगाद् दूरेणावरं सर्वमपि कर्म हि यस्माद्धे धनञ्जय, तस्माद् बुद्धौ-परमात्मबुद्धौ सर्वानर्थनिर्वर्तिकायां शरणं-प्रतिबन्धकपापक्षयेण रक्षकं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ-कर्तुमिच्छ। ये तु फलहेतवः-फलकामा अवरं कर्म कुर्वन्ति, ते कृपणाः-सर्वदा जन्म-मरणादिघटीयन्त्रभ्रमणेन परवशा अत्यन्तदीना इत्यर्थः। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति, स कृपणः" बृ. उ. ३-८-१० इति श्रुतेः। तथा च

इससे तो यही अच्छा है कि यदि कर्मानुष्ठान आवश्यक है, तो फलकामना ही से अनुष्ठान किया जाय। यदि फलकामना नहीं है, तो तदनुष्ठानका त्याग ही अच्छा है।

नहीं, यह बात नहीं है। बुद्धियोगात् यानी आत्मज्ञानके कारणभूत निष्कामकर्मयोगकी अपेक्षा फलकामनासे अनुष्ठीयमान कर्म, जो जन्ममरणका हेतु है, अतिनिकृष्ट होनेसे अवर—अधम है। [कारण कि काम्य कर्मका फल—जन्ममरणादि फल अधम है, अतः फलद्वारा 'अवर' कहा गया है। स्वरूपसे तो वही कर्म है, जो निष्काम बुद्धिसे किया जाता है।] अथवा परमात्मबुद्धियोगकी अपेक्षासे अतिनिकृष्ट होनेसे सब कर्म अधम है। हे अर्जुन, जिस हेतुसे उक्त बुद्धियोगकी अपेक्षा सब कर्म अधम है, इस हेतुसे सब अनर्थोंकी निवृत्तिका कारण परमात्मबुद्धिकी शरण गहो।

प्रश्न—शरण क्या है ?

उत्तर—परमात्मबुद्धिकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक पाप है, यह तुमको समझा चुके हैं। उस प्रतिबन्धक पापोंका निवर्तक निष्काम कर्मयोग है, यह भी विस्तारसे समझा चुके हैं। और एक बात यह भी है कि उक्त कर्मयोग पापक्षय द्वारा उक्त बुद्धिका रक्षक है। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इस कोशसे रक्षिताको भी 'शरण' कहते हैं, उसको करनेकी इच्छा करो, निष्काम कर्मानुष्ठान करो, यह मतलब है। जो लोग फलकी कामनासे अधम कर्म करते हैं वे कृपण हैं यानी सदा जन्म-मरण-जरा व्याधिके घटीयन्त्रवत् परिभ्रमणसे परवश रहते हैं—जैसे जलचरखीमें बंधी छोटी-छोटी कलसी सतत घूमती रहती है, कभी ऊपर कभी नीचे चरखी चलने पर घटी क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकती, वैसे ही प्राणिमात्र कर्मप्रवाहमें पराधीन होकर जन्ममरणादि-प्रवाहसे क्षण भर भी छूट नहीं सकता। एक अवस्था बीतने पर दूसरी अवस्था भोगनेके लिये सदा उपस्थित रहती है, इनका विराम कभी नहीं होता, अतएव वे दीन हैं। परमार्थज्ञानशून्य कृपण हैं। इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं—'यो वा' इत्यादि। इस तरह तुम भी कृपण मत हो, किन्तु सब अनर्थोंके निवारणमें समर्थ आत्मज्ञानका उत्पादक जो निष्काम कर्मयोग है उसका अनुष्ठान करो, यह अभिप्राय है। जैसे कृपण पुरुष बड़े परिश्रमसे धनका उपार्जन करता है उस धनसे दो प्रकारके सुख हो सकते हैं—एक तो योग्य पुरुषको

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

कर्मोंमें समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग कर देता है, इसलिए तुम समत्वबुद्धिरूप योगके लिए उद्युक्त हो जाओ, क्योंकि समत्वबुद्धिरूप योग ईश्वरार्पित चित्त-वाले, कर्मोंमें प्रवृत्त पुरुषका महान् कौशल है ॥ ५० ॥

त्वमपि कृपणो मा भूः, किन्तु सर्वानर्थनिवर्तकात्मज्ञानोत्पादकं निष्कामकर्मयोगमेवानुतिष्ठेत्यभि-प्रायः । यथा हि कृपणा जना अतिदुःखेन धनमर्जयन्तो यत्किञ्चिद्दृष्टसुखमात्रलोभेन दानादिजनितम् महत्सुखमनुभवितुं न शक्नुवन्तीत्यात्मानमेव वञ्चयन्ति । तथा महता दुःखेन कर्माणि कुर्वाणाः क्षुद्रफलमात्रलोभेन परमानन्दानुभवेन वञ्चिता इति, अहो दौर्भाग्यम्, मौढ्यं च तेषामिति कृपणपदेन ध्वनितम् ॥ ४९ ॥

एवं बुद्धियोगाभावे दोषमुक्त्वा, तद्भावे गुणमाह—'बुद्धियुक्तो' इति ।

इह - कर्मसु बुद्धियुक्तः - समत्वबुद्ध्या युक्तो जहाति - परित्यजति उभे-सुकृत-दुष्कृते

सविधि दान करनेपर होता है, जो महान् सुख है और एक दृष्ट सामग्रीके द्वारा यानी प्रशस्त खान, पान, वस्त्र निवासादिके सम्पादन द्वारा प्राप्त होता है । जो दृष्ट सुख है वह बहुत छोटा है, छोटे सुखके लोभसे परिश्रमो-पार्जित धनको दृष्ट साधनके सञ्चयमें व्यय कर अपनेको कृतकृत्य मानता है, वह कृपण है । वह उस धनसे सुपात्रको दान देकर उसके द्वारा महान् सुखका भोग कर सकता था, किन्तु वैसा न कर अपनेको ही उस सुखसे उसने वञ्चित किया, वैसे ही जो बड़े परिश्रमसे कर्म कर उसको क्षुद्रानन्दप्राप्तिमें ही व्यय कर देते हैं और परमानन्द मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं, उनके विषयमें भी यह महान् आश्चर्य है । इसका कारण उनका दौर्भाग्य और मूढ़ता ही है, यह कृपणशब्दसे सूचित किया है ।

[सारांश यह है कि प्रधानफलके त्यागके अनन्तर फलकी सिद्धि और असिद्धिमें समता एतदुभयस्वरूप बुद्धियोगसे इतर सकाम कर्म अतिनिकृष्ट है । इन दोनोंमें महान् यह वैलक्षण्य है कि बुद्धियोग सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिकर परम पुरुषार्थलक्षण मोक्ष देता है । दूसरा सकाम किया गया कर्म अपरिमित दुःखस्वरूप संसारको देता है, अतः कर्म करते समय उक्त बुद्धिकी शरण गहो । उसी बुद्धिमें स्थिर रहो । यह निश्चय समझो कि जो फलकामनासे कर्म करेंगे, वे नियमसे संसारी होंगे । तुम स्वयं अपने कर्मोंपर ध्यान दो कि एक समय वह था, जब सब राजाओंके ऊपर विजयकर जो तुमने धनसञ्चय किया, उससे युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया । उसीमें दुर्योधन अपनेको अपमानित समझकर द्यूतक्रीडाकी योजना की । उसमें तुम लोगोंने

पुण्यपापे सत्त्वशुद्धि ज्ञानप्राप्तिद्वारेण । यस्मादेवम्, तस्मात्समत्वबुद्धियोगाय त्वं युज्यस्व-घटस्व-उद्युक्तो भव । यस्मादीदृशः समत्वबुद्धियोगः ईश्वरार्पितचेतसः कर्मसु प्रवर्तमानस्य कौशलम्-कुशलभावः । यद्बन्धहेतूनामपि कर्मणां तदभावः, मोक्षपर्यवसायित्वं च, तत् महत्कौशलं समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कर्मात्माऽपि सन् दुष्टकर्मक्षयं करोतीति महाकुशलः, त्वं तु न कुशलः यतश्चेतनोऽपि सन् सजातीयदुष्टकर्मक्षयं न करोषीति, व्यतिरेकोऽत्र ध्वनितः । अथवा—इह-

पराजित होकर वनवास किया । उसके बाद यह युद्ध प्राप्त हुआ । इस प्रकार काम्य कर्मोंका दुष्परिणाम देखते हो, अतः इन दुःखोंसे बचनेका उपाय यही है कि सब कर्मोंको करो, पर फलकामनासे मत करो, केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे करो, फिर तो सांसारिक सकल दुःखोंसे मुक्त होकर अवश्य ही परमपद मोक्षफलका भागी बनोगे]॥ ४९ ॥

इस प्रकार बुद्धियोगाभावमें दोष कहकर बुद्धियोगके सद्भावमें गुण कहते हैं—'बुद्धियुक्तो' इत्यादि-से । इन कर्मोंमें समत्वबुद्धियुक्त होकर पुरुष सत्त्वबुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारा समस्त सुकृत-दुष्कृतका—पुण्य और पापोंका त्याग करता है । [भाष्यकारने 'इह' शब्दका इस लोकमें पुण्य और पापका त्याग करता है, ऐसा अर्थ किया है । इससे कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह सूचित होता है, परन्तु मूलकारने कर्मके साथ सम्बन्ध कर 'इह' का 'कर्मसु' ऐसा अर्थ किया है । फलतः विशेष नहीं है । एकके साथ शाब्दिक सम्बन्ध है, दूसरेके साथ आर्थिक वा प्राकरणिक सम्बन्ध है । 'इह' का 'लोकमें' यह अर्थ माननेसे कर्मके साथ प्राकरणिक सम्बन्ध है । 'इह' का कर्मके साथ शाब्दिक सम्बन्ध न करनेसे त्याग मरणसे पूर्व इस लोक ही में होता है, लोकान्तरमें नहीं, अतः अर्थतः लोकका लाभ हो जाता है, अतः आर्थिक सम्बन्ध है ।

शङ्का—पुण्य और पापकी निश्शेष निवृत्ति तो ज्ञानसे होती है, कर्मसे नहीं, फिर कर्मयोगसे पुण्य और पापकी निवृत्ति कैसे ?

उत्तर—यहाँ साक्षात् कर्मयोग उक्त निवृत्तिका कारण है, इसमें तात्पर्य नहीं, किन्तु परम्परया तन्निवर्तक है, इसमें तात्पर्य है । इसको स्पष्ट करते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्तिका कर्मयोग कारण है । ज्ञानसे निश्शेष कर्मकी निवृत्ति होती है, इसलिये ज्ञानद्वारा उक्त निवृत्तिमें कर्मयोग कारण है ।] चूँकि कर्मयोग तत्त्वज्ञानका साधन है, इसलिये बुद्धियोग ही में युक्त होओ उद्युक्त होओ । अर्थात् इसीके सम्पादनका यत्न करो, इससे समस्त इष्ट सिद्ध होगा । क्योंकि समत्वबुद्धियोग कर्मयोग ईदृश—प्रभावशाली है, ईश्वरके चरणारविन्दमें अपने चित्तको सर्वात्मना निवेशित करके जो कर्म करते हैं यानी कर्मोंमें जो प्रवर्तमान हैं उनका कौशल—उनकी कुशलता है ।

प्रश्न—क्या कौशल है ?

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

चूँकि समबुद्धिसे युक्त पुरुष कर्मजनित फलका त्यागकर केवल परमेश्वरकी आराधनाके लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानी हो जाते हैं और वैसा होते हुए वे जन्मात्मक बन्धनसे सदाके लिए छुटकारा पाकर अविद्या और तत्कार्यात्मक रोग रहित मोक्षनामक परमपदको-पुरुषार्थको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए तुम भी ऐसे कर्मयोगका अनुष्ठान करो ॥ ५१ ॥

समत्वबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति सत्त्वशुद्धिद्वारेण बुद्धियुक्तः परमात्मसाक्षात्कारवान् सन् जहात्युभे सुकृतदुष्कृते। तस्मात्समत्वबुद्धियुक्ताय कर्मयोगाय युज्यस्व। यस्मात्कर्मसु मध्ये समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कौशलम्-कुशलो दुष्टकर्मनिवारणचतुर इत्यर्थः ॥ ५० ॥

ननु दुष्कृतहानमपेक्षितम्, न तु सुकृतहानम्, पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य, तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह—'कर्मजम्' इति।

उत्तर—कर्म बन्धनका हेतु है। जो कर्म करेगा, वह अवश्य बद्ध होगा, यह प्राकृतिक नियम है। वही कर्म वे लोग करते हैं, परन्तु उन कर्मोंमें बन्धनहेतुत्व नहीं होता, किन्तु तदभाव होता है। यही कर्ताका कौशल है। इतना ही कौशल नहीं, किन्तु उन कर्मोंसे मोक्ष होता है, यह महान् कौशल है। युक्त यानी समत्वबुद्धिसे युक्त कर्मयोग कर्मस्वरूप होकर भी दुष्कर्म—पापका नाश करता है, इस कारण कर्मयोग बड़ा कुशल है तुम तो कुशल नहीं हो, क्योंकि चेतन होकर भी सजातीय दुर्योधनादि दुष्टोंका नाश नहीं करते हो, यह व्यतिरेक ध्वनित होता है। [कर्मयोग सजातीय दुष्टका नाश करता है, इससे दोषयुक्तका सर्वदा नाश करना चाहिये, चाहे सजातीय हो या विजातीय। अनिष्टकारीकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अतएव कालिदासने भी कहा है "अङ्गुलीवोरगक्षता"। अतिप्रिय अंगुलीको यदि सर्प काट ले, तो अंगुली काट देनी चाहिये। उसमें ममता नहीं करनी चाहिये कि यह मेरी अंगुली है इतर अंगुलियोंके समान अच्छेद्य है। यह अंगुली सर्पविषसे दुष्ट है। दुष्टका सर्वदा नाश करना चाहिये। उसमें सजातीय-विजातीयका विचार ही नहीं करना चाहिये। दोष अनिष्टकारी होनेसे द्वेष्य अतएव पर-शत्रु ही होता है।] अथवा यह समत्वबुद्धियुक्त कर्म करनेपर—समत्वबुद्धिसे नित्यकाम्य आदि कर्म करनेपर अन्तःकरणशुद्धि द्वारा बुद्धियुक्त परमात्मसाक्षात्कारवान् होकर सुकृत और दुष्कृत दोनोंका त्याग करता है। [प्रथम अर्थमें बुद्धियुक्त इस बुद्धिसे कर्मयोग बुद्धिका ग्रहण किया, किन्तु वह सुकृतदुष्कृतको साक्षान्निवृत्तिका कारण नहीं है, इसलिये अन्तःकरणशुद्धिकी ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा परम्परया 'जहाति'के साथ सम्बन्ध किया, द्वितीय अर्थमें 'इह' शब्दसे पूर्वोक्त समताबुद्धिका परामर्शकर 'कर्मयोगबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति' सप्तम्यन्तार्थका 'इह पद' के अनुरोधसे

समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा, केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्वशुद्धिद्वारेण मनीषिणः-तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति। तादृशाश्च सन्तो जन्मात्मकेन बन्धेन विनिर्मुक्ताः-विशेषेणाऽऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषम् मुक्ताः पदं-पदनीयमात्मतत्त्वमानन्दरूपं ब्रह्म-अनामयम्-अविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहितमभयम्-मोक्षाख्यं पुरुषार्थं गच्छन्ति-अभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्वबुद्धया

'सति सप्तमी' मानकर उक्त कर्म करनेपर मनकी शुद्धि होगी, ततः ब्रह्मसाक्षात्कार जो होगा, वही बुद्धियुक्त यहाँ बुद्धि'से विवक्षित है। यह बुद्धि सुकृतादिके त्यागमें साक्षात् हेतु है—यही दोनों व्याख्यानोंमें भेद है। मुख्य अर्थ एक ही है] अतः समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोगके लिये प्रयत्न करो, क्योंकि कर्मोंके मध्यमें समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग कौशल है यानी कुशल है। दोषयुक्त कर्मोंके निवारणमें चतुर है, यह अर्थ है॥ ५०॥

शङ्का—दुष्कृतका त्याग तो उचित है, क्योंकि इसका फल दुःखानुभव है, जो प्राणिमात्रको इष्ट नहीं है, परन्तु सुकृतका हान तो अच्छा नहीं है। इसका फल सुखानुभव है, जो सब प्राणियोंको इष्ट है। इसके त्यागसे तो पुरुषार्थ ही से गिर जाना होगा।

समाधान—सांसारिक फल तुच्छ है। इनका त्याग परमपुरुषार्थरूप अतुच्छ फल प्राप्त करो, यह कहते हैं—'कर्मजम्' इत्यादिसे। समत्वबुद्धियुक्त पुरुष कर्मज फलका त्यागकर केवल ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हैं और सत्त्वशुद्धि द्वारा विद्वान् होते हैं। यहाँ विद्वान्से 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य जो ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान है तद्वान् विवक्षित है। विद्वान् होकर जन्मस्वरूप बन्धसे बिलकुल छूट जाते हैं। विनिर्मुक्ताः' यहाँ 'वि और निर्' इन दोनों उपसर्गोंसे विवक्षित अर्थको स्फुट करते हैं—आत्यन्तिकत्वरूप विशेष 'वि' का और निरवशेषत्वरूप अर्थ 'नि' का यहाँ विवक्षित है। आत्यन्तिक बन्धसे मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होकर पदम्-पदनीय-गमनीयको—आत्मतत्त्वपरमानन्दरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, जो अनामय है। अर्थात् आमय रोगका नाम है, [रोग शरीरमें होता है, ब्रह्म अशरीर है, इसलिए उसमें रोग नहीं है, फिर निरामयसे उसका उसमें प्रतिषेध व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारार्थ अनामयकी व्याख्या करते हैं—रोग दुखदायी होता है, जो जिसमें रह कर दुःख दे वही उसमें रोग है। शरीरमें ज्वरादि रहकर शरीरीको दुःख देते हैं, अतः जैसे ज्वरादि रोग है, एवं अविद्या और उसके कार्य परमात्मामें रहकर जीवोंके दुःखदायी हैं, अतः आत्मामें ये ही रोग हैं।] एतद्रोगरहित अभय मोक्षनामक पुरुषार्थको वे प्राप्त करते हैं। अभेदरूपसे प्राप्त करते हैं, यह अर्थ है। [जैसे नगरगन्ताके गन्तव्य नगरको प्राप्त करनेपर भी दोनोंका भेदेन अवस्थान रहता है। गन्ता पुरुष नगर नहीं हो जाता, वैसे ही यहाँ भेदेन अवस्थान नहीं है, किन्तु गन्ता और गन्तव्य ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, इस तात्पर्यसे 'अभेदेन प्राप्नुवन्ति' यह कहा।] चूँकि इस प्रकार फलकी कामनाका त्याग कर समत्वबुद्धिसे कर्मोंको कर उन कृत कर्मोंसे परिशुद्धान्तःकरण होते हुए यानी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यप्रमाणो-

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि अविवेकात्मक कालुष्य पार कर जायगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत कर्मफलमें निर्वेदको प्राप्त होओगे–तब तुममें कर्मफलकी चाह न रहेगी ॥ ५२ ॥

कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तःकरणशुद्धयस्तत्त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्नात्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञान-तत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्तिरूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति। तस्मात्त्वमपि "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" गी० २-७-१ इत्युक्तेः, श्रेयोजिज्ञासुरेवंविधं कर्म-योगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ ५१ ॥

एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यादित्यत आह—'यदा ते' इति। नह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति, कालनियमोऽस्ति। किन्तु यदा-यस्मिन्काले ते-तव बुद्धिः-अन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतितरिष्यति-अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्य-ज्ञानविलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति-रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत्। तदा-तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं-वैतृष्ण्यं गन्तासि-प्राप्तासि। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात् मु० उ. १-२-१२।" इति श्रुतेः। निर्वेदेन फलेनान्तः-करण शुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

त्पन्न जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक आत्मतत्त्वज्ञान है, इससे अविद्या और तत्कार्य समस्त प्रपञ्चका नाश करते हुए वे सकलानर्थनिवृत्तिरूप—परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्षापरनामक विष्णुके परम पदको जाते हैं, इसलिये तुम भी 'यच्छ्रेयः स्यात्' इत्यादि वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रेयोर्थजिज्ञासु हो, तो ऐसा ही कर्मयोग करो, यह भगवान्‌का अभिप्राय है ॥ ५१ ॥

इस तरह कर्म करनेसे मेरा मन कब शुद्ध होगा, इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे। इतने समयमें उक्त कर्मोंसे मनकी शुद्धि होती है, यह कालनियम नहीं है, किन्तु अवधि यही समझो कि जिस समय तुम्हारा मन अविवेकस्वरूप कालुष्य 'मैं यह हूँ' 'यह मेरा है' इत्यादि जो अज्ञानका कार्य अति जटिल है, उसको पार कर जायगा यानी रज और तमके मलको छोड़कर शुद्धस्वभावापन्न हो जायगा तब समझना कि मेरा मन परिशुद्ध हो गया। उस समय श्रोतव्य—श्रवणयोग्य और श्रुत कर्मफलकी तृष्णा निवृत्त हो जायगी। वैतृष्ण्य प्राप्त करोगे, यह शब्दार्थ हुआ। इसमें प्रमाण 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इत्यादि श्रुति है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अनेकविध फल वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परमात्मामें दृढ़ हो जायगी तब तुम जीवपरमात्मैक्यरूपी अखण्डसाक्षात्कारको, जो समस्त योगोंका फल है, प्राप्त करोगे ॥ ५३ ॥

अन्तःकरणशुद्धयैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह—'श्रुतिविप्रति' इति।

निर्वेदरूप फलसे यानी फलवैतृष्ण्यसे अन्तःकरणकी शुद्धि जानोगे, यही शुद्धिका ज्ञापक है। श्रोतव्य और श्रुत दोनों निष्फल प्रतीत होगा, यह अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

अन्तःकरणकी शुद्धिसे इस प्रकारका वैराग्य होनेपर कब ज्ञानकी प्राप्ति होगी, ऐसा जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'श्रुति०' इत्यादिसे।

तुम्हारी बुद्धि जब परमात्मामें निश्चल होकर स्थित होगी तब तत्त्वज्ञान होगा, यही अवधिका ज्ञापक है। इस समय तो श्रुतियोंसे—अनेकविध फलश्रवणसे किन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है, इस विचारके विना उक्त श्रुतियोंसे—विप्रतिपन्न है। [विप्रतिपत्तिसे संशय यानी विरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञान होता है। जैसे सामने स्थित मनुष्यदेहसममें मन्द अन्धकारमें 'स्थाणुर्न वा' यह संशय होता है, इससे स्थाणुत्वकोटि और एतद्विरुद्ध स्थाणुत्वाभावकोटि, दोनोंका भान होता है। विरुद्ध दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रहता, पर एकतरकोटिका निर्णायक जबतक कोई ज्ञान नहीं होता, तबतक यह संशय बना रहता है। यदि स्थाणुत्व-व्याप्य शाखापत्रादिका ज्ञान हो जाय, तो यह स्थाणु है, यह निश्चय हो जायगा, फिर उक्त संशय भी निवृत्त हो जायगा। संशयज्ञान अप्रमाण है। एवं विपर्यास विभ्रमको कहते हैं। जैसे कि शुक्तिमें रजतज्ञान और रज्जुमें सर्पज्ञान—ये भ्रम ही हैं, अतद्वति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम है। शुक्तिमें रजतत्व नहीं है, फिर भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान शुक्तिमें रजतको बतलाता है, अतः यह भ्रम है। इसकी निवृत्ति वास्तविक शुक्तिज्ञानसे होती है। ऐसी तुम्हारी बुद्धि संशयात्मक है, क्योंकि इस ज्ञानकी सामग्री तुम्हारे मनमें है। श्रुति द्वारा अनेक-फलश्रवणसे संशय होना उचित ही है। "अपाम सोमं अमृता अभूम" तै॰सं॰ ३-२-५-३ इसके श्रवणसे यह ज्ञान होता ही है। सोमपान सोमयागमें होता है, इसलिये सोमपानसे सोमयाग विवक्षित है। सोमयागादिसे भी आत्य-न्तिक—निश्शेष बन्धकी निवृत्ति होती है। बन्धनिवृत्ति होनेपर ही अमृतप्राप्ति होती है। उक्त श्रुतिसे यह अर्थ स्फट प्रतीत होता है कि सोम पिया कि मुक्त हो गये। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र कर्मचितः

ते-तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारिततात्पर्यैर्विप्रतिपन्नानेकविधसंशय-विपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा-यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ-परमात्मनि निश्चला-जाग्रत्स्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेपरहिता अचला सुषुप्ति-मूर्छा-स्तब्धीभावादिरूपलयलक्षणचलनरहिता सती स्थास्यति, लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य

लोकः क्षीयते" यथा कर्मजन्य सस्यादि क्षयी है, एवं कर्मजन्य स्वर्ग भी क्षयी है। क्षयित्वमें कारण कर्म-जन्यत्वादि है। इस विरुद्ध श्रुतिद्वयके श्रवणसे मोक्षके लिये कर्मका आश्रयण करना चाहिये अथवा नहीं, यह संशय तबतक बना रहेगा, जबतक कि तात्पर्यनिर्णयानन्तर यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। तात्पर्यनिर्णय इत्यादि विचारके विना नहीं होता, इसलिये 'अविचारित' यह कहा। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" तै॰आर॰प्र-३-अनु १३ इत्यादि श्रुत्यन्तरसे तथा कर्मजत्वादि लिङ्गसे यागादिजन्य फलमें विनाशित्वका ज्ञान होता है, यह कर्मस्तावक वाक्य है, इसका फलकी नित्यतामें तात्पर्य नहीं है, मुख्य तात्पर्य यागादि कर्मकी स्तुतिमें है। अमृत' पद तदनुसार अविनाशिपरक नहीं है, किन्तु चिरस्थायिपरक है, अतएव 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' २-५-९६ इत्यादि विष्णु पुराण वचन संगत होता है। अर्थात् उक्त रीतिसे अनेकविध संशयविपर्ययसे पहिले बुद्धि विक्षिप्त है। [क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पांच चित्तकी भूमियां हैं। एकाग्र और निरुद्ध ये दोनों तत्त्वज्ञानोपयोगी हैं। शेष तीन भूमियां अयोग्य हैं। इनको शुद्ध करनेपर तत्त्वज्ञान हो सकता है। क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढमें उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं। प्रकृतमें अर्जुनकी बुद्धि विक्षिप्त कही गई है। अज्ञानमें दो शक्ति वेदान्ती मानते हैं—आवरण और विक्षेप। आवरणशक्तिसे वस्तुतत्त्वका आवरण होता है और विक्षेपशक्तिसे उसमें रूपान्तरका भान होता है। इसीसे संशय-विपर्यय होता है। अभी अर्जुनकी बुद्धिमें अज्ञानकार्य होनेसे तद्गत विक्षेपशक्ति विद्यमान है। इसलिये आत्मोपदेश करनेपर भी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, अतः निष्काम कर्म द्वारा इस विक्षेपशक्तिरूप मनोदोषको निवृत्त करो। तदनन्तर तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यता मनमें होगी, यह अभिप्राय भगवान्का है।

प्रश्न—विक्षेपशक्तिकी निवृत्तिका उपाय क्या है ?

उत्तर—निष्कामकर्मजन्यशुद्धिविशिष्टमनःपरिणामरूपविवेकज्ञान है।] जब कामनाप्रयुक्त कर्मा-नुष्ठानजन्य फलमें सातिशयत्व क्षयित्वादि दोषदर्शनसे उस विक्षेपका त्याग-कर समाधिमें यानी परमात्मामें वह निश्चल होगी यानी जाग्रत्स्वप्नदर्शनरूप विक्षेपसे रहित दृढ होगी—सुषुप्ति-मूर्च्छास्तब्धीभावादिरूप लय-लक्षण चलनसे रहित होकर स्थिर होगी। [प्रकृतमें जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनलक्षण विक्षेप विक्षेपसे विवक्षित है। इन दोनों दोषोंसे बुद्धि चञ्चल होती है। इनकी निवृत्तिसे बुद्धिमें स्थिरता होती है। जागर कालमें अनेक विषयोंके दर्शन, श्रवण आदिसे बुद्धि एक विषयमें स्थिर नहीं रह सकती, एवं स्वप्नावस्थामें भी

समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चला-असंभावना-विपरीतभावनारहिता, अचला दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निर्वातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना। तदा-तस्मिन्काले योगं-जीवपरमात्मैक्यलक्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्ड-

विविध स्वाप्निक पदार्थोंका ज्ञान होता है। संस्कारात्मक विक्षेप बुद्धिमें है ही। सुषुप्ति-मूर्च्छा-स्तब्धीभावादि-दशामें बुद्धि ही नहीं रहती। बुद्धि अन्तःकरणका परिणाम है। उस समय अन्तःकरण स्वकारणमें लीन हो जाता है, इस कारण वृत्ति ही नहीं हो सकती, स्थिर वृत्तिकी क्या संभावना! ये लयलक्षण विक्षेप कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके विक्षेपोंसे रहित जब बुद्धि होती है तब वह स्थिर निश्चल होती है।] लय-विक्षेपलक्षण दोषोंका परित्याग कर बुद्धि समाहित होगी, यह तात्पर्य है।

[अथवासे अर्थान्तर कहते हैं—] अथवा जब असंभावना और विपरीतभावना, इनसे अर्थात् जीव और ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता, यह असंभावना है तथा ब्रह्म जीवसे अत्यन्त भिन्न है, यह विपरीतभावना है, इन दोनों भावनाओंसे रहित अतएव अचल यानी दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनद्वारा विजातीय प्रत्ययसे अदूषित होती हुई वातरहित प्रदीपके समान आत्मामें स्थिर रहेगी, यह योजना है। [भाव यह है कि अचलबुद्धि वह कही जाती है, जो एक विषयमें चिरकालतक स्थिर रहे। जैसे घटविषयक बुद्धि हुई, वह दस-पन्द्रह मिनटतक घटविषयक ही रहे, मध्यमें विषयान्तरका भान न हो। इसीको योगशास्त्रमें प्रत्ययैकतानता कहते हैं यानी विजातीय वृत्ति-विषयनिरासपूर्वक गृहीतविषयकी निरन्तर चित्तवृत्तिका समुत्पाद कहते हैं। यह तो सर्वानुभवसिद्ध है कि किसी विषयकी वृत्ति होती है, तो तुरन्त विषयान्तरकी वृत्ति चित्तमें हो जाती है। वह वृत्ति भिन्नविषयक होनेसे विजातीय कही जाती है। अभिन्नविषयकत्वेन साजात्य है और भिन्नविषयकत्वेन वैजात्य है। यदि एक ही विषयमें वृत्ति निर्वातप्रदीपशिखावत् स्थिर रहे, विषयान्तरमें न जाय, तो वह वृत्ति स्थिर कही जाती है। ईश्वरध्यानके समय ईश्वरविषयक वृत्ति ही होती रहे, विषयान्तरकी वृत्ति न हो। एक ही वृत्ति अनेकक्षण नहीं रह सकती। दीपशिखावत् पूर्वपूर्वनिवृत्तिपूर्वक उत्तरोत्तरोत्पाद आवश्यक है। इसलिए गृहीत विषयकी वृत्तियाँ चित्तमें निरन्तर उत्पन्न हों, विषयान्तरकी न हों, तो वह वृत्ति स्वरूपतः स्थिर नहीं है। स्वरूप तो बदलता ही जाता है, किन्तु विषयतः स्थिर है अर्थात् उन वृत्तियोंमें विषय स्थिर है। स्थिरविषयकत्वेन वृत्ति भी स्थिर कही जाती है, इस तात्पर्यसे निर्वातप्रदीपवत् आत्मनि स्थास्यति' यह लिखा है।] उस समय जब आत्मामें स्थिर वृत्ति होगी तब योग यानी जीवपरमात्मैक्यलक्षण तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य अखण्डसाक्षात्कार जो सब योगका फल है, वह पावोगे। [अखण्डसे जीव-ब्रह्मका जो अभेदसम्बन्ध है उसका भी भान न हो, क्योंकि संसर्गानवगाही बोध विवक्षित है। संसर्गका भान होनेपर विशेषणविशेष्यभावका भी भान दुर्निवार है। विशेषण आदिका भान

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। ५४ ।।

अर्जुनने कहा—हे केशव, समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है । स्थितप्रज्ञ कैसे भाषण करेगा, कैसे अवस्थित रहेगा और कैसे वह गमन करेगा ।। ५४ ।।

साक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि । तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ।। ५३ ।।

एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच—यान्येव हि जीवन्मुक्तानाम् लक्षणानि, तान्येव मुमुक्षूणां मोक्षोपायभूतानीति मन्वानः—'स्थितप्रज्ञस्य' इति ।

होनेपर अद्वैतब्रह्मसाक्षात्कार न होगा, यही मोक्षका अज्ञाननिवर्तनद्वारा अभिव्यञ्जक है। इसलिये 'ऐक्यलक्षण' कहा । दोनोंका एक ही रूप वस्तुतः है, अज्ञानसे भिन्नरूप प्रतीत होते हैं । अज्ञाननिवृत्त्युत्तर ऐक्य प्रतीत होना ठीक है ।] उस समय कुछ कर्तव्यान्तर अवशिष्ट नहीं रहता, इसलिए कृतकृत्य—कृतं कृत्यं येन सः—जो सब अपने कर्तव्योंको कर चुका है वह कृतकृत्य कहा जाता है वही स्थितप्रज्ञ होता है । स्थिता प्रज्ञा यस्य स—जिसकी बुद्धि स्थिर है, जिसका स्वरूप कह चुके हैं, सो स्थितप्रज्ञ है । उक्त बुद्धि होनेपर उस समय पुनः साध्यान्तर न होनेसे तुम भी कृतकृत्य तथा स्थितप्रज्ञ हो जावोगे यह अभिप्राय है [श्रुतिविप्रतिपन्नसे श्रवणज्ञान, उसके अनन्तर तदुपासन, जिसको ज्ञाननिष्ठा भी कहते हैं। अचला बुद्धि यही है, ध्यानमें ही बुद्धि अचल होती है, तदनन्तर आत्मसाक्षात्कार और ततः मोक्ष यानी ब्रह्मात्मना अवस्थान होता है] ।। ५३ ।।

इस प्रसङ्गसे अवसर पाकर अर्जुन स्थितप्रज्ञका लक्षण पूछते हैं—'स्थितप्रज्ञस्य' इत्यादिसे । जो जीवन्मुक्तके लक्षण हैं वे ही मुमुक्षुओंके मोक्षोपाय हैं—मोक्षफलक ज्ञानके उत्पादक मानकर अर्जुन बोले—'स्थित' इत्यादि । जिसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धि निश्चल है—यानी सतत यही भान होता है, विषयान्तरका सम्पर्क नहीं होता, वह स्थितप्रज्ञ है । उस पुरुषकी दो अवस्थाएं होती हैं । अवस्थाभेदसे वह युञ्जानः यानी दो प्रकारकी अवस्थाओंसे युक्त होकर समाधिस्थ और व्युत्थित कहा जाता है, इसलिये व्युत्थितकी व्यावृत्तिके लिये 'समाधिस्थ' यह विशेषण दिया गया है । [व्युत्थित स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं पूछता हूँ, किन्तु समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका । व्यावर्तक विशेषणसे स्थितप्रज्ञ दो प्रकारके होते हैं—समाधिस्थ और व्युत्थित, इतना ज्ञान अर्जुनको था, अन्यथा स्थितप्रज्ञका लक्षण और भेद दोनों पूछते—स्थितप्रज्ञ कौन है और उनके भेद कितने हैं, यह पूछते, अस्तु,] स्थितप्रज्ञकी क्या भाषा है, किन लक्षणोंसे युक्त हैं

स्थिता-निश्चला-अहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा यस्य, स स्थितप्रज्ञोऽवस्थाद्वयवान्-समाधिस्थः, व्युत्थितचित्तश्चेति। अतो विशिनष्टि—समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, कर्मणि षष्ठी। भाष्यतेऽनयेति भाषा-लक्षणम्। समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः केन लक्षणेनान्यैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः। स च व्युत्थितचित्तः स्थितधीः-स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत-स्तुतिनिन्दादावभिनन्दनद्वेषादिलक्षणं किम्-कथं प्रभाषेत। सर्वत्र संभावनायां लिङ्। तथा किमासीतेति व्युत्थितचित्तनिग्रहाय कथं बहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति। तन्निग्रहाभावकाले च किं व्रजेत-कथं विषयान्प्राप्नोति। तत्कर्तृकभाषणासनव्रजनानि मूढजनविलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः। तदेवं चत्वारः प्रश्नाः-समाधिस्थे स्थितप्रज्ञे एकः, व्युत्थिते स्थितप्रज्ञे त्रयः-इति। केशवेति सम्बोधयन् सर्वान्तर्यामितया त्वमेवैतादृशं रहस्यं वक्तुं समर्थोऽसीति सूचयति॥ ५४॥

उनको देखकर लोग यह कहते हैं कि यह 'स्थितप्रज्ञ' हैं [केशव, इस संबोधनसे अर्जुनका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे आप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र केशिका हनन करनेसे केशव कहलाते हैं। केशिहनन-कर्तृत्व ही 'केशव' का लक्षण है, सो आपमें है, इस कारण आप केशव कहलाते हैं, वैसे ही स्थितप्रज्ञ किलक्षणोंसे लक्षित है, जिन लक्षणोंको देखकर लोग उनको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। ज्ञानजनक ज्ञानविषय लक्षण होता है। जैसे जटा आदि देखकर लोग यह कहते हैं कि ये तपस्वी हैं। तपस्वित्वज्ञानका जनक ज्ञान जटाज्ञान है, तद्विषयक जटा तापसत्वका लक्षण है, तद्वत् प्रकृतमें स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है।] यहाँ भाष्यतेऽनया इस व्युत्पत्तिसे भाषाशब्द लक्षणार्थक है। स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है। अर्थात् समाधिस्थ स्थित-प्रज्ञको किस लक्षणसे अन्य लोग 'यह स्थितप्रज्ञ है', ऐसा समझते हैं और जब व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञ होता है, तो स्वयं क्या कहता है! [समाधिमें स्थित तो कुछ बोल ही नहीं सकता, कारण कि प्रेरणा ही से इन्द्रियाँ स्वविषयग्रहणमें प्रवृत्त होती हैं। समाधि अवस्थामें देशविशेषमें मन निरुद्ध है, इन्द्रियोंके साथ मनका संघटन नहीं है, तो प्रेरणा कैसे कर सकता है, अतः उस अवस्थामें बोलने आदिका प्रश्न नहीं हो सकता। व्युत्थितचित्तमें ही भाषणादिका संभव है। इसलिये प्रश्न है—कि प्रभाषेत अर्थात् स्वयं क्या कहता है। गुणारोप—परवाक्यस्तुति, दोषारोपण—परवाक्यनिन्दा आदि सुननेपर हर्षसूचक वाक्य अभिनन्दन, द्वेष, अप्रियारोप, परवाक्य निन्दा एवं द्वेषादिवाक्य—इन सबमें 'किं प्रभाषेत' का संबन्ध है। स्तुतिनिन्दाका अवसर उपस्थित होनेपर अभिनन्दन, द्वेष आदि बोधक वाक्य कैसे बोलता है अर्थात् क्या स्तुति करता है, क्या निन्दा करता है, क्या अभिनन्दन करता है, क्या द्वेषबोधक वाक्य बोलता है, इस प्रकार] संभावनार्थक लिङ्का सर्वत्र संबन्ध है। एवं 'किमासीत' समाधिसे उपरतचित्तके निग्रहके लिए—एकत्र विषयविशेष रोकनेके लिए वाह्येन्द्रियोंका निग्रह कैसे करता है तथा इन्द्रियनिग्रहाभावकालमें विषयोंको कैसे पाता है,

भगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ, जब समाधिस्थ मनुष्य मनोगत सभी कामोंका परित्याग कर देता है और स्वप्रकाशचिद्रूपसे भासमान परमानन्दरूप आत्मामें ही परितृप्त रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

एतेषां चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं भगवान् उवाच यावदध्यायसमाप्ति प्रजहाति-इति। कामान्-कामसङ्कल्पादीन् मनोवृत्तिविशेषान् प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतिभेदेन तन्त्रान्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान् सर्वान्-निरवशेषान् प्रकर्षेण-कारणबाधेन यदा जहाति-परित्यजति सर्ववृत्तिशून्य एव यदा भवति, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। समाधिस्थ इति शेषः। कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागयोग्यतामाह—'मनोगतान्' इति। यदि ह्यात्मधर्माः स्युः, तदा न त्यक्तुं शक्येरन्, वह्नेरौष्ण्यवत्स्वाभाविकत्वात्। मनसस्तु धर्मा एते। अतस्तत्परित्यागेन

तत्कर्तृक भाषण, आसन, व्रजन आदि मूर्ख पुरुषोंके भाषण, आसन, व्रजन आदिसे अवश्य विलक्षण होंगे, परन्तु उसमें वैलक्षण्य क्या है, यही प्रश्न है। इस तरह यहां चार प्रश्न हुए—इनसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञमें एक और व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञमें तीन प्रश्न हैं, इस तरह भाषण, आसन और व्रजन, ये कुल चार प्रश्न हुए। आप सबके अन्तर्यामी हैं, अतः इन सब गूढ प्रश्नोंका आप ही उत्तर कह सकते हैं, दूसरा नहीं, यह 'केशव' संबोधनसे सूचित हुआ ॥ ५४ ॥

इन चारों प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस अध्यायकी समाप्ति तक भगवान् देते हैं—'प्रजहाति' इत्यादिसे शुरू कर। काम, अभिलाष, संकल्प, मानसकर्म—ये सब मनके परिणामविशेष होनेसे मनके धर्म हैं। गीतामें कामशब्द मनोमात्रवृत्ति धर्मका लक्षक है। तन्त्रान्तरमें—योगशास्त्रमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिके भेदसे मनोवृत्तिका विस्तार पांच प्रकारसे किया गया है। इन सबको जिस समय निरवशेषरूपसे यानी भलीभांति कारणबाधद्वारा त्याग करता है। [त्याग दो प्रकारका है—हान और प्रहाण। जो त्यक्त फिर आविर्भूत होता है उसका वह त्याग हान है, जिस त्यक्तका कभी पुनः प्रादुर्भाव न हो वह त्याग प्रहाण कहलाता है। जहां कारणके बिना कार्यमात्रका नाश होता है, वह छिन्नबदरीवत् पुनः कार्य होता है, जहां कारणके साथ कार्यनाश होता है वहां पुनः कार्य नहीं होता, इसलिये वह प्रहाण है। जब सर्वविषयक

परित्यक्तुं शक्या एवेत्यर्थः। ननु स्थितप्रज्ञस्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः सन्तोषविशेषः प्रतीयते, स कथं सर्वकामपरित्यागे स्यादित्यत आह—आत्मन्येव-परमानन्दरूपे न त्वनात्मनि तुच्छे, आत्मना स्वप्रकाशचिद्रूपेण भासमाने, न तु वृत्त्या। तुष्टः-परितृप्तः परमपुरुषार्थलाभात्। तथा च श्रुतिः—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" क०उ० २-६-१४ ॥ इति ॥

वृत्तिसे शून्य होता है तब स्थितप्रज्ञ होता है, यहाँ 'समाधिस्थ' यह शेष है। अर्थात् समाधिस्थ ही होगा, व्युत्थित नहीं। काम आदि आत्मधर्म नहीं हैं, अतः वे परित्यागयोग्य हैं, यह कहते हैं—'मनोगतान्' से। ये मनके धर्म हैं, अतः त्यागयोग्य हैं। [यदि आत्मधर्म होते, तो त्यागके योग्य न होते।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—धर्मप्रहाण धर्मिप्रहाणव्याप्य है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। आत्मा धर्मी नित्य है। यदि इसके धर्म काम आदि होंगे, जैसा कि नैयायिकादि कहते हैं, तो आत्माको निवृत्ति तो होगी नहीं, अतः काम आदिकी भी आत्यन्तिक निवृत्ति न होगी। मनोधर्म माननेपर मन विनाशी है, अतः आत्यन्तिक सकारणनाश काम आदिका हो सकता है।] यदि वह्निगत औष्ण्यप्रकाशके समान काम आदि भी आत्मधर्म माने जायँ, तो जबतक वह्निकी स्थिति रहती है तबतक जैसे औष्ण्य आदिकी स्थिति रहती है, क्योंकि औष्ण्य आदि वह्निके स्वाभाविक धर्म हैं, एवं कामादि भी आत्माके स्वाभाविक धर्म होनेसे जबतक आत्माकी स्थिति रहेगी तबतक ये भी रहेंगे ही। आत्मा नित्य होनेसे कभी निवृत्त होता ही नहीं, अतः कामादिकी भी आत्यन्तिक निवृत्ति न होगी। ये मनके धर्म हैं, मनके परित्यागसे इनका परित्याग सुखकर है।

शङ्का—मुखप्रसादलिङ्गसे स्थितप्रज्ञका सन्तोषविशेष प्रतीत होता है। यद्यपि मनुष्य परमानसगत संतोषादिको चक्षुरादिसे नहीं जान सकता, क्योंकि वे सर्वथा दूसरेको ऐन्द्रियक नहीं है, तथापि अनुमान-द्वारा इनका ज्ञान दूसरेको भी होता है। जैसे मुखमालिन्यसे दुःखका अनुमान होता है, वैसे ही मुखप्रसादसे सन्तोषादिका अनुमानद्वारा ज्ञान होता है—'समाधिस्थः सन्तोषवान्, मुखप्रसादवत्त्वात्, यन्नेवं तन्नेवं यथा म्लानमुखः'। लेकिन आप इनमें सब कामोंका आत्यन्तिक अभाव कहते हैं, वह कैसे हो सकता है। संतोष भी तो मानस ही धर्म है, सो समाधिस्थमें है, वह मुखप्रसादलिङ्गकानुमानसे स्पष्ट ही है।

समाधान—वह परमानन्दस्वरूप आत्मामें सन्तुष्ट है, अनात्मा यानी मनमें नहीं। भाव यह है कि सन्तोष दो प्रकारका है—एक अनात्मविषयक यानि अनात्मनिष्ठ और दूसरा आत्मस्वरूप। प्रथम सन्तोष मानसवृत्तिस्वरूप है, वह स्थितप्रज्ञमें नहीं रहता। द्वितीय संतोष स्वप्रकाशचिद्रूपसे भासमान आत्मामें है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंके प्राप्त होनेपर जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो सुखोंमें स्पृहा नहीं करता और जो राग, भय एवं क्रोधसे शून्य रहता है वह मननशील संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५६ ॥

तथा च समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ एवंविधैर्लक्षणवाचिभिः शब्दैर्भाष्यत इति प्रथम-प्रश्नस्योत्तरम् ॥ ५५ ॥

इदानीं व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषणोपवेशनगमनानि मूढजनविलक्षणानि व्याख्येयानि । तत्र किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्—'दुःखेष्वनु०' इति ।

दुःखानि त्रिविधानि-शोक-मोह-ज्वर-शिरोरोगादिनिमित्तान्याध्यात्मिकानि, व्याघ्रसर्पादि-प्रयुक्तान्याधिभौतिकानि, अतिवातातिवृष्टयादिहेतुकान्याधिदैविकानि, तेषु दुःखेषु रजःपरिणाम-

---

वह भी आत्मस्वरूप ही है। इसीसे समाधिस्थ तुष्ट प्रतीत होता है। मनोधर्म संतोषसे नहीं, परमपुरुषार्थ-लाभसे परितुष्ट है। इस अर्थमें प्रमाण 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इत्यादि श्रुति है। निष्कर्ष यह हुआ कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ इस तरहके लक्षणवाचक इन शब्दोंसे कहा जाता है अर्थात् 'आत्मसंतुष्टः, आत्मारामः, आत्मक्रीडः, स्थितप्रज्ञः' इत्यादि शब्दोंसे कहा जाता है, यह प्रथम प्रश्नका उत्तर हुआ ॥ ५५ ॥

समाधिस्थ स्थितप्रज्ञके लक्षणकथनानन्तर अब व्युत्थित स्थितप्रज्ञके भाषणोपवेशनगमन मूर्खजनोंके भाषणोपवेशनगमनादिसे विलक्षण है, वह भी विशेषरूपसे कहना चाहिये, इस अपेक्षासे प्रथम 'किं प्रभाषेत' इसका उत्तर देते हैं—'दुःखेष्वनुद्विग्न०' इन दो श्लोकोंसे। दुःख तीन प्रकारके होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शोक-मोह-ज्वरशिरोराग आदिसे जायमान दुःख आध्यात्मिक हैं, व्याघ्र-सर्पादिसे जायमान दुःख आधिभौतिक हैं, इन दुखोंके निमित्त सर्पादि भूत हैं। भूतानि अधिकृत्य जात यानी भूतोंके निमित्तसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक हैं। अतिवायु—अन्धड़, तूफान; एवं अतिवृष्टि—बाढ़ आदिसे जायमान दुःख आधिदैविक हैं, देवतानिमित्त ये दुःख होते हैं, अतः आधिदैविक हैं। रजोगुणका जो सन्तापात्मक मनःपरिणाम—चित्तवृत्तिविशेष है, ये ही सब तीनों दुःख हैं। [ये दुःख पूर्वानुष्ठित प्रारब्ध पाप कर्मसे प्राप्त होते हैं। पाप कर्म यद्यपि पूर्वकाल में उत्पन्न हुआ, फिर भी उस समय स्वफल दुःख नहीं दे सका, कारण कि कृत पाप सद्यः फल देता है, यह नियम नहीं है। यदि प्रारब्ध फलप्रदानोन्मुख

सन्तापात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु प्रारब्धपापकर्मप्रापितेषु नोद्विग्नं-दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलम् न भवति मनो यस्य, सोऽनुद्विग्नमनाः। अविवेकिनो हि दुःखप्राप्तौ सत्याम् 'अहो पापोऽहं धिङ्मां दुरात्मानमेतादृशदुःखभागिनं, को मे दुःखमीदृशं निराकुर्यादित्यनुतापात्मको भ्रान्तिरूपस्तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः उद्वेगाख्यो जायते, यद्ययं पापानुष्ठानसमये स्यात्, तदा तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन सफलः स्यात्। भोगकाले तु भवन् कारणे सति कार्यस्योच्छेत्तुमशक्यत्वान्निष्प्रयोजने दुःखकारणे सत्यपि किमिति मम दुःखं जायत इति, अविवेकजभ्रमरूपत्वान्न विवेकिनः स्थितप्रज्ञस्य

कर्मान्तरसे प्रतिबद्ध होकर बीजरूपसे स्थित रहता है, तो कर्मान्तर अपना फल देकर जब निवृत्त हो जाते हैं तब उनका फल होता है। प्रारब्ध कर्मोंका भी क्रम परमेश्वरसे नियत है, अतः स्वपरिपाकावसरमें उपस्थित दुरदृष्टनिमित्तसे चित्तके सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुणका प्राधान्येन प्रादुर्भाव होता है। रजोगुणका प्रधानपरिणाम अप्रीत्यात्मक दुःख होता है, वह 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' सां. का. १२, इस कारिकामें प्रसिद्ध है। इन त्रिविध दुःखोंमें किसी दुःखके या त्रिविध दुःखके साथ मिलकर उपस्थित होनेपर यदि दुःखके परिहारमें उपायका अज्ञानसे या उपायाभावादिसे मनुष्य असमर्थ होता है, तो उसका चित्त व्याकुल हो जाता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसके परिचयके लिये अधिक व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है। कलियुगमें तो यह प्रत्यात्म वेदनीय है—हर एक मनुष्यको मालूम है, किन्तु] इन दुःखोंकी उपस्थितिमें भी यानी ऐसे दुस्समयमें भी इन दुःखोंके परिहारमें क्षम न होनेसे जिसका चित्त व्याकुल न हो वह 'अनुद्विग्नमनः' है। [नोद्विग्नं मनो यस्य, सोऽनुद्विग्नमनाः, यह विग्रह है। 'ओविजी भयचलनयोः' इस धातुसे उद्विग्न शब्द बना है। धात्वर्थ भय और चलन दोनों है। यहाँ भयका ग्रहण नहीं है। 'वीतरागभयक्रोधः' इस वाक्यमें भयका स्वतन्त्ररूपसे ग्रहण है, यहाँ भी भयका ग्रहण करनेसे पुनरुक्त दोष हो जायगा, अतः यहाँ चलनमात्र विवक्षित है अर्थात् दुःखोंसे जिसका चित्त स्वकर्तव्यसे विचलित न हो। अथवा अनुद्विग्नसे दुःखाभावकी विवक्षा है, जिसका चित्त दुःखी न हो वह अनुद्विग्नमना है।] दुःख उपस्थित होनेपर अविवेकी पुरुषको—प्रायः मैं बड़ा पापी हूँ, मुझको धिक्कार हैं, दुरात्मा दुःखभागी मुझे धिक्कार है, कौन हमारे ऐसे दुःखका निराकरण कर सकता है—इस प्रकार पश्चात्तापात्मक भ्रान्तिरूप तामस चित्तवृत्तिविशेष होता है। इसी वृत्तिविशेषका नाम उद्वेग है। यदि पापकर्मानुष्ठानके समय ऐसी वृत्ति हो, तो यह उद्वेग तादृश कर्मानुष्ठानमें प्रतिबन्धक होकर सफल हो। दुःखानुभवकालमें दुःखकारण पूर्वकृत दुरित रहनेपर उसका उच्छेद करना असम्भव है। दुःखका कारण दुरित है, परन्तु अविवेक न होनेसे वह दुरित निष्प्रयोजन है। विना अविवेकके केवल दुरित दुःखका कारण नहीं है, किन्तु अविवेक सहोत्थ दुरित दुःखदायक है। विवेकीमें निष्प्रयोजन दुरित होनेपर भी क्यों हमें दुःख होता है, यह अविवेकोत्पन्न भ्रम नहीं होता। प्रारब्ध कर्मसे दुःखमात्र प्राप्त होता है, किन्तु तदुत्तरकालिक क्यों मुझे दुःख होता है, यह भ्रम विवेकी स्थितप्रज्ञको नहीं होता।

संभवति । दुःखमात्रं हि प्रारब्धकर्मणा प्राप्यते, न तु तदुत्तरकालीनो भ्रमोऽपि । ननु दुःखान्तर-कारणत्वात्सोऽपि प्रारब्धकर्मान्तरेण प्राप्यतामिति चेत् । न । स्थितप्रज्ञस्य भ्रमोपादानाज्ञान-नाशेन भ्रमासंभतवात्, ज्जन्यदुःखप्रापकप्रारब्धाभावात् । यथाकथंचिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहक-प्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमाभावेऽपि बाधितानुवृत्त्योपपत्तेरिति, विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते । तथा सुखेषु सत्त्वपरिणामरूपप्रीत्यात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु त्रिविधेषु प्रारब्धपुण्यकर्मप्रापितेषु विगतस्पृहः-आगामितज्जातीयसुखस्पृहारहितः । स्पृहा हि नाम सुखानुभवकाले तज्जातीयसुखस्य

शङ्का—दुःखान्तरका कारण होनेसे वह भी प्रारब्ध कर्मान्तरसे प्राप्त हो।

समाधान—स्थितप्रज्ञमें भ्रमोपादानाज्ञानका नाश हो गया, अतः भ्रमोत्पत्तिका संभव ही नहीं है, कारण कि तादृश भ्रमजन्य दुःखप्रापक प्रारब्धाभाव है।

प्रश्न—यदि विवेकीको भ्रम नहीं है, तो शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा ? एतदर्थं शरीरेन्द्रियादिकोंमें मदीयत्व भ्रम, भोजनादिमें मदिष्टसाधनत्वादि भ्रम आवश्यक है।

उत्तर—देहयात्रामात्रनिर्वाहोपयोगी प्रारब्ध कर्मफलका निर्वाह भ्रम न होनेपर भी बाधितानुवृत्तिसे हो जाता है। जैसे रज्जुके दग्ध होनेपर भी उसमें ऐंठनकी अनुवृत्ति देख पड़ती है, वैसे ही विवेकीमें बाधित भ्रमकी अनुवृत्ति तादृश व्यवहारमात्रके लिये होती है। तदनुपयोगी कार्यमें वह भी नहीं होती। इसको विस्तारसे आगे चलकर कहेंगे। एवं सुखमें सत्त्वपरिमाणरूप प्रीत्यात्मक चित्तवृत्तिविशेषके विषयमें 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' सां-का-१३. इत्यादि कारिकासे यह निर्णय किया गया है कि सत्त्वका परिणाम लघु प्रकाशक इष्ट-सुखात्मक हैं। मनके सत्त्वका जिस कालमें प्रधान परिणाम होता है वह प्रीत्यात्मक—सुखात्मक है।

[शङ्का—वह प्रीति है, ऐसा न कहकर प्रीत्यात्मक है, ऐसा कहनेमें क्या भाव है।

समाधान—भाव यह है कि जो दुःख पदार्थ है, तदभाव ही सुख है। यह स्वयं भावस्वरूप पदार्थ नहीं है। भाव और अभावमें जैसे विरोध है वैसे ही सुखदुःखमें भी विरोध है। सुख पृथक् पदार्थ माना जायगा, तो उसका अभाव भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा, इससे सुखका दुःखाभावमें ही लाघवात् अन्तर्भाव मानना चाहिये। अतएव तमका तेजके अभावमें अन्तर्भाव मानकर नैयायिकोंने सात ही पदार्थ माना है।

आप सुखका दुःखाभावमें अन्तर्भाव करते हैं, तो दूसरा कोई यह भी कह सकता है कि सुख ही पदार्थ है और उसका अभाव दुःख है। इसमें कोई विनिगमक नहीं हैं कि यही पदार्थ है, यह तदभाव है, इसलिये दोनों भावात्मक स्वतन्त्र पदार्थ हैं। एतत् सूचनार्थं प्रीति न कहकर प्रीत्यात्मक कहा है।] आत्मभाव

कारणं धर्ममननुष्ठाय, वृथैव तदाकाङ्क्षारूपा तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव । सा चाविवेकिन एव जायते । न हि कारणाभावे कार्यं भवितुमर्हति । अतो यथा सति कारणे कार्यं मा भूदिति वृथाकाङ्क्षारूप उद्वेगो विवेकिनो न संभवति, तथैवासति कारणे कार्यं भूयादिति वृथाकाङ्क्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहाऽपि नोपपद्यते, प्रारब्धकर्मणः सुखमात्रप्रापकत्वात् । हर्षात्मिका वा चित्तवृत्तिः स्पृहाशब्देनोक्ता । साऽपि भ्रान्तिरेव—"अहो धन्योऽहं, यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितम्, को वा मया तुल्यस्त्रिभुवने, केन वोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येते" त्येवमात्मिकोत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्तिः । अत एवोक्तं भाष्ये—"नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने यः सुखान्यनुविवर्धते" 'स विगतस्पृहः' गी. भा. ११६ इति । वक्ष्यति च—"न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्" गी. ५-२० इति । साऽपि न विवेकिनः संभवति, भ्रान्तित्वात् । तथा वीतरागभयक्रोधः ।

स्वभाव तदात्मक चित्तवृत्तिविशेष है, यह भी दुःखवत् त्रिविध है और जो प्रारब्ध पुण्यकर्मविपाकसे प्राप्त होता है, उसमें जिसकी स्पृहा—इच्छा न हो वह विगतस्पृह है—भावितज्जातीयसुखेच्छारहित है । सुखानुभवकालमें तज्जातीयसुखकारण धर्म तो किया नहीं, फिर भी वृथा एतज्जातीय सुखानुभव बना रहे, ऐसी आकांक्षाका नाम स्पृहा है । यह तामसी चित्तवृत्ति भ्रांति ही है, ऐसी वृत्ति अविवेकीको ही होती है, [इसको यह निर्णय नहीं है कि यह मेरे कृत सुकृतोंका फल है । जबतक सुकृत क्षीण न होगा तबतक यह सुख रहेगा, चाहे उसकी प्रार्थना करे या न करे । फलभोगसे कर्मनाश होता है, यह नियम है । जब ऐसा सुखप्रद कर्मका नाश हो जायगा, तो यह सुख नहीं रहेगा, इसका कारण सुकृत है, स्पृहा नहीं, यह ज्ञान विवेकीको रहता है, अविवेकोको नहीं, इसलिये विववेकीमें स्पृहा नहीं होती । अविवेकीमें स्पृहा होतो है ।] यह तो निश्चित है कि कारण न रहनेपर कार्य नहीं होता, तत्सुख प्रापक सुकृत न रहनेपर तत्कार्य सुखानुभव न होगा, इससे यह सिद्ध हुआ कि दुःखकारण दुरित रहनेपर दुःख न हो, यह वृथा इच्छा—उद्वेग अविवेको ही होती है, विवेकीको नहीं । एवं सुखकारण सुकृत न रहनेपर भी सुखानुभव बना ही रहे, यह भी वृथा इच्छा (स्पृहा) अविवेकीको ही होती है, विवेकीको नहीं । प्रारब्ध कर्म सुखमात्रका प्रापक है । हर्षात्मक जो चित्तवृत्ति है वही स्पृहा है, यह भी भ्रान्ति ही है । अहो, धन्य मैं हूं, जिसको ऐसा सुख उपस्थित है, मेरे समान संसारमें कौन दूसरा है ? किस उपायसे मेरा ऐसा उत्तम सुख विच्छिन्न न हो, इस प्रकार [ईदृशात्मक] मनोविकाररूप तामसी चित्तवृत्ति होती है, अतएव भाष्यमें कहा है—"नाग्निरिवेन्धना०" इत्यादि । (जैसे इन्धनके अर्पणसे अग्नि बढ़ती है, शान्त नहीं होती, वैसे ही सुखोंको जो न बढ़ावे, किन्तु स्पृहाशून्य हो, वह विगतस्पृह है । [यह वैधर्म्य दृष्टान्त है, तृष्णासे अज्ञका प्राप्त सुख बढ़ता है, विद्वानका प्राप्त सुख तृष्णामात्रसे नहीं बढ़ता] आगे भी गीतामें कहेंगे—'न प्रहृष्येत्' इत्यादि ।

रागः-शोभनाध्यासनिबन्धनो विषयेषु रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः । रागविषयस्य नाशके समुपस्थिते तन्निवारणासामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य दैन्यात्मकश्चित्तवृत्ति-विशेषः-भयम् । एवं रागविषयविनाशके समुपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य-अभिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः-क्रोधः । ते सर्वे विपर्ययरूपत्वाद्विगता यस्मात्, स तथा । एतादृशो मुनिर्मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञ उच्यते । एवंलक्षणः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिवाचः प्रभाषत इत्यन्वय उक्तः । एवं चान्योऽपि मुमुक्षुर्दुःखे नोद्विजेत्, सुखे न प्रहृष्येत्, रागभयक्रोधरहितश्च भवेदित्यभिप्रायः ।। ५६ ।।

यह स्पृहा विवेकीको नहीं होती, क्योंकि स्पृहा भ्रमरूप है। तथा वीतरागभयक्रोधः यानी राग, भय और क्रोधसे शून्य।

प्रश्न—राग* क्या है ?

उत्तर—'रञ्ज रागे' इस धातुसे राग बना है। विषयमें शोभनाध्यास कर तन्निमित्तक विषयमें रञ्जनात्मक चित्तवृत्तिविशेष—अत्यन्त अभिनिवेश राग है। [भाव यह है कि वस्तुतः विषय बन्धनस्वभाव होनेमें अशोभन हैं, किन्तु उनमें शोभनका अध्यास कर उनमें सुखात्मक साभिनिवेश चित्तवृत्ति राग है, जो सबको विदित है।] रागविषय वस्तुका नाशक यदि कोई उपस्थित होता है और उसके परिहार करनेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं होता तब जो दैन्यात्मक चित्तवृत्तिविशेष पुरुषमें होती है, वही भय है। इसी तरह रागविषय-नाशकके उपस्थित होनेपर तन्निवारणसामर्थ्य अपनेमें मानते हुये कि मनुष्यकी चित्ताभिज्वलनात्मक चित्तवृत्ति विशेष क्रोध होता है। ये सब विपर्ययरूप हैं। ये जिनसे निवृत्त हों, वह वीतरागभयक्रोध है अर्थात् राग, भय और क्रोध—एतज्जनकसामग्री उपस्थित होनेपर भी जिसके चित्तमें राग, भय और क्रोध न हो वह मननशील मुनि है। [महाकवि कालिदासजीने सदाशिवके वर्णनमें स्पष्ट ही कहा है—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः"। विकार—राग, भय आदिके कारण उपस्थित होनेपर भी वे जिसके चित्तमें उत्पन्न न हों, वे ही धीर—तत्त्वज्ञानी हैं] एवंभूत संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। एवं लक्षणलक्षित स्थितधीः अपने अनुभवके प्रकाशद्वारा [प्रकाशका प्रयोजन ख्यातिलाभ, लोभ, प्रतिष्ठा आदि नहीं है, किन्तु शिष्यशिक्षा है,] शिष्यशिक्षाके लिये—शिष्य भी ऐसा ही आचरण करें, इस शिक्षाके लिये अनुद्वेग, निःस्पृहत्व आदि गुणविशिष्ट वाणी बोलता है, यह अन्वय, कह चुके हैं, इस तरह अन्य भी मुमुक्षु दुःख उपस्थित होनेपर दुःखी न हो, और सुख होनेपर सुखी न हो, रागभयक्रोधसे रहित रहे, यह अभिप्राय है ।। ५६ ।।

---

* 'सुखानुशया रागः' यह योगसूत्र है।

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो मुनि सब देहोंमें यानी जीवन आदिमें भी स्नेह रहित रहता है तथा तत् तत् प्रारब्धकर्मसे प्राप्त शुभ निषयको पाकर उसकी प्रशंसा नहीं करता एवं दुःखके हेतु अशुभ विषय पाकर उससे द्वेष नहीं करता, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—फलपर्यंवसायिनी है ॥ ५७ ॥

किं च—'य: सर्वत्र' इति।

सर्वत्र-सर्वेषु देहजीवनादिषु यो मुनिरनभिस्नेहः, यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते, स ताहशोऽन्यविषय: प्रेमापरपर्यायस्तामसो वृत्तिविशेषः स्नेहः। सर्वप्रकारेण तद्रहितः-अनभिस्नेहः। भगवति परमात्मनि तु सर्वथाऽभिस्नेहवान्भवेदेव। अनात्मस्नेहाभावस्य तदर्थत्वादिति द्रष्टव्यम्। तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिप्रापितं शुभं-सुखहेतुं विषयं प्राप्य नाभिनन्दति-हर्षविशेषपुरःसरं न प्रशंसति। अशुभं-दुःखहेतुं विषयं प्राप्य न द्वेष्टि-अन्तरसूयापूर्वकं न निन्दति।

किञ्च 'य: सर्वत्र' इत्यादि और सुनो। जो सब प्रिय विषयोंमें स्नेहरहित रहता है। [अप्रियमें स्नेह किसीका नहीं होता, अतः यहां सर्वत्र प्रिय वस्तुपरक है।] यहां तककी अपना शरीरादिमें तथा स्वजीवनादिमें भी जो मुनि स्नेहरहित रहता है। जिसके रहनेपर दूसरेकी हानि-वृद्धि, दुःखसुख साधन अपनेमें आरोपित होता है वैसा अन्यविषय प्रेमापरपर्याय तामस वृत्तिविशेष स्नेह है। जिसको पुत्र, दारादिमें अधिक स्नेह रहता है वह पुत्रदारादिगत हानिवृद्धि तत्प्रयुक्त सुखदुःखादि अपनेमें आरोपकर अपनेको हानिवृद्धिमान् मानकर तत्प्रयुक्त सुखादिमान् भी अपनेको मानता है। इसका मुख्य कारण स्नेह ही है। रज और तम एतदुभयात्मक मनका परिणामविशेष है। जिसमें स्नेह नहीं है उसकी हानि और लाभ देखकर लोग इस बुद्धिसे उदासीन होते हैं कि यह मेरी हानि और वृद्धि नहीं हैं। सर्व प्रकारसे उक्त स्नेहरहित जो है वह अनभिस्नेह है। भगवान् परमात्मामें तो सर्व प्रकारसे स्नेहवान् होता ही है। अनात्माओंमें स्नेहका अभाव परमात्माके स्नेहार्थं है। [जो अनात्मा-परमात्मासे अतिरिक्त सांसारिक पदार्थोंमें स्नेह करता है उसका स्नेह परमात्मामें नहीं होता, यह प्रसिद्ध है। जैसे जलप्रवाह निम्न भूमिमें ही होता है, ऊर्ध्वस्थलमें प्रवाहकी कामना किसीको हो, तो निम्नस्थलप्रवाहोन्मुख जलको निम्नस्थलसे रोककर जैसे ऊपरको चढ़ाया जाता है। एवं विषयोंसे स्नेह हटाकर परमात्मामें चढ़ाया जाता है, अन्यथा नहीं। अतः मुमुक्षुको सर्वत्र अनभिस्नेह रहना युक्त ही है।] तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिपाकपरिप्राप्तशुभसुखहेतु विषयको प्राप्तकर अभिनन्दन नहीं करता। हर्षसहित प्रशंसा अभिनन्दन है। हर्ष सविशेषके साथ प्रशंसा नहीं करता—खुशीसे बड़ाई नहीं करता। एवम्-अशुभ—दुःखहेतु विषयको प्राप्त कर उससे द्वेष भी नहीं करता, दोषारोप-

अज्ञस्य हि सुखहेतुर्यः स्वकलत्रादिः, स शुभो विषयः, तद्गुणकथनादिप्रवर्तिका धीवृत्तिर्भ्रान्तिरूपाऽभिनन्दः । स च तामसः, तद्गुणकथनादेः परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । एवमसूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्याप्रकर्षादिरेनं प्रत्यशुभो विषयः, तन्निन्दादिप्रवर्तिका भ्रान्तिरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः । सोऽपि तामसः, तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । तावभिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ तामसौ कथमभ्रान्ते शुद्धसत्त्वे स्थितप्रज्ञे संभवेताम् ? तस्माद्विचालकाभावात्तस्य-अनभिस्नेहस्य-हर्षविषादरहितस्य मुनेः प्रज्ञा परमात्मतत्त्वविषया प्रतिष्ठिता-फलपर्यवसायिनी,

---

पूर्वक निन्दा भी नहीं करता । मूढ़ पुरुषको सुखहेतु जो कलत्र आदि है, सो शुभ विषय है, तद्गुणकथन-प्रवर्तक धीवृत्ति—चित्तवृत्ति भ्रान्तिरूप अभिनन्दन तामस है, तद्गुणकथनादि परप्ररोचनार्थ होनेसे व्यर्थ है । ['प्ररोचयति अनेन' इति प्ररोचना, इस व्युत्पत्तिसे प्ररोचना वाक्य स्तुतिविषय प्रवृत्तिका प्रयोजक होती है । जैसे गौकी यह स्तुति की जाती है—कि 'यह बहुत सीधी है, अधिक दुग्ध देनेवाली है, साल सालभर पर प्रसव करनेवाली है, जीवद्वत्सा है और कम खानेवाली है ।' इस गुण कथनका प्रयोजन यही है कि जिसकी गौ लेनेकी इच्छा कम है वह पुरुष भी यह समझता है कि, ऐसी गौ भाग्यसे ही मिलती है, खोजनेसे नहीं मिलेगी, आखिर दो चार महीनेके बाद लेना है, तो फिर इसी समय क्यों न ले लें, समयपर ऐसी नहीं मिलेगी, अतः वह पुरुष गाय खरीदनेमें प्रवृत्त हो जाता है । इसलिये प्ररोचना प्रवृत्तिप्रयोजक होती है । प्रकृतमें भार्यादिगुणकी स्तुति वैसी नहीं है । स्तावककी यह इच्छा नहीं है कि मेरी भार्याको कोई ग्रहण करे । अगर कोई ग्रहण करना चाहे, तो वह द्वेष्य ही होता है । अतः एसी स्तुतियाँ व्यर्थ हैं ।] एवं असूया यानी परगुणमें दोषोत्पादनद्वारा दुःखहेतु परकीयविद्याप्रकर्षादि इसके प्रति अशुभ विषय है, तन्निन्दादिप्रवर्तक भ्रान्तिरूप धीवृत्ति द्वेष है, वह भी तामस है, क्योंकि असूयाकृत निन्दासे किसीकी निवृत्ति नहीं हो सकती । [किसीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह दूसरेके गुणोत्कर्षश्रवणसे दुःखी होकर उसकी दोषारोपपुरःसर निन्दा करता है, यह तो प्रसिद्ध है और इसकी अनुवाद भी व्यर्थ है । इसको विशेषरूपसे स्फुट करना भी पाप है, अतः छोड़ दिया, ऐसा करनेसे निन्दकके मनमें कुछ सन्तोष हो जाता है । परन्तु निन्दा करनेवालेकी—यह असूया स्वभाव है यानी दूसरोंके प्रति डाह करना इसका स्वभाव है, यह समझकर उसकी ही लोग उपेक्षा करते हैं । जिसमें लोग प्रवृत्त न हो, इस इच्छासे निन्दा को, परन्तु उसमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है । वस्तुतः असूयात्वदाशयकृत निन्दा स्वनिन्दामें ही परिणत होती है ।] ये दोनों अभिनन्दन और द्वेष तामस होनेसे अभ्रान्त—भ्रमरहित शुद्धाशय स्थितप्रज्ञमें कैसे हो सकते हैं ? पूर्वोक्त कारणोंसे चित्तविक्षेपकाभावसे सर्वत्र अनभिस्नेह अतएव हर्ष और विषादसे रहित मननशीलकी प्रज्ञा—परमात्मतत्त्व-विषया प्रज्ञा—बुद्धि प्रतिष्ठित होती है अर्थात् मोक्षफलप्रद होती है । वही प्रज्ञावान् पुरुष स्थितप्रज्ञ है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५८ ।।

जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समय-समयपर समेट लेता है वैसे ही जब यदि अपनी सब इन्द्रियोंको शब्दादि इन्द्रियार्थोंसे अच्छी तरह समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा सिद्ध होती है ।। ५८ ।।

स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एवमन्योऽपि मुमुक्षुः सर्वत्रानभिस्नेहो भवेत् । शुभं प्राप्य न प्रशंसेत्, अशुभं प्राप्य न निन्देदित्यभिप्रायः । अत्र च निन्दाप्रशंसादिरूपा वाचो न प्रभाषेतेति व्यतिरेकः उक्तः ।। ५७ ।।

इदानीं किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते भगवान्षड्भिः श्लोकैः । तत्र प्रारब्धकर्मवशाद् व्युत्थानेन विक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमिति दर्शयितुमाह—'यदा संहरते' इति ।

एवं अन्य भी सुमुक्षु सर्वत्र अनभिस्नेह हो। शुभ हर्षके हेतुकी प्राप्तिपर हर्ष न करे, अशुभके हेतुकी प्राप्तिमें निन्दा न करे, यह अभिप्राय है । [वस्तुतः स्थितप्रज्ञके स्वभावका निरूपण स्थितप्रज्ञके कामका नहीं है, संसारीको भी केवल श्रवणकौतुकके अतिरिक्त फलान्तर नहीं है, फिर यह निरूपण व्यर्थ है । शास्त्र तो वही कहता है, जिसके सुननेपर इष्टसाधन कर्ममें प्रवृत्त होकर इष्ट सिद्ध करे अथवा अनिष्ट साधन कर्मोंसे निवृत्त होकर अनर्थका परिहार करे, अन्यथा 'सात खण्ड नौ द्वीपकी पृथिवी है' इत्यादि वाक्यवत् यह भी व्यर्थ है, इस शंकाके परिहारार्थ इसका प्रयोजन कहते हैं कि अन्य मुमुक्षु भी ऐसा ही आचरण करें, अन्यथा फलप्राप्तिसे वञ्चित रह जायंगे, इसलिये यह उपदेश मुमुक्षुओंके बड़े कामका है ।] निन्दा-प्रशंसादि वाक्य न बोले, यह यहाँ व्यतिरेक फलित होता है ।। ५७ ।।

अब छः श्लोकोंसे 'किमासीत' इस प्रश्नका उत्तर कहनेका भगवान् आरम्भ करते हैं—उनमें समाधिसे विरत होनेपर प्रारब्धकर्मवश स्वविषयोंमें प्रवृत्त इन्द्रियोंका फिर उपसंहार कर - स्वस्वविषयोंसे निवृत्तकर समाधिके लिये 'स्थितप्रज्ञ' को बैठना चाहिये, यह दिखलानेके लिये कहते हैं—'यदा संहरते' इत्यादि । मैं समाधिसे व्युत्थित हूँ, यह समझकर समाधिसे उठा हुआ यह योगी सब इन्द्रियार्थोंसे—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि ग्राह्यविषयोंमें सब इन्द्रियोंको जब लौटा लेता है यानी पुनः संकोचित करता है । यहाँ पर 'च' 'पुनः' के अर्थमें है । संकोचमें दृष्टान्त कहते हैं—'कूर्म' इत्यादिसे । जैसे कूर्म—कछुआ अपने सिर और पैरको कभी खोपड़ीसे बाहर करता है, कभी उसीमें उनको संकोचित कर लेता है । संकोचितावस्थामें

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंसे विषयोंका आहरण न कर रहे देहाभिमानी मूढके भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा छोड़कर यानी अज्ञानींके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन राग नहीं निवृत्त होता। परन्तु स्थितप्रज्ञका तो परब्रह्मको जानकर राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

अयं व्युत्थितः सर्वशः - सर्वाणीन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः-शब्दादिभ्यः सर्वेभ्यः । चः पुनरर्थे । यदा संहरते-पुनरुपसंहरति - सङ्कोचयति । तत्र दृष्टान्तः-कूर्मोऽङ्गानीव । तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति स्पष्टम् । पूर्वश्लोकाभ्यां व्युत्थानदशायामपि सकलतामसवृत्त्यभाव उक्तः । अधुना तु पुनः समाध्यवस्थायां सकलवृत्त्यभाव इति विशेषः ॥ ५८ ॥

ननु मूढस्यापि रोगादिवशाद्विषयेभ्य इन्द्रियाणामुपसंहरणं भवति, तत्कथं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तमत आह—'विषया विनिवर्तन्ते' इति ।

पैर तथा गर्दन आदि अपना व्यापार नहीं करते, किन्तु सर्वतः संकुचितवृत्ति ही रहते हैं, ऐसा ही मुमुक्षु व्युत्थानसे अपने इन्द्रियादिको विषयप्रवाहोन्मुखसे हटाकर फिर समाधिसिद्ध्यनुकूल कर लेता है, तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' यह स्पष्ट है, इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्व दोनों श्लोकोंसे व्युत्थानदशामें भी तामस वृत्तिका अभाव कहा है, इस समय समाधिदशामें सकल वृत्त्यभाव कहा, दोनोंमें यह विशेष है। [समाधिसे विरत होनेपर यद्यपि प्रवृत्तिस्वभाव प्राचीन वासनावश पुनः शब्दादिविषयग्रहणार्थं प्रवृत्त होती हैं, उस अवस्थामें यदि योगी असावधान हो जाय, तो पुनः तामस वृत्तियां होंगी, जो समाधिके सर्वथा प्रतिकूल हैं, इसलिये समयसे फिर उसके उपसंहारका यत्न करे। सात्त्विक स्वल्प वृत्तियां विशेष हानिप्रद नहीं हैं, इसलिये उनका प्रादुर्भाव होनेपर उतनी हानि नहीं है, फिर भी सकलवृत्त्यभावके लिये समाधिमें ही योगीको विशेष यत्न करना चाहिये, शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है] ॥ ५८ ॥

रोगवश मूढजनोंकी इन्द्रियाँ भी स्वविषयसे उपरत होती हैं, परन्तु वे प्रतिष्ठितप्रज्ञ नहीं होते, अतः स्वस्वविषयोंसे इन्द्रियप्रत्याहारमात्रसे कोई भी प्रतिष्ठितप्रज्ञ नहीं होता, फिर उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, यह कैसे कहा ?

[रोगादिवश निराहार देही इन्द्रियोंसे विषयका असामर्थ्यसे ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये इन्द्रियां नहीं प्रवृत्त होतीं, यह ठीक है। एवं कष्टसे तपश्चरणमें प्रवर्तमान काष्ठतपस्वीकी—ज्ञानसाधनानुष्ठानके विना केवल कायक्लेश करनेमें ही जिनकी प्रवृत्ति है, इनकी—भी इन्द्रियां विषयासेवनसे दुर्बल होती है,

निराहारस्येन्द्रियैर्विषयाननाहरतो देहिनः- देहाभिमानवतो मूढस्यापि रोगिणः काष्ठतपस्विनो वा विषयाः-शब्दादयो विनिवर्तन्ते, किन्तु रसवर्जं रसः-तृष्णा। तं वर्जयित्वा। अज्ञस्य विषया निवर्तन्ते। तद्विषयो रागस्तु न निवर्तत इत्यर्थः। अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं पुरुषार्थं दृष्ट्वा-तदेवाहमस्मीति साक्षात्कृत्य स्थितस्य रसोऽपि क्षुद्रसुखरागोऽपि निवर्तते। अपिशब्दाद्विषयाश्च। तथा च "यावानर्थः" इत्यादौ व्याख्यातम्। एवं च सरागविषयनिवृत्तिः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति, न मूढे व्यभिचार इत्यर्थः। यस्मान्नासति परमात्मसम्यग्दर्शने सरागविषयोच्छेदः, तस्मात्सरागविषयोच्छेदिकायाः सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं महता यत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥

अतएव विषयग्रहणोन्मुख नहीं होती। काष्ठतपस्वीका अभिप्राय भी यही है। काष्ठवज्जड़ जो केवल कायक्लेश ही से परम पुरुषार्थप्राप्तिकी आशा करते हैं, वे भी स्थितप्रज्ञ हो जायंगे।]

इसका परिहार करते हैं—'विषया' इत्यादिसे। निराहारस्य—आहार—पानी, भोजनादि, उससे रहित अर्थात् जो इन्द्रियोंसे विषयग्रहण नहीं करता, उस देहिनः—देहाभिमानी मूढ पुरुषके भी या रोगी या काष्ठतपस्वीके भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उसकी तृष्णा-विषयग्रहणकी इच्छा निवृत्त नहीं होती है। [विषयोंके सन्निधानदशामें असामर्थ्यसे इन्द्रियाँ न प्रवृत्त हों, परन्तु इनके ग्रहणकी इच्छा मनमें बनी रहती है।] अज्ञके—विषय निवृत्त होते हैं, किन्तु तद्विषयक राग निवृत्त नहीं होता, यह अर्थ है। परन्तु इस स्थितप्रज्ञका परम पुरुषार्थको देखकर 'वही हम हैं' यह साक्षात्कार कर जो स्थित है उसकी विषयानुभवजन्य क्षुद्र सुखकी तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है। 'अपि' शब्दसे विषय भी निवृत्त होते हैं, यह 'यावानर्थ-उदपाने गी. २४६' इत्यादिमें व्याख्यात है। निष्कर्ष यह है कि रागके साथ विषयकी निवृत्ति स्थितिप्रज्ञका लक्षण है, अतः मूढजनमें विषयनिवृत्ति होनेपर भी राग है, इसलिये व्यभिचार नहीं है, यह अर्थ है। [केवल विषयनिवृत्ति लक्षण नहीं, वस्तुतः रागनिवृत्ति लक्षण है। नीरागमें विषयविवृत्ति अर्थतः सिद्ध है, परन्तु गीतामें 'विषया विनिवर्तन्ते' यह लिखा है। तदनुरोधसे दोनोंकी निवृत्ति कही गई है। मन्दजनानुग्रहार्थ विषयनिवृत्तिका समावेश किया गया है। रागवत्तन्निवृत्ति भी परकीयान्तःकरण धर्म होनेसे स्वतः दुर्ज्ञेय है। विषयनिवृत्ति द्वारा रागनिवृत्ति ज्ञेय है, इसलिये तदुक्ति है, यह गीतावाक्यका अभिप्राय है।] परमात्मतत्त्व-ज्ञानके विना सराग विषयोच्छेद नहीं होता, अतः सरागविषयोच्छेदक सम्यग् ज्ञानरूप प्रज्ञाके स्थैर्यका बड़े प्रयत्नसे संपादन करे, यह अभिप्राय है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय, मोक्षके विषयमें विवेकी पुरुषके बार-बार विषयदोषदर्शनात्मक यत्न करते रहनेपर भी चञ्चल कर देनेवाली इन्द्रियाँ उसके चित्तको बलात्कार खींच लेती हैं ॥ ६० ॥

तत्र प्रज्ञास्थैर्ये बाह्येन्द्रियनिग्रहः, मनोनिग्रहश्चासाधारणं कारणम्, तदुभायाभावे प्रज्ञानाशदर्शनादिति वक्तुम्, बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावे प्रथमं दोषमाह—'यततो' इति ।

हे कौन्तेय यततः-भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि, चक्षिङो ङित्त्वकरणादनुदात्तेतोऽनावश्यकमात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । विपश्चितःअत्यन्त-विवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमात्रं निर्विकारं कृतमपीन्द्रियाणि हरन्ति-विकारं प्रापयन्ति ।

इस प्रज्ञास्थैर्यमें बाह्येन्द्रियोंका तथा मनका निग्रह मुख्य कारण है । इनके विना उक्त स्थैर्य नहीं हो सकता । यदि ये दो न हों, तो प्रज्ञाका नाश ही देखा गया है, यह कहनेके लिये बाह्येन्द्रियोंके निग्रहाभावमें पहिला दोष कहते हैं—'यततो' इत्यादिसे । हे कौन्तेय—हे अर्जुन, विषयोंमें क्षयित्वादिदोषदर्शनात्मक प्रयत्न बार-बार करनेपर भी तादृशयत्नशील विद्वान् पुरुषके मनको इन्द्रियाँ हरती हैं, इसके साथ 'यततः' का सम्बन्ध है ।

प्रश्न—'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदी धातु है । इसका 'यतमानस्य' यह प्रयोग साधु है । 'यततः' यह प्रयोग साधु नहीं है ।

उत्तर—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १-३-१२ इस सूत्रसे अनुदात्तेत् जो धातु और ङित् जो धातु हैं, उनसे आत्मनेपद होता है । एध वृद्धौ, एधते; शीङ् स्वप्ने, शेते; यह उदाहरण है ।

'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' यहाँ इकार आत्मनेपदके लिये है, सो चक्षिङ्के इकारको अनुदात्त मानकर इत्संज्ञा होती ही है, अतः अनुदात्तेत् मानकर चष्टेमें आत्मनेपद सिद्ध ही है, फिर ङकारग्रहण क्यों किया ?

ङकारग्रहण यह बोधन कराता है कि अनुदात्तलक्षण आत्मनेपद अनित्य है, इस ज्ञापनके बाद यदि ङ न रहेगा, तो चक्षिधातुसे भी कदाचित् परस्मैपद हो जायगा, इसलिये ङकार स्वांशसे चरितार्थ हुआ और यह सिद्ध हुआ कि ङकारानुबन्धक धातुसे नित्य ही आत्मनेपद होता है, परस्मैपद नहीं, अन्य अनुदात्तेत् धातुओंसे कदाचित् परस्मैपद भी होता है, इससे 'यती धातु' से परस्मैपद भी साधु है । अतः 'यततः' यह असाधु नहीं है (यह समाधान ऋषियोंके लिये ही है, सर्वसाधारणके लिये नहीं) ।

ननु विरोधिनि विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिः । तत्राऽऽह—प्रमाथीनि—प्रमथनशीलानि अति-बलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि । अतः प्रसभं-प्रसह्य बलात्कारेण पश्यत्येव । विपश्चिति स्वामिनि, विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथित्वादेवन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनस्ततः प्रच्याव्य, स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति । प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके

[प्रश्न—अस्तु भगवान् स्वतन्त्र हैं, फिर उनको अनुशासनके शासनकी क्या अपेक्षा ?

उत्तर—यद्यपि भगवान् स्वतन्त्र हैं, तथापि लोकशिक्षानुरोधसे वे भी व्यवहारदशामें अपने अनुशासनका पालन करते हैं । अन्यथा 'यद् यद् आचरति श्रेष्ठः' गी. ३-२१ इस न्यायसे अन्य लोग भी उपेक्षा करेंगे, तो मेरा ही अनुशासन भङ्ग हो जायगा । 'श्रुतिस्मृती ममैवज्ञे' इस वक्ष्यमाण वचनसे साङ्ग वेद और स्मृति भगवदाज्ञा है, यह माना जाता है, इसलिये शिष्टोंके प्रयोगमें अनुदात्तेत् धातुओंसे परस्मैपदका प्रयोग आ जाय, तो असाधु नहीं है, यह अर्थ 'चक्षिङ् धातुके' ङकारसे ज्ञापित कर उक्त अनुशासन पूर्ण रक्षा की गई है ।]

विपश्चित् यानी अत्यन्तविवेकी पुरुषके मनको, जो कृतनिर्विकार है, क्षणमात्रमें इन्द्रियाँ विकृत कर देती हैं ।

शङ्का—मनोविकारका विरोधी विवेकज्ञान है । विवेकज्ञान रहनेपर विकार कैसे प्राप्त होगा ? महाकवि कालिदासने भी कहा है—'सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा' । आकाशमें सूर्य तपते हैं, तो लोकदृष्टिके आवरणार्थ तमिस्रा—अँधेरी रात कैसे आ सकती है ? अन्धकार और प्रकाशका परस्पर विरोध है—एक कालमें एकाधिकरणवृत्तित्व ही विरोध है, कालभेदसे दोनों एक आश्रयमें रहते ही हैं ।

समाधान—प्रमथ्नाति एवं शीलं येषां तानि प्रमाथीनि—प्रपूर्वक 'मथेर्हिंसायाम्' से ताच्छील्य अर्थमें णिनि प्रत्यय हुआ है, इस तात्पर्यसे 'प्रमथनशील' कहा । प्रकृतमें हिंसाविषयोंमें मनका समावेश है । विवेकसे बलवान् इन्द्रियाँ जबर्दस्ती मनको विषयग्रहणोन्मुख करती हैं । इन्द्रियोंमें बल राग ही है, अतएव मनु भगवान्ने कहा है कि—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति' राग निवृत्त होनेपर इन्द्रियाँ दुर्बल होती हैं, अन्यथा नहीं । अतः विवेकके उपमर्दन—पछाड़नेमें समर्थ इन्द्रियाँ विवेकको दबाकर बलात्कार विषयोंको देखती ही हैं । विद्वान् स्वामी है, रक्षक विवेक भी है, तो भी सबको दबानेवाली इन्द्रियाँ विवेकप्रज्ञामें प्रविष्ट मनको विवेकप्रज्ञासे हटाकर विषयग्रहणोन्मुख करती हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है । अर्थात् यह समाचार लोकमें प्रसिद्ध है । जैसे चोर, डाकू प्रमाथी होते हैं; ये सब धनी तथा धनके रक्षकको पहिले दबाकर—जोतकर इन लोगोंके देखते-देखते धन लूट लेते हैं, क्योंकि स्वामी और

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सब इन्द्रियोंका संयम कर और योगयुक्त होकर जो केवल मेरा भक्त होता है, अर्थात् मुझमें अपना मन लगा देता है, तथा जिस पुरुषके वशमें इन्द्रियाँ हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—वही स्थित-प्रज्ञ है ॥ ६१ ॥

यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनम्, धनरक्षकं चाभिभूय, तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति, तथेन्द्रियाण्यपि विषयसंनिधाने मनो हरन्तीति ॥ ६० ॥

एवं तर्हि तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह—तानि सर्वाणि' इति ।

तानीन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मसाधनभूतानि संयम्य-वशीकृत्य युक्तः-समाहितः निगृहीत मनाः सन्नासीत-निर्व्यापारस्तिष्ठेत् । प्रमाथिनां कथं स्ववशीकरणमिति चेत् ? अतत्राऽऽह—'मत्परः' इति । अहं-सर्वात्मा वासुदेव एव पर उत्कृष्ट उपादेयो यस्य, स मत्पर एकान्त-

---

रक्षकसे डाकू अधिक संख्यामें रहनेसे बलवान् होते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी अधिक है । विषयसन्निधानदशामें आत्मा—स्वामी एवं रक्षक—विवेकको दबाकर मनको जबर्दस्ती विषयोंकी ओर खींच ले जाती है—विषयोंमें प्रविष्ट कराती हैं, [इसलिये राग निवृत्त करना आवश्यक है ।

शङ्का—इन्द्रियोंपर विजय आत्मदर्शनसे होगा, आत्मदर्शन इन्द्रियजयसे होगा, इस प्रकार अन्योन्या-श्रय दोषदुष्ट ज्ञाननिष्ठा दुष्प्राप्य ही है ।

समाधान—इसका समाधान अगले श्लोकसे स्पष्ट है] ॥ ६० ॥

प्रश्न—यदि विवेकसे इन्द्रियाँ प्रबल हैं, तो फिर प्रज्ञाप्रतिष्ठाका उपाय क्या है ?

उत्तर—'तानि' इति । उपाय तो यह है कि ज्ञान और कर्मका साधनभूत इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनके विना न तो ज्ञान हो सकता है और न कर्मानुष्ठान ही । अतः एतदुभयसाधनभूत इन्द्रियोंको अच्छी तरह आत्माके वशमें कर समाहितचित्त—एकाग्रचित्त होकर यानी मनको रोककर सकल व्यापार यानी कायिक-वाचिक-मानसिक सकल व्यापारसे विरत होकर चुपचाप बैठे ।

प्रश्न—प्रमाथी (डाकू-बलवान्) इन्द्रियोंको अपने वशमें कैसे करें ?

उत्तर—'मत्परः' इति । मत्पर होकर इनको वशमें ला सकते हो । अहं वासुदेवः सर्वान् वासयति, स च देवः वासुदेवः । मैं सर्वान्तर्यामी बासुदेव ही पर यानी उत्कृष्ट उपादेय—ग्राह्य है, ईदृश बुद्धि जिसको हो, वह मत्पर है । परमात्मव्यतिरिक्तमें उपादेय बुद्धि न हो, किन्तु हेयबुद्धि हो । एकान्त मद्भक्त नियमसे

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

शब्दादि विषयोंका मनसे बार-बार चिन्तनकर रहे पुरुषको उन विषयोंमें आसक्ति होती हैं, आसक्ति होनेपर उनको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा होती हे और इच्छाकी किसी प्रकार पूर्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोध होनेपर संमोह—कार्याकार्य विवेकका अभाव हो जाता है, संमोह होनेसे शास्त्राचार्योंके उपदिष्ट अर्थों (वचनों) के स्मरणमें भ्रम हो जाता है तथा स्मृति विभ्रम होनेपर बुद्धिका नाश होता हैं और बुद्धिनाश होनेसे प्राणी नष्ट (मृततुल्य) हो जाता है ॥ ६३ ॥

मद्भक्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्" इति । यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते, राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च ते स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति, तथैव भगवन्तं सर्वान्तिर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि । पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा, तानि तद्वश्यान्येव भवन्तीति भावः । यथा च भगवद्भक्तेर्महाप्रभावत्वम्, तथा विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यामः । इन्द्रियवशीकारे फलमाह—'वशे हि' इति । स्पष्टम् । तदेतद्वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति 'किमासिते'ति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६१ ॥

मद्भक्त होकर, यह तात्पर्य है। ऐसा ही कहा गया है कि—'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' वासुदेवभक्तोंको अशुभ कहीं नहीं है। जैसे लोकमें बलवान् राजाका आश्रय लेकर पुलिस और फौजकी सहायतासे डाकू पकड़े जाते हैं, यह राजाश्रित है, राजा इसका सहायक हे, यह समझकर अन्तमें वे आत्मसमर्पण कर देते हैं वैसे ही सर्वान्तिर्यामी भगवान्का आलम्बन लेनेपर दुष्ट इन्द्रियाँ इसका आलम्बन भगवान् है, यह जानकर स्वयं निगृहीत हो जाती हैं—तद्वत् आत्मसमर्पण कर देती हैं, फिर वे डाकूके स्वभाववाली नहीं रह जातीं। डाकू भी तो अपना स्वभाव छोड़ देता है। इस प्रकार भगवद्भक्तिका बड़ा प्रभाव है, इसका आगे विस्तारसे व्याख्यान करेंगे। इन्द्रियोंके वश करनेका फल कहते हैं—'वशे हि' से। अर्थ स्पष्ट हैं। जिसके वशमें इन्द्रियाँ हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। भगवद्भक्तिसे इन्द्रियोंको वशमें करके बैठे। 'किमासीत' इस प्रश्नका 'ईदृश आसीत' यह उत्तर कहा गया है ॥ ६१ ॥

ननु मनसो बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वाराऽनर्थहेतुत्वं, निगृहीतबाह्येन्द्रियस्य तूत्खातदंष्ट्रोरगवन्मनस्यनिगृहीतेऽपि न काऽपि क्षतिः, बाह्योद्योगाभावेनैव कृतकृत्यत्वादतो "युक्त आसीते" ति व्यर्थमुक्तमित्याशङ्क्य निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि युक्तत्वाभावे सर्वानर्थप्राप्तिमाह द्वाभ्याम्— 'ध्यायतो विषयान्' इति ।

निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि शब्दादीन् विषयान् ध्यायतः-मनसा पुनः पुनः-चिन्तयतः पुंसस्तेषु-विषयेषु सङ्गः-आसङ्गः ममात्यन्तं सुखहेतव एत इत्येवं शोभनाध्यासलक्षणः प्रीतिविशेष उपजायते । सङ्गात्-सुखहेतुत्वज्ञानलक्षणात्संजायते कामः ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेषः । तस्मात्कामात्कुतश्चित्प्रतिहन्यमानात्तत्प्रतिघातकविषयः क्रोधः-अभिज्वलनात्माऽभिजायते ।

शङ्का—बाह्येन्द्रिय प्रवृत्तिद्वारा मन अनर्थका हेतु होता है। यदि बाह्येन्द्रियां निगृहीत है, तो मनके निगृहीत होनेपर वह कोई आपत्ति नहीं करता। मन तो बाह्येन्द्रियप्रवर्तन द्वारा अनर्थ हेतु है; जैसे सर्प दाँतके द्वारा अनर्थकारी है। यदि उसका दाँत निकाल दिया जाय, तो स्वरूपसे रहकर भी किसीको अनर्थप्रद नहीं होता, एवं बहिरिन्द्रियोंका निग्रह होनेपर अनर्थनिवृत्ति सिद्ध है, क्योंकि विषयसेवनादि बहिरिन्द्रियव्यापारके विना नहीं होता। बाह्योद्योग न होनेसे पुरुष कृतकृत्य होता है, अतः 'युक्तः आसीत' यह उत्तर व्यर्थ ही कहा है यह शंकाकर समाधान करते हैं कि निगृहीतबाह्येन्द्रिय पुरुष भी यदि युक्त न हो, तो सर्वानर्थभाजन है, यह दो श्लोकोंसे कहते हैं 'ध्यायतः' इत्यादि।

बाह्येन्द्रियनिग्रहकर्ता भी यदि शब्दस्पर्शादि विषयोंका चित्तसे स्मरण करता है, तो उस पुरुषका चित्त उन विषयोंमें आसक्त हो जाता है।

प्रश्न—सङ्ग क्या है ?

उत्तर—'मेरे अत्यन्त सुख हेतु ये हैं' इत्याकारक शोभनाध्यासलक्षण प्रीति संग है। यद्यपि न विषय शोभन है न स्वसंवन्धी है और न सुखहेतु है, वस्तुतः इनसे विपरीत है, फिर भी प्राचीनवासनावश अवशेन्द्रियोंको उक्त स्वरूपका अध्यास होता है। सुखहेतुत्वज्ञानलक्षण संगसे काम—अभिलाष उत्पन्न होता है। मेरे ये सदा रहें, इनका मुझसे वियोग किसी समय न हों, यह तृष्णाविशेष काम यानी अभिलाषा है। इसका मनसे यदि उक्त कामनाविषयपदार्थका कोई विघात करनेके लिये प्रवृत्त होता है, तो प्रतिघातकविषय क्रोध चित्ताभिज्वलनात्मक—उत्पन्न होता है। क्रोधसे चित्त गरम हो जाता है। क्रोधसे सम्मोह—कार्याकार्यविवेकाभावका—क्या करना, क्या न करना, इसका परिज्ञान लुप्त हो जाता है। सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम होता है, शास्त्राचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थके स्मरणका नाश होता है। शास्त्रमें क्या करनेको

क्रोधाद्भवति संमोहः-कार्याकार्यविवेकाभावरूपः। संमोहात्स्मृतिविभ्रमः-स्मृतेः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थानुसंधानस्य विभ्रमो विचलनं विभ्रंशः। तस्माच्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेरैकात्म्याकारमनोवृत्तेर्नाशः विपरीतभावनोपचयदोषेण प्रतिबन्धादनुत्पत्तिः, उत्पन्नायाश्च फलायोग्यत्वेन विलयः। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति-तस्याश्च फलभूताया बुद्धेर्विलोपात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थायोग्यो भवति। यो हि पुरुषार्थायोग्यो जातः, स मृत एवेति लोके व्यवह्रियते। अतः प्रणश्यतीत्युक्तम्। यस्मादेवं मनसो निग्रहाभावे निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि परमानर्थप्राप्तिः, तस्मान्महता

लिखा है, आचार्यका कर्तव्याकर्तव्य विषयका उपदेश क्या है, इन दोनोंका लोप हो जाता है, इस स्मृतिविभ्रंशसे—स्मृतिविश्लेषसे एकात्माकार बुद्धिका नाश होता है। एक ही आत्मा है, आत्मान्तर नहीं। आत्मान्तरबुद्धिसे अनिष्टसाधनप्रवृत्ति स्वानिष्टसाधनार्थं होती है।

शङ्का—ऐकात्म्यमें अनैकात्म्य भान क्या होता है ?

समाधान—विपरीत भावनोपचयदोषसे 'यह मै हूँ, वह अन्य है, यह विपरीत भावना है। एक ही आत्मामें उपाधिभेदसे अनेकात्मभावना है, यह यद्यपि उक्तोपायसे शिथिल होता है, परन्तु क्रोध उक्तोपदिष्टार्थविषयक स्मृतिका विभ्रंश—अभाव होता है। स्मृत्यभावसे ऐकात्म्याकार मनकी वृत्तिका नाश होता है [नाशसे अभाव विवक्षित है। अभाव दो प्रकार है—एक प्रागभाव और दूसरा ध्वंस। प्रथम प्रतिबन्धकवश होता है, प्रतिबन्धक कहते हैं—] क्रोध आदि दोषोंका उपचय (वृद्धि) दोष उक्त ऐकात्म्य बुद्धिका प्रतिबन्धक है, इसासे उक्त बुद्धिको उत्पत्ति नहीं होती और जो तादृश बुद्धि उत्पन्न होती है, वह फलदानमें अयोग्य होकर नष्ट हो जाती है। [प्रतिबन्धकासहकृत ऐकात्म्यबुद्धि फलजनक है। उक्त प्रतिबन्धकवश उत्पन्न होकर बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे मणि, मन्त्र आदि अदाहक अग्निका प्रतिबन्धक है। यदि प्रतिबन्धक युक्त अग्नि हो, तो दाह फलदानके विना ही अग्नि नष्ट हो जाती है। इसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये। 'अनुत्पन्नायाश्च' यह पाठ मुद्रणादिदोषसे असंगत है। उत्पन्नायाश्च ऐसा पाठ होना चाहिये, क्योंकि अनुत्पन्नका विलय असम्भव है अनुत्पन्नकी दो श्रेणी हैं—एक अत्यन्तासत्-खपुष्पादि और दूसरा अनुत्पन्न-आकाशादि नित्य पदार्थ। इन दोनोंका नाश नहीं हो सकता। उत्पत्तिसे लब्धसत्ताक पदार्थका अभाव नाशात्मक होता है, जो उत्पन्न ही नहीं, उसका विलय कैसा ?] बुद्धिनाशसे प्रणाश होता है, फलभूत ऐकात्म्यबुद्धिके लोपसे पुरुषका प्रणाश होता है। यद्यपि स्वरूपसे पुरुष नष्ट नहीं होता, तथापि सब पुरुषार्थोंके अयोग्य होता है. [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें कोई भी पुरुषार्थ नष्टबुद्धि पुरुषको नहीं होता। पुरुषार्थायोग्यत्वेन औपचारिक नाशका प्रयोग प्रकृतमें है, इसको स्फुट करते हैं—] जो पुरुष पुरुषार्थके योग्य नहीं है उसको लोकमें मृत ही कहते हैं, इस भावसे प्रणश्यति कहा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

मनके अधीन हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयोंका उपभोग करता हुआ मनको वशमें करनेवाला पुरुष चित्तमें शान्ति प्राप्त करता है अर्थात् परमात्माके साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त करता है ॥ ६४ ॥

प्रयत्नेन मनो निगृह्णीयादित्यभिप्रायः । अतो युक्तमुक्तं तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः आसीतेति ६२, ६३ ।

मनसि निगृहीते तु, बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावेऽपि न दोष इति वदन् व्रजेतेत्यस्योत्तर-माहाष्टभिः—'रागद्वेष०' इति ।

योऽसमाहितचेताः-स बाह्येन्द्रियाणि निगृह्यापि रागद्वेषदुष्टेन मनसा विषयांश्चिन्त-यन्पुरुषार्थाद्भ्रष्ठो भवति । विधेयात्मा तु । तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः । वशीकृतान्तः-करणस्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैः स्वाधीनैरिति वा रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैः-विरहितैरिन्द्रियैः श्रोत्रा-

---

[स्वरूप नाश तात्पर्यसे नहीं,] प्रारब्ध कर्माधीन जीवन तो रहता ही है। स्वरूपनाश तो प्रारब्ध कर्मनाशाधीन है ।] चूंकि मनोनिग्रहके विना बाह्येन्द्रियनिग्रह विफल है, क्योंकि परमार्थप्राप्तिके लिये बहिरिन्द्रियोंका निग्रह किया, सो तो मनोनिग्रहके विना नहीं हो सकता, इसलिये बड़े प्रयत्नसे मनका निग्रह करना चाहिये, अन्यथा केवल बाह्येन्द्रियनिग्रह कायादिशोषण-फलार्थक ही होगा, यह अभिप्राय है। अतः यह ठीक ही कहा कि—सब इन्द्रियोका संयम कर मत्पर स्थित रहे ॥ ६२, ६३ ॥

मनका निग्रह कर ले, तो बाह्येन्द्रियोंका निग्रह न रहनेपर भी दोष नहीं है, इस कथनके साथ 'किं व्रजेत' इसका उत्तर करते हैं आठ श्लोकोंसे—'रागद्वेष०' इत्यादि । जो असमाहितचित्त यानी विषयदोषदर्शनादिसे निरुद्धवृत्तिकचित्त नहीं है किन्तु केवल बाह्येन्द्रियमात्रका निग्रह किया है वह पुरुष रागद्वेषदूषित मनसे विषयोंकी भावना करता हुआ पुरुषार्थसे च्युत होता है, केवल बाह्येन्द्रिय निग्रह विफल है । इस श्लोकमें दोनों आत्मशब्द मनःपरक है । विधेयात्मा अर्थात् वशीकृतमना 'विधेयो विनयग्राही' इत्यादि कोशसे 'विधेय' शब्द वश्यपरक हैं। जिसने चित्तको अपने वशमें कर लिया है वह पुरुष मनोवश्य है मनोधीन इन्द्रियोंसे अथवा आत्माधीन इन्द्रियोंसे जिसके वशमें मन है उसके वशमें मनोधीन इद्रियां भी हैं, स्वदासका दास स्वदासवत् है, अतएव रागद्वेषसे रहित इन्द्रियोंसे (श्रोत्रादिकोंसे) विषयान्—अनिषिद्ध

दिभिर्विषयान् शब्दादीननिषिद्धांश्चरन्-उपलभमानः प्रसादं-प्रसन्नतां चित्तस्य स्वच्छताम् परमात्मसाक्षात्कारयोग्यतामधिगच्छति। रागद्वेषप्रयुक्तानीन्द्रियाणि दोषहेतुतां प्रतिपद्यन्ते। मनसि स्ववशे तु, न रागद्वेषौ। तयोरभावे च न तदधीनेन्द्रियप्रवृत्तिः। अवर्जनीयतया तु विषयोपलम्भो न दोषमावहतीति, न शुद्धिव्याघात इति भावः। एतेन विषयाणाम्

शब्द-स्पर्शादिका ग्रहण करते रहनेपर भी चित्तप्रसादको—स्वच्छताको यानी परमात्मसाक्षात्कारयोग्यताको प्राप्त करता है। रागद्वेषप्रयुक्त श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे विषयग्रहण जो करता है उसीकी इन्द्रियाँ रागद्वेषदोषसे दुष्ट होती हैं। [रागद्वेषादिदोषके नष्ट होनेपर स्वभावतः विषयग्रहणमें यदि इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं, तो वे दुष्ट नहीं होतीं। रागद्वेषमें कारण कहते हैं—] जब मन स्ववशमें हो जाता है, तो इन्द्रियोंसे विषयग्रहण करनेपर भी राग द्वेष नहीं होता। [केवल विषयग्रहणसे उक्त दोष नहीं होता, किन्तु रागादिपूर्वक विषयग्रहणसे होता है। राग मनोधर्म है, इसलिये मनका परिशोधन अत्यावश्यक है। रागद्वेष न हों, तो विषयोंमें इन्द्रियप्रवृत्ति भी नहीं होती। अर्थोपलब्धि दो प्रकारकी होती है—एक रागद्वेषादिपुरस्सर, जो दोषोत्पादक है और दूसरी अवर्जनीयसन्निधिप्रयुक्त, जो दोषोत्पादक नहीं है। विषयेन्द्रियसन्निकर्ष होनेपर तदुपलब्धि अवर्जनीय है, कारण कि विषयोपलब्धि विषयतन्त्र है, पुरुषेच्छातन्त्र नहीं है। यात्राके समय अपशकुन देखना-सुनना कोई नहीं चाहता, किन्तु विषयके उपस्थित होनेपर देखना-सुनना होता ही है। उनको कोई रोक नहीं सकता। इसप्रकार निगृहीतमानस पुरुषको शुभाशुभ विषयोंके साथ इन्द्रियसंबन्ध होनेसे विषयग्रहण होता है, वह अवर्जनीय सन्निधिप्रयुक्त है, रागादिप्रयुक्त नहीं है, इसलिये वह दोषोत्पादक नहीं है। [अतएव श्रीहनुमान्‌जी जब लङ्कामें रात्रिके समय छिपकर रावणके महलमें विश्रब्ध प्रसुप्त रानियोंके गोप्य-अगोप्य सभी अङ्गोंको देखकर जगतपावनी श्रीजनकसुताको न देखकर बाहर निकले, तो प्रथम यह पश्चात्ताप करने लगे कि मैंने बड़ा पाप किया, कारण कि 'नाक्षयन्तीम् स्वके नेत्रे' इत्यादि मन्वादि स्मृतियोंमें स्पष्ट है कि परनारीको छिपकर देखना तथा प्रसुप्तादि अवस्थाविशेषमें स्वभावतः प्राप्त अनावृत विशेषाङ्गोंका निरीक्षण करना अधिक अनुचित है, सो मैंने सीतान्वेषणकी कामनासे किया, इस कारण मैंने बड़ा पाप किया, इत्यादि कल्पनाकर फिर विवेकबुद्धिसे विचार किया, तो उन्होंने कहा कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया है, कुछ भी पाप नहीं किया है। भगवान्‌की सीतान्वेषणकी आज्ञा स्वीकार कर मैं लङ्कामें आया हूँ, स्त्रियोंका अन्वेषण स्त्रियोंमें ही हो सकता है, पशु पक्षी आदिमें नहीं। रावणकी स्त्रियोंमें उनका अन्वेषण समयान्तरमें असम्भव है, इसलिये मैंने ऐसा किया, जो किसी भी एवंशीलका कर्तव्य है, फिर सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि मेरे मनमें दर्शनके समय या इस समय कुछ भी विकार नहीं है। दर्शनसे पूर्व जैसा निर्विकार चित्त मेरा था वैसा ही उस समय और इस समय भी है, अतएव इस कर्मसे मुझे प्रत्यवाय नहीं हो सकता। मैंने रागादिवश ऐसा नहीं किया है, अतएव

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

चित्तके स्वच्छ होनेपर पुरुषके सब दुःखोंका नाश हो जाता है और प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

स्मरणमपि चेदनर्थकारणम्, सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं विषयान् भुञ्जानः कथमनर्थम् न प्रतिपद्येतेति शङ्का निरस्ता । स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान् प्राप्नोतीति च "किं व्रजेते"ति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६४ ॥

प्रसादमधिगच्छतीत्युक्तम्, तत्र प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते—'**प्रसादे सर्वं०**' इति ।

चित्तस्य प्रसादे-स्वच्छत्वरूपे सति सर्वदुःखानाम्-आध्यात्मिकादीनामज्ञानविलसितानां हानिः-विनाशोऽस्य-यतेरुपजायते । हि यस्मात्प्रसन्नचेतसः यतेराशु शीघ्रमेव बुद्धिः-ब्रह्मात्मैक्या-

---

दर्शनकाल और स्मरणकाल इन दोनोंमें मेरा मन वैसा ही निर्विकार है, जैसा कि दर्शनाभाव कालमें था । भावभेदसे पुण्य और पाप आदि होते हैं, अन्यथा नहीं । मेरा मन ही इसमें प्रमाण है कि मैंने पाप नहीं किया, किन्तु स्वकर्तव्यका पालन किया है । ठीक ही है । अतएव महाकवि कालीदासने कहा है कि—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'] इस अभिप्रायसे कहा है कि 'न शुद्धिव्याघातः' शुद्धिका नाश नहीं होता इसमें कारण राग द्वेषाभाव है, इससे यह व्यक्त होता है कि यदि विषयोंका स्मरण अनर्थकारण है, तो भोग अनर्थकारण है, यह तो विना कहे भी ज्ञात हो जाता है । इसलिये 'सुतरां' कहा । इससे जीवननिर्वाहार्थ विषयोपभोगीको क्यों अनर्थ न होगा, यह शंका निरस्त हो गई । [केवल विषयभोग-मात्रसे अनर्थ नहीं होता, किन्तु रागपूर्वक विषयोपभोगसे रागाद्यभावदशामें भी विषयभोग अनर्थजनक होता है ।] स्ववशीभूत इन्द्रियोंसे विषयोंको प्राप्त करता है, यह 'व्रजेत किं' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ६४ ॥

प्रश्न—'प्रसादमधिगच्छति' चित्तमें प्रसाद–स्वच्छता—ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति योग्यता प्राप्त होती है, यह कहा परन्तु चित्तप्रसाद स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, अतः फलविषयक प्रश्न है कि प्रसाद होनेपर क्या फल होता है ?

उत्तर—चित्तप्रसाद होनेपर यानि स्वच्छ होनेपर अज्ञानकल्पित आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक निखिलदुःखोंकी हानि होती है । अस्य यानी इस यतिके । क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न होता है और उस प्रसन्नचित्त मुमुक्षुकी बुद्धि—ब्रह्मात्मैक्यविषयक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धि शीघ्र ही

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अजितचित्तवाले पुरुषको आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती, आत्मविषयक बुद्धि न होनेपर उस अजितेन्द्रिय पुरुषके अन्तःकरणमें निदिध्यासनात्मक भावना नहीं होती अर्थात् वह परमात्मका ध्यान नहीं कर पाता और आत्मभावना न कर रहे पुरुषको शान्ति प्राप्त नहीं होती अशान्त पुरुषको मोक्षका आनन्द किस प्रकार मिल सकता है ॥ ६६ ॥

कारा पर्यवतिष्ठते-परि समन्तादवतिष्ठते स्थिरा भवति, विपरीतभावनादिप्रतिबन्धाभावात् । ततश्च प्रसादे सति बुद्धिपर्यवस्थानम्, ततस्तद्विरोध्यज्ञाननिवृत्तिः, ततस्तत्कार्यसकलदुःखहानिरिति क्रमेऽपि प्रसादे यत्नाधिक्याय सर्वदुःखहानिकरत्वकथनमिति न विरोधः ॥ ६५ ॥

परिनिष्ठित होती है। परि यानी सर्वतः—स्वरूप और विषयसे भी स्थिर होती है [यद्यपि अन्तःकरणवृत्तिरूप बुद्धि, जो न्यायमें आत्मसमवेत मानी जाती हैं वह स्वरूपतः स्थिर नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनके मतमें क्षणत्रयसे अधिक कोई जन्य बुद्धि टहर नहीं सकती, तथापि बुद्धि अन्तःकरणपरिणामस्वरूप है, यह माननेवाले वेदान्ती जबतक एक ही विषयका भान हो, तबतक वह वृत्ति एक ही बनी रहती है, अनेक उत्पत्तिनिरोधकल्पना गौरवग्रस्त होनेसे हेय है, अतः स्वमतसे परितः यानी स्वरूपतः भी बुद्धि स्थिर—निर्वातप्रदीपशिखावन्निश्चल होती है। विषयान्तरग्रहणसे बुद्धि अस्थिर होती है, यह तो स्पष्ट ही है। स्वविरोधी वृत्तिकी उत्पत्तिसे पूर्व वृत्तिका निरोध होता है। एक विषयक होनेपर भी वृत्त्यन्तरोत्पादक होनेसे धारावाहिक ज्ञानमें अस्थिर ही बुद्धि होती है। चित्तप्रसाद होनेपर ही बुद्धि स्थिर होती है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—बुद्धिस्थिरतामें प्रतिबन्धक विपरीत विषयभावना है। आत्मैक्यबुद्धि होनेपर विषयान्तर ही नहीं, तो विपरीत विषयान्तर कहाँ, अतः] स्थिरता प्रतिबन्धक विपरीतभावनाविरहसे विशुद्ध चित्तकी बुद्धि स्थिर होती है, इस कारणसे प्रसाद होनेपर बुद्धिका स्थैर्य होता है। स्थिरबुद्धिसे तद्विरोधी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसके अनन्तर सकलदुःखकी हानि होती है, यह क्रम है इसका त्याग विवक्षित नहीं है, फिर भी प्रसादावस्था ही में सकलदुःखकी निवृत्ति कहनेका तात्पर्य यह है कि उसके संपादनमें अधिक यत्न करना चाहिये, यही प्रधान उपाय कठिन है, इसके सम्पन्न होनेपर शेष क्रमप्राप्त उपाय सुकर हैं, इस भावसे कोई विरोध नहीं है कि प्रसादावस्था ही में सकलदुःखनिवृत्ति क्यों कहा ? फलकथनप्ररोचना द्वारा तत्संपादनार्थ है, तत्त्वकथन नहीं है ॥ ६५ ॥

इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—'नास्ति' इति ।

अयुक्तस्य-अजितचित्तस्य बुद्धिरात्मविषया श्रवणमननाख्यवेदान्तविचारजन्या नास्ति-नोत्पद्यते । तद्बुद्ध्यभावे न चायुक्तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा । सर्वत्र नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः । न चाभावयत आत्मानं

मनःप्रसादसे ही सकलदुःखनिवृत्ति होती है इसी अर्थको व्यतिरेकमुखसे दृढ़ करते हैं—'नास्ति' इत्यादि गीतावाक्यसे । अयुक्तको यानी अवशीकृत चित्तको अर्थात् जिसने उक्तोपायसे मनपर विजय नहीं प्राप्त की है उस अयुक्त पुरुषको वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिजन्य आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती यानी उत्पन्न नहीं होती । उस बुद्धिके अभावमें यानी उक्त वाक्यविचारजन्य परोक्षात्मक बुद्धिविरहसे निदिध्यासनध्याना-परपर्यायबुद्धि अयुक्तको नहीं हो सकती, [सन्दिग्ध श्रुतार्थका निर्णय वेदान्तवाक्यसे युक्त चित्त ही को होता है, इतरको नहीं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—प्रमाणप्रमेयोभयविषयक असंभावनाबुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती । असंभावना आत्मैक्य-विषयकनिर्णयमें प्रतिबन्धक है । निर्णय होनेपर निदिध्यासन आत्मैक्यसाक्षात्कारजनक नहीं हो सकता । संदिग्धात्मक "स्थाणुर्न वा" इसका चिरकालतक निदिध्यासन करनेपर भी यह स्थाणु है, वा अन्य, इसका निर्णय नहीं हो सकता, प्रत्युत अनिर्णय ही बढ़ता जायगा । असंभावनाकी निवृत्ति युक्त ही को होती है, इतरको नहीं, यह सिद्ध हुआ । अतः अयुक्तको भावना आत्मैक्यनिश्चय नहीं होता, यह बहुत अच्छा कहा ।

प्रश्न—निदिध्यासन क्या है ?

उत्तर—इसका स्वरूप पूर्वमें कह चुके हैं । यदि स्मरण नहीं है, तो तदर्थं संक्षेपसे पुनः स्वरूप सुनिये—] विजातीयप्रवाहानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूप है । [प्रत्यय ज्ञान है । इसमें साजात्य समानविषयकत्व है, तद्भिन्नविषयकत्व वैजात्य है । चित्त अति चंचल है । उसमें घटविषयक वृत्ति होकर इच्छा न रहनेपर भी स्वतः पटादिविषयक होती है, पुनः अतियत्न करनेपर घटविषयक होकर फिर पटादि-विषयक होती है, इस तरह अयुक्तको घटविषयक ज्ञानपरंपरा विजातीय पटादिविषयक ज्ञानसे व्यवहित होती है । इष्ट है, पटादिविषयक ज्ञानसे व्यवहित घटज्ञान परंपरा न हो, 'घटः, घटः' ज्ञानमात्रका ही प्रवाह होता रहे, यह चञ्चलचित्तमें नहीं हो सकता, इसलिये चित्तशुद्धि अपेक्षित होती है । हिंड़ोलापर स्थित वस्तु तबतक स्थिर नहीं हो सकती, जबतक हिंडोलाकी गति रोकी न जाय । मनकी शुद्धिसे उक्त स्वरूप निदिध्यासन होता है ।] सर्वत्र नञ्का अस्तिके साथ संबन्ध है । जो निदिध्यासन नहीं कर सकता, उसको शान्ति नहीं मिलती । अर्थात् वेदान्तवाक्यजन्य सकल कार्योंके सहित सकलोपादानाविद्यानिवृत्ति ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

जैसे वायु जलमें नौकाको बहा ले जाती है, उसी प्रकार अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके मध्यमें जिस इन्द्रियको लक्ष्य कर मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय, जिसके पीछे मन दौड़ गया है, अजितेन्द्रिय पुरुषकी आत्मविषयक बुद्धिको हर ले जाती है ॥ ६७ ॥

शान्तिः-सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कृतिः । अशान्तस्य-आत्मसाक्षात्कारशून्यस्य कुतः सुखं-मोक्षानन्द इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अयुक्तस्य कुतो नास्ति बुद्धिरित्यत आह—'इन्द्रियाणाम्' इति ।

चरताम्-स्वविषयेषु प्रवर्तमानानामवशीकृतानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकमपीन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनो विधीयते-प्रेर्यते प्रवर्तत इति यावत् । कर्मकर्तरि लकारः । तदिन्द्रियमेकमपि

स्वरूपा नहीं होती। अशान्तको यानी आत्मसाक्षात्कारशून्यको सुख यानी मोक्षानन्द कहाँ ? ['तरति शोकमात्मवित्' छा. उ. ७-३-४ इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मसाक्षात्कार जिनको हुआ है उन्हींको मोक्षानन्द होता है, अन्यको नहीं, इसमें किसीको विवाद नहीं है।] ॥ ६६ ॥

शङ्का—अयुक्तको बुद्धि क्यों नहीं होती ?

समाधान—'इन्द्रियाणाम्' यह । स्वस्वविषयमें प्रवर्तमान अर्थात् स्वविषयग्रहणपरायण, अतएव अवशीकृत इन्द्रियोंके मध्यमें जिस एक भी इन्द्रियको लक्ष्यकर मन प्रेरणा करता है, तो मन प्रेरित वह एक भी इन्द्रिय आत्मविषयक प्रज्ञाका अपहरण करती है, आत्मासे हटाकर अनात्मविषयक करती है, क्योंकि मन इन्द्रियानुसारी हो गया है।

प्रश्न—किसकी प्रज्ञाका अपहरण करता है ?

उत्तर—अस्य यानी साधककी अथवा मनकी। शास्त्रबोधित आत्मविषयक प्रज्ञा दूर करती है, क्योंकि मन इन्द्रिय विषयमें ही खींच जाता है। एक भी इन्द्रिय जब प्रज्ञाको खींच लेती है, तब सब इन्द्रियाँ खींच लेती हैं। इसमें कहना ही क्या है, यह तो कैमुतिकन्यायसिद्ध है।

मन इन्द्रियमनुविधत्ते' ऐसा पाठ उक्तार्थानुसारी साधु है, सो नहीं है, किन्तु 'मनोऽनुविधीयते' ऐसा पाठ है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यहाँ कर्मकर्तामें लकार है अर्थात् 'इन्द्रियमनु मनः साधकः अनुविधत्ते प्रेरयति इति।

मनसाऽनुसृतमस्य साधकस्य, मनसो वा प्रज्ञाम्-आत्मविषयां शास्त्रीयां हरति-अपनयति, मनसस्तद्विषयाविष्टत्वात्। यदैकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति, तदा सर्वाणि हरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। दृष्टान्तस्तु स्पष्टः। अम्भस्येव वायोर्नौकाहरणसामर्थ्यम्, न भुवीति सूचयितुमम्भसीत्युक्तम्।

क्रिसाधकेन' इस प्रकार कर्मव्यापारसौकर्यविवक्षासे कर्म मनमें कर्तृत्वकी विवक्षाकर कर्मकर्तामें लकार हुआ है। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इस सूत्रसे कर्मवद्भाव, ततः यक्, आत्मनेपद होनेसे उक्तरूप निष्पन्न हुआ है। [यद्यपि आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इत्यादि (आत्माको जब विषयकी बुभुत्सा वा जिघृक्षा होती है तब आत्मा मनसे संयुक्त होकर उस विषयको समझने अथवा ग्रहण करनेके प्रेरणा करता है। मन उस विषयग्राहक इन्द्रियसे संयुक्त होकर इन्द्रियकी प्रेरणा करता है, इत्यादि) क्रम नियत है, अचेतन मन स्वयं प्रवृत्त नहीं होता; तथापि यहाँ भी वह क्रम है। उसके त्यागमें तात्पर्य नहीं है, केवल कर्मकी पदसौकर्यविवक्षामें ऐसे प्रयोग होते हैं, यह शाब्दिक संप्रदाय है। मधुसूदनीव्याख्यामें एत् तत् शब्दसे इन्द्रियोंका ग्रहण किया गया है और प्रज्ञापहरणमें वही कारण कहा गया है तथा 'अस्य' से 'साधकस्य मनसो वा' यह अर्थ लिखा है, सो ठीक नहीं है, कारण अपहरणमें हेतु मन ही है, इन्द्रियाँ नहीं, अतः यत् तत् शब्दसे मन ही विवक्षित है, इन्द्रियाँ नहीं। 'अस्य' से साधक ही विवक्षित है, मन नहीं, कारण कि पूर्वसे साधक ही प्रकृत है, इसको आगे स्फुट करेंगे।

शङ्का—प्रज्ञापहारकत्व इन्द्रियोंमें शास्त्रसे सिद्ध है। देखिये—'इन्द्रियाणान्तु सर्वेषां यदेकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्' २-९९॥ यह मनुभगवानने स्पष्ट ही कहा है। इन्द्रियोंके मध्यमें यदि एक भी इन्द्रिय स्खलित हो—प्रतिषिद्ध विषयका सेवन करे, तो साधककी प्रज्ञा अपने वास्तविक लक्ष्यसे च्युत हो जाती है—ध्येय विषयको छोड़कर चिरपरिशीलित बाह्यविषयप्रवण हो जाती है। अन्य इन्द्रियाँ भी इसी तरह स्वस्वविषयग्रहणोन्मुख हो जाती हैं, फिर विषयनिगृहीत इन्द्रिय द्वारा जो प्रज्ञा साधकको ईप्सित है, वह नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक दूसरी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, जो उत्पन्न है वह नष्ट हो जाती है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'दृतेः' इत्यादि। 'दृति' चर्मनिर्मितजलाहरण साधन जो मशक नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। जिसको भिस्ती प्रायः व्यवहार करते हैं, उसमें पैरके समान चारचर्मखण्ड लगे रहते हैं, वे भी सच्छिद्र होनेसे जलानयन करते हैं। इसके एक पादमें भी यदि छिद्र हो, तो उसके द्वारा उसीके जलमात्रका नहीं, किन्तु मशकके जलका भी क्षरण हो जाता है, क्योंकि उसका संबन्ध दृतिके साथ है, तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये, अतएव 'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति' यह भी मनुजीने कहा है। अतः मधुसूदनोक्त अर्थ समीचीन है।

समाधान—'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' इस पूर्वश्लोकसे इन्द्रियानुगत मनमें ही प्रज्ञापहारकत्व पूर्वमें निर्दिष्ट है, तद्विरुद्ध इन्द्रियमें तादृशधर्म कथन उचित नहीं है और भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य

एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यम्भःस्थानीये मनश्चाञ्चल्ये सत्येव प्रज्ञाहरणसामर्थ्यमिन्द्रियस्य, न तु भूस्थानीये मनःस्थैर्य इति सूचितम् ॥ ६७ ॥

श्रीमध्वाचार्य, प्रभृति भाष्यकारोंने 'इन्द्रियाणां' में कर्ममें षष्ठी है, निर्धारणमें नहीं, यह कहा है, यही उनके व्याख्यानोंमें स्पष्ट प्रतीत भी होता है और शाब्दन्यायसे भी यही उचित है। अन्यथा मनः पद श्रुत न होता जैसा उक्त मनुश्लोकमें है। और दो बार इन्द्रियपदका उच्चारण है इसलिये वहाँ निर्धारणमें षष्ठी मानना ठीक है। 'इन्द्रियाणां मध्ये यदि एकमपि इन्द्रियं क्षरति, तदा अस्य प्रज्ञामपहरति, यह अर्थ ठीक है।

प्रश्न—अच्छा तो प्रज्ञापहारकत्व आप मनमें ही मानते हैं, इन्द्रियोंमें नहीं। मनु भगवान्ने तो इन्द्रियोंमें प्रज्ञापहारकत्व स्पष्ट कहा है, सो कैसे संगत होगा ?

उत्तर—इन्द्रियोंमें मनोवृत्तिरूप प्रज्ञापहारकत्व है, इस तात्पर्यसे वैसा लिखा है। वहाँ युक्त प्रक्रान्त नहीं है, इसी तात्पर्यसे स्वामीजीने मानसवृत्ति कहा है, फिर प्रकरणका अनुसंधानकर 'साधकस्य' वा, यह लिखा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीतामें 'अस्य' से साधक ही का ग्रहण उचित है। यही अरुचि मानसप्रज्ञापहारमें है, अतः मनुश्लोकके तात्पर्यसे मानसवृत्तिको और प्रकृत गीताश्लोकके तात्पर्यसे साधककी प्रज्ञाको समझना चाहिये। मानसप्रज्ञा मनोवृत्तिरूप है और पौरुषेय बोध प्रज्ञा साधककी है, इसका विशेष विवेचन करनेसे ग्रन्थ बढ़ जायगा, इस भयसे यहाँ छोड़ देते हैं। 'यत्, तत्' ये दोनों शब्द मनोविषयक ही हैं, इन्द्रिय विषयक नहीं।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—प्रज्ञाके अपहरणमें मन ही प्रधान कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' मै. उ. २-५ इत्यादि प्रसिद्ध है। प्रज्ञा मनका धर्म है। धर्म धर्मीके अधीन होता है, यह भी प्रसिद्ध ही है। मन सब इन्द्रियोंका अनुविधान करता है। फिर इन्द्रियोंके मध्यमें जो इन्द्रिय है वह मनसे अनुगत होती है, यह निर्धारण व्यर्थ है। निर्धार्यमाणसे—निर्धारितावच्छेदकरूपसे जहाँ निर्धारणावधिकी व्यावृत्ति होती है, वहाँ निर्धारणमें षष्ठी होती है। जैसे 'गवां कृष्णा गौः बहुक्षीरा' गायोंमें काली गौ अधिक दूध देनेवाली है। यहाँ जैसे कृष्णत्व काली गौओंसे अतिरिक्तमें नहीं है, वैसे ही यहाँ इन्द्रियान्तरमें मनोनुविधानत्व नहीं है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कैमुतिकन्यासे सब इन्द्रियोंमें मनोऽनुविधान माना गया है। अथवा एक एक इन्द्रियके तात्पर्यसे कथंचित् कह सकते हैं, फिर भी अश्रुतादिका परिहार नहीं होता। जो इन्द्रिय मनका अनुविधान करती है, वह प्रज्ञापहरण करती है, यह अर्थ ठीक नहीं है, मनोऽनुविधानमात्रसे प्रज्ञापहारकत्व नहीं हो सकता। युक्तमनोनुवृत्तिसे प्रज्ञापहारकत्व नहीं है, मनोऽनुविधान है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इसलिये हे महाबाहो, जिस पुरुषकी इन्द्रियां सब प्रकारसे विषयोंसे सर्वदा विमुख हो गयी हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥

हि यस्मादेवम्—'तस्माद्' इति ।

सर्वशः-सर्वाणि समनस्कानि । हे महाबाहो, इति संबोधयन्सर्वशत्रुनिवारणक्षमत्वात्

शङ्का—अच्छा तो मनु भगवान्ने कैसे 'इन्द्रियाणान्तु सर्वेषाम्' इत्यादिसे इन्द्रियोंमें ही प्रज्ञापहारकत्व कहा है ?

समाधान—उक्त श्लोकमें मनका उपादान नहीं है और दो बार इन्द्रियोंका उपादान है तथा एक-ग्रहण है, इसलिये 'इन्द्रियाणां मध्ये एकमिन्द्रियम्' इत्यादि निर्धारणार्थक ही षष्ठी है। निर्धारणधर्म एकत्वविशिष्टविषयप्रवणत्व है। यहां वैसा नहीं है। इन्द्रियव्यतिरिक्त मनका ही उपादान है। 'अनुविधीयते' इस पदकी शुद्धिमें इस अर्थमें 'पुरुषो मनो अनुविधत्ते इति पुरुषेण मनोऽनुविधीयते अर्थात् पुरुषका ही दोष है, जो स्वयं विषयप्रवण मनका अनुविधानकर प्रज्ञापहरणमें सहायक होता है] दृष्टान्त तो स्पष्ट है। जलस्थित नौकाके अपहरणमें वायुकी सामर्थ्य है, भूमिस्थनौकाके अपहरणमें नहीं, इसलिये 'अम्भसि' कहा। एवं दार्ष्टान्तिकमें भी जलसदृश चंचल मनमें स्थित प्रज्ञाके अपहरणका सामर्थ्य इन्द्रियोंमें है, भूसदृशस्थिर मनमें नहीं, यह सूचित होता है। [जलस्थित नौकाचालक वायु दो प्रकारकी होती है, एक अनुकूल है, नाविक लोग उस वायुसे पालके द्वारा गन्तव्यस्थलमें नौका ले जाते हैं। इस वायुको नौकापहारक नहीं कहते। दूसरी प्रतिकूल है, जो यात्रियोंको अनिष्ट देशमें पहुँचाती है, उसको नौकापहारक कहते हैं, अपहरण देशान्तरप्राप्ति और नाश दोनों कहलाता है। कभी वायुसे देशान्तर प्राप्त होती है, कभी वायुसे नौका डूबती है, दोनों अर्थ प्रकृतमें उपयोगी हैं। वस्तुतः 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' इस गीतावाक्यसे इन्द्रियानुगत मनमें ही बुद्धिहरण कर्तृत्व स्पष्ट है। अतः मनका त्याग कर प्रस्तुत एक इन्द्रियका 'यत्' पदसे परामर्श भी ठीक नहीं है। भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—"आत्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा, मनोःविषयविषयां कल्पनां करोति" मन आत्मविषयक प्रज्ञाको छोड़कर विषयविषयक कल्पना करता है। इसके अनुसार चित्तमें ही विषयापहारकत्व है, इन्द्रियोंमें नहीं, इन दोनों अर्थोंमें कौन अर्थ अच्छा है, यह विद्वान् स्वयं विचार कर लें]॥ ६७॥

'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यादि वाक्योंसे प्रकान्त प्रस्तावित अर्थका अनेक प्रकारसे उपपादनकर उसका उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे। चूँकि बात ऐसी है, इसलिये हे महाबाहो हे—विशालभुज अर्जुन, बाहुबलसे ही शत्रुओंको पराजित किया जाता है, तुम्हारे बाहु बलवान् हैं, अतः तुम बाह्य सकल

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

हे अर्जुन, मैं ब्रह्म हूँ, इत्याकारक साक्षात्कारस्वरूप जो प्रज्ञा सम्पूर्ण प्राणियोंकी रातके समान होनेसे रात है उस ब्रह्मविद्यारूपी समस्त प्राणियोंकी रातमें संयमी पुरुष जागता है और जिस द्वैतदर्शनरूप अविद्यारूपी निद्रामें सोए हुए सब जीव जागते हे वह आत्मतत्त्वका अपरोक्षरूपसे साक्षात्कार कर रहे मननशील स्थितप्रज्ञकी रात्रि है ॥ ६९ ॥

इन्द्रियशत्रुनिवारणेऽपि त्वं क्षमोऽसीति सूचयति । स्पष्टमन्यत् । 'तस्ये' ति सिद्धस्य, साधकस्य च परामर्शः । इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञं प्रति लक्षणत्वस्य, मुमुक्षुं प्रति प्रज्ञासाधनत्वस्य चोपसंहरणीयत्वात् ॥ ६८ ॥

तदेवं मुमुक्षुणा प्रज्ञास्थैर्याय प्रयत्नपूर्वकमिन्द्रियसंयमः कर्तव्य इत्युक्तम्, स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतः सिद्ध एव सर्वेन्द्रियसंयम इत्याह—'या निशा' इति ।

या वेदान्तवाक्यजनितसाक्षात्काररूपा 'अहं ब्रह्मास्मी 'ति प्रज्ञा सर्वभूतानामज्ञानां निशेव निशा, तान्प्रत्यप्रकाशरूपत्वात्। तस्यां-ब्रह्मविद्यालक्षणायां सर्वभूतनिशायां जागर्ति-अज्ञाननिद्रायाः

शत्रुओंके निवारणमें समर्थ होकर आन्तरिक शत्रु इन्द्रियोंको जीतनेमें भी समर्थ हो, यह अर्थ उक्त संबोधनसे सूचित होता है। शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ स्वविषय शब्दादिसे निगृहीत हैं अर्थात् विषयलोलुप नहीं हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। 'तस्य' इससे सिद्ध और साधक दोनोंका परामर्श है। ['युक्त' सिद्ध हे 'युञ्जान' साधक है। इन्द्रियसंयम सिद्धका लक्षण है, जो स्थितप्रज्ञ सिद्ध हैं—तत्त्वज्ञानी हैं, उनका इन्द्रियसंयम लक्षण ब्रह्मव्यतिरिक्तमें मिथ्यात्वनिश्चयसे उनमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। शुक्तिरजतको मिथ्या माननेवाला कौन पुरुष उसके ग्रहणके लिये हाथ बढ़ायेगा। 'युञ्जान' यानी साधकके प्रति इन्द्रियनिग्रहका प्रज्ञासाधनत्वेन उपसंहार है। [प्रज्ञासाधन इन्द्रियनिग्रह है, इसपर सतत ध्यान रहे] ॥ ६८ ॥

पूर्ववाक्यसन्दर्भसे मुमुक्षुको प्रज्ञाकी स्थिरताके लिये इन्द्रियसंयम प्रयत्नके साथ करना चाहिये, यह कहा, स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्तको यह संयम स्वतः सिद्ध है, यह कहते हैं—'या निशा' इत्यादिसे। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्यजन्य 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक साक्षात्काररूप प्रज्ञा सब प्राणियोंकी निशाके समान होनेसे निशा है। 'निशा' शब्द यद्यपि रात्रिका वाचक है, उक्त प्रज्ञा रात्रि नहीं हैं इसलिये लक्षणा-वृत्तिसे उक्त शब्द अप्रकाशमय अर्थका लक्षक है। जैसे रात्रिमें सब प्राणी सो जाते हैं, उसपर कुछ भी

प्रबुद्धः सन्सावधानो वर्तते, संयमी-इन्द्रियसंयमवान्, स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। यस्यां तु द्वैतदर्शनलक्षणायामविद्यानिद्रायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति-स्वप्नवद्व्यवहरन्ति, सा निशा न प्रकाशते। आत्मतत्त्वं पश्यतोऽपरोक्षतया मुनेः-स्थितप्रज्ञस्य। यावद्धि न प्रबुध्यते, तावदेव स्वप्नदर्शनम् बाधपर्यन्तत्वाद्भ्रमस्य। तत्त्वज्ञानकाले तु न भ्रमनिमित्तः कश्चिद्व्यवहारः। तदुक्तं वार्तिककारैः—

"कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिः कुतः॥
काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः"॥ इति॥

अवधान नहीं देते, उसी प्रकार उक्त प्रज्ञामें साधारण लोग निश्चिन्त रहते हैं, उसकी प्राप्तिके लिये कोई चेष्टा नहीं करते और न तदप्राप्तिसे मनमें कुछ दुःख ही मानते हैं। उसके स्वरूपको भी नहीं जानते, यह रात्रिकी अपेक्षा विशेष है। उस ब्रह्मविद्या—उक्तात्मविद्या जिसको सर्वभूतोंकी निशा कहा है। उसमें अज्ञानरूपी निद्रासे प्रबुद्ध—जागा हुआ इन्द्रियसंयमनशील संयमी जागता है—सावधान रहता है। संयमी यानी संयमवाला स्थितप्रज्ञ है और जिस द्वैतलक्षण अविद्यारूपी निद्रामें प्रसुप्त—निद्राप्राप्त प्राणी जागते हैं यानी स्वप्नवत् व्यवहार करते हैं, वह निशा आत्मतत्त्वसाक्षात्कार कर रहे मननशील स्थितप्रज्ञको प्रकाशित नहीं होती। जबतक प्रबुद्ध नहीं होता, तभीतक स्वप्नदर्शन होता है, क्योंकि भ्रम भी तबतक बना रहता है, जबतक बाध नहीं होता। तत्त्वज्ञान होनेपर भ्रमनिमित्त कोई व्यवहार नहीं होता।

शंका—यह तो विरुद्ध कहते हैं कि सोये हुये प्राणी जागते हैं। यदि सो गये हैं, तो जागते नहीं हैं, यदि जागते हैं, तो सोये नहीं हैं, दोनों कैसे हो सकता है कि जो सो गया हो वह जागता भी रहे?

समाधान—स्वप्नावस्थामें दोनों देखा जाता है, इसलिये विरोध नहीं है। सोया हुआ पुरुष वासनोपनीत स्वाप्निक पदार्थोंका व्यवहार करता है। अभिवदनादिलक्षण कोई भी व्यवहार जागरणके विना नहीं हो सकता, अतः व्यवहारदर्शनसे जागरण माना जाता है। बाह्यविषयोंका व्यवहार न देखनेसे स्वाप भी माना जाता है वह निशा स्थितप्रज्ञके लिये रात्रि है। जिसमें प्राणी व्यवहार करते हैं। अज्ञानकल्पित द्वैतमें यह द्वैतसमुदाय प्रबुद्धकी निशा है, यह निशा अप्रकाशमय है, वह कभी देखता नहीं है। जिस समयमें व्यवहार नहीं होता, वह समय रात्रिसम है सायं कालमें व्यवहार है। भ्रमकार्य होनेपर भ्रमविषयपदार्थवैधुर्यसे व्यवहार कहा हो, निर्विषयक व्यवहार नहीं होता] इसको वार्तिककारने कहा है—कारकव्यवहारे

तथा च यस्य विपरीतदर्शनम्, तस्य न वस्तुदर्शनम्, विपरीतदर्शनस्य वस्त्वदर्शनजन्यत्वात् । यस्य च वस्तुदर्शनम्, तस्य न विपरीतदर्शनम्, विपरीतदर्शनकारणस्य वस्त्वदर्शनस्य वस्तुदर्शनेन बाधितत्वात् । तथा च श्रुतिः "यत्र वा अन्यदिव स्यात्, तत्रान्योऽन्यत् पश्येत् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्" बृ० उ० ४-३-३१ इति विद्याविद्ययोर्व्यवस्थामाह ।

हि' इत्यादिसे । कारक व्यवहारमें शुद्ध वस्तु नहीं देखी जाती' कारकव्यवहार तत्साधनसे होता है । 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञानोत्तर निखिल द्वैतभेदके लोप होनेसे कोई व्यवहार नहीं होता । व्यवहारकालमें बाधकज्ञान उदयसे व्यवहार होता है, बाधकज्ञान शुद्धात्मविषयक है । शुद्धवस्तुदर्शनोत्तर व्यवहार नहीं देखा जाता, अज्ञानी और आत्मज्ञानी—इन दोनोंको यह प्रत्यक्ष संसार काकोलूकवत् विपरीत है । काक दिनमें देखता है अतएव उसीमें अपना सब व्यवहार करता है, परन्तु उलूक (काकशत्रु पक्षिविशेष उल्लू) के लिये दिन ही रात्रि है । इसमें अपने सब व्यवहारोंको त्यागकर एकान्तमें वास करता है । उलूक रात्रिमें देखता है, अतः उसके लिये रात्रि ही दिन है । उसमें वह व्यापार करता है, यह काकादिके लिये वह रात्रि है एवं अनात्मज्ञ और आत्मज्ञ दोनों संसारके विषयमें काक और उलूकके समान हैं । अनात्मज्ञ द्वैतदर्शी होकर सकल व्यापार करता है, अद्वैत प्रकाश होनेपर उसमें सर्वथा निर्व्यापार रहता है । आत्मज्ञ अद्वैत प्रकाशदर्शी होनेसे इसीमें उसका जागरण है, द्वैतका अप्रकाश होनेसे वह रात्रिसम है । इसमें निवृत्तनिखिल व्यापार है । [वस्तुतः दिनरात्रि कल्पित ही है, यह भी वास्तविक नहीं है । दिन सबके लिये दिन नहीं है । रात्रि भी सबके लिये रात्रि नहीं है । कितने प्राणी हैं, जो रात्रिमें ही देखते हैं, दिनमें नहीं, कितने दिनमें ही देखते हैं, रात्रिमें नहीं । कितने ऐसे भी हैं, जो दोनोंमें समदृष्टि हैं । इसपर वस्तुतः ध्यान दिया जाय, तो दिन-रात्रि तत्प्राप्तिकी अपेक्षासे कल्पित, अतएव पारिभाषिक है । वास्तविक व्यवस्थित नहीं है । संसार भी ऐसा ही प्राणिविशेषापेक्षया कल्पित है । जिसमें संसारी भोगते हैं, उसीमें तत्त्वज्ञानी भोगरहित आनन्दमग्न रहते हैं । स्वयं भगवान् हरिने 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादिसे कहा है । जो पुरुष विपरीतदर्शी यानी अनेकात्मदर्शी अथवा आत्मभिन्नदर्शी है, वह वस्तुतत्त्व—आत्मैकत्वदर्शी नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—विपरीतज्ञान वस्त्वज्ञानजन्य होता है । जैसे शुक्तिशकलमें रजतज्ञान, यह विपरीतदर्शन है, सो शुक्तिशकलाज्ञानसे ही होता है । अधिष्ठानाज्ञान अध्यस्तका प्रयोजक है अतएव यावत् तत्त्वज्ञान कल्पित रहता है । अधिष्ठानके तत्त्वज्ञानसे अध्यस्तकी निवृत्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—जो वस्तुतत्त्वदर्शी है वह विपरीतदर्शी नहीं होता, विपरीतदर्शननिमित्त स्वरूपाज्ञानका वस्तुज्ञानसे

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

अनेक नदियोंके द्वारा सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेपर भी अपनी पूर्व मर्यादाको न छोड़नेवाले समुद्रमें वृष्ट्यादिसे बढ़नेवाली नदियोंके जल जैसे प्रविष्ट होते हैं उसी तरह विकाररहित जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें विकार उत्पन्न करनेवाले शब्दादि विषय प्रारब्धकर्मवश प्रविष्ट होते हैं, वह पुरुष ज्ञानबलसे परम-शान्तिको प्राप्त करता है—वह विकारको नहीं प्राप्त होता। विषयोंकी इच्छा करने वाले पुरुषको शान्ति नहीं मिलती ॥ ७० ॥

यथा काकस्य रात्र्यन्धस्य दिनमुलूकस्य दिवान्धस्य निशा। रात्रौ पश्यतश्चोलूकस्य यद्दिनम् रात्रिरेव सा काकस्येति महदाश्चर्यमेतत्। अतस्तत्त्वदर्शिनः कथमाविद्यकक्रियाकारकादिव्यवहारः स्यादिति, स्वतः सिद्ध एव तस्येन्द्रियसंयम इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

बाध हो जाता है, अतः निमित्ताभावसे विपरीत दर्शन नहीं होता। इसमें प्रमाण 'यत्र वा अन्यदिव' इत्यादि श्रुति है। जिस अवस्थामें अज्ञानकल्पित अनात्मपदार्थ आत्मभिन्नके समान होता है, उस अवस्थामें अन्य अन्यको देखता है। यहाँ श्रुतिमें स्थित शब्दसे वास्तविक आत्मभिन्नका निराकरण है, केवल तद्वत् प्रतीत होता है, इह अज्ञानावस्थाका अनुवाद है। ज्ञानावस्थामें सब आत्मा ही हो जाता है। आत्मव्यतिरिक्त वस्तुमात्रका अभाव हो जाता है, तो आत्मदर्शी किससे किसको देखे। कर्मकरणादि सबकी निवृत्ति होनेसे आत्मव्यतिरिक्त दर्शनाभाव स्वतः प्राप्त होता है। इससे विद्या और अविद्याकी व्यवस्था कही है। जैसे रात्र्यन्ध काकका दिन दिवान्ध उलूककी निशा है। रात्रिमें देखनेवाले उलूकका जो दिन है वह काककी रात्रि ही है, यह महान् आश्चर्य है। तत्त्वदर्शीको अविद्याकल्पित क्रियाव्यवहार कैसे हो सकता है ? इस तरह स्वतः सिद्ध ही उनका इन्द्रियसंयम है। [भाव यह है कि जो लौकिक और वैदिक व्यवहार है, सो उत्पन्नतत्त्वज्ञानवान्को नहीं होता, क्योंकि व्यवहारमात्र अज्ञाननिमित्तक है। तत्त्वविद्यासे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। त्वम्, अहम् भावरूपरात्रि सब पदार्थोके अविवेकका हेतु है परमार्थतत्त्व अज्ञानियोंकी निशा है। उसमें संयमी योगी जागता है—प्रबुद्ध होता है। सब कर्म अविद्यादशामें ही उत्पन्न होते हैं। सूर्योदय होनेपर नैशान्धकारवत् अज्ञान नष्ट हो जाता है, तन्मूलक सकल पदार्थकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ६९ ॥

एतादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वविक्षेपशान्तिरप्यर्थसिद्धेति, सदृष्टान्तमाह—'आपूर्यमाणम०' इति ।

सर्वाभिर्नदीभिरापूर्यमाणं सन्तं वृष्ट्यादिप्रभवा अपि सर्वा आपः समुद्रं प्रविशन्ति । कीदृशम्, अचलप्रतिष्ठम्-अनतिक्रान्तमर्यादम् । अचलानां-मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा गाम्भीर्यातिशय उक्तः । यद्वत्-येन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्-तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं निर्विकारमेव सन्तं कामाः-अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दाद्याः सर्वे विषया अवर्जनीयतया

ऐसे स्थितप्रज्ञकी सकल विक्षेपशान्ति भी अर्थतः सिद्ध है, यह दृष्टान्तके साथ करते हैं—आपूर्यमाणम् इत्यादिसे । संपूर्ण नदियोंसे आपूर्यमाण होते हुए यानी सब नदियां साक्षात् या परंपरया समुद्रमें ही गिरती हैं । इनके जलोंसे आपूर्यमाण होनेपर, तथा फिर कैसे यानी अचलप्रतिष्ठा—अचला प्रतिष्ठा यस्य—जो अपनी मर्यादाका अतिक्रम—त्याग नहीं करता ऐसे समुद्रमें वृष्टि आदिके द्वारा उत्पन्न हुए सभी नदियोंके जल प्रविष्ट होते हैं [जैसे इतर नदियां वर्षाकालमें अपनी-अपनी मर्यादाका अतिक्रमकर दूरस्थ ग्रामोंको भी जलाप्लावनसे कष्ट पहुँचाती हैं, बहुत छोटी-छोटी पहाड़ी नदियाँ तो ग्रीष्म कालमें जब जलकी आवश्यकता रहती है तो सूख जाती हैं और वर्षाकालमें जब जलकी आवश्यकता नहीं रहती, तो समुद्रवद् दुस्पार हो जाती हैं । उन सब नदियों एवं महानदियोंका जल समुद्रमें ही आता है, पर समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता—न कभी घटता है और न कभी बढ़ता ही है । सब जल समुद्र ही में जाता है और समुद्रसे बाहर कहीं नहीं निकलता, फिर भी समुद्र एक इञ्च न बढ़ता है और न घटता ही है । अनादि कालसे जलका प्रवाह हजारों मार्गसे समुद्रमें जाता है तथा कितना मट्टी वर्षाकालमें नदियाँ बहाकर ले जाती हैं लेकिन उनसे एक इञ्च भी नहीं पटता । चार महीनेमें ही कितने दियर नदियोंमें होते हैं, वह कहीं वहाँ देख नहीं पड़ती । गङ्गासागर अब भी वैसा ही है, जैसा पूर्वमें था ।] अथवा अचल मैनाकादि पर्वत उनकी 'प्रतिष्ठति अस्याम्' इति प्रतिष्ठा यानी आश्रय है । इससे गाम्भीर्यातिशय कहा है । [इतना अथाह है कि कितने पर्वत उसके गर्भमें है, परन्तु वे समुद्रको उथल पुथल नहीं कर सकते] यद्वत् यानी जिस प्रकारसे निर्विकाररूपसे समुद्र स्थित रहता है तद्वत् यानी उसी प्रकारसे निर्विकाररूपसे जिस स्थितप्रज्ञको समुद्रवत् निर्विकार अतिगम्भीरस्वभाव स्थितप्रज्ञको नदीजलके समान अज्ञानी पुरुष जिसको सदा चाहते हैं वे काम शब्दादिविषय प्रारब्धकर्मवश अवर्जनीय होनेसे प्रविष्ट होते हैं, किन्तु उस स्थितप्रज्ञके चित्तको विकृत नहीं कर सकते [यद्यपि स्थितप्रज्ञ उन कृत सुफलोंको अनायास उपस्थितोंको नहीं चाहता, जिनके लिये साधारणजन अतियत्न करते हैं, तथापि उन कामोंका प्रवेश प्रारब्धविकृत नहीं कर सकते ।

प्रारब्धकर्मवशात्प्रविशन्ति, न तु तच्चित्तं विकर्तुं शक्नुवन्ति, स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिम्-सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिम् बाधितानुवृत्ताविद्याकार्यनिवृत्तिञ्चाऽऽप्नोति-ज्ञानबलेन । न कामकामी-कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य, स कामकामी-अज्ञः शान्ति व्याख्यातां नाऽऽप्नोति । अपि तु सर्वदा लौकिकालौकिककर्मविक्षेपेण महति क्लेशार्णवे मग्नः

शङ्का—आपने अचल प्रतिष्ठाका दूसरा भी अर्थ किया है कि अचल मैनाकका आश्रय समुद्र है, यह पुराण प्रमाणसे सिद्ध तो है । पुराणमें ऐसी कथा है कि पुर्वकालमें पर्वतोंको भी पक्ष—पंख—थे, अतः स्वेच्छासे उड़कर पक्षीके समान वे भी चाहे जहां जा बैठते थे, इससे प्राणियोंको अपार क्षति होती थी, ग्रामादिपूर्ण प्रदेशमें पर्वतोंके बैठनेसे जब लोकसंहार होने लगा, तो इस दुःखको देखकर दुःखी पृथिवी-देवताने इनके परित्राणार्थं इन्द्रदेवके सम्मुख उपस्थित होकर उक्त अत्याचार सुनाया । इन्द्र तीनों लोकोंके राजा हैं, इनका धर्म है—प्रजापालन । इस हेतु वे अतिक्रुद्ध होकर पर्वतोंका पक्ष वज्रसे काटने लगे । उस समय मैनाकने भयभीत होकर समुद्रकी शरण ली । इस कारण उसका पक्ष अभी है, पर यहां कहा नहीं है, यह वृत्तान्त संक्षेपसे श्रीवाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमें भी है, परन्तु इसमें शङ्का यह है कि समुद्रमें मैनाक यदि सपक्ष, है तो वह चलता फिरता भी हैं, अन्यथा पक्षरक्षाश्रय प्रयोजन हीं नष्ट हो जायगा । यदि वह चालू है तो अचल कैसे ?

समाधान—'न चलः अचलः' यह अचल शब्दका योगार्थ है । रूढ्यर्थं पर्वत है । यहां रूढ्यर्थके तात्पर्यसे अचल शब्दसे मैनाक कहा गया है, अतएव 'गमेर्डोस' (औणादिक) इस व्युत्पत्तिसे जो गो शब्द बनता है, उसका योगार्थ है—जो चले सो गौ है, पर प्रयोग इस अर्थके तात्पर्यसे नहीं होता, अन्यथा मनुष्यादिमें भी 'गो' शब्दका प्रयोग होने लगेगा और बैठी हुई गौ में उक्त शब्दका प्रयोग नहीं हो सकेगा, कारण वह उस समय चलती नहीं है । तद्वत् रूढिके तात्पर्यसे उक्त प्रयोग मैनाकमें युक्त है । भाष्यकारने यह अर्थ नहीं किया, यह ठीक है, परन्तु इस अर्थका निषेध भी नहीं किया है, अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्यायसे भाष्यके अनुमत कह सकते हैं अथवा 'अचले ब्रह्मणि प्रतिष्ठा, यस्य तम् ।'] स्थितप्रज्ञ महासमुद्रस्थानीय है, वह लौकिक अलौकिक जितने कर्म हैं, उन सब कर्मोंसे निवृत्तिरूप शान्तिको प्राप्त करता है । यद्यपि शरीरेन्द्रिय विषयादि अनात्म पदार्थ आत्माके ज्ञानसे बाधित हैं, तथापि प्रारब्ध कर्मवश उनकी अनुवृत्ति भी, दग्धरज्जु की अनुवृत्तिवत्, स्थितप्रज्ञको होती ही है, तो भी अज्ञानकी निवृत्ति भी होती है अतः शान्ति और अज्ञान-निवृत्ति दोनों फलोंको स्थितप्रज्ञ पाता है] जो पुरुष कामोंकी कामना करता वह उक्त फल नहीं पाता । कामकामी—कामान् विषयान् पशुपुत्रस्वर्गादीन् कामयितुं शीलं यस्य, स कामकामी यानी अज्ञ— काम-काम्यादि स्वरूपभेदको जाननेवाला द्वैतदर्शी—उक्त शान्तिको नहीं पाता, किन्तु सदा लौकिकालौकिक कर्म-विक्षेपसे बड़े शोकसमुद्रमें निमग्न रहता है, यह वाक्यार्थ है । इससे विद्वत्संन्यास जो उक्त ज्ञानका

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष समस्त कामनाओंको छोड़कर स्पृहारहित, अहंकाररहित, ममता रहित बर्ताव करता है, वह पुरुष परम शान्ति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

भवतीति वाक्यार्थः । एतेन ज्ञानिन एव फलभूतो विद्वत्संन्यासः, तस्यैव च सर्वविक्षेपनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिः, दैवाधीनविषयभोगेऽपि निर्विकारतेत्यादिकमुक्तं वेदितव्यम् ॥ ७० ॥

यस्मादेवम्, तस्मात्प्राप्तानपि—'विहाय कामान्' इति ।

सर्वान्-बाह्यान्गृहक्षेत्रादीन् । आन्तरान्-मनोराज्यरूपान्-वासनामात्ररूपांश्च पथि गच्छतस्तृण-स्पर्शरूपान् कामांस्त्रिविधान्विहाय-उपेक्ष्य शरीरजीवनमात्रेऽपि निस्पृहः सन् । यतो निरहङ्कारः-शरीरेन्द्रियादावयमहमित्यभिमानशून्यः, विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसंभावनारहित इति वा । अतो निर्ममः शरीरयात्रामात्रार्थेऽपि प्रारब्धकर्माक्षिप्ते कौपीनाच्छादनादौ ममेदमित्यभिमान-वर्जितः सन् यः पुमांश्चरति - प्रारब्धकर्मवशेन भोगान्भुङ्क्ते, यादृच्छिकतया यत्र क्वापि

फल है, सो ज्ञानियोंको ही होता है । क्योंकि सर्वकर्मविक्षेपनिवृत्तिरूप जीवन्मुक्ति भी ज्ञानीको होती है । यद्यपि प्रारब्धकर्मवश भोग जीवन्मुक्तको भी होता है, पर उस भोगसे मनमें विकार नहीं होता, अपितु सदा चित्त निर्विकार ही रहता है । ज्ञानवान् पुरुष संसारकी हानिलाभसे वास्तविक सुखदुःख नहीं मानता इत्यादि जो पूर्वमें कहा है वह सब समझिये ॥ ७० ॥

जिस कारण कामकामियोंको शान्ति नहीं मिलती, संयमशीलोंको ही शान्ति मिलती है, इस कारण सब बाह्यभोगसाधन गृह, खेत, वाटिका आदि आन्तर मनोराज्यरूप तथा वासनारूप हैं । यह करेंगे तो यह प्राप्त होगा, फिर इससे ऐसा भोग होगा, इत्यादि मनःकल्पनासे जो सुख होता है, उसका साधन वासनामात्ररूप जो आन्तरिक मन है तन्मात्रकल्पित विषय आन्तरिक हैं । मार्गमें चलनेके समय जैसे तृणस्पर्श है, तद्वत् अनीप्सित होनेपर यानी अनुपादेय होनेपर भी अवश्यंभावी है । इन त्रिविध भोगोंका त्यागकर शरीर जीवनमात्रोपयोगी पदार्थोंमें भी निःस्पृह अथवा निरहंकार । शरीरेन्द्रियोंमें द्विविध अहंकार प्रसिद्ध है, यह मेरा शरीर है, यह मैं हूँ, इन द्विविध अहंकारोंसे शून्य मैं विद्वान् हूँ, इस संभावनासे रहित, अतः निर्मम-ममतासे रहित यानी शरीरयात्रा के उपयोगी अर्थमें भी जो प्रारब्धकर्मवश प्राप्त होते हैं—कौपीनाच्छादन-लङ्गोट लगाना आदिमें भी—'यह मेरा है' इस अभिमानसे शून्य होकर जो पुरुष प्रारब्धकर्मवश भोगोंका

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोग नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

हे पार्थ, यह ब्राह्मी स्थिति यानि ब्रह्म प्राप्त करनेवाली निष्ठा आपसे मैंने कही। जो पुरुष इस ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त कर लेता है, वह मोहमें नहीं पड़ता और अन्तिम वयमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

गच्छतीति वा। स एवंभूतः स्थितप्रज्ञः शान्तिम्-सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणामविद्यातत्कार्यनिवृत्तिमधिगच्छति - ज्ञानबलेन प्राप्नोति। तदेतदीदृशं व्रजनं स्थितप्रज्ञस्येति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरं परिसमाप्तम् ॥ ७१ ॥

तदेवं चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरव्याजेन सर्वाणि स्थितप्रज्ञलक्षणानि मुमुक्षुकर्तव्यतया कथितानि। संप्रति कर्मयोगफलभूतां सांख्यनिष्ठां फलेन स्तुवन्नुपसंहरति—'एषा' इति। स्थिप्रज्ञलक्षणव्याजेन कथिता 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति च प्रागुक्ता स्थितिःनिष्ठा-सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकपरमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी ब्रह्मविषया। हे पार्थ, एनां-स्थितिं प्राप्य यः

उपभोग करता है, स्वेच्छासे जहाँ कहीं भी जायें, वह स्थितप्रज्ञ संसारदुःखनिवृत्तिलक्षण अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तरूप शान्तिको ज्ञानबलसे प्राप्त करता है। इस प्रकारका व्रजन (चलन) स्थितप्रज्ञ का है, इस चतुर्थ प्रश्नका उत्तर समाप्त हो गया ॥ ७१ ॥

इस प्रकार चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके बहाने स्थितप्रज्ञके सब लक्षण, जो मुमुक्षुओंको अवश्य कर्तव्य हैं, कह दिये। अब कर्मयोगफलभूत सांख्यनिष्ठाकी फल द्वारा स्तुति करते हुये उपसंहार करते हैं—'एषा ब्राह्मी' इत्यादिसे। यह स्थितप्रज्ञलक्षणकथनके बहाने कही गई 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इत्यादि पूर्वोक्त स्थिति (निष्ठा) सब कर्मोंके त्यागपूर्वक परमात्मज्ञानलक्षण ब्राह्मी—ब्रह्मविषया—है। हे पार्थ, इस स्थितिको पाकर कोई भी कर्माधीन पुरुष फिर मुग्ध नहीं होता। उनको कोई रोक भी नहीं सकता, इसलिये अवर्जनीयतया कहा गया है। वह स्थितप्रज्ञ महासमुद्रस्थानापन्न है। वह ज्ञानकालसे सम्पूर्ण लौकिक अलौकिक यावत्कर्मविक्षेपनिवृत्तिरूप तथा बाधितानुवृत्त-अविद्याकार्यनिवृत्तिरूप शान्ति पाता है। [तत्तत्फललिप्सासे तत्तत्कर्मानुष्ठानमें चित्त व्यापृत होनेसे उसमें अशान्ति होती है। फलकामना निवृत्त होनेसे और फल तत्साधनोंमें मिथ्याज्ञान होनेसे तदर्थ चित्तमें विक्षेप नहीं होता। भोगावस्थामें भी

कश्चिदपि पुनर्न विमुह्यति । नहि ज्ञानबाधितस्याज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, अनादित्वेनोत्पत्त्य-संभवात् । अस्यां स्थितावन्तकालेऽपि-अन्त्येऽपि वयसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं-ब्रह्मणि निर्वाणम् निर्वृतिम्, ब्रह्मरूपं निर्वाणमिति वा, ऋच्छति-गच्छत्यभेदेन । किमु वक्तव्यं यो ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य, यावज्जीवमस्यां ब्राह्म्यां स्थिताववतिष्ठते, स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीत्यपिशब्दार्थः ।।

ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् ।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन्प्रकीर्तितम् ।। ७२ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीभगवत्पादशिष्यश्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां सर्व-गीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

चित्त चञ्चल होता है, परन्तु प्रारब्धकर्मवश वे भोग उपस्थित होते हैं । परन्तु स्थितप्रज्ञ चित्तको कुछ नहीं होता । [ज्ञानबाधित अज्ञानका पुनः संभव नहीं है, अज्ञान अनादि है, अनादिकी उत्पत्ति नहीं होती, अन्यथा अनादित्व ही व्याहत हो जायगा, इसलिये पुनः उत्पत्तिकी संभावना नहीं है । इसमें स्थित होकर अन्तकालमें यानी अन्त्यावस्था—वृद्धावस्थामें स्थित होकर ब्रह्ममें निर्वाण यानी निर्वृति अथवा ब्रह्मस्वरूप निर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त करता है यानी अभेदरूपसे प्राप्त करता है [अन्त्य पक्षमें मोक्ष, तत्प्राप्तिकर्ता एवं प्राप्तिकर्म एक ही है, इसलिये 'अभेदेन' कहा । गन्तव्य और गन्ता एक ही है, प्राप्ति औपचारिक है, आत्मा तो सदा मुक्त ही है, अज्ञानवश औपधिक बन्धको आत्मगत मानकर दुःखी है । आत्मा ही ज्ञात होनेसे अनात्मविवेक आत्मामें होता है । उस समय मानता है कि 'मैं मुक्त हूँ' इत्यादि अन्यत्र विस्तृत विवरण है] अन्त्य कालमें जिसको उक्त ज्ञान होता है, सो ब्रह्मरूप हो जाता है और जो ब्रह्मचर्य ही से संन्यास लेकर इस ब्राह्मी स्थितिमें रहता है सो मोक्ष पाता है इसमें आश्चर्य ही क्या ? उसको तो मोक्ष कैमुतिकन्यायसिद्ध ही है, यह 'अपि' शब्दका अर्थ है ।

अध्यायोक्तार्थका संक्षेपसे संग्रह करते हैं—ज्ञान, तत्साधन कर्म, तत्फल अन्तःकरणशुद्धि और तत्फल ज्ञाननिष्ठा—ये ही पदार्थ इस अध्यायमें कहे गये हैं ।। ७२ ।।

इति श्री म० म० पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितगीतामधुसूदनी-भाषानुवादमें दूसरा अध्याय समाप्त



तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

हे जनार्दन, निष्काम कर्मकी अपेक्षा यदि आत्माका ज्ञान अधिक श्रेष्ठ आपको अभिमत है, तो हे केशव, आप मुझे हिंसा आदि आयाससाध्य कर्मोंमें क्यों प्रवृत्त करते हैं ॥ १ ॥

एवं तावत्प्रथमेनाऽध्यायेनोपोद्घातितो द्वितीयेनाऽध्यायेन कृत्स्नः शास्त्रार्थः सूत्रितः। तथाहि—आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा। ततोऽन्तःकरणशुद्धिः। ततः शमदमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्मसन्यासः। ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा। ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा, तस्याः फलं च - त्रिगुणात्मकाविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तम्, तदन्ते च विदेहमुक्तिः। जीवन्मुक्तिदशायां च परमपुरुषार्थावलम्बनेन परवैराग्यप्राप्तिः, दैवसंपदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया। आसुरसंपदाख्या त्वशुभवासना तद्विरोधिनी हेया। दैव-

'स प्रसङ्ग उपोद्धातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैककार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते' ॥

—इस श्लोकमें प्रदर्शित रूपसे संगति छः प्रकारकी होती है। गीतामें विवक्षितार्थके साथ प्रथम अध्यायकी उपोद्घात संगति है। प्रथम अध्यायसे जिस अर्थका उपोद्घात किया गया है, वह सभी अर्थ द्वितीय अध्यायमें सूत्ररूपमें संक्षेपसे कहा गया है। तथाहि—इस ग्रन्थसे सूचितार्थको स्फुट (प्रकाश) करते हैं—सर्व प्रथम निष्काम कर्मकी निष्ठाका निरूपण किया गया है, तदनन्तर अन्तःकरणकी शुद्धि, तदनन्तर शम-दमादिसाधनसहित सर्वकर्मसंन्यास-त्याग, तदन्तर वेदान्तवाक्यविचारसहित भगवद्भक्तिनिष्ठा, तदन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठा, ज्ञाननिष्ठाका फल-त्रिगुणात्मक अविद्यानिवृत्तिमें जीवन्मुक्ति प्रारब्ध कर्मका फलभोगपर्यन्त, उसके अन्तमें विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्तिकालमें परमपुरुषार्थ मोक्षका अवलम्बन कर परवैराग्यप्राप्तिरूपतदुपकारक शुभ वासना ग्राह्य है।

वासना दो प्रकारकी है—दैवी और आसुरी। प्रथमा शुभवासना तथा उपकारिणी है, इसलिये उपादेय है, उसके संग्रहार्थ सदा प्रयत्नशील होना चाहिए, द्वितीया आसुरी संपद् है, यह अशुभ वासना

संपदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा। आसुरसंपदस्तु राजसी तामसी चेति; हेयोपादेय-विभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरिसमाप्तिः। तत्र 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादिना सूत्रिता सत्त्व-शुद्धिसाधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा सामान्यविशेषरूपेण तृतीय-चतुर्थाभ्यां प्रपञ्च्यते। ततः शुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसाधनसंपत्तिपुरःसरा 'विहाय कामान्यः सर्वान्' इत्यादिना सूत्रिता सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेपविस्तररूपेण पञ्चम-षष्ठाभ्याम्। एतावता च त्वंपदार्थोऽपि निरूपितः। ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना सूत्रिताऽनेक-प्रकारा भगवद्भक्तिनिष्ठाऽध्यायषट्केन प्रतिपाद्यते। तावता च तत्पदार्थोऽपि निरूपितः। प्रत्यध्यायं चावान्तरसंगतिम्, अवान्तरप्रयोजनभेदं च तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यामः।

ततस्तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना सूत्रिता तत्त्वज्ञान-निष्ठा त्रयोदशे प्रकृति-पुरुषविवेकद्वारा प्रपञ्चिता। ज्ञाननिष्ठायाश्च फलम्—'त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना सूत्रितम्, त्रैगुण्यनिवृत्तिश्चतुर्दशे, सैव जीवन्मुक्ति-रिति गुणातीतलक्षणकथनेन प्रपञ्चिता। 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' इत्यादिना सूत्रिता परवैराग्य-निष्ठा संसारवृक्षच्छेदद्वारेण पञ्चदशे। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इत्यादिना स्थितप्रज्ञलक्षणेन

तथा विरोधिनी है, अतएव त्याज्य है। दैवी सम्पत्तिका असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा है। राजस और तामस श्रद्धा आसुरी संपदाका कारण है, इस प्रकार ग्राह्य-त्याज्यके विभागसे सम्पूर्ण गीताशास्त्रार्थकी परिसमाप्ति है। उसमें 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादि वाक्यसे सूत्ररूपसे सत्त्वशुद्धिसाधनभूत निष्कामकर्म-निष्ठा सामान्य [संक्षेप] विशेष रूपसे तृतीय-चतुर्थ अध्यायोंसे प्रतिपादित है। तदनन्तर विशुद्धान्तःकरण पुरुषको शमदमादिसाधनसहित 'विहाय कामान् यः सर्वान्' इत्यादि वाक्यसे सूत्रित सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेप विस्तार रूपसे पञ्चम षष्ठ अध्यायोंसे कही गई है। इतने सन्दर्भसे 'त्वम्' पदार्थ संसारी आत्माका निरूपण हुआ, तदनन्तर वेदान्तवाक्यविचार सहित 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिसे सूत्रित अनेक प्रकार भगवद्भक्ति छः अध्यायों कही गई है। इतने ग्रन्थसे तत्पदार्थ परमात्माका निरूपण हुआ है, हर एक अध्यायोंमें अवान्तर संगति प्रयोजनविशेष आगे स्पष्ट करेंगे, इस अध्यायका इस अध्यायके साथ क्या संगति है और क्या प्रयोजन है, यह वहाँ ही उसी २ अध्यायके व्याख्यानके समय कहेंगे, वहीं ही जिज्ञासित भी होगा। इस समयके उपदेशको मन्दबुद्धि जन विस्मृतकर समयपर पुनः संगति और प्रयोजन पूछेंगे, तदनुरोधसे पुनः कहना आवश्यक होगा, इसलिए यही उत्तम प्रतीत होता है कि उसी समय इनका निर्देश किया जाय, तदनन्तर तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूप 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिसे सूत्रित तत्त्वज्ञाननिष्ठा तेरहवें अध्यायमें

सूत्रिता परवैराग्योपकारिणी दैवी संपदादेया। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिन्यासुरी संपच्च हेया षोडशे। दैवसंपदोऽसाधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिपरिहारेण सप्तदशे। एवं सफला ज्ञाननिष्ठाऽध्यायपञ्चकेन प्रतिपादिता। अष्टादशेन च पूर्वोक्तसर्वोपसंहार इति कृत्स्नगीतार्थसंगतिः।

तत्र पूर्वाध्याये सांख्यबुद्धिमाश्रित्य ज्ञाननिष्ठा भगवतोक्ता—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः, इति। तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्मनिष्ठोक्ता 'योगे त्विमां शृणु' इत्यारभ्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यन्तेन। न चाऽनयोर्निष्ठयोरधिकारिभेदः स्पष्टमुपदिष्टो भगवता। न चैकाधिकारिकत्वमेवोभयोः, समुच्चयस्य विवक्षितत्वादिति वाच्यम्; 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति कर्मनिष्ठाया बुद्धिनिष्ठापेक्षया निकृष्टत्वा-

---

प्रकृतिपुरुषविवेक द्वारा सविस्तार कही गई है। ज्ञाननिष्ठाका फल 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिसे सूत्रित है। त्रैगुण्यनिवृत्ति चौदहवें अध्यायमें निरूपित है, वही जीवन्मुक्ति है, यह गुणातीतलक्षणकथनसे विस्तृत कही गई है। 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' इत्यादिसे सूत्रित परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदन द्वारा पन्द्रहवें अध्यायमें कही गई है। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना' इत्यादि स्थितप्रज्ञलक्षणसे सूत्रित परवैराग्योपयोगिनी दैवी सम्पत्ति ग्राह्य है। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिसे सूत्रित तद्विरोधिनी आसुरी सम्पदा हेय है, यह सोलहवें अध्यायमें कहा है। दैवी सम्पत्तिकी असाधारण कारण सात्त्विकी श्रद्धा, जो 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादि से सूत्रित है, इसको विरोधी राज-तामस परिहार द्वारा सत्रहवें अध्यायमें कथन है। इस प्रकार सफल ज्ञाननिष्ठा पांच अध्यायोंसे कही गई है। अठारहवें अध्यायसे सम्पूर्ण गीताशास्त्रार्थोंका उपसंहार है। इस प्रकार गीतार्थोंकी संगति है। इसमें पूर्वाध्यायमें सांख्यबुद्धिका आश्रयण कर भगवान्‌ने ज्ञाननिष्ठा कही है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इत्यादि। तथा योगबुद्धिका आश्रयण कर कर्मनिष्ठा कही हैं—'योगे त्विमां शृणु' यहांसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' एतत्पर्यन्त ग्रन्थसे। परन्तु इसमें रहस्य यह है कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा के अधिकारी विशेषका निरूपण नहीं किया।

शङ्का—यह रहस्य क्या है, यह तो स्पष्ट है कि मोक्ष ज्ञानकर्मसमुच्चयसे होता है, जैसा कि भागवत लोग मानते हैं। यदि दोनोंके अधिकारी भिन्न होते, तो उनका निरूपण भगवान् अवश्य करते, तद्भेदकाअकथनसे सूचित होता है कि भगवान्‌को भी मोक्षमें ज्ञानकर्मसमुच्चय इष्ट है।

समाधान—भगवान्‌को समुच्चय इष्ट नहीं, 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' इस वाक्यसे कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठासे निकृष्ट है, यह भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहे हैं। 'यावानर्थ उदपाने' यहाँ भी ज्ञानफलमें सब कर्मोंके

भिधानात्। 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र च ज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावस्य दर्शितत्वात्। स्थितप्रज्ञलक्षणमुक्त्वा च—'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशमसं ज्ञानफलोपसंहारात्। 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादौ ज्ञानिनो द्वैतदर्शनाभावेन कर्मानुष्ठानासंभवस्य चोक्तत्वात्। अविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षफले ज्ञानमात्रस्यैव लोकानुसारेण साधनत्वकल्पनात्। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेश्च। ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभवाद्भिन्नधिकारिकत्वमेवास्तु, सत्यमेवं संभवति; एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः। नहि कर्माधिकारिणं प्रति ज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता, न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा। एकमेव प्रति विकल्पेनोभयोपदेश इति चेत्? नः उत्कृष्टापकृष्टयोविकल्पानुपपत्तेः। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासंभवाच्च। तस्माज्ज्ञान-

---

फलोंका अन्तर्भाव दिखलाया है। स्थितप्रज्ञका लक्षण कहकर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' यों फलोपसंहार-द्वारा ज्ञाननिष्ठाकी स्तुति की है, 'या निशा सर्वभूतानाम्' यहाँ पर ज्ञानीको द्वैतदर्शन नहीं होता, यह कहा है; इससे ज्ञानीमें कर्माभाव अनायास सिद्ध होता है। कर्मानुष्टान द्वैतदर्शनके विना असम्भव है, यह तो अतिस्पष्ट है। ज्ञानी द्वैतदर्शी नहीं—यह भगवान् जब स्वयं कहते हैं, तब कर्मानुष्ठानका-अभाव सिद्ध ही हुआ, अविद्यानिवृत्तिलक्षण मोक्षरूपी फलका केवल ज्ञान ही साधन है। यदि दोनोंको उक्त फलमें कारण मानें तो गौरव दोष ही होगा। लोकमें भी अज्ञाननिवृत्तिमें ज्ञान ही कारण माना जाता है, तदतिरिक्त नहीं, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इस श्रुतिमें दृष्ट 'एव' कारसे ज्ञानातिरिक्तमें मोक्षसाधनत्वका निषेध स्पष्ट है।

अच्छा, तो तम और प्रकाशके समान विरोधी ज्ञान और कर्मका समुच्चय हो नहीं सकता, इसलिए भिन्नाधिकारिनिष्ठ ही मानना उचित है। ठीक है, परन्तु इसमें भी एक बड़ा दोष यह है कि एक ही अर्जुनके प्रति दोनोंका उपदेश उचित नहीं, जो जिसका अधिकारी हो, उसका उसको उपदेश देना चाहिये। अर्जुन किसके अधिकारी हैं, यह तो भगवान्‌को अविदित है, यह नहीं कह सकते, तथा न यही कह सकते हैं कि अधिकारीके निश्चयके विना भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। हाँ, यह कह सकते हैं कि अर्जुन दोनोंके अधिकारी हैं, क्योंकि उनके प्रति दोनोंका भगवदुपदेश है, पर यह अर्थ भी परस्पर विरोधसे नहीं कह सकते, कर्माधिकारीके प्रति न तो ज्ञाननिष्ठाका उपदेश उचित है और न ज्ञानीके प्रति कर्मनिष्ठाका उपदेश ही उचित है, अतः एक ही के प्रति विकल्पसे दोनोंका उपदेश है, चाहे कर्मनिष्ठा हो या चाहे ज्ञाननिष्ठा दोनोंमेंसे यथारुचि एक ही का आश्रयण करो।

कर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्वे एकं प्रत्युपदेशायोगात्, एकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासंभवात्कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपपत्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय, निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः अर्जुन उवाच—'ज्यायसी चेत्' इति ।

हे जनार्दन, सर्वैर्जनैरर्द्यते-याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याच्यस इति, नैवानुचितमिति संबोधनाभिप्रायः । कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी-प्रशस्ततरा । चेत्-यदि ते-तव मता, तत्-तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि-कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि ।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उत्तम (उत्कृष्ट) निकृष्टका विकल्प नहीं हो सकता । विकल्प सममें ही होता है । अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्षमें तारतम्य नहीं है, फलतारतम्यसे साधनमें भी तारतम्य कह सकते हैं । यदि फल तारतम्य इष्ट नहीं, तो तारतम्यभेदसे साधनद्वयका समावेश नहीं हो सकता । अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाके भिन्न एवं अभिन्न-अधिकारी भी नहीं कह सकते ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—एक ही अर्जुनके प्रति दोनोंका उपदेश देखते हैं, यदि वे भिन्नाधिकारिक होते तो एकके प्रति भगवान्का उपदेश न होता । यदि भगवदुपदेशानुसार दोनोंको एकाधिकारिक मानें तो उपपत्तिविरोध होता है । दोनोंका अनुष्ठान एक समयमें पुरुष कर ही नहीं सकता । और जब दोनोंका फल मोक्ष है, तब कर्मकी अपेक्षा ज्ञानकी प्रशंसा कैसे हो सकती है, यहाँ फलकी अपेक्षासे प्राशस्त्याप्राशस्त्यरूप विशिष्टता विवक्षित है, स्वरूपकी अपेक्षासे नहीं । विकल्प माननेसे उत्कृष्ट अनायास स्वल्पपरिश्रमसाध्य ज्ञानको छोड़कर निकृष्ट अनेक कायिक, वाचिक, मानसिक प्रयत्नोंसे साध्य कर्मका अनुष्ठान उचित नहीं, इसको मानकर अव्यवस्थित-बुद्धि अर्जुन बोले—'ज्यायसी चेत्' इति ।

हे जनार्दन ! 'अर्द गतौ याचने च'—यों गति और याचन अर्दधातुका अर्थ है । द्वितीय अर्थको लेकर व्युत्पत्ति कहते हैं कि स्वस्वाभीष्ट फलकी सिद्धिके लिए निखिल जनोंसे याच्यमान आप हैं, इसलिए मोक्ष-निश्चयके लिये मैं भी याचना करता हूँ, यह मेरी याचना अनुचित नहीं। जो सकलशिष्टसम्मत [चरित] मार्ग है उस मार्गपर चलनेसे किसी भी गन्ताको कोई भी अपथगामी नहीं कहता, अतः मेरी याचना आपसे अनुचित नहीं, यह जनार्दन पदसे संबोधन करनेका अभिप्राय है । निष्काम कर्मसे भी आत्मतत्त्वविषयक बुद्धि बड़ी है, यह यदि आप मानते हैं, तो क्यों हिंसादि अनेक प्रयत्नोंसे साध्य अनर्थबहुल कठिन संग्राममें मेरी प्रेरणा

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

कहीं ज्ञानकी प्रशंसा तो कहीं कर्मकी प्रशंसा—यों आपके संदेहकारक जो वाक्य हैं, उनसे आप मानो मेरी बुद्धिको मोहित कर रहे हैं यानी मेरे लिए कर्म अच्छे हैं या ज्ञान अच्छा है, यह नहीं जान पाता, अतः ज्ञान और कर्म दोनोंमेंसे जिस किसीसे मैं कल्याण प्राप्त करूं, उसे आप निश्चय करके मुझे कहिए ॥ २ ॥

हे केशव-सर्वेश्वर। सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मामि' त्यादिना त्वदेकशरणतयोपसन्नं प्रति प्रतारणा नोचितेत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

ननु नाहं कश्चिदपि प्रतारयामि, किं पुनस्त्वामतिप्रियम्, त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नम् पश्यसीति चेत्। तत्राऽऽह—'व्यामिश्रेणेव' इति।

तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव, मम त्वेकाधिकारिकत्व-भिन्नाधिकारिकत्वसंदेहाद्

करते हैं, मैं आपका भक्त हूँ, आज्ञाकारी हूँ, मेरे प्रति आप कहते हैं कि तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। इसलिए तुम स्वधर्म युद्धादि करो। 'कं ब्रह्माणं ईशं च वाति अनुचिकम्पयिषया तत्समीपं गच्छति इति केशवः'। आप अतिदयालु हैं—ब्रह्मा और रुद्रके अनुग्रहार्थ उनके समीप स्वयं जाते हैं, उनके ईश्वर होनेसे आप सबके ईश्वर हैं, तथा सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्' इत्यादि वाक्यसे पूर्वमें आपको आत्मसमर्पण कर चुका हूँ, अतएव आप ही मेरा एकमात्र शरण हैं, ऐसे अनन्य भक्तकी आपसे प्रतारणा (बहकाना) उचित नहीं—यह अर्जुनका उक्त शब्दसे संबोधन करनेका अभिप्राय है। आत्मदर्शनका हेतु ज्ञाननिष्ठा ही है, यह पूर्व प्रबन्धसे निर्णय हो चुका है। कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठाका हेतु है, आत्मदर्शनका साक्षात् हेतु नहीं, अतः साक्षात्-मोक्षज्ञानहेतुत्वरूप ज्यायस्त्व बुद्धि में ही है, कर्ममें नहीं और ज्ञाननिष्ठाके संपादनार्थ सब इन्द्रियोंके स्वविषयक प्रवृत्तिलक्षण व्यापारोंको रोकना आवश्यक बतलाया। यदि बुद्धि ही निश्रेयसाधनत्वेन इष्ट है, तो सर्वेन्द्रियव्यापारसाध्य कर्ममें, जो उक्त ज्ञानका विरोधी है, मेरी प्रेरणा क्यों करते हो, यह अर्जुनका अभिप्राय है ॥ १ ॥

भगवान् उत्तर देते हैं—मैं तो किसी भी प्राणीकी प्रतारणा नहीं करता, फिर तुम तो मेरे प्रिय शिष्य हो, तुम्हारी प्रतारणाकी क्या सम्भावना। अपि च, तुम कौन प्रतारणाका लक्षण मुझमें देखते हो, इसका उत्तर अर्जुन देते हैं—'व्यामिश्रेणेव' इत्यादि से।

सर्वेन्द्रियव्यापारोंके उपरामसे होनेवाला आत्मदर्शन निश्रेयसका साधन है। यह कहकर फिर कहते हैं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। इससे पूर्वोक्त निश्रेयस साधनसे विरुद्ध सकलेन्द्रियव्यापारोंसे होनेवाले कर्मोंको

व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रति ज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकम्, तेन वाक्येन त्वं मे-मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानादबुद्धिम्-अन्तःकरणं मोहयसीव-भ्रान्त्या योजयसीव। परमकारुणिकत्वात् त्वं न मोहयस्येव, मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः। एकाधिकारित्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेः, एकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः, प्रागुक्तेर्यद्यधिकारिभेदम् मन्यसे, तदैकं मां प्रति विरुद्धयोर्निष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमेवाधिकारं मे निश्चित्य वद। येनाऽधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चाऽनुष्ठितेन ज्ञानेन

कहते हैं, निःश्रेयसका साधन। इसलिए मैं यह नहीं समझ सका कि मैं कर्मसंन्यास करूँ या कर्म करूँ मुझे अभी तक यही प्रतीत हो रहा है:कि मेरे लिए दोनों कर्तव्य कहे गये हैं, पर दोनों एक समयमें नहीं हो सकते, इसलिये मैं इसको 'व्यामिश्र वाक्य' समझकर प्रार्थना करता हूँ कि ऐसी प्रतारणा भक्तके प्रति क्यों ? में यह भी समझता हूँ कि आपका वाक्य मिश्रित नहीं है, किन्तु स्वान्तःकरणकी अशुद्धिसे संशय होता है कि यह वाक्य एकाधिकारिक है, या भिन्नाधिकारिक अर्थात् एक ही अधिकारीके उद्देश्यसे दोनों वाक्य हैं अथवा भिन्नाधिकारीके उद्देश्यसे दो वाक्य हैं यानी किसीके प्रति कर्मनिष्ठाका उपदेश है और किसीके प्रति ज्ञाननिष्ठाका। द्वितीय अर्थमें वाक्य व्यवस्थित है परन्तु प्रथम अर्थमें व्यामिश्रित है। तात्पर्यनिर्णयके विना एकतर अर्थका निश्चय नहीं होगा, अतः मैं आपके वाक्यको संकीर्ण सा मानकर मेरे प्रति आपके वाक्यसे ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा दोनोंका प्रतिपादन किया गया है। मैं कर्मयोग करूँ और ज्ञानयोग भी। पर दोनों एक समयमें एक पुरुषसे नहीं हो सकते और आप अपने उन वाक्योंसे अशुद्धान्तःकरणके कारण आपके तात्पर्यको ठीक तरहसे न समझनेवाले मुझको मुग्ध सा कर रहे हो। मेरे अन्तःकरणमें भ्रान्ति सी हो रही है, आप तो परम दयालु हैं, व्यर्थमें किसीके अन्तःकरणको भ्रान्तियुक्त नहीं करते, पर अपने मनोदोषसे मुग्ध हो रहा हूँ, यह 'इव' शब्दका अभिप्राय है।

एक अधिकारीसे ज्ञाननिष्ठा-कर्मनिष्ठा—इन दोनोंका सहानुष्ठान (एक साथ अनुष्ठान) समुच्चय अनुपपन्न है, अतः ये दोनों निष्ठाएँ एकार्थक नहीं है, अतः विकल्प भी अयुक्त ही है, एक ही अधिकारीमें अनुष्ठानविकल्प 'इदं वा कुरु, इदं वा कुरु' हो सकता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। इन दोनोंके अधिकारी भिन्न होनेके कारण वे व्यवस्थित हैं, विकल्पित नहीं। यदि अधिकारीका भेद मानते हैं, जैसा कि मैं समझता हूँ, तो मेरे एकके प्रति परस्पर विरुद्ध दो निष्ठाओंका उपदेश ठीक नहीं, अतः ज्ञान अथवा कर्म जिस किसी एकका अधिकार मुझमें हो उसको निश्चयकर कहिये, जिससे अधिकारनिश्चयपूर्वक आपसे उपदिष्ट और मेरेसे अनुष्ठित ज्ञान या कर्म एकही से मोक्ष पाउँ अर्थात् जिसमें मेरा अधिकार हो उसका निश्चयकर तद-

कर्मणा वैकेन श्रेयो-मोक्षमहमाप्नुयाम्-प्राप्तुं योग्यः स्याम् । एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारित्वे विकल्पसमुच्चययोरसंभवादधिकारिभेदज्ञानायाऽर्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम् ।

इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम् ।
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः ।। १ ।।
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया ।
आशयो भगवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये ।। २ ।।

नुरूप मुझको उपदेश करें कि तुम कर्मके अधिकारी हो—कर्म ही करो अथवा ज्ञानके अधिकारी हो, इसलिये सर्व कर्मसंन्यासपुरःसर आत्मज्ञानका उपाय श्रवण आदिमें प्रवृत्त हो । ऐसा निश्चय कर स्पष्ट ज्ञान हो अथवा कर्म जिसका मैं वस्तुतः अधिकारी हूँ वही एक कहिये, आपके आदेशानुसार उसी एकके ही अनुष्ठानसे मैं मोक्ष पाऊं या मोक्ष पानेके योग्य हो जाऊँ। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाओं तथा कर्मनिष्ठाओंका एक ही अधिकारी नहीं हो सकता, कारण एक अधिकारी माननेमें दो ही प्रकार हैं—विकल्प और समुच्चय । उक्त रीतिसे ये दोनों नहीं बन सकते, इसलिए अधिकारिभेदज्ञानके लिए अर्जुनका प्रश्न है यह स्थिर हुआ ।

यहांपर अन्य विद्वानोंके सब कुत्सित मतोंका श्रुति स्मृति और न्यायके बलसे भाष्यकारने जो निराकरण किया है, एक बार नहीं, किन्तु अनेक बार और बड़े प्रयत्नसे, उसके लिए मेरी प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि वे पूर्णरूपसे निरस्त हो चुके हैं, अब उनके पुनरुज्जीवनकी सम्भावना नहीं और न कोई निराकरणयुक्तियाँ ही अवशिष्ट हैं, जिनके प्रदर्शनार्थ मेरे व्यापारकी आवश्यकता हो । भाष्यकारोक्त सारदर्शी मैं केवल ग्रन्थकी योजनामात्र करता हूँ—भगवान् भाष्यकारके केवल आशयमात्रका प्रकाश करता हूँ वह भी इसलिए नहीं कि भाष्यकारके वचनोंसे उनका आशय स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, अतः मैं अच्छे ढंगसे उनका आशय सर्वसाधारणके लिए प्रकाशित कर दुं, क्योंकि ऐसी योग्यता मुझमें नहीं और भाष्यकारकी प्रतिपादनशैली सर्वोत्तम है, प्रत्युत इसलिए कि भाष्यार्थके संसर्गसे मेरा कलुषित वचन भी पवित्र हो जाय, बस, इसी अपने अभिप्रायसे वचनोंकी मैंने भाष्यार्थके साथ योजना की है । रथ्योदक (नालाका जल) भी गंगाप्रवाहके साथ संयुक्त होकर पवित्र हो जाता है तथा साधारण शब्द महापुरुषके शब्दार्थके साथ संयुक्त होनेपर पवित्र हो जाते हैं, ऐसा ही श्रीवाचस्पति मिश्रने भाष्यटीका भामतीके आरम्भमें कहा है, वही वक्तव्य यहाँ भी है, स्वकीय विनम्रता प्रकाशनमें मुख्य तात्पर्य है । कुत्सितमतोंका निराकरण भाष्यमें विशद है । अतः मैं भी निष्प्रयोजन व्यर्थ दूसरोंके खण्डननसे विरत हुआ ।। २ ।।

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

भगवान्ने कहा—हे पापरहित अर्जुन, इस लोकमें ज्ञानस्थिति और कर्मस्थिति—यों दो प्रकारकी स्थितियाँ हैं, ऐसा पूर्व अध्यायमें मैंने कहा। उनमें आत्मज्ञान पाये हुऐ शुद्धचित्त योगियोंकी ज्ञानस्थिति है और कर्माधिकारी अशुद्धचित्तोंकी कर्मस्थिति है॥ ३॥

एवमधिकारिभेदेऽर्जुनेन पृष्टे, तदनुरूपं प्रतिवचनं श्रीभगवान् उवाच 'लोके' इति। अस्मि- न्नधिकारित्वाभिमते लोके - शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा-द्विप्रकारा निष्ठास्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च पुरा - पूर्वाध्याये मया तवात्यन्तहितकारिणा प्रोक्ता- प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता। तथाचाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः। हेऽनघ-अपापेति संबोधयन्नुपदेशयोग्यतामर्जुनस्य सूचयति। एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विप्रकारा, न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम्। तथा च वक्ष्यति— 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति। तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति-

इस प्रकार अधिकारभेदका प्रश्न अर्जुनने किया, तदनुरूप उतरवाक्यसे भगवान् बोले—भगवानुवाच 'लोके' इति। अधिकारित्वेन इष्ट इस लोकमें शुद्धान्तःकरण और अशुद्धान्तःकरण भेदसे दो प्रकारके अधिकारीजन होते हैं—'लोकस्तु भुवने जने' इस अमरकोशके अनुसार यहाँ लोकशब्द जनवाची है। दो प्रकारके मनुष्य हैं, इसलिए हमने दो निष्ठायें पूर्वमें स्पष्ट कहीं यानी एक ज्ञानपरता और द्वितीय कर्मपरता। पूर्वाध्यायमें सर्वजनहितकामनासे मैंने स्पष्ट कहा। ऐसी स्थितिमें दोनों निष्ठाओंका एक अधिकारी है इस आशयसे ऐसा निश्चय मत करो कि यह असम्भव उपदेश करते हैं। भगवान् तो ऐसा कहेंगे नहीं, किन्तु मेरी बुद्धिका दोष है कि मैं भगवदभिप्रायको नहीं समझ रहा हूँ, इत्यादि। हे अनघ-हे अपाप, इस सम्बोधनसे अर्जुनमें उपदेशयोग्यता सूचित होती है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि स्मृति वाक्यसे निष्पापान्तःकरणमें उपदेशवाक्यसे आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, सपापान्तःकरणमें नहीं। एक ही निष्ठा साध्यसाधनावस्थाके भेदसे दो प्रकारकी मैंने कही है, उक्त दोनों निष्ठायें स्वतन्त्र हैं, इस अभि- प्रायसे नहीं, इसको स्पष्ट करनेके लिए निष्ठा एकवचनान्तका उपादान किया, 'निष्ठे' ऐसा द्विवचनान्तका

सांख्येति—संख्या - सम्यगात्मबुद्धिः, तां प्राप्तवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां सांख्यानां ज्ञानयोगेन-ज्ञनमेव युज्यते-ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगः, तेन निष्ठोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना। अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानां योगिनां-कर्माधिकारयोगिनाम् कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्धयाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगः, तेन निष्ठोक्ता अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकारोहणार्थं 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना। अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः, विकल्पो वा। किन्तु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणानाम् सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा

नहीं ? इसी अभिप्रायसे आगे भी कहेंगे—'एकं सांख्यञ्च योगं च यः पश्यति स पश्यति' दो प्रकार वही निष्ठा दिखलाते हैं। संख्याशब्द यहाँ एकत्वादि संख्यापरक नहीं है, इसको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ संख्याका अर्थ समीचीन आत्मबुद्धि है जो प्राप्त आत्मबुद्धि है, ब्रह्मचर्याश्रमसे ही शमदमादि-साधनसम्पत्ति, समावेशसे सकलफल तत्तद्कर्मके त्यागी है, वेदान्तवाक्यश्रवण आदिसे जिनको सुनिश्चित वेदार्थज्ञान है, तथाभूत शुद्धान्तःकरण, अतएव ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ सांख्यको ज्ञानयोगसे 'ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः, 'युज्यते ब्रह्मणा अनेन इति योगः' 'साधकका ज्ञान द्वारा ब्रह्मयोग ब्रह्मस्वरूपाविर्भाव होता है, इसलिए ज्ञानयोग भी कहलाता है, जो योगसे निष्ठा कही गई है—'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिसे। सो अशुद्धान्तःकरण हैं, अतएव ज्ञानभूमिमें अनारूढ़ हैं, जिनके अन्तः करणमें तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यता नहीं है, वे केवल योगी हैं, उन कर्माधिकारियोंके लिए कर्मयोगका, यह अर्थ है कि—'कर्मैव युज्यते अन्तःकरण-शुद्धयादिना इति कर्मयोगः' अनभिसन्धिकृत नित्यादि कर्मोंसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, तदनन्तर तत्त्वज्ञानद्वारा ब्रह्मयोग होगा, यतः उनके लिए कर्मयोग कहा गया है। कर्ममें योगसे निष्ठा कही है। अन्तःकरणशुद्धि-द्वारा ज्ञानभूमिकाके आरोहणार्थ 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिसे, स्वधर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि, तदनन्तर ज्ञानोत्पत्ति होती है, इसलिए ज्ञानभूमिकाप्रवेशार्थं कर्मयोग कहा गया है अतएव ज्ञानका समुच्चय अथवा विकल्प ये दोनों नहीं है, किन्तु निष्काम कर्मानुष्ठानसे परिपूतान्तःकरणको सब कर्मोंका त्याग करनेसे ही ज्ञान होता है, इस तरह चित्तकी 'अशुद्धि' अवस्था और 'शुद्धि' अवस्थाके भेदसे एक ही तुमको द्विविध निष्ठा नही है, जबतक अन्तःकरण शुद्ध न हो, तबतक तुम्हारा कर्मयोगमें अधिकार है, एसलिए तुमको कर्मयोग ही करना चाहिये, ज्ञानयोग नहीं, जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय तब ज्ञानयोग उचित है, कर्मयोग नहीं, इसलिए अवस्था भेदसे मिथोविरुद्ध दोनों निष्ठायें एक पुरुषमें भी होती है, अतः भूमिकाकी अवस्थाभेदसे एक पुरुषके प्रति भी दोनोंका उपदेश उचित है, इसलिए अधिकार भेदसे निष्ठाद्वय

निष्ठोक्ता—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति। अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगान्नाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः। एतदेव दर्शयितुमशुद्धचित्तस्य चित्तशुद्धिपर्यन्तं कर्मानुष्ठानं 'न कर्मणामनारम्भाद्' इत्यादिभिः 'मोघं पार्थ स जीवति' इत्यन्तैस्त्रयोदशभिर्दर्शयति। शुद्धचित्तस्य तु ज्ञानिनो न किंचिदपि कर्मापेक्षितमिति दर्शयति' "यस्त्वात्मरतिरि" ति द्वाभ्याम्। 'तस्मादसक्तः' इत्यारभ्य तु बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वं सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण संभवति फलाभिसंधिराहित्यरूपकौशलेनेति दर्शयिष्यति। ततः परन्तु, 'अथ केन' इति प्रश्नमुत्थाप्य कामदोषेणैव काम्यकर्मणः शुद्धिहेतुत्वं नास्ति। अतः कामराहित्येनैव कर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानाधिकारी भविष्यसीति यावदध्यायसमाप्ति वदिष्यति भगवान्॥ ३॥

है, एकके प्रति दोनोंका उपदेश व्यर्थ है, यह समझना ठीक नहीं एकही पुरुषमें दो भूमी है, तदनुसार दोनोंके अनुष्ठानार्थ दोनोंका उपदेश अपेक्षित है, इसीको दिखलानेके लिये अशुद्धचित्तके प्रति यावत् चित्तशुद्धि न हो, तावत्पर्यंत कर्मका अनुष्ठान "न कर्मणामनारम्भात्" से लेकर "मोघं पार्थं स जीवति" एतत्पर्यंत तेरह श्लोकोंसे दिखलाते हैं, और शुद्धचित्त ज्ञानीको कोई भी कर्म अपेक्षित नहीं, क्योंकि कर्म अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ है। ज्ञानीका अन्तःकरण शुद्ध ही है, फिर उसके लिए कर्मोंकी अपेक्षा क्यों हो? नदी पार करनेको नौकाकी आवश्यकता पड़ती है, समुत्तीर्णनदी को (जो नदी पार कर चुका है) उसको—नौकाकी क्या आवश्यकता, इस अभिप्रायसे भगवान् स्वयं दिखलाते हैं, "यस्त्वात्मरतिरेव" इत्यादि श्लोकद्वयसे। "तस्मादसक्तः" यहाँसे लेकर बन्धहेतु भी कर्म मोक्षहेतु है केवल कामनासे जो कर्म किये जाते हैं, वे मोक्षहेतु नहीं है। कामना ही दोष है, इससे अन्तःकरण दूषित होता है, कामनात्याग करने पर उनसे भी सत्त्वशुद्धि होती है, ततः ज्ञानोत्पत्तिद्वारा बन्धहेतु भी कर्म मोक्षहेतु होते हैं, केवल कर्तामें कौशल चाहिये कौशल-फलराहित्य है, संखिया विषमारक है पर मारकत्व अंशको शुद्धकर जीवनार्थ भी वैद्य उसका उपयोग करते हैं, मारकत्व, और जीवनोपयोगित्व, दोनों वैद्य के कौशलसे होते हैं, तद्वत् बन्धहेतुत्व और मोक्षहेतुत्व कर्ताकी कुशलतासे कर्ममें हैं, ततःपर "अथ केन" इत्यादि ग्रन्थसे प्रश्नको उठाकर कामदोषसे काम्य-कर्म शुद्धिहेतु नहीं होते, अतः कामनाशून्य होकर कार्य करनेवाला शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञानाधिकारी होता है, इस तरह तुम भी ज्ञानाधिकारी होगे यह यावदध्यायसमाप्ति - तृतीय अध्यायसमाप्तिपर्यन्त भगवान कहेंगे॥ ३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

भद्र, आत्माके ज्ञानके लिए जो कर्म (वेदाध्ययनादि) विविक्षित हैं, उनका अनुष्ठान किये विना पुरुष कर्मशून्यता प्राप्त नहीं कर सकता और चित्तशुद्धि हुए विना किये गये संन्याससे सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

'न कर्मणाम्' इति । तत्र कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः कर्मणाम्—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्याऽऽत्मज्ञाने विनियुक्तानाम्, अनारम्भात्-अननुष्ठानाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानायोग्यो बहिर्मुखः पुरुषो नैष्कर्म्यम्-सर्वकर्मशून्यत्वं ज्ञानयोगेन निष्ठामिति यावत् । नाश्नुते न प्राप्नोति । ननु 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' बृ.उ.४.४.२२ इति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव ज्ञाननिष्ठोपपत्तेः, कृतं कर्मभिरिति । अत आह—न च संन्यसनादेव । चित्तशुद्धिं विना कृतात्सिद्धिम् ज्ञाननिष्ठालक्षणां सम्यक्फलपर्यवसायित्वेन नाधिगच्छति-नैव प्राप्नोतीत्यर्थः । कर्मजन्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण संन्यास एव न संभवति । यथाकथञ्चिदौत्सुक्यमात्रेण कृतोऽपि, न फलपर्यवसायीति भावः ॥ ४ ॥

'न कर्मणाम्' इत्यादि इसमें कारणके अभावमें कार्यका भी अभाव होता है, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः" इत्यादि श्रुतिसे आत्मज्ञानके साधनरूपसे उपदिष्ट कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धि होगी नहीं, इसलिए वह पुरुष ज्ञानके अयोग्य अतएव बहिर्मुख बाह्यविषयग्रहणपरायण सर्वकर्मशून्यत्व नैष्कर्म्य (निष्क्रियोक्तस्वरूपेण अवस्थान) ज्ञानयोगसे निष्ठाको नहीं पाता ।

शंका—'ननु एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' इत्यादि श्रुतिसे सर्वकर्म संन्याससे ही ज्ञान निष्ठाकी उपपत्ति की गई है, फिर एतदर्थ कर्मोंका अनुष्ठान व्यर्थ है ।

समाधान—चित्त शुद्धिके विना केवलकर्म संन्यासमात्रसे ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि कोई नहीं पाता, यदनन्तर मोक्ष रूप फल होता है, तादृशनिष्ठा फलपर्यवसायिनी है सो कर्मसे उत्पन्न शुद्धि तत्सहित चित्तको ही होती है, चित्त शुद्धिके विना केवल कर्मसन्याससे मोक्ष नहीं होता ।

शंका—तो फिर श्रुतिमें ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान—श्रुति शुद्धान्तःकरण पुरुषपरक है क्योंकि जो रागद्वेषसे आविल (कलुषित) चित्त है, वे सब भूतोंको सर्वात्मना अभयदान—('अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरेदि'ति) नहीं दे सकते । अतः यह ठीक ही है, 'नच सन्यसनादेवेति' केवल कर्मत्यागमात्रसे मोक्ष नहीं होता, वस्तुतः कर्मजन्य चित्तशुद्धिके विना समीचीन कर्मत्याग ही नहीं होता, उत्कण्ठामात्रसे सन्यास करने पर भी फलप्रद नहीं होता, फल आत्मैकत्वावलोकन है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय नहीं है, वह चूंकि क्षणभरके लिए भी कुछ कर्म किये विना रह ही नहीं सकता, इसलिये ऐसा पुरुष संन्यासी नहीं बन सकता, शुद्धचित्तसे वर्जित पुरुष परवश होकर स्वभावजनितरागादिसे लौकिक, अलौकिक कर्म करता ही रहता है ॥ ५ ॥

ततः कर्मजन्यशुद्ध्यभावे बहिर्मुखः 'न हि' इति। हि-यस्मात्क्षणमपि कालं जातु - कदाचित्कश्चिदप्यजितेन्द्रियोऽकर्मकृत्सन्न तिष्ठति। अपि तु लौकिक-वैदिककर्मानुष्ठानव्यग्र एव तिष्ठति। तस्मादशुद्धचित्तस्य संन्यासो न संभवतीत्यर्थः। कस्मात्पुनरविद्वान्कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति। हि यस्मात्सर्वः प्राणी चित्तशुद्धिरहितोऽवशः-अस्वतन्त्र एव सन्प्रकृतिजैः-प्रकृतितो जातैरभिव्यक्तैः कार्याकारेण सत्त्वरजस्तमोभिः, स्वभावप्रभवैर्वा रागद्वेषादिभिर्गुणैः कर्म लौकिकं वैदिकं वा कार्यते। अतः कर्माण्यकुर्वाणः

मनमें कर्मजन्य शुद्धि न होनेसे बाह्यविषयमें सदा पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, यही 'न हीति' से कहते हैं। यहां 'हि' हेत्वर्थक है, प्रसिद्धार्थक नहीं। हि—यस्मात्, अजितेन्द्रिय, इन्द्रियवशंवद प्राणी एक क्षण भी किसी समयमें कर्मके विना नहीं रह सकता सदा वैदिक, वा लौकिक, कर्मानुष्ठानमें व्यापृतचित्त रहता है, यह किया, यह करते हैं, यह करना है, इसके लिए इतनी सामग्री एकत्रित है, शेषके लिए ये व्यापार करने हैं, इत्यादि चिन्तासे चित्त व्याकुल रहता है। कर्म फलकामनासे ही किये जाते हैं अतः फलार्थी शुद्ध चित्त नहीं हो सकता, इसलिये फल तत्कर्मरूप सन्यास उसको नहीं होता।

प्रश्न—अविद्वान् कर्म विना क्यों नहीं रह सकता ?

उत्तर—कारण यह है कि प्राणिमात्र चित्तशुद्धि रहित है। अतएव अवश (पराधीन) होते हैं, जिनका चित्त शुद्ध है वे ही स्वतन्त्र हैं, अन्य सब प्रकृतिके परतन्त्र हैं, प्रकृति जो चाहती है वही कराती है, प्रकृतिके सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण हैं, ये प्रकृतिसे उत्पन्न हैं।

शंका—ऐसा मत कहिये वे तीनों गुण नित्य हैं, इनकी उत्पत्ति कहां ?

समाधान—उत्पत्तिका तात्पर्य अभिव्यक्तिसे है।

शंका—एतत्त्रिगुणात्मक ही तो प्रकृति है, फिर प्रकृतिसे गुणत्रयाभिव्यक्तिका कथन गुणत्रयसे गुणत्रयाभिव्यक्तिकथनवदात्माश्रयदोषसे दुष्ट है ?

न कश्चिदपि तिष्ठतीत्यर्थः। यतः स्वाभाविका गुणाश्चालकाः, अतः परवशतया सर्वदा कर्माणि कुर्वतोऽशुद्धबुद्धेः सर्वकर्मसन्यासो न संभवतीति, न संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा संभवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

समाधान—अच्छा तो 'कार्याकारेण परिणतैः गुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रेरितः पुरुषः करोति यह भगवान आगे कहेंगे 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'। 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' अथवा प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः, इस कोशके अनुसार यहाँ प्रकृतिशब्द स्वभाववाची है, मनके स्वाभाविक गुण राग, द्वेष, मोह, हैं जो क्रमशः सत्वरजस्तमः प्रभव हैं, अतः वे ही गुण रागादिना परिणत हो कर बलात् कर्म कराते हैं, उक्तगुणत्रय प्रतिक्षण परिणामी है एक क्षण भी विना परिणामके नहीं रह सकते, फिर उनसे उत्पन्न और तदात्मककार्य स्थिर कैसे रह सकता है, तत्कार्यमें स्थिरता सम्पादनके लिए शास्त्रोक्त उपायका अवलम्बन करना चाहिये, विना शास्त्रोपायज शुद्धिके अशुद्धचेता प्राणी कर्मके विना क्षणभर भी नहीं रह सकता, यह बिलकुल ठीक है, कारण इसमें यही है कि गुण स्वयं चालक है, अतः इनके जो अधीन है वे सदा कर्म करते ही रहेंगे, कर्मानुष्ठानसे प्रतिदिन बुद्धि अशुद्ध होती रहेगी, अतः सर्वकर्मसन्यास उसमें असम्भव ही समझना चाहिए अतः सन्यासहेतुक ज्ञाननिष्ठा उनमें नहीं हो सकती।

[शंका—जातु शब्द और क्षणशब्द ये दोनों कालवाची हैं, अतः दोनोंके उपादानमें पुनरुक्त दोषका परिहार कैसे ?

समाधान—जातु शब्द दिवसादि स्थूलकालका बोधक है और क्षण तदवान्तर सूक्ष्मकालका बोधक है, अर्थभेदसे पुनरुक्त दोष नहीं है। एक दिनमें ऐसा कोई क्षण नहीं बीतता जिसमें प्राणी कर्म न करे, किन्तु सदा कर्म करता ही रहता है।

शंका—तब जातुशब्द व्यर्थ हुआ। कोई क्षण ऐसा नहीं जाता जिसमें प्राणी कर्म न करे, यही कहना ठीक है, दिन स्थूलकालका अभिधान व्यर्थ है।

समाधान—प्रलयकालमें निर्व्यवहार ही जीव रहता है इसलिये दिनादि आवश्यक है, प्रलयमें सूर्यादिके न रहनेपर दिन व्यवहार नहीं होता।

शंका—सूर्यपरिस्पन्दसे क्षणादि व्यवहार भी होता है, अतः प्रलयादिमें क्षण व्यवहार कैसे ?

समाधान—परमाण्वादिविभागजनक क्रियासे क्षणादिव्यवहार शास्त्रसंगत होता है। ब्रह्माके दिनमें सृष्टि और उनकी रात्रिमें प्रलय, ब्रह्माका दिन हजार युग चौकड़ीका होता है। रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है, इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये।

शंका—सुषुप्तिकालमें कोई कर्म नहीं करता फिर कैसे कहते है सदा कर्म करता है ?

समाधान—ठीक तो कहते हैं उक्त कालमें सुषुप्ति ही कर्म करती है, श्वासप्रश्वास भी तो पुरुषव्यापार-तन्त्र है, अन्यथा मृतपुरुषमें भी तत्प्रसंग हो जायगा, अतएव धर्मशास्त्रोंमें समयविशेषमें स्वापका प्रतिषेध है

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

राग द्वेषसे दूषित अन्तःकरणवाला जो पुरुष उत्सुकतासे बाह्य इन्द्रियोंसे कर्म न कर मनसे इन्द्रियोंके अर्थोंका स्मरण करता रहता है—मैं संन्यासी हूँ, यों अभिमान कर कर्मोंसे विरत रहता है, वह उसका 'पपाचार' कहता है॥ ६॥

यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतसंन्यासस्त्वशुद्धचित्तस्तत्फलभाङ्न भवति यतः—'कर्मेन्द्रियाणि' इति।

यो विमूढात्मा-रागद्वेषादिदूषितान्तःकरण औत्सुक्यमात्रेण कर्मेन्द्रियाणि-वाक्पाण्यादीनि संयम्य-निगृह्य बहिरिन्द्रियैः कर्माण्यकुर्वन्निति यावत्। मनसा रागादिप्रेरितेनेन्द्रियार्थान् शब्दादीन्, नत्वात्मतत्त्वं स्मरन्नास्ते, कृतसंन्यासोऽहमित्यभिमानेन कर्मशून्यस्तिष्ठति, स मिथ्याचारः-सत्त्वशुद्ध्यभावेन फलायोग्यत्वात्पापाचार उच्यते,

---

'दिवास्वापं न कुर्वीत संध्ययोरुभयोरपि' इत्यादि पुरुषयत्नसाध्यका ही विधि तथा प्रतिषेध होता है; 'नान्तरिक्षे, दिव्यग्निश्चेतव्यः' तै०सं० ५-२-७ इत्यादि अशक्यार्थका प्रतिषेध हिरण्यनिधान स्तुत्यर्थ हैं, यह भी मीमांसामें स्पष्ट है। अकर्मकृत् कर्माभाव करता है यह अर्थ नहीं अभाव कृतिसाध्य नहीं है, यदि कृतिसाध्य हो तो कर्मही होगा अकर्म नहीं फिरभी कृतिसाध्य हो तो व्याहताभिधान है, अतः कर्मका अकर्ता क्षणभर भी नहीं रहता किन्तु सदा कार्य करता ही रहता है यह तात्पर्य है।

शंका—सर्वशब्दसे ज्ञाननिष्ठाका भी ग्रहण स्वतः सिद्ध है तो वह भी सदा कर्म करता ही रहता है यदि ऐसा है तो सन्यास किसीको भी हो ही नहीं सकता? फिर इसका विधान ही व्यर्थ है और ज्ञाननिष्ठाकी चर्चा भी नहीं हो सकती।

समाधान—कर्मयोगसे जिन लोगोंने चित्तके मलको क्षीण कर लिया है उनमें व्यतिरिक्त सर्वशब्दार्थ है वे नहीं है॥ ५॥]

उत्कृष्ट इच्छासे अनधिकारी होनेपर भी—किसी तरह कृतसन्यास अशुद्धचित्त पुरुष सन्यासफलभागी नहीं होता, यह कहते हैं 'कर्मेति' से। विशेष रूपसे मूढ है जिसका आत्मा ऐसा जो रागद्वेषमोहादिसे दूषितान्तःकरण पुरुष है, वह उत्कटेच्छामात्रसे वागादि इन्द्रियोंका निग्रह कर, अर्थात् बहिरिन्द्रियोंसे कर्म न कर रागादि प्रेरित मनसे इन्द्रियार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि, विषयोंका स्मरण करता रहता है, आत्मतत्त्वका स्मरण नहीं करता जिसके लिए सन्यास किया है, अब मैं सन्यासी हूं, मुझे कोई कर्म नहीं करना है, इस अभिमानसे कर्मशून्य होकर चुपचाप बैठा रहता है वह मिथ्याचार है, सत्त्वशुद्धि-अन्तःकरण-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरमतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

फलोंकी इच्छा छोड़कर और मनके साथ सब ज्ञानेन्द्रियोंको विषयोंको हटाकर जो पुरुष कर्मेन्द्रियोंसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह पापाचार पुरुषसे उत्तम है ॥ ७ ॥

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत्' ॥'

इत्यादिधर्मशास्त्रेण । अत उपपन्नं 'न च संन्यसनादेवा'शुद्धान्तःकरणः 'सिद्धिं समधिगच्छती'ति ॥ ६ ॥

शुद्धिके अभावसे फलके अयोग्य होनेसे वह पापाचार कहाता है, त्वंपदार्थ विवेकके लिए सर्वकर्मोंका सन्यास श्रुत्यादि विहित है । त्वंपदार्थके विवेकके विना कर्मत्यागसे पतित होता है, जो यह कहते हैं कि 'दण्डग्रहण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत्' उनको इसका मनन करना चाहिये । विद्वत्सन्यास तो स्वतः सिद्ध है उनके बारेमें कुछ कहना ही नहीं है, परन्तु अविद्वत्सन्यास-आत्मतत्त्वके विवेकार्थ है, कर्मानुष्ठानसे इसमें बाधा न पहुँचे इसलिए सब कर्मोका त्याग कहा गया है, कर्मके त्यागसे सन्यासी की हानि नहीं, क्योंकि उसको किसी फलकी इच्छा नहीं, नित्यकर्मप्रत्यवायपरिहारार्थ जो विहित है, वे सन्यासीके लिए अतिस्वरूप है । यह कर्मसंक्षेप आत्मज्ञानोपाय श्रवणादिसम्पादनार्थक है यदि मुख्य 'त्वं' पदार्थ विवेक पर ध्यान न देकर केवल संन्यासमात्रसे मोक्ष हो जायगा, इस लोभमें पड़कर आत्मश्रवणादि नहीं करता, केवल कर्ममात्रका परित्याग करता है वह पापाचार है, अतः यह अर्थ उपपत्तियुक्त है कि कर्म सन्यासमात्रसे कोई भी पुरुष सिद्धि नहीं पाता, यह कहना बहुत ही उत्तम है । मिथ्याचार इसलिये कहाता है कि अन्यथा संकल्प कर अन्यथा आचरण करता है, संकल्प तो यह किया कि हम सब कर्मोका त्याग कर ज्ञान योगके साधनोंका अनुष्ठान करेंगे, परन्तु संन्यास लेने पर भी उक्त व्यापारमें प्रवृत्ति न होकर प्राचीन अशुद्ध संस्कारसे मनके द्वारा विषयोंका ही सेवन करता है । लोकवञ्चनार्थ केवल बहिरिन्द्रियोंका ही संयम करता है बाह्येन्द्रियप्रवृत्ति रूप फल अतिस्फुट हैं, लोकको ज्ञात हो जायेगा तो मेरी अप्रतिष्ठा होगी । इसलिए उसका ही परित्याग करता है, मनोवृत्ति किसीको विदित नहीं होती, इसलिए तद्द्वारा इष्टविषयोंके स्मरणसे मनोराज्य सुखानुभव करता है, वह मिथ्याचार है यह यथार्थ ही है । उत्तम फलाशासे प्रवृत्त होकर तदुपाया-नुष्ठान न कर तद्विपरीत कर्मानुष्ठानसे पतित हो जाता है यह संन्यासियोंको अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये ॥ ६ ॥

औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्माण्यसंन्यस्य, चित्तशुद्धये निष्कामकर्माण्येव यथाशास्त्रं कुर्यात्। यस्मात्—'यस्तु' इति।

तुशब्दोऽशुद्धान्तःकरणसन्यासिव्यतिरेकार्थः। इन्द्रियाणि-ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनसा सह नियम्य-पापहेतुशब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य, मनसा विवेकयुक्तेन नियम्येति वा, कर्मेन्द्रियैः-वाक्पाण्यादिभिः कर्मयोगं-शुद्धिहेतुतया विहितं कर्मारभते-करोत्यसक्तः फलाभिलाष-शून्यः सन् यो विवेकी, स इतरस्मान्मिथ्याचाराद्विशिष्यते। परिश्रमसाम्येऽपि फलातिशय-भाक्त्वेन श्रेष्ठो भवति। हेऽर्जुनाऽऽश्चर्यमिदं पश्य—यदेकः कर्मेन्द्रियाणि निगृह्य, ज्ञानेन्द्रियाणि

उत्कटेच्छावश सब कर्मोंको न त्यागकर चित्तशुद्धिके लिए निष्काम कर्मको ही शास्त्रानुसार करे, यह कहते हैं—'यस्मात्-यस्त्वि'ति इत्यादिसे। श्लोकमें 'तु' शब्द अशुद्धान्तःकरण जो सन्यासी हैं, उनको अलग करता है। इन्द्रियशब्द यहाँ ज्ञानेन्द्रियपरक है। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंका मनके साथ निग्रहकर पापजनक विषयासक्तिसे उनको निवृत्तकर अर्थात् प्रतिषिद्ध विषयसेवनका त्यागकर अथवा विहित अविहित सभीं विषयोंमें प्रवृत्तिशील इन्द्रियोंको विवेकबुद्धियुक्त मनसे विहित विषयमें ही रोककर (लगाकर), यह भी अर्थ हो सकता है। नियन्त्रण दो प्रकारका होता है—एक प्रतिकूल विषयसे व्यावृत्ति और दूसरा अनुकूल विषयमें प्रवृत्ति। इसलिए दोनो अर्थ कहा।

यद्यपि अनुकूलके प्रवृत्ति नियमसे प्रतिकूल व्यावृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है, तथापि प्रतिकूलव्यावृत्तिसे अनुकूलप्रवृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है, यह भी कह सकते हैं। उभयतः प्रवृत्तिनिवृत्तिसे भी यह सिद्ध होती है, अतः कैसा नियन्त्रण शाब्द है, कैसा आर्थ, इसमें विनिगमक नहीं। अतः उभयार्थाभिधान उचित ही है। भाव यह है कि कर्मयोगके लिए समस्त इन्द्रियोंका सर्वविषयोंसे निरोध करना व्याहृत है, क्योंकि कर्मा-नुष्ठानके लिए विहितविषयोंमें प्रवृत्ति आवश्यक है। भाव यह है कि कर्मयोगके लिये समस्त इन्द्रियोंका सर्वविषयोंसे निरोध करना व्याहृत है, क्योंकि कर्मानुष्ठानके लिये विहितविषयोंमें प्रवृत्ति आवश्यक है। केवल प्रतिकूल विषयोंसे इन्द्रियोंको रोकना परमावश्यक है। इन्द्रियोंको प्रतिकूल और अनुकूल आदिका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मनमें ही यह ज्ञान होगा। मनोधीन इन्द्रियाँ हैं, इसलिये विवेकयुक्त मनसे नियम्य कहा। प्रथम अर्थमें यदि मन स्वयं प्रतिषिद्ध विषयमें प्रवृत्त होगा तो वह इन्द्रियोंको नहीं रोक सकता, इस अभिप्रायसे साहित्य अर्थमें तृतीया मानकर मनके साथ इन्द्रियोंको असद्विषयोंसे रोकना कहा है। द्वितीय अर्थमें मनको विवेकी कहा, इस कारण असद्विषयमें मनकी स्वतः ही प्रवृत्ति न होगी। उससे नियन्त्रण करना व्यर्थ है। 'मनसा' करणमें तृतीया है। जो पुरुष शास्त्रोक्तकर्म बहिरिन्द्रियोंसे चित्तशुद्धिके लिये फला-भिलाषारहित होकर करता है सो मिथ्याचारसे बहुत अच्छा है। यद्यपि मिथ्याचार और विवेकी दोनोंको

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तुम नियत कर्म करो, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म किये बिना शरीरका चलाना भी पूरा नहीं हो सकता अर्थात् शरीरका बसर भी नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

व्यापारयन्पुरुषार्थशून्यः, अपरस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य, कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन् परमपुरुषार्थभाग्भवतीति ॥ ७ ॥

यस्मादेवम्, तस्मान्मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियैः—'नियतम्' इति

त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा नियतम्-विध्युद्देशे फलसम्बन्धशून्यतया नियतनिमित्तेन विहितं कर्म श्रौतम्, स्मार्तं च नित्यमिति प्रसिद्धं कुरु। कुर्विति मध्यमपुरुषप्रयोगेणैव त्वमिति लब्धे, त्वमिति पदमर्थान्तरे संक्रमितम्। कस्मादशुद्धान्तःकरणेन कर्मैव कर्तव्यम्। हि-यस्मात्-

---

इन्द्रियनिग्रहादि व्यापार सम है, तथापि विवेकी फलभागी होता है, मिथ्याचार नहीं, क्योंकि उसने मनकी शुद्धिके लिये कर्मानुष्ठान नहीं किया, अतः शुद्धिरूप फलभागी नहीं होता, फिर परमपुरुषार्थ प्राप्तिकी क्या सम्भावना ? अतः दोनोंमें विवेकी श्रेष्ठ है। हे अर्जुन, यह आश्चर्य है कि कर्मेन्द्रियोंको रोककर ज्ञानेन्द्रियोंको व्यावृत्त कर रहा एक पुरुष तो पुरुषार्थसे शून्य रह जाता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियोंको रोककर कर्मेन्द्रियोंसे व्यापारकर परम पुरुषार्थका भागी हो जाता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार दोनों विशेष विषय हैं, अतः मनसे ज्ञानेन्द्रियोंका निग्रहकर कर्मेन्द्रियोंसे यतः तुमने पूर्व जन्ममें मनकी शुद्धिके लिये कर्म नहीं किया है, इसलिये नित्यकर्म करो।

शङ्का—नियतसे नित्यकर्मका लाभ कैसे होता है।

समाधान—काम्यकर्मोंके विधायक वाक्योंमें विधिके उद्देश्य फलका सम्बन्ध नियमसे रहता है। यथा—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। यहाँ स्वर्गकामका उद्देश्यकर यागका विधान है। जो स्वर्गको चाहे, वह याग करे। यागविधिके उद्देश्यमें स्वर्गका फल श्रुत है इसलिये यह काम्य कर्म है और जिस कर्मविधायक वाक्यके उद्देश्यांशमें फलाभाव नियत है—'अहरहःसन्ध्यामुपासीत' इत्यादि। वहाँ शुचि विहितकालजीवित्वके उद्देश्यसे नित्यकर्मका—सन्ध्याका विधान है, इसलिये उद्देश्यांशमें फलाभाव होनेसे वही नियतवाक्य है। यह विहित सन्ध्या नित्यकर्म है, एवं अग्निहोत्रादि श्रौत नित्यकर्म है। एवं जो पञ्चमहायज्ञादि कर्म हैं, उनकी नित्यकर्मसे प्रसिद्धि लोकमें है, इसको करो।

शङ्का—युष्मदर्थमें मध्यमपुरुष होता है, अतः मध्यमपुरुष 'कुरु' से ही 'त्वम्' (तुम) का लाभ सिद्ध

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

हे अर्जुन, यज्ञके कार्य यानी ईश्वरार्पण कर्मके अतिरिक्त दूसरा जो कोई भी कर्म इस जगत्में कर्मबन्धनरूप ही है ऐसा समझो, अतः फलाभिलाषाशून्य होकर ईश्वर आराधनाके लिये वर्णाश्रमोचित कर्म करो ॥ ९ ॥

अकर्मणः-अकरणात्कर्मैव ज्यायः-प्रशस्यतरम् । न केवलं कर्माभावे तवान्तःकरणशुद्धिरेव न सिध्येतः, किन्तु अकर्मणो युद्धादिकर्मरहितस्य ते-तव शरीरयात्रा-शरीरस्थितिरपि न प्रकर्षेण क्षात्रवृत्तिकृतत्वलक्षणेन सिध्येत् । तथा च प्रागुक्तम् । 'अपि चे' त्यन्तःकरणशुद्धिसमुच्चयार्थः ॥८॥

है फिर 'त्वं' शब्दका प्रयोग क्यों, कुरु कहनेसे ही 'त्वं कुरु' इस अर्थका लाभ सर्वानुभव सिद्ध है। जो विना शब्दोच्चारणसे प्रतीत नहीं, उसके लिये शब्दोच्चारण आवश्यक माना जाता है।

समाधान—ठीक है, यहां 'त्वम्' शब्द अर्थान्तिर संक्रमित है यानी अर्थान्तरबोधनार्थ है—अन्योंको असुलभ सकल कल्याणभाजन प्रिय शिष्य तुम ही हो, इसलिये तुमसे यह शास्त्ररहस्य कहते हैं। इस विशेष अर्थके बोधनके लिये 'त्वम्' शब्दका प्रयोग किया गया है। यह साहित्यका विषय है 'अतः विशेष परिचय करानेमें अधिक लिखना होगा, इसलिये सामान्यरूपसे एक उदाहरण देते हैं—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' यह वाक्य सीताविरहातुर, लीलावतार, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका है। वर्षाकालिक समुन्नत मेघवलाकादिको आकाशमें देखकर अभिव्यक्त मनोविकार होकर बोले कि मैं तो राम हूं, सब सह लूंगा, पर सीताजी कैसे सहेगी, यहां वाणीसे तथा 'अस्मि सहे' इत्यादिसे भगवान्‌का बोध सिद्ध ही था, फिर 'राम' पदकी क्या आवश्यकता थी, इसका उत्तर आलंकारिक यह देते हैं कि राम शब्द दशरथापत्यविशेषका वाचक है, उसका लाभ उक्त रीतिसे हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है, उसके तात्पर्यसे यहां रामका प्रयोग भगवान्‌ने नहीं किया, किन्तु अत्यन्त दुःखसहिष्णु अर्थबोधके तात्पर्यसे उक्त शब्दका प्रयोग है। राज्यच्युति, वनवास, प्रियावियोगादि सहन करनेवालेको यह दुःख 'असह्य' नहीं, दुःख सहनेके लिये ही मेरा जन्म हुआ है, 'दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्' इत्यादि वाक्यान्तरसे स्पष्ट है, यद्यपि इस विषयके अनेक उदाहरण हैं, तथापि भगवद्वाक्यमें भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है, इसमें दार्ढ्योत्पादनके लिये भगवद्वाक्यका उपन्यास किया है, अन्यथा 'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति' इत्यादिका अनुरूप उदाहरण देते, कर्म करनेमें हेतु कहते हैं—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही अच्छा है, केवल कर्म न करनेसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध न होगा, यही हानि नहीं है, किन्तु युद्धकर्म न करनेसे तुम्हारी शरीरकी स्थिति भी न रह

'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः सर्वं कर्म बन्धात्मकत्वान्मुमुक्षुणा न कर्तव्यमिति मत्वा, तस्योत्तरमाह—'यज्ञार्थात्' इति । यज्ञः-परमेश्वरः 'यज्ञो वै विष्णुः' तै. ब्रा. ३. १. ६. ६२. इति श्रुतेः । तदाराधनार्थं यत्क्रियते कर्म, तद्यज्ञार्थम् । तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र-कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यते, न त्वीश्वराराधनार्थेन । अतस्तदर्थं-यज्ञार्थं कर्म । हे कौन्तेय त्वं कर्मण्यधिकृतो मुक्तसङ्गः सन् समाचर-सम्यक्श्रद्धादिपुरःसरमाचर ॥ ६ ॥

सकेगी, भिक्षावृत्ति तुम्हारे लिये गर्हीत है, वह केवल ब्राह्मणोंके लिये है, तुम्हारी तो उत्कृष्टवृत्ति क्षात्रवृत्तिसे लब्ध विषयोंसे उचित है, जो युद्धके विना नहीं हो सकती, इस तात्पर्यसे 'त्वम्' शब्दका उपादान है, वह पूर्वमें कह चुके हैं, 'अपि च' यह शब्द अन्तःकरणशुद्धिका समुच्चयार्थ करनेके लिये है, यह भी न होगा ॥ ८ ॥

शङ्का—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इस स्मृतिसे स्पष्ट है कि कर्म ही से प्राणी-बद्ध होते हैं अर्थात् कर्म ही बन्धन है, मुमुक्षु इसीसे मुक्त होना चाहता है, मैं भी मुमुक्षु हूँ, फिर मेरे लिये विपरीत उपदेश क्यों, मुक्तीच्छासे कर्म करना तो विपरीत है ।

समाधान—'यज्ञार्थात्' इति 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि श्रुतिसे यज्ञशब्दार्थ यहाँ विष्णु भगवान् है, 'यज्ञः अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्, तस्मात्' परमेश्वरके आराधनार्थ जो कर्म किये जाते हैं उनके अतिरिक्त जो कर्म होते हैं वे बन्धन है । यह उक्त स्मृतिके वचनका तात्पर्य है । ईश्वराराधनकर्मव्यतिरिक्त काम्यकर्मकलापमें प्रवृत्त पुरुष कर्मका अधिकारी यानी काम्यकर्मविधायक वाक्योंसे तत्तत्फलकामनाधिकारिविषयत्वेन श्रुत है । 'स्वर्गकामः, पशुकामः' इत्यादि काम्यकर्मानुष्ठानसे जन्मग्रहण आवश्यक है अन्यथा फलभोगी नहीं हो सकेगा । शरीर धारण करनेपर संसार नियत है, इसलिये कर्मको बन्धन कहा है । ईश्वराराधनार्थ कर्म बन्धन नहीं है, अतः ईश्वराराधनार्थ कर्म हे कौन्तेय, तुम कर्ममें ही अधिकृत हो, मुक्तसङ्ग—फलासक्तिरहित होकर सम्यक् श्रद्धादिके साथ भक्ति परायण होकर इससे तुमको बन्धन न होगा, प्रत्युत बन्धनकी निवृत्ति होगी अर्थात् यज्ञार्थात्-यज्ञ कर्मस्वरूप निर्वाहार्थ जो द्रव्यार्जनादि कर्म शास्त्रविहित है, उससे बन्ध नहीं होता, किन्तु उसमें स्वार्थ बुद्धि होनेपर वह बन्धक होता है । यतः यज्ञार्थ कर्म बन्धक नहीं है, इसलिये तदर्थ कर्म करो, किन्तु उस कर्मके करनेमें जो कौशल है, उसपर ध्यान रहे कौशल मुक्तसंग है । उससे कुछ फलकी इच्छा न करो ।

शङ्का—विना फलेच्छासे प्रवृत्ति कैसे होगी ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माने यज्ञ (नित्यानित्यनियम) और प्रजा (जनों) को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञके अनुष्ठानसे अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्मोंके अनुष्ठानसे तुम्हारी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, इसे तुम लोग अपनी इष्टफल देनेवाली कामधेनु समझो ॥ १० ॥

प्रजापतिवचनादप्यधिकृतेन कर्म कर्तव्यमित्याह—'सहयज्ञाः' इत्यादिचतुर्भिः ।

सहयज्ञेन-विहितकर्मकलापेन वर्तन्त इति सहयज्ञाः-कर्माधिकृता इति यावत् । 'वोपसर्जनस्य' इति पक्षे सादेशाभावः । प्रजाः-त्रीन्वर्णान्पुरा-कल्पादौ सृष्ट्वोवाच । प्रजानां पतिः-स्रष्टा । किमुवाचेत्याह—अनेन यज्ञेन-स्वाश्रयोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वम्-प्रसूयध्वम् । प्रसवः-वृद्धिः । उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । कथमनेन वृद्धिः स्यादत आह—

समाधान—मित्रके कार्यमें सहायतार्थं जो सज्जन कर्म करते हैं अपना निजका कोई प्रयोजन नहीं रखते, तद्वत् केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करो, ऐसे कर्मसे सन्तुष्ट ईश्वर अनादि कर्मवासनाकी निवृत्तिकर आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षफल तुमको अवश्य देगें ।

कर्ममें ल्युट्का विधान नहीं है, प्रवृत्तपदका अध्याहारादि दोष तथा बहुव्रीहि न माननेसे पुल्लिङ्गकी उत्पत्ति नहीं, तथा भाष्य भी विरुद्ध हैं । दर्दुर दृष्टियोंको इस पर ध्यान देना चाहिये, यहाँपर भाष्यकारने 'कर्म बन्धनं यस्य सः' बहुव्रीहि समास माना है, तदनुसार बन्धनशब्द भावल्युडन्त है । स्वामीजीने 'कर्मणा बध्यते' यहाँ लिखकर कर्मल्युडन्त माना है, सो ठीक नहीं ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीके आदेशसे भी यह निश्चित है कि अधिकारीको कर्म करना चाहिये यह कहते हैं 'सह-यज्ञाः' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

यज्ञ शास्त्रविहित कर्मसमुदायका उपलक्षण है । 'तेन सह वर्तते इति' सहयज्ञा 'वोपसर्जनस्य' इस सूत्रसे सहके स्थानमें विकल्पसे 'स' आदेश होता है, अतः सयज्ञाः, सहयज्ञाः ये दोनों प्रयोग साधु हैं । पूर्वकल्पमें प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंकी सृष्टिकर कहा ।

शङ्का—क्या कहा ?

समाधान—इस यज्ञसे और स्वाश्रमोचितधर्मोंके अनुष्ठानसे अपनी वृद्धि करो, उत्तरोत्तर समृद्धिका लाभ करो ।

शङ्का—इससे वृद्धि कैसे होगी ?

एष-यज्ञाख्यो धर्मो वो-युष्माकमिष्टकामधुक्-इष्टानभिमतान्कामान्काम्यानि फलानि दोग्धि, प्रपयतीति तथा। अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः। अत्र यद्यपि यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थम्, अकरणे प्रत्यवायस्याग्रे कथनात्। काम्यकर्मणां च प्रकृते प्रस्तावो नास्त्येव, 'मा कर्मफल-हेतुर्भूः' इत्यनेन निराकृतत्वात्, तथापि नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसद्भावात्, 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्युपपद्यते। तथा चापस्तम्बः स्मरति—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमिते [निर्मिते] छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते, नो चेदनूत्पद्यन्ते, न धर्महानि-र्भवति' इति। फलसद्भावेऽपि तदभिसंध्यनभिसंधिभ्यां काम्यनित्ययोर्विशेषः। अनभिसंहि-तस्याऽपि वस्तुस्वभावादुत्पत्तौ न विशेषः। विस्तरेण चाग्रे प्रतिपादयिष्यते॥ १०॥

समाधान—यह यज्ञनामक धर्म आप लोगोंको इष्टप्रद है, इष्टको-काम्यपशुपुत्रस्वर्गादिफलोंको 'दोग्धि प्रापयति इति इष्टकामधुक्' जो चाहोगे सो फल यह देगा, अतः यह आप लोगोंके बड़े कामका है। यद्यपि ब्रह्मा केवल काम्ययज्ञोंको ही 'इष्टधुक्' नहीं कह रहे हैं, अन्यथा 'नित्य' कर्मोंका संग्रह नहीं होगा। काम्य कर्मोका 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इस वचनसे प्रतिषेध होनेसे उनका प्रसंग ही नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धिसम्पादक-कर्मोंका ही यहां अवश्यकर्तव्यत्वेन उपदेश है, जिनके न करनेसे चित्तशुद्धि न हो, करनेसे चित्तशुद्धि हो, वे यहाँ विवक्षित हैं, अतएव यज्ञ शब्दको आवश्यककर्मोपलक्षणार्थक मानकर नित्यकर्मका भी संग्रह किया है। परन्तु वे इष्टफलप्रदा न ही हैं। अन्यथा उनमें भी काम्यत्वापत्ति हो जायगी। प्रधान फलका निर्देश तदुत्पत्तिबोधक वाक्यमें नहीं है, इसलिये वे अफल कहे जाते हैं। आनुषङ्गिक फल तो उनका भी होता है, नित्य कर्मानुष्ठानका प्रत्यवायपरिहार पापोंकी निवृत्ति फल तो माना ही जाता है, नित्यकर्म न करने पर पाप होता है, करनेपर पाप नहीं होता। पाप दुःखका कारण है; प्रत्यवायपरिहारद्वारा दुःखनिवृत्ति फल नित्यकर्मोंका हैं, जैसे कण्टकाकीर्णभूमिमें चलनेसे कण्टकवेधजन्य दुःख होता है, तद्भूमि का परिहार करनेसे कण्टकवधजन्य दुःखका परिहार होता है, तद्वत् प्रकृतमें भी समझना। इस अभिप्रायसे कामधुक् वे भी हैं, यह प्रजापतिका अभिप्राय है धर्मसूत्रकार आपस्तम्बने भी कहा है—'तद्यथेत्यादि' वचन ऊपर देखिये उक्त वचनका अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं, जैसे फलार्थं आमके लगानेसे छाया, गन्ध, आनुषंगिक फल होता है एवं धर्म करनेवालेको अर्थप्राप्ति होती है यह धार्मिक है, मेरे द्रव्यका सदुपयोग करेंगे, जिससे हमको भी धर्म होगा इस अभिप्रायसे लोग द्रव्य देते हैं और उस दानसे भी धर्म होता है, फल होनेपर धर्महानि नहीं होती है।

शङ्का—यदि नित्य कर्मका भी फल है तो नित्य काम्य कर्मोंमें भेद ही क्या ?

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस धर्मरूपी यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करनेसे देवता तुम पर प्रसन्न होंगे। इस प्रकार परस्पर विश्वास रखनेसे परम कल्याण प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

कथमिष्टकामदोग्धृत्वं यज्ञस्येति, तदाह—'**देवान्**' इति।

अनेन-यज्ञेन यूयं यजमाना देवान्-इन्द्रादीन्भावयत-हविर्भागैः संवर्धयत-तर्पयतेत्यर्थः। ते देवा युष्माभिर्भाविताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण संवर्धयन्तु, एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च परं श्रेयः-अभिमतमर्थं 'प्राप्स्यथ देवास्तृप्तिं प्राप्स्यन्ति, यूयं च स्वर्गाख्यं परं श्रेयः प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

समाधान—काम्यकर्मफल संकल्पपूर्वक होता है और नित्यकर्म तदपूर्वक; फलेच्छापूर्वकत्व तदभाव-प्रयुक्त दोनोंमें वैलक्षण्य है।

शङ्का—यदि फलसंकल्प नहीं होता तो फल क्यों होगा ?

समाधान—यह तो वस्तुका स्वभाव है कि दाहेच्छासे अग्निसंयोग हो या तदनिच्छासे, अग्निसंयोगमें दाहकत्व वस्तुस्वभाव है, इससे उसमें उभयथा दाह होता ही है तद्वत् मनः संकल्पादि प्रयुक्त विशेष नहीं यह विस्तारसे आगे कहेंगे ॥ १० ॥

शङ्का—इष्टफलदाता यज्ञ कैसे होते हैं, भाव यह है कि याग क्रियाकलापात्मक होनेसे क्षणप्रध्वंसी है, स्वर्गादिफल कालान्तरमें होगा, उस समय याग नहीं रह सकता तो याग उस फलका कारण कैसे होगा, कार्यके पूर्वक्षणमें वर्तमान ही कार्यका कारण माना जाता है, क्रियाफल क्रियाकालमें ही देखा जाता है। मर्दनक्रियाजन्य सुख मर्दनक्रियाकालमें ही अनुभूत है, कालान्तरमें नहीं, तद्वत् यागक्रियाकालमें जो फल हो, वही तत्फल हो सकता है, अन्य नहीं।

समाधान—स्वामिसेवा कालान्तरमें भी फलप्रद होती है, इस अभिप्रायसे उत्तर देते हैं कि इस यज्ञसे आप लोग देवताओंको तत्तद्धविर्भाग प्रदान द्वारा परितृप्त करें। आप लोगोंसे उक्तोपायद्वारा परितृप्त देवता सुवृष्टि समुत्पन्न अन्नादिसे आपको तृप्त करें, क्योंकि यज्ञादिसे सन्तुष्ट देवता सुवृष्टि करती हैं ततः व्रीहियवादि धान्योंकी उत्पत्ति होती है, सुभिक्षसे प्रजा बढ़ती है, यह सिद्ध अर्थ है। इस प्रकार परस्पर आप देवताओंको बढ़ावें, देवता आपको बढ़ावें। इस तरह परस्परके बढ़ावसे आप और देवता दोनों कल्याणको पावें। देवता यज्ञादिसे तृप्ति पावें और आप लोग स्वर्गनामक परमश्रेयस्कर दुःखसे नहीं मिला हुआ सुख पावें ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे सन्तुष्ट देवतालोग तुमको अभिलषित भोग देंगे यानी मनःकामना पूरी करेंगे। देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थको न देकर जो स्वयं भोगता है, वह चोर है ॥ १२ ॥

यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भक्षण कर रहे श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी पुरुष अपने शरीरके पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे पापको खाते हैं ॥ १३ ॥

न केवलं पारत्रिकमेव फलं यज्ञात्, किन्त्वैहिकमपीत्याह—'इष्टान्' इति । इष्टान्—अभिलषितान् भोगान्-पश्वन्नहिरण्यादीन् वो-युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते-वितरिष्यन्ति । हि-यस्माद्यज्ञैर्भाविताः-तोषितास्ते । यस्मात्तैर्ऋणवद्भ्वद्भ्यो दत्ता भोगाः, तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो-देवेभ्योऽप्रदाय यज्ञेषु देवोद्देशेनाऽऽहुतीरसंपाद्य, यो भुङ्क्ते-देहेन्द्रियाण्येव तर्पयति, स्तेन एव-तस्कर एव स देवस्वापहारी, देवर्णानपाकरणात् ॥ १२ ॥

यज्ञ से केवल पारलौकिक ही फलप्राप्ति नहीं होती, किन्तु इस लोकमें भी फलकी प्राप्ति होती है यह कहते हैं—'इष्टान्' इत्यादिसे। परलोकमें जो फल स्वर्गादि होता है वह पारलौकिक है, जो फल इस लोक ही में भोगार्थ मिलता है उसको ऐहलौकिक कहते हैं। यज्ञादिसे दोनों फलकी प्राप्ति होती है।

इष्ट-इच्छाविषय भोगसाधन पशु, अन्न, सुवर्ण, रजतादि आपलोगोंको देवता देंगे।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आप लोगोंने यज्ञमें देवताओंको सन्तुष्ट किया है, देवता ऋणी नहीं रह सकते वे खूब जानते हैं कि 'कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः'। विषयप्राप्ति तदुपभोगका सामर्थ्य आप लोगोंमें देवाधीन ही है, मनुष्य देवताके ऋणी हैं, जिस मनुष्यको देवताओंने भोगसाधन इस कामनासे दिया है कि यह यज्ञमें हमको सन्तुष्ट करेगा, अतः मनुष्य इन भोगसाधनोंको उत्तमर्ण देवताओंको न देकर अर्थात् देवोद्देश्यक होमादि न कर स्वयं उपभोग करता है—अपने शरीरेन्द्रियोंको तृप्त करता है, वह मनुष्य स्तेन है, यानी देवांशका अपहरण करता है, इसलिये चोर है। दूसरेकी वस्तुओंकी अपनानेवाला चोर कहा जाता है, देवताके ऋणको नहीं चुकाया इसलिये उसकी निन्दा चोरसे की गई है ॥ १२ ॥

'यज्ञशिष्टाशिनः' इति । ये तु वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टममृतं-अश्नन्ति, ते सन्तः शिष्टाः, वेदोक्तकारित्वेन देवाद्यृणापाकरणात् । अतस्ते मुच्यन्ते-सर्वैः-विहिताकरणनिमित्तैः पूर्वं-कृतैश्च पञ्चसूनानिमित्तैः किल्बिषैः भूतभाविपातकासंसर्गिणस्ते भवन्तीत्यर्थः । एवमन्वये भूतभावि-पापाभावमुक्त्वा,व्यतिरेके दोषमाह भुञ्जत इति । ते-वैश्वदेवाद्यकारिणोऽघं-पापमेव । तुशब्दः-अवधारणे । ये पापाः पञ्चसूनानिमित्तम्, प्रमादकृतहिंसानिमित्तं च कृतपापाः सन्त आत्मकारणा-देव पचन्ति, न तु वैश्वदेवाद्यर्थम् । तथा च पञ्चसूनादिकृतपापे विद्यमान एव वैश्वदेवादिनित्य कर्माकरणनिमित्तमपरं पापमाप्नुवन्तीति 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' इत्युक्तम् । तथा च स्मृतिः—

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभि-स्वर्गं न विन्दति' ।।

'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति च । श्रुतिश्च—'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नम्,

---

'यज्ञशिष्टाशिनः' इति । जो मनुष्य वलिवैश्वदेवादि नित्यकर्म करके यज्ञमें देवताओंको देनेके बाद अवशिष्ट (बचा) अन्न जो कि शास्त्रोंमें अमृततुल्य कहा गया है उसको भोजन करते हैं, वे सन्त शिष्ट हैं, मान्य हैं, क्योंकि वे वेदोक्त कर्म करनेसे देवताओंके ऋणको चुका दिये हैं, अतः वे मुक्त हैं । जो कर्म अर्थात् वेद विहित है उनका न करना वेद विहित कर्मों का नहीं करना विहिताकरण है, तन्निमित्तक और पञ्चसूना-निमित्तक जो पाप होते हैं, उन सबसे मुक्त हो जाते हैं, भूतभाविपापोंका सम्बन्ध उनमें नहीं होता । ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ ये पांच महायज्ञ हैं । 'पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणम् बलिः, एते पञ्च महायज्ञाः' ये पाँच महायज्ञ कहाते हैं । उक्त अमरकोशके श्लोकसे सिद्ध ये नित्यकर्ममें आते है । गृहस्थको पाँच सूना है, चुल्ली (पाक-पात्राधार) कण्डनी, उलूखल, मुसल, पेषणी (जाता), मार्जनी (झाड़ू), उदकुम्भ (जलाधारपात्र)—ये पांच हिंसाके कारण गृहस्थको नियत रहते हैं, इनके विना काम नहीं चल सकता । इन सब साधनोंसे जो पातक होते हैं, वे नित्यकर्मानुष्ठान करनेवालेको नहीं लगते । जो इन कर्मोंको नहीं करता वह उक्त कारणोंसे पातकी होता है, इस तरह अन्वयमुखसे अर्थात् जो इन कर्मोंको करता है वह पापसंसर्गी नहीं होता यह कहकर व्यतिरेकमुखसे कहते हैं, जो इन कर्मोंको नहीं करता, न करनेवाले दो प्रकारके हैं अनधिकारी और अधिकारी प्रथमको दोष नहीं, क्योंकि उनको इन कर्मोंके करनेका अधिकार ही नहीं प्रत्युत करने पर पाप होगा । इसलिये द्वितीयपक्षवालोंके तात्पर्यसे कहते हैं 'वैश्वदेवाद्य कारिण-इति-त्रैवर्णिक अभिप्रेत है । पाप ही तु शब्दका अवधारण अर्थ है—'पापमेव भुञ्जते' उसीका उपभोग करते है । जो पापी उक्त पञ्चसूनानिमित्तक और अनवधानतावशकृत जो हिंसानिमित्तक पाप करनेवाले अपने

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। १४ ।।

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञसे उत्पन्न होता है ।। १४ ।।

यदिदमद्यते, स य एतदुपास्ते, न स पाप्मनो व्यावर्तते, मिश्रं ह्येतत्' बृ. उ. १. ५. २. इति । मन्त्रवर्णोऽपि—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी' तै. ब्रा. २. ८. ८. ।। इति

इदं चोपलक्षणं पञ्चमहायज्ञानाम्, स्मार्तानाम् श्रौतानाम् च नित्यकर्मणाम् । अधिकृतेन नित्यानि कर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति प्रजापतिवचनार्थः ।। १३ ।।

न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यम्, अपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपीत्याह— 'अन्नात्' इति त्रिभिः—

लिये ही पाक करते हैं, वैश्वदेवादिके लिये नहीं वे पापभोगी होते हैं, पञ्चसूनाकृत पापके रहने पर ही वैश्वदेवादि कर्मके न करनेसे दूसरे पापको भी पाते हैं। इसीलिये 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' ऐसा कहा गया है तथा च मनुस्मृतिः ऊपर देखिये अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं। पञ्चयज्ञसे पञ्चसूनाकृत पापकी निवृत्ति की जाती है। मन्त्रवर्ण भी इसी अर्थका प्रतिपादन करता है मन्त्रवर्ण भी ऊपर देखिये। 'अस्त्री पङ्कः पुमान् पाप्मा पापं किल्विषकल्मषम्' इस अमरकोशके अनुसार पाप शब्द नपुंसक है, परन्तु यहां पापीपरक है। अथवा पापशब्दसे अस्ति अर्थमें 'अर्शाद्यच्' है यह औपचारिक प्रयोग है, इसलिये पाप यह पुल्लिङ्ग प्रयोग हुआ है। एवं 'अघं भुञ्जते' यहां अघशब्द औपचारिक है। अपने लिये जो अन्नपाक करता है उस भोजनसे पाप होता है अतः पापपरक भोजनको पाप कहा है, यह पञ्चमहायज्ञ नामका उल्लेख श्रौत स्मार्त नित्यकर्मोंका उपलक्षण है, प्रजापतिका कहना यह है कि जो अधिकारी है उसको नित्यकर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये ।। १३ ।।

केवल प्रजापतिके वाक्यसे ही कर्म करना चाहिये, यह बात नहीं है, किन्तु संसारचक्रकी प्रवृत्तिका कारण है, इनको न करनेसे जगच्चक्र ही न चल सकेगा, इसलिये भी ये कर्म अवश्य कर्तव्य हैं—यह 'अन्नाद्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं।

अन्नात्-भुक्ताद्रेतोलोहितरूपेण परिणताद्भूतानि - प्राणिशरीराणि भवन्ति - जायन्ते । अन्नस्य संभवो जन्म अन्नसंभवः । पर्जन्याद्वृष्टेः । प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् । अत्र कर्मोपयोगमाह— यज्ञात्-कारीर्यादेरग्निहोत्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः । यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वम्' तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनक-याज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम् । मनुना चोक्तम् ।

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' अ. ३ श्लो० ७६ ॥ इति

स च यज्ञो-धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भवः-ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि-अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ १४ ॥

अन्नसे प्राणी होते हैं, अन्नका भोजन होनेपर लोहितवीर्यरूपसे वह परिणत होता है । वीर्यसे प्राणियोंको [शरीरोंकी] उत्पत्ति होती है, आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती वह नित्य है । भूतशब्द शरीरादि-विशिष्टचेतनपरक है, विशेष्य चेतनमें उत्पत्ति बाधित होनेसे विशेषण शरीरके साथ सम्बन्ध होता है, इसलिये 'शरीराणि' कहा है पर्जन्य (मेघ) से अन्नका सम्भव (जन्म) है । मेघके वर्षणसे व्रीहि, यवादि अन्नकी उत्पत्ति होती है यह प्रसिद्ध है ।

शङ्का—पर्जन्योत्पत्तिमें यज्ञादि कर्मका किस तरह उपयोग है ?

समाधान—'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत 'इस श्रुतिसे सद्यः [तत्काल] सूखते हुये धानोंके समुज्जीवनार्थं कारीरी यागका विधान है । अतः उक्त कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, उससे मेघ होते हैं ततः वृष्टि होती है।

प्रश्न—वह तो काम्यकर्म है, नित्यकर्मोंमें उसका समावेश नहीं, नित्यकर्मसे मेघोत्पत्तिके विषयमें प्रश्न है ।

उत्तर—ठीक है यह तो आप मान चुके हैं कि कर्मजन्य अपूर्वसे मेघोंकी उत्पत्ति होती है, अब यही न्याय अग्निहोत्रादिकर्ममें भी लगाइये, इनके अपूर्वोंसे भी मेघ होते हैं । वचन दोनोंमें समान है, वाचनिक अर्थमें सन्देह नहीं । जिस तरह अग्निहोत्राहुति वर्षाका जनक है, उस तरहसे अष्टाध्यायी काण्डमें व्याख्यात है । 'अष्टानामध्यायानां समाहारः' अष्टाध्यायी अर्थात् शतपथ ब्राह्मणमें चौदहवां काण्ड है, उसमें आठ अध्याय हैं । उसमें पहला दूसरा अध्यायोंमें प्रवर्ग्यका विधान है, अवशिष्ट ६ अध्याय है जो बृहदारण्यक उपनिषदके नामसे प्रसिद्ध है । उसमें ६ वां अध्यायमें छ प्रश्न उत्तर है उसमें राजा जनक याज्ञवल्क्यमहर्षिके प्रश्नोत्तरात्मक सम्वादमें छः प्रश्न श्रीयाज्ञवल्क्यसे किये हैं उन सबका उत्तर उक्त महर्षिने दिया है । उसमें इसका भी प्रश्नोत्तररूपसे विशेष कथन है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति[1] यह धर्मापर्याय कर्मोंसे उत्पन्न यज्ञ अतिसूक्ष्म है । ऋत्विग् यजमानके व्यापारसे सिद्ध होता है, विहित जो कर्म है वही अपूर्वाख्य यज्ञका कारण है ॥ १४ ॥

---

१. अग्निमें शास्त्रोक्तरीतिसे दी हुई आहुति सूर्यको पहुंचती है, सूर्यसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न, अन्नसे प्रजा होती है,

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

उस कर्मको तू वेदसे पैदा हुआ जानों और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी 'परम अक्षर' परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

तच्चापूर्वोत्पादकम्--'कर्म' इति। ब्रह्मोद्भवं-ब्रह्म-वेदः, स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा। वेद-विहितमेव कर्माऽपूर्वसाधनं जानीहि, न त्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः। ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यम्, यतो वेदप्रतिपादित एव धर्मः, नान्य इत्यत आह--ब्रह्म-वेदाख्यमक्षरसमुद्भव-

---

यज्ञकारणीभूत कर्म अपूर्वोत्पादक है यह कहते हैं—'कर्म' इत्यादि से।

यज्ञकारणीभूत कर्मका कारण ब्रह्म वेद है। ब्रह्म (वेद) उद्भव प्रमाण है जिसमें 'स ब्रह्मसमुद्भवः' इससे स्मार्त कर्मोंका भी संग्रह हो जाता है। यद्यपि उपलब्ध वेदोंमें स्मार्त सब कर्म नहीं देखे जाते, इसलिये उनको वेदोद्भव नहीं कह सकते पर स्मृतियोंमें उनके विधानसे यह माना जाता है कि ये कर्म श्रुतिप्रमाण सिद्ध हैं 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' मी.द.१-३-३ इस मीमांसा सूत्रके अनुसार जो प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्धस्मार्तकर्म हैं, वह उपेक्ष्य है। जिसमें न विरोध है न उसकी विधि ही है, उनके विषयमें यह आदेश है कि तद्विषयक श्रुति अवश्य है। स्मृति देखनेसे यह अनुमान होता है पर वह उपलभ्यमान शाखामें नहीं पाई जाती तो अनुपलभ्यमान शाखामें अवश्य होगी। अनुपलभ्यमानशाखाओंके विषयमें मतभेद है। भाट्टमीमांसक शाखायें अध्येताओंके अभावसे विच्छिन्न हो गई है, जिनको मन्वादि महर्षियोंने साक्षात्कार किये हैं, परन्तु अब नहीं है। प्रभाकर मीमांसक कहते है कि पूर्वकालमें भी इनका अध्ययन नहीं था। इसलिये नित्यानुमेय हैं अस्तु, जो कुछ हो इसमें इस समय विवाद करना व्यर्थ है। प्रयोजन यह है कि मतद्वयसे स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणक है, यह मतद्वयसिद्ध है। इसलिये कारण न कहकर प्रमाण कहा है। 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इस अमरकोशसे उद्भवशब्द उत्पत्तिका वाचक है, तदनुसार 'उद्भवति अस्मादित्युद्भवः' कारण यह अर्थ ऋजुदृष्टिसे प्रतीत होता है, तथापि स्मार्तकर्मोंका संग्रह नहीं होगा। 'तदर्थं उद्भवः प्रमाणं यस्य' ऐसा व्याख्यान किया है। वेद विहितकर्मको ही अपूर्वका कारण जानो, पाखण्डियोंका मतान्तर नहीं।

शङ्का—पाखण्डशास्त्रोंकी अपेक्षा वेदमें क्या विशेष है ? वैदिक कर्म अपूर्व साधन है ? पाखण्डि-शास्त्रोक्त नहीं ?

समाधान—ब्रह्म (वेद) अक्षर, निर्दोषपुरुष परमात्मा है। समुद्भव (उत्पत्ति) कारण है जिस वेदका सो वेद शास्त्रान्तरापेक्षया विलक्षण है, शास्त्रान्तरके प्रणेता रागादिदोषवान् है, अतः तत्प्रणीतग्रन्थसे

मक्षरात्परमात्मनो निर्दोषात् पुरुषनिश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भवः-आविर्भावो यस्य तत्, अक्षर-समुद्भवम् । तथाचापौरुषेयत्वेन निरस्तसमस्तदोषाशङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाण-मतीन्द्रियेऽर्थे, न तु भ्रम-प्रमाद-करणापाटव-विप्रलिप्सादिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमिति-जनकमिति भावः । तथा च श्रुतिः—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः-

विश्वास नहीं, यह भाव है । शब्दमें न अप्रमाण्यप्रयोजक दोष ही है, न प्रामाण्य प्रयोजक गुण है, किन्तु वक्ताके गुण-दोषसे शब्द प्रामाणिक या अप्रामाणिक होता है । वेदवक्ता ईश्वरमें दोष-गुणकी संभावना ही नहीं । न्यायमतसे ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः प्रकृतवाक्यार्थ पदार्थज्ञानवत्त्वगुणमें कोई सन्देह नहीं है । मीमांसा-कादिमतसे दोषाभावसे ही प्रामाण्य माना जाता है । ईश्वरमें दोषाभाव सर्वमान्य है । अन्य तीर्थंकरोंमें जो भ्रम-प्रमादादि दोष हैं वे पुरुष साधारणमें अनिवार्य है ।

शङ्का—ठीक है परन्तु मीमांसक और वेदान्ती भी वेदको अपौरुषेय मानते हैं । वेद नित्य हैं कोई भी वेदका प्रणेता नहीं, फिर उसके विरुद्ध आप कहते हैं कि वेद ब्रह्मसमुद्भव है ?

समाधान—ठीक कहते हैं, प्रमाणान्तरसे वाक्यार्थका निश्चय कर तदर्थबुबोधयिषासे जो वाक्य प्रयुक्त होते हैं वे पौरुषेय है यथा महाकवि कालिदास प्रयुक्त-वाक्यादि । वेदवाक्योंका प्रयोग ईश्वरने प्रमाणान्तरव्यापारपूर्वक नहीं किया है किन्तु यथा सुप्तपुरुषके श्वास-प्रश्वास अबुद्धिपूर्वक होते हैं, मैं श्वास बाहर करूँ भीतर खींचूँ, इस बुद्धिके विना स्वतः होते रहते हैं अतएव सुषुप्तिदशामें भी प्रश्वासादिव्यापारका विराम नहीं होता अन्यथा तत्कालमें ज्ञानसामान्याभावके निश्चयसे प्रश्वासादिकी अनुपपत्ति होगी । तद्वत् वेद ईश्वरोद्भव है । इसको स्फुट करते हैं—पुरुषनिश्वासन्यायेन अबुद्धिपूर्वक वेदका अविर्भाव ईश्वरसे हुआ है । पाखण्डियों या सनातनियोंके ग्रन्थागार ऐसे नहीं किन्तु वे सव बुद्धिपूर्वक परिश्रमसे रचे गये हैं, इसलिये उनमें प्रामाण्य श्रुतिमूलकत्वेन अथवा प्रामाणान्तरसंवादादिना माना जाता है अन्यथा नहीं, यह विशेष है । इस अभिप्रायसे कहते हैं 'अपौरुषेयत्वेन इत्यादि उक्तरीतिसे वेद अपौरुषेय होनेसे निरस्तसमस्त-दोषाशंक—वाक्यार्थप्रमितिप्रतिबन्धक-निखिलदोषोंकी शङ्का जिसमें निरस्त है एवंभूत वेदवाक्य स्वार्थ-प्रमितिजनक है, अतएव अतीन्द्रिय अर्थ-इन्द्रियोंसे जिन अर्थोंका ग्रहण नहीं हो सकता, उन अर्थोंमें प्रमाण है उसीको तद्विलक्षण अनाप्तवाक्यमें स्फुट करते हैं । भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव—पाखण्डसे जात अतस्मिंस्तद्बुद्धि भ्रम है । अनवधानता जो विषयान्तर-व्यापृतचित्तमें होती है वह है । विप्रलिप्सा-ठगनेकी इच्छा-धोखा देनेकी इच्छा करना इन्द्रियादिमें अपटुता-विषय ग्रहणमें पूर्ण सामर्थ्यका अभाव, कुछ कहा कुछ सुनर इत्यादि दोष प्रसिद्ध है । एतद्दोषवत्प्रणीतपाखण्डवाक्य प्रमाण नहीं होता यह भाव है । यह केवल स्वमनःकल्पनाविलास नहीं है, किन्तु इस अर्थको श्रुतिने स्वहस्तगत किया है । श्रुति ऊपर देखिये

सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' बृ. उ. २-४-१० इति । तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतम्-सर्वप्रकाशकम्:, नित्यमविनाशि च ब्रह्म वेदाख्यं यज्ञे - धर्माख्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं-तात्पर्येण । अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबोधित एव धर्मोऽनुष्ठेयः इत्यर्थः ॥ १५ ॥

इन कारणोंसे साक्षात्परमात्मासे समुत्पन्न होनेसे सर्वगत सर्वप्रकाशक, नित्य, अविनाशी वेदाख्य ब्रह्म वेदका भी नाम हैं । इसमें 'ब्रह्मतत्त्वतपोवेदे न द्वयोःपुंसि वेधसि, ऋत्विग्योगभिदोर्विप्रे चाध्यात्मज्ञानयोस्तथा" इति मेदिनीकोश प्रमाण है । उक्त वेद धर्ममें प्रतिष्ठित है ।

शङ्का—धर्म वेदान्ती मनमें मानते हैं और नैयायिक आत्मामें सो अतीन्द्रिय है, किसी इन्द्रियसे उसका ग्रहण नहीं होता एवंभूत धर्म वेदका अधिकरण कैसे ?

समाधान—'तात्पर्यवृत्त्या' इति सभी वेदोंका तात्पर्य धर्ममें है। तात्पर्यविषयत्वसम्बन्धसे वेद धर्ममें है । वेदमूलक धर्म है । अतः पाखण्डमतका धर्म त्यागकर वेदप्रतिपादितका ही अनुष्ठान करना चाहिये ।

शङ्का—'निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि निःश्वासके समान ऋग्वेदादिकी उत्पत्ति है । निःश्वाससाम्य अक्लेशनिस्सरणसे भी हो सकता है, अबुद्धिपूर्वकत्वसे भी हो सकता है, ठीक है परन्तु इसमें सन्देह यह है कि 'सोऽकामयत, स इदं सर्वमसृजत, परमात्माने इच्छाके अनन्तर सबकी सृष्टि की, इच्छा ज्ञानके विना नहीं हो सकती, इसलिये स्रष्टव्यकालका ज्ञान भी था, यह सिद्ध होता है । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रकी व्याख्यामें यह स्पष्ट है कि ईक्षापूर्वक सृष्टि है, इसीसे प्रधानकारणवादका निराकरण किया गया है कि अचेतन प्रधानमें ईक्षणका संभव नहीं !

समाधान—नाम रूपकी सृष्टि है। नाममें और ऋग्वेदादिरूपमें आकाशादि विवक्षित है। रूपसृष्टि बुद्धिपूर्वक ही है अबुद्धिपूर्वक नहीं केवल नामसृष्टिके विषयमें निःश्वसितश्रुत्यनुरोधसे अबुद्धिपूर्वक सृष्टि मानना चाहिये । ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं ।

शङ्का—नामश्रुतिमें 'इष्टं हुतमशितं पाचितमयं च लोकः परश्च लोकः' इत्यादि वाक्योंसे नाम रूपका भी साथ ही उल्लेख है । यदि नामप्रपञ्चवत् रूपप्रपञ्चकी उत्पत्ति अबुद्धिपूर्वक माने तो 'सोऽकामयत' यह श्रुति निर्विषय हो जावेगी । कार्यमें पुरुष स्वतंत्र होनेसे प्रधान होता है । पुरुषमें स्वातंत्र्य तभी होगा जब कि पुरुषमतिपूर्वक कारण माना जाय अन्यथा जैसे मनुष्यमें जो रोग होते हैं उनका कारण मनुष्य अवश्य है पर वे बुद्धिपूर्वक नहीं होते इसीलिये पुरुष उसमें अस्वतंत्र नहीं माना जाता है । रोगोत्पत्तिमें जैसे पुरुष प्रधान नहीं वैसे ही वेदोत्पत्तिमें ईश्वर भी अप्रधान हो जायँगे, 'अनादिनिधनम्' इत्यादि वचनसे यह कहते हैं कि वेद नित्य है फिर ब्रह्मसे वेद उत्पन्न हुआ इन दोनों वाक्योंमें परस्पर विरोध होता है ?

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

सबसे पहले परमेश्वरसे सर्वका प्रकाशक दोषरहित वेदोंका आविर्भाव फिर कर्मोंका परिज्ञान, उसके बाद उनका अनुष्ठान—इत्यादिरूपसे परमेश्वरके द्वारा चलाये हुए समस्त जगत्‌का निर्वाह करनेवाले चक्रका जो पुरुष अनुसरण नहीं करता उसका जीवन पापमय है, हे पार्थ! वह निरर्थक ही जीवन यापन करता है, ऐसे पुरुषका मरण ही जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

भवत्वेवम्, ततः किं फलितमित्याह—'एवम्' इति। आदौ परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः, ततः कर्मपरिज्ञानम्, ततोऽनुष्ठानाद्धर्मोत्पादः। ततः पर्जन्यः ततोऽन्नम्, ततो भूतानि, पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं परमेश्वरेण प्रवर्तितम् चक्रं सर्वजगन्निर्वाहकं यो नानुवर्तयति-नानुतिष्ठति, सोऽघायुः-पापजीवनः मोघं-व्यर्थमेव जीवति, हे पार्थ, तस्य जीवनान्मरणमेव वरम्, जन्मान्तरे धर्मानुष्ठानसंभवादित्यर्थः।

समाधान—उत्पत्तिको यहाँ अभिव्यक्ति तात्पर्यसे कहते हैं, वस्तुतः वेद नित्य ही है। एवं शास्त्रयोनित्वाधिकरणमें वेदका कारणत्वकथन अभिव्यक्तितात्पर्यसे है, इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये ॥ १५ ॥

अस्तु, वेद धर्ममें प्रतिष्ठित है, इससे प्रकृतमें क्या लाभ हुआ, इस प्रश्नका उत्तर 'एवम्' इत्यादिसे कहते हैं। सर्वप्रथम सर्वावभासक-सबका बोधक नित्यनिर्दोष वेदका आविर्भाव परमात्मासे हुआ। वेदसे कर्म (कर्तव्य) का ज्ञान होता है। तदनन्तर वेदविहित कर्मके अनुष्ठानसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। धर्मसे मेघमण्डलका प्रादुर्भाव होता है, ततः वृष्टि द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति फिर पूर्ववत् भूतोंका कर्म नित्य निर्दोष वेदसे आविर्भूत होता है, इस प्रकार परमेश्वरसे चालितसंसारचक्र जो सब जगत्‌का निर्वाहक है इस चक्रके अनुसार जो अनुष्ठान नहीं करता वह अघायु है—उसकी आयु अघायु है यानी उसका जीवन पापका कारण है, क्योंकि वह वेदोक्तकर्मानुष्ठान न कर केवल इन्द्रियसुखमें ही निरत रहता है। कारणमें कार्यवाचक शब्दका औपचारिक प्रयोग है पापसंबन्धी जीवन है इसलिये व्यर्थ है। 'अघायुः' इन्द्रियाराममें हेतु है। इन्द्रियाराम व्यर्थजीवनमें हेतु है। भाव यह है कि कर्मवश उच्चावच अनेक योनिमें भ्रमणके अनन्तर पूर्वसुकृतवश मनुष्यजन्ममें आविर्भूत होकर आत्मकल्याणार्थं वेदविहितकर्मोंका यथाधिकार अनुष्ठान न कर इतरयोनिवत् केवल ऐन्द्रियक क्षणिक सुखोंमें ही समय व्यतीत करता है उसका जीवन व्यर्थ ही है। हे पार्थ! उसका जीवनसे मरण ही अच्छा है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

जो पुरुष आत्मामें प्रेम रखता है, आत्मामें तृप्ति पाता है और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, वह कृतकृत्य है, उस पुरुषको कोई भी कर्म चाहे भौतिक हो या वैदिक हो, करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥१७॥

तथा च श्रुतिः—'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः, स यज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकः। अथ यदनुब्रूते, तेन ऋषीणाम्। अथ यत् पितृभ्यो निपृणाति, यत्प्रजामिच्छते, तेन पितॄणाम्। अथ यन्मनुष्यान्वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम्। अथ यत्पशुभ्यः तृणोदकं विन्दति, तेन पशूनां, यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः' बृ. उ. १-४-१६ इति। ब्रह्मविदं व्यावर्तयति—'इन्द्रियारामः' इति। यत इन्द्रियैर्विषयेष्वारमति, अतः कर्माधिकारी संस्तदकरणात्पापमेवाऽऽचिन्वन्व्यर्थमेव जीवतीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

यस्त्विन्द्रियारामो न भवति, परमार्थदर्शी, स एवं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूतं कर्माननुतिष्ठन्नपि न प्रत्यवैति, कृतकृत्यत्वादित्याह द्वाभ्याम्—'यस्त्वा' इत्यादि।

सम्भव है कि जन्मान्तरमें कर्मानुष्ठान करे। श्रुति ऊपर देखिये इसमें स्पष्ट है कि तत्तद्वैदिक कर्म करनेसे ही तत्तल्लोकप्राप्ति होती है सभी प्राणियोंका भोग द्वारा उपकार होता है।

शङ्का—ब्रह्मवेत्ता कर्म नहीं करता, क्या वह अघायु नहीं है? जो ईश्वरचक्रका अनुवर्तन नहीं करता वह अघायु है, यह नहीं कह सकते हैं।

समाधान—ठीक है, तदतिरिक्त इन्द्रियाराम जो उक्तकर्म न कर इन्द्रियाराम होता है वह अघायु है। तत्त्ववेत्ता यद्यपि कर्म नहीं करता तथापि वह इन्द्रियाराम नहीं, अतः वह अघायु नहीं, क्योंकि वह विषयमें इन्द्रियोंसे रमण नहीं करता है, अर्थात् जो केवल विषयसेवनमें ही परायण रहता है, कर्माधिकारी होकर भी कर्म नहीं करता सो व्यर्थ जीता है यह अभिप्राय है ॥ १६ ॥

जो इन्द्रियाराम नहीं है, किन्तु परमार्थदर्शी ज्ञानी है, वह ईदृश जगच्चक्रप्रवर्तक कर्म नहीं करता तो भी उसको पाप नहीं होता।

शंका—क्यों?

इन्द्रियारामो हि स्रक्चन्दनवनितादिषु रतिमनुभवति, मनोज्ञान्नपानादिषु तृप्तिं, पशुपुत्र-हिरण्यादिलाभेन रोगाद्यभावेन च तुष्टिम्, उक्तविषयाभावे रागिणामरत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनात्। रति-तृप्ति-तुष्टयो मनोवृत्तिविशेषाः साक्षिसिद्धाः। लब्धपरमात्मानन्दस्तु द्वैतदर्शनाभावादतिफल्गुत्वाच्च विषयसुखं न कामयत इत्युक्तम्—'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र। अतोऽनात्मविषयकरति-तृप्ति-तुष्ट्यभावादात्मानं परमानन्दमद्वयं साक्षात्कुर्वन्नुपचारादेवमुच्यते—आत्मरतिरात्मतृप्तः आत्मसंतुष्ट इति। तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' मु. उ. ३-१-४ इति। आत्मतृप्तश्चेति चकार एवकारानुकर्षणार्थः। 'मानवः' इति यः कश्चिदपि मनुष्य एवंभूतः, स एव कृतकृत्यः, न तु ब्राह्मणत्वादिप्रकर्षेणेति कथयितुम्। 'आत्मन्येव च

समाधान—वह कृतकृत्य है वह अपने सब कर्तव्योंको कर चुका है अब उसके अनुष्ठेय कोई कर्म नहीं है यह दो श्लोकोंसे कहते हैं 'यस्तु' इत्यादिसे।

इन्द्रियाराम पुरुष माला, चन्दन, वनितादिमें ही रतिका अनुभव करता है और उत्तमोत्तम अन्न पान से तृप्त होता है इसीमें अपना सौभाग्य मानता है। घोड़ा, हाथी हो, पुत्र हो सोना चाँदी मिलती रहे, शरीरमें रोग न हो, क्योंकि रोगी शरीरको सुख नहीं होता चाहे जितनी भी सुख संपत्ति क्यों न हो इसलिये तदभाव आवश्यक है। रोगियोंकी तुष्टि उक्त विषयोंसे ही होती है, यदि उक्त विषय न हो तो उनको आनन्द नहीं आता, न तृप्ति, न तुष्टि ही होती है। रति, तृप्ति तुष्टि यह मनोवृत्ति विशेष हैं। इनमें प्रमाण साक्ष्यनुभवसिद्ध है। जो प्राप्त परमानन्द हैं, वे विषय सुख नहीं चाहते।

शङ्का—क्यों?

समाधान—अद्वैतात्मदर्शनसे-द्वैतविषयकज्ञानका उपमर्दन होनेपर विषयोंका भी उपमर्दन हो जाता है, वे हैं ही नहीं तो उनके द्वारा सुखेच्छा कैसे हो? संस्कारात्मना अनुवृत्त होनेसे भी तज्जन्य सुख आत्मसुखसे जघन्य है। इसलिये ये भी विषयसुखकी कामना नहीं करते। राज्यसुखभोक्ता भिक्षुसुखको नहीं चाहता, यह स्पष्ट है। आत्मानन्दमें क्षुद्रानन्द अन्तर्भूत है। 'यावानर्थं उदपाने' इसके व्याख्यान के समय कह चुके हैं।

शङ्का—यद्यपि रति,तृप्ति और तुष्टि द्वैतमें होती है, आत्मव्यतिरिक्तवस्तुकी अभावदशामें जब आत्मा ही केवल स्वयं प्रकाश रहता है और ज्ञानी अपनेको स्वयं प्रकाशानन्दस्वरूप मानता है तो आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि कैसे हो सकती है, रति तृप्ति आदि पदार्थ ही नहीं है तो आत्मरति कैसे कही जा सकती है?

समाधान—सत्य है। यहाँ अनात्मविषयक रति तृप्ति (तुष्टि) गृहीत है, इसलिये औपचारिक प्रयोग है 'आत्मरतिः आत्मतृप्त आत्मनि तुष्ट इत्यादि' इस प्रकारका कथन गीतामें नहीं हैं किन्तु श्रुतिमें भी

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

आत्मामें प्रेम रखनेवाले पुरुषको कर्म न करनेसे यहाँ न तो कोई अभ्युदय निःश्रेयसरूप प्रयोजन सिद्ध होता है और न करनेसे कोई दोष ही लगता है, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंमें इस ज्ञानीको किसी तरहका प्रयोजन दीखता ही नहीं, जिसके लिए उनमें अपना सम्बन्ध चाहे ॥ १८ ॥

संतुष्टः' इत्यत्र चकारः समुच्चयार्थः। य एवंभूतः, तस्याऽधिकारहेत्वभावात्किमपि कार्यम्-, वैदिकं लौकिकं वा न विद्यते ॥ १७ ॥

नन्वात्मविदोऽपि अभ्युदयार्थम्, निःश्रेयसार्थम्, प्रत्यवायपरिहारार्थं वा कर्म स्यादित्यतः आह-'नैव' इति। तस्य-आत्मरतेः कृतेन-कर्मणाऽभ्युदयलक्षणः निश्रेयसलक्षणो वाऽर्थः-प्रयोजनम् नैवास्ति, तस्य स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वात्, निःश्रेयसस्य च कर्मासाध्यत्वात्। तथा च श्रुतिः—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' मु. उ. १-२-१२ इति। अकृतः-नित्यः

ऐसा ही कहा गया है 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इत्यादि। आत्मतृप्तश्चेति यहाँ चकार एवकारार्थ है, अथवा एवकारका अनुकर्षण करता है, अन्य दोनोंमें एवकार है केवल तृप्तमें चकार है। यह भी अर्थ पूर्वोत्तर-वद्विवक्षित है। इसलिये चकार एवकार खींचनेके लिये है और खींचकर 'आत्मन्येव तृप्तः' इस अर्थका बोध कराता है जो कोई मनुष्य इस तरह है वह कृतकृत्य है ब्राह्मणत्वादि लाभसे कोई कृतकृत्य नहीं।

शङ्का—'आत्मतृप्तः' यहाँका चकार एवकारानुकर्षणार्थ है पर 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' यहांका चकार क्यों, वहाँ तो एवकार स्वतः है।

समाधान—यहाँका समुच्चयार्थ, रति, तृप्ति, तुष्टिका समुच्चय है। एवका समुच्चय अर्थ नहीं। ईदृश ज्ञानीको किसी कर्ममें अधिकार ही नहीं।

शंका—क्यों ?

समाधान—कर्माधिकारमें हेतु तत्फलकामना और विधिनिषेधमें श्रद्धा ये दोनों तत्त्वज्ञानीको नहीं है। दोनोंका मूल अज्ञान है। उसका समूलनाश होनेपर हेतुत्वभावसे कोई लौकिक वैदिक कर्म करना नहीं है ॥ १७ ॥

आत्मज्ञानीको भी अभ्युदयार्थ, मोक्षार्थ या प्रत्यवायपरिहारार्थ कर्म करना होगा ? इस शंका पर कहते हैं—'नैव' इति।

मोक्षः कृतेन-कर्मणा नास्तीत्यर्थः। ज्ञानसाध्यस्यापि व्यावृत्तिरेवकारेण सूचिता। आत्मरूपस्य हि निःश्रेयसस्य नित्यप्राप्तस्याऽज्ञानमात्रमप्राप्तिः। तच्च तत्त्वज्ञानमात्रापनोद्यम्। तस्मिंस्तत्त्वज्ञानेनापनुन्ने, तस्य-आत्मविदो न किञ्चित्-कर्मसाध्यम्, ज्ञानसाध्यं वा प्रयोजनमस्तीत्यर्थः।

एवं भूतेनापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माण्यनुष्ठेयान्येवेत्यत आह—'नाकृतेन' इति। भावे निष्ठा। नित्यकर्माकरणेनेह लोके गर्हितत्वरूपः, प्रत्यवायप्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो नास्ति। सर्वत्रोपपत्तिमाहोत्तरार्धेन। चो हेतौ। यस्मादस्य आत्मविदः सर्वभूतेषु-ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः-प्रयोजनसंबन्धो नास्ति। कश्चिद्भूतविशेषमाश्रित्य कोऽपि क्रियासाध्योऽर्थो नास्तीति वाक्यार्थः। अतोऽस्य कृताकृते निष्प्रयोजने। 'नैनं कृताकृते तपतः' बृ-उ-४-४-२२ इति श्रुतेः। 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां स भवति' बृ-उ-१-४-१० इति श्रुतेः। देवा अपि तस्य मोक्षाभवनाय न समर्था इत्युक्तेः विघ्नाभावार्थमपि देवाराधनरूपकर्मानुष्ठानमित्यभिप्रायः। एतादृशो ब्रह्मविद् भूमिकासप्तकभेदेन निरूपितो वसिष्ठेन—

आत्मरतिको कर्म करनेसे अभ्युदय अथवा निःश्रेयस कोई भी प्रयोजन नहीं है क्योंकि स्वर्गाद्यभ्युदयका अर्थी नहीं है, रहा निश्रेयस, सो कर्मसाध्य नहीं।

शंका—निःश्रेयस कर्म साध्य क्यों नहीं ?

समाधान—ऊपर श्रुति देखिये—नित्य मोक्ष अनित्यकर्मसे नहीं होता। एवकारसे ज्ञानसाध्य भी प्रयोजन नहीं है, आत्मरूप निःश्रेयसकी, जो नित्य ही प्राप्त है, अप्राप्ति है—केवल अज्ञान तत्त्वज्ञानसे ही नष्ट होता है। जब अज्ञान तत्त्वज्ञानसे हटा दिया गया, तब आत्मज्ञानीके लिये ऐसा कोई प्रयोजन नहीं रहता, जो कि कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य हो। ईदृश ज्ञानीको प्रत्यवायपरिहारार्थ कर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये, इसपर कहते हैं—'ना०' इति। 'करणं-कृतम्' भावमें निष्ठाक्तप्रत्यय है। नित्यकर्म न करनेसे दो प्रकारका अनर्थ होता है—एक तो लोकमें निन्दा और प्रत्यवायप्राप्ति। इन दोनोंसे ज्ञानीको कुछ मतलब नहीं, क्योंकि वह लोकनिन्दास्तुतिसे उदासीन रहता है और प्रत्यवाय होता ही नहीं। उत्तरार्द्धसे सर्वत्र उपपत्ति कहते हैं—जिस कारणसे आत्मवेत्ताको ब्रह्मादिवृक्षान्त सब भूतोंमें कोई प्रयोजनका सम्बन्ध नहीं यानी किसी भूतविशेषको लेकर क्रियासाध्य प्रयोजन नहीं है, यह वाक्यार्थ है। आत्मज्ञानीको कृताकृत से कुछ प्रयोजन नहीं। श्रुति भी देखिये ऐसा ही कहती है। 'आगे भी इसको मोक्ष न हो इस भावनामें समर्थ नहीं हैं।' इस कथनसे विघ्ननिवारणार्थ भी देवताओंके आराधनकी अपेक्षा नहीं, स्वयं देवता विघ्न करनेसे

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता'॥ इति॥

तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा। ततः गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया। ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया। एतद्भूमिकात्रयं साधनरूपं जाग्रदवस्थोच्यते-योगिभिः,[1] भेदेन जगतो भानात्। तदुक्तम्—

'भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते'॥ इति॥

ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः स्वप्नावस्थोच्यते, सर्वस्यापि जगतो मिथ्यात्वेन स्फुरणात्। तदुक्तम्—

'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीभूमिकामिताः'॥ इति॥

सोऽयं चतुर्थभूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चमी-षष्ठी-सप्तम्यस्तु भूमिकाः

निवृत्त हैं। ईदृश ब्रह्मवेत्ता सात भूमिकाभेदसे निरूपित है अर्थात् ज्ञानीकी सातभूमिकायें (अवस्थायें) हैं। वसिष्ठजीने सातों भूमिकाओंका निरूपण किया है श्लोक ऊपर देखिये। नित्यानित्यवस्तुविवेकपुरस्सर फल-पर्यन्त मोक्षेच्छा प्रथम भूमिका है। तदनन्तर गुरुके समीप जाकर वेदान्तवाक्य विचारश्रवणमननात्मक द्वितीय भूमिका है। ततः निदिध्यासनके अभ्याससे मनके एकाग्र होनेसे सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्व तृतीयावस्था है। ये तीनों भूमिकायें साधनरूप हैं, इसको योगी जाग्रदवस्था कहते हैं। क्योंकि भेदसे जगत्का भान होता है। कहा है—'भूमिकात्रितयन्त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्'[1] इस पुस्तक में अभेदेन यह अपपाठ है द्वितीय पुस्तकमें' भेदेन यह शुद्ध पाठ है। तदनन्तर वेदान्त-वाक्यसे निर्विकल्प ब्रह्मात्मैक्यका साक्षात्कार चौथी भूमिका है। फलरूपा है–सत्वापत्तिरूपा है, इसको स्वप्नावस्था कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् मिथ्यारूपसे स्फुरित होता है कि 'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः'। अर्थात् अद्वैतकी स्थिरता एवं द्वैतके नाश होनेपर संसारको स्वप्नके समान देखते हैं योगियोंकी यह चतुर्थी अवस्था

जीवन्मुक्तेरेवावान्तरभेदाः। तत्र सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पकसमाध्यवस्था, साऽसंसक्तिरिति, सुषुप्तिरिति चोच्यते। ततः स्वयमेव व्युत्थानात्। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः। ततस्तदभ्यासपरिपाकेण चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थाभावनीति, गाढसुषुप्तिरिति चोच्यते। ततः स्वयमनुत्थितस्य योगिनः परप्रयत्नेनैव व्युत्थानात्। सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान्।

उक्तं हि—

'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्' ॥ इति ॥

यस्यास्तु समाध्यवस्थाया न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति, सर्वथा भेददर्शनाभावात्। किन्तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमाणदैहिकव्यवहारः परिपूर्णपरमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति। सा सप्तमी तुरीयावस्था। तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते।

उक्तं हि—

'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्।
किञ्चिदेवैष संपन्नस्त्वथवैष न किञ्चन ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु' ॥ इति

भी कही जाती है। ततः स्वयमुत्थित योगी को परप्रयत्नसे उत्थान कराया जाता है। वह योगी ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है यह कहा है। 'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्। षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्' जिस समाध्यवस्थासे स्वतः परतः व्युत्थित नहीं होता क्योंकि सर्वथा भेददर्शन नहीं है किन्तु तन्मय एवं स्वप्रयत्नके विना परमेश्वर प्रेरित प्राणवायुवशसे अन्य संपादित शरीरयात्रोपयिक व्यापारपरिपूर्ण परमानंदघन ही सर्वतः रहता है वह सप्तमीं अवस्था है इस अवस्था को प्राप्त कर ब्रह्मविद्वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वोत्तम हैं। यह कहा है—छठीं भूमिकामें प्राप्त होकर सप्तमी भूमिकाको प्राप्त करें। विदेहमुक्तता सप्तमी है। यह योगी चतुर्थी अवस्था प्राप्तकर ब्रह्मवित् कहा जाता है। पञ्चमी षष्ठी और सप्तमी भूमिका जीवन्मुक्तिका अवान्तर भेद है। उसमें सविकल्प समाधिके अभ्याससे चित्त निरुद्ध होनेपर निर्विकल्पक समाध्यवस्था

यामधिकृत्य श्रीमद्भागवते स्मर्यते—

'[1]देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ॥

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतम्

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः' ॥

'देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् ।

स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः' भा. स्कं. ११. अ. १३. श्लो. ३६-३७ ॥ इति ।

[2]श्रुतिश्च—'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत, एवमेवेदं शरीरं शेते, अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' बृ. उ. ४.४.७. इति । तत्रायं संग्रहः—

'चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।

जीवन्मुक्तेरधस्थास्तु परास्तिस्रः प्रकीर्तिताः' ॥

अत्र प्रथमभूमित्रयमारूढोऽज्ञोऽपि न कर्माधिकारी, किं पुनस्तत्वज्ञानी तद्विशिष्टः जीवन्मुक्तो वेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

उसीको असंसक्ति तथा सुषुप्ति कहते हैं। उससे स्वयं व्युत्थित होता है, अतः वह योगी ब्रह्मविद्वर है, तदनन्तर तदभ्यास परिपाकसे जो चिरकालावस्थायिनी बाह्यपदार्थाभावनी गाढसुषुप्ति यह भूमिका है श्रीमद्भागवतमें भी इस अवस्थाका वर्णन है, श्रुति भी ऊपर देखिये, चतुर्थी भूमिका ज्ञान है। पूर्वमें तीन भूमिकायें साधन हैं उत्तर तीन अवस्थायें जीवन्मुक्त की है। प्रथम तीन भूमिकाको प्राप्त करनेवाला अज्ञ पुरुष भी कर्मका अधिकारी नहीं होता तो फिर तत्त्वज्ञानीके लिए क्या कहना ॥ १८ ॥

---

१. मदिरासे प्रमत्त पुरुष जिस प्रकार धारण किये गये वस्त्रको दैववश देहपर रहे अथवा गिर जाय कुछ नहीं देखता उसी प्रकार योगी इस विनाशी शरीरको बैठा हुआ हो या खड़ा हुआ हो कुछ नहीं देखता, क्योंकि उसका अपने स्वरूपमें स्थित रहना दैवाधीन है। देह भी प्रारब्धकर्म पर्यन्त सप्राण प्रतीक्षा करता रहता है। किन्तु जो समाधिमें आरूढ़ आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण प्रपञ्च के साथ इस स्वाप्नशरीरको पुनः स्वीकार नहीं करता।

२. श्रुतिमें भी लिखा है, सांपकी केंचुल वल्मीकमें मरी पड़ी रहती है उसी प्रकार शरीर पड़ा रहता है, आत्मा अशरीर अमृत तथा सबका प्रवर्तक स्वयं प्रकाश ब्रह्म है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इसलिए हे पार्थ ! आसक्ति छोड़कर निरन्तर कर्म करते चलो, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म कर-रहा पुरुष उत्तम-मोक्षरूप फल प्राप्त कर ही लेता है ॥ १९ ॥

चूँकि जनक, अजातशत्रु आदि वेदप्रसिद्ध बड़े बड़े विद्वान् क्षत्रिय भी कर्मोंके ही साथ साथ ज्ञान-निष्ठा प्राप्त किये हुए थे, इसलिए तुम भी क्षत्रियत्व के नाते कर्म करो। हे मित्र, सभी धर्म राजा के आश्रित हैं इस प्रमाण वचन से लोगों को अपने अपने धर्ममें प्रवृत्ति कराने के उद्देश्यको देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए ॥ २० ॥

यस्मान्न त्वमेवंभूतो ज्ञानी, किं तु कर्माधिकृत एव मुमुक्षुः—'तस्मात्' इति। असक्तः—फलकामनारहितः-सततम् - सर्वदा न तु कदाचित्कार्यम्-अवश्यकर्तव्यं यावज्जीवा-दिश्रुतिचोदितम्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्या ज्ञाने विनियुक्तं कर्म-नित्यनैमित्तिकलक्षणं सम्यगाचर-यथाशास्त्रं निर्वर्तय। असक्तो हि-यस्मादाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन्सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण परं-मोक्षमाप्नोति पूरुषः-पुरुषः, स एव सत्पुरुषः, नान्य इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

ननु विविदिषोरपि ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्यर्थं श्रवण-मनन-निदिध्यासनानुष्ठानाय सर्वकर्मत्या-गलक्षणः संन्यासो विहितः। तथा च न केवलं ज्ञानिन एव कर्मानधिकारः, किं तु ज्ञानार्थि-

---

जिस कारणसे तुम ऐसे ज्ञानी नहीं हो किन्तु कर्माधिकृत ही मुमुक्षु हो अतः असक्त फलेच्छा रहित सदा अवश्य कर्तव्य कार्य जो यावज्जीव श्रुतिविहित है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे आत्मज्ञानमें विनियुक्त कर्म नित्य नैमित्तिक कर्म अच्छी तरह करो, शास्त्रानुसार कर्म सम्पादन करो। फलमें असक्त ईश्वरसन्तुष्ट्यर्थं कर्म करता हुआ प्राणी सत्त्वशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति द्वारा परम मोक्षको प्राप्त करता है। वही पुरुष सत्पुरुष है दूसरा नहीं, यह अभिप्राय है ॥ १९ ॥

ब्रह्मजिज्ञासुको भी ज्ञाननिष्ठा प्राप्त्यर्थं और श्रवण मनन निदिध्यासनके लिए सर्वकर्म त्यागलक्षण संन्यास विहित है तब तो केवल ज्ञानीको ही कर्मानधिकार है यह बात नहीं किन्तु विरक्त ज्ञानार्थीको भी

नोऽपि विरक्तस्य । तथा च मयाऽपि विरक्तेन ज्ञानार्थिना कर्माणि हेयान्येवेत्यर्जुनाशङ्काम् क्षत्रियस्य सन्यासानधिकारप्रतिपादनेनाऽपनुदति भगवान्—'कर्मणैव' इति ।

जनकादयोऽपि-जनकाजातशत्रुप्रभृतयः श्रुति-स्मृति-पुराणप्रसिद्धाः क्षत्रियाः विद्वांसोऽपि कर्मणैव सह, न तु कर्मत्यागेन सह संसिद्धिम्-श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठामास्थिताः-प्राप्ताः । हि यस्मादेवम्, तस्मात्त्वमपि क्षत्रियो विविदिषुर्विद्वान्वा कर्म कर्तुमर्हसीत्यनुषङ्गः, 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यञ्चरन्ति' बृ०उ० ३-५-१ इति संन्यासविधायके वाक्ये ब्राह्मणत्वस्य विवक्षितत्वात् । 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यत्र क्षत्रियत्ववत् । 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य, त्रयो राजन्यस्य, द्वौ वैश्यस्य' इति च स्मृतेः । पुराणेऽपि—

'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते' ।। इति

अनधिकार है । मैं विरक्त ज्ञानार्थी हूँ, मेरे लिये कर्म त्याज्य है इस अर्जुनकी आशंकाका 'क्षत्रियको संन्यासमें अधिकार नहीं है' एतत्प्रतिपादन द्वारा भगवान् निराकरण करते हैं 'कर्मणा' इत्यादिसे । राजा जनक-अजातशत्रुप्रभृतिक जो श्रुति स्मृति, पुराणोंमें क्षत्रिय विद्वान् प्रसिद्ध हैं वे सब कर्मत्यागके विना कर्मके साथ ही श्रवणादिसाध्य ज्ञाननिष्ठारूप संसिद्धिको पाये हैं । गीतास्थ हिशब्दका हेतु अर्थ है । यदि यह कारण है तब तुम भी क्षत्रिय हो चाहे विविदिषु हो या विद्वान् हो कर्म करनेके योग्य हो । अन्तिम पादस्थ 'अर्हसि' का सम्बन्ध यहाँ विवक्षित है । उत्तर पदका पूर्वमें सम्बन्ध अनुषङ्ग और पूर्वपदका उत्तरमें सम्बन्धको अनुवृत्ति कहते हैं यह शास्त्र सम्प्रदाय है । 'अर्हसि' उत्तर में है पूर्वमें भी इसका सम्बन्ध आवश्यक होनेसे इस सम्बन्धको आनुषङ्गिक कहा है । 'ब्राह्मणाः इति श्रुति' ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणासे व्युत्थित होकर (विरत होकर) भिक्षाचरण करते हैं । इस संन्यास विधायक वाक्यमें ब्राह्मणत्व विवक्षित है 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्यमें राजपदसे जैसे क्षत्रियत्व विवक्षित है, तद्वत् उक्त संन्यास विधायक वाक्यमें ब्राह्मणत्वकी विवक्षा है । ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्रह्मबुभुत्सुका संन्यासमें अधिकार है क्षत्रियत्व-विशिष्टका नहीं । तुम क्षत्रिय हो तुम्हारा संन्यासमें अधिकार नहीं तुम कर्म ही करो । 'चत्वारः आश्रमाः ब्राह्मणस्य' इत्यादिस्मृतिसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वैखानस, संन्यास ये चार आश्रम ब्राह्मणके हैं । संन्यासको छोडकर तीन आश्रम क्षत्रियोंको है । वैखानस संन्यासको छोड़कर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य ये दो आश्रम वैश्यके हैं । पुराणमें भी ऐसा ही है 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां नायं

वचनेन क्षत्रिय-वैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः। तस्माद्युक्तमेवोक्तं भगवता 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति। 'सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' इत्यादिस्मृतेर्वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तकत्वेनापि क्षत्रियोऽवश्यं कर्म कुर्यादित्याह—'लोके' इति। लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनम्, उन्मार्गान्निवर्तनं च लोकसंग्रहः, तं पश्यन्-अपिशब्दाज्जनकादिशिष्टाचारमपि पश्यन्कर्म कर्तुमर्हस्येवेत्यन्वयः। क्षत्रियजन्मप्रापकेण कर्मणाऽऽरब्धशरीरस्त्वं विद्वानपि जनकादिवत्प्रारब्धकर्मबलेन लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तुं योग्यो भवसि, न तु त्यक्तुम्, ब्राह्मणजन्मालाभादित्यभिप्रायः। एतादृशभगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासः,

---

धर्मः प्रशस्यते' इति। परमात्मलिङ्ग दण्डधारण मुखोत्पन्न ब्राह्मणोंका धर्म है। बाहुजात क्षत्रिय ऊरुजात वैश्य इनके लिये सन्यास धर्म श्रेष्ठ नहीं। उक्तवचनसे क्षत्रिय वैश्य को संन्यासाभाव कहा गया है। अतः भगवान्ने ठीक ही कहा है 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति। 'सर्वे राजाश्रिताः' इस वचनसे सब धर्म राजाके आश्रित हैं। राजा सब धर्मोंका पोषक है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मका प्रवर्तक राजा होता है इस कारण भी राजाको अवश्य कर्म करना चाहिए, यह कहा 'लोक' इत्यादिसे। अपने अपने धर्ममें लोगोंका प्रवर्तन तथा कुपथसे निवर्तन यह लोकसंग्रह है। जो जिस वर्ण, आश्रम, धर्मका अधिकारी है उसको उसी वर्ण, आश्रम, धर्मका पालन करना चाहिए इतरका नहीं। यह राज नियन्त्रणके विना नहीं होता। आजकल राज नियन्त्रण न होनेसे वर्ण आश्रम दोनों अव्यवस्थित हो रहे हैं। नियन्त्रण न होने का कारण राजा वर्णाश्रमी नहीं है इस कारण राजा स्वयं वर्णाश्रमी होकर उनके धर्मोंके पालनमें स्वयं प्रजाको प्रोत्साहित करें जो स्वयं उक्त धर्मोंका पालन नहीं करेगा वह दूसरोंको उसके लिए क्यों बोधित करेगा इसी अनुभवके अनुसार यह यथार्थ वचन है 'यथा राजा तथा प्रजाः' इति। इसको देखते हुए अपि शब्दसे जनकादिके शिष्टाचारको भी देखते हुए तुम कर्म कर ही सकते हो क्षत्रियजन्मप्रापक कर्मसे तुम्हारा शरीर बना है तुम विद्वान् भी हो फिर भी जनकादिके समान प्रारब्ध कर्मवश लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेको योग्य हो, ब्राह्मणवर्णमें जन्माभावसे तुम कर्म त्याग करनेके अधिकारी नहीं अतः कर्म मत त्यागो। ईदृश भगवद्-अभिप्रायज्ञ भगवान् भाष्यकार ब्राह्मणको ही संन्यास है दूसरेको नहीं यह निर्णय किया है। वार्तिककार-वृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार सुरेश्वराचार्य प्रौढ़िवादसे क्षत्रिय वैश्यको भी संन्यासका अधिकार है यह निर्णय किया है। वार्तिककारका यह अभिप्राय है कि वैदिक कर्ममें द्विजातिमात्रका अधिकार है औपनिषदात्मज्ञान भी वैदिक फल है, सत्त्वशुद्धि द्वारा पूर्वकाण्ड विहित नित्यादि कर्मानुष्ठानसे संशुद्ध चित्त, कोई भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य श्रवणादिसाधन सन्यास संग्रहण पूर्वक औपनिषदात्मज्ञानका अधिकारी है ब्राह्मणपद द्विजका उपलक्षक है अतएव जाबालश्रुतिमें ब्राह्मणका उल्लेख नहीं है। 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्' इत्यादि श्रुतिमें आश्रमानुक्रमका विधान है परिशुद्धान्तःकरणके लिये 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

बड़े लोग लौकिक या वैदिक जिस किसी कर्मको प्रमाण रूप मान बैठते हैं अन्य लोग उसीका अनुसरण करने लग जाते हैं ॥ २१ ॥

नान्यस्येति निर्णीतम् । वार्तिककृता तु प्रौढ़िवादमात्रेण क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासोऽस्तीत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

ननु मया कर्मणि क्रियमाणेऽपि, लोकः किमिति तत्संगृह्णीयादित्याशङ्क्य, श्रेष्ठाचारानुविधायित्वादित्याह—'यत्' इति । श्रेष्ठः-प्रधानभूतो राजादिर्यद्यत्कर्माऽऽचरति-शुभमशुभं वा, तत्तत्-तदेवाऽऽचरतीतरः-प्राकृतस्तदनुगतो जनः, न त्वन्यत्, स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः । ननु शास्त्रमवलोक्य अशास्त्रीयं श्रेष्ठाचारं परित्यज्य शास्त्रीयमेव कुतो नाऽऽचरति लोक इत्याशङ्क्याऽऽचारवत्प्रतिपत्तावपि श्रेष्ठानुसारितामितरस्य दर्शयति—'स यत्' इति । स श्रेष्ठो यत्-लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते-प्रमाणत्वेन मन्यते, तदेव लोकोऽप्यनुवर्तते-प्रमाणं कुरुते, न तु स्वातन्त्र्येण

प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतिसे संन्यास व्युत्क्रमसे भी माना गया है। जनक, अजातशत्रु अश्वपति प्रभृति राजाओं का सन्यासाधिकार संगत होता है इत्यादि प्रौढ़िवाद है, यह प्रमाणशून्य अभिधान है, ब्राह्मण उपलक्षण है इसमें प्रमाण नहीं जनकादिके सन्यासमें प्रमाण नहीं, सदाचारसे भी विरुद्ध है। संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है क्षत्रियादिका नहीं विशेष इस विषयमें अन्यत्र कहेंगे ॥ २० ॥

मेरे कर्म करनेपर लोकसंग्रह कैसे होगा अर्थात् लोक भी कर्म संग्रह क्यों करेगा जो श्रेष्ठ पुरुष करते है, उनका अनुविधान-अनुकरण इतर लोग भी करते हैं इसको कहते है 'यत्' इत्यादिसे प्रधान पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष करते हैं, उनका अनुविधान-अनुकरण इतर लोग भी करते हैं इसको कहते हैं 'यत्' इत्यादिसे प्रधान पुरुष, श्रेष्ठ राजादि जो जो कर्म करते हैं शुभ या अशुभ हो वही कर्म और लोग करते हैं तदनुगामी प्राकृत अज्ञ जन भी वही कर्म करते है स्वातन्त्र्य से कर्मान्तर नहीं।

शंका—शास्त्र देखकर अशास्त्रीय शिष्टाचारको छोड़कर शास्त्रीय शिष्टाचार ही क्यों नहीं करते ?

समाधान—शिष्टाचार यथा आचारमें निर्णायक है तथा श्रेष्टत्व प्रतिपत्तिमें भी शिष्टाचार ही निर्णायक है, श्रेष्ठ जन लौकिक वा वैदिक जिसको प्रमाण मानते हैं। लोक भी उसीकी अनुवृत्ति करते हैं वे भी उसी

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे पार्थ, तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी मेरे लिए अप्राप्त फल प्राप्त करनेका है ही नहीं, जिसके लिए मुझे कोई कर्म करना पड़े फिर भी मैं कर्म करता ही हूं ॥ २२ ॥

हे पार्थ यदि कदाचित् आलस्य रहित होकर मैं कर्म न करूँ तो कर्म के अधिकारी सभी मनुष्य लोग मेरा ही अनुसरण करने लगेंगे ॥ २३ ॥

किञ्चिदित्यर्थः । तथा च प्रधानभूतेन त्वया राज्ञा लोकसंरक्षणार्थं कर्म कर्तव्यमेव, प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायादित्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

अत्र चाहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः—'न मे' इति । हे पार्थ, मे-मम त्रिष्वपि लोकेषु किमपि कर्तव्यं नास्ति । यतोऽनवाप्तं फलं किञ्चिन्ममावाप्तव्यं नास्ति । तथाऽपि वर्त एव कर्मणि-अहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः । पार्थेति संबोधयन् विशुद्ध-क्षत्रियवंशोद्भवस्त्वं शूरापत्यत्वेन चात्यन्तं मत्समोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शयति ॥ २२ ॥

लोकसंग्रहोऽपि न ते कर्तव्यः, विफलत्वादित्याशंक्याह—'यदि' इति । यदि पुनरहमतन्द्रितः-अनलसः सन्कर्मणि जातु कदाचिन्न वर्तेयम्-नानुतिष्ठेयं कर्माणि, तदा मम श्रेष्ठस्य

को प्रमाण मानते हैं । स्वतन्त्र प्रमाणान्तर नहीं मानते, ऐसी परिस्थितिमें तुम प्रधान राजा हो तुमको लोकके संरक्षणार्थ कर्म कर्तव्य ही है क्योंकि प्रधानानुयायी लोक व्यवहार होता है, प्रधान लोग जैसा व्यवहार करते हैं उनके अनुयायी भी वैसा ही करते हैं यह न्याय लोकमें प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इसमें हम भी दृष्टान्त हैं ऐसा कहते हैं 'न मे' इत्यादि तीन श्लोकोंसे । हे पार्थ, पृथापुत्र अर्जुन ! तीनों लोकोंमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि अनवाप्त अप्राप्त कर्मफलको लाभ करने की आवश्यकता प्रतीत होती है अवाप्तकाम ईश्वर है उनके लिये कर्म करने की आवश्यकता नहीं हैं फिर भी कर्ममें रहते हैं—कर्म करते ही हैं तुमभी मेरे सम्बन्धी हो इसलिये मेरा अनुकरण करो । पार्थ, इस सम्बोधनसे विशुद्धक्षत्रियवंशोत्पन्न विशुद्धशूरवीरकी बेटीके बेटे होनेसे तुम मेरे समान ही वर्ताव करो यह दिखलाते हैं ॥ २२ ॥

निष्फल लोक संग्रहार्थ आपको कर्म नहीं करना चाहिए । इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं 'यदि' इत्यादि । कर्म मेरे लिये निष्फल है फिर भी दूसरे लोगोंके हितार्थ मैं कर्म करता हूँ ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। २४ ।।

ईश्वर होते हुए यदि मैं कर्म न करूं तो मेरे अनुयायी मनुष्य आदिकोंके कर्म न करनेसे संसारस्थितिकारणसे कर्मलोप होनेपर समस्त प्राणी नष्ट हो जायेंगे फिर वर्णसंकरका कर्ता हमीं बनने लगेंगे जिससे समस्त प्रजाओंके धर्मलोपसे नष्ट होनेके प्रधान कारण हमीं बनने लगेंगे । अतः जैसा आचरण हम करते हैं वैसा ही तुम्हें भी करना चाहिए अपने मनसे कुछ न करना चाहिए ॥ २४ ॥

सतो वत्म - मार्गम् । हे पार्थ-मनुष्याः-कर्माधिकारिणः सन्तोऽनुवर्तन्ते-अनुवर्तेरन् सर्वशः-सर्वप्रकारैः ।। २३ ।।

श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेव । अनुवर्तित्वे को दोष इत्यत आह— 'उत्सीदेयुः' इति ।

अहमीश्वरश्चेद्यदि कर्म न कुर्याम्, तदा मदनुवर्तिनां-मन्वादीनामपि कर्मानुपपत्तेर्लोकस्थितिहेतोः कर्मणो लोपेनेमे सर्वे लोका उत्सीदेयुः-विनश्येयुः । ततश्च वर्णसंकरस्य च कर्ताऽहमेव स्याम् । तेन चेमाः सर्वाः प्रजा अहमेव उपहन्याम्-धर्मलोपेन विनाशयेयम् । कथं च प्रजानामनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वरोऽहं ताः सर्वा विनाशयेयमित्यभिप्रायः ।

शंका—आपके कर्म करनेसे दूसरेका हित कैसे है ।

समाधान—यदि मैं आलस्य छोड़कर कदाचित् कर्म न करूं तो हे पार्थ, कर्माधिकारी मुझे श्रेष्ठ समझकर मेरे आचरणको उत्तम मानकर उसीको सब तरह से अनुवृत्ति करेंगे ॥ २३ ॥

तो इसमें हानि क्या है आप श्रेष्ठ हैं आपके मार्गका अनुसरण उचित ही है इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं 'उत्सीदेयुः' इत्यादि ।

समाधान—इसमें दोष है इसको उत्सीदेयुः इत्यादिसे कहते हैं । मैं ईश्वर होकर यदि कर्म न करूं तो मेरी अनुवृत्ति करनेवाले मन्वादि भी कर्म न करेंगे । लोकस्थितिका हेतु तो कर्म ही है उसका लोप होनेसे सब लोक विनष्ट हो जायगा, इससे हम ही वर्णसंकर के कर्ता और सम्पूर्ण प्रजाके धर्मनाशद्वारा नाशक होंगे । यह कैसे हो सकता है कि प्रजाओंके अनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वर मैं उन सबको नष्ट करूंगा, यह भगवानका अभिप्राय है ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! मूर्खलोग फल की इच्छा से जैसे कर्म करनेमें प्रवृत्त होते हैं वैसे ही लोकसंग्रह की इच्छा करने वाले विद्वान् भी असक्त होते हुए कर्म करे ॥ २५ ॥

यद्यदाचरतीत्यादेरपरा योजना—न केवलं लोकसंग्रहं संपश्यन्कर्तुमर्हसि, अपि तु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह—'यद्यदिति'। तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश आचारः, तादृश एव मदनुवर्तिना त्वयाऽनुष्ठेयः, न स्वातन्त्र्येणाऽय इत्यर्थः। कीदृशस्तवाऽऽचारः, यो मयाऽनुवर्तनीयः इत्याकाङ्क्षायां न मे पार्थेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनमिति ॥ २४ ॥

ननु तवेश्वरस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावात् न काऽपि क्षतिः। मम तु जीवस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवः स्यादित्यत आह—'सक्ताः' इति। सक्ताः-कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मण्यभिनिविष्टा, अविद्वांसः-अज्ञा यथा कुर्वन्ति कर्म-लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुर्विद्वान्-आत्मविदपि तथैव कुर्यात्। किन्तु

'यद्यदाचरति' इत्यादि वाक्यार्थयोजना प्रकारान्तर से करते हैं—केवल लोकसंग्रह देखकर ही तुम्हें कर्म करना चाहिये यही नहीं, किन्तु श्रेष्ठ जनोंका आचार है इसलिये भी यह कर्म करना चाहिए ज्यों यद्यदाका अभिप्राय है। इस स्थितिमें मैं श्रेष्ठ हूं मेरा जैसा आचार है वैसा ही आचार तुमको भी करना चाहिए, क्योंकि तुम मेरे अनुवर्ती हो, अनुवर्ती वास्तविक वही है जो कायिक वाचिकादि आचारसे स्वामीके विपरीत न करे, जो जैसा आचरण करता है वह तादृश आचरणशीलके ऊपर ही प्रसन्न होता है। सेवा भी स्वामी-प्रीति ही है यह लोकमें भी प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र यानी स्वाम्याचरणसे भिन्न आचरण तुमको नहीं करना चाहिए। आपका आचार कौनसा है जिसका मुझे आचरण करना चाहिए, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर 'न मे पार्थ' इत्यादि तीन श्लोकोंसे आचरणका प्रदर्शन किया गया है ॥ २४ ॥

शंका—आप ईश्वर हैं, लोकसंग्रहार्थं कर्म करते हैं, फिर भी आपमें कर्तृत्वाभिमान न होनेसे कोई हानि नहीं है। मैं तो जीव हूं, इसलिए लोकसंग्रहार्थं भी कर्म करनेसे कर्तृत्वाभिमान मुझे अवश्य हो जायगा, अतः मैं यह कर्म करूंगा तो आत्मज्ञानका तिरोधान हो जानेसे मेरी हानि होगी। अकर्तृत्वाद्यनुचिन्तन आत्मतत्त्वज्ञानके उपयोगी हैं, कर्तृत्वाभिमान तद्विरोधी हैं इस पर कहते हैं—'सक्ताः' इत्यादि।

समाधान—सक्त यानी फलकामना और कर्तृत्वाभिमानसे अनुबद्धान्तःकरण अतएव कर्माभिनिवेश-पुरस्सर अनात्मज्ञ अविद्वान् जैसे कर्म करते हैं वैसा ही तुम भी कर्म करो किन्तु आसक्तिरहित होकर करो।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

कर्म करने की जिनकी दृढ़ इच्छा है ऐसे अज्ञानी लोगोंमें बुद्धिभेद (अश्रद्धा, अविश्वास) ज्ञानी पुरुषको उत्पन्न न होने देना चाहिये। किन्तु उसको स्वतः निष्काम, बुद्धियुक्त होकर, अपने आचरणको प्रदर्शित करते हुये अज्ञानी पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त कराना चाहिए ॥ २६ ॥

असक्तस्सन्—कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसन्धिं चाकुर्वन्नित्यर्थः । भारतेति भरतवंशोद्भवत्वेन, भाः-ज्ञानं तस्यां रतत्वेन वा स्वयं यथोक्तशास्त्रार्थबोधयोग्योऽसीति दर्शयति ॥ २५ ॥

ननु कर्मानुष्ठानेनैव लोकसंग्रहः कर्तव्यः, न तु तत्त्वज्ञानोपदेशेनेति को हेतुः, अत आह—'न बुद्धिभेदम्' इति। अज्ञानाम्-अविवेकिनां कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मसङ्गिनां-कर्मण्यभिनिविष्टानां या बुद्धिः-अहमेतत्कर्म करिष्ये, एतत्फलं च भोक्ष्य इति, तस्या भेदं-विचालनमकर्त्रात्मोपदेशेन न कुर्यात् । किन्तु युक्तोऽवहितस्सन् विद्वाँल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरविद्वदधिकारिकाणि सर्वकर्माणि

कर्म करने मात्रसे उक्त ज्ञानका अभिभव नहीं होता, किन्तु आसक्तिसे। आसक्ति ही दोष है। आसक्ति न रहनेपर जो कर्म करोगे वह अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक होगी और लोकानुवृत्ति भी होगी। अतः लोकसंग्रह चिकीर्षु विद्वान् भी वैसा ही कर्म करे, भेद इतना ही रहे कि अविद्वान् उभयत्र आसक्त होकर काम करता है मुमुक्षु तद्रहित होकर। भारत सम्बोधनका अभिप्राय भरतवंशमें जन्म होनेसे है किन्तु भरतवंशमें दुर्योधनादिका भी जन्म है अतः प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न सब समान होंगे इसलिये अर्थान्तर कहते हैं—भा ज्ञानको भी कहते हैं, तुम ज्ञानरत हो, तुम्हें आत्मज्ञानमें अनुराग है, इतरमें नहीं। अतः ईदृशी शिक्षाके अधिकारी तुम्हीं हो, इसलिये शास्त्रीयार्थबोधनयोग्य समझकर तुमको उपदेश देते हैं—आसक्तिरहित होकर शास्त्रीय कर्म करो ॥ २५ ॥

कर्मानुष्ठानसे ही लोकसंग्रह करना चाहिये, तत्त्वज्ञानोपदेशसे नहीं, इसमें क्या कारण है। इस शंकाका समाधान करते हैं—'न बुद्धिभेदम्' इत्यादिसे।

जिनको अकर्तृत्वादि विवेक नहीं है उन अज्ञानियोंके फलके लिये मैं कर्म करता हूँ इस फलाभिसन्धि तथा कर्तृत्वाभिमानसे कर्मप्रवृत्त पुरुषोंकी बुद्धिका भेद-चालन 'आत्मा वस्तुतः अकर्ता है' इत्यादि उपदेशसे नहीं करना चाहिये किन्तु सावधान होकर लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे, जिनकर्मोंमें अविद्वान् अनात्मज्ञका

समाचरंस्तेषां श्रद्धामुत्पाद्य जोषयेत्-प्रीत्या सेवयेत्। अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते, कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात्। तथा चोक्तम्—

'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः' ॥ इति ॥ २६ ॥

अधिकार है उन सब कर्मोंका विधिवत् सुचारुरूपसे स्वयं अनुष्ठान कर उनमें उनकी श्रद्धा उत्पादन कर प्रीतिसे सेवन करे। अनधिकारियोंको उपदेश द्वारा बुद्धि विचलित करने पर रही सही भी श्रद्धा निवृत्त हो जायगी, श्रद्धा निवृत्तिसे कर्मानुष्ठानकी भी निवृत्ति हो जायगी कथञ्चित् कोई अविश्वाससे करेगा भी तो अकृतसम नहीं किये गये के समान ही है, क्योंकि 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि स्मृतिवाक्यसे ये श्रद्धारहित सुकृत भी कर्मफलप्रद नहीं होता यह स्पष्ट है।

कर्मसे निवृत्त होनेसे किम्वा श्रद्धारहित होनेसे फल प्रायः कर्मपथसे और ज्ञानपथसे दोनोंसे भ्रष्ट हो जायगा यह कहा है—'अज्ञस्य' इत्यादिसे। अर्धप्रबुद्ध अतएव अज्ञके प्रति यह सब ब्रह्म है इस प्रकार जो उपदेश देता है वह उपदेष्टा उस उपदेश्यको बड़े नरकजालमें नियोजित करता है—ढकेलता है। यह ठीक ही है जो स्वार्थी है वही अनधिकारीको उत्तमफलप्राप्तिका लालच देकर अनधिकृतोपायमें प्रवृत्त कराता है और उपदेशके परिणामपर ध्यान नहीं देता इसका मुख्य कारण तो उसका अज्ञान है, दूसरा कारण यह भी है कि उपदेष्टाके ऊपर पूर्णविश्वास कर लेता है उसकी परीक्षा नहीं करता। इस समय इसका प्रचार अधिक है 'कलौ-वेदान्तिनः सर्वे' इस श्लोकसे इसकी सूचना बहुत पहिले शास्त्रोंमें दी जा चुकी है, ज्ञान अथवा भक्ति का अधिकारी कौन है इसपर दृष्टि न देकर सबको संसारसे मुक्तिका लालच देकर ज्ञान भक्तिका उपदेश कलिकालमें अधिक होगा कर्मके उपदेशका न कोई शुश्रूषु मिलेगा न कोई उपदेशक ही, क्योंकि आलस्यवश कर्म करना कोई नहीं चाहता फल केवल स्वल्प उपायसे चाहता है। कर्मव्यतिरिक्त दो मार्ग और हैं जो कर्मानुष्ठानके अनन्तर कालमें उपदिष्ट होते थे। किसी उत्तमपुरुषका पूर्वजन्मके कर्मानुष्ठानसे चित्त शुद्ध था इसलिये उसको कर्मोपदेश न देकर ज्ञान भक्तिका उपदेश पूर्वमें किया वह तो ठीक ही था, पर उसी दृष्टान्तसे अब कर्मकी उपेक्षा कर ज्ञान, भक्तिको कर्मनिरपेक्ष पुरुषार्थ-साधन है यह मानकर उत्तमफल लाभके लिये ज्ञान और भक्तिके ही विशेष उपदेष्टा तथा श्रोता हैं 'अज्ञस्य' इत्यादि श्लोकसे जो तत्त्व कहा गया है उसपर कोई ध्यान नहीं देता अगर ध्यान दे तो शान्त कर्मके विना ज्ञान भक्ति न होगी जैसा कि गीतामें स्वयं भगवान् बरावर कह रहे हैं, यह कहनेवालेको स्थान नहीं रह जाता कि इस उपदेशसे परिणाममें अनधिकारियोंको क्या लाभ है इत्यादि विवेचन इस समय नहीं कर सकते जो इस विषयमें कुछ लिखा उसमें भी भय है कि कहीं दर्दुरदृष्टियोंको इससे अर्थान्तरका भ्रम न हो जाय ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

ये अखिल कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि मायाके कार्यसे ही किये जाते हैं। परन्तु अहंकारी पुरुष ऐसा समझता है कि 'यह मैंने किया' 'मैं कर्ता हूँ ॥ २७ ॥

विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि कर्तृत्वाभिमान-तदभावाभ्यां विशेषं दर्शयन् सक्ताः कर्मणीति श्लोकार्थं विवृणोति द्वाभ्याम्—'प्रकृतेः' इति । प्रकृतिः-माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः, 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् श्वेताश्व. उ. ४-६' इति श्रुतेः । तस्याः प्रकृतेर्गुणैः-विकारैः कार्यकारणरूपैः क्रियमाणानि-लौकिकानि वैदिकानि च कर्माणि सर्वशः-सर्वप्रकारैरहङ्कारेण कार्यकारणसंङ्घातात्मप्रत्ययेन विमूढः-स्वरूपविवेकासमर्थ आत्मा-अन्तःकरणं यस्य, सोऽहङ्कारविमूढात्मा-अनात्मन्यात्माभिमानी तानि कर्माणि कर्ताऽहमिति-करोम्यहमिति मन्यते कर्तृत्वाध्यासेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययः, तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

यद्यपि विद्वानों और अविद्वानोंके कर्मानुष्ठान सम होनेपर भी कर्तृत्वाभिमान तदभावरूपविशेष दोनों दिखलाते हुए 'सक्ताः कर्मणि' इस श्लोकके अर्थका विवरण करते हैं दो श्लोकोंसे । 'प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्, यह कोश है इसके अनुसार चराचर जगत्के कारणको प्रकृति कहते है, सांख्यमतसे सत्त्व, रजः, तमः-एतद्गुणत्रयात्मक प्रधान उक्त शब्दार्थ हैं तादृशगुणत्रयात्मको वेदान्ती माया कहते हैं, इसी भेदसे परिणामवादका मायावादसे व्यवहार होता है। माया मिथ्याज्ञानात्मिका है, परमेश्वर की शक्ति है, स्वतन्त्र नहीं, सांख्य प्रकृतिको स्वयंभू-स्वतंत्र मानते हैं यह मतद्वयमें विशेष है, प्रकृतिको माया कहते हैं इसमें प्रमाण श्रुति है सो मूलमें पढ़िये उक्त प्रकृतिके विकारभूत जो कार्यकारणरूप गुण हैं उनसे क्रियमाण जो लौकिक वैदिक कर्म सब प्रकारके हैं। अहंकार कार्य-शरीर, कारण-इन्द्रियाँ इनका जो संघातसमुदाय है उसमें आत्मप्रत्यय-आत्मज्ञान है उस समुदायको ही आत्मा मानते हैं अतएव विमूढ़ स्वरूपविवेकासमर्थ आत्मा उक्त समुदायसे अतिरिक्त है तथापि अतिरिक्त जाननेमें असमर्थ अन्तःकरण जिनका है वे अनात्मामें आत्माभिमानी उन सब कर्मोंको मैं करता हूँ ऐसा मानते हैं उक्त समुदायमें वस्तुतः कर्तृत्व है यह वह 'अहम्' पदार्थ नहीं जो 'अहम्' पदार्थ है उसमें कर्तृत्व नहीं है, धर्माध्यासान्तर-अध्यास आरोपको कहते हैं, एक वस्तुका धर्मका दूसरी वस्तुमें आरोप करना धर्माध्यास है—धर्मविनियमका अर्थ धर्मविपर्यय धर्मविनिमयसे अध्यासकर मैं करता हूँ ऐसा अभिमान करते हैं कर्ताका उक्त प्रत्यय होता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे महाबाहो ! गुण और कर्मोंके विभागके स्वरूपको समझनेवाला विद्वान् गुण (चक्षु आदि) गुणोंमें (रूपादि विषयोंमें) अनुवृत्त होते हैं ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह—'तत्त्ववित्तु' इति । तत्त्वम्-याथात्म्यं वेत्तीति तत्त्ववित् । तुशब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्ट्यमाह । कस्य तत्त्वमित्यतः आह—गुण-कर्मविभागयोः, गुणाः-देहेन्द्रियान्तःकरणानि अहंकारास्पदानि, कर्माणि च-तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानीति । गुणकर्मेति द्वंद्वैकवद्भावः । विभज्यते-सर्वेषां जडानां विकारिणां भासकत्वेन पृथग्भवतीति विभागः-स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा । गुणकर्म च विभागश्चेति द्वंन्द्वः । तयोः-गुणकर्मविभागयोः-भास्य-भासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारि-निर्विकारयोस्तत्त्वम्-याथात्म्यं यः

'तानि अहं कर्ता' यह प्रयोग व्याकरणसे परिशुद्ध नहीं जंचता क्योंकि कर्तामें तृच् प्रत्यय करने पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस पा० सूत्रसे कर्म 'तानि' में षष्ठी होनेसे तेषामहं कर्ता यह प्रयोग साधु है ठीक है इस शङ्कासे कहते हैं कि कर्ताऽहमिति तृन् प्रत्ययः, इससे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस पा० सूत्रसे षष्ठीके निषेध होने पर उत्सर्गसूत्रसे उक्तरूप साधु है ॥ २७ ॥

विद्वान् ऐसा नहीं मानते यह कहते हैं—'तत्त्ववित्' इत्यादिसे । 'तत्त्वं-यथार्थं वेत्ति इति तत्त्ववित्' जो पदार्थ जिस रूपसे रहता है उसको उसी रूपसे जो जानता है वही तत्त्ववित् कहा जाता है जैसे शुक्तिको जो शुक्तित्वेन जानता है वह शुक्तिका तत्त्ववित् है जो जिस रूपसे जिस पदार्थको जानता है परन्तु उस रूपसे वह पदार्थ नहीं रहता वह अतत्त्ववित् है यथा शुक्तिरजतदर्शी यही उस विषयमें भ्रान्त कहाता है । तु शब्दसे तत्त्ववेत्तामें अतत्त्ववित्से विशेष कहते हैं ।

शङ्का—तत्त्व तो प्रतिवस्तु भिन्न है किस पदार्थका तत्त्ववित् यहाँ इष्ट है ?

समाधान—गुण यहाँ अहमित्याकारकप्रतीतिविषय शरीरेन्द्रियान्तःकरण विवक्षित है क्योंकि इनमें 'श्यामोऽहम्, बधिरोऽहं, मूढोऽहम्' में श्याम हूँ बधिर हूँ, मूढ हूँ इत्यादि प्रतीतियाँ लोकमें भी प्रसिद्ध है । कर्मसे उनके देहेन्द्रियान्तःकरणके व्यापारस्वरूप ममकार विषय इष्ट है, मैं अपने नेत्रसे देखा, अपने कानसे सुना इत्यादि भी सबको प्रसिद्ध ही है । 'गुणकर्मविभागयोः' इसमें द्विवचनोपपत्तिके लिये समास कहते हैं—'गुणश्च कर्म च विभागश्च' इस प्रकार तीनों पदोंका इतरेतरद्वंद्वसमास करनेपर 'गुणकर्मविभागाः' बहुवचनान्त हो जायगा इसके परिहारार्थं 'गुणश्च कर्म च अनयोः समाहारः गुणकर्म' समाहारसे एकवचन

वेत्ति, स गुणाः - कारणात्मका गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते, विकारित्वात् । न तु निर्विकारः आत्मेति मत्वा, न सज्जते-सक्तिं कर्तृत्वाभिनिवेशमतत्त्वविदिव न करोति । हे महाबाहो ! इति सम्बोधयन् सामुद्रिकोक्तसत्पुरुषलक्षणयोगित्वान्न पृथग्जनसाधारण्येन त्वमविवेकी भवितुमर्हसीति

होना न्यायप्राप्त है क्योंकि समुदाय एक है आत्मबोधनार्थं विभागपदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं 'विभज्यते' इति 'विभागः' सब विकारि जड़ोंसे भासक होनेसे पृथक् है, भास्य घटादिसे भासक प्रदीप भिन्न है यह लोकमें भी प्रसिद्ध ही है, प्रकृतमें भासक स्वप्रकाशानन्दज्ञानरूप आत्मा असङ्ग है। गुणकर्म च विभागश्च इन दोनों पदोंका इतरेतरद्वन्द्वसमास होनेसे गुणकर्मविभागौ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इस पा० सूत्रसे पुल्लिङ्ग होकर प्रथम द्विवचनमें उक्तरूप हुआ षष्ठी द्विवचनमें गुणकर्मविभागयोः यह रूप निष्पन्न होता है उन दोनों भास्यभासकोंका अर्थात् जड़ चैतन्य और विकारि निर्विकारका जो तत्त्व है याथात्म्य अद्वैतात्मत्व उसको जो जानता है वह गुण जो कारणात्मक इन्द्रियाँ हैं, वे गुण-विषयमें प्रवृत्त होती हैं क्योंकि वे विकारी हैं निर्विकार आत्मा प्रवृत्त नहीं होता यह मानकर आसक्ति कर्तृत्वाभिनिवेश 'कर्तृत्वाभिमान' अतत्त्ववेत्ताके समान तत्त्ववेत्ता नहीं करता। हे महाबाहो ! इससे संबोधन करते हुये सामुद्रिकशास्त्रोक्त सत्पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्तमन साधारणमनुष्यके समान अविवेकी होनेके योग्य नहीं यह सूचित करते हैं। गुणविभागस्य कर्मविभागस्य वा तत्त्ववेत्ता यह भाष्यव्यख्यानका निर्देश है उसमें अपरितोष कहते हैं इस पक्षमें गुणकर्मणोः इतनेसे ही निर्वाह हो जाता है। विभागपदका प्रयोजन चिन्त्य है।

['गुणविभागस्य' 'कर्मविभागस्य' इस भाष्यका अर्थ उत्कर्षदीपिकामें इस प्रकार किया है कि—मैं कार्यकरणसंघातात्मा नहीं हूँ, इस प्रकार गुणोंसे आत्म-विभाग तथा मुझमें कर्म नहीं है, इस प्रकार कर्मोंसे अपनी आत्माको विभागका ज्ञाता अर्थात् गुणकर्म विभक्त आत्मसाक्षात्कारवान्, तत्त्ववेत्ता, अहंकार-विमूढात्मा नहीं कहा जा सकता और न वह कर्ममें आसक्त ही होता है, जिसमें मैं कर्ता हूँ अभिमान करें, क्योंकि उन दोनोंसे अतिरिक्त आत्माको जानता है। विभागपदके न रहने पर यह अर्थ नहीं हो सकता इस अर्थको स्फुट करनेके लिये 'विभागश्च विभागश्च विभागौ गुणकर्मभ्यो विभागौ गुणकर्मविभागौ तयोः गुणकर्मविभागयोः' यह समास समझना, इससे 'गुणविभागस्य कर्मविभागस्य' 'तत्त्वविदिति वा' यह भाष्यका अनुवाद कर कहा कि इस पक्षमें 'गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्' इति। यह सरस्वतीजीका आक्षेप भाष्यके ऊपर उक्तरीतिसे निस्सार है। और जो व्याख्या की है वह गुण देहेन्द्रियान्तःकरण है, जो अहंकार विषय प्रसिद्ध है कर्म उनके व्यापाररूप ममकारास्पद है, गुण कर्मेत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं अर्थात् जड़ आत्माके स्वरूपको यथार्थ जो जानता है सो भी ठीक नहीं 'गुणकर्म च विभागश्च' इन पदोंका इतरेतरद्वन्द्व करने पर विभागपद अल्पाच और आत्मबोधक होनेसे अभ्यर्हित है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

माया के कर्मोंमें अभिनिवेश रखनेवाले पामरजन इन्द्रियों द्वारा कियेवाले कार्योंमें आसक्ति करते हैं, उन मन्द अतत्त्वज्ञ पुरुषों को पूर्णतत्त्वज्ञ कभी भी विचलित न करे ॥ २९ ॥

सूचयति । गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति वा । अस्मिन्पक्षे गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥ २८ ॥

तदेवं विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येन विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युक्तमुपसंहरति-'प्रकृतेः' इत्यादिना । प्रकृतेः - पूर्वोक्ताया मायायाः, गुणैः-कार्यतया धर्मैर्देहादिभिर्विकारैः सम्यङ्मूढाः-स्वरूपास्फुरणेन तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमानास्तेषामेव गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां

अतः 'अल्पाच्तरम्' 'अभ्यर्हितं च' इन दोनों पा० सूत्रोंसे विभागपदका ही पूर्वनिपात होगा तो गुणकर्मविभागयोः यह प्रयोग ही असंगत हो जायगा । पूर्वनिपातप्रकरणको अनित्य मानकर उक्त प्रयोगकी उपपत्ति तो अगतिकी गति है जो गति रहनेपर अनुचित मानी जाती है, विभागपदका प्रसिद्ध अर्थं छोड़ कर अप्रसिद्धार्थकी कल्पना अनुचित कही जाती है ।

सारांश यह है कि भाष्यका ही अर्थ सरस्वतीजीकी व्याख्यासे भी प्रतीत होता है, पर उधर दृष्टि न देकर समासके पचड़ेमें पड़कर व्यर्थ आक्षेप किया है, इस पर दर्दुरदृष्टियोंको ध्यान देना चाहिये कि व्याख्याकारको कितनी स्वतन्त्रता चाहिये, इससे भाष्यमें सरस्वतीजीकी श्रद्धा कम नहीं हुई है । २८ ॥]

इस प्रकार विद्वान् और अविद्वान्का कर्मानुष्ठान समान है, पर विद्वान स्वाभिप्रायानुसार उपदेश देकर अविद्वान्के हृदयको विचलित न करे, किन्तु उसके सत्य और हितकर वही उपदेश देना चाहिए जिसमें उपदेश्यका कल्याण हो, जिस समीचीन उपदेशसे भी उसका अहित हो उसका उपदेश नहीं देना चाहिए, इससे उक्तार्थका उपसंहार करते हैं 'प्रकृतेः' इत्यादिसे । 'प्रकृति-पूर्वोक्त त्रिगुणात्मक परमेश्वरशक्तिरूप मायाके गुण कार्य होनेसे मायाके धर्म देहादि विकार हैं । शङ्का यह है कि शरीरादि मायाके गुण कैसे हैं इसका उत्तर देते हैं कि रूपादिवद्देहादि गुण नहीं हैं किन्तु कार्य होनेसे कारणके गुण कहे जाते हैं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कार्यकारणमें कारण प्रधान होता है, कारणमें ही कार्य रहता है, कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है इस प्रकार कार्य कारणके अधीन होनेसे कारणकी अपेक्षा गुण-अप्रधान है, कार्यकी

कर्मसु - व्यापारेषु सज्जन्ते-सक्तिं वयं कर्म कुर्मस्तत्फलायेति दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति ये, तान्-कर्मसङ्गिनः-अकृत्स्नविदोऽनात्माभिमानिनो मन्दान्-अशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारम-प्राप्तान्कृत्स्नवित्-परिपूर्णात्मवित्स्वयं न विचालयेत्-कर्मश्रद्धातो न प्रच्यावयेदित्यर्थः। ये त्वमन्दाः शुद्धान्तःकरणाः, ते स्वयमेव विवेकोदयेन विचलन्ति-ज्ञानाधिकारं प्राप्ताः इत्यभिप्रायः। कृत्स्नाकृत्स्नशब्दावात्मानात्मपरतया श्रुत्यर्थानुसारेण वार्तिककृद्भिर्व्याख्यातौ—

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नं वस्तु यतोऽद्वयम्।
संभवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः॥
यस्मिन्दृष्टेऽप्यदृष्टोऽर्थः स तदन्यश्च शिष्यते।
तथाऽदृष्टेऽपि दृष्टः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते'॥ इति॥

अनात्मनः सावयवत्वादनेकधर्मत्वाच्च केनचिदवयवेन वा विशिष्टे तस्मिन्नेकस्मिन्घटादौ ज्ञातेऽपि, धर्मान्तरेणावयान्तरेण वा विशिष्टः स एवाज्ञातोऽवशिष्यते। तदन्यश्च पटादिरज्ञातः

अपेक्षा कारण प्रधान है, इस अभिप्रायसे शरीरादिको तत्कार्य होनेसे तद्गुण कहा है। इन गुण भूतविकारोंसे संमूढ़ है।

शङ्का—विकारोंसे संमूढ़ क्यों ?

समाधान—तात्त्विक आत्मस्वरूपका स्फुरण न होनेसे इन्हींको आत्मा मान बैठते हैं; अतः उन गुणभूत देहेन्द्रियान्तःकरणके व्यापारमें सक्त होते हैं, हम फलके लिए कर्म करते हैं, इसप्रकार दृढतर आत्मबुद्धि जो करते हैं, उन कर्मसङ्गियोंको अकृत्स्नविद् अनात्माभिमानी मन्द अशुद्धचित्तवाले अप्राप्त-ज्ञानाधिकारियोंको कृत्स्नविद् (पूर्णात्मवेत्ता) कर्मश्रद्धासे विचलित न करें जो शुद्धान्तःकरण अतएव अमन्द है वे तो तत्त्वज्ञान होनेसे 'नाऽहं कर्ता भोक्ता वा' इत्यादि बुद्धिसे स्वयं विचलित होते हैं, क्योंकि वे ज्ञानाधिकार प्राप्त हैं यह अभिप्राय है।

कृत्स्न अकृत्स्न विन् शब्दोंकी आत्मानात्मपरकत्वेन आत्मा और अनात्मसे भिन्न तत्परक वार्तिककारने व्याख्या की है आत्मवित्को कृत्स्नवित् कहा है अनात्मवित्को अकृत्स्नवित् कहा है अतः श्रुतिका वार्तिक-कारोक्त अर्थमें स्वारस्य है, इसलिए उक्त अर्थमें श्रुति प्रमाण है। 'सदेव' इत्यादि से वार्तिकका निर्देश मूलमें देखिये। आत्मासे भिन्न घटादिपदार्थ सावयव कपालादि अनेकावयवविशिष्ट तथा अनेक धर्मवान् हैं। घटत्व, द्रव्यत्व रूप रसादिमत्त्वधर्म प्रसिद्ध है; किञ्चिदवयव चक्षुर्गोचर, अनावृत, सम्मुखावयव-विशिष्ट तथा 'अयं घटः' इत्याकारक' प्रतीतिदशामें घटत्वविशिष्ट एक घटका ज्ञान होने पर धर्मान्तर

अवशिष्यत एव । तथा तस्मिन्घटादावज्ञातेऽपि पटादिर्ज्ञातः स्यादिति, तज्ज्ञानेऽपि तस्यान्यस्य चाज्ञानात्, तदज्ञानेऽप्यन्यज्ञानाच्च सोऽकृत्स्न उच्यते । कृत्स्नस्त्वद्वय आत्मैव, तज्ज्ञाने कस्यचिदवशेषस्याभावादिति श्लोकद्वयार्थः ॥ २९ ॥

द्रव्यत्वादिसे हैं एवं आवृत पृष्ठभागअवयवान्तर है वही घट अज्ञात रहता है। घट भिन्न पटादि तो अज्ञात रहते ही हैं उसी घटादिके अज्ञात रहने पर भी पटादि ज्ञात होता है, पटादिका ज्ञान होनेपर तदन्य अज्ञात रहेगा ही उसका ज्ञान रहने पर तदन्य अज्ञात रहता ही है, तदन्यका अज्ञान होने पर उसका ज्ञान होता ही है, अतः घटादि अकृत्स्न है कृत्स्न तो 'अद्वय आत्मा' है, अद्वय आत्माके ज्ञान होने पर कोई अज्ञात अवशिष्ट नहीं रहता है यह वार्तिकका अर्थ है, भाव यह है कि निर्विशेष, स्वयंप्रकाश चैतन्यमात्र आत्मा है, इसमें न अवयव है, न कोई धर्म है, केवल एक वस्तु है सो भी स्वयं प्रकाश हैं। अगर कोई भी धर्म उसमें मानोगे तो वह अस्वप्रकाश होगा और एकधर्म मानने पर 'भिक्षुपाद प्रसारिका' न्यायसे धर्मान्तर भी मानना पड़ेगा। एक धर्म विशिष्ट आत्मज्ञान होनेपर धर्मान्तर-विशिष्टत्वेनाज्ञातत्व आत्मामें भी आयेगा, आत्मा या तो ज्ञात होता है या अज्ञात, ज्ञाताज्ञात रूपसे उसकी स्थिति नहीं मानी जाती यह शुद्ध आत्माका निरूपण है, संसारीका नहीं, आत्मासे भिन्न विषय प्रमेय घटादि ऐसे नहीं, ये सावयव हैं और अनेक धर्मविशिष्ट हैं इसलिए इनमें ज्ञातत्व अज्ञातत्व दोनों धर्म अवयव भेदसे, धर्म भेदसे, एक ही वस्तुमें एक ही कालमें रहते हैं। इसलिए किञ्चिदवयव किञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वेन ज्ञान होने पर भी अवयवान्तर-धर्मान्तर विशिष्टत्वेन कुछ अवयवोंसे कुछ धर्मोंसे विशिष्ट स्वयं अज्ञात रहते हैं। पदार्थान्तरकी कथा ही क्या, अतः कृत्स्न आत्मा है, तदन्य अकृत्स्न है। अतएव 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्, यह श्रुति प्रपञ्चमात्रको ब्रह्म कहती है। उत्पत्तिसे पूर्व इदंशब्दसे उपस्थाप्य व्याकृत नामरूपात्मक प्रपञ्च 'सदेव ब्रह्मात्मना आसीत्' अर्थात् अव्याकृत नाम रूपसे ब्रह्मात्मक था यह सत्कार्यवाद वेदान्त सम्मत है।

कार्यकारणका अभेद भी इस मतमें हैं, अभेद कहनेका तात्पर्य है कारणसे अतिरिक्त कार्यका प्रतिषेध, कारण ही तत्तदवस्थापन्न कार्य है, कारणसे अतिरिक्त कार्य है यह मत उपपत्तिशून्य है। तन्तु-व्यतिरिक्त पट यदि हो तो तन्तुके अलग करनेपर भी पटकी उपलब्धि होनी चाहिए, अवयव परिणामसे अतिरिक्त अवयवीमें परिणामकी उपलब्धि होनी चाहिए, ये होती नहीं, दो सेर तन्तुसे बना पट चार सेरका कहां होता है। द्रव्यका लक्षण परिमाण है, अतिरिक्त परिमाणके अदर्शनसे अवयवातिरिक्त अवयवी है यह अर्थशून्य केवल वाग्जालमात्र है। भिन्न शब्द प्रयोगसे अभिन्नाकार प्रतीत भिन्नोपाधिनिबन्धन एक अर्थमें भी होती है। पिता, पुत्र, जामाता इत्यादि लोकमें प्रसिद्ध है. अतः आत्मव्यतिरिक्त अकृत्स्न पदार्थ है 'तथा च आत्मविद् कृत्स्नवित्, अनात्मवित् अकृत्स्नवित् है, कृत्स्नवित्को चाहिये कि स्वप्रज्ञानुसार

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

तुम अध्यात्मबुद्धिसे सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण कर एवं आशा, ममता और शोकका परित्यागकर युद्ध करो ॥ ३० ॥

एवं कर्मानुष्ठानसाम्येऽप्यज्ञ-विज्ञयोः कर्तृत्वाभिनिवेश-तदभावाभ्यां विशेष उक्तः । इदानीमज्ञस्यापि मुमुक्षोरमुमुक्ष्वपेक्षया भगवदर्पणम् फलाभिसन्ध्यभावश्च विशेषं वदन्नज्ञतया अर्जुनस्य कर्माधिकारं द्रढयति—'मयि' इति । मयि-भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वनियन्तरि सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि-लौकिकानि वैदिकानि च सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसाऽहं कर्ता-अन्तर्याम्यधीनस्तस्मै एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीत्यनया बुद्धया संन्यस्य-समर्प्य निराशीः-निष्कामः

आत्मा अकर्ता अभोक्ता है, इस उपदेशसे अज्ञानी कर्मशीलोंकी बुद्धिमें अश्रद्धा उत्पन्नकर शुभकर्मानुष्ठानोंसे उनको विचलित न करे, आजकल केलिये यह उपदेश अत्यावश्यक है ॥ २९ ॥

इस प्रकार अज्ञानी ज्ञानी दोनोंका कर्मानुष्ठान समान है, केवल कर्तृत्वाभिनिवेश और तदभावसे दोनोंमें विशेष कहा, ज्ञानीको फलकामना और कर्तृत्वाभिमान नहीं है, इस फलके लिए इस कर्मको मैं करता हूं इस अभिप्रायसे कर्मशील अज्ञानीको फल कामना और कर्तृत्वाभिनिवेश ये दोनों हैं एतत्प्रयुक्त विशेष दोनोंमें कहा है । अज्ञानी मुमुक्षु भी स्वकर्मोंको भगवान्में अर्पण करें और फलकामनाका त्याग करें, यह अमुमुक्षु पुरुषकी अपेक्षा विशेष कहते हुए अज्ञ अर्जुनके प्रति कर्म कर्तव्य है यह दृढ़ करते हैं—'मयि' इत्यादिसे । अमुमुक्षु फलकामनासे युक्त साभिनिवेश कर्म करता है । अज्ञानी मुमुक्षु भी वैसा कर्म करता है तो एकको मोक्ष मिलता है, दूसरेको नहीं, यह क्यों ? इस शंका का समाधान इस प्रकार है—भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षु फलकामनाका त्याग करें और कर्तृत्वाभिनिवेशरहित अर्थात् कर्तृत्वका अभाव कर्तापनके समावेशसे रहित होकर कर्मानुष्ठान करें, फलकामनाके त्याग करनेपर कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति न होगी, यह ठीक है, किन्तु उन कर्मोंका मेरेमें अर्पण करे, ये कर्म किए हैं इनको मैं भगवान्में अर्पण करता हूं, उनकी इच्छा इन कर्मोंका जो चाहे फल दे न दे, इसकी चिन्ता मुझे नहीं है, इस संभावनासे कर्म करनेपर मोक्ष होता है । अज्ञानी मुमुक्षुको यही करना चाहिए, यही 'मयि' इत्यादिसे कहते हैं । सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वनियन्ता, सर्वात्मा, भगवान् वासुदेव मुझमें लौकिक, वैदिक, जितने कर्म है उन सब कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे—अध्यात्मचित्तको स्फुट करते हैं—मैं कर्त्ता हूं स्वतन्त्र नहीं, किन्तु अन्तर्यामीके अधीन हूं । जिसे किंकर स्वामीकी आज्ञासे कर्म करता है स्वतन्त्र नहीं, अतः उनका फल राजगामी है भृत्यागामी नहीं, वैसे अन्तर्यामीके अधीन मैं इन कर्मोंको किया हूं, उन सबको स्वामी अन्तर्यामीके शरणकमलोंमें अर्पित कर निष्काम

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो लोग मेरे इस आदेशका अनसूयापूर्वक श्रद्धाके साथ सदा अनुसरण करते हैं वे भी नाना दुःखोंके हेतु पुण्य पाप कर्मोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३१ ॥

देह-पुत्र-भ्रात्रादिषु स्वीयेषु ममताशून्यः विगतज्वरः संतापहेतुत्वाच्छोक एव ज्वरशब्देनोक्तः, ऐहिकपारत्रिकदुर्यशो-नरकपातादिनिमित्तशोकरहितश्च भूत्वा त्वं मुमुक्षुर्युध्यस्व-विहितानि कर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः। अत्र भगवदर्पणं च निष्कामत्वं सर्वकर्मसाधारणं मुमुक्षोः। निर्ममत्वम् त्यक्तशोकत्वं च युद्धमात्रे प्रकृत इति द्रष्टव्यम्, अन्यत्र ममता-शोकयोरप्रसक्तत्वात् ॥ ३० ॥

निराशीः आशारहित होकर, स्त्री-पुरुष, भाई आदि ये मेरे हैं, मैं इनका हूं इत्यादि ममताशून्य, विगतज्वर-विशोक होकर—यद्यपि गीतामें विगतज्वर पाठ है इसपर यह शंका हो सकती है कि ज्वर रोगे' धातुसे ज्वर निष्पन्न होता है अतः सामान्यतः रोग शब्दार्थ है विशोक अर्थ कैसे, परन्तु प्रकरणानुसार यहां शारीरिक रोग नहीं विवक्षित है, किन्तु सन्तापहेतुत्वेन शोक भी ज्वर शब्दार्थ है, यथा शरीरज्वरादि सन्तापप्रद होनेसे रोग है एवं शोक भी उक्त हेतुसे रोग है अतः विगतज्वरका विशोक अर्थमें भी तात्पर्य है, ऐहिक शोक, दुर्यश, नरकनिपतनादि पारलौकिक शोकसे रहित होकर, मुमुक्षु तुम युद्ध करो, युद्ध उपलक्षण है, स्वविहित कर्मको-वर्णाश्रम विहित धर्म करो यह भगवान्‌का अभिप्राय है। यहाँ चार विषयोंका निर्देश किया गया है उनमें दो सर्वसाधारण हैं भगवदर्पण यह सर्व मुमुक्षु साधारण है, पुरुष ब्राह्मण हो या क्षत्रियादि यथा नित्य-नैमित्तिकादि सर्व कर्म साधारण हैं एवं निष्कामत्व सर्व मुमुक्षु पुरुषके सर्व कर्म साधारण है निष्काम होकर मुमुक्षुमात्र सभी कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करे।

निर्मम और विगतज्वरसे विवक्षित विशोक ये दोनों प्रकृत युद्धमात्रमें विवक्षित है क्योंकि ममता और शोक दोनों प्रकृत कर्मानुष्ठानके प्रतिकूल हैं; युद्धातिरिक्त नित्यनैमित्तिकादि कर्मानुष्ठानमें ममता और शोककी प्राप्ति ही नहीं तो फिर निषेध करना ही व्यर्थ है, वे मेरे भाई, पुत्र, गुरु, आचार्य हैं इत्यादि की ममता का कर्मानुष्ठानसमयमें प्रसङ्ग ही नहीं हैं उसमें फलसाधनभूत कर्तव्यतादिका प्रसङ्ग है, फल साधनभूत कर्तव्योंका स्मरण साधक है उसका प्रतिषेध नहीं, फल कामनामात्रका प्रतिषेध विवक्षित है क्योंकि वही केवल प्रतिकूल है और ऐहिक शोकका निमित्त जैसे युद्धमें दुर्यश है—प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न, विद्या, तप और सदाचारसम्पन्न विवेकी हे अर्जुन, तुच्छ फलके लिये पितामह पुत्र पौत्र आचार्यादि की हिंसा यह गर्हित कर्म क्रिया इत्यादि है, इसका प्रसङ्ग युद्ध ही में है, कर्म करनेसे सुयश होगा एवं पारलौकिक नरकपातादिजन्य शोक भी युद्धमें कह सकते हैं, कर्मसे तो उत्तम लोक प्राप्ति होती है उसमें शोकका क्या प्रसङ्ग इस अभिप्रायसे ठीक ही कहा गया है कि अन्यत्र ममता शोकका प्रसङ्ग ही नहीं ॥ ३० ॥

फलाभिसंधिराहित्येन भगवदर्पणबुद्धया विहितकर्मानुष्ठानं सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण मुक्ति-फलमित्याह—'ये' इति। इदम्-फलाभिसंधिराहित्येन विहितकर्माचरणरूपं मम मतं नित्यं नित्यवेदबोधितत्वेनानादि परम्परागतम्, आवश्यकमिति वा सर्वदेति वा मानवाः-मनुष्याः ये केचित्, मनुष्याधिकारित्वात्कर्मणाम्। श्रद्धावन्तः-शास्त्राचार्योपदिष्टे अर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा, तद्वन्तः। अनसूयन्तः गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। सा च दुःखात्मके कर्मणि मां प्रवर्तयन्नकारुणिकोऽयमित्येवंरूपः। प्रकृते प्रसक्तां तामसूयां मयि-गुरौ वासुदेवे

फल कामना रहित होकर भगवदर्पण बुद्धिसे विहित कर्मानुष्ठान चित्त शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति द्वारा मोक्ष फलक है यह कहते हैं—'ये' इत्यादि से। फल कामना रहित होकर भगवदर्पण बुद्धिसे विहित कर्मानुष्ठानरूप मेरा मन नित्य वेदबोधित होनेसे औपचारिक नित्य है क्योंकि कर्मानुष्ठान क्रियाकलापात्मक-क्रियासमुदायात्मक होनेसे साक्षान्नित्य नहीं है किन्तु तद्बोधक वेद नित्य है, इस कारण बोधकगत नित्यत्वका बोध्यमें आरोप कर औपचारिक नित्य कर्मानुष्ठान कहा गया है अथवा अनादि परम्पराप्राप्त होनेसे आवश्यक है। इसलिए नित्य अथवा सदा यह बहुत ठीक हैं इस तात्पर्यसे लोकमें नित्य शब्द प्रयोग बहुत पाये जाते हैं; अग्नि नित्य प्रज्वलित रहती है, देवदत्त नित्य हंसते हैं, यह तो नित्य ही झूठ बोलते हैं श्री काशी विश्वनाथका नित्य दर्शन करते हैं, इत्यादि, सदाके तात्पर्यसे नित्य शब्दोंका प्रयोग अधिक होते हैं।

शङ्का—मनुष्य ही क्यों क्या देवता मोक्ष नहीं चाहते ?

समाधान—चाहते क्यों नहीं इन्द्रविरोचनाद्युपाख्यानमें मोक्षकामना देवासुरोंमें भी होती है यह प्रसिद्ध है, परन्तु मर्त्यलोकका शास्त्र मनुष्योंके लिए है देवासुरोंके लिए नहीं इस तात्पर्यसे अधिकारप्राप्त मनुष्य ही मच्छब्दार्थं विवक्षित है! जो कोई मनुष्य श्रद्धावान्—शास्त्राचार्योपदिष्ट अर्थमें जिस अर्थका साक्षादनुभवसे सिद्धि नहीं गुरु या शास्त्र उसका उपदेश करता है कि यह अर्थ ऐसा है उसमें यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं इस विश्वासको श्रद्धा कहते हैं श्राद्धशील हो एवं असूयावान्-गुणोंमें दोषोंका आरोप करना असूया है, किसी विद्वानने कहा कि सूर्योदयसे पूर्व स्नान सन्ध्यादि करो, साधारणके लिए यह सुख निद्रका समय है उसने किसीसे कहा कि आप इनको विद्वान, दयावान् कहते हैं पर मैं ऐसा इनको नहीं समझता 'मेरे साथ इनका कोई विरोध भी नहीं है, फिर स्वभाववश यह मुझसे कहे कि तुम सबेरे उठकर स्नानादि कर्म करो इसमें इनको क्या लाभ होगा, उस समय कैसा निद्रा सुख मुझे होता है सो मैं ही जानता हूँ यह सुख इनको न हो इस इच्छासे ऐसा कहते हैं यह केवल दयाभावका फल है यदि इनमें कुछ दया भी होती तो मेरे सुख पर ध्यान अवश्य देते ये दृष्टान्त बहुत अच्छे हैं पर वस्तुतः शुभ कामनासे उपदिष्ट कर्म असूयासे

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो ब्राह्मणादि अविवेक वश दूषित करते हुए मेरे इस शासनका अनुष्ठान नहीं करते, उन अविवेकियोंको ब्रह्मज्ञानमें मूढ़ और पुण्यलोकसे भ्रष्ट जानों ॥ ३२ ॥

सर्वसुहृद्यकुर्वन्तो येऽनुतिष्ठन्ति, तेऽपि सत्त्वशुद्धि-ज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिः-धर्माधर्माख्यैः ॥ ३१ ॥

एवमन्वये गुणमुक्त्वा, व्यतिरेके दोषमाह—'ये' इति । तुशब्दः श्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धाम् सूचयति । तेन ये नास्तिक्यादश्रद्दधाना अभ्यसूयन्तः-दोषमुद्भावयन्त एतन्मम मतं नानुवर्तन्ते, तानचेतसः-दुष्टचित्तानत एव सर्वज्ञानविमूढान्सर्वत्र कर्मणि, ब्रह्मणि सगुणे निर्गुणे च

उपदिष्ट है यह मानकर उपदेष्टाके गुणोंमें दोषका आरोप करना असूया है, प्रकृतमें यह प्रसक्त है, सर्व गुरु, सबके सुहृद, पिता, माता, सहस्रसे अधिक वत्सल मेरेमें उक्त असूयाको न करते हुए मेरे उपदेशानुसार जो अनुष्ठान करते हैं वे भी सत्त्वशुद्धि, आत्मतत्त्वज्ञानप्राप्तिद्वारा ज्ञानिवत् मुक्त होते हैं, इस प्रकारसे धर्माधर्म फल साधक कर्मोंसे भी मुक्ति होती है साक्षात्कर्म मोक्षजनक नहीं इसको मानकर भी उक्त प्रणालीसे कर्मको मोक्षका कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं आपत्तिपुरस्सर मोक्षमें साक्षात् जन्यत्वका निषेध है अर्थात् ज्ञानवान् स्वतन्त्र कारण नहीं है किन्तु परम्परा कारणत्व इष्ट है 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिसे यह स्पष्ट है। इसमें किसीका विवाद नहीं ॥ ३१ ॥

अन्वयमें गुण कहकर व्यतिरेकमें दोष कहते है 'ये' त्यादिसे । अन्वयः—'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्' है जो उक्त मेरे मतको मानते हैं वे कर्मसे भी मुक्त होते हैं यह अन्वय हुआ अब जो उक्त मत नहीं मानते उनके विषयमें दोष कहते हैं यह व्यतिरेक है । तु शब्द श्रद्धा विरोधि अश्रद्धाका द्योतक है । नास्तिकतासे जिनमें अश्रद्धा है, 'वे इस मेरे मतमें दोषका उद्भावन करते हैं अतएव इस मतका अनुवर्तन नहीं करते इसके अनुसार कर्मानुष्ठान नहीं करते, वे अचेता यद्यपि जीवन दशामें चित्तरहित नहीं रह सकते तथापि चित्त निन्दाके सूचनार्थ यहाँ अचेता हैं अर्थात दुष्टचित्त अतएव सर्वज्ञानविमूढ़, सबमें, कर्ममें, ब्रह्ममें, सगुण निर्गुणमें, एतद्विषयक जो ज्ञान है इसमें विविध मूढ़त्व कहते हैं—प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतः मौढ्य है, उसको स्पष्ट करते हैं कर्ममें क्या प्रमाण है, क्या आभास है यह कर्मज्ञानमें मूढ़ होनेसे नहीं जानते प्रमाणको अप्रमाण, अप्रमाणको प्रमाण मानते हैं, यह आश्चर्य नहीं दोषका लक्षण विपरीत भासकत्व है । चित्तमें दोष है तो ज्ञान विवेकात्मक कैसे होगा एवं ब्रह्मस्वरूप सगुण निर्गुणादिमें भी प्रमाणतः विमूढ़त्व समझना,

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ज्ञानी भी प्राक्तन संस्कार रूपी प्रकृतिके सदृश चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, इसमें हमारा या अन्यका निरोध क्या कर सकता है ॥ ३३ ॥

यज्ज्ञानम्, तत्र विविधं प्रमाणतः, प्रमेयतः, प्रयोजनतश्च मूढान्-सर्वप्रकारेणायोग्यान्-नष्टान्-सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्विद्धि-जानीहि ॥ ३२ ॥

ननु ,राज्ञ इव तव शासनातिक्रमे भयं पश्यन्तः कथमसूयन्तस्तव मतं नानुवर्तन्ते, कथम् वा सर्वपुरुषार्थसाधने प्रतिकूला भवन्तीत्यत आह—'सदृशम्' इति। प्रकृतिर्नाम-प्राग्जन्मकृत-धर्माधर्मज्ञानेच्छादिसंस्कारो वर्तमानजन्मन्यभिव्यक्तः सर्वतः बलवान् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इति श्रुतिप्रमाणकः। तस्याः-स्वकीयायाः प्रकृतेः सदृशम्-अनुरूपमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवान्-ब्रह्मविदपि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति न्यायात्, गुणदोषज्ञानवान्वा

प्रमेयतः 'किं कर्म किमकर्म' से आगे स्फुट होगा, बड़े बड़े विद्वान् भी इसमें मूढ़ कहे गये हैं फिर दुष्टचित्तों की क्या कथा ? प्रयोजन फल इस विषयमें भी उनका चित्त मूढ़ होता है, कर्मानुष्ठानसे स्वर्गादि हो सकता है तदुद्देशेन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, किन्तु मोक्षका नहीं, इत्यादि प्रयोजनांशमें भी मौढ्य हैं, सबोंके निर्देशमें ग्रन्थ गौरव होगा इसलिये सूक्ष्मरूपसे सूचित किया हूँ, ['अपशवो वान्ये गोश्वेभ्यः' इस श्रुतिसे गवाश्वव्यतिरिक्त पशुमें अपशुत्व बोधन तन्निन्दार्थ है तत्त्व कथन नहीं अतः तच्चित्तमें तत्प्रतिषेध तन्निन्दार्थ है ॥] श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है विशेष व्याख्यानकी आवश्यकता भी नहीं। सब प्रकारसे अयोग्य अतएव नष्ट सब पुरुषार्थोंसे प्रच्युत समझो ॥ ३२ ॥

राजाज्ञाके न पालन करनेमें भय देखकर प्रजाजन जैसे तदनुसार प्रवृत्त होते हैं और राजाकी असूया कर उसके शासनका अतिक्रम नहीं करते वैसे ही सकल लोक हे नाथ, आपकी आज्ञाको भयसे पालन क्यों नहीं करते असूयापूर्वक उसका अतिक्रम क्यों करते हैं और सब पुरुषार्थसाधन आपके शासनके प्रतिकूल क्यों होते हैं ? इस शङ्काका समाधान करते हैं।

'सदृशम्' इत्यादिसे। पूर्वजन्मकृत, धर्माधर्म, ज्ञानेच्छादिसंस्कार प्रकृति है, वह वर्तमान जन्ममें अभिव्यक्त होकर सबसे बलवान होती है इसमें प्रमाण श्रुति है उसको ऊपर देखो। पूर्वजन्ममें जैसे धर्माधर्म ज्ञानादि होते हैं और तदनुरूप वासनापरपर्याय संस्कार होता है इस जन्ममें अपूर्व शरीरेन्द्रियादि संबन्ध

चेष्टते, किं पुनर्मूर्खः । तस्माद्भूतानि - सर्वेप्राणिनः प्रकृतिं यान्ति-अनुवर्तन्ते पुरुषार्थभ्रंशहेतु-भूतामपि । तत्र मम वा राज्ञो वा निग्रहः किं करिष्यति-रागौत्कट्येन दुरितान्निवर्तयितुम् न शक्नोतीत्यर्थः । महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वाऽपि दुर्वासनाप्राबल्यात्पापेषु प्रवर्तमाना न मच्छासनातिक्रमदोषाद्बिभ्यतीति भावः ॥ ३३ ॥

अभिव्यक्त होता है उसको प्रकृति कहते हैं तदनुसार प्राणियोंकी चेष्टा होती है, गुणदोषज्ञ भी प्रकृतिका अतिक्रम नहीं कर पाते, मूर्खोंकी बात ही क्या है ।

यहाँ ज्ञानवान्‌से आत्मज्ञानी विवक्षित है इस तात्पर्यसे ब्रह्मवेत्ता कहा । ब्रह्मज्ञानीका व्यवहार भी विधिनिषेधके प्रतिकूल होता है इसमें 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस भगत्पाद वचनका स्वारस्य है इस आशयसे उक्त वचनका निर्देश है और पश्वादिव्यवहार अविवेकपूर्वक है इसमें सन्देह ही नहीं क्योंकि उनको शास्त्रका उपदेश नहीं है ।

शङ्का—विद्वान् तो शास्त्र जानता है फिर इसका उपदेश तद्वत् क्यों ?

समाधान—प्रकृति बलवती होती है उसके सामने विधि निषेधका वश नहीं चलता यह अतीत कालमें पुराणेतिहासमें प्रसिद्ध है, वर्तमान समयमें यह अति स्पष्ट है । जन्मसे ही कोई साधुप्रकृतिके होते हैं कोई असाधु प्रकृतिके, जैसे प्राचीन समयमें ध्रुव, प्रह्लादादि साधुप्रकृतिके प्रसिद्ध हैं । वर्तमान समयमें मास्टर मथुरा प्रसाद, लोकमान्य तिलक, पूज्य मदनमोहन मालवीय जी आदि । एवम्-असाधु प्रकृति भी प्रसिद्ध हैं, उनके निर्देशकी आवश्यकता नहीं । यदि वहाँ विद्वान्‌से विद्वस्यमान पण्डिताभाष-कर्मकाण्डादिशास्त्रज्ञ विवक्षित हैं ब्रह्मवेत्ता नहीं क्योंकि उनके लिए शास्त्र नहीं है यह 'अविद्वद्विषयाणि शास्त्राणि' इस भगवद्वाक्यसे सुस्फुट है तो उसका अर्थान्तर करते हैं—गुणदोषज्ञानवान् वा गुण दोष जानकर भी गुणानुरूप चेष्टा नहीं करना दोषानुरूप चेष्टा करना इसमें कारण प्रकृति प्राबल्य है धृतराष्ट्रको भगवान्‌ने भी समझाया और वह स्वयं कहा भी है, 'जानाभि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इत्यादि प्रसिद्ध है अतः मेरे अनुशासनके अतिक्रममें प्रकृति बलवती कारण है इसलिए प्राणी स्वप्रकृति की अनुवृत्ति करते हैं और प्रकृत्यनुसार शुभाशुभ कर्म करते हैं, इसपर दृष्टि नहीं देते कि यह प्रकृति पुरुषार्थ हे प्रच्युत कराने वाली है, अतः पुरुषार्थ-प्राप्त्यनुगुण फलकी प्राप्तिके अनुकूल नहीं है । उसमें मेरा अथवा राजाका निग्रह क्या कर सकता है कुछ भी नहीं जिसको कैदके दुःखके अनुभवानुकूल प्रकृति है वह राजाज्ञाका उल्लंघन करता ही है उसका राज निग्रह क्या कर सकता है इसी तरह जिनकी सांसारिक दुःखानुभवानुकूल प्रकृति है उसके लिए मेरा अनुशासन व्यर्थ है, परद्रव्यापहरणादि इस लोक परलोक दोनोंमे अनिष्टजनक है फिर भी उत्कटरागसे उसमें प्रवृत्ति होती है ।

राग दो प्रकारका है एक उत्कट दूसरा अनुत्कट । दोषाज्ञानपूर्वक इष्टमें प्रवृत्ति रागसे होती है,

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियोंके विषयोंमें अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्शादिमें रागद्वेष इष्टमें राग, अनिष्ट में द्वेष नियमतः स्थित है, अतः रागद्वेषके वशमें नहीं आना चाहिये क्योंकि राग और द्वेष मोक्षमार्गके विरोधी (विघ्नकर्ता) हैं ॥ ३४ ॥

ननु सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकारविषयाभावाद्विधिनिषेधानर्थक्यं प्राप्तम्, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति, यं प्रति तदर्थवत्त्वं स्यादित्यत आह— 'इन्द्रियस्ये' इति ।

प्रवृत्तिजनक राग है। द्वेषानिवृत्तिजनक द्वेषकी निवृत्तिके अभावको उत्पन्न करनेवाला या प्रवृत्तिको नष्ट करनेवाला या प्रवृत्तिप्रतिबन्धक कहिए जो इष्ट और द्विष्ट दोनोंमें है उसमें कभी निवृत्ति कभी प्रवृत्ति होती है इसमें कारण यह है कि यदि उत्कट राग होगा तो प्रवृत्ति होगी यदि उत्कट द्वेष होगा तो निवृत्ति होगी, यदि राग द्वेष दोनों सम हैं तो उदासीन रहेगा, प्रवृत्ति की इच्छा भी न होगी। प्रवृत्तिकालमें दोषज्ञान है तो भी अनुचित कर्ममें प्रवृत्ति होती है, उसका कारण उत्कट राग है। इसी प्रकार उत्कट द्वेषमें भी है। राजाका अथवा मेरा निग्रह उत्कट राग होने से प्रवृत्तिको दुरिताचरणसे रोक नहीं सकता, उस कालमें उक्त निग्रह या तो स्मृतिगोचर नहीं होता या उपेक्षित होता है, जैसे सुरापानादि-कर्म यहाँ नरकसाधन है यह जानकर भी प्राचीन दुष्टवासनासे सुरापानादि आचरणमें प्रवर्तमान जन मेरी आज्ञाके उल्लंघनसे नहीं डरते यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

यदि सकल प्राणी प्रकृतिके वशीभूत होकर तदनुरूप ही चेष्टा करते हैं यह मान लिया जाय तो लौकिक वैदिक इष्टानिष्ट प्राप्ति परिहारके लिए 'स्वर्गकामो यजेत' न कलञ्जं भक्षयेत्, ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्, न सर्पाय अंगुलिं दद्यात्' इत्यादि जो विधि निषेध है इनकी क्या गति होगी जो इष्ट स्वर्गादि चाहते हैं और उसका उपाय नहीं जानते किन्तु उपायके अन्वेषणमें तत्पर हैं उनके प्रति कहते हैं कि तुम यज्ञ करो, यज्ञसे तुमको स्वर्ग होगा एवं निषेध वाक्यसे यह कहा जाता है कि यदि तुम दुःखसे बचना चाहते हो तो कलञ्जादि भक्षण मत करो, इस प्रकार परमकारुणिक शास्त्र पुरुषके हितसाधन और अहित परिहारके लिए कर्तव्याकर्तव्यका वोधन कराते हैं। यदि पुरुष प्रकृतिवशवर्ती होकर तदनुसार ही कर्म करेगा तो ये शास्त्र व्यर्थ हैं, यागाद्यनुगुण जिसकी प्रकृति होगी, वह प्रकृतिवश ही कर्म करेगा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवश नहीं एवं 'न सर्पाय अंगुलिं दद्यात्' इत्यादि निषेध शास्त्र अनिष्ट साधनोन्मुख नरके प्रति मना करते हैं कि ऐसा मत करो, परन्तु वैसा करनेके लिये यदि प्रकृति प्रेरणा कर रही है तो प्रकृति बलवती है अतः वह वैसा

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्ये' ति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थे-विषये शब्दे, स्पर्शे, रूपे, रसे, गन्धे च । एवं कर्मेन्द्रियविषयेऽपि वचनादानादावनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागः, प्रतिकूले शास्त्रविहितेऽपि द्वेषः इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ-आनुकूल्यप्रातिकूल्यव्यवस्थया स्थितौ, न त्वनियमेन सर्वत्र तौ भवतः । तत्र पुरुषकारस्य शास्त्रस्य चायं विषयो यत्तयोर्वशं नाऽऽगच्छेदिति । कथं ? या हि पुरुषस्य प्रकृतिः, सा बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे कलञ्जभक्षणादौ प्रवर्तयति । तथा बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसह-

---

करेगा ही, तो निषेध शास्त्र भी व्यर्थ ही है, जहाँ कहीं निषेधानुसार निवृत्ति कहिएगा वहाँ भी प्रकृतिकी प्रेरणासे निवृत्त हुआ यह कह सकते हैं, यह तो सम्भव नहीं कि जो प्रकृतिशून्य है उनके लिए विधि निषेध है इस पर यदि शंका हो कि क्यों तो उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है। 'वीतरागजन्मादर्शनात्' ३-१ २४ इस गौतम सूत्रसे और नत्वेवाहम्' इत्यादि गीतावाक्यसे संसार अनादि है इसमें किसीका अभूत्वा भवन नहीं हैं। किन्तु यावज्जन्म-जन्म पूर्वक ही है, पूर्व जन्मार्जित प्रकृति सबके साथ है उससे शून्य कोई है ही नहीं इस पर कहते हैं 'इन्द्रियस्य' इत्यादि। 'इन्द्रयस्येन्द्रियस्य' दो बार इन्द्रियके ग्रहणरूप वीप्सासे इन्द्रियार्थत्व-व्यापकत्व रागद्वेषान्तरमें लब्ध होता है; अर्थात् सबका लाभ होता है। सब इन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, ये पांच ज्ञानेन्द्रियके विषय हैं। इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियोंके विषय वचनादान विहरणोत्सर्गानन्द है इन विषयोंमें जो विषय अनुकूल है शास्त्रसे निषिद्ध भी है तो भी उसमें राग होता है। इसी प्रकार जो प्रतिकूल जंचता है वह शास्त्रविहित भी हो तो भी द्वेष होता है। इस प्रकार हर एक इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेष व्यवस्थित है। आनुकूल्य व्यवस्थासे राग प्रातिकूल्य व्यवस्थासे द्वेषस्थित है। ये दोनों अनियमसे सर्वत्र नहीं होते प्रतिकूलमें राग अनुकूलमें द्वेष कभी नहीं होता। अब इसमें पुरुष प्रयत्नका और शास्त्रका यह विषय है कि रागद्वेषके वशीभूत मत हो।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—जो पुरुषकी प्रकृति है वह बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धन रागको आगे करके ही शास्त्रनिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादिमें प्रवृत्ति कराती है। भाव यह है कि प्रकृति जिस विषयमें प्रवृत्ति कराती है उस विषयमें सर्वप्रथम अनुकूलत्वबोधन कराती है ततः राग उत्पन्न होता है। रागोत्पत्तिमें कारण इष्टसाधनत्वज्ञान है उसीको अनुकूलत्वज्ञान भी कहते हैं। इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान द्विविध है—बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृततदसहकृत परिशुद्ध अन्नमें प्रथम है, क्षुन्निवृत्ति सबको इष्ट है उसका साधन भक्ष्यमाण अन्न है और वह अन्न बलवान् जो अनिष्ट मरणका भी साधन है यह ज्ञान नहीं है किन्तु तदभाव है अतः बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञान अन्नमें है। अतः उसमें

कृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं द्वेषं पुरस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि संध्यावन्दनादेर्निवर्तयति । तत्र शास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापिते सहकार्यभावात्केवलं दृष्टेष्टसाधनताज्ञानम् मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इव तत्र न रागं जनयितुं शक्नोति । एवं विहितस्य शास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावात्केवलमनिष्टसाधनत्वज्ञानं भोजनादाविव तत्र न द्वेषं जनयितुम्

राग होता है विषमिश्रित अन्नमें रागोत्पत्तिवारणार्थं बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत विशेषण है। विषमिश्रित अन्नमें इष्टसाधनत्वज्ञान तो है, भोजनसे भूख निवृत्त होगी किन्तु भूखनिवृत्तिसे जो सुख होगा उससे बलवान् बहुत बड़ा अनिष्ट दुःख मरण होगा। इसलिये जिजीविषु पुरुष विषमिश्रित अन्न अतिभूख लगने पर भी नहीं खाता। अनिष्टमें बलवत्त्वविशेषणका प्रयोजन यह है कि भोजनजन्यतृप्ति सुखार्थं है जो पुरुष पाक करता है उसमें भी तो दुःख ही है विशेषतः वहाँ जहां नियतस्थिति साधन नहीं है जैसे पथिकको सब सामग्री प्रस्तुत करना है उसमें दुःख अवश्य है पर वह भोजन सुखसे बलवान् नही है इस कारण अनिष्टानुबन्धित्वज्ञानसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञान पाकमें है। और प्रवृत्ति भी होती है इस व्यभिचारका परिहारके लिये अनिष्टमें बलवत्त्वविशेषण है पाकौपयिक श्रमदुःख भोजनसुखसे बलवान् नहीं है बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञान मरणादिज्ञान है तदभावसहकृत इष्टसाधनताज्ञान पाकमें है इस तरह विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव लेकर उक्तदोषका परिहार होता है। परन्तु सुमेरुशृङ्गज्ञानयनादि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनविषय है। पर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। अतः व्यभिचार परिहारके लिये कृतिसासाध्यत्वका निवेश करना चाहिये। अतएव तार्किकादि कहते हैं कि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिप्रयोजक है। प्रभाकरमिश्र कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिप्रयोजक है ऐसा कहते हैं। कोई इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिजनक कहते हैं। इस विषयका विचार न्याय, वेदान्त, मीमांसामें विशेष है विषय भी विचारणीय है। शास्त्रान्तरोंका विचार एक जगह मिल जाता, जिज्ञासु अधिकारियोंका इससे उपकार भी होता परन्तु सब कर्कशतर्कयुक्त विचारोंसे ग्रन्थका कलेवर बहुत बढ़ जायगा और अनुवाद नियमके प्रतिकूल भी है इसलिये इच्छा रहने पर भी उन सबकी विवेचना यहां छोड़ दी गई। मोक्षहेतुभूतज्ञानी जनके लिये तदुपयोगी पदार्थोंकी चर्चा करनी उचित भी है अन्यथा प्रसंग लाकर सबका व्याख्यान यहां प्रसक्त हो सकता है, व्यर्थ विचारोंसे समययापन उचित नहीं। एवं पुरुषकी प्रकृति शास्त्रविहितसे पुरुषको निवृत्त कराती है तो उसमें द्वेष को आगे करके ही अन्यथा नहीं। जैसे राग में कारण कहे हैं वैसे ही द्वेषमें भी कारण कहते हैं। बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबंधन द्वेष होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है। कुछ न करना चुप रहकर बैठे रहना इससे कुछ भी करने में परिश्रमजन्यदुःख छोटा वड़ा कार्यानुकूल परिश्रममात्र में है अत एव कष्ट कर्म यह प्रसिद्धि है। कर्ममात्र कष्टफलकत्वात् कष्ट है, सबमें द्वेष होगा तो किसी कर्ममें किसी की प्रवृत्ति न होगी। इसीलिये

शक्नोति । ततश्चाप्रतिबद्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति, निषिद्धाच्च निवर्तयतीति शास्त्रीय-विवेकविज्ञानप्राबल्येन स्वाभाविकरागद्वेषयोः कारणोपमर्दनोपमर्दान्न प्रकृतिर्विपरीतमार्गे पुरुषं शास्त्रदृष्टिं प्रवर्तयितुं शक्नोतीति, न शास्त्रस्य पुरुषकारस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गः । तयोः-रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत्-तदधीनो न प्रवर्तेत, निवर्तेत वा, किंतु शास्त्रीयतद्विपक्षज्ञानेन

इष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृत यह विशेषण दिया। जो इष्टसाधन है उसमें साधनत्वज्ञानाभावासहकृत अनिष्टसाधनत्वज्ञान नहीं होता। कारण इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान होनेसे वह अनिष्टसाधनत्वज्ञान सहकृत है तदभाव सहकृत नहीं इससे द्वेष नहीं होता।

स्वशरीरताडनादिमें बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृत अनिष्टसाधनत्वज्ञान है इसलिये कोई भी अपने पैरमें कुल्हाड़ी नहीं मारता। विषसंपृक्त अन्न भी तृप्तिरूप इष्टका साधन है अतः इष्टसाधनत्व-प्रकारकज्ञानसहकृत ही अनिष्टसाधनत्वप्रकारज्ञान है, तो उसमें द्वेषजनकत्व न होगा और उससे निवृत्ति नहीं होगी इसलिये इष्टमें बलवत्त्व विशेषण दिया। उक्तरीतिसे मरणदुःखापेक्षया तृप्तिसुख बलवान् नहीं। इसलिये उक्तरीतिसे विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव यहाँ भी है। इसलिये द्वेषोत्पादनद्वारा-पुरुषको विषयुत अन्नके भक्षणसे रोकती है अब प्रकृतमें ध्यान दीजिये। जो शास्त्रसे प्रतिषिद्ध है कलञ्जभक्षणादि उसमें शास्त्र बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञान कराता है। अर्थात् कलञ्जभक्षणसे जो सुख होगा उससे अधिक दुःख होगा यह 'न कलञ्जं भक्षयेत्' शास्त्र कहता है। जिस पुरुषको शास्त्रीय संस्कार है उस पुरुषकी प्रकृति कलञ्जभक्षणमें रागको उत्पादन नहीं कर सकती, कारण बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञान नहीं है किन्तु तत्सहकृत उक्तज्ञान है, रागोत्पत्ति न होनेसे पुरुष कलंजभक्षणमें भी नहीं प्रवृत्त होता अतः शास्त्र व्यर्थ नही है। शास्त्र न होता तो प्रकृति कलंजभक्षणमें भी रागोत्पादनद्वारा पुरुषप्रवर्तक होती। किन्तु शास्त्र होनेसे जहाँ जहाँ शास्त्र बलवान् अनिष्टका बोधन करायेगा वहाँ वहाँ प्रकृति रागोत्पादन न करेगी अतः पुरुषप्रवृत्ति भी न होगी। एवं शास्त्रविहित जो कर्म है उसमें शास्त्र इष्टसाधनत्वका बोधन कराता है, ये कर्म पुरुषके इष्टके साधन हैं उसमें प्रकृति अनिष्ट साधनद्वारा द्वेष नहीं उत्पन्न करा सकती, कारण केवल अनिष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान द्वेषोत्पादक नहीं किन्तु इष्टसाधनत्व-प्रकारकज्ञानाभावसहकृत उक्तज्ञान द्वेषोत्पादक है। शास्त्र स्वविहित कर्ममें जब इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानका उत्पादन कराता है कि यह इष्टसाधन है तब इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानसहकृत अनिष्टसाधनत्वप्रकारक प्रकृतिज ज्ञान है तदभाव सहकृत नहीं। अतः शास्त्रविहित कर्ममें प्रकृति द्वेषोत्पादन-द्वारा पुरुषनिवर्तक नहीं होती इस प्रकार प्रकृतिसे अप्रतिबद्ध शास्त्रविहित सन्ध्यावन्दनादि कर्ममें प्रवर्तक होता है एवं निषिद्ध कलञ्जादिभक्षणसे पुरुषको निवृत्त करता है। प्रबलशास्त्रीय विवेकज्ञान स्वाभाविक प्रवृत्ति निवृत्तिका जो

तत्कारणविघटनद्वारा तौ नाशयेत्। हि - यस्मात्तौ - रागद्वेषौ स्वाभाविकदोषप्रयुक्तावस्य-पुरुषस्य श्रेयोर्थिनः परिपन्थिनौ-शत्रू श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ दस्यू इव पथिकस्य। इदं च 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ततः कनीयसा एव देवाः, ज्यायसा असुराः,' त एषु

रागद्वेष है इसका मूलभूत जो प्राचीनजन्मानुष्ठित धर्माधर्मादि संस्काररूप प्रकृति है उसका उपमर्दन-ध्वंस हो जाता है कारणके ध्वंससे जो रागद्वेष विपरीत प्रवृत्तिनिवृत्तिका कारण है उसका नाश हो जाता है। विपरीतभावनात्मक प्रकृति न रहनेसे जो पुराने संस्कार बचे हैं सो शास्त्रादेशके अनुकूल ही हैं प्रतिकूल होते तो उनका भी विनाश हो जाता। अवशिष्ट प्रकृति शास्त्रका विरोधाभावसे प्रतिबन्धक नहीं अतः प्रकृतिसे अप्रतिबद्धशास्त्र विहितमें पुरुषको प्रवृत्त कराता है कलञ्जभक्षणादि विपरीत मार्गमें शास्त्रद्रष्टाको प्रवृत्ति नहीं करा सकता। इस प्रकार शास्त्र तथा पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं है। माता, पिता, मित्र आदि जो हितैषी हैं उनका व्यापार भी शास्त्रवत् प्रकृतिको बदल सकता है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि किसीकी प्रकृति ऐसी हठीली होती है कि शास्त्र और पुरुषार्थ कोई काम नहीं आता। किसीका उपदेश सुनता ही नहीं यदि किसी तरह हृदयमें तत्त्वकी झलक आ भी जाय तो उसको स्वीकार करनेसे अपनी अयोग्यता प्रकट हो जायगी इस पर दृष्टि देता हुआ उसका गजनिमीलन न्यायसे निराकरण ही करता है, यद्यपि अपनी त्रुटि स्वीकार करनेमें ही प्रतिष्ठा तथा सुपरिणाम होता है परन्तु पण्डितंमन्यको विपरीत ही प्रतीत होते हैं उनके तात्पर्यसे भगवानने ठीक कहा है कि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' उन हतभाग्योंके लिये शास्त्र और पुरुषार्थ फलेग्रही न हुआ तो व्यर्थ नहीं हो सकते। ऐसे भी पुरुष हैं जिनकी प्रकृतियोंको परिशुद्ध करनेपर इष्टानिष्ट परिहारके कारण होते हैं। भगवानका सदुपदेश यह है कि रागद्वेष के वशवर्ती न हो केवल रागद्वेषके अधीन होकर किसीमें प्रवृत्त या निवृत्त न हो, किन्तु जो शास्त्रीय स्वाभाविक रागद्वेषका विपक्ष (विरोधी) ज्ञान है उससे रागद्वेषकारणीभूत जो स्वाभाविकाभिव्यक्तवासना है उसके विघटन (विनाश) द्वारा उक्त स्वाभाविकरागद्वेषका नाश करो। पूर्वजन्मोपचितदुर्वासना-रूप कारण नाशके विना स्वाभाविक राग द्वेष नहीं नष्ट होंगे। अतः तन्नाशक-शास्त्रीय सत्पुरुषव्यापार अपेक्षित है। इसके द्वारा विपरीत वासनाको निवृत्तिके लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—क्यों राग, द्वेष नष्ट करना चाहिये ?

उत्तर—स्वाभाविक रागद्वेष स्वाभाविक दोषज होनेसे श्रेयोर्थी पुरुषके शत्रु हैं और कल्याणप्रद मार्गके निग्रहकर्ता हैं, जैसे पथिकजनके प्रतिकूल डाकू होते हैं वैसे ही इनको जानो। स्वाभाविक चित्त-वृत्तियोंको असुर कह कर शास्त्रीयोपदेशानुसार शुभ चित्तवृत्तियोंको देवता कहते हैं। आसुरी चित्तवृत्तियाँ प्राचीन वासनानुसार जन्मानन्तरमें अभिव्यक्त होनेसे वस्तुतः ज्येष्ठ हैं और शास्त्रीयवासना शास्त्रीयाभ्यासोत्तर-कालिक होनेसे तत्त्वतः कनिष्ठ हैं दोनों प्रजापतिसे उत्पन्न हैं अतः प्राजापत्य हैं, इन विरुद्ध वृत्तियोंमें परस्पर

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

विधिपूर्वक आचरण किये गये अन्यके धर्मसे सम्पूर्ण विधिसे रहित भी (असम्पन्न) अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना श्रेयस्कर है दूसरेका धर्म भयदायक है ॥ ३५ ॥

लोकेष्वस्पर्धन्त' बृ. उ. १-२-१ इत्यादि श्रुतौ स्वाभाविकरागद्वेषनिमित्तशास्त्रविपरीतप्रवृत्तिमसुरत्वेन, शास्त्रीयप्रवृत्तिश्च देवत्वेन निरूप्य, व्याख्यातमतिविस्तरेणेत्युपरम्यते ॥ ३४ ॥

ननु स्वाभाविकरागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रवृत्तिप्रहाणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यञ्चेत् ?

स्पर्द्धा होती है कि मेरी सर्वत्र विजय रहे, इनकी संख्या भी अधिक है, देवी वृत्तियां थोड़ी होती हैं जब वे उत्पन्न होकर किसी सत्कर्म करनेका संकल्प करती हैं तो विपरीत आसुरी वृत्तियां अनेक अनर्थकी सम्भावना कर यह सुझाती हैं कि इन कर्मोंसे दूर रहने ही में आराम है, इस तरह अनेक वार देवी वृत्तियोंके पराजय होने पर इन्होंने विचार किया कि विना देव बलके प्रचुर आसुरी वृत्तियों और मुष्टिमेय देवी वृत्तियोंके संग्राममें हम लोगोंकी विजय नहीं हो सकती इसलिए प्रकर्षलाभार्थ उद्गीथगानके लिए वाग् इन्द्रियसे कहा कि तुम उद्गीथका गान करो जिसके प्रभावसे प्रभावित होकर हम लोग असुरोंको पराजित करें इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषदमें वर्णित है। इसीके स्मरणार्थ श्रुति ऊपर कही गई है इससे जो तत्त्व निकलता है उसको कहते हैं—स्वाभाविक रागद्वेषका कारण यानी शास्त्र विपरीत प्रवृत्तिको असुर कहा गया है। असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः' जो वृत्तियाँ विहित अथवा प्रतिषिद्ध उपायसे प्राणोंको खुश करनेमें ही सदा प्रयत्नशील रहती हैं, वे आसुरवृत्तियां कहीं गई हैं। इनको धर्माधर्मसे भय नहीं, सब प्राणियों में जन्मसे ही उत्पन्न होती हैं और अशिक्षित आत्माको अतिप्रिय होती हैं, कामचार कामवाद कामभक्षमें प्रवृत्त कराता है यही इनका ध्येय है। शास्त्रीय कर्मवासनाजन्य वृत्तियां जो सदसद्विवेकिनी होती हैं, वे क्षणिक भोगकालीन अखिल सुखको हानिकर हैं अतएव उपेक्ष्य बतलाकर और आरम्भमें क्लेश होने पर परिणाममें भूरि सुखप्रद समझाकर स्वाभाविक प्रकृति प्रवर्तित भोगसे आत्माको विरत कराती हैं इसीसे दोनोंमें वैरभाव है, इनका विशेष वर्णन उक्त उपनिषद्में है। अतः इस चर्चासे उपरत होते हैं जिसको इस विषयकी जिज्ञासा होवे वे उक्त ग्रन्थ देखें ॥ ३४ ॥

शङ्का—पश्वादि साधारण स्वाभाविक रागद्वेषप्रयुक्त प्रवृत्तिको हटा कर शास्त्रीय ही कर्म करना चाहिये यदि यही आपके उपदेशका सार है तो कर्तव्याकर्तव्य पथप्रदर्शक शास्त्रके जो अधिकारी नहीं हैं, वे पशुपक्ष्यादि स्वभावतः स्वहितसाधन भक्षणादिमें प्रवृत्त होते हैं और अनिष्टसाधन वस्तुभक्षणसे स्वयं निवृत्त होते हैं, उनकी पूर्वार्जित प्रकृति ही प्रवृत्तिनिवृत्तिका नियन्त्रण करती है। भगवानकी यह असीम दया है कि पश्वादिकी प्रवृत्तिको ऐसा नियन्त्रित किया है कि उनके जीवन निर्वाहके लिए स्वप्रकृतिव्यति-

तर्हि यत्सुकरं भिक्षाशनादि, तदेव क्रियताम्। किमतिदुःखावहेन युद्धेनेत्यत आह—'श्रेयान्' इति ।

श्रेयान्-प्रशस्यतरः स्वधर्मः-यं वर्णम्, आश्रमं वा प्रति यो विहितः, स तस्य स्वधर्मः-विगुणोऽपि-सर्वाङ्गोपसंहारमन्तरेण कृतोऽपि, परधर्मात्-स्वं प्रत्यविहितात्स्वनुष्ठितात्सर्वाङ्गोप-

---

रिक्तकी आवश्यकता ही नहीं। मुझे और पशुओंकी प्रकृतिका विशेष परिचय नहीं है पर गो-बैलकी प्रकृतिका कुछ परिचय है, वे जब कभी बीमार होते हैं तो भोजन छोड़ देते हैं और कोई भी प्रिय वस्तु उनके सामने रखिये सूँघकर छोड़ देते हैं और खाते नहीं, ऐसा तीन चार दिन तक देखा गया है अच्छे होने पर ग्रास ग्रहण करते हैं इत्यादि अनेक अद्भुत शक्ति भक्ष्याभक्ष्यके विषयमें है। ऋतुकालाभिगामी वे मनुष्य ऐसे नहीं हैं फिर भी वे आहार निद्रा, भय, मैथुनादिमें पूर्ण नियन्त्रित हैं वैसा ही मनुष्य भी यदि व्यवहार करे तो पश्वादिसे मनुष्यमें विशेष क्या रहा, पश्वादिकी प्रकृति इतना ही समझाकर प्रवृत्ति कराती है कि यह अनुकूल है, निवृत्ति करानेमें भी इतना ही समझाना है कि यह तुम्हारे प्रतिकूल है, उनके लिए शुद्धाशुद्ध पुण्यपापका विचार नहीं है, जिसका सेवन अनुकूल है वह ग्राह्य हैं, जिसका प्रतिकूल है वह अग्राह्य है, मनुष्यका धर्माधर्मके साथ सम्बन्ध है इसलिये पश्वादिसाधारणप्रवृत्तिको त्यागकर शास्त्रीय कर्म ही कर्तव्य है। अतः शास्त्रीय कर्म जो सुकर है जैसे भिक्षा लेकर भोजन करना यह शास्त्रीय भी है और सुकर भी है यही करना चाहिये युद्धादि कर्म अतिदुःखप्रद है अतः इसका त्याग ही अच्छा है इसके करनेकी क्या आवश्यकता ?

समाधान—'श्रेयान्' इत्यादि स्वधर्म अति प्रशस्त है।

शङ्का—स्वधर्म क्या है ?

समाधान—जिस वर्णाश्रमीके उद्देश्यसे जिस धर्मका शास्त्रमें विधान है उस वर्णाश्रमीका वह धर्म स्वधर्म है, वह यदि सामर्थ्याभावसे पूर्वोत्तराङ्गोपेत सविधि न हो किन्तु पूर्वोत्तराङ्गरहित हो तो वह विगुण कहा जाता है, पर धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान कर सकते हैं स्वधर्मका पूरा अनुष्ठान नहीं कर सकते ऐसी दशामें अपूर्णसम्पादित स्वकर्मकी अपेक्षा सुखेन सविधि अनुष्ठित परधर्म ही करना चाहिये इस कल्पनाकी निवृत्तिके लिए भगवान कहते हैं कि नहीं ऐसा नहीं अपना धर्म यथाशक्ति जितना हो सके उतना ही करना उचित है, परधर्म अनुष्ठान अपने लिए व्यर्थ है।

प्रश्न—क्यों !

उत्तर—परधर्म परके लिए अनुष्ठेय होनेसे धर्म है अन्यके लिए न वह धर्म ही है, न अनुष्ठेय ही। इसमें रहस्य यह है कि धर्माधर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है, जिसके लिए जो अनुष्ठेय शास्त्रमें विहित है उसके लिए वह धर्म है दूसरेके लिए नहीं अतएव धर्मका लक्षण है 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः 'वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवान् अर्थ धर्म है, भोजनादि भी तृप्त्यादि प्रयोजनवान् है इसमें भी धर्मत्वापत्ति होगी तद्वारणार्थ

संहारेण संपादितादपि । न हि वेदातिरिक्तमानगम्यो धर्मः । येन परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो धर्मत्वात् स्वधर्मवदित्यनुमानं तत्र मानं स्यात्, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' मी.द.१-१-२ इति न्यायात् । अतः स्वधर्मे किंचिदङ्गहीनेऽपि स्थितस्य निधनम्-मरणमपि श्रेयः-प्रशस्यतरम्, परधर्मस्थस्य जीवितादपि। स्वधर्मस्थस्य निधनं हीह लोके कीर्त्यावहम्, परलोके च स्वर्गादिप्रापकम् । परधर्मस्तु इहाकीर्तिकरत्वेन, परत्र नरकप्रदत्वेन च भयावहो यतः, अतो रागद्वेषादिप्रयुक्तस्वाभाविकप्रवृत्तिवत्परधर्मोऽपि हेय एवेत्यर्थः । एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयः प्राप्तिः, तदनङ्गीकारिणां च

'वेदप्रतिपाद्य' कहा गया है, स्वर्गादि फल वेदप्रतिपाद्य अर्थ है इसमें धर्मत्वापत्ति परिहारार्थ प्रयोजनवान् कहा, प्रयोजन स्वर्गादि स्वयं है उसमें प्रयोजनान्तर नहीं है अतः प्रयोजनवत्त्वके अभावसे वह धर्म नहीं। श्येनादिमें धर्मत्ववारणार्थ अर्थपदोपादान-अर्थपदका उपादान है। श्येन यद्यपि स्वरूपतः अधर्म नहीं है तथापि तत्फल अनर्थ है, इस हेतुसे श्येनादि अनर्थ कहाते हैं। उनकी निवृत्तिके लिए अर्थ कहा, इस लक्षणसे यह स्पष्ट कहा गया है कि धर्माधर्म वेदातिरिक्त मानगम्य-'प्रमाणसे जानने योग्य' नहीं अतः 'परधर्मोऽप्यनुष्ठेयः धर्मत्वात् स्वधर्मवत्' अन्यदीय धर्म भी अनुष्ठेय है क्योंकि उसमें भी धर्मत्व है स्वधर्मवत् यह अनुमान असंगत है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—असिद्धि हेत्वाभास है। परधर्ममें अन्यदीयापेक्षासे धर्मत्व ही नहीं है अर्थात् गोत्वादि जातिके समान धर्मत्व जाति नहीं है कि गवान्तरमें गोत्वादि जाति दर्शनसे तादात्म्येन गवाद्यनुमितिवत् परकीयानुष्ठेयमें धर्मत्वज्ञानसे अनुष्ठेयानुमिति भी हो जायगी अगर ऐसा माना जाय तो धर्मशास्त्रैकसमधिगम्य नहीं होगा किन्तु अनुमानादिगम्य भी होगा किन्तु ऐसा नहीं है, 'अशुद्धिमिति चेन्न शब्दात्' ब्र.सू.३-१-२५ इस वेदान्त सूत्रमें इसका विशद विवेचन किया गया है वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि धर्माधर्मादि केवल वेदैकसमधिगम्य है, अनुमानादिगम्य नहीं इसीमें 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' यह मीमांसासूत्र प्रमाण है, चोदना वैदिक वाक्य है, वही लक्षण ज्ञापक है जिसका, वह धर्म है, वह श्येनादिका भी ज्ञापक वैदिक वाक्य है अतः उसमें भी धर्मत्वापत्ति होगी इसलिए अर्थ कहा गया, श्येनादि उक्तरीतिसे अर्थ नहीं अतः उसकी व्यावृत्ति हुई इसमें 'चोदनैव लक्षणं, साच लक्षणमेव' इत्यादि मीमांसाभाष्यकारोक्त अर्थका विशेष निर्देश ग्रन्थगौरवादिके भयसे नहीं किया अतः समग्राङ्गसहित स्वधर्म न हो सकनेपर भी किञ्चिदङ्गहीन यथाशक्ति अनुष्ठित स्वधर्ममें स्थित पुरुषका मरण भी प्रशस्त है। परधर्मके जीवनसे स्वधर्मस्थितका मरण इस लोकमें कीर्तिकर है और परलोकमें स्वर्गादिलोकप्रद है इसलिए स्वधर्मानुष्ठान ही सबसे अच्छा है, परधर्मानुष्ठान इस लोक में अकीर्तिकर होनेसे और परलोकमें नरकप्रद होनेसे भयंकर है। अतः रागद्वेषादि प्रयुक्त स्वाभाविक-

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले हे कृष्ण ! यह पुरुष बलात्कारसे प्रेरित होकर न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापाचरण करता है ॥ ३६ ॥

श्रेयोमार्गभ्रष्टत्वमुक्तम्। श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसन्धिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि-'ये त्वेतदभ्यसूयन्तः' इत्यादिना। तत्रायम् संग्रहश्लोकः—

श्रद्धाहानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्व-मूढते।
प्रकृतेर्वशवर्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ ॥
परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥ ३५ ॥

तत्र काम्य-प्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य, भगवन्मतमनुवर्तितुं तत्कारणावधारणायार्जुनउवाच—'अथ' इति। 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम्। सांप्रतं च 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिना बहुविस्तरं कथितम्। तत्र किं सर्वाण्यपि समप्रधान्येन कारणानि,

---

प्रवृत्तिवत् परधर्म भी त्याज्य है, शास्त्रनिरपेक्ष पूर्वजन्मार्जित धर्मादिवासनारूप प्रकृति प्रवृत्तिवद् प्रतिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादि प्रवृत्ति यथा हेय है तथा परधर्मानुष्ठान भी हेय ही है। इस प्रकार भगवन्मत स्वीकार करनेवालोंको मोक्ष प्राप्ति होती है, उनके मतको न माननेवालोंका मोक्ष मार्गसे अधःपात होता है। यह कह चुके हैं। मोक्ष मार्गअधःपातसे फलकामनापूर्वक काम्यकर्म करनेमें केवल पाप करनेके बहुत मार्ग कहे हे 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तः' इत्यादिसे, यहाँ पर कुपथ व्यापकोंका संक्षेपसे संग्राहक श्लोक है 'श्रद्धाहानिः' इत्यादि। असूया, परगुणेषु दोषाविष्करण, दुष्टचित्तत्व-मूढ़त्व, प्रकृतिवशवर्तित्व, सम्पूर्ण रागद्वेषादि और परधर्मरुचित्व ये सब त्याज्य हैं ॥ ३५ ॥

काम्य प्रतिषिद्ध कर्म प्रवृत्तिके कारणोंका निराकरण कर भगवन्मतानुवृत्तिके लिए तत्कारणोंके निश्चयार्थ 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वमें अनर्थ-हेतु विषय स्मरण कहा। इस समय 'प्रकृतेः-गुणसम्मूढ़ाः' इत्यादि ग्रन्थसे बहुत विस्तार कहा उसमें क्या सब बराबरके कारण हैं अथवा एक मुख्य कारण है शेष सहकारी कारण है यथा अंकुरमें प्रधान कारण बीज है और आर्द्रक्षितिसंयोग सहकारी

अथवैकमेव मुख्यं कारणम्, इतराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतः ब्रूहि मे केन-हेतुना प्रयुक्तः-प्रेरितोऽयं त्वन्मताननुवर्ती सर्वज्ञानविमूढः पुरुषः पापम्-अनर्थानुबन्धि सर्वम्-फलाभिसंधिपुरःसरं काम्यं चित्रादि, शत्रुवधसाधनं च श्येनादि, प्रतिषिद्धं च कलञ्जभक्षणादि बहुविधं कर्माऽचरति-स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धि त्वदुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति । न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं संभवति । अतो येन बलादिव नियोजितः राज्ञेव भृत्यः, त्वन्मतविरुद्धम्-सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माऽऽचरति, तमनर्थमार्गप्रवर्तकं मां प्रति ब्रूहि । ज्ञात्वा समुच्छेदायेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय ! वृष्णिवंशे-मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेतिसम्बोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीयः-इति सूचयति ॥ ३६ ॥

कारण है । प्रथम पक्षमें हर एक कारणोंको निराकरण करनेके लिए अलग अलग प्रयत्न अपेक्षित होंगे अतः अधिक प्रयास होगा । अन्तिम पक्षमें एकके निराकरण करनेसे कृत्यकृत्यता हो जायगी, भाव यह कि यदि अनेक स्वतन्त्र कारण होंगे तो सबके निराकरणके लिये अलग-अलग करना ही होता है यदि प्रधान एक ही कारण है उसके निराकरणसे तत्कार्यकी निवृत्ति हो जाती है इसमें श्रम स्वल्प है इस अभिप्रायसे अर्जुन भगवानसे पूछते हैं कि आप मुझसे कहिये कि किस कारणसे प्रेरित त्वन्मतानवर्तिजन सब ज्ञानविमूढ़ अनर्थकारण पाप तथा फलकामनापूर्वक सम्पूर्ण काम्यकर्म पशुफलप्रद चित्रादि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि विहित, 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि विहित श्येनादि और प्रतिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादि कर्म करते हैं । स्वयं करनेकी इच्छा न रहने पर भी अनेकविध कर्म करते हैं, मोक्ष लाभोपयोगी भगवदुपदिष्ट-आपसे कहा गया निवृत्तिलक्षणधर्म करनेमें इच्छुक होनेपर भी नहीं करते हैं, पराधीनताके विना यह सम्भव नहीं कि जो चाहे सो न करे जो न चाहे सो करे। 'पर' यहाँ कौन है इस विषयमें बहुत सोचने पर भी अभी तक यह नहीं समझ पाया कि 'पर' कौन है जिसके इच्छानुसार ही कर्म किया जाता है, राजप्रेरित भृत्यके समान जीव आपके मतसे प्रतिकूल अनेक अनर्थोंसे युक्त कर्म करता है । उस अनर्थको जो प्रतिकूल मार्गमें प्रवृत्त करता है उसको हमसे कहिये । उसको जान कर ही उसका नाश कर सकते हैं । अतः उसके विनाशके लिये उससे पूछता हूँ । हे वार्ष्णेय ! वृष्णि वंशज जो मेरे मातामहका कुल है उसमें कृपापूर्वक आप अवतीर्ण हैं, वार्ष्णेय सुत हम से इस सम्बन्ध से भी आप मेरी उपेक्षा न करेंगे यह उक्त सम्बोधनसे भी सूचित होता है ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—काम और तद्विशेष क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न हैं, ये महा अशन अर्थात् हविसे अनृप्त अग्निके समान भोगोंसे तृप्त न होनेवाले महान् पापी हैं। इस विषयमें इनको शत्रु समझो ॥३७॥

एवमर्जुनेन पृष्टे 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः' बृ.उ.४-४-५ इति, आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव, सोऽकामयत जाया मे स्यात्, अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म कुर्वीय' बृ.उ. १-४-१७ इत्यादि-श्रुतिसिद्धमुत्तरं 'श्रीभगवानुवाच' इति।

यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः, स एष-काम एव महान् शत्रुः। यस्तन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम्। ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह—क्रोध एषः-काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमते, अतः क्रोधोऽप्येषः-काम एव। एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः। तन्निवारणोपायज्ञानाय

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर 'अथो खल्वाहुः' इत्यादि श्रुति सिद्ध उत्तर भगवानने अर्जुनको दिया। उल्लिखित श्रुतिका संक्षिप्त अर्थ यह है कि सृष्टिसे पूर्व प्रथम एक ही आत्मा था, उसने इच्छा की कि मेरे स्त्री हो उसको कामना होते ही स्त्री हो गई फिर इसमें पुत्रादि सन्तान हो इस प्रकार इच्छा होनेपर सन्तान भी हो गया। सन्तान होनेपर भी द्रव्यकी आवश्यकता हुई। इसलिये द्रव्यकी कामना की, द्रव्य भी प्राप्त हुआ। द्रव्यलाभका फल साधु कर्म करना है इसलिये उसका संकल्प किया कि साधु कर्म करें इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नावस्थामें पुरुष अकेला ही सोता है इस स्थितिमें स्वप्नमें कल्पना होती है कि रेलगाड़ी पर चढ़ें। रेलगाड़ीमें सब पथिक उपस्थित होते हैं। जहाज पर चढ़नेकी इच्छा हुई जहाज समुद्र सब स्वप्नमें देख उपस्थित होते हैं। वास्तविक वे है नहीं किन्तु उस समय कल्पनासे सब देख पड़ते हैं उनके उपयोगसे सुख भी होता है उस समय उसको हम यथार्थ ही समझते हैं पर जागने पर असल तत्त्वका पता चलता है कि ये सब काल्पनिक थे, असली नहीं। एवं संसार दशामें जीवके कल्पनानुसार अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। पर इनकी वास्तविकता पर विचार करनेसे स्वाप्निक समान ही ये भी सिद्ध होते हैं। इनका निवर्तक आत्मसाक्षात्कार और रेलका निवर्तक जागरण है, इत्यादि। श्री भगवान कहते हैं कि अनर्थ मार्गमें बलसे प्रवृत्त करानेवालेको जो तुमने पूछा है सो यह सर्व लोकानुभवसिद्ध महाशत्रु काम हैं, तन्निमित्तक ही सब अनर्थोंकी प्राप्ति प्राणियोंको होती है।

तत्कारणमाह—'रजोगुणसमुद्भवः'। दुःखप्रवृत्तिबलात्मको रजोगुण एव समुद्भवः-कारणम् यस्य, अतः कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य, सोऽपि तथा। यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणम्, तथाऽपि दुःखे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्, तस्यैव निर्देशः। एतेन सात्त्विक्या वृत्त्या रजसि क्षीणे, सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम्।

अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यतः आह—रजोगुणस्य-प्रवृत्त्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात्। कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयति। तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः। ननु साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वारः

शङ्का—कामका ही नाम क्यों लेते हैं क्रोध भी तो अनर्थबहुल श्येनादि यागमें प्रवर्तक है अतः उसका भी नाम कहना चाहिये।

समाधान—क्रोध भी तत्त्वतः काम ही है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—किसी कामनासे किसी कर्ममें पुरुष प्रवृत्त हुआ उस कर्ममें कोई विघ्न डालता है तो वह काम नहीं होता इसलिये वह क्रोधरूपसे परिणत हो जाता है अतः क्रोध भी काम ही है इसी महाशत्रु कामके निवारण करनेसे सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। उसके निवारणके उपायज्ञानके लिये कामको कारण कहते है। 'रजोगुणसमुद्भवः' रजो गुणसे काम होता है इसलिये इसका कारण रजोगुण है, कार्य-कारण स्वभावानुयायी होता है। इसलिये यह भी रजोगुणके जो स्वभाव दुखप्रवृत्ति हैं तद्वत् काम भी है। यथा मृद् घट मृत्स्वभावानुवर्ती है सुवर्ण घट सुवर्णस्वभावानुवर्ती है तद्वत् रजोगुण कार्य काम रजोगुणस्वभावानुवर्ती है। यद्यपि क्रोधात्मक कामका तो विशेष रूपसे तमोगुण कारण है पर काम जो रागात्मक है उसका भी सामान्यतः तमोगुण कारण है तथापि दुःख प्रवृत्तिमें प्रधान कारण रजोगुण ही माना गया है। इसलिये रजोगुणका ही कारणत्वेन निर्देश है, तमोगुणका नहीं। इससे सात्विक प्रवृत्तिसे रजोगुणके क्षीण होने पर काम भी क्षीण होता है। तैलके क्षीण होने पर प्रदीपप्रकाश भी क्षीण होता है यह उक्तप्राय ही है।

अथवा काम अनर्थ मार्गमें कैसे प्रवर्तक होता है। यह कहते हैं। प्रवृत्ति दुःखादिलक्षण रजोगुणके प्रादुर्भावका कारण काम है, काम ही से उक्त गुणकी उत्पत्ति होती है। काम विषयाभिलाषात्मक प्रसिद्ध ही है। वह जब स्वयं उत्पन्न होता है तो रजोगुणका प्रवर्तक होकर दुःखात्मक कर्ममें पुरुषको प्रवृत्त कराता है। इसलिये इसका हनन अवश्य करना चाहिये यह अभिप्राय है।

उपायाः तत्र प्रथमत्रिकस्यासंभवे, चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यः, 'न तु हठादेवेत्याशङ्क्य, त्रयाणामसंभवं वक्तुं विशिनष्टि 'महाशनो महापाप्मे'ति। महदशनमस्येति महाशनः।

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्' ॥ इति स्मृतेः ॥

अतो न दानेन संधातुं शक्यः। नापि साम-भेदाभ्याम्। यतो महापाप्मा-अत्युग्रः। तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति। अतो विद्धि-जानीहि एनम्-काममिह-संसारे वैरिणम्। तदेतत्सर्वं विवृतं वार्तिककारैः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इतिश्रुतिव्याख्याने—

'प्रवृत्तौ निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः।
स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते' ॥

शङ्का—साम, दान, भेद, दण्ड ये चार उपाय अर्थ साधनके लिये शास्त्रमें कहे गये हैं वहां पर यह भी निर्णय किया कि प्रथम सामका प्रयोग करना और सामके असफल होने पर दानका, उसके असफल होने पर भेद का। इसके भी असफल होने पर जब तीनों उपायोंसे काम न चले तो चतुर्थ उपाय 'दण्ड' काममें लाना चाहिये सहसा नहीं। अतएव सुन्दरकाण्डमें हनुमानजीने लंकादहनोपक्रमसे पूर्व रामायणमें किस नीतिका प्रयोग करना चाहिये इस विचारके समय (९६ में) कहा है कि

'न साम रक्षस्सु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते।
न चापि भेदो बलदर्पितेषु पराक्रमस्तेषु ममेह रोचते' ॥

राक्षसोंमें सामवाद प्रयोगकी क्या सम्भावना। इनमें सामवाद प्रतप्त घी में जल बिन्दुके समान विपरीत गुणकारी होगा, जिसकी लंका ही सोनेकी है उसको द्रव्यदानसे कौन तुष्ट कर सकता है। भेद भी बल दर्पितोमें काम नहीं दे सकता अतः यहाँ तीनों उपाय काम नहीं दे सकते। इसलिये पराक्रम ही उचित प्रतीत होता है। मेरे एकाकीके पराक्रमको देखकर कुछ विचार करें तो हो सकता है। इस आशासे उक्त तीनों उपायोंको असफल कहकर तब चतुर्थ उपायमें प्रवृत्त हुये। तद्वत् यहाँ भी तीनों उपायोंके असम्भव प्रदर्शनार्थं विशेषण देते हैं 'महाशनो महापाप्मा' इति। महद् अशनं यस्य 'स महाशनः,

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्' ॥

यह स्मृति दी हुई है इसका अर्थ अति स्पष्ट है। पृथिवीमें जितने अन्न व्रीहि, यव हैं यह अन्नमात्रका

'न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थवर्त्मनि ।
निवृत्तिलक्षणे वाच्यं केनायं प्रेर्यतेऽवशः ॥
अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते ।
पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥
तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि ।
वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥
अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः ।
इत्यकामयतानाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥

उपलक्षण है। तथा जितना सोना, पशु और स्त्रियां है ये सब एकके लिये पर्याप्त नहीं है इनके पानेपर भा स्वर्ग भोगरूप अप्सराओं पर दृष्टि पड़ती है। इस कारण दानसे इसके साथ संधि नहीं होती।

शङ्का—तो साम भेदसे सन्धि करनी चाहिये ?

समाधान—महापापात्मा है यानी यह महापापी है रावणादि के समान यह सामभेदका विषय ही नहीं है। अनिष्ट अवश्य होगा यह जानता हुआ पुरुष काम प्रेरित होकर पापमें प्रवृत्त होता है। जो अनिष्ट जानकर पाप करता है उसको इसमें अनिष्ट होगा ऐसा समझाकर कौन निवृत्त करा सकता है, आप अपना रास्ता देखिये, मैं स्वयं जानता हूँ तो आप कहते हैं इत्यादि कहकर कहने वालेपर रोष प्रकट करता है। अतः इस संसारमें कामको वैरी मानों। 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इस श्रुतिका व्याख्यान करते हुये वार्तिककारने इन सबका विशेषरूपसे विवरण किया है 'प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च' इत्यादिसे, वार्तिक मूलमें देखिये। प्रसिद्धिचेतन आत्मा उसके स्वप्रवृत्ति निवृत्तिमें स्वतन्त्र कारण है पराधीन नहीं तो अनेक अनर्थ पूर्ण संसारमें क्यों प्रवृत्त होता है। कोई भी जानकर करतल अनलका संयोग नहीं कराता तथा समस्त संसारानर्थनिवर्तक के अनर्थ को हटानेवाला निवृत्तिलक्षण धर्ममें किससे प्रेरित होकर प्रवृत्त होता है अनर्थका-अज्ञानसे प्रवृत्त होता है यह भी नहीं कह सकते। यह जानता है कि इसमें अत्यन्त दुःख होगा फिर भी उसमें बलात्प्रवृत्त होता है। चौर्य, परदारगमनादिमें परिपाक-परिणाम अनर्थ होगा यह जानकर भी प्रवृत्त होता है, परतन्त्रताके विना ऐसी प्रवृत्ति कहीं देखते नहीं। परतन्त्रतासे तो मनुष्य फांसी पर चढ़ता ही है किन्तु स्वतन्त्र नहीं। जहां कोई स्वयं फांसी लगाता है वहां भी कोई असह्य दोष अवश्य रहता है तस्मात् श्रेयोर्थी पुरुषका अनिष्ट कर्मप्रवृत्तिका प्रेरक कोई अवश्य कहना चाहिये। दुःख कोई नहीं चाहता दुःखसाधनमें फिर क्यों प्रवृत्त होता है अज्ञानवश भी नहीं कह सकते जानकारकी भी प्रवृत्ति देखते हैं। इसलिये यह कल्पना होती है कि इष्टानिष्टमें पुरुषप्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं कोई प्रेरक है जो किसीको इष्टमें प्रवृत्ति कराता है किसीको अनिष्टमें। शास्त्रोपदेश भी सबके प्रति समान है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार धूमसे अग्नि और मलसे दर्पण आवृत होता है और जैसे उल्व (जरायु) से गर्भ आच्छादित है उसी प्रकार कामसे यह ज्ञान आच्छादित है ॥ ३८ ॥

जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनि श्रितान् ।
अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः' ॥
'अकामस्य क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' ॥
काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः ।
प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते' ॥ इति ॥

'अकामस्य' इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

तस्य महापाप्मत्वेन वैरित्वमेव दृष्टान्तैः स्पष्टयति—'धूमेन' इति । तत्र शरीरारम्भात्प्रागन्तःकरणस्यालब्धवृत्तिकत्वात्सूक्ष्मः कामः शरीरारम्भकेन कर्मणा स्थूलशरीरावच्छिन्ने लब्धवृत्तिकेऽन्तःकरणे कृताभिव्यक्तिः सन्स्थूलो भवति । स एव विषयस्य चिन्त्यमानतावस्थायाम्

फिर भी प्रवृत्ति विचित्र देखते हैं । अतः अनिष्ट कर्ममें श्रेयोर्थीका प्रेरक कौन है उसको अवश्य कहिये इसका उत्तर देनेके लिये उक्त श्रुतिकी प्रवृत्ति है । अप्राप्तपरमपुरुषार्थ, अमुक्त अतएव अखिल सांसारिक दुःखोंसे व्याकुल, जडमति नर अप्राप्तपुरुषार्थको साधनसे पानेकी कामना तथा अज्ञ अपनेमें स्थित अनर्थोंकी जिज्ञासा करता हैं, मेरेमें जितने दुःख हैं सबकी निवृत्ति साधनसे चाहता है । अविद्यासे उद्भूत समुत्पन्न कामी अविद्वान् पुरुष अविद्यावश तत्फलोंकी कामनासे प्रवृत्त होता है यह श्रुति, स्मृति तथा अनुभवसे सिद्ध है, मनु भगवान्ने भी कहा है ।

'अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् । २ श्लो० ४ इत्यादि । अन्य स्पष्ट है ॥ ३७ ॥

काममें महापापित्व प्रदर्शनद्वारा दृष्टान्तसे वैरित्व स्पष्ट करते हैं–'धूमेनेति' शरीरारम्भके पूर्व अंतःकरण अलब्ध वृत्ति होता है अतः उसमें काम सूक्ष्म रहता है शरीरारम्भक कर्मसे जब स्थूल शरीरका आरम्भ होता है तो स्थूल शरीर विना मनसम्बन्धके भोग सम्पादनासमर्थ होनेसे उन्हीं शरीरारम्भक कर्मोंसे अन्तः-करणका

पुनः पुनरुद्रिच्यमानः स्थूलतरो भवति। स एव पुनर्विषयस्य भुज्यमानतावस्थायामत्यन्तोद्रेकं प्राप्तः स्थूलतमो भवति। प्रथमावस्थायां दृष्टान्तः—यथा धूमेन सहजेनाप्रकाशात्मकेन प्रकाशात्मकः वह्निराव्रियते। द्वितीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथा आदर्शो मलेनासहजेनाऽऽदर्शोत्पत्त्यनन्तर-मुद्रिक्तेन। चकारोऽवान्तरवैधर्म्यसूचनार्थः, आव्रियत इति क्रियानुकर्षणार्थश्च। तृतीयावस्थायाम् दृष्टान्तः—यथोल्बेन-जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन सर्वतो निरुध्याऽऽवृतः, तथा प्रकार-त्रयेणापि तेन कामेनेदमावृतम्। अत्र धूमेनाऽऽवृतोऽपि वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यं करोति। मलेनाऽऽवृतस्त्वादर्शः प्रतिबिम्बग्रहणलक्षणं स्वकार्यं न करोति। स्वच्छताधर्ममात्रतिरोधानात्-स्वरूपतस्तूपलभ्यत एव। उल्बेनाऽऽवृतस्तु गर्भो न हस्तपादादिप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति विशेषः॥ ३८॥

शरीरके साथ सम्बन्ध होता है और वह अन्तःकरण स्थूल शरीरावच्छिन्न होकर वृत्ति लाभ करता है। सुख-दुःखाद्याकारवृत्ति शरीरावच्छिन्न मनमें होती है। उस अन्तःकरणमें अभिव्यक्त कामादि स्थूल होता है। वहीं विषयकी चिन्त्यमानतावस्थामें पुनः उपचीयमान-बढ़ता हुआ स्थूलतर होता है, वहाँ फिर विषयकी भोगा-वस्थामें अत्यन्तोद्रेक-अतिवृद्धिको प्राप्त कर स्थूलतम होता है। वहाँ प्रथमावस्थामें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे सहजो-त्पन्न स्वाभाविक अप्रकाशात्मक धूमसे प्रकाशक वह्नि आवृत होता है, द्वितीयावस्थामें दृष्टान्त है—जैसे दर्पण उत्पत्तिके अनन्तर शनैः-शनैः वर्धमान मलसे आवृत होता है, चकार अवान्तर वैलक्षण्य सूचनार्थ है और आव्रियते क्रियाके अनुकर्षणार्थ है। तृतीयावस्थामें दृष्टान्त है—जैसे जरायु गर्भवेष्टन सूक्ष्म कोमल चर्मसे सर्वांश गर्भको रोक कर आवृत कर लेता है एवं उक्त तीनों प्रकारोंसे कामसे यह आवृत हैं इनमें धूमसे आवृत अग्नि स्वकार्य यानी दाहादि कर्म करता है, मलसे आवृत आदर्श ऐना प्रतिविम्ब यानी छायाग्रहण रूप स्वकार्य नहीं करता है, किन्तु स्वच्छतामात्र धर्म ही तिरोहित-ढक जाता है। स्वरूपसे तो दर्पण का ग्रहण होता ही है। उल्बसे आवृत गर्भ तो हाथ पाँव फैलानारूप स्वकार्य नहीं करता और न स्वरूपसे ही प्रतीत होता है यह विशेष है। किसी का मत है कि इदंशब्दसे जीवेश्वरान्तःकरण ये तीनों विवक्षित है, एतदनुरूप तीन दृष्टान्त है जैसे धूमसे आवृत प्रकाशात्मक भी अग्नि दूसरेको प्रकाशित नहीं करती वैसे ही परमात्मा सर्वप्रकाशक स्वयंप्रकाश होने पर भी आवृत होकर दूसरेको स्फुट प्रकाशित नहीं होता, जैसे दर्पण मलसे आवृत होकर मुखादिको प्रकाशित नहीं करता एवं आवृत अन्तःकरण परमात्माके अभिव्यक्ति का हेतु नहीं होता, यथा उल्बसे आवृत गर्भ स्वकार्य-हस्तपादादिप्रसारणरूप नहीं कर सकता तथा कामसे आवृत जीव ईश्वरादिज्ञानरूप स्वकार्यमें समर्थ नहीं होता। स्थूलादिभेदसे कामकी तीन अवस्थायें कही गई हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दूष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

हे अर्जुन! अग्निके समान पूर्ण न होनेवाले कामरूपसे जो ज्ञानियोंका सदा शत्रु है। उससे ज्ञान आवृत है॥ ३९॥

'तथा तेनेदमावृतमि'ति संग्रहवाक्यं विवृणोति—'आवृतम्' इति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्-अन्तःकरणम्, विवेकविज्ञानं वा. इदंशब्दनिर्दिष्टम्। एतेन - कामेनाऽऽवृतम्। तथाऽप्यापाततः सुखहेतुत्वादुपादेयः स्यादित्यत आह—'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'। अज्ञो हि विषयभोगकाले कामं मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते वैरित्वं जानाति-कामेनाहं दुःखित्वमापादित इति। ज्ञानी तु भोगकालेऽपि जानात्यनेनाहमनर्थे प्रवेशित इति। अतो विवेकी दुःखी भवति भोगकाले च तत्परिणामे चानेनेति ज्ञानिनोऽसौ नित्यवैरीति, सर्वथा तेन हन्तव्यः एवेत्यर्थः। तर्हि किंस्वरूपोऽसावित्यत आह–'कामरूपेण'। कामः-इच्छा तृष्णा सैव रूपं यस्य, तेन। हे कौन्तेयेति संबन्धाविष्कारेण प्रेमाणं सूचयति। ननु विवेकिनो हन्तव्योऽप्यविवेकिनः उपादेयः स्यादित्यत आह—'दुष्पूरेणानलेन च'। चकार उपमार्थः। न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलः-वह्निः। स यथा हविषा पूरयितुमशक्यः, तथाऽयमपि भोगेनेत्यर्थः। अतो निरन्तरम् संतापहेतुत्वाद्विवेकिन इवाऽविवेकिनोऽपि हेय एवासौ।

अज्ञात विषयस्वाद अतएव अभिनिवेशराहित्य प्रथम अवस्था है, विषयचिन्तासे प्रवर्धमानत्व द्वितीय अवस्था है, विषय सेवनसे अत्यन्त प्रवर्धमानत्व तृतीय अवस्था है॥ ३८॥

'तथा तेनेदमावृतम्' इसका विवरण करते हैं—'ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान अन्तःकरण अथवा विवेक विज्ञान ये ही इदंशब्दसे निर्दिष्ट है ये कामसे आवृत होते हैं तो वे ही सुख हेतु होते हैं और इस अविवेकीसे ग्राह्य होते हैं। इसलिये ज्ञानीका नित्य वैरी काम है, अज्ञजन भोगकालमें कामको मित्रके समान देखता है परन्तु दुःखप्राप्ति कालमें उसको वैरी मानता है, क्योंकि उसने दुःख दिया है ज्ञानी तो भोगकालमें भी यह जानता है कि काम वैरी है परिणाममें वैरित्व तो सबको स्फुट ही है अतः नित्य वैरी कहा इसका सदा त्याग ही श्रेयस्कर है।

शङ्का—अच्छा तो उसका स्वरूप बतलाइये जिससे मैं पहचान कर उसका त्याग करू।

समाधान—काम इच्छा तृष्णा यही है रूप जिसका एवंरूप काम है, हे कौन्तेय! कुन्तीके पुत्र? संबन्ध कथनसे प्रेमातिशय सूचित होता है। ठीक है विवेकीको काम त्याज्य हो अविवेकीके लिए क्यों त्याज्य है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इस कामका आश्रय-स्थान इन्द्रियां मन और बुद्धि हैं, यह काम इन्द्रिय मन और बुद्धिके द्वारा ज्ञानको ढककर जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तथा च स्मृतिः—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' मनु-अ-२-श्लो०-६२॥ इति ॥

अथवेच्छाया विषयसिद्धिनिवर्त्यत्वादिच्छारूपः कामो विषयभोगेन स्वयमेव निवर्तिष्यते, किं तत्रातिनिर्बन्धेनेत्यत उक्तं—'दुष्पूरेणानलेन चेति । विषयसिद्धौ तत्काल-मिच्छातिरोधानेऽपि, पुनः प्रादुर्भावान्न विषयसिद्धिरिच्छानिवर्तिका । किन्तु विषये दोषदृष्टिरेव तथेति भावः ॥ ३९ ॥

ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने, सुखेन स जेतुं शक्यत इति तदधिष्ठानमाह—'इन्द्रियाणी' ति ।

इन्द्रियाणि,-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि, वचनादान गमनविसर्गानन्द-जनकानि वागादीनि च । मनः संकल्पात्मकम् । बुद्धिः-अध्यवसायात्मिका च । अस्य कामस्य-अधिष्ठानम्-आश्रय उच्यते । यत एतैरिन्द्रियादिभिः स्वस्वव्यापारवद्भिराश्रयैर्विमोहयति-विविधम् मोहयति एषः-कामो ज्ञानं-विवेकज्ञानमावृत्य-आच्छाद्य देहिनं-देहाभिमानिनम् ॥ ४० ॥

उत्तर—यहाँ चकार उपमार्थक है 'न विद्यते अलं पर्याप्तिर्यस्य, स अनलः' जैसे अग्निकी तृप्ति हविः-प्रदानसे नहीं होती वैसे कामकी तृप्ति भोगोंसे नहीं होती अतः सदा संतापक होनेसे अविवेकीको भी वह त्याज्य ही है, मनु भगवान्ने भी लिखा है 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इत्यादि, अथवा विषय प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति होती है अतः काम विषयसेवनसे स्वयमेव निवृत्त हो जायगा उसकी निवृत्तिका आग्रह व्यर्थ है अतः दुष्पूरेण कहा । विषय प्राप्तिकालमें तदिच्छा निवृत्त होने पर भी कालान्तरमें पुनः होती ही है अतः विषयप्राप्ति आत्यन्तिक इच्छाविरहका कारण नहीं किन्तु विषयोमें दोष दृष्टि ही उसका वास्तविक कारण है ॥ ३९ ॥

शत्रुका निवासस्थान ज्ञात होने पर उसका सुखसे निग्रह हो सकता है अन्यथा नहीं इस जिज्ञासासे कामका अधिष्ठान कहते हैं 'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे । शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध ये पांच, श्रोत्रादि पांच इन्द्रियोंके विषय है इनके ग्राहक उक्त पांच ज्ञानेन्द्रियां है । वाक्, पाणि, पाद, और उपस्थ गुदादि ये पांच

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिये तुम पहले सर्व प्रथम इन्द्रियोंको वशीभूतकर ज्ञान और विज्ञानके नाशक इस पापी कामको अच्छीतरह त्याग दो या मार दो ॥ ४१ ॥

यस्मादेवम्—'तस्मात्' इति । यस्मादिन्द्रियाधिष्ठानः कामो देहिनं मोहयति, तस्मात्त्वमादौ-मोहनात्पूर्वम्, कामनिरोधात्पूर्वमिति वा । इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि नियम्य-वशीकृत्य, तेषु, हि वशीकृतेषु मनोबुद्ध्योरपि वशीकरणं सिध्यति, संकल्पाध्यवसाययोर्बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैवानर्थहेतुत्वात् । अत 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरि' ति पूर्वं पृथङ्निर्दिश्यापीहेन्द्रियाणीत्येतावदुक्तम्, इन्द्रियत्वेन तयोरपि संग्रहो वा । हे भरतर्षभ, महावंशप्रसूतत्वेन समर्थोऽसि । पाप्मानम् सर्वपापमूलभूतमेनं कामं वैरिणं प्रजहिहि-परित्यज । हि-स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारयेति वा ।

कर्मेन्द्रियां है इनके वचनादान विहरणोत्सर्गानन्द ये पाँच विषय है। संकल्पात्मक मन है, अध्यवसायात्मक बुद्धि है, ये कामके आश्रय कहे गये हैं ।

स्वविषयग्रहण व्याकुलव्यापारविशिष्ट पूर्वोक्त इन्द्रियादि अधिष्ठानद्वारा विविध मोहको-काम उत्पन्न करता है, यह कार्य विवेकज्ञानका आवरण कर 'देहिनम्' आत्माको विमुग्ध करता है और काम सर्व प्रथम इन्द्रियोंमें आता है जैसे नेत्रसे शत्रुको देखा उसी समय इन्द्रियप्रदेशमें क्रोध होता है, तदनन्तर मन संकल्प करता है, ततः बुद्धिमें विश्वासद्वारा तत्वज्ञानका आवरणकर आत्माको मुग्ध कर तदनिष्टमें प्रवृत्त कराता है, इसी तरह इन्द्रियान्तरके विषयमें भी समझना । अतःसर्व प्रथम इन्द्रियोंका नियन्त्रण करना चाहिये, जिससे क्रोधादि इन्द्रियोंमें न आवे ऐसी चेष्टा पहिले ही करनी चाहिये, इसी तरह सब आश्रयोंपर अधिकारकर शत्रुको भी भगाना चाहिये, मनका पृथक् ग्रहण है अतः इन्द्रियशब्द बहिरिन्द्रियपरक है अथवा वेदान्तोमतमें मन इन्द्रिय नहीं अतः पृथक् उपादान युक्त ही है ॥ ४० ॥

अतः इन्द्रियाधिष्ठानद्वारा काम आत्माको विमुग्ध करता है, अतः तू पहिले ही मोहनसे पूर्व अथवा काम निरोधसे पूर्व ही श्रोत्रादि इन्द्रियोंको वशमें करो, बाह्येन्द्रियोंके वशमें करनेसे मन और बुद्धिका वश करना अनायास सिद्ध होता है क्योंकि काम इन्द्रियद्वारा ही मन बुद्धिमें प्रविष्ट होता है, जब इन्द्रियोंमें स्थान न पा सकेगा तो आगेको कैसे बढ़ेगा, मन बुद्धिके धर्म संकल्पाध्यवसाय बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारा अनर्थ हेतु हैं साक्षात् नहीं, इस अभिप्रायसे मन बुद्धिका इन्द्रियोंसे पृथक् निर्देश किया है अथवा इन्द्रियोंमें बुद्धि मनका भी संग्रह हो सकता है। हे भरतर्षभ ! बड़े कुलीन होनेसे तुम इसके त्यागमें समर्थ हो यह उक्त

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

पर अर्थात् आत्माके दर्शनसे आन्तरिक कामका नाश सम्भव है अतः क्रमसे परका निर्देश करते है। शरीरसे इन्द्रियाँ पर श्रेष्ठ) हैं इन्द्रियोंसे पर मन है मनसे बुद्धि पर है बुद्धिसे पर वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

'जहि शत्रुमि'त्युपसंहाराच्च। ज्ञानम्-शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षम्, विज्ञानम्-अपरोक्षं तत्फलम्, तयोर्ज्ञान-विज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोर्नाशनम् ॥ ४१ ॥

ननु यथाकथंचिद्बाह्येन्द्रियनियमसंभवेऽप्यान्तरतृष्णात्यागोऽतिदुष्कर इति चेत्। न। 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र परदर्शनस्य रसाभिधानीयकतृष्णात्यागसाधनस्य प्रागुक्तेः। तर्हि कोऽसौ परः, यद्दर्शनात् तृष्णानिवृत्तिरित्याशङ्क्य, शुद्धमात्मानम्

सम्बोधनका व्यङ्ग्य अर्थ है। सब पापोंका आदि कारण काम है, इस वैरी कामका त्याग करो, हनन करना त्याग ही है। शस्त्रादिसे शिरच्छेदनरूप लौकिक हनन काममें संभव नहीं। वस्तुतः 'जहि' हन धातुका रूप नहीं है किन्तु ओहाक् त्यागेका प्रजहिहि* यह रूप है, प्रकर्षेण मारय यह अर्थ ठीक है, जहिका त्यज यही अर्थ किया है, युक्त भी यही है, कामका हनन त्यागनेसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है, उपक्रम न्यायसे 'जहि शत्रुम्' इस उपसंहार वाक्यमें 'जहि' यह रूप हन धातुका है उसका अर्थ उपक्रम वाक्यानुसार त्याग ही हैं।

शङ्का—तत्वज्ञानसे मोहकी निवृत्ति होती है या तन्मूलक कामकी।

समाधान—शास्त्राचार्योपदेशसे समुत्पन्न आत्मतत्त्वज्ञान परोक्षात्मक ज्ञान है, विज्ञान उक्त ज्ञानका फलभूत आत्मतत्त्व साक्षात्कार, इन दोनोंका नाशक काम है, ज्ञान विज्ञान ये दोनों मोक्षसाधन है, इनका नाशक उक्त काम है, इसलिये मुमुक्षुको उसका त्याग करना चाहिये।

शङ्का—ज्ञान होने पर काम स्वयं नष्ट हो जायगा फिर पूर्वमें ही इन्द्रियजयमें परिश्रम करनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इन्द्रियजयके विना उक्त ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता तदुत्पत्तिमें यही प्रतिबन्धक है 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' यह स्मृति है, काम पाप है सो प्रकृत श्लोकमें स्पष्ट ही है ॥ ४१ ॥

प्रश्न—इन्द्रियोंका जैसे तैसे नियमन हो सकता है पर आन्तर तृष्णाका त्याग अत्यन्त दुष्कर है।

उत्तर—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इस पूर्व श्लोकसे परमात्मदर्शन रसात्मक तृष्णाका निवर्तक है यह पूर्वमें कह चुके हैं।

---

* 'रावणो जहिहि द्वेषं जहाहि प्रमदावनम्' इति भट्टिः, जहाहि, जहीहि, जहिहि ये तीन रूप प्रसिद्ध हैं।

परशब्दवाच्यं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति—'इन्द्रियाणि' इति । श्रोत्रादीनि-ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, स्थूलं जडं परिच्छिन्नं बाह्यं च देहमपेक्ष्य पराणि, सूक्ष्मत्वात्, प्रकाशकत्वात्, व्यापकत्वात्, अन्तःस्थत्वाच्च प्रकृष्टान्याहुः पण्डिताः, श्रुतयो वा । तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः-संकल्पविकल्पात्मकम्, तत्प्रवर्तकत्वात् । तथा मनसस्तु परा बुद्धिः-अध्यवसायत्मिका । अध्यवसायो हि निश्चयः, तत्पूर्वक एव संकल्पादिर्मनोधर्मः । यस्तु बुद्धेः परतः-तद्भासकत्वेन अवस्थितः यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तम्, स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा । 'स एष इह प्रविष्टः' बृ०उ०१-४-७ इतिवद्व्यवहितस्यापि देहिनस्तदा परामर्शः । अत्रार्थे श्रुतिः—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' कठ०उ०-१-३-१०-११- ।। इति ।।

अत्राऽऽत्मनः परत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यविषयत्वादिन्द्रियादिपरत्वस्याविवक्षितत्वात्,

---

प्रश्न—कौन आत्मा है जिसके दर्शनसे तृष्णाकी निवृत्ति होती है ।

उत्तर—शुद्ध परशब्दवाच्य आत्माको देहादिसे विवेक कर दिखलाते हैं 'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे । श्रोत्र, त्वग् नेत्र, रसना, नासिका पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल बाह्य परिच्छिन्न-परिमित देहकी अपेक्षा सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक एवं अन्तःस्थ होनेसे प्रकृष्ट कहे गये हैं ।

प्रश्न—कौन ऐसा कहा है ।

उत्तर—विद्वान् और श्रुतियाँ । एवं इन्द्रियोंसे पर संकल्पात्मक जो मन है वह इन्द्रियोंका प्रवर्तक है तथा मनसे पर बुद्धि अध्यवसायात्मक यानी निश्चयात्मक ज्ञान है तत्पूर्वक ही संकल्पविकल्पादि मनोधर्म है । जो बुद्धिसे तद्भासक होनेसे परतःस्थित है जिसको देहेन्द्रियादि आश्रयसे युक्त काम ज्ञानावरणद्वारा मुग्ध करता है यह पूर्वमें कहा है, वही बुद्धिका द्रष्टा पर आत्मा है । 'स एष इह प्रविष्टः' इतिवत् व्यवहित देही आत्माका परामर्श तच्छब्दसे है । इस अर्थमें श्रुति ऊपर देखिये इस श्रुतिमें आत्मामें ही परत्व विवक्षित है इन्द्रियादिमें परत्व अविवक्षित है, अतः श्रुतिमें इन्द्रियोंसे परे अर्थ है ऐसा कहा ।

शङ्का—यहाँ इन्द्रियोंसे पर मन है ऐसा श्रुति विरुद्ध कहा है, अतः एतदर्थक श्रुति कैसे ?

समाधान—अर्थादिमें परत्व विवक्षित नहीं है, विवक्षित अर्थमें विरोध नहीं, दोनों प्रकारकी विवक्षा

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इति स्थानेऽर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणीति विवक्षाभेदेन भगवदुक्तं न विरुध्यते। बुद्धेः-अस्मदादिव्यष्टिबुद्धेः सकाशात् महानात्मा-समष्टिबुद्धिरूपः परः 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इति वायुपुराणवचनात्। महतो हैरण्यगर्भात् बुद्धेः परम्-अव्यक्तमव्याकृतं सर्वजगद्बीजं मायाख्यं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' श्वेत-उ-४-१०-इति श्रुतेः 'तद्धीदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' बृ-उ-१-४-७-इति च। अव्यक्तात्सकाशात्सकलजडवर्गप्रकाशकः पुरुषः-पूर्णः आत्मा परः। तस्मादपि कश्चिदन्यः परः स्यादित्यत आह—'पुरुषान्न परं किंचिदि'ति। कुतः एवम्? यस्मात्सा काष्ठा- समाप्तिः, सर्वाधिष्ठानत्वात्। 'सा परा गतिः' 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति-तद्विष्णोः परमं पदम्' १-३-९ इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा परा गतिरपि सैवेत्यर्थः। तदेतत्सर्वं 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यनेनोक्तम् ॥ ४२ ॥

हो सकती है अतः विवक्षाभेदसे दोनों ठीक है अर्थ इन्द्रिय-समानजातीय है यथा शब्दात्मक आकाश और श्रोत्र हैं, तथा स्पर्शात्मक वायु रूपात्मक तेज, रसात्मक जल, गन्धात्मक पृथिवी तत्तद्गुणक तत्तद्भूतात्मक श्रोत्र त्वक्चक्षुरादिको क्रमसे समझना अतः दोनोंमें विरोध नहीं, बुद्धिसे हम लोगोंकी व्यष्टिबुद्धि समझना। 'आत्मा महान् परः' यहाँपर महान्से बुद्धि अर्थ विवक्षित है, किन्तु बुद्धिसे बुद्धिमें परत्व नहीं हो सकता है इसलिये प्रथम बुद्धि हम लोगोंकी व्यष्टिबुद्धि है इससे पर महानात्मा समष्टिबुद्धिरूप-एकरूपापन्नरूप है, 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इस वायुपुराणके वचनसे स्पष्ट है। महत् हिरण्यगर्भ बुद्धिसे पर अव्यक्त अव्याकृत सब प्रपंचका बीज माया है 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' इस श्रुतिसे स्पष्ट है अव्यक्तसे सकल जडपदार्थका प्रकाशक, पुरुष पूर्ण आत्मा पर है।

शंका—इससे भी कोई पर होगा?

समाधान—पुरुषसे पर कोई नहीं है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—वही काष्ठा-समाप्ति है क्योंकि समस्त जगत्का मूल कारण होनेसे सबसे परे हैं अतएव सबका अधिष्ठान होनेसे वही परा गति है। 'सोऽध्वनः' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित परा गति वही है, वह सब, यो 'बुद्धेःपरतस्तु' इससे कहा गया है सो बुद्धिसे भी परे है, वह ज्ञानपदवाच्य। उल्बसे गर्भके समान कानसे आवृत होता है, व्यवहितके साथ संबन्ध है अतः सर्वत्र परशब्द उत्कृष्टार्थक है, तथाच श्रुतिः—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' कठ-उ-१-३-१३ इति। वागादि बाह्येन्द्रियादिव्यापार त्याग कर मनोमात्रसे स्थित रहे, विषयविकल्पप्रवण भी ज्ञानात्मशब्दबोध्य बुद्धिमें धारण करे उस बुद्धिको भी समष्टिबुद्धिमें-एकरूपापन्नरूप धारण करें उस महानात्मा समष्टिबुद्धिको निष्कल ब्रह्मज्योतिमें धारण करें यह निष्कर्ष है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

इस प्रकार आत्माका बुद्धिसे परे अर्थात् विलक्षण तथा श्रेष्ठ रूपसे साक्षात्कार करके निश्चयात्मक बुद्धिसे मनको स्थिरकर हे महाबाहो ! इस दुर्जय काम (तृष्णारूप) शत्रुको मार डालो ॥ ४३ ॥

फलितमाह—'एवं बुद्धेः' इति । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र यः परशब्देनोक्तः, तमेवंभूतं पूर्णमात्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा-साक्षात्कृत्य, संस्तभ्य-स्थिरीकृत्याऽऽत्मानम्-मन आत्मनैतादृशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्या जहि-मारय शत्रुम्-सर्वपुरुषार्थशातनम् । हे महाबाहो महाबाहोर्हि शत्रुमारणं सुकरमिति योग्यं सम्बोधनम् । कामरूपम्-तृष्णारूपं दुरासदम्-दुःखेना आसादनीयं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति यत्नाधिक्याय विशेषणम् ॥ ४३ ॥

उपायः कर्मनिष्ठाऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता ।
उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ज्ञाननिष्ठावर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

फलित अर्थ कहते हैं 'एवम्' इत्यादिसे। 'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा' वहाँपर परशब्दसे जो कहा गया है उस उक्त गुणविशिष्ट पूर्ण आत्माको बुद्धिसे पर समझकर साक्षात् करके यानी स्थिर करके पूर्वोक्त निश्चयात्मक बुद्धिसे कामका त्याग करो, वह पुरुषार्थका शत्रु है, महाबाहो इस सम्बोधनसे शत्रुका परित्याग तुमको सहज है यह सूचित होता है। काम रूप यानी तृष्णारूप दुरासद-दुर्विज्ञेयअनेकविशेष है, वस्तुतः आत्मा निर्विशेष है फिर भी अनेक विशेषका कथन तद्विशेषफलाधिक्यार्थ है तत्त्वार्थक नहीं, तत्वज्ञानोपाय कर्मनिष्ठाका यहां प्रधानरूपसे उपसंहार किया गया है, साध्यरूप ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठामें गुणरूपसे कही गई है, सारांश यह है कि आत्मतत्त्वज्ञानसे अज्ञानका तबतक समूलोच्छेद नहीं होता जब तक कामका समूलोच्छेद नहीं होता अतः बुद्धिसे पर समझकर कामका त्याग करो उसके नष्ट होनेपर संसाररूपी अनर्थका उच्छेद होगा ॥ ४३ ॥

इतिश्री म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदि विरचित मधुसूदनीभाषानुवाद तीसरा अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

श्री भगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—यह अविनश्वर योग सर्वप्रथम मैंने सूर्यको बताया था । सूर्य ने इसे मनुको बताया । मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया ।

यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगः, तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ, तथापि 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इत्यनया दिशा साध्यसाधनयोः फलैक्यादैक्य-मुपचर्य साधनभूतं कर्मयोगम्, साध्यभूतश्च ज्ञानयोगमनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन भगवान्–'इमं विवस्वते' इति। इमम्-अध्यायद्वयेनोक्तं योगम्-ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपाय-लभ्यम् विवस्वते - सर्वक्षत्रियवंशबीजभूतायाऽऽदित्याय प्रोक्तवान्-प्रकर्षेण सर्वसन्देहोच्छेदादि-रूपेणोक्तवानहम्-भगवान् वासुदेवः सर्वजगत्परिपालकः सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्पालयितुम् । कथमनेन बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति—अव्ययम्-

---

यद्यपि प्रथम उपायस्वरूप कर्मयोग तदुपेय ज्ञानयोग इन दोनों योगोंको कहा तथापि 'एकं सांख्यं च योगं च' इत्यादि वाक्यसे साध्य ज्ञानयोग साधन कर्मयोग इन दोनोंका फलैक्य अर्थात् दोनों का फल मोक्ष एक है, इसलिए दोनों में ऐक्य का आरोप कर साधनभूत कर्मयोग, साध्यभूत ज्ञानयोगमें अनेक गुण विधानके लिए स्तुति करते हैं, यह कहते हैं 'इमम्' इत्यादिसे। वंश कथनद्वारा भगवान् अध्यायद्वयोक्त योग ज्ञाननिष्ठा स्वलक्षण जो कर्मनिष्ठा योगमें प्राप्त हैं। सब क्षत्रियोंके आदि कारण आदित्यसे अच्छी तरहसे कहा जिससे सकल संशयका निराकरण होता है उस तरह कहा।

प्रश्न—कौन ?

उत्तर—मैं सर्व जगत्परिपालक वासुदेव, इससे सर्गके आदि कालमें राजाओंमें बलाधाम हो तदधीन ही सम्पूर्ण जगतका परिपालन हो सकता है यह अर्थ है।

प्रश्न—कैसे इससे बलाधान होता है।

उत्तर—इसको विशेषण द्वारा दिखलाते हैं—अव्यय-अविनाशी वेद है, तन्मूलक यह योग है फल

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

इस प्रकार राजर्षियोंने क्रमागत इस योगका ज्ञान प्राप्त किया था। परन्तु अर्जुन ! यह योग इस लोक में चिरकालसे नष्ट हो गया था।

अव्ययवेदमूलत्वात्, अव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययम्-अव्यभिचारिफलम् । तथाचैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः । स च मम शिष्यो 'विवस्वान्-मनवे-वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह । स च मनुरिक्ष्वाकवे-स्वपुत्रायाऽऽदिराजायाऽब्रवीत् । यद्यपि प्रतिमन्वन्तरम् स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भगवदुपदेशः, तथाऽपि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणाऽऽदित्यमारभ्य संप्रदायो गणितः ॥ १ ॥

एवमादित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्पया प्राप्तमिमं योगं राजानश्च ते ऋषयश्चेति राजर्षयः - प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिना प्रोक्तं विदुः । तस्मादनादिवेदमूलत्वेन, अनन्तफलत्वेन, अनादिगुरुशिष्यपरम्पराप्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वान्महाप्रभावोऽयं योग इति, श्रद्धातिशयाय स्तूयते । स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन

मोक्ष भी अव्यय है। 'न व्येति व्यभिचरति स्वफलात्' इति। वह अव्यय, अव्यभिचारिफलक है। योगद्वयका फल अवश्य होता है, योगद्वय होनेपर फल न हो ऐसी सम्भावना नहीं, तथा च ऐसे योगसे बलाधान हो सकता है, यह भाव है। वह मेरा शिष्य विवस्वान् स्वपुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनु अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा। यद्यपि प्रतिमन्वन्तर स्वायम्भुवादिमनुसाधारणको यह भगवदुपदेश है। तथापि एतत्कल्पीय वैवस्वत मन्वन्तराभिप्रायसे आदित्यसे लेकर सम्प्रदाय माना है ॥ १ ॥

स्वायम्भुवादिभेदसे मनु १४ हैं, प्रतिकल्पमें भिन्न-भिन्न नामक मनु होते हैं, वर्तमान कल्पमें वैवस्वत मनु हैं, यदि वैवस्वत मनुसे ही यह योग कहा होता तो योग अव्यय नहीं कहा जा सकता, भगवान् श्रीमुखसे योगको अव्यय कहते हैं इसलिए प्रतिकल्पमें इसी क्रमसे गीतोपदेशका इस लोकमें अवतरण होता है। प्रकृत कल्पमें वैवस्वत मनु हैं अतः उपलक्षणतया तन्निर्देशमें भगवत्तात्पर्य है? इस प्रकार आदित्यसे लेकर गुरु शिष्य परम्परासे यह प्राप्त है उसको राजर्षि जानते हैं।

प्रश्न—राजर्षिका लक्षण क्या है ?

उत्तर—'प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थदर्शित्वम्' द्वितीय दलसे केवल राजाओंकी व्यावृत्ति होती है, प्रथम दलसे केवल ऋषियोंकी व्यावृत्ति समझना, पृथ्वीका पति होकर सूक्ष्मार्थदर्शी जो निमिप्रमुख राजा हुए, वे

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही प्राचीन योग आज मैंने तुम्हें बताया है। क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो और यह योग बहुत ही गूढ और उत्तम है (जिसे न तो सब समझ सकते सब समझा सकते)।

महता-दीर्घेण धर्मह्रासकरेणेहे-इदानीमावयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो नष्टः- विच्छिन्नसंप्रदायो जातः । तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेरहो दौर्भाग्यं लोकस्येति शोचति भगवान् । हे परन्तप-परं - कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणम् शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परन्तपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुतकर्मदर्शनात् । तस्मात्त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ २ ॥

'सएवायमि'ति । य एव पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत् । यं विना च

स्वपितृप्रोक्त योग जानते थे। अतः अनादि वेदमूलक तथा अनन्त फलक होनेसे और अनादि गुरु शिष्य-परम्परा प्राप्त होनेसे बनावटी शंकाका यह स्थान नहीं। अत्यन्त श्रद्धा होनेके लिए महाप्रभावों का यह योग है, यह स्तुति की गई है। एवं महाप्रभावशाली अति प्रयोजन योग भी धर्मका नाश होनेसे अति-दीर्घकालसे नष्ट हो गया, इस समय-हम दोनोंके व्यवहार कालमें द्वापरके अन्तमें दुर्बल अजितेन्द्रिय अतएव अनधिकारि काम, क्रोध, लोभ मोहादिपरिपीत सत्वस्वभाव क्षत्रियोंको पाकर नष्ट हो गया, विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया, उसके विना धर्म-अर्थ, कामादि पुरुषार्थकी भी प्राप्ति नहीं होती। अहो ! आश्चर्य। खेदका सूचक है, लोकका दुर्भाग्य है जो इस योगसे वञ्चित हुआ। भगवान् इसको सोचते हैं। हे परन्तप ! कामक्रोधादि आन्तर शत्रुसमुदायको बलवद्विवेकसे यानी अप्रामाण्य ज्ञानसे-असंबद्ध असन्दिग्ध विवेकसे तथा तपसे सूर्यके समान ताप देनेवाले यानी वैरिसंताप देनेवाले, यह उक्त सम्बोधनका भाव है। तुम जितेन्द्रिय हो इन्द्रकी आराधनाके समयमें तपो भंगार्थ आई हुई ऊर्वशीकी उपेक्षा तुमने की, अतः तुम जितेन्द्रिय हो, चलेन्द्रिय ऐसा नहीं कर सकता इत्यादि अद्भुत कर्मोंके देखनेसे तुम जितेन्द्रिय होनेसे इसमें तुम अधिकारी हो यह सूचित करते हैं ॥ २ ॥

[अजितेन्द्रिय राजाओं को पाकर और नष्ट योगको मुझसे पाकर जितेन्द्रिय तुम फिर लोकमें उसको स्थिर करो यह निष्कर्ष है। किसीकी शंका है कि अव्ययका अविच्छिन्न सम्प्रदाय यह अर्थ पूर्वमें आपने

पुरुषार्थो न लभ्यते, स एवायं पुरातनः-अनादिगुरुपरम्परागतो योगः, अद्य-संप्रदायविच्छेदकाले मयाऽतिस्निग्धेन ते-तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः । न त्वन्यस्मै कस्मैचित् । कस्मात् ? भक्तोऽसि मे सखा चेति, । इतिशब्दो हेतौ । यस्स्मात्त्वं मम भक्तः शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान् । सखा च-समानवयाः स्निग्धसहायोऽसि-सर्वदा भवसि । अतस्तुभ्यमुक्त इत्यर्थः । अन्यस्मै कुतो नोच्यते ? तत्राऽऽह 'रहस्यमि' ति । हि-यस्मादेतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यम्-अतिगोप्यम् ॥ ३ ॥

कहा सो ठीक नहीं क्योंकि आगे आप फिर 'स कालेनेह महता योगो नष्टः' यहाँ नष्टः का विच्छिन्न सम्प्रदाय वह कहते हो, इसमें पूर्वोक्ति परोक्तिमें विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है ।

उत्तर—यह आक्षेप ठीक नहीं, अव्ययका अविच्छिन्न सम्प्रदाय किसी पुस्तकमें प्रमाद पाठ होगा, मदुपलभ्यमान पुस्तकमें नहीं है । संन्यासमें ब्राह्मण ही का अधिकार है क्षत्रियादिका नहीं अतः क्षत्रियोंके लिये यह योग कहा गया है यह नीलकण्ठका मत ठीक नहीं, कारण स्वकीय पूर्वापर विरोध है । इदं शब्दसे द्वितीयाध्यायार्थका ग्रहण नहीं होगा, इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते, अध्यायद्वयोक्तार्थ में अप्रामाण्य शंका निराकरणार्थ ही विद्या सम्प्रदायका प्रदर्शन है, यह उक्ति असंगत होती है, द्वितीयाध्यायार्थका ग्रहण इष्ट नहीं, यदि इष्ट है तो द्वितीयाध्यायोक्त अर्थमें उक्त सम्प्रदायप्रदर्शन अप्रामाण्य शंका निरासक नहीं हो सकता है इससे राजा ही अधिकारी है यह परास्त हुआ । अध्यायद्वयसे प्रतिपादित वेदार्थमें ब्राह्मणोंका अधिकार नहीं रहेगा ।

जो किसीने लिखा—'राजानः-जनक अजातशत्रु केकेयप्रभृतयः, ऋषयः-सनकवशिष्ठाद्या राजर्षयः' राजर्षिमें तत्पुरुष समास नहीं । 'अभ्यर्हितं च' से ऋषिकी पूर्वप्रयोगापत्ति हो जायगी ॥ इति ॥]

उक्त रीतिसे यो पूर्वोपदिष्ट भी योग था, वह विच्छिन्न गुरु सम्प्रदाय हो गया जिसके बिना पुरुषार्थ नहीं मिल सकता है; वही यहाँ पुराना अनादि गुरु-शिष्य परम्परासे आगत योग इस समय सम्प्रदायविच्छेद कालमें स्नेहसे मैं तुमसे पूर्ण रूपसे कहा, अन्य जिस किसीसे नहीं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—तुम्हारे सदृश दूसरा कोई भक्त नहीं था, तुम भक्त भी हो और सखा भी । इतिशब्दका यहाँ कारण अर्थ है । जिस कारणसे तुम मेरे भक्त हो इस कारणसे तुमसे कहता हूँ । भक्तका लक्षण कहते हैं—'शरणेति' शरणागत होकर अत्यन्त प्रीतिमान् हो सो भक्त है । सखा तुल्यावस्थावालेको कहते हैं, स्नेही तुम सहायक हो इस कारणसे तुमसे कहा, दूसरेसे क्यों नहीं कहा इसमें कारण कहते हैं कि यह उत्तम ज्ञान है रहस्य-अतिगोप्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(श्रीकृष्णको भगवान् समझते हुए भी उन्हें मनुष्य बतानेवाले अज्ञानी लोगोंकी शङ्काको भगवान्के उत्तर द्वारा दूर करानेकी भावनासे) अर्जुनने पूछा—'भगवन् ! आपका जन्म तो अब (द्वापरके अन्तमें) हुआ जब कि सूर्यका जन्म बहुत पहले हो चुका है। तब मैं यह कैसे मान लूँ कि आपने आदिमें (इतने पहले) यह योग सूर्यको बताया था। (कल्पके प्रारम्भमें जिस समय सूर्यका जन्म हुआ उस समय तो आपका जन्म भी नहीं हुआ था। अतः उस समय आपने यह योग सूर्यको कैसे समझा दिया ? यह बात समझमें नहीं आ रही है) ॥ ४ ॥

या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का मूर्खाणाम्, तामपनेतुमनुवदन्नर्जुनः आशङ्कते '**अर्जुन उवाच—अपरम्**' इत्यादिना । अपरम्-अल्पकालीनमिदानींतनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म-शरीरग्रहणं विहीनं च, मनुष्यत्वात्, । परम्-बहुकालीनं सर्गादिभवमुत्कृष्टम् च, देवत्वात् । विवस्वतो जन्म । अत्राऽऽत्मनो जन्माभावस्य प्राग्व्युत्पादितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः । अतः कथमेतद्विजानीयाम्, अतिविरुद्धार्थतया । एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति—'**त्वमादौ प्रोक्तवानि**'ति । त्वमिदानींतनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय

[केवल भक्त केवल सखा बहुत हैं, किन्तु भक्तत्व, सखित्व एतदुभयविशिष्ट तुम ही हो इसलिये तुमसे कहा अन्यसे नहीं यह निष्कर्ष है ।]

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णजीमें मनुष्यत्वप्रयुक्त असर्वज्ञत्व एवं अनित्यत्वकी शंका जो अज्ञानियोंको है, उनकी निवृत्तिके लिये तदनुवादपूर्वक अर्जुन शंका करते हैं 'अपरम्' इत्यादिसे । अर्जुन भगवान्को मनुष्य नहीं समझते किन्तु परमेश्वर ही मानते हैं परन्तु इतर अनभिज्ञजन-मनुष्य मानते हैं, उनकी मनुष्यत्वादि शंका पर उनके विश्वासार्थ ही भगवान्के उत्तरकी कामनासे अर्जुन पूछते हैं—'अपरम्' इत्यादि । स्वल्पकालिक इस समय श्री वसुदेवजीके गृहमें आपका जन्म अपूर्व शरीरसे हुआ। शरीर ग्रहण मनुष्य योनिज होनेसे देवशरीरसे विहीन अपकृष्ट है पर-बहुकालिक स्वर्गादिमें समुत्पन्न देव होनेसे उत्कृष्ट विवस्वान् सूर्यका जन्म है।

शङ्का—'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादिसे आत्माका जन्म विनाश नहीं होता यह अर्जुनको निश्चित ही है फिर उक्त शंका कैसे हुई ?

श्री भगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

भगवान् बोले—देखो अर्जुन ! हम दोनोंके बहुत जन्म हो चुके हैं। उन सभी जन्मोंको (सर्वज्ञ होनेके नाते) मैं जानता हूँ (मुझे उन सबोंकी स्मृति है) किन्तु तुम उन्हें नहीं जानते ॥ ५ ॥

सर्वज्ञायाऽऽदित्याय प्रोक्तवानीति विरुद्धार्थमेतदिति भावः। अत्रायं निर्गलितोऽर्थः—एतद्देहानवच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन वाऽऽदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वम्, एतद्देहेन वा। नाद्यः। जन्मान्तरानुभूतस्यासर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः, तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात्। तदुक्तमभियुक्तैः--'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' शा.भा.पृ.७७, इति। नापि द्वितीयः, सर्गादाविदानीन्तनस्य देहस्यासद्भावात्। तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीं तत्स्मरणानुपपत्तिः। अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ ४ ॥

समाधान—देहके अभिप्रायसे अर्जुनका प्रश्न है व्यवहार दशामें शरीरात्मवाद तत्त्वज्ञानियोंमें भी पाया जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्धार्थक होनेसे यह कैसे मानें कि यही योग प्रथम आपने विवस्वान्से कहा था, पूर्व समयमें विवस्वान् तो थे पर आप नहीं थे आप इस समयके मनुष्य हैं अतएव असर्वज्ञ हैं, सर्गादिमें समुत्पन्न सर्वज्ञ आदित्यसे आपने सर्व प्रथम योगका उपदेश दिया यह कैसे मानूं यह तो स्पष्ट विरुद्धार्थक है। यह निचोड़ अर्थ है—आदित्यके प्रति आपका उपदेश एतद्देहविशिष्टसे हुआ या देहान्तरविशिष्टसे, प्रथम ठीक नहीं। असर्वज्ञ जन्मान्तरानुभूत पदार्थका जन्मान्तरमें स्मरण ही नहीं कर सकता क्योंकि स्मरणके विना उपदेश असम्भव है, अन्यथा परजन्मान्तरानुभूतका असर्वज्ञ को स्मरण होगा तो मेरे को भी जन्मान्तरानुभूतका स्मरण होने लगेगा कि मैं पूर्वमें ऐसा था इत्यादि, क्योंकि मनुष्य होनेसे हम आप दोनों ही समान असर्वज्ञ है केवल इसमें तर्क ही मूल नहीं हैं अपि तु प्रामाणिक जनोंकी उक्ति भी मूल है उसीको कहते हैं 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इतिसे। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि सर्गादि कालमें यह शरीर था ही नहीं अतः देहान्तरविशिष्ट आपकी सर्गादिमें सत्ता रह सकती है पर इस कालमें तद्विशिष्ट अनुभूतका स्मरण असम्भव है। अनुभव स्मरणका समान देहावच्छेदेन कार्यकारणभावका नियम है, यदि इस शरीरसे स्मरण होता हैं तो यह शरीर सर्गादिमें नहीं था इस प्रकार असर्वज्ञत्व, अनित्यत्वसे अर्जुनका दो पुर्व पक्ष हैं ॥ ४ ॥

तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारं कथयति श्रीभगवान्'—बहूनि'इति । जन्मानि-लीला-देहग्रहणानि लोकदृष्टयभिप्रायेणाऽऽदित्यस्योदयवन्मे - मम बहूनि व्यतीतानि । तवचाज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि । तव चेत्युपलक्षणमितरेषामपि जीवानाम्, जीवैक्याभिप्रायेण वा । हेऽर्जुन श्लेषेणार्जुनवृक्षनाम्ना सम्बोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति । तानि-जन्मान्यहं-सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो वेद-जानामि । सर्वाणि मदीयानि त्वदीयानि, अन्यदीयानि च । न त्वम्-अज्ञः जीवस्तिरोभूतज्ञानशक्तिर्वेत्थ-न जानासि स्वीयान्यपि, किं पुनः परकीयाणि । हे परंतप-परम् शत्रुं भेददृष्टचा परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति, विपरीतदर्शित्वाद्भ्रान्तोऽसीति सूचयति । तदनेन सम्बोधनद्वयेनाऽऽवरण-विक्षेपौ द्वावप्यज्ञानधर्मौ दर्शितौ ।। ५ ।।

हम तुम दोनों नित्य है, किन्तु मैं सर्वज्ञ हूँ, सब अतीत अनागत जानता हूँ अतः सर्वज्ञत्वसे प्रथम पक्षका परिहार करते हैं श्रीभगवान् । यद्यपि जन्म, कर्मनिमित्तक होता है भगवान्का शुभाशुभ कर्म नहीं, कारण मिथ्याज्ञानसे रागद्वेष हेतुभूत कर्मसे पुण्य पापात्मक कर्म होते हैं भगवान् में मिथ्या ज्ञान नहीं इसलिए उनका वास्तविक जन्म नहीं तथापि लीलया जन्म ग्रहण करते ही हैं, इस जन्मको भी लोक दृष्टिसे जन्म कहा जाता है यथा सूर्य सदा आकाशमें घूमते ही रहते हैं, लोकमें प्रभातकालमें सूर्य उदय होते हैं सायंकालमें अस्त होते हैं यह व्यवहार होता है, प्रतिदिन सूर्योदय भिन्न-भिन्न माना जाता है तथा भगवान्का लीलया शरीर धारण अनेक मानकर बहुत जन्म कहा गया है, मेरे बहुत जन्म बीत गये हैं और तुम अज्ञानियोंके वास्तविक कर्मजन्य अनेक जन्म व्यतीत हुये हैं । 'तव' यह उपलक्षण है अन्य जीवोंके भी अनेक जन्म बीते हैं अथवा एक जीवके अभिप्रायसे 'तव' कहा है । अर्जुनके जन्मसे सब जन्मोंका संग्रह स्फुट है फिर उपलक्षण माननेकी आवश्यकता नहीं । वृक्ष विशेषका भी अर्जुन नाम है, वृक्ष अचेतन अज्ञानी प्रसिद्ध है । सकृत् उच्चरित जो शब्द अनेक अर्थका बोधन होता है वहाँ श्लेष माना जाता है, एक वृन्तमें जैसे दो फल श्लिष्ट (सम्बद्ध) रहते हैं वैसे ही एक शब्दमें दो अर्थ भासित होते हैं । प्रकृतमें अर्जुनशब्दसे पार्थ अर्जुन और वृक्ष-विशेष दोनों प्रतीत होते हैं । वृक्ष अज्ञानित्वेन प्रसिद्ध है, तन्नामसे अर्जुनका सम्बोधन कर भगवान् अर्जुन आवृतज्ञान हैं यह सूचित किया है । आवृतज्ञान अज्ञानीमें होते हैं और उन्हींको मोह होता है 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' यह गीतामें भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है, उन जन्मोंको सर्व शक्ति-सम्पन्न सर्वज्ञ हम ही जानते हैं, तुम्हारे हमारे अन्य लोगोंके सब जन्मोंको तुम अज्ञानी नहीं जानते हो, कारण तुम जीव हो तुम्हारा ज्ञान आवृत है इस कारण नहीं जानते हो, तुम अपने तो जानते ही नहीं दूसरेके जन्मोंको कैसे जानोगे पर-शत्रुको ताप देने वाले हो अतः परन्तप यह सम्बोधन किया हैं, वस्तुतः पर तो कोई नहीं है 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतिसे चैतन्य एक ही है किन्तु

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यद्यपि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूं, एवं समस्त प्राणियोंका ईश्वर (स्वामी भी हूं, फिर भी अपनी प्रकृतिको अपने वशमें रखकर अपनी ही योगमायासे अवतीर्ण होता रहता हूं ॥ ६ ॥

नन्वतीतानेकजन्मवत्त्वमात्मनः स्मरसि चेत्, तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वम् । परजन्मज्ञानमपि योगिनः सार्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' १-१-३० इति न्यायेन संभवति । तथाचाऽऽह वामदेवो जीवोऽपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च, अहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' ४-२६-१ इत्यादिदाशतय्याम् । अत एव न मुख्यः सर्वज्ञस्त्वम् । तथाच कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरः सन् । न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञ्यं संभवति, व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसम्बन्धित्वाभावात् । समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयम्, मायापरिणामविषयश्च ज्ञानं न संभवति । एवं सूक्ष्मभूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव । तस्मादीश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः । अतीतानागतवर्तमानविषयं मायावृत्तित्रयम्, एकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत् । तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुप

भेद दृष्टिसे पर-शत्रुकी कल्पना कर उसके हननके लिए प्रवृत्त हो, विपरीतदर्शी होनेसे तुम भ्रान्त हो यह सूचित करते हैं इन दोनों सम्बोधनोंसे आवरण विक्षेप दोनों अज्ञान धर्मोंको दिखालाया ॥ ५ ॥

शङ्का—यदि बीते अपने अनेक जन्मोंको आप स्मरण करते हो तो जातिस्मर जीव हो अन्य जन्मका भी ज्ञान योगिजनोंको सर्वात्माभिमानसे 'शास्त्रदृष्ट्या तु उपदेशो वामदेववत्' इस न्यायसे होता है वामदेव जीव होकर भी मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ, मैं ब्राह्मण कक्षीवान् ऋषि हूं अतएव आपमें मुख्य सर्वज्ञता नहीं तो फिर सर्वज्ञ आदित्यको आपने कैसे उपदेश दिया कारण अनीश्वर हैं, जीवमें मुख्य सर्वज्ञता नहीं रहती है क्योंकि उपाधि परिच्छिन्न होनेसे सर्व सम्बन्ध नहीं होता । यहाँ सर्वतादात्म्यवत्त्व ही सर्वज्ञत्व है, समष्ट्युपाधि विराट्को भी स्थूल भूतोपाधि होनेसे, सूक्ष्मभूत मायापरिणामविषयकका ज्ञान नहीं हो सकता, इसी प्रकार सूक्ष्म भूतोपाधि हिरण्यगर्भको तत्तद् कारण माया परिणाम आकाशादि सर्गक्रमके ज्ञानका अभाव स्पष्ट ही है अतः कारणोपाधि ईश्वर ही-भूत, भविष्य, वर्तमान सब विषयोंका ज्ञानवान् मुख्य सर्वज्ञ है अतीतानागतवर्तमानविषयक माया वृत्तित्रय अथवा एक ही मायावृत्ति यह दूसरी

पन्नम्, अतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमेव। तथाच जीवत्वे सार्वज्ञ्यानुपपत्तिः, ईश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन्ननित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह—'अजोऽपि' इति।

अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्म। पूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः। यदुभयं तार्किकैः प्रेत्यभाव इत्युच्यते। तदुक्तम्। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति। तदुभयञ्च धर्माधर्मवशाद्भवति। धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति। तत्र यदुच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वकारणस्य ईदृग्देहग्रहणं नोपपद्यत इति, तत् तथैव। कथम्? यदि तस्य [ईश्वरस्य] शरीरं स्थूलभूतकार्यं स्यात्, तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वम्, समष्टिरूपत्वे च विराड्जीवत्वम्, तस्य तदुपाधित्वात्। अथ सूक्ष्मभूतकार्यम्, तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वम्, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वम्, तस्य तदुपाधित्वात्। तथा च भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभवत्येवेति सिद्धम्।

बात है, काल भेदसे तीन मायाकी वृत्तिमें या एकहीमें कालिक पदार्थविषयकवृत्ति सर्व विषयक ज्ञान है, जो मुख्य सर्वज्ञ ईश्वर हैं उनका धर्माधर्मविरहसे जन्म ही असम्भव है। भूतानेकजन्मवत्त्व तो दूर ही रहा जिसका एक ही जन्म नहीं हो सकता उसके अनेक जन्मकी क्या सम्भावना? इसी परिस्थितिमें यदि आप जीव हैं तो सर्वज्ञता आपमें नहीं यदि ईश्वर हैं तो जन्म ही नहीं इस शंकाद्वयका परिहार करते हुए अनित्य पक्षका भी परिहार करते हैं 'अजोपि' इत्यादिसे। अपूर्व देहेन्द्रियादि ग्रहण जन्म हैं पूर्व गृहीत देहेन्द्रियादि वियोग व्यय हैं। तार्किक इन्हीं दोनोंको प्रेत्यभाव मानते हैं यह कहा है—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' धर्माधर्मसे ये दोनों होते हैं, वह देहाभिमानी भी वही कर्माधिकारी है अतः उसीको पूर्वोक्त जन्म मरणादि होता है, सर्वज्ञ ईश्वरका जन्म नहीं होता यह आपकी उक्ति ठीक ही है। कारण, यदि ईश्वरका शरीर स्थूल भूतोंका होगा तो व्यष्टिरूप होनेसे जागरणावस्थामें हम लोगोंके तुल्य ही होगा यदि समष्टिरूप होगा तो विराट् जीव होगा। विराट् भी स्थूल भूतोपाधिक है, यदि सूक्ष्मभूत कार्य शरीर होगा तो व्यष्टिरूप होगा, स्वप्नावस्था हमलोगोंके तुल्यत्व ही रहेगा, समष्टिरूप होगा तो हिरण्यगर्भ जीव होगा क्योंकि हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूतोपाधिक है, ऐसी दशामें भौतिक शरीर जीवाविष्ट ही होता है अनाविष्ट नहीं, फिर ईश्वरका शरीर यदि भौतिक है तो जीवाश्रित ही होगा, ईश्वराश्रित नहीं अतएव सर्वज्ञ नहीं' यदि सर्वज्ञ ईश्वर है तो भौतिक शरीर न होनी चाहिए किन्तु आपकी भौतिक शरीर तो स्पष्ट ही देख पड़ती है फिर सर्वज्ञ ईश्वर नहीं सिद्ध हुए।

शङ्का—जीवाविष्ट भौतिक ईदृश स्थूल शरीरमें भूतावेशके समान ईश्वरका प्रवेश हो सकता है

न च जीवाविष्ट एव तादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत्प्रवेश इति वाच्यम्। तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात्। भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः। अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्धेनाङ्गीकरोति—'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्नि'ति। अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणम्, अव्ययात्माऽपि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदम्, भूतानाम्-भवनधर्माणां सर्वेषाम् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति।

कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्धेनाऽऽह—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि' इति। प्रकृतिम् मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वाम्-स्वोपाधिभताम्-अधिष्ठाय-चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि-तत्परिणामविशेषैरेव देहवानिव-जात इव च भवामि। अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत्कालस्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्तमाना विशुद्धसत्त्वमयत्वेन मम मूर्तिः, तद्विशिष्टस्य चाजत्वम्, अव्ययत्वम्, ईश्वरत्वं चोपपन्नम्। अतोऽनेन नित्येनैन देहेन विवस्वन्तं च त्वाञ्च प्रति-इमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम्। तथा च श्रुतिः—'आकाशशरीरं ब्रह्म' तै. शि. ७-६-२- इति। आकाशोऽत्राव्याकृतम्। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च बृ. उ. ३-८-७- 'इत्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गा-

---

क्योंकि भूत दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है उसी प्रकार ईश्वर भी दूसरी शरीरमें प्रविष्ट हो सकता है अतः ईश्वरके भौतिक शरीरमें आपत्ति क्यों ?

समाधान—यदि उस शरीरमें भोग होगा तो अन्तर्यामिरूपसे सर्व शरीरोंमें प्रविष्ट होनेसे सर्वत्र विद्यमान ही है फिर विशेष शरीर मानना व्यर्थ है, यदि भोग नहीं होता तो यह मानना पड़ेगा कि जीव शरीर ही नहीं हो सकता अतः ईश्वरका भौतिक शरीर नहीं हो सकता यह पूर्वार्धसे स्वीकार करते हैं—'अजोपि' इत्यादिसे। अज होने पर भी इससे अपूर्व देहग्रहणका, अव्ययात्मा होने पर भी इससे पूर्व देहके विच्छेदका, ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त उत्पत्तिशील सकल पदार्थोंका ईश्वर होकर भी धर्माधर्माधीनताका वारण करते हैं।

शङ्का—फिर देह कैसे ग्रहण किये हैं यह उत्तरार्धसे कहते हैं।

समाधान—विचित्रानेकशक्ति असम्भवकी सम्भव करने वाली स्वकीय माया स्वोपाधिभूतको लेकर चिदाभाससे वशमें करके अवतार लेते हैं, उसके परिणाम विशेषसे देहवानिव-देहवान् सदृश यानी जातके सदृश होते हैं। मेरी उपाधिभूत अनादि माया यावत्काल स्थायित्वेन नित्य जगत्कारणभूत सम्पादक मेरी इच्छासे ही विशुद्ध सत्त्वमयी प्रवर्तमान मेरी मूर्ति है, तद्युक्त मुझमें अजत्व, अव्ययत्व और ईश्वरत्व उपपन्न

दिति न्यायाच्च 'आकाश इति होवाच' इत्याकाशशब्दः परमात्मा । कुतः ? तस्य-परमात्मनोर्लिगम्-'सर्वाणि भूतानी' त्यादि, तस्मात् । तर्हि भौतिकविग्रहाभावात् तद्धर्ममनुष्यत्वादिप्रतीतिः कथमिति चेत् ? तत्राऽऽह—'आत्ममायये' ति । मन्माययैव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिः-लोकानुग्रहाय, न तु वस्तुवृत्त्येति भावः । तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि' ।। इति ।।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः । उक्तश्च भगवता भाष्यकारेण—'स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकाम् वैष्णवीं स्वां मायां-प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययः भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वल्लंक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया' इति । व्याख्यातृभिश्चोक्तं 'स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूवे'ति ।

नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान् ।
स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम् ।।

होता है, अतः नित्य इस देहसे सूर्यको और तुमको भी हमने उपदेश दिया है यह युक्तियुक्त ही है। तथा च श्रुतिः—'आकाशशरीरं ब्रह्मेति'। आकाश दो प्रकारका है—१ व्याकृत २ अव्याकृत। प्रकृतमें अव्याकृत आकाशका ग्रहण है, 'आकाशे एव तदोतं च प्रोतं च' इस श्रुतिमें 'आकाश इति होवाच' इस श्रुतिमें भी आकाशसे परमात्मा ही लिया गया है कारण तत्कार्य सर्वभूत परमात्माके ही लिंग (ज्ञापक) हैं।

शङ्का—अच्छा तो अभौतिक शरीर होनेसे भौतिक शरीरवृत्ति मनुष्यत्वादि आपमें क्यों प्रतीत होते हैं।

समाधान—अपनी मायासे मेरेमें मनुष्यत्वादि प्रतीति लोकानुग्रहके लिये है वास्तविक मनुष्यत्व मुझमें नहीं है, मोक्षधर्ममें यही कहा है 'मायाह्येषा' इत्यादि। अर्थ-मैंने ऐसी मायाकी सृष्टि की जिससे हे नारद ! तुम मुझको देखते हो सब भूतगुणोंसे युक्त मुझको तुम वास्तविक नहीं देख सकते हो और कारणोपाधि-स्वरूप मुझको चर्मचक्षुसे नहीं देख सकते। भगवान् भाष्यकारने कहा है—वह भगवान् ज्ञानैश्वर्य शक्ति, बल, वीर्य, तेजोंसे सदा संयुक्त त्रिगुणात्मक स्वकार्य वैष्णवी मायारूप प्रकृतिको वशमें करके अव्यय एवं भूतोंका ईश्वर भी होकर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाले भी स्वमाया से देहवान्के समान लोकका अनुग्रह करते हुए लक्षित होते हैं, यद्यपि स्वरूप धारणमें अपना कुछ प्रयोजन नहीं है तथापि लोकानुग्रह अवश्य है, तन्नाम और तच्चरितकीर्तन यानी गानादिसे असंख्य जीव तरते हैं। इसको व्याख्याकारोंने भी कहा है,

अन्ये तु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते । किं तु यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनः भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा, स एव तद्विग्रहः, नान्यः कश्चिद्भौतिकः, मायिको वेति । अस्मिन्पक्षे योजना—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा' इत्यादिश्रुतेः, असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः, २-३-९ तुशब्दो ब्रह्मण उत्पत्तिशंकानिरा-करणार्थः । सतः-ब्रह्मणः उत्पत्तेरसंभवः, कुतः ? न चास्य काश्चज्जनिता' इति श्रुतेः । युक्तितश्च - तत्कारणानुपपत्तेः । नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' २-३-१७ इत्यादिन्यायाच्च। नैवायमात्मा आकाशादिवज्जायते । कुतः ? तद्वदस्योत्पत्तेरश्रुतेः । बुद्धयाद्युत्पत्तिवदस्त्वनुमेय-मित्यत आह 'नित्यत्वाच्चशब्दादजन्यत्वादिभ्यश्च । नित्यत्वादिकमेव कुतः इत्यत आह । ताभ्यः । ताः-श्रुतयः "न जीवो म्रियते, स वा एष महान् अज आत्मा" इत्याद्याः । वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन्नहं *प्रकृतिं-स्वभावं सच्चिदानन्द-

स्वेच्छा निर्मित मायामय दिव्यरूपसे परमात्मा प्रकट हुये और नित्य जो कारणोपाधि माया अनेक शक्तिमान् है वही भगवद्देह है यह भाष्यकारका मत है, अन्य लोग परमेश्वरमें देहेदेहिभाव नहीं मानते किन्तु जो नित्य विभु, सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा वही परमात्माका विग्रह शरीर है दूसरा भौतिक शरीर नहीं। इस पक्षमें योजनानुसार 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः अविनाशी वा' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्तार्थ सिद्ध होता है।

शङ्का—यथा आकाशादिकी उत्पत्ति है तथा ब्रह्मकी भी उत्पत्ति क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' यह वेदान्त सूत्र है इसमें तुशब्द ब्रह्मोत्पत्ति शंका निराकरणार्थ है क्योंकि सद्-ब्रह्मकी उत्पत्ति असम्भव है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'न चास्य' इत्यादि श्रुति स्वयं उत्तर देती है कि ब्रह्मका कोई उत्पादक नहीं युक्तिसे भी उसका कोई कारण नही हो सकता क्योंकि अनवस्थाभयसे मूल कारण एक मानना आवश्यक है। 'नात्माश्रुतेः नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इस वेदान्तसूत्रसे आकाशादिवत् आत्मा नहीं उत्पन्न होता यह निश्चित है।

प्रश्न—क्यों ?

समाधान—जैसे आकाशकी 'एतस्मादात्मनः आकाशस्संभूतः इत्यादि श्रुतिमें आकाशोत्पत्ति श्रुत है वैसे ब्रह्मकी उत्पत्ति किसी श्रुतिमें श्रुत नहीं।

शंका—बुद्धयाद्युत्पत्तिके समान आनुमानिक तदुत्पत्ति मानिये।

समाधान—नित्य, च शब्द और अजन्यत्वादिसे तदुत्पत्तिका निषेध सिद्ध है ?

घनैकरसम् । मायां व्यावर्तयति—'स्वामि'ति । निजस्वरूपमित्यर्थः । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नि' छा-उ-७-२४-१. इति श्रुतेः । स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन्संभवामि - देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि । कथं तर्ह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीति,:-अत आह—'आत्ममायये'ति । निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः । तदुक्तम्—

'कृष्णमेनमवेहि त्वामात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया' भा.द.१४-५५. । इति ॥
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' १०-१४-३२- इति च ॥

केचितु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति, ते 'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः । यदि संभवेत्, तथैवास्तु किमतिपल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥ ६ ॥

प्रश्न—नित्यत्वादिक क्यों मानते हैं ?

उत्तर—श्रुति ही आत्माको नित्य कहती है, श्रुति मूलमें देखिये वस्तुततः आत्मा जन्म-विनाशशून्यः सर्वभासक सर्वकारण मायाधिष्ठान होनेसे सर्वभूतेश्वर भी है । प्रकृतिस्वभाव सच्चिदानन्दघनैक्य रस मायाको मेरा स्वरूप व्यावृत्त करता है 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्वमहिमामें ही स्थित होकर अवतार ग्रहण करते हैं, देहिदेहिभावके विना ही देहीके समान व्यवहार करते हैं ।

प्रश्न—अदेहस्वरूप सच्चिदानन्दघनमें देह की प्रतीति क्यों होती है ?

उत्तर—सच्चिदानन्दघन मुझ भगवान्में देहदेहिभावके विना ही तद्रूप प्रतीति मायामात्र है सो कहा है, 'कृष्णमेनम्' इत्यादि मूलमें देखिये ।

कोइ नित्य, निरवयव, निर्विकार, परमानन्द परमात्मा वास्तविक अवयवावयविभाव मानते हैं, वे निर्युक्तिक कहते हैं, उनका निराकरण मैं नहीं करता, हो सके तो वैसा ही हो व्यर्थ विस्तारसे उपरत होते हैं, 'परानने कःकरमर्पयिष्यति' यह प्रसिद्ध है ॥ ६ ॥

*'प्रकृतिमि'ति यहाँ प्रकृष्टा कृतिर्यस्याः सकाशात् सा इस व्युत्पत्तिसे भगवान्की दैवी माया विवक्षित है सांख्याभिमत सत्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृति नहीं क्योंकि उसको ये स्वतन्त्र मानते हैं यहाँ इस विशेषणसे ईश्वराधीन कहा है, ब्रह्मवैवर्तमें यह स्फुट है

'प्रकृष्टवाचकःप्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः । 'सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिःसा प्रकीर्तिता ॥
गुणे प्रकृष्टे सत्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ । मध्यमे रजसि, कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृतः ॥

त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता। प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः। सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा स्यात् माया नित्या सनातनी।' ब्र०वै० प्रकृ० खं०-१-१-४-६।

यह त्रिपुरारहस्यमें लिखा है,—

'पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन् मुह्यन्ति स्थूलबुद्धयः। अभियुक्तैश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा॥
तथा धत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम्। अतश्चेतनः एवेशःतद्देहः स्याच्चितिः पुरा॥

चितिरेव महासत्ता सम्राज्ञी परमेश्वरी। त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्नं विभिन्नवत्'। इति पूर्वोक्त ब्रह्म वैवर्तपुराणके अनुसार ब्रह्मात्म ब्रह्मस्वरूपवाची प्रकृतिद्वय यहाँ विवक्षित है, इसके अनुसार भगवान्‌का देह यथार्थ है मायाकालीन नहीं यह तथा अवतारार्थं यानी जन्महेतु कहते हैं परमेश्वरके अव्ययत्व एवं सर्वेश्वरत्वादि निमित्तधर्मोंको न छोड़कर अपने स्वभावरूप प्रकृतिका अधिष्ठान कर अपने ही सात्त्विक देहसे स्वेच्छासे ही नतु कर्मवश उत्पन्न होते हैं, भगवान्‌का अपना स्वरूप कैसा हैं यह श्रुति कहती है 'आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्' यजुः प. ३१।१८ रजसः पराके' ५।६।२।५ ब्रह्मस्वरूप यहाँ 'स्वरूपं' ब्रह्मणोऽपरमि'त्यादि अभियुक्त प्रयोगसे शरीरवाची है, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्‌से अप्राकृत अतएव स्वीय असाधारण निरतिशय दीप्तियुक्त सिद्ध होता है अतएव च देशविशेष वैकुण्ठादि देशस्थितत्व नित्यसूरिसेव्यत्वलक्ष्मीपतित्वादि भी अवश्य रहते हैं, यदपि रजोगुण व्यापक है फिर भी वैकुण्ठादि स्वनिवासस्थलमें वास करनेसे दुःखमय रजोगुणका निरासक है इस प्रकार परमपदका आश्रय भगवान्‌का विग्रह नित्य है यह उक्त श्रुतिद्वयसे सिद्ध होता है, अजभीमी अव्यय भी सर्वभूतेश्वर भी अपनी मायासे अवतार लेते हैं, 'माया वयुनं-ज्ञानं' इस निघण्टुसे मायाशब्द ज्ञानवाची है यद्यपि भगवान् नित्य है अतः तन्निमित्तक अवतार सदा होना चाहिये तथापि ज्ञान संकल्पका हेतु आगे कहेंगे,

'समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्दगभूत वर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ।

इति वि० पु० ६।५।८४ इससे स्पष्ट है कि भगवान् अपनी इच्छासे अपने अपहृतपरमत्वादि निखिल गुणोंको लेकर ही स्वयं देवमनुष्यादि सजातीय आकृति करते हुए देवादिरूप होते हैं इसी तात्पर्यसे श्रुति कहती है 'अजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि। इतर पुरुषसाधारण कर्मनिबन्धन शरीरग्रहण न कर देवादिरूपसे अपने संकल्पसे होते हैं यह उक्त श्रुतिका तात्पर्य है अतएव 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि' इत्यादि। 'तदात्मानं सृजाम्यहम्, 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः' इत्यादि पूर्वापर वचनोंमें विरोध नहीं होता।

प्रश्न—वास्तविक जन्म ग्रहण न कर मिथ्याभूत जन्मग्रहणसे भी विरोध परिहार हो सकता है?

उत्तर—हां हो सकता है पर 'तान्यहं वेद, सृजामि दिव्यम्' इत्यादिका स्वारस्य हमारे अर्थमें ही है भगवान्‌का विग्रह नित्य माने तो भी वह वैकुण्ठ लोकमें ही रहता है, परिच्छिन्न पदार्थ एक समयमें अनेक देशमें नहीं रह सकता और वह स्वरूपधर्म चक्षुर्ग्राह्य भी नहीं, भगवानका स्वरूप वह भी है जिसको दिव्य चक्षु देकर अर्जुनको दिखलाया था

वह तो कृष्णस्वरूप है नहीं, कृष्णशरीरको तो अर्जुन ही नहीं सब कोई देखता था वह शरीर तो नित्य नहीं हो सकता, अतएव "देवमनुष्यादिसजातीयसंस्थानं कुर्वन् आत्मसंकल्पेन देवादिरूपः सम्भवामि' पृ. २२३ वह श्रीरामानुजाचार्यने व्याख्यान किया है इससे और श्रीशङ्कराचार्यके व्याख्यानमें शाब्दिक सिद्धान्तके अलावे कोई विशेष भेद नहीं है जो किसीको स्वरूपसे बाध्य है वह परमार्थ सत् नहीं है, जैसे मनुष्यादि शरीर वैसा ही श्रीकृष्णकी शरीर यह भेद तो दोनों मानते है कि उनकी शरीर कर्मपरतन्त्र नहीं अतएव समस्त ईश्वरधर्मका उनमें समावेश है इसीसे विभूति स्वरूपोंमें 'वृष्णीनां वासुदेवोऽहम्' इसका स्पष्ट निर्देश किया है। वह भगवान्‌के अवतार स्वरूपके विषयमें श्रीरामानुजीयसंक्षेपार्थ है,

अब इस विषयमें मध्वाचार्यका संक्षेपमें अर्थ सुनिये। 'अव्ययात्मा अव्ययः आत्मा देहो जोऽपि अनन्तं विश्वतो मुखम्' ।११।११। वह स्वरूप विशेषण है आगे 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्'। भाग १।३।५) 'जगृहे' १३।१ वह अभिव्यक्ति तात्पर्यसे है, उत्पत्ति तात्पर्यसे नहीं, आत्मामें अनादित्व तो समान है फिर ईश्वरमें विशेष यही है कि ईश्वर की शरीर भी नित्य है जीवकी शरीर नित्य नहीं होता।

प्रश्न—अनादिका जन्म कैसे ?

उत्तर—प्रकृतिसे वसुदेवादि की उत्पत्ति तो हुई है, उन्हींकी मायासे प्रादुर्भूत भगवान्‌को भी लोगोंने भ्रान्तिसे उत्पन्न समझा है भागवतादिमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि शंखचक्रादिसे चतुर्भुज वनमालादिसे विभूषित भगवान् देवकी-वसुदेवके सामने प्रकट हुये किन्तु देवकीके प्रार्थनासे भगवान् प्राकृत रूपसे देख पड़ने लगे अथवा प्राकृतरूपका धारण भक्तानुग्रहके लिये किया जैसे पहिले लोगोंको मालूम हुआ कि देवकीको पुत्र हुआ पीछे लोगोंने कन्या हुई है यह समझा इस भ्रान्तिके समान ही कृष्ण भगवानके प्राकृतिक स्वरूपोत्पत्तिमें भी भ्रम ही है।

शङ्का—तमोरूप प्रकृतिके अनुसार यदि भगवान् माता पिताके सम्बन्धको मान लिया तो तन्निमित्तक दुःखादि भी उनमें प्रसक्त होगा ?

समाधान—प्रकृति भगवानके अधीन है, प्रकृतिके अधीन भगवान् नहीं। शुभाशुभ कर्म द्वारा जीव प्रकृतिके अधीन होता है भगवान्‌में वे कर्म नहीं है अतः वह प्रकृतिके अधीन नहीं फिर प्रकृतिप्रयुक्त दुःखादिकी संभावना उनमें कहाँ ? प्रकृतिसे तो सब पदार्थकी सृष्टि होती है अतः उसकी व्यावृत्तिके लिये आत्ममायया कहा, माया शब्द यहाँ ज्ञानवाची है। 'केतुः केतश्चितिश्चित्तं धीः क्रतुर्मनीषाशचीमाया' यह वैदिक कोष।३।१३। प्रकृति स्वामधिष्ठायसे पूर्वमें प्रकृतिको कह चुके हैं फिर यहाँ आत्ममायासे प्रकृतिका ग्रहण करेंगे तो पुनरुक्त दोष हो जायगा अतः यहाँ मायासे संकल्पात्मकज्ञान अथवा तत्प्रसूत इच्छाका ही ग्रहण उचित है, प्रकृतिसे वसुदेवादि की सृष्टि करके विमोहिका मायासे वहाँ प्रादुर्भूत हुये, इसमें प्रमाण 'महदादेश्च' माना या 'श्रीर्भूमिरिति कल्पिता विमोहिका च दुर्गाख्या ताभिर्विष्णुरजोऽपीह-जातवत्प्रथते आद्याचिब्दलान्मूढचेतसाम्' यह आगम है यह संक्षेपसे माध्वसंप्रदायानुसारी अर्थ है, इसमें भी वाङ्विन्यास-मात्रका भेद है भ्रान्ति विषयस्वरूप भगवान्‌को वह भी मानना पड़ा है, गोलोकस्थ तात्त्विक स्वरूप तो यह नहीं है इत्यादि स्पष्ट है।

अब हनुमानजीकी बात सुनिये।

प्रश्न—नित्य ईश्वर आपका जन्म कैसे ? क्यों कि जन्म धर्मादिनिमित्तक ही होता है सो आपमें नहीं। इस अर्जुनके प्रश्नपर भगवान् उत्तर देते हैं, 'अजोऽपि' जन्म रहित भी अव्ययात्मा अपक्षीण ज्ञानशक्तिस्वभावः ब्रह्मासे लेकर वृक्षलतादिपर्यन्त भूतोंके ईश्वर भी मैं प्रकृति स्वकीय वैष्णवीमायायुतत्रिगुणात्मक प्रसिद्ध हैं जिसके वशमें संपूर्ण जगत् है जिससे मोहित मुझको वासुदेव नहीं जानते इस प्रकृतिको वशमें करके देहवान्के समान, जातके समान होते हैं, अपनी मायासे होते हैं, इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे और लोगोंका वास्तविक कर्मजन्म फलभोगार्थ होता है वैसा मेरा नहीं है क्योंकि मुझसे शुभाशुभ कर्म हुई नहीं अतएव मैं प्रकृतिके अधीन नहीं हूँ।

प्रश्न—वास्तविक जन्मनाशका अभाव तो जीवमें भी है फिर उनसे आपमें क्या विशेष है ?

उत्तर—'संभवामि' यहांपर संशब्दसे है, सम्यक् अप्रच्युतज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिसे ही होता हूँ और केवलज्ञान-बलादिप्रयुक्त जीवकी अपेक्षासे मुझमें विशेष नहीं किन्तु जन्मसे भी विशेष मुझमें है, त्रिगुणात्मक अपनी मायाको अपने वशमें करके होता हूँ। प्रकृत्यधीन जीव कर्मपरतन्त्र है अतः उनका जन्म उनके कर्मके अनुरूप ही होता है 'ये रमणीयचरणाः, ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते, ये कपूयचरणाः ते कपूयां योनिमि'त्यादि श्रुति भी उक्त अर्थ'में प्रमाण है, परमेश्वरका जन्म प्रकृतिके अधीन नहीं किन्तु इनकी इच्छाके अनुसार होता है यहां पर मायासे जन्म लेता हूँ, यह भगवान्ने कहा है कि देहग्रहणरूपजन्म माया निर्मित होनेसे मायामय भगवद्देह है इसमें सन्देह ही नहीं अतएव श्रीशंकराचार्यने यही सिद्धान्त किया है इत्यादि अद्वैतवेदान्तमतानुसारी है।

अब श्रीवल्लभाचार्यके मतानुसार इस श्लोकका अर्थ सुनिये।

प्रश्न—अनादि अविनाशी आपका जन्म ही कैसे यह तो जीवका ही धर्म है ?

उत्तर—ठीक है तो भी अज भी अव्ययात्मा भी कर्मपारतन्त्र्यसे विमुक्त भी अपनी मायासे जन्म ग्रहण करता हूँ, स्वतन्त्र माया निमित्तक मेरा जन्म है। माया शब्द किसी शास्त्रमें हरिसामर्थ्यका वाचक है काप्य विद्यामृषा वाची कृपाकपटवित्तवाक्-इसके अनुसार अपने भक्तोंके ऊपर कृपा अथवा अपनी कृपासे आविर्भूत होते हैं, अप्रच्युतज्ञान बल ऐश्वर्यादि शक्तिरूप सर्वभवन सामर्थ्यसे होता हूँ, मायात्व कहनेका तात्पर्य 'शक्तिर्मेमोहिनीत्वतः' इसके अनुरोधसे मोहदत्व उसमें सूचित होता है।

प्रश्न—फिर भी आपके स्वरूपके विपरीत जन्मसे आपमें जीवत्व ही आता है ?

उत्तर—प्रकृतिमें असाधारण स्वरूप अथवा स्वभाव सच्चिदानन्दमात्र नित्यसिद्ध ज्ञानक्रिया शक्त्याश्रय षड्गुणाश्रय अधिष्ठान अपरित्याज्य ही होते हैं जीवके समान स्वरूपसे प्रच्युत नहीं होता, जीव तो व्युच्चारणके अनन्तर माया पराभिध्यानसे तिरोहित आनन्दादिषड्गुण संसारी होता हैं इस हेतुसे जन्म मरणके आवर्तनका अनुभव करता है मैं तो वैसा जन्मादिमान नहीं हूँ अजत्व अव्ययत्वादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है इसीसे यह भाव विकारोंका भी निराकरण सिद्ध होता है यद्यपि जीवोंमें भी छ विकार नहीं है किन्तु प्रकृतिके परिणामरूप देह ही में वे हैं तथापि आविर्भाव, तिरोभाव जन्मनाशविकल्पवत् शरीरी जगत्के जीवात्माओंमें विकारोंका प्रतीति कराती है और वही संसारी बनाती है क्योंकि शरीर प्रकृतिजन्य है, अतएव वेदान्तसूत्रकार ने कहा है कि 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जब-जब धर्मका ह्रास तथा अधर्मका विकास है तब-तब मैं अपने आपको (इस लोकमें) प्रकट करता हूँ ॥ ७ ॥

एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति ? तत्रोच्यते—'यदा' इति।

धर्मस्य-वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य वर्णाश्रमसदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा ग्लानिर्हानिर्भवति हे भारत-भरतवंशोद्भवत्वेन, भा-ज्ञानम्, तत्र रतत्वेन वा। त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः। एवं यदा यदाऽभ्युत्थानम्-उद्भवोऽधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनः, तदा तदाऽऽत्मानम्-देहं सृजामि-नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ ७ ॥

इस प्रकार हे सच्चिदानन्दस्वरूप आपमें देहादि व्यवहार कब और क्यों होता है, इसका उत्तर स्वयं भगवान् देते है—'यदा यदा' इति :प्राणियोंके अभ्युदय और निश्रेयसका साधन वर्ण आश्रम और दोनोंके आचारोंसे अभिव्यंग्यधर्मकी जब जब ग्लानि यानी हानि होती है, हे भारत ! भरतवंश समुत्पन्न अथवा भा ज्ञान उसमें रत-अनुरक्त उभयथा तुम धर्म हानि नहीं सह सकते हो यह प्रकृत अम्बोधनका तात्पर्यार्थ है, एवं जब जब वेद निषिद्ध नाना प्रकारके कारण धर्मविरोधी अधर्मका अभ्युत्थान-अधिक आविर्भाव होता है तब तब अपने देहकी सृष्टि करता हूँ यद्यपि मेरा शरीर नित्य सिद्ध है फिर भी मायासे सृष्टके समान दिखलाता हूँ ॥ ७ ॥

ब्र० सू० ३।२।५। इति अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहित है उसमें हेतु हैं 'पराभिध्यानात् इति' पर भगवान्का अभिध्यान अपनी सर्वतः भोगेच्छा अतः ईश्वरकी इच्छासे व्युद्धारित जीवका भेद भगवान्के धर्मका तिरोभाव - ऐश्वर्यतिरोभाव दीनत्व-पराधीनत्व,वीर्यके तिरोभावसे जन्मादि पर्वापदिपयत्व ज्ञानके तिरोभावसे देहादिमें अहंबुद्धि वश विपरीतज्ञान भी वैराग्यतिरोभावसे विषयोंमें आसक्ति बन्धचरोंका कार्य है विपर्यय है विपर्ययके तिरोभावसे होता है अन्यथा नहीं। यह अर्थ ठीक है आनन्दका तो पूर्वमें ही तिरोहित था इसीसे जीवभाव होता है अतएव काममयः आनन्द यदि आवृत न होता तो आनन्दरूप जीव काममय क्यों होता निदामी भगवत्शक्ति सुतरां तिरोभाव करनेवाली है। अतः इस प्रस्तावसे जीवमें धर्मतिरोभाव कहा गया है अन्यथा भगवान् की लीला निर्विषय हो जायगी अतः जीवस्वरूपपर्यालोचना ही कुछ आशंका का विषय नहीं। इससे देवीजीका जन्म नाश कहा गया है, भगवान्का आविर्भावतिरोभाव इस आशयसे

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिए तथा दुष्कर्म करने वाले दुर्जनोंका विनाश करनेके लिए एवं धर्मकी स्थापना करनेके लिए मैं प्रत्येक युगमें प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥

अर्जुन ! मेरे इस प्रकारके अलौकिक जन्म तथा कर्म जो यथार्थरूपमें समझ लेता है वह इस शरीरको त्यागनेके बाद फिर कभी जन्म नहीं लेता, क्योंकि वह मेरे (व्यक्तित्व) में ही मिलकर एकाकार हो जाता है ॥ ९ ॥

तत्किं धर्मस्य हानिः, अधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणम्, येन तस्मिन्नेव काले आविर्भवतीति, तथा चानर्थावह एव तवावतारः स्यादिति, नेत्याह—'परित्राणाय' इति ।

धर्महान्या हीयमानानां साधूनाम्-पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय-परितः सर्वतो रक्षणाय । तथाऽधर्मवृद्धया वर्धमानानां दुष्कृताम्-पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनाम् विनाशाय च । तदुभयं कथं स्यादिति, तदाह—'धर्मसंस्थापनार्थाय' धर्मस्य-सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनम्-वेदमार्गपरिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्,, युगे युगे-प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

प्रश्न—क्या धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि आपके सन्तोषका कारण है जिससे उसी समयमें आप प्रादुर्भूत होते हैं यदि ऐसा है तो आपका अवतार अनर्थप्रद होगा ?

उत्तर—नहीं, धर्मकी हानिसे वेदमार्गस्थ पुण्यकारि साधुओंकी हानि देख उनकी रक्षाके लिए यानी परित्राण-सर्वतो भावसे रक्षा अर्थात् शरीर आचरण धर्म कर्मानुष्ठानादि रक्षा अभिप्रेत है और अधर्म दृष्टिसे बढ़ते हुए दुष्कर्म पापकारि वेद मार्गविरोधियोंके विनाशार्थ अवतार लेता हूँ, ये दोनों कैसे हों यह कहते हैं—अधर्म निवारण कर धर्मका समीचीन स्थापन एतदर्थ अवतार लेते हैं, प्रतियुगमें अवतार ग्रहण करते हैं सत्ययुग द्वापर त्रेता कलियुगोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे अवतार होता है उद्देश्य उक्त ही है ॥ ८ ॥

नित्यापरिच्छिन्न शरीरमें अभिव्यक्ति प्राकट्य यह सम्भव कहा गया है । इससे मैं दीख पड़ रहा हूँ । अवतारोंसे पुरुषोत्तम वही अन्यत्र भी प्रादुर्भूत होते हैं यह स्पष्ट ही कहा गया है, अतः और अजन्मान्तरवान् भी एक भी अनेक इत्यादि विरुद्धक धर्मप्राय हूँ इसमें कुछ अनुपपत्ति नहीं ।

जन्मे'ति जन्म-नित्यसिद्धस्यैव मम सच्चिदानन्दघनस्य लीलया तथाऽनुकरणम् । कर्मं च-धर्मसंस्थापनेन जगत्परिपालनं मे मम नित्यसिद्धेश्वरस्य दिव्यम्-अप्राकृतमन्यैः कर्तुमशक्यमीश्वर-स्यैवासाधारणम् । एवम्-अजोऽपि सन्नित्यादिना प्रतिपादितं यो वेत्ति-तत्त्वतो भ्रमनिवर्तनेन । मूढैर्हि मनुष्यत्वभ्रान्त्या भगवतोऽपि गर्भवासादिरूपमेव जन्म, स्वभोगार्थमेव कर्मेत्यारोपितम् । परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दरूपत्वाज्ज्ञानेन, तदपनुद्य, अजस्यापि मायया जन्मानुकरणम्, अकर्तुरपि परानुग्रहाय कर्मानुकरणमित्येवं यो वेत्ति, स आत्मनोऽपि तत्त्वस्फुरणात्, त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म नैति । किं तु मां भगवन्तं वासुदेवमेव सच्चिदानन्दघनमेति-संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । हेऽर्जुन ॥ ९ ॥

किसीका मत है कि भगवान्के अवतार लेनेका प्रयोजन तीन है, साधुओंकी रक्षा, पापियोंका विनाश और धर्मका संस्थापनमात्रसे साधुओंकी रक्षा और पापियोंका विनाश नहीं सिद्ध होता, वसुदेवजीके गृहमें अवतार लेकर भगवान् तीन कार्य किये हैं, गीताके उपदेशसे धर्म संस्थापन, युधिष्ठिरादि परिपालन से साधु परित्राण, कंसादि मारणसे पापियोंका विनाश, गीताके उपदेशमात्रसे जो जो अर्जुनकी जहाँ जहाँ रक्षा की है सो नहीं हो सकती इससे साधुरक्षा एवं दुष्टवधसे धर्म संस्थापन हो जाता है, यह कहना असंगत है कि किसी धर्मका संस्थापन नहीं होता अन्यथा धर्म संस्थापक व्यासावतार ही व्यर्थ हो जायगा। श्रीव्यासजीने साधु संरक्षण पापियोंका विनाश नहीं किया, आपके कथनानुसार उक्त कर्मद्वयसे ही धर्म संस्थापन होता है यह नहीं सिद्ध होता अतः किसी समय एक प्रयोजनके लिए और किसी समय दो प्रयोजनके लिये वा किसी समय तीनों प्रयोजनोंके लिए भगवान्का अवतार होता है यही कहना उचित प्रतीत होता है

नित्य सिद्ध सच्चिदानन्दघन मेरो लीलासे जन्म तथानुकरण कर्म धर्म संस्थापनसे जगत्के परिपालनके लिये हैं। मेरा नित्य सिद्ध ईश्वरका जन्म, कर्म अप्राकृत है दूसरेके करनेके योग्य नहीं है, ये ईश्वर को ही असाधारण चिह्न है इसी प्रकार 'अजोपि सन्' इत्यादिसे कहा उसको जो तत्वतः भ्रमको दूर करता है वही जानता है। मूर्ख मनुष्य भ्रान्तिसे भगवान्का भी गर्भवास पूर्वक ही जन्म तथा स्वभोगार्थ ही कर्म समझते है, परमार्थतः सच्चिदानन्दरूपका ज्ञान उनका है नहीं, आरोपित को सत्य मानते हैं, मूर्ख धारणाका त्याग कर मेरा अजातका जन्म मायासे है, मैं अकर्ता हूँ, किन्तु परानुग्रहार्थ मेरा कर्मानुकरण है जो यही जानता है, वह आत्मतत्त्वका बोध होनेसे इस देहका त्याग कर फिर सांसारिक शरीरमें जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें ही मिल जाता है, मैं सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव हूँ। हे अर्जुन ! जो जानता है वह संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! तृष्णा, भय और क्रोधसे रहित अनन्य भावसे मदेकचित्त बहुतसे लोग ज्ञानरूपी तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त कर चुके हैं ॥ १० ॥

'मामेति सोऽर्जुने'त्युक्तम्, तत्र स्वस्य सर्वमुक्तप्राप्यतया पुरुषार्थत्वम्, अस्य मोक्षमार्ग-स्यानादिपरम्परागतत्वं च दर्शयति—'वीतरागे' ति । रागः-तत्तत्फलतृष्णा । सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्यमिति त्रासः-भयम् । सर्वविषयोच्छेदकोऽयं ज्ञानमार्गः कथं हितः स्यादिति द्वेषः-क्रोधः । त एते राग-भय-क्रोधा वीता विवेकेन विगता येभ्यः, ते वीतरागभयक्रोधाः-शुद्धसत्त्वाः मन्मयाः-मां परमात्मानं तत्पदार्थं त्वंपदार्थाभेदेन साक्षात्कृतवन्तः, मदेकचित्ता वा । मामुपाश्रिताः-एकान्त - प्रेमभक्त्या मामीश्वरं शरणं गताः । बहवः-अनेके ज्ञानतपसा-ज्ञानमेव तपः सर्वकर्मक्षयहेतुत्वात्, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति हि वक्ष्यति । तेन पूताः-क्षीणसर्वपापाः सन्तः निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः । मद्भावम्-मद्रूपत्वं विशुद्धसच्चिदानन्दघनं मोक्षमागताः-अज्ञानमात्रा-

हे अर्जुन ! वह मेरेमें मिल जाता है यह कहा । आप ही सब मुक्तोंके प्राप्य हैं अतः यह मोक्ष मार्ग पुरुषार्थ है तथा अनादि परम्परासे समागत है, यह दिखलाते हैं—'वीतराग' इत्यादिसे, राग तत्फल तृष्णा सब विषयोंका त्याग कर ज्ञान मार्गमें कैसे जीवेंगे यह भय हैं, सब विषयोंका नाशकर ज्ञान मार्गसे कैसे हित होगा यह द्वेष क्रोध है ये तीनों राग भय और क्रोधमें निवृत्त हो गये जिनके वे शुद्ध सत्त्व अतएव मन्मय मुक्त परमात्मा तत्पदार्थको 'त्वम्' तुम पदार्थाभिन्नत्वसे मुझमें जीवके अभेदका साक्षात्कार करके भेदका चित्र अतएव मेरे आश्रित होकर ऐकान्तिक भक्तिसे मेरे शरणमें आकर बहुत लोग ज्ञानरूपी तपसे दुष्कर्मका नाश करते हैं ।

प्रश्न—ज्ञानरूपी तप कैसे ?

उत्तर—तपसे जैसे दुष्कर्मका क्षय होता है वैसे ही ज्ञानसे सब शुभाशुभ कर्मोका शमन होता है इसलिए कर्मनाशकत्वेन ज्ञानमें भक्ति या तपशब्दका प्रयोग उचित ही है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' यह आगे स्वयं भगवान् कहेंगे ज्ञानरूपी तपसे पवित्र होकर अर्थात् निवृत्त पाप होकर अतएव अज्ञान तत्कार्यमलका त्याग कर सद्भाव मत्स्वरुपत्व विशुद्धचिद्घनान्दमोक्षको प्राप्त कर लेनेपर मुक्त हो जाता है । यद्य पिपूर्वमें भी मुक्त ही थे, किन्तु अज्ञानवश आरोपित संसारधर्मसे संसारी थे, ज्ञान होने पर समूल

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन जो मुझको जिस प्रकार भजते हैं उसी प्रकार मैं भी अपेक्षित फलके द्वारा अनुग्रह करता हूँ। मनुष्य सब प्रकारसे (अन्य देवताओंकी पूजा द्वारा भी (सर्वात्मरूप मेरे ही मार्गका अनुवर्तन करते हैं ॥ ११ ॥

पनयेन प्राप्ताः । ज्ञानतपसा पूताः-जीवन्मुक्ताः सन्तो 'मद्भावम्' मद्विषयं भावम्-रत्याख्यम् प्रेमाणमागता इति वा । 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति हि वक्ष्यति ॥१०॥

ननु ये ज्ञानतपसा पूता निष्कामाः, ते त्वद्भावं गच्छन्ति, येत्वपूताः सकामाः, ते न गच्छन्तीति, फलदातृ``त्व वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामिति, नेत्याह—'ये यथा माम्' इति । ये-आर्ताः, अर्थार्थिनः, जिज्ञासवः, ज्ञानिनश्च यथा-येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मामीश्वरं सर्वफलदातारं प्रपद्यन्ते-भजन्ति । तांस्तथैव तदपेक्षितफलदानेनैव भजामि-अनुगृह्णाम्यहम्, न विपर्ययेण । तत्रामुमुक्षूनार्तानर्थार्थिनश्चाऽऽर्तिहरणेनार्थदानेन च

अज्ञानको दूर कर मोक्षको प्राप्त किये, 'चामीकर ग्रैवेयकवत्' ज्ञानतपसा पूतजीवन यानी मुक्त होकर मद्विषयक भाव प्रेमाख्य भावमें आगये यह भी अर्थ है। दोनों मुक्तोंका संग्रह विवक्षित है विदेह मुक्त और जीवन्मुक्त। प्रथम व्याख्यासे प्रथमका और द्वितीय व्याख्यासे द्वितीयका संग्रह किया गया है, भगवान् आगे कहेंगे 'नहि ज्ञानेन' इत्यादिसे। प्रेमाणमागता वा यहाँ वाकार अनास्थामें है जीवन्मुक्त यहाँ विवक्षित नहीं है पूर्व श्लोकमें 'त्यक्तदेहमि'त्यादि कहा गया है। देह त्याग विदेह कैवल्यमें माना जाता है जीवन्मुक्त-दशामें नहीं ॥ १० ॥

प्रश्न—जो ज्ञान तपसे पवित्र हे अतएव निष्काम हैं वे ईश्वरभाव मोक्ष पा लेते हैं किन्तु जो सकाम हे वे त्वद्भाव मोक्ष नहीं पाते ऐसी स्थितिमें फलदायक आपमें वैषम्य नैर्घृण्य दोष आता है।

उत्तर—कभी नहीं जो आर्त अर्थार्थी 'जिज्ञासु तथा ज्ञानी है जिस प्रकारसे सकामभावसे अथवा निष्काम भावसे सर्व फलप्रद मुझ ईश्वरको भजते हैं उनको उसी प्रकारसे तदिष्ट फलदान कर अनुगृहीत करता हूँ। मोक्षार्थीको मोक्ष, अर्थार्थीका अर्थ, आर्तको तन्निवृत्ति, ज्ञानार्थीको ज्ञान देता हूँ सबको न सब फल देता हूं और न विपरीत। अर्थार्थीको मोक्ष ज्ञानार्थीको अर्थ नहीं देता तथापि तत्तद् अभीष्ट सब फल यथाधिकार सबको देता हूँ इसलिए सब फलदाता मैं हूं। जिज्ञासु जनोंको 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस लोकमें कर्मसे सिद्धि प्राप्त करनेके लिए देवताओंका भजन करते हैं। क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मके द्वारा शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है। (ज्ञानफल अन्तःकरण शुद्धिसापेक्ष होनेसे शीघ्र नहीं होता) ॥ १२ ॥

अनुगृह्णामि । जिज्ञासून् 'विविदिषन्ति यज्ञेने' त्यादिश्रुतिविहितनिष्कामकर्मानुष्ठातॄन् ज्ञानदानेन, ज्ञानिनश्च मुमुक्षून्मोक्षदानेन । न त्वन्यकामायाऽन्यद्ददामीत्यर्थः । ननु तथाऽपि स्वभक्तानामेव फलं ददासि, न त्वन्यदेवभक्तानामिति वैषम्यं स्थितमेवेति, नेत्याह—मम-सर्वात्मनो वासुदेवस्य वर्त्म-भजनमार्गं कर्मज्ञानलक्षणमनुवर्तन्ते हे पार्थ सर्वशः-सर्वप्रकारैरिन्द्रादीनप्यनुवर्तमानाः । मनुष्या इति कर्माधिकारिणः । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'फलमतः उपपत्तेः' इति न्यायाच्च सर्वरूपेणापि फलदाता भगवानेक एवेत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति 'येऽप्यन्य-देवताभक्ताः' इत्यादि ॥ ११ ॥

ननु त्वामेव भगवन्तं वासुदेवं किमिति सर्वे न प्रपद्यन्त इति, तत्राऽऽह—'कांक्षन्तः' इति ।

श्रुतिसे विहित निष्काम कर्मानुष्ठानियोंको ज्ञान दानसे, ज्ञानी मुमुक्षुओंको मोक्ष दानसे अनुगृहीत करता हूँ। अन्य कामनावान्को अन्य फल नहीं देता ।

प्रश्न—फिर भी अपने भक्तोंको ही फल देते हैं दूसरे देवताओंके भक्तोंको नहीं, इस हेतु वैषम्य तो रही गया ?

उत्तर—नहीं मेरा वासुदेव सर्वात्माका वर्त्म भजनमार्ग कर्म ज्ञान एतदुभय लक्षणका जो अनुवर्तन-सतत अनुष्ठान करते हैं। हे पार्थ ! सब प्रकारसे इन्द्रादिदेवताओंकी उपासना करते हैं कर्माधिकारसे 'इन्द्रमित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादि मन्त्रवर्णसे 'फलमत उपपत्तेः' इस न्यायसे सब रूपसे फलदाता भगवान् एक ही हैं यही कहेंगें' येऽप्यन्यदेवता' इत्यादिसे ।

इतर मनुष्य भी मेरे मार्गकी अनुवृत्ति करते हैं तुम तो मेरे सम्बन्धी होकर भी मेरी अनुवृत्ति नहीं करते हो, यह आश्चर्य है। यह पार्थ सम्बोधनसे सूचित करते हैं ॥ ११ ॥

शंका—यदि आप ही सब फल देते हैं तो सब आप ही भगवान् वासुदेवको क्यों नहीं भजते तत्तद्फलेच्छासे देवतान्तरकी उपासना क्यों करते हैं ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी रचना गुण और कर्मोंके विभागसे मैंने की है। उनका कर्ता होने पर भी मुझको अकर्ता और अविनाशी समझो ॥ १३ ॥

कर्मणां सिद्धिं-फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इह लोके देवताः-देवानिन्द्राग्न्याद्यान्यजन्ते-पूजयन्ति अज्ञानप्रतिहतत्वात्, न तु निष्कामाः सन्तो मां भगवन्तं वासुदेवमिति शेषः । कस्मात् ? हि-यस्मादिन्द्रादिदेवतायाजिनां तत्फलकाङ्क्षिणां कर्मजा सिद्धिः-कर्मजन्यं फलं क्षिप्रम्-शीघ्रमेव भवति मानुषे लोके । ज्ञानफलं त्वन्तःकरणशुद्धिसापेक्षत्वान्न क्षिप्रं भवति । मानुषे लोके कर्मफलं शीघ्रं भवतीति विशेषणादन्यलोकेऽपि वर्णाश्रमधर्मव्यतिरिक्तकर्मफलसिद्धिर्भगवता सूचिता । यतः तत्तत्क्षुद्रफलसिद्ध्यर्थं सकामा मोक्षविमुखा अन्या देवता यजन्ते, अतो न मुमुक्षव इव मां वासुदेवं साक्षात्ते प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

शरीरारम्भकगुणवैषम्यादपि न सर्वे समानस्वभावा इत्याह—'चातुर्वर्ण्यमि'ति ।

चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्, स्वार्थे ष्यञ् । मया-ईश्वरेण सृष्टम्-उत्पादितं गुणकर्मविभागशः गुणविभागशः कर्मविभागशश्च । तथाहि सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, तेषां सात्त्विकानि शमदमा-

उत्तर—कर्म फलोत्पत्तिकी इच्छासे इन्द्रादि देवताकी पूजा करते हैं वे भी मेरे मार्गकी अनुवृत्ति करते हैं पर अज्ञान मूढ़ होनेसे निष्काम भावनासे भगवान् वासुदेवरूप मुझको नहीं भजते ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—मनुष्य लोकमें इन्द्रादिदेव प्रार्थियोंको कर्मजन्य फलसिद्धि शीघ्र होती है ज्ञान फल तो अन्तः करण शुद्ध होने पर ही होता है इसीसे फल विलम्बसे होता है शीघ्र नहीं, मनुष्य लोकमें कर्मफल शीघ्र होता है, इस विशेषणसे अन्य लोकमें भी वर्णाश्रम धर्मातिरिक्त कर्मफलकी सिद्धि होती है, भगवान्ने सूचित किया। यतः तत्तत् क्षुद्र न्यूनफल सिद्ध्यर्थ सकाम अतएव मोक्ष विमुख होकर अन्य देवकी पूजा करते हैं इस कारण वे मुमुक्षुके ही समान मुझ भगवान् वासुदेवको साक्षात् नहीं भजते किन्तु देवान्तर-द्वारा भजन करते हैं मनुष्य लोकमें ही वर्णाश्रम धर्म है लोकान्तरमें नहीं इस विशेषणसे सूचित होता है ॥ १२ ।,

प्रश्न—जिस कारणसे आपहीके मार्गकी सब अनुवृत्ति करते हैं, दूसरे मार्गकी अनुवृत्ति नहीं करते हैं इसका उत्तर देते हैं 'चातुर्वर्ण्यम्' इत्यादिसे । अथवा शरीरराम्भक गुण वैषम्यसे भी सब लोग समान

दीनि कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि। तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च कृष्यादीनि तादृशानि कर्माणि। तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तामसानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणीति, मानुषे लोके व्यवस्थितानि। एवं तर्हि विषमस्वभावचातुर्वर्ण्यस्रष्टृत्वेन तव वैषम्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य नेत्याह—'तस्ये'ति। विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य व्यवहारदृष्ट्या कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या विद्धि अकर्तारमव्ययम् निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम् ॥ १३ ॥

स्वभावके नहीं होते यही कहते हैं। 'चातुर्वर्ण्यमिति' चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, 'चातुर्वर्ण्यम्'का चार वर्ण ही अर्थ है। स्वार्थमें 'ष्यञ्' तद्धित प्रत्यय है। ईश्वर मैं इनको गुणके विभागसे और कर्मके विभागसे, उत्पन्न किया। सत्वप्रधान ब्राह्मण हैं उनमें सात्विक शमदमादि कर्म होते हैं चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इस वार्तिकसे प्रत्यय होता है। सत्वोपसर्जन रजः प्रधान क्षत्रिय होते हैं उनके अनेक वैसे ही शौर्यप्रभृति कर्म होते हैं। तमउपसर्जन रजःप्रधान वैश्य होते हैं और उनके तादृश कृष्यादि कर्म हैं। तमः प्रधान शूद्र होते हैं और उनके तादृश तामस यानी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वर्णोंकी सेवाकर्म मनुष्यलोकमें व्यवस्थित है।

प्रश्न—फिर भी विषम स्वभाव उक्त त्रैवर्णिक सृष्टिसे आपमें वैषम्य आ ही गया।

उत्तर—नहीं वैषम्य नहीं आया, विषमस्वभाव चातुर्वर्ण्यका व्यवहार दृष्टिसे मैं कर्ता हूँ, परमार्थ दृष्टिसे मैं कर्ता नहीं हूँ, अकर्ता ही होनेसे एवं अव्यय अहंकार रहित होनेसे अक्षीण स्वभाव ईश्वर ही मैं हूं। इस अर्थमें कुछ अनुपपत्ति है जो यह कहा कि शरीरारम्भक गुणवैषम्यसे सब समान स्वभाव नहीं है इससे तो यही कहना चाहिए कि गुण कर्म विभागसे चार वर्ण उत्पन्न हुए फिर 'मया सृष्टम्' कहनेकी आवश्यकता नहीं। ईश्वरेच्छा समानरूपसे सृष्टि करनेकी होती तो गुणबाधक नहीं हो सकता। 'गुणकर्मविभागशः' का अर्थ यह है कि 'गुणाश्च कर्माणि च तेषां समाहारः गुणकर्म' अर्थात् चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि गुण और कर्म विभागसे की, कर्म विभागसे यानी साधारण असाधारण विभागसे कर्म-अग्निहोत्रादि गुण-द्रव्यदेवता-रूप साधारण दान-जपादि सर्वसाधारण कर्म हैं, अग्निहोत्रादि त्रैवर्णिकका ही कर्म है किन्तु शूद्रका नहीं। राजसूयादि क्षत्रियोंका कर्म है ब्राह्मणोंका नहीं, वैश्यस्तोम वैश्य ही का कर्म है तदितरका नहीं, इस प्रकार कर्म, गुण ईश्वर सृष्ट होनेसे देवता ईश्वर सृष्ट ही हैं, पुत्रप्रीतिसे जैसे पिताकी तृप्ति होती है वैसे ही देवताओंको याग द्वारा तृप्त करने पर परमात्मा भी तृप्त होकर देवयाजियोंको ईप्सित फल देता है, इस प्रकारके अर्थसे विषम स्वभाव, चातुर्वर्ण्य सृष्टि और तद्वृत्ति व्यापारका उत्पादक उत्पन्न करनेवाला आप ही है, वैषम्य कर्मफल कर्तामें होगा ही अतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आपमें प्रसक्त होता है इसलिये आप संसारी हैं ईश्वर नहीं।

मुझमें मायासे कर्तृत्व है वास्तविक नहीं, नित्य मुक्त मैं हूँ, संसारिस्वभाव नहीं हूँ, इस आशयसे कहते हैं कि "चातुर्वर्ण्यम्'से। कर्तृत्व मायासे है वस्तुतः मुझे अकर्ता समझो अतएव भोक्तृत्व मायिक ही है वास्तविक नहीं ॥ १३ ॥

[अन्यार्थः—वर्णव्यवस्थाविध्वंसकारी पण्डितंमन्योंका कहना है कि गुण कर्म भेदसे चारों वर्णोंकी सृष्टि है, अपने अपने असाधारण गुण कर्मके अनुसार ब्राह्मणत्वादि जातियोंकी कल्पना की गई ऐसी परिस्थितिमें यदि शूद्र जाति में शमदमादि गुण पाये जायँ तो वह ब्राह्मण है, विशुद्ध ब्राह्मण जाति माता पितृजन्य होनेपर भी शमदमादि शून्य हो तो वह ब्राह्मण नहीं है, इसी तरह शौर्य, तेज आदि गुणोंसे सम्पन्न क्षत्रिय हैं, क्षत्रिय माता पितृजन्यमात्र क्षत्रिय नहीं यदि इतर जातिमें उक्त गुण हो तो वही क्षत्रिय है। इसी तरह वैश्य शूद्रमें भी जानना। ब्राह्मण सृष्टिके अनन्तर यदि उनमें उक्त गुणोंकी सृष्टि मानी जाय तो सब ब्राह्मणोंमें शमदमादि गुण होने चाहिये, इतर जातियोंमें उक्त गुण न होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता बहुत ब्राह्मणोंमें ये गुण नहीं होते, कतिपय इतर जातियोंमें ये गुण पाये जाते हैं अतः अधिक व्यभिचार देखनेसे ब्राह्मणसृष्टिके अनन्तर उनमें ही उक्त गुण उत्पन्न किये गये यह अर्थ ठीक नहीं; किन्तु गुण कर्मके अनुसार जाति माननी चाहिए अतः जिसमें शमदमादि हो वही ब्राह्मण है और शौर्यतेज-प्रभृति गुण जिसमें हो वह क्षत्रिय है इत्यादि ठीक है इसमें प्रमाण महाभारत है, तथाहि-सर्पने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया कि 'ब्राह्मणः को भवेद्राजन्' इसपर-युधिष्ठिरने उत्तर दिया—

'सत्यं दानं क्षमा शीलमनालस्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥
महा० भा०। ३।१८०।२१।२६॥ इति ॥

शमदमादि ब्राह्मण लक्षण शूद्रमें हो और ब्राह्मणोंमें वे न हों, वह शूद्र जिसमें शमादि हैं वह शूद्र नहीं किन्तु ब्राह्मण लक्षण युक्त होनेसे ब्राह्मण है और स्वगुणशून्य ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं जिसमें ये ब्राह्मण गुण हों वही ब्राह्मण है जातिसे कोई ब्राह्मण नहीं यह स्पष्ट प्रतीत होता है। और भी उसी स्थान पर।

'ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद्ब्रूहि वदतां वर' ॥

इसके द्वारा भरद्वाज के इस प्रश्न का उत्तर भृगु ने दिया कि—

'सत्यं दानमथाद्रोह अनालस्यं भयं घृणा, तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
क्षत्रजं सेवेत कर्म वेदाध्ययनसंगतः दानादानगतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥
वाणिज्यं पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः, शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः' ॥
म०भा० १२।१८९। १।४।८। इति।

यहाँ भी गुणकर्मानुसार ही जाति की व्यवस्था हैं, पूर्वोक्तार्थसे ही इसका भी अर्थ स्पष्ट है इस कारण इसका अर्थ नहीं किया, सारांश यही है कि गुणकर्मानुसार जाति है जात्यनुसार गुणकर्म नहीं अतः जाति ब्राह्मण अब्राह्मण क्षत्रियादि गुण सम्पन्न होने पर क्षत्रियादि हो सकते हैं तथा क्षत्रियादि उन ब्राह्मण गुणों से ब्राह्मण भी हो सकते हैं अतः जन्म होनेसे ब्राह्मणत्वादि आते हैं अन्यथा नहीं यह उक्त श्लोकोंसे सुस्पष्ट विरुद्ध है ऐसाही भागवतमें भी है।

'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्' ॥

इस लक्षणानुसारसे ही ब्राह्मणत्वादिका निर्देश कहा गया है अतः ब्राह्मणादिमें ब्राह्मणत्वादि जन्मसे होता है, यह भगवान्‌को अभिप्रेत नहीं और यह मत प्रमाणसे विरुद्ध भी है केवल वञ्चकोंकी वञ्चकतामात्र है इसको उच्चैः स्वरसे कहते हैं,

इसका उत्तर सुनिये भगवद्वाक्यमें प्रथम उद्देश्य **उक्तमत् काखण्डन** विधेयभावका विचार कीजिये। समुत्पन्न ब्राह्मणके उद्देश्यसे गुणकर्मका विधान है किं वा गुणकर्मके उद्देश्यसे ब्राह्मणादि वर्णोंका। इसका निर्णायक भगवद्वाक्य ही है, भगवद्वचन यह है

'ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥'

यहाँ पर ब्राह्मणादिकोंके कर्म ब्राह्मणत्वावच्छिन्नीयोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयकर्म स्वभावजगुणसे विभक्त है, आहारनिद्राभयादि प्राणिमात्र साधारण होने से विशेषक नहीं हैं। ब्राह्मणोद्देशक विहित कर्मानुष्ठानमें अधिकार प्राप्तिके लिए तदनुष्ठानसे पुर्वमें ही ब्राह्मणत्वादि अपेक्षित हैं अतः उन कर्मोंसे ब्राह्मणत्वादि सिद्धि नहीं कह सकते, सिद्धसाधन दोष होगा, ब्राह्मणत्वादि अनुष्ठानसे पूर्वमें ही सिद्ध है फिर वह अनुष्ठानसे कैसे होगा, एकमें सिद्धत्वसाध्यत्व पूर्वापर कालवृत्ति विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते अनधिकारि कृतकर्म श्रेय:साधक नहीं बल्कि 'परधर्मो भयावहः' इस भगवद्वचनसे निन्दित होनेसे वह प्रत्यवायजनक है। शम, दम, शौर्य, तेज इत्यादि, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि जाति प्रयोजक नहीं है किन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति प्रयोज्य हैं अतएव 'स्वभावजम्' यह उक्त श्लोकमें कहा गया है किञ्च 'येऽपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्या; तथा शूद्राः' इस भगवद्वचनसे जन्मसे ही जाति भेद अभिमत है इनमें शंकाका लेश भी नहीं तदनु सृज धातु और शस् प्रत्ययके स्वारस्यसे गुणकर्मका विभाग करके चातुर्वण्यको ईश्वर ने सृष्ट किया यहाँ व्याख्यान ठीक है महाभारतमें यही अर्थ पुष्ट किया गया है—

'प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा तासु कर्म विधाय च। वर्णो वर्णैः समाधत्त एकैकं गुणभाग्गुणम् ॥
ब्राह्मणे वेद मव्यंज्जन्तु क्षत्रिये तेजउत्तमम्। दाक्ष्य वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम्' ॥

यहाँ पर वर्ण सृष्टिके बाद गुणकर्मका विभागसे आधान किया गया है यह सुस्पष्ट है, महाभारतको भी जन्म सिद्ध ब्राह्मणत्वादि अभिप्रेत है यह सुखसे प्रतीत होता है, कण्ठरवसे भी यही कहा है— जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते" । म० भा। १३।३५।१ ।

वह्वीस्तु संसरन् योनीं जायमानः पुनः पुनः । पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते" ॥
म: भा: १३।२७।२६।१२ ।

शंका—अच्छा तो पूर्व में जो कहा 'शूद्रे तु यद्भवेदि'त्यादिसे उसकी क्या गति होगी ?

समाधान—'नविषं विषमित्याहुः ब्रह्मस्वं विषमुच्यते' । ब्रह्मस्वत्व में दृढ़ विषत्वारोपके लिए विषमें विषका निषेध किया है तद्वत् शूद्रत्वके आरोपार्थं ही ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्व का निषेध है आरोप्यमाण और आरोप्याधिकरणका भेद सर्वंजगत्प्रसिद्ध है अतः उक्त वचनका जन्मतः ब्राह्मणत्वनिषेधमें तात्पर्य नहीं किन्तु सत्वादिगुणविशिष्ट ब्राह्मणकी प्रशंसामें तात्पर्य है अन्यथा 'शूद्रेतु यद्भवेत् लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते' यहां प्रथम श्लोकार्धमें ब्राह्मण शूद्रका कुछ अर्थ न होने से वे अनर्थक हो जायगें आपके मतसे तत्तद्गुणविशिष्ट ही शुद्रादि हैं तत्तद् वर्ण व्यञ्जक गुण तो उनमें है नहीं फिर उनका अर्थ क्या होगा जन्मसे वर्ण व्यवस्था मान-नेसे उक्त गुण न होनेपर भी जन्मतः ब्राह्मणादि शूद्र हैं ।

शंका—अच्छा तो फिर शूद्रादिमें शद्रत्वादिका निषेध कैसे किया गया ।

समाधान—गुणहीन ब्राह्मणमें शूद्र साधर्म्यमात्र विवक्षित है न तु वस्तुतः शूद्रत्वका विधान है अतएव उसी जगह कहा है—'तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदेन जायते' ॥ म. भा. ३।१८।३३॥ इसी प्रकार शूद्र पक्षमें भी समझना, इसी तरह 'यस्य यल्लक्षणमि'त्यादि भागवतमें शौर्यादिविशिष्ट ब्राह्मणमें गुणसादृश्यसे क्षत्रियत्व गौण कहा गया है, जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्वका-अभावका बोधक नहीं लोकमें भी सिंहो देवदत्तः' यहाँपर क्रौर्य-शौर्यादि सादृश्यसे सिंह शब्दका प्रयोग होता है, उसका तात्पर्य सादृश्यमें हैं, वस्तुतः सिंहमें नहीं, क्योंकि मनुष्य वस्तुतः सिंह नहीं हो सकता शास्त्रमें भी गौण व्यवहार देखा जाता है, यथा अत्रिसंहितामें लिखा है 'अस्त्रहस्ताः सुधन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे । आरम्भे निर्जिता येन स विप्र क्षत्र उच्यते ।

कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः । वाणिज्यं व्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते' । १२।४८ ।

उक्त श्लोकमें जाति ब्राह्मण ही शौर्यादि गुण विशेष सम्बन्धसे क्षत्रियादि पदसे व्यवहृत किये गये हैं गौण व्यवहारमात्रसे ब्राह्मण वास्तविक क्षत्रिय नहीं हो सकते तादृश व्यवहारमात्र विवक्षित है, व्यवहार प्रकृतमें गौण ही है मुख्य नहीं ।

'दशाष्ट पञ्च त्रिगुणशतमूर्द्धान्वितौ क्रमात् । विप्रो नृपो विशो शूद्रो द्वौ द्वौ नागेषु कीर्तितौ' ।
अग्निपुराण २९४।३।

सर्पोंमें भी ब्राह्मणादि भेद कहा गया है तथा हाथियोंमें भी ब्राह्मणादि व्यवहार शास्त्रमें है—

'विप्रः शुचिर्मधुमयः परमान्नसर्पिः । चूतप्रसून समगन्ध , सुगन्धिताङ्गः ।
स क्षत्रियो 'विविधशस्त्रनिपातशूरः शूद्रोऽपि तूर्णमुपशाम्यति वैश्यजातिः ।' मातङ्ग लीला ॥८।२।११॥
सुगन्धा ब्राह्मणी भूमिः रक्तगन्धा तु क्षत्रिया, मधुगन्धा भवेद् वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिणी ॥
'विश्व, षा, शा, १।३५१।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

मुझको कर्म लिप्त नहीं करते (देहारम्भक होकर बन्धन नहीं होते) और न मुझे कर्मोंके फलकी इच्छा है। इस प्रकार मुझको जो जानता है वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

कर्माणि-विश्वसर्गादीनि मां निरहंकारत्वेन कर्तृत्वाभिमानहीनं भगवन्तं न लिम्पन्ति-देहारम्भकत्वेन न बध्नन्ति। एवं कर्तृत्वं निराकृत्य, भोक्तृत्वं निराकरोति-'न-मामि'ति। न मे

'न मां कर्माणि' इति—विश्वोत्पत्ति, स्थिति, संहारादिकर्म, अहंकारशून्य अतएव कर्तृत्वाभिमानरहित भगवानके देहारम्भक होकर बन्धन नहीं होते इस प्रकार कर्तृत्वका निरास कर भोक्तृत्वका भी निरास

मनुष्य व्यतिरिक्त पश्वादिमें तथा अचेतन मही आदिमें भी वर्ण व्यवहार पाया जाता है उनमें तद्गुण वही है अतः जन्म हीसे वर्ण व्यवस्था माननी चाहिए गुणसे नहीं, उदाहृत स्थलमें व्यभिचार स्फुट है। विप्रादि संज्ञक सर्पादि याजनादि ब्राह्मणकर्मका अधिकारी नहीं है, न ब्राह्मणादिके साथ विवाहादिक ही प्रसक्त हैं यह वचनके विना ही सिद्ध है वैसे ही मनुष्योंमें भी समझना, यह वारतान्त स्मृतिमें विस्पष्ट है।

'देहान्तरं विना धर्मसादृश्येनापि वर्णता। योच्यते सा न तद्वर्णपूजोद्वाहादिषु स्थिता-इति।

गुण कर्म व्यभिचार दर्शन विरोध भी नहीं क्योंकि सोपाधिक होनेसे अन्यथासिद्ध है, सृष्टि-न्यायसे अधिक होनेसे व्यवहारकी उपपत्ति होती है। पू. मी. १।४।२७। 'सृष्टीरुपदधाती'ति इत्यादि में स्पष्ट है। गुण व्यभिचार देखने पर भी एकदेशविकृतन्यायसे जाति ब्राह्मणत्व रहती ही है।

'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद्ब्राह्मणलक्षणम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः" ॥

म. भा. २।२।२६।

इस ब्राह्मणलक्षणमें भी वैसे ही देखा जाता है अतः वर्णव्यवस्था जन्म सिद्ध है। ब्राह्मणादिसे ही शास्त्रसम्मत तथा शिष्टसम्मत है केवल गुण कर्मानुसारी नहीं इसमें शंकाका लेश नहीं, सूतसंहितामें यही उद्घोषित है—

"सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः। पश्वादीनां यथा जातिर्जन्मनैव न चान्यथा ॥

शि. मा. ख. १५।२१॥

सब श्रुति स्मृति पुराण इतिहासोंका यही सिद्धान्त है अधिक अन्यत्र देखिये, यह संक्षेप है ॥१३॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जनकर पूर्ववर्ती मुमुक्षुजनोंने कर्म किया है, अतः तुम भी अन्यत्र पूर्ववर्तियोंसे किया गया कर्म करो ॥ १५ ॥

मम-आप्तकामस्य कर्मफले स्पृहा-तृष्णा, "आप्तकामस्य का स्पृहा" इति श्रुतेः। कर्तृत्वाभिमान-फलस्पृहाभ्यां हि कर्माणि लिम्पन्ति, तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीति। एवं योऽन्योऽपि मामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽत्मत्वेनाभिजानाति, कर्मभिर्न स बध्यते-अकर्त्रात्मज्ञानेन मुच्यते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

यतो नाहं कर्ता, न मे कर्मफलस्पृहेति ज्ञानात्कर्मभिर्न बध्यते, अतः—'एवमि'ति।

एवमात्मनोऽकर्तुः कर्मालेपं ज्ञात्वा, कृतं कर्म पूर्वैरतिक्रान्तैरपि अस्मिन् युगे ययाति-यदुप्रभृतिभिर्मुमुक्षुभिः। तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु, तूष्णीमासनं, नापि संन्यासम्। यद्यतत्त्ववित्,तदा आत्मशुद्धयर्थम्। तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थम्। पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरमतिपूर्वं युगान्तरेऽपि कृतम्। एतेनास्मिन्युगे, अन्ययुगे च पूर्वपूर्वतरैः कृतत्वादवश्यं त्वया कर्तव्यं कर्मेति दर्शयति ॥ १५ ॥

करते हैं, आप्तकाम मुझको कर्म फलमें स्पृहा-तृष्णा नहीं है 'आप्तकामस्य का स्पृहा' श्रुति स्पष्ट ईश्वरमें कामनाके अभावका बोधन कराती है, कर्तृत्वाभिमान और फल स्पृहासे ही कर्मबन्धन होते हैं इसलिये कर्मका लेप बन्धन मुझमें नहीं, इसी तरह कोई दूसरा भी अकर्ता अभोक्ता आत्मस्वरूपको जानता है वह भी कर्मसे बद्ध नहीं होता आत्मा अकर्ता है इस ज्ञानसे मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

न मैं कर्ता हूँ न मेरेमें कर्म फलकी तृष्णा है इस ज्ञानसे कर्म बन्ध नहीं होता इस प्रकार अकर्ता आत्मामें कर्मलेपाभाव-अबन्ध जानकर पूर्वोत्पन्न इस युगमें ययाति यदुप्रभृति मुमुक्षुओंने जो कर्म किया है तज्जातीय कर्म तुम भी करो, न कर्म छोड़कर बैठो न संन्यास ही ग्रहण करो, यदि तत्त्वज्ञानी न हो तो आत्मशुद्धिके लिये कर्म करो, यदि तत्त्वज्ञानी हो तो भी जनकादिके समान लोकसंग्रहार्थी कर्म करो। जनक पूर्वयुगमें हो चुके उनसे पहिले उत्पन्न लोगोंने कर्म किये हैं अतः पूर्व पूर्वतर लोगोंने कर्म किये, इसलिये तुम भी कर्म करो यही दिखलाते हैं ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

वस्तुतः क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस विषयमें विद्वान् भी मोहित हैं। इसलिये तुमको भली प्रकारसे कर्म और अकर्म बताऊँगा जिसको जानकर तुम अशुभ, अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाओगे ॥ १६ ॥

क्योंकि कर्मका तत्त्व प्रतिषिद्ध कर्मका तत्त्व और अकर्म अर्थात् चुपचाप बैठना कुछ न करनेके तत्त्वको जानना चाहिये। कर्मकी अर्थात् तीनोंकी गति कठिन है ॥ १७ ॥

ननु कर्मविषये किं कश्चित्संशयोऽप्यस्ति, येन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्बध्नासि, अस्त्येवेत्याह—'किं कर्मे'ति। नौस्थस्य निष्क्रियेष्वपि तटस्थवृक्षेषु गमनभ्रमदर्शनात्, तथा दूराच्चक्षुःसंनिकृष्टेषु गच्छत्स्वपि पुरुषेष्वगमनभ्रमदर्शनात् परमार्थतः किं कर्म, किं वा परमार्थतोऽकर्मेति कवयः-मेधाविनोऽप्यत्र-अस्मिन्विषये मोहिताः-मोहम्-निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ताः, अत्यन्तदुर्निरूपत्वादित्यर्थः। तत्-तस्मात् ते-तुभ्यमहं कर्म, अकारप्रश्लेषेण च्छेदादकर्म च प्रवक्ष्यामि-प्रकर्षेण संदेहोच्छेदेन वक्ष्यामि। यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे-मुक्तो भविष्यस्यशुभात्संसारात् ॥१६॥

ननु सर्वलोकप्रसिद्धत्वादहमेवैतज्जानामि देहेन्द्रियादिव्यापारः कर्म, तूष्णीमासनमकर्मेति, तत्र किं त्वया वक्तव्यमिति। 'तत्राऽऽह'—'कर्मणः' इति। हि-यस्मात्कर्मणः शास्त्रविहितस्यापि

शङ्का—क्या कर्म विषयमें कुछ सन्देह भी है जिस कारण बहुत अनुरोध कर रहे हो कि पूर्व लोगोंने कर्म किये हैं इसलिये तुम भी कर्म करो ?

समाधान—हाँ, है जैसे—नौकामें बैठे हुए पुरुषको क्रिया रहित तीर वृक्षोंमें चलनभ्रम होता है, नौकाकी गति वृक्षोंमें प्रतीत होती है मानों वृक्ष ही चल रहे हैं तथा गतिमान् दूरस्थ पुरुषमें यह नहीं चलता है ऐसा भ्रम होता है, अक्रियावान्में क्रियाका और क्रियावान्में अक्रियाका भ्रम होता है। यह लोकमें प्रसिद्ध उदाहरण है। परमार्थतः क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी विमुग्ध होते हैं। निर्णयमें असमर्थ रहे क्योंकि इस विषयका निर्णय अति कठिन है अतः तुमसे कर्म अकर्मका भेद कहेंगे। 'वक्ष्यामि' न करके प्रवक्ष्यामि कहा। 'प्र' का तात्पर्य संशयनिवर्तक कथनमें है जिस कर्माकर्मके स्वरूपको जानकर संसारसे मुक्त हो जावोगे ॥ १६ ॥

शङ्का—सर्वलोक प्रसिद्ध कर्माकर्मको हम स्वयं जानते ही हैं देहेन्द्रियादि व्यापारकर्म है, चुप निष्क्रिय बैठना अकर्म है इसमें अधिक आपको क्या कहना है ?

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष प्रतिषिद्ध या विहित देहेन्द्रियादि व्यापार रूप कर्ममें अकर्म अर्थात् अकर्ता आत्माको निश्चल क्रिया रहित देखे और अकर्ममें कर्म अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखे वह मनुष्योंमें बुद्धिमान है। वह योगी सफल कर्मोंका करने वाला है।

तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणश्च-प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणश्च-तूष्णींभावस्य। अत्र वाक्यत्रयेपि [बोद्धव्यं] तत्त्वमस्तीत्यध्याहारः। यस्माद्गहना-दुर्ज्ञाना। 'कर्मणः' इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणां गतिः-तत्त्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वमिति, तदाह—'कर्मणि' इति। कर्मणि-देहेन्द्रियादि-व्यापारे विहिते प्रतिषिद्धे चाहं करोमीति धर्म्मा[र्म्य]ध्यासेनाऽऽत्मन्यारोपिते नौस्थेनाचलत्सु तटस्थवृक्षादिषु समारोपिते चलन् इवाकर्त्रात्मस्वरूपालोचनेन वस्तुतः कर्माभावं तटस्थवृक्षादिष्विव यः पश्येत्-पश्यति। तथा देहेन्द्रियादिषु त्रिगुणमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेषु

समाधान—शास्त्रविहित कर्मका तत्त्व समझना चाहिये। प्रतिषिद्ध कर्म विकर्म है। तूष्णींभाव कुछ न करना अकर्म है इनके भी तत्त्व जानना चाहिए इन तीनों वाक्योंमें [बोद्धव्यका] अध्याहार है, कर्म, विकर्म, अकर्म इन तीनों की गति यथार्थ स्वरूप गहन है अति कठिन है' कर्मणः यह उपलक्षण है उक्त तीनोंका तत्त्व दुर्ज्ञेय है ॥ १७ ॥

कर्मादि का तत्त्व कैसा है? इसको बतलाते हैं 'कर्मणः' इत्यादि से। देहेन्द्रियादि व्यापार विहित हो या प्रतिषिद्ध हो उसमें मैं करता हूँ यह धर्माध्यास आत्मामें आरोपित है, देहेन्द्रियादिका आत्मामें तादात्म्याध्यास - तादात्म्यका आरोप है इसीसे 'अहं गौरः बधिरः' इत्यादि प्रतीतियां होती हैं, तादात्म्याध्यास होने पर तद्धर्म कर्तृत्वादिका आरोप होता है जैसे लोहे में अग्नि तादात्म्याध्यास होनेपर तद्धर्म दाहादिका आरोप कर 'अयो दहति' यह प्रयोग होता है वैसे ही मैं करता हूँ यह भी प्रतीति आरोपित कर्तृत्वविषयक है, नौकास्थ पुरुष निश्चल तटस्थ वृक्षों में चलनारोपके समान अकर्ता आत्मस्वरूप का निश्चय करने से वस्तुतः क्रिया रहित तीरस्थ वृक्षों के समान कर्मों का अभाव देखता है तथा माया परिणाम अतएव सदा सव्यापार देहेन्द्रियादिमें व्यापारोंका अभाव यानी चुप बैठे है कुछ नहीं करते हैं इस अभिमान से आरोपित अकर्म में और व्यापाराभावदशा में एवं दूरस्थ चक्षुः सन्निकृष्ट चलते पुरुषमें गमनाभाव के समान हर समय में व्यापार सहित देहेन्द्रियादि स्वरूपका अवधान कर वस्तुतः कर्माभाव रूप

निर्व्यापारस्तूष्णीं सुखमास इत्यभिमानेन समारोपितेऽकर्मणि व्यापारोपरमे दूरस्थचक्षुः-संनिकृष्टपुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमन इव सर्वदा सव्यापारदेहेन्द्रियादिस्वरूपपर्यालोचनेन वस्तुगत्या कर्म निवृत्त्याख्यप्रयत्नरूपं व्यापारं यः पश्येदुदाहृतपुरुषेषु गमनमिव। औसीदन्यावस्थायामप्युदासीनोऽहमास इत्यभिमान एव कर्म। एतादृशः परमार्थदर्शी स बुद्धिमानित्यादिना बुद्धिमत्त्व-योगयुक्तत्व-सर्वकर्मकृत्त्वैस्त्रिभिर्धर्मैः स्तूयते। अत्र प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वम्, कर्मशब्दस्य विहितप्रतिषिद्धपरत्वात्, द्वितीयपादेन चाकर्मणस्तत्त्वं दर्शितमिति द्रष्टव्यम्। तत्र यत्त्वं मन्यसे कर्मणो बन्धहेतुत्वात्तूष्णीमेव मया सुखेन स्थातव्यमिति, तन्मृषा। असति कर्तृत्वाभिमाने, विहितस्य प्रतिषिद्धस्य वा कर्मणो बन्धहेतुत्वाभावात्। तथा च व्याख्यातम् 'न मां कर्माणि लिम्पन्ती'त्यादिना। सति च कर्तृत्वाभिमाने तूष्णीमहमास इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यत्कर्म, तदपि बन्धहेतुरेव, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। तस्मात्कर्मविकर्माकर्मणां तत्वमीदृशं ज्ञात्वा विकर्माकर्मणी परित्यज्य, कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिहानेन विहितं कर्मैव कुर्वित्यभिप्रायः।

प्रयत्न देखें, और जैसे दूरस्थ पुरुषमें चलन है पर दूरस्थ दोषसे तदभाव देख पड़ता वैसे ही कर्माभाव सदा कर्मशील देहादि में देखें।

प्रश्न—उदासीन अवस्था में कोई कर्म नहीं रहता उस समय आरोपित कर्माभाव कैसे। क्योंकि उस समय तो तदभाव वास्तविक ही है!

उत्तर—उदासीन मैं हूं यह अभिमान ही है एतादृश परमार्थदर्शी पुरुष सब मनुष्योंमें बुद्धिमान एवं योगयुक्त है वही सकल साधु कर्म करता हैं बुद्धिमत्त्व योगयुक्तत्व सकलकर्म कर्तृत्वसे उसी की स्तुति करते हैं, यहां पर प्रथम पादसे कर्म विकर्म का तत्त्व, कर्म शब्द विहितप्रतिषिद्धपरक है, द्वितीय पादसे अकर्मका स्वरूप दिखलाया यह समझना, इसमें जो आप यह समझते है कि कर्म बन्धहेतु है यदि उसको न कर चुप बैठे रहेंगे तो सुखसे रहेगें यह समझ असत्य है, कर्तृत्वाभिमान न रहने पर विहित या प्रतिषिद्ध कर्म बन्धहेतु नहीं होता यह पूर्व में भगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' इत्यादि से, कर्तृत्वाभिमान रहने पर मैं निवृत्तव्यापार बैठा हूं, औदासीन्याभिमानात्मक जो कर्म हैं यह भी बन्धन का हेतु है क्योंकि वस्तुतत्त्व का परिज्ञान नहीं है जब तक वस्तुत्त्व का परिज्ञान न होगा तब तक पुरुष कर्मशून्य नहीं रह सकता अतः कर्म, विकर्म और अकर्म का तत्त्व ईदृश है यह जानकर विकर्माकर्मका परित्याग कर कर्तृत्वाभिमान फलाभिसन्धिका त्याग कर विहित कर्म ही करो यह अभिप्राय है।

अपरा व्याख्या—कर्मणि-ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतम् सर्वभ्रमाधिष्ठानम्, अकर्म-अवेद्यं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत्। तथाऽकर्मणि-च स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म - दृश्यं मायामयं न परमार्थसत्, दृग्दृश्ययोः सम्बन्धानुपपत्तेः।

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते'॥ ईश-उ-६, इति श्रुतेः॥

एवं परस्पराध्यासेऽपि शुद्धं वस्तु यः पश्यति मनुष्येयु मध्ये, स एव बुद्धिमान्, नान्यः, अस्य परमार्थदर्शित्वात्, अन्यस्य चापरमार्थदर्शित्वात्। स च बुद्धिसाधनयोगयुक्तोऽन्तकरण-शुद्धया एकाग्रचित्तः। अतः स एवान्तकरणशुद्धिसाधनकृत्स्नकर्मकृदिति वास्तवधर्मैरेव स्तूयते। यस्मादेवम्, तस्मात्त्वमिपि परमार्थदर्शी भव, तावतैव कृत्स्नकर्मकारित्वोपपत्तेरित्यभिप्रायः। अतो यदुक्तं 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभादि'ति, यच्चोक्तं कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति, सः बुद्धिमानित्यादिस्तुतिश्च, तत्सर्वं परमार्थदर्शने संगच्छते। अन्यज्ञानादशुभात्संसारान्मोक्षानुप-पत्तेः। अतत्वं चान्यन्न बोद्धव्यं न वा तज्ज्ञाने बुद्धिमत्वमिति युक्तैव परमार्थदर्शिनां व्याख्या। यत्तु व्याख्यानम्-कर्मणि नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत्।

दूसरी व्याख्या ज्ञानकर्म दृश्य जड़ में सद्रूप से तथा प्रकाश रूप से जो अनुस्यूत है वहां सब विभ्रमों-का अधिष्ठान है एवं परमार्थ दृष्टि से स्वप्रकाश चैतन्य को जो देखता है तथा अकर्म स्वप्रकाश ज्ञानरूप वस्तु में कल्पित कर्म दृश्य मायामय है परमार्थ सत् नहीं कारण दृक् और दृश्यका सम्बन्ध ही नहीं बन सकता 'यस्तु सर्वाणि' इत्यादि श्रुति में यह स्पष्ट किया गया है इसी तरह परस्पराध्यास में शुद्ध वस्तुको जो देखता है वही मनुष्यों के मध्य में बुद्धिमान् है दूसरा नहीं यही परमार्थदर्शी है अन्य सब अपरमार्थदर्शी हैं, वह बुद्धिसाधनयोगयुक्त अन्तःकरण शुद्धिसे एकाग्रचित्त अतः वही अन्तःकरण शुद्धि साधन सकल कर्मों का कर्ता है इस प्रकार वास्तव धर्म से स्तुति है क्योंकि पूर्वोक्त परमार्थदर्शी स्तुत होता है अतः तुम भी परमार्थदर्शी बनो, उसी से सकल धर्मकारित्व की उपपत्ति होगी इस कारण से जो कहा 'यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' और जो कहा कर्मादिका तत्त्व जानना चाहिए वह बुद्धिमान् है इत्यादि स्तुति यह सब परमार्थ दर्शन में सङ्गत होती है अन्य ज्ञान से अशुभमय संसार से निवृत्ति नहीं हो सकती, अन्य अतत्त्व को नहीं समझना चाहिए और न उस ज्ञान से बुद्धिमत्व ही है, अतः परमार्थदर्शियों की व्याख्या ही युक्त है

तथाऽकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति यः पश्येत्, स बुद्धिमानित्यादि। तदसंगतमेव। नित्यकर्मण्यकर्मेदमिति ज्ञानस्याशुभमोक्षहेतुत्वाभावात्, मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यैवाशुभत्वाच्च। न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वम्, नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्वादिस्तुत्युपपत्तिः, भ्रान्तत्वात्। नित्यकर्मानुष्ठानं हि स्वरूपतोऽन्तःकरणशुद्धिद्वारोपयुज्यते, न तत्राकर्मबुद्धिः कुत्राप्युपयुज्यते, शास्त्रेण नामादिषु ब्रह्मदृष्टिवदविहितत्वात्। नापीदमेव वाक्यम् तद्विधायकम्, उपक्रमादिविरोधस्योक्तेः। एवं नित्यकर्माकरणमपि स्वरूपतो नित्यकर्मविरुद्धकर्मलक्षकतयोपयुज्यते, न तु तत्र कर्मदृष्टिः क्वाप्युपयुज्यते। नापि नित्यकर्माकरणात्प्रत्यवायः, अभावाद्भावोत्पत्त्ययोगात्। अन्यथा तदविशेषेण सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते' मी० द० २-१-१-इति न्यायेन भावार्थ-

---

जो व्याख्यान है, नित्य कर्म परमेश्वरार्थ किये जाते हैं उनको अबन्धक होने से अकर्म जाने क्योंकि कर्म बन्धन हेतु ही होता है जो बन्धन हेतु नहीं वह कर्म नहीं ईश्वरार्पण बुद्धि से जो निरभिसन्धि कर्म किया जाता है उस अबन्ध हेतु कर्म को अकर्म ही जानना चाहिए एवं अकर्म नित्य कर्मानुष्ठानाभाव में प्रत्यवाय हेतु होने से यह कर्म है यह जो देखे सो बुद्धिमान् है इत्यादि असङ्गत है, नित्यकर्म को यह अकर्म है इस दर्शन से संसार से मुक्ति नहीं हो सकती मिथ्या होने से वह ज्ञान ही अशुभ है यह मिथ्या ज्ञान वोद्धव्य तत्त्व नहीं और न ऐसे ज्ञान से बुद्धिमत्वादि स्तुति ही हो सकती है क्योंकि यह तो मिथ्या ज्ञान है नित्य कर्मानुष्ठान करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है 'अकर्म बुद्धि से उसमें क्या उपयोग जो स्वरूप से कारण है उसमें बुद्धि का क्या उपयोग, वह्नि स्वरूप से दाह कारण है उसमें अबुद्धि बुद्धि होने पर भी यदि स्वरूप से है तो, अवश्य दाह होगा चाहे जो बुद्धि हो।

शङ्का—जैसे 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुति से अब्रह्मनाम में ब्रह्म दृष्टि का विधान तत्वज्ञानोत्पत्ति के लिए किया गया है तथा प्रकृत में भी विधान ज्ञानोपयोगी प्रयोगों के लिए हो सकता है ?

समाधान—नामादि में तत्फल के लिए ब्रह्मदृष्टि का उक्त शास्त्र से विधान है प्रकृत में किसी शास्त्र से उक्त नहीं विधान है।

शङ्का—वाक्यान्तर न सही यही वाक्य उक्त का विधायक है। उपक्रमादि विरोध होगा यह कह चुके हैं—इसी प्रकार नित्य कर्मानुष्ठानाभावस्वरूप से नित्यकर्म विरुद्ध कर्म लक्षक होने से उपयुक्त होता है, उसमें कर्म दृष्टि का तो कहीं भी उपयोग नहीं और जो नित्य कर्म न करने से प्रत्यवाय कहा सो भी ठीक नहीं, कारण अभावसे कहीं भावकी उत्पत्ति नहीं होती अन्यथा सदा नित्यकर्म नहीं होता काल विशेषमें ही होता है, कालान्तरमें तदभाव है अतः प्रत्यवाय ही होता रहेगा। पूर्वमीमांसामें दूसरा अध्यायके आरम्भमें

स्यैवापूर्वजनकत्वात् । 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' इत्यादावपि संकल्पविशेषस्यैवापूर्वजनकत्वाभ्युपगमात्, 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादिप्रजापतिव्रतवत् । अतो नित्यकर्मानुष्ठानार्हे काले तद्विरुद्धतया यदुपवेशनादि कर्म, तदेव नित्यकर्माकरणोपलक्षितं प्रत्यवायहेतुरिति वैदिकानां सिद्धान्तः । अत एव 'अकुर्वन्विहितं कर्मे'त्यत्र लक्षणार्थे शता व्याख्यातः, 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' अ. ३-पा. २-१२५ इत्यविशेषस्मरणेऽप्यत्र हेतुत्वानुपपत्तेः । तस्मान्मिथ्यादर्शनापनोदे प्रस्तुते मिथ्यादर्शनव्याख्यानं न शोभतेतराम् । नापि नित्यानुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यम्, नित्यानि कुर्यादित्यर्थे 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदि' त्यादि भाष्य एव विस्तरेण व्याख्यातमित्युपरम्यते ॥ १८ ॥

भावार्थाधिकरणमें लिखा है 'भावार्थाः कर्म शब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत एष ह्यर्थो विधीयते' इस न्यायसे भावार्थ-धात्वर्थ ही अपूर्वजनक माना गया है 'नाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यहाँपर तदग्रहणसंकल्प ही अपूर्वजनक है ग्रहणा भाव नहीं । प्रजापति व्रतके विषय में लिखा है 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तंयन्तं कदाचन' यहां पर अनीक्षण संकल्प ही अनुष्ठेय है वही अपूर्वजनक है, ईक्षणाभाव कृतिसाध्य नहीं हो सकता अतएव विवक्षित नहीं, यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है इसलिए दृष्टान्त रूपसे कहा गया है ?

शङ्का—तो फिर नित्य कर्म न करनेसे प्रत्यवाय कैसे कहा जाता है ?

समाधान—नित्यकर्मानुष्ठानके समय कर्म न कर बैठना तद्व्यापारशून्य बैठना ही भावरूप होनेसे प्रत्यवाय जनक है अथवा उस कालमें नित्य कर्म न कर अनुष्ठीयमान कर्मान्तर ही प्रत्यवायका कारण है, उस कालका नित्यकर्माकरण नहीं वह किसीका कारण हो नहीं है, अतएव श्रुतिमें कहा–'कथमसतः सज्जायेत' छा० उ० अ० ६-२-२ यह आश्चर्य प्रकट किया गया है अतः नित्यकर्माकरणोपलक्षित उपवेशनादि प्रत्यवायजनक है यह वैदिक सिद्धान्त है अतएव अकुर्वन् विहितं कर्म' यहां लक्षणमें 'अकुर्वन्' यह शतृ-प्रत्ययान्त लिखा गया है, कर्म त्याग कर उदासीन बैठना ही प्रत्यवायजनक है यह उक्त प्रत्ययान्तका तात्पर्य है ?

प्रश्न—'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' का इस पाणिन्याचार्यके सूत्रसे अकुर्वन् यहां लक्षणमें शतृ प्रत्यय है यद्यपि लक्षण और हेतु दोनों अर्थोमें शतृप्रत्ययका विधान समानरूपसे है, हेतुमें नहीं यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर—प्रयोगान्तरमें वहां लक्षण हेतु दोनों में विवक्षाके भेदसे उक्तप्रत्यय होता है । जहां दोनोंमें उपपत्ति होती हैं । हेतुमें यहां तदनुपपत्तिसे तदविवक्षा है अनुपपत्ति अभावसे भाव नहीं होता यह कहा ही है । मिथ्या दर्शनके निराकरण प्रसङ्गमें मिथ्या दर्शनकी व्याख्या शोभित नहीं होती और न नित्य कर्मानुष्ठानपरक ही यह वाक्य है नित्य कर्मोंको करना वह अर्थ 'कर्मण्यकर्मयः' इत्यादि वाक्यसे नहीं प्रतीत होता अप्रत्यायक वाक्यके प्रयोगसे भगवान्में प्रतारकत्वापत्ति होगी इत्यादि भाष्यमें विस्तारपूर्वक कहा गया है अतः इस निरूपणसे उपरत होता हूँ ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

जिसके सभी कर्म फल तृष्णा और संकल्प यानी कर्तृत्वाभिमानसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूपी अग्नि से जले हुए कर्मवाले व्यक्तिको विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

जो कर्म एवं फलमें आसक्ति त्याग कर परमानन्दलाभसे सर्वत्र निराकांक्ष तथा देहेन्द्रियादि अभिमान से शून्य रहता है। वह कर्ममें प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

तदेतत्परमार्थदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावेन कर्मालिप्तत्वं प्रपञ्च्यते **'यस्येत्यादिना' ब्रह्मकर्मसमाधि नेत्यन्तेन** इति। यस्य-पूर्वोक्तपरमार्थदर्शिनः सर्वे-यावन्तो वैदिका लौकिका वा समारम्भाः-समारभ्यन्त इति व्युत्पत्त्या कर्माणि कामसंकल्पवर्जिताः कामः-फलतृष्णा, संकल्पः-अहं करोमीति कर्तृत्वभिमानः, ताभ्यां वर्जिताः। लोकसंग्रहार्थं वा जीवनमात्रार्थं वा प्रारब्धकर्मवेगाद्वृथाचेष्टारूपा भवन्ति। तम्-कर्मादावकर्मादिदर्शनम्-ज्ञानं तदेवाग्निः, तेन दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य, 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' ४-१-१३-इति न्यायात्, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं बुधाः-ब्रह्मविदः परमार्थतः पण्डितमाहुः। सम्यग्दर्शी हि पण्डित उच्यते, न तु भ्रान्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥

परमार्थदर्शीमें कर्तृत्वका अभिमान न रहनेसे कर्मलेप नहीं होता इसीका प्रपञ्च-विस्तार आगे करते हैं 'ब्रह्मकर्म समाधिना' यहाँतकके ग्रन्थसे जिन परमार्थ दर्शियोंके जितने लौकिक या वैदिक समारम्भकर्म कामसंकल्प रहित है, काम फलतृष्णा संकल्प-मैं करता हूं यह कर्तृत्वाभिमान इन दोनोंसे रहित है लोक संग्रहार्थ शरीरयात्रोपयोगी प्रारब्धकर्मबलसे वृथा चेष्टा रूप होते हैं। वही कर्मादि में अकर्मादिदर्शन ही अग्नि है, उससे भस्म हो गये हैं, शुभाशुभकर्म जिसका उसको ब्रह्मवेत्ता लोग पण्डित कहते हैं, अशेषकर्म दाहमें 'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' वेदान्त सूत्र प्रमाण है आत्मज्ञानसे पूर्व कर्मका विनाश और उत्तर-अग्रिम कर्मका असंसर्ग होता है, यद्यपि अघ शब्द पाप वाची हैं तथापि बन्धकत्वेन कर्म सामान्यपरक है इससे पुण्यका भी संग्रह सिद्ध होता है, समीचीनदर्शी पण्डित माना जाता है भ्रान्त नहीं ॥ १९ ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

तृष्णा रहित एवं अन्तःकरण और इन्द्रिय सहित देहको संयत रखने वाला तथा सभी भोग सामग्रियोंका त्यागने वाला केवल शरीर संबन्धी कर्म करता हुआ भी पापभागी नहीं होता ॥ २१ ॥

भवतु ज्ञानाग्निना प्राक्तनानामप्रारब्धकर्मणां दाहः, आगामिनां चानुत्पत्तिः । ज्ञानोत्पत्तिकाले क्रियमाणं तु पूर्वोत्तरयोरनन्तर्भावात्फलाय भवेदिति कस्यचिदाशङ्का, तामपनुदति—'त्यक्त्वा' इति । कर्मणि फले चाऽऽसङ्गम्-कर्तृत्वाभिमानम्, भोगाभिलाषञ्च त्यक्त्वा-अकर्त्रभोक्त्रात्मसम्यग्दर्शनेन बाधित्वा नित्यतृप्तः - परमानन्दस्वरूपलाभेन सर्वतः निराकाङ्क्षः । निराश्रयः-आश्रयः-देहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शनेन निर्गतो यस्मात्, स निराश्रयः-देहेन्द्रियाद्यभिमानशून्यः । फलकामनायाः, कर्तृत्वाभिमानस्य च निवृत्तौ हेतुगर्भं क्रमेण विशेषणद्वयम् । एवंभूतो जीवन्मुक्तो व्युत्थानदशायां कर्मणि-वैदिके लौकिके वाऽभिप्रवृत्तोऽपि-प्रारब्धकर्मवशाल्लोकदृष्ट्याऽभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किंचित्करोति सः, निष्क्रियात्मदर्शनेन बाधितत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

यदाऽत्यन्तविक्षेपहेतोरपि ज्योतिष्टोमादेः सम्यग्ज्ञानवशान्न तत्फलजनकत्वम्, तदा शरीरस्थितिमात्रहेतोरविक्षेपकस्य भिक्षाटनादेर्नास्त्येव बन्धहेतुत्वमिति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह—

शङ्का—अच्छा ज्ञानाग्निसे प्रारब्ध व्यतिरिक्त पूर्वकर्मोंका दाह हो तथा उत्तर कालिककर्मोकी अनुत्पत्ति हो पर ज्ञानोत्पत्तिकालमें जो कर्म होते हैं उनका पूर्वोत्तर कर्मोंमें समावेश नहीं है अतः वे फलप्रद होंगे यह किसी की शंका हो तो उसका निराकरण करते हैं 'त्यक्त्वे'तिसे । कर्मारम्भमें और फलमें क्रमशः असंग तथा कर्तृत्वाभिमान भोगाभिलाषका त्याग कर अकर्ता अभोक्ता आत्मा है इस समीचीन ज्ञानसे बाधित कर नित्य तृप्त होकर परमानन्द लाभसे सब विषयोंसे निराकांक्ष निस्पृह होता है । निराश्रय आश्रय देहेन्द्रियादि अद्वैत दर्शनसे देहेन्द्रियादिका निराकरण कर ज्ञानी निराश्रय होता है अर्थात् देहेन्द्रियादि-के अभिमानसे रहित होता है जीवन्मुक्त दशामें देहादि रहते ही है उक्त निरास विदेह कैवल्यमें होता है फल कामना और अभिमान निवृत्तिमें क्रमसे हेतु घटित दोनों विशेषण हैं ईदृश जीवन्मुक्त समाधिके उपरम-दशामें लौकिक तथा वैदिक कर्ममें प्रवृत्त होकर प्रारब्ध कर्मबलसे लोकदृष्टिसे प्रवृत्त होकर भी स्वदृष्टिसे वह कुछ नहीं करता निष्क्रियात्मदर्शनसे सब कर्म बाधित हो जाते हैं ॥ २० ॥

जब अति विक्षेपहेतु ज्योतिष्टोमादि सम्यग् ज्ञान वशसे फलप्रद नहीं होते तब स्वशरीर स्थिति हेतु

'निराशीः' इति। निराशीः-गततृष्णः यतचित्तात्मा-चित्तमन्तःकरणम्, आत्मा-बाह्येन्द्रियसहितः देहः तौ संयतौ-प्रत्याहारेण निगृहीतौ येन, सः। यतो जितेन्द्रियः, अतो विगततृष्णत्वात्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः-त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा भोगोपकरणानि येन, सः। एतादृशोऽपि प्रारब्धकर्मवशाच्छा-रीरम्-शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कौपीनाच्छादनादिग्रहण-भिक्षाटनादिरूपं यतिं प्रति शास्त्राभ्य-नुज्ञातं कर्म कायिकम्, वाचिकम्, मानसं च, तदपि केवलं-कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपित-कर्तृत्वेन कुर्वन्परमार्थतोऽकर्त्रात्मदर्शनान्नाऽऽप्नोति-न प्राप्नोति किल्बिषम्-धर्माधर्मफलभूतमनिष्टं संसारम्, पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टफलत्वेन किल्बिषत्वात्।

ये तु शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमिति व्याचक्षते, तन्मते केवलं कर्म कुर्वन्नित्यतोऽधिकार्था-लाभादव्यावर्तकत्वेन शारीरपदस्य वैयर्थ्यम्। अथ वाचिकमानसिकव्यावर्तनार्थमिति ब्रूयात्, तदा कर्मपदस्य विहितमात्रपरत्वेन शारीरं विहितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमिति

अविक्षेपक भिक्षाचरणादि फलप्रदानद्वारा बन्धक नहीं होते, यह कैमुतिन्याय सिद्ध हैं इस आशयसे कहते हैं 'निराशीर्गतस्पृहः' यतचित्तात्मा चित्त-अन्तःकरण आत्मा बाह्येन्द्रिय सहित देह ये दोनों संयत विषय पराङ्-मुखसे निगृहीत स्ववशीभूत हैं क्योंकि वह जितेन्द्रिय है इसलिये विगततृष्ण होकर सर्व परिग्रह यानी सकल भोग साधनोंको छोड़ दिया है ऐसा होने पर भी प्रारब्ध कर्मवश शरीरस्थितिमात्रके प्रयोजनसे कौपीनाच्छादनको ग्रहणकर भिक्षाटनादि करनेवाले संन्यासीका शास्त्रविहित कर्म कायिक, वाचिक, मानसिक है उसको भी कर्तृत्वाभिमानशून्य दूसरे लोग उसमें कर्तृत्वका आरोप कर कर्ता कहते हैं किन्तु वास्तविक कर्ता नहीं है अकर्त्रात्मज्ञानसे पाप नहीं लगता पाप यहाँ धर्माधर्मका बोधक है सो दुःखमय संसारमें ही होता है।

शंका—अधर्मफल संसारमें दुःखमय हो किन्तु धर्मका फल तो सांसारिक सुख होना चाहिए क्योंकि किल्विष नहीं लगता है इसको भगवान् भी कहते हैं। 'पापं किल्बिषकल्मषम्' इस अमरकोशसे उक्त शब्द पुण्यका बोधक नहीं ?

उत्तर—यहां किल्बिष शब्द अनिष्टार्थक है। तत्वज्ञानीको पापके समान पुण्य भी बन्धक होनेसे अनिष्ट है अतः वह भी किल्बिष ही है।

जो किसीने व्याख्यान किया है कि शरीर निर्वर्त्य-शरीरसाध्यकर्म शारीर है उनके मतमें 'केवलं कर्म कुर्वन्' इससे अधिकार्थका लाभ नहीं है अतः शरीर पद अव्यावर्तक होनेसे व्यर्थ हो जायगा, यदि कहो कि वाचिक मानसकी व्यावृत्तिके लिए शारीर विशेषण है तो कर्मशब्द विहितमात्र परक होनेसे विहितं कर्म करते हुये पाप नहीं पाता यह अर्थ होगा यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानीको शास्त्र विहित शारीर कर्म प्रसक्त ही

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

प्रयत्नके विना प्राप्त वस्तुसे सन्तुष्ट और हर्षशोकादि द्वन्द्वोंसे रहित तथा ईर्ष्यासे शून्य सिद्धि और असिद्धिमें सम रहने वाला पुरुष कर्मोंको करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥

अप्रसक्तप्रतिषेधोऽनर्थकः । वाचिकं मानसं च विहितं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषमिति च शास्त्रविरुद्धमुक्तं स्यात् । विहितप्रतिषिद्धसाधारण्यपरत्वेऽप्येवमेव व्याघात इति भाष्ये एव विस्तरः ॥ २१ ॥

नहीं फिर उसका निषेध ही व्यर्थ है वाचिक मानसिक विहित कर्म करता हुआ ज्ञानी किल्बिष पाता है यह अर्थ शास्त्र विरुद्ध है, विहित प्रतिषिद्ध साधारण परक होनेमें यही व्याघात है यह भाष्यमें ही विस्तर है ॥ २१ ॥

किञ्चसे भाष्यकारने विकल्प किया हैं—क्या शारीर-साध्यकर्म शारीर है अथवा शरीरस्थितिमात्रप्रयोजन शारीर कर्म इष्ट है, शरीर साध्यकर्म शारीर है इस पक्षमें क्या दोष है, शरीर स्थितिमात्र प्रयोजन शारीर हैं उस अभिप्रायसे पूर्ववादी पूछता है ।

उत्तर—सुनिये कहते हैं, शरीर साध्य जो कर्म है सो क्या प्रतिषिद्ध हैं अथवा विहित । प्रथममें विरोध है क्योंकि प्रतिषिद्धाचरण करनेपर अनिष्ट न होगा तो प्रतिषेधशास्त्र विरोध स्पष्ट है, द्वितीय पक्षमें विहित कर्म करने पर ज्ञानीको अनिष्ट प्राप्ति नहीं होती यह अप्राप्त प्रतिषेध है क्योंकि ज्ञानीको कर्मका विधान ही नहीं, यदि है भी तो विहित कर्म व्यर्थ है, शास्त्रीय दृष्टप्रयोजनसे कर्म 'यदि कारीर्या वृष्टिकामो यजेत' इस वाक्यसे विहित है अदृष्ट प्रयोजन स्वर्गादिसाधन ज्योतिष्टोमादि है, शरीर साध्यकर्म शारीर है इस पक्षमें दूसरा भी दोष कहते हैं केवल शारीर कर्म यहाँ केवल विशेषणसे वाणी तथा मनसे साध्य विधिप्रतिषेधविषय धर्माधर्म शब्द वाच्य करता हुआ संन्यासी पापभागी होगा यह फलितार्थ हुआ ।

शङ्का—वाणी और मनसे भी अकर्म करनेसे संन्यासीको पाप होता ही है इसमें सन्देह ही क्या ।

उत्तर—विकल्पसे देते हैं क्या वाक्‌मनसे विहितानुष्ठानमें पाप प्राप्ति है अथवा प्रतिषिद्धानुष्ठानमें । प्रथम पक्षमें ध्यान विधि विरोध स्पष्ट है, द्वितीयपक्षमें सत्यार्थानुवादमात्र अनर्थक है, वाक् तथा मनसे भी निषिद्ध कर्मका अनुष्ठान करनेसे संन्यासीको पातक होता है यह निश्चितार्थ ही है फिर इसके अनुवादसे क्या प्रयोजन ? शरीरनिर्वर्त्य कर्म शारीर है इस पक्षका निराकरण कर द्वितीय पक्षमें लाभ दिखाते है । यदि शरीर स्थितमात्रप्रयोजन शारीर कर्म मानते हैं तो दृष्टादृष्ट प्रयोजनसे कर्मविधि प्रतिषेधविषय शरीर वाग्मनसे करने योग्य है परन्तु शरीर स्थितिमात्रप्रयोजनसे भिन्न है उनके विना शरीर स्थिति बाधा नहीं उनको न करता हुआ संन्यासी उन्हीं शरीरादि कैसे शरीर स्थितिमात्रप्रयोजन मानता है केवल विशेषणसे अहंकारी 'मैं' इस अभिमानसे रहित लोक दृष्टिसे शरीर चेष्टामात्र कर्म करता हुआ संन्यासी पातकी नहीं होगा यह भाष्यका विस्तृत अर्थ है ।

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कर्माभ्यनुज्ञातम्, तत्रान्नाच्छादनादिव्यतिरेकेण शरीरस्थितेरसंभवाद्याच्ञादिनाऽपि स्वप्रयत्नेनान्नादिकं संपाद्यमिति प्राप्ते नियमायाऽऽह—'यदृच्छा' इति । शास्त्राननुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा, तयैव यो लाभोऽन्नाच्छादनादेः शास्त्रानुमतस्य, स यदृच्छालाभः, तेन संतुष्टः-तदधिकतृष्णारहितः । तथा च शास्त्रं 'भैक्षं चरेत्' इति प्रकृत्य 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' इति याच्ञासंकल्पादिप्रयत्नं वारयति । मनुरपि—

'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्' ६-५६- ॥ इति ॥

'यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ती'त्यादिशास्त्रानुमतस्तु प्रयत्नः कर्तव्य एव । एवम् लब्धव्यमपि शास्त्रनियतमेव—

कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्' ॥ इत्यादि ।

एवमन्यदपि विधिनिषेधरूपं शास्त्रमूह्यम् । ननु स्वप्रयत्नमन्तरेणालाभे शीतोष्णादिपीडितः कथं जीवेत् ? अत आह—'द्वन्द्वातीतः' इति । द्वंद्वानि-क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादीनि, अतीतः-

---

सकल भोगसाधन वस्तु के परित्यागी संन्यासीको शरीरस्थितिमात्र प्रयोजन कर्मकी अभ्यनुज्ञा यानी अनुमति शास्त्रमें है, इसमें अन्न वस्त्रके विना शरीर स्थिति नहीं रह सकती अतः याच्ञारूप स्वप्रयत्नसे भी अन्नादि ग्रहण करना यह भी प्राप्त होता है अतः नियमार्थं कहते है—'यदृच्छया' इति। शास्त्रासम्मत प्रयत्नव्यतिरिक लाभ यदृच्छा है उसीसे जो अन्नादिका लाभ हो वही शास्त्रसम्मत यदृच्छा लाभ है उसीसे सन्तुष्ट होकर उससे अधिककी तृष्णासे रहित होना ही शास्त्र माना है। 'भैक्षं चरेत्' इसके प्रकरणमें 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया'। यह शास्त्र याच्ञासंकल्पादि प्रयत्नको मना करता है 'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया' 'नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्'। 'यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्ती'त्यादि शास्त्रानुमत प्रयत्न तो करना ही चाहिए जितना लेना चाहिए यह भी शास्त्रसे नियत है, कौपीनयुगलं वासः कन्था शीतनिवारणीम् 'पादुकेचापि गृह्णीयात् कुर्यान्ननऽन्यस्य संग्रहम्' इत्यादि इसी प्रकार और भी विधि प्रतिषेध शास्त्र समझना।

शंका—आत्मप्रयत्नके विना यदि कन्थादि न मिले तो सरदी गर्मीसे पीडित होकर यति कैसे जीवेगा ?

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

फलासक्तिसे शून्य एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अध्यासरहित ब्रह्मात्मैक्य बोधमें स्थित चित्तवाले पुरुषके यज्ञ के लिये आचरण करते हुए सब कर्म विलीन हो जाते हैं।

अतिक्रान्तः समाधिदशायां तेषामस्फुरणात् । व्युत्थानदशायां स्फुरणेऽपि परमानन्दाद्वितीयाकर्त्रभोक्त्रात्मप्रत्ययेन बाधात्, तैर्द्वन्द्वैरुपहन्यमानोऽप्यक्षुभितचित्तः । अत एव परस्य लाभे, स्वस्यालाभे च विमत्सरः-परोत्कर्षासहनपूर्विका स्वोत्कर्षवाञ्छा-मत्सरः, तद्रहिताऽद्वितीयात्मदर्शनेन निर्वैरबुद्धिः । अत एव समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ च-सिद्धौ न हृष्टः, नाप्यसिद्धौ विषण्णः, स स्वानुभवेनाकर्तैव परैरारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते, बन्धहेतोः सहेतुकस्य कर्मणः ज्ञानाग्निना दग्धत्वादिति पूर्वोक्तानुवादः ॥ २२ ॥

उत्तर—द्वन्द्व क्षुधा, पिपासा सरदी, गर्मी, आदि है इनसे अतीत होकर आगे हो जाय अर्थात् समाधि लगावें उस दशामें इनका भान ही नहीं होगा ये व्युत्थान दशामें ही प्रतीत होते हैं इस समय केवल आत्मा ही का स्फुरण-प्रकाश है।

शंका—ठीक है पर व्युत्थान दशामें तो उनका स्फुरण होगा ही फिर क्या उपाय।

उत्तर—परमानन्दाद्वितीय अकर्ता, अभोक्ता आत्मा है इस ज्ञानसे उक्त द्वन्द्वोंका बाघ हो जाता है यदि कुछ अवशेष रहें तो उनसे पीडित होने पर चित्तमें क्षोभ न करना चाहिए अत एव दूसरेको मिला और अपनेको अन्नवस्त्रादि न मिला इस दशामें भी विमत्सर होना चाहिए।

प्रश्न—मत्सर क्या है।

उत्तर—परोत्कर्ष असहनपूर्वक स्वोत्कर्षवाञ्च्छा मत्सर है तद्रहित होना चाहिए अर्थात् दूसरेके उत्कर्षको न सहकर अपने उत्कर्षको इच्छा ही मत्सर है तदभाववान् ही अद्वितीयात्मज्ञानसे निर्वैरबुद्धि अतएव सम तुल्य यदृच्छा लाभकी सिद्धि असिद्धिमें समान रहे, सिद्धिमें प्रसन्न न हो असिद्धिमें उदास न हो वह अपने अनुभवसे अकर्ता हैं, दूसरा उसमें कर्तृत्वका आरोप करता है, इससे हानि नहीं शरीरस्थितिसाधन भिक्षाचरणादि कर्म करके भी बद्ध नहीं होता, बन्धहेतु सहेतुक कर्मका ज्ञानाग्निसे नाश हो गया है यह पूर्वोक्तानुवाद है ॥ २२ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्पण (मन्त्रादि) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्तासे हवन किया गया ब्रह्म ही है, ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ पुरुष द्वारा प्राप्तव्य भी ब्रह्म हीं है ॥ २४ ॥

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य यतेर्यच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादि-रूपं कर्म, तत्कृत्वा न निबध्यत इत्युक्ते, गृहस्थस्य ब्रह्मविदो जनकादेर्यज्ञादिरूपं यत्कर्म, तत्-बन्धहेतुः स्यादिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का, तामपनेतुं 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमि'त्यादिनोक्तम् विवृणोति—'गतसङ्गस्य' इति । गतसङ्गस्य-फलासङ्गशून्यस्य मुक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्या-सशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसः निर्विकल्पकब्रह्मात्मैक्यबोध एव स्थितं चित्तं यस्य, तस्य स्थित-प्रज्ञस्येत्यर्थः । उत्तरोत्तरविशेषणस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वेनान्वयो द्रष्टव्यः, गतसङ्गत्वं कुतः ? यतोऽध्यासहीनत्वम्, तत्कुतः ? यतः स्थितप्रज्ञत्वमिति । ईदृशस्यापि प्रारब्धकर्मवशाद्यज्ञाय यज्ञसंरक्षणार्थम्, ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रेष्ठाचारत्वेन लोकप्रवृत्त्यर्थम् । यज्ञाय-विष्णवे तत्प्रीत्यर्थमिति वा । आचरतः कर्म यज्ञदानादिकं समग्रं-सहाग्रेन फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते-प्रकर्षेण कारणोच्छेदेन तत्त्वदर्शनाद्विलीयते-विनश्यतीत्यर्थः ॥२३॥

सब परिग्रह भोग साधनका त्यागकर यदृच्छालाभ सन्तुष्ट संन्यासीका शरीरस्थितिहेतु भिक्षाटनादि रूप कर्म करने पर बन्ध नहीं होता यह कहनेसे गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी जनकादिका यज्ञादिरूप जो कर्म हुआ वह बन्ध हेतु होगा यह किसीका शङ्का हो तो उसके निरासके लिए 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमि'त्यादिसे जो कहा उसीका विवरण करते हैं—'गतसंगस्य' इत्यादिसे । फलासक्तिशून्य मुक्त कर्तृत्व भोक्तृत्वादिके अभ्याससे शून्य ज्ञानावस्थित चित्त होकर निर्विकल्प अखण्ड ब्रह्मात्मैक्य बोधमें स्थितचित्त स्थितप्रज्ञका यज्ञके लिए समग्र कर्म नष्ट हो जाता है यह आगेसे अन्वय है । उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व पूर्वका हेतु समझना । गतसंग क्यों ? यतः अध्यास रहितत्व है यही क्यों ? कि वह स्थितप्रज्ञत्व है ईदृश पुरुष धौरेयका प्रारब्ध कर्मवशसे यज्ञके लिये संरक्षणार्थ ज्योतिष्टोमादि यज्ञमें श्रेष्ठाचारतया लोक प्रवृत्तिके लिए । 'यज्ञाय-विष्णवे' अर्थात् विष्णुप्रीत्यर्थं यह भी अर्थ हो सकता है । यज्ञदानादि कर्म है । समग्र शब्द यद्यपि समस्तवाची हैं तथापि यौगिक अर्थसे फल सहित साधनपरक है इस भावसे कहते हैं, 'सहाग्रेणे'ति, समशब्द सर्व पर्याय़ है शकन्ध्वादित्वात्पररूप है, यदि उपसर्ग है तो ठीक ही है वस्तुतः लक्षणासे उक्त शब्द साधनफलोभयपरक है, समं-फलसाधनोभयं ग्रसते इति यहां समग्रं 'ग्रसु अदने भ्वादि है । सहाग्रेण फलेन विद्यते' इस व्युत्पत्तिसे समग्रका फलसहित अर्थ है, प्रविलीन होता है, कारणके नाशसे यानी तत्त्वदर्शनसे विलीन होता है नष्ट होता है यह अर्थ है ॥ २३ ॥

ननु क्रियमाणं कर्म फलमजनयित्वैव कुतो नश्यति ब्रह्मबोधे ? तत्कारणोच्छेदादित्याह—'ब्रह्मार्पणम्' इति। अनेककारकसाध्या हि यज्ञादिक्रिया भवति। देवतोद्देशेन हि द्रव्यत्यागो यागः। स एव त्यज्यमानद्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपाद्धोम इत्युच्यते। तत्रोद्देश्या देवता-संप्रदानम्, त्यज्यमानं द्रव्यं हविःशब्दवाच्यं साक्षाद्धात्वर्थकर्म, तत्फलं तु स्वर्गादि व्यवहितम् भावनाकर्म। एवं धारकत्वेन हविषोऽग्नौ प्रक्षेपे साधकतमतया जुह्वादि करणम्, प्रकाशकतया मन्त्रादि, इति करणमपि कारकज्ञापकभेदेन द्विविधम्'। एवं त्यागः, अग्नौ प्रक्षेपश्च द्वे क्रिये। तत्राऽऽद्यायां यजमानः कर्ता। प्रक्षेपे तु यजमानपरिक्रीतोऽध्वर्युः। प्रक्षेपाधिकरणं चाग्निः, एवं देशकालादिकमप्यधिकरणं सर्वक्रियासाधारणं द्रष्टव्यम्।

शङ्का—क्रियमाण कर्म फलादि विना क्यों नष्ट होता है ?

समाधान—ब्रह्मज्ञान होंने पर कर्मके कारणोंका नाश हो जाता है यही उत्तर ब्रह्मार्पणसे कहा गया है, यागादि क्रिया अनेककारकसाध्य होती है, देवतोद्देश्यक द्रव्यत्याग याग है वही त्यज्यमान द्रव्यका अग्निमें छोड़ना होम है इसमें उद्देश्य देवता सम्प्रदान है क्योंकि उद्देश्य ही को सम्प्रदानसंज्ञा होती है, देवतोद्देश्यक त्यज्यमान द्रव्यको हवि कहते हैं, होममें देवताके द्रव्य देते समय स्वाहा कहा जाता है 'स्वाहा देवहविर्दाने' इत्यादि कोश इसमें प्रमाण है, साक्षात् धात्वर्थ का कर्म हवि होता है फल आख्यातार्थ भावनाका स्वर्गादि कर्म होता हैं 'होमेन स्वर्गं भावयेत्' यह अर्थ 'जुहुयात् स्वर्गकामसे प्रतीत होता है। जुहुयात् में दो अंश है प्रकृत्यंशः प्रत्ययांश प्रकृत्यर्थ होम है, प्रत्ययमें भी दो अंश है लिङ्त्व आख्यातत्व है लिङर्थको शाब्दी भावना कहते हैं तिङर्थको आर्थी भावना कहते हैं, शाब्दी भावनाका कर्म आर्थी भावना है आर्थी भावनाका कर्म स्वर्गादि है। अतः आर्थी भावनाका कर्म : व्यवहित स्वर्गादि हैं इसलिए व्यवहित स्वर्गादि कहा विशेष पूर्वमीमांसामें देखिये। हविको जुहूमें रखकर, अग्निमें अर्थात् प्रक्षेप किया जाता है, प्रक्षेप अग्निमें हवि त्यागका अतिशयेन साधक जुहू है। इस कारण वह करण है, प्रकाशक मन्त्रादि भी करण है, करण दो प्रकारके होते हैं कारक और प्रकाशक, कारक जुह्वादि है प्रकाशक मन्त्रादि, इसी तरह त्याग और अग्निमें प्रक्षेप यहाँ भी दो क्रियायें हैं इनमें प्रथम क्रियामें यजमान कर्ता है द्वितीय क्रिया प्रक्षेपमें दक्षिणासे परिक्रीत अध्वर्यु कर्ता है प्रक्षेपका अधिकरण अग्नि है इसी तरह जिस देश कालमें जो होता है उसका अधिकरण वह देश काल भी होता है यह सब क्रिया साधारण है, कोइ क्रिया किसी देश काल ही में होगी अन्यथा नहीं अतः देश काल सर्व क्रियाओंका साधारण अधिकरण है यह समझना चाहिए।

तदेवं सर्वेषां क्रियाकारकादिव्यवहाराणां ब्रह्माज्ञानकल्पितानां रज्ज्वज्ञानकल्पितानाम् सर्पधारादण्डादीनां रज्जुतत्त्वज्ञानेनेव ब्रह्मतत्त्वज्ञानेन बाधे बाधितानुवृत्त्या क्रियाकारकादिव्यवहाराभासो दृश्यमानोऽपि दग्धपटन्यायेन न फलाय कल्पत इति, अनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते ।

ब्रह्मदृष्टिरेव च सर्वयज्ञात्मिकेति स्तूयते । तथाहि—अर्प्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणम्-जुह्वादि, मन्त्रादि च । एवमर्प्यतेऽस्मा इति व्युत्पत्त्याऽर्पणम्-देवतारूपं संप्रदानम् । एवमर्प्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽर्पणम्-अधिकरणं देशकालादि । तत्सर्वं ब्रह्मणि कल्पितत्वाद् ब्रह्मैव, रज्जुकल्पितभुजंगवदधिष्ठानव्यतिरेकेणासदित्यर्थः । एवं हविस्त्याग-प्रक्षेपक्रिययोः साक्षात्कर्मकारकं, तदपि ब्रह्मैव । एवं यत्र प्रक्षिप्यतेऽग्नौ, सोऽपि ब्रह्मैव । ब्रह्माग्नाविति समस्तं पदम् । तथा येन कर्त्रा यजमानेनाध्वर्युणा च त्यज्यते प्रक्षिप्यते च, तदुभयमपि कर्तृकारकम्, कर्तरि विहितया तृतीययाऽनूद्य ब्रह्मेति विधीयते 'ब्रह्मणे'ति । एवं 'हुतमिति हवनं त्यागक्रिया प्रक्षेपक्रिया च, तदपि ब्रह्मैव, तथा तेन हवनेन यद्गन्तव्यं स्वर्गादि व्यवहितं कर्म, तदपि ब्रह्मैव । अत्रत्य एवकारः सर्वत्र संबध्यते । हुतमित्यत्रापीत एव ब्रह्मेत्यनुषज्यते, व्यवधानाभावात्,

---

इस प्रकार सब क्रिया कारकादि व्यवहार ब्रह्माज्ञानसे ही कल्पित है अतएव ब्रह्मतत्त्वज्ञानसे इनका बाध हो जाता है यथा रज्जुके अज्ञानसे कल्पित रज्जुमें कल्पित सर्प दण्डधारादिकोंका अधिष्ठानभूत रज्जुतत्त्व साक्षात्कारसे बाध होता है ब्रह्मतत्त्व ज्ञानसे बाध होनेपर भी संस्कारसे बाधितोंकी भी प्रारब्ध कर्मवश अनुवृत्ति होती है परन्तु वह क्रिया कारकादि व्यवहार आभासमात्र है शुक्तिरजतके समान अर्थकारी नहीं अतएव दृश्यमान भी वह भस्मीभूत कपड़ेके समान फलदायक नहीं होता यही इस श्लोकसे कहते हैं ।

ब्रह्मदृष्टि ही सर्व यज्ञात्मक है यह स्तुति करते हैं—स्तुति प्रकार कहते हैं 'तथाहि' इत्यादिसे । अर्प्यते अनेन इति करणव्युत्पत्तिसे अर्पण जुह्वादि, मन्त्रादि भी करण है एवं अर्प्यतेऽस्मै इस व्युत्पत्तिसे अर्पण सम्प्रदान देवता है, अर्प्यते आस्मिन्नि त्यधिकरणव्युत्पत्तिसे अर्पण अधिकरण अग्नि देश कालादि ये सब ब्रह्म में कल्पित हैं अतः ब्रह्म ही हैं यथा रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुसे अतिरिक्त नहीं किन्तु तदात्म स्वरूप ही है तथा ब्रह्ममें कल्पित ये सब ब्रह्म स्वरूप ही हैं तदतिरिक्त नहीं तद्व्यतिरिक्तत्वेन असत् है इसी प्रकार हविस्त्याग प्रक्षेप क्रियाओंमें जो साक्षात् कर्म कारक हैं वह भी ब्रह्म ही हैं एवं जिस अग्निमें प्रक्षेप करते हैं वह अधिकरण अग्नि भी ब्रह्म ही है 'ब्रह्माग्नौ' यह समस्त पद है व्यस्त नहीं ब्रह्म चाग्निः ब्रह्माग्निः एवं येन यजमानेन' जो यजमान त्याग करता है तथा अध्वर्युका प्रक्षेप करता है वे दोनों कर्तृकारकसे संगृहीत होते हैं अतएव कर्तृ तृतीयासे दोनोंका अनुवाद कर ब्रह्मका विधान है 'ब्रह्मणा' इससे । एवं 'हुतम्' यह हवन त्याग

साकाङ्क्षत्वाच्च । 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' इत्यादा 'वच्छिद्रेणे' त्यादिपरवाक्यशेषवत् । अनेन रूपेण कर्मणि समाधिः-ब्रह्मज्ञानं यस्य, स कर्मसमाधिः, तेन ब्रह्मविदा कर्मानुष्ठात्राऽपि ब्रह्म परमानन्दाद्वयं गन्तव्यमित्यनुषज्यते, साकाङ्क्षत्वादव्यवधानाच्च । 'या ते अग्नेऽयाशये' त्यादौ 'तनूर्वर्षिष्ठे'न्त्यादिपूर्ववाक्यशेषवत् । अथवाऽर्प्यतेऽस्मै फलायेति व्युत्पत्त्याऽर्पणपदेनैव स्वर्गादिफलमपि ग्राह्यम्, तथा च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इत्युत्तरार्धं ज्ञान-फलकथनायैवेति समञ्जसम्, अस्मिन्पक्षे ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्येकं वा पदम् । पूर्वं ब्रह्मपदं हुतमित्यनेन संबध्यते, चरमं गन्तव्यपदेनेति । भिन्नं वा पदम्, एवं च नानुषङ्गद्वयक्लेश इति द्रष्टव्यम् । ब्रह्म गन्तव्यमित्यभेदेनैव तत्प्राप्तिः, उपचारात् । अत एव न स्वर्गादि तुच्छफलं तेन गन्तव्यम्, विद्ययाऽऽविद्यककारकव्यवहारोच्छेदात् ।

क्रिया और प्रक्षेप क्रिया यह भी दोनों ब्रह्म ही हैं, एवं जिस हवनसे गन्तव्य स्वर्गादि एवं जो देश कालादि व्यवहित कर्म है वह भी ब्रह्म ही है यहांके एवकारका सब जगह सम्बन्ध है। 'हुतम्' यहां पर भी 'ब्रह्मैव'से ब्रह्मका अनुषङ्ग पूर्व स्थितके साथ सम्बन्ध है, हुत ब्रह्मके बीचमें कोई पद नहीं है अतः किसीसे व्यवधान नहीं है पूर्वपदका उत्तर पदके साथ सम्बन्ध अनुवृत्ति कहाती है उत्तरका पूर्वके साथ सम्बन्ध अनुषङ्ग कहाता है हुत और ब्रह्म समान विभक्तिक होनेसे मिथः उद्देश्य विधेय भावसे अन्वित होनेमें साकांक्ष हैं।

शङ्का—पूर्वका उत्तरमें सम्बन्ध तो असकृत् दृष्ट है उत्तरका पूर्वमें सम्बन्ध कहां दृष्ट है ?

उत्तर—'चित्पतिस्त्वा पुनातु' इत्यादिमें 'अच्छिद्रेण' इत्यादि उत्तर वाक्यशेषका सम्बन्ध होता है उसी तरह प्रकृतमें भी समझना । इस रूपसे कर्ममें समाधि है ब्रह्मज्ञान जिसका अर्थात् कर्ममें ही ब्रह्मज्ञान भावना है जिसकी वह कर्म समाधि है उस ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठानकारीको परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म ही गन्तव्य है, इसका अनुषंग है। वह कर्म करने पर भी ब्रह्ममें ही मिलता है उसको स्वर्गादि बन्धन नहीं होता। 'ब्रह्मैव गन्तव्यम्' का सम्बन्ध समाधिनाके साथ है यहां भी साकांक्ष और अव्यवधान सम्बन्ध कारण है, 'या ते अग्नेऽयाशया' इत्यादिमें 'तनूर्वर्षिष्ठा' इत्यादि पूर्व वाक्य शेषके समान । अथवा अर्प्यते अस्मै फलाय इस व्युत्पत्तिसे अर्पणपदसे स्वर्गादि फल भी ग्रहण कर सकते हैं, ऐसा मानने पर 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं-ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह आगेके लिए ज्ञानफल कथनार्थ है यह ठीक है, इस पक्षमें ब्रह्मैव कर्म ब्रह्म कर्मं तस्मिन समाधिर्यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिः तेन, यह एक पद है। अथवा पूर्व ब्रह्मपदका हुतके साथ सम्बन्ध है अन्तिम का गन्तव्यके साथ सम्बन्ध है इस प्रकार भिन्न भी पद हो सकता हैं ऐसा मानने पर अनुषंग क्लेश नहीं होता है यह देखना चाहिये। ब्रह्म गन्तव्य ज्ञानी वस्तुतः ब्रह्म ही है गन्तृ गन्तव्य-भाव भेदमें होता है यहां पर ब्रह्माभेद होनेसे औपचारिक ब्रह्म प्राप्ति है, इसलिये तुच्छ स्वर्गादि

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

अन्य कर्मयोगी ज्योतिष्टोमादि यज्ञ सदा करते हैं । अन्य ज्ञानयोगी सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपब्रह्माग्निमें त्वं पदार्थरूप यज्ञको यज्ञसे हवन करते हैं अर्थात् त्वं पदार्थका निरूपाधि ब्रह्मसे अभेद देखते हैं ॥ २५ ॥

तदुक्तं वार्तिककृद्भिः— 'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिः कुतः ॥ ?' इति ॥

अर्पणादिकारकस्वरूपानुपमर्देनैव तत्र नामादाविव ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते संपन्मात्रेण फलविशेषायेति केषांचिद्व्याख्यानं भाष्यकृद्भिरेव निराकृतम्, उपक्रमादिविरोधात्, ब्रह्मविद्या-प्रकरणे सम्पन्मात्रस्याप्रसक्तत्वादित्यादियुक्तिभिः ॥ २४ ॥

अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञरूपत्वेन स्तावकतया ब्रह्मार्पणमन्त्रे स्थिते, पुनरपि तस्य स्तुत्यर्थमितरान्यज्ञानुपन्यस्यति—'दैवमि'त्या दिना । देवाः-इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन, सः दैवयज्ञः-तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोमादिरूपम्, अपरे योगिनः-कर्मिणः पर्युपासते-सर्वदा कुर्वन्ति, न ज्ञानयज्ञम् । एवं कर्मयज्ञमुक्त्वा, अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्फलभूतं ज्ञानयज्ञमाह 'ब्रह्म'ेति

फल उसका गन्तव्य नहीं विद्यासे आविद्यिक कारकादि व्यवहारका उच्छेद हो जाता है कारकबुद्धिरहित यज्ञादि कर्म कहीं देखा नहीं गया है । वार्तिककारने कहा है—कारक व्यवहारमें शुद्ध वस्तु नहीं दीखता शुद्ध वस्तु सिद्ध हो तो कारक व्यवहार कैसे हो सकता है ?

अर्पणादि कारकत्व रूपानुपमर्दनके विना ही उस नामादिमें ब्रह्मदृष्टिके समान दृष्टिका विधान है फल विशेषके लिए संपन्मात्र है अनुत्तमाधिकरणमें उत्तम वस्तुका आरोप सम्पत् कहाता है जैसे मनोवृत्ति में विश्वदेवोंका आरोप 'अनन्तं वे मनः अनन्ता' वौ विश्वे देवाः बृ० उ० २-३-१० इत्यादि । प्रकृतमें यज्ञादिमें उत्तम ब्रह्मदृष्टिका आरोप सम्पत् है, किसीके इस व्याख्यानको उपक्रमादि विरोधसे भाष्यकारने निराकरण किया है—ब्रह्मविद्याप्रकरणमें सम्पन्मात्रकी प्रसक्ति ही नहीं इत्यादि युक्तियोंसे, अतः विशेष जिज्ञासुको भाष्य देखना चाहिए ॥ २४ ॥

इस समय यज्ञ रूपसे तत्त्वज्ञानको स्तावक ब्रह्मार्पण श्लोक मन्त्रके स्थित रहने पर भी पुनः इनकी स्तुति के लिये इतर यज्ञोंका भी निर्देश करते हैं—'दैवमि' त्यादिसे । देव इन्द्र अग्नि प्रभृति पूजित हों जिससे वह देव यज्ञ है, जैसे—ज्योतिष्टोम दर्शपौर्णमासादि रूपको कर्मयोगी उपासना करते हैं सदा ज्ञान यज्ञ नहीं करते हैं । इस प्रकार कर्म यज्ञ कहकर मनः शुद्धिद्वारा तत्तद् फलभूत ज्ञानयज्ञ कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे । ब्रह्म

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

दूसरे योगी जन श्रोत्रादि सभी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर संयम (धारणा ध्यान समाधि) रूप अग्निमें हवन करते हैं। और दूसरे योगी गण शब्दादिविषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥

ब्रह्माग्नौ सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं निरस्तसमस्तविशेषं ब्रह्म तत्पदार्थः, तस्मिन्नग्नौ यज्ञं-प्रत्यगात्मानं त्वंपदार्थं यज्ञेनैव, यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। एवकारो भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः । त्वंपदार्थाभेदेनैवोपजुह्वति-तत्स्वरूपतया पश्यन्तीत्यर्थः। अपरे-पूर्वविलक्षणाः-तत्त्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः । जीवब्रह्माभेददर्शनं यज्ञत्वेन संपाद्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' इत्यादिना स्तोतुम् ॥ २५ ॥

तदनेन मुख्य-गौणौ द्वौ यज्ञौ दर्शितौ । यावद्धि किंचिद्वैदिकं श्रेयःसाधनम्, तत्सर्वम् यज्ञत्वेन संपाद्यते—'श्रोत्रादीत'यादिना । तत्र श्रोत्रादीनि-ज्ञानेन्द्रियाणि तानि शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृत्याऽन्ये-प्रत्याहारपराः संयमाग्निषु, धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयम्

स्वरूपाग्निमें सत्यज्ञानानन्द रूप निरस्तसमस्तविशेष ब्रह्म तत्पदार्थ उसी अग्निमें प्रत्यगात्म यज्ञस्वरूप स्वात्मा त्वं पदार्थको यज्ञसे हवन करते हैं, यास्क मुनिने आत्मनामोंमें यज्ञशब्दका पाठ किया है। यहाँ 'इत्थं भूतलक्षणमें तृतीया है, एवकार भेदाभेदनिवृत्तिके लिये है, त्वं पदार्थके अभेदसे हवन करते हैं अर्थात् तत्स्वरूपतया देखते हैं (अभिप्राय यह है कि यज्ञ शब्द यहाँ आत्माका वाचक है वस्तुतः स्वात्मा भी परब्रह्म ही है किन्तु बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्त अतएव अध्यस्त सर्वोपाधिधर्म यज्ञसे आत्मामें हवन करते हैं सोपाधिक आत्माका निरुपाधि ब्रह्मस्वरूपसे जो दर्शन है वही उसमें होम है उसीको सन्यासी कहते हैं ब्रह्मको स्वात्मासे अभिन्न देखते हैं यही होम है) यहाँ अपरेका पूर्व विलक्षण तत्त्वदर्शी संन्यासी यह अर्थ है। जीव ब्रह्माभेद दर्शनको यज्ञत्वेन सम्पादन कर तत्साधन यज्ञके मध्यमें पढ़ते हैं 'श्रेयान्'इत्यादिसे स्तुतिके लिये ॥ २५ ॥

इससे मुख्य गौणभेदसे दो यज्ञ बतलाये। जितना जो कुछ वैदिक श्रेयः साधन है उन सबको यज्ञत्वसे सम्पादन करते हैं श्रोत्रादिसे उनमें श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ इनको शब्दादि अपने-अपने ग्राह्य विषयोंसे हटाकर अन्य योगीजन प्रत्याहार पर होकर प्रत्याहृत अर्थात् अन्तर्मुखी कृत-हटाई हुई इन्द्रियोंको संयमरूपी अग्निमें हवन करते हैं।

प्रश्न—संयम किसको कहते हैं।

संयमशब्देनोच्यते। तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः—*'त्रयमेकत्र संयमः' ३-४ इति। तत्र हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा। एवमेकत्र धृतस्य चित्तस्य भगवदाकार-वृत्तिप्रवाहोऽन्तराऽन्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम्। सर्वथा विजातीयप्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः। स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः संप्रज्ञातः, असंप्रज्ञातश्च।

उत्तर—एक विषयक धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों संयम हैं। यह स्वकल्पित नहीं योग सूत्रमें भगवान् पतञ्जलिने यह कहा है 'त्रयमेकत्र संयमः'। धारणाका लक्षण है—'चित्तस्य देशबन्धो धारणा' ३-१. उसमें देश विशेष हृदय कमलमें अधिक कालतक चित्तको स्थित रखना धारणा है। विषयमें तीनोंकी एकता विवक्षित है। यद्विषयक धारणा हो तद्विषयक ध्यान और समाधि होनी चाहिए।

१. त्रयमेकत्र संयमः' यो० सू० एक विषयमें धारणा ध्यान और समाधि इन तीनोंकी संयम यह शास्त्रीय परिभाषा है एक विषयक इस विशेषणसे भिन्न विषय इन तीनोंका संयम पदसे व्यवहार नहीं होता इसको स्फुट करनेके लिए 'तत्र हृत्पुण्डरीकादौ इत्यादि' विनियोगस्थलमें तीनोंके व्यवहारार्थ तीनपदोंके उच्चारणकी अपेक्षा लघवार्थ संयमसंज्ञा की गई है इससे एक पदसे तीनोंका व्यवहार होता है जैसे 'परिणामत्रयसंयमादि'त्यादि स्थलमें संयमपदसे ही तीनोंका व्यवहार होता है।

चित्तभूमिके भेदसे योग दो प्रकारका है सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञातमें ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति रहती है असंप्रज्ञातमें कोई वृत्ति चित्तमें नहीं रहती सबका निरोध रहता है 'निरुध्यन्ते प्रमाणादिवृत्तयोऽस्मिन्नवस्थाविशेषे सः' वह चित्तका अवस्था विशेष योग है।

प्रश्न—वृत्तिनिरोध योगका लक्षण सम्प्रज्ञात समाधिमें अव्याप्त है क्योंकि उसमें ध्येयाकार वृत्ति रहती हैं?

उत्तर—'सर्वेतिभाष्यं' लक्षणमें सर्ववृत्ति निरोध नहीं कहा गया है राजस तामस वृत्तियोंका निरोध सम्प्रज्ञातमें भी रहता ही है अतः अव्याप्ति नहीं यदि सर्ववृत्ति निरोध कहे होते तो उक्तमें अव्याप्ति होती।

प्रश्न—क्षिप्तादिमें भी यत्किञ्चित् वृत्ति निरोध है अतः उसमें अतिव्याप्ति स्पष्ट है?

उत्तर—क्लेशादिविरोधित्व, चित्तवृत्तिनिरोधत्व योगद्वय साधारण लक्षण है।

प्रश्न—एक ही चित्तका क्षिप्तादिके साथ सम्बन्ध होता है और क्षिप्तादि भूमि सम्बद्ध चित्तकी वृत्तियाँ किस लिए रोकी जाय?

उत्तर—प्रथमका प्रख्या तत्वज्ञान तच्छील चित्त सत्त्वगुण है, प्रवृत्तिशील होनेसे रजोगुणात्मक है स्थितिशील होनेसे तमोगुणात्मक है प्रख्या उपलक्षण है अन्य भी प्रसाद लाघवादि समझना एवं राजस-तामसोंमें भी समझना। बात यह है कि एक भी चित्त त्रिगुण निर्मित है और गुणोंमें मिथो वैषम्य होनेसे परस्पर वैचित्र्यसे विचित्र परिणाम होकर अनेक अवस्थाको प्राप्त करता है चित्तरूपसे परिणत सत्त्व चित्तसत्त्व है सत्त्वके प्रख्यारूप होनेसे चित्तमें सत्त्व प्राधान्य

चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति-क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धमिति। तत्र रागद्वेषादिवशाद्विषयेष्वभिनिविष्टं क्षिप्तम्, तन्द्रादिग्रस्तं मूढम्, सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठम् क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तम्, तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति। विक्षिप्ते तु चेतसि कादाचित्कः समाधिः, विक्षेपप्राधान्याद्योगपक्षे न वर्तते, किं तु तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति। एकाग्रन्तु एकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थसत्त्वोद्रेकेन तमोगुणकृततन्द्रादिरूपलयाभावादात्माकारा वृत्तिः। सा च रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावादेकविषयैवेति शुद्धे

प्रश्न—ध्यान क्या है ?

उत्तर—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' चित्त जिस विषयको आलम्बन किया तद्विषयाकार चित्तवृत्ति हो जैसे भगवान्‌का आलम्बन चित्तने किया तो भगवदाकार तद्वृत्ति प्रवाह मध्यमें किसी दूसरे विषयकी वृत्तिसे व्यवहित हो फिर विषयान्तरको छोड़कर पुनः-पुनः भगवद् भक्ति प्रवाह हो तो वह ध्यान है क्योंकि ऐसा भगवद्विषयक चित्तवृत्ति प्रवाह विषयान्तर विषयक वृत्तिसे व्यवहित है।

प्रश्न—अच्छा समाधि क्या है ?

उत्तर—'समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सर्वथा विजातीय वृत्तिसे अव्यवहित गृहीत विषयक सजातीय प्रत्यय प्रवाह समाधि है। चित्तकी भूमियाँ भिन्न-भिन्न है अतः समाधि दो प्रकारकी है १–संप्रज्ञात २–असंप्रज्ञात। चित्तकी पाँच भूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। इनमें रागद्वेषके कारण विषयमें लिप्त चित्त क्षिप्त है वह विषयको कभी छोड़ता नहीं। सदा आलस्य शील मूढ़ है, विषयासक्त होनेपर किसी समय ध्याननिष्ठ होता अतः क्षिप्तसे अच्छा है विक्षिप्त-क्षिप्त कभी भी ध्यानोन्मुख नहीं होता पूर्वसे विशिष्ट होनेसे विक्षिप्त कहाता है क्षिप्त मूढ़में समाधिका सम्भव ही नहीं। विक्षिप्त चित्तमें समाधि कदाचित् हो सकती है, पर विक्षेपकी प्रधानतासे भी योगके योग्य नहीं है किन्तु, तीव्र वायु विक्षिप्त प्रदीपके समान स्वयं नष्ट हो जाता है। चित्त एक विषयमें धारावाहिक (लगातार) वृत्ति होनेसे योगके योग्य है सत्त्व गुण वृद्धिसे तमोगुणका अभिभव होता है अतएव तत्कृत तन्द्रादि रूप लयाभावसे आत्माकार वृत्ति एकाग्र है वह वृत्ति रजोगुण प्रयुक्त चञ्चलता रूप विक्षेपके अभावसे एक विषयक ही रहती है विशेष प्रयुक्त विषया-

---

दिखलाया सत्त्वसे किंचिन्न्यून रजस्तम जिस समय होते हैं उस समय ऐश्वर्य और शब्दादि विषय ये ही प्रिय है जिसके वह ऐश्वर्य विषय प्रिय होता है सत्त्व प्राधान्यसे, चित्त प्रणिधानके समय सत्त्व तमसे प्रावृत होकर अणिमादि ऐश्वर्यको ही तत्त्व मानकर उसके ही प्रणिधानकी इच्छा करता है और क्षणभर प्रणिधान करता भी है। अनन्त रजोगुणसे चालित उसमें भी स्थिर न रहकर तत् प्रियमात्र ही होता है शब्दादिमें चित्तका स्वभाव न है प्रेम दृढ हुआ है, एवं विक्षिप्तादिमें भी समझना। विशेष जिज्ञासा हो तो योगभाष्य देखिये।

सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम्, अस्यां भूमौ संप्रज्ञातः समाधिः। तत्र ध्येयाकारा वृत्तिरपि भासते। तस्यापि निरोधे निरुद्धं चित्तमसंप्रज्ञातसमाधिभूमिः। तदुक्तं योगसूत्रे—*'तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधि': १-५१-इति। अयमेव सर्वतो विरक्तस्य समाधिफलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य योगिनो दृढभूमिः सन् धर्ममेघ इत्युच्यते। तदुक्तम्—†प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः '३-२९-३०' इति। अनेन रूपेण संयमानां भेदादग्निष्विति बहुवचनम्। तेषु इन्द्रियाणि जुह्वति धारणा-

न्तराकार वृत्ति होती है एकैक गुणोद्भवसे गुणद्वयका तिरोभाव होनेसे तत्प्रयुक्त वृत्तियां नहीं होती शुद्ध सत्त्वोपचय कालमें चित्त एकाग्र होता है, इस भूमिमें सम्प्रज्ञात समाधि होती है उसमें ध्येयाकार वृत्तिका भी भान होता है उस वृत्तिका भी निरोध करनेपर निरुद्ध चित्त एकाग्र होता है वही असंप्रज्ञात समाधिकी भूमि है। यह योगसूत्रमें लिखा है, सूत्र ऊपर देखिये। यही विरक्त योगको समाधिफल सुखकी भी अपेक्षा न करनेसे दृढ़ भूमि होकर धर्ममेघ कहा जाता है इसका भी योगसूत्र मूलमें देखिये। विषयसे निगृहीत= प्रत्यावर्तित इस रूपसे संयम भिन्न भिन्न है इसलिए "संयमाग्निषु" यह बहुवचन है संयम सामान्य रूपसे

* 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" प्रज्ञाके संस्कारोंका प्रयोजन है भोगाधिकार समाप्ति, यह पूर्वमें कह चुके हैं प्रज्ञासंस्कार सहित चित्त प्रज्ञासंस्कार धारा जनक होनेसे चित्त पूर्ववत्साधिकार ही होगा अतः भोगाधिकार शान्तिके लिए अन्य कुछ उपायका भी आश्रयण करना आवश्यक है। सूत्रसे उत्तर कहते हैं—'तस्यापि' इति। ज्ञानप्रसाद लक्षण परवैराग्यसे संस्कारोत्पत्तिद्वारा उस प्रज्ञा कृत संस्कारका भी निरोध करनेपर प्रज्ञाका ही निरोध नहीं यह अपि शब्दका अर्थ है सम्पूर्ण जायमान संस्कार प्रज्ञा प्रवाहका निरोध करनेपर कारणके अभावसे कार्यानुत्पत्तिसे यह निर्बीज समाधि होती है यह निर्बीज समाधि समाधिप्रज्ञाविरोधी परवैराग्यसे उत्पन्न स्वकारण विरोधी प्रज्ञारूपसंस्कारोंका भी यह विरोधी है।

शंका—परवैराग्यसे जात समीचीन विज्ञान ज्ञानमात्रका बाधक है समीचीनज्ञानसे असमीचीन ज्ञानका बाध लोकमें दृष्ट है यथा—स्वप्नदृष्टार्थके स्मरणका जाग्रद्बोधसे बाध होता है 'निरुद्धयतेऽनेन प्रज्ञा' इति निरोधः पर वैराग्य, उससे उत्पन्न निरोधजं संस्कारः दीर्घकालादि सेवित परवैराग्यसे प्रज्ञासंस्कारका बाधक है निष्कर्ष यह है कि यहां संस्कारत्वेन बाध्य बाधकभाव है ज्ञानत्वसे नहीं अतः शंका ही अनुचित है विस्तार भाष्यादिमें देखिये।

† 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' पूर्वोक्त प्रकारसे व्युत्थान निरोधोपाय प्रसंख्यानको कहकर प्रसंख्यानके निरोधके उपायको कहते हैं—'प्रसंख्याने'ति। उस प्रसंख्यानसे भी कुछ सब भावोंके अधिष्ठाता मैं ही हो जाऊं इत्यादि प्रार्थना न करै बल्कि उसमें भी क्लेश ही का अनुभव करै क्योंकि उनमें भी परिणामित्वादि दोष-

ध्यानसमाधिसिद्धयर्थं सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्—
*'स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' २-५४ इति।

एक ही है अतः तद्रूपसे एकवचन ही उचित होता, संयमाग्निमें इन्द्रियोंका हवन करते हैं धारणा ध्यान और समाधि सिद्धिके लिए सब इन्द्रियोंको अपने अपने विषयसे खींच लेते हैं यह भी योग सूत्र ऊपर देखिये। विषयोंसे आकृष्ट इन्द्रियाँ चित्तरूप हीं होती हैं, इस कारणसे विक्षेप होता नहीं उसके न होनेसे चित्त धारणा ध्यान समाधिको धारण करता है—अर्थात् उसमें धारणादि होते हैं। इस तरह इस कथनसे

दर्शनसे विरक्त होकर सर्वथा विवेक ख्यातिमान् ही रहे हैं तब उस योगीको धर्ममेघ समाधि होती है फिर उसको ज्ञानान्तर नहीं होते इसीसे सदा विवेक ख्याति ही रहती है 'प्रसंख्यानम्-विवेकः साक्षात्कारः। कुसीदं वृद्धिजीविका' यह अमरकोश है जैसे ऋण देकर सूद लेते हैं और उससे अपना खर्च चलाते हैं वैसे प्रसंख्यानसे कोई सिद्धि न चाहे ऐसा करने पर उसके योगमें कोई विघ्न नहीं होता किन्तु निरन्तर विवेक ख्याति होनेसे धर्ममेघ नामक प्रसंज्ञात योगकी परा काष्ठा होती है धर्मं मेहति सिञ्चति इति धर्ममेघः मिह सेचने से कर्म उपपदमें अण् प्रत्यय है।

उसका प्रयोजन कहते हैं—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः उससे क्लेश कर्मोंकी निवृत्ति होती हैं तदनन्तर जीवी विद्वान् मुक्त हो जाता है।

शङ्का—अत्यन्त दुःख निवृत्ति मोक्ष है जीवीको दुःख अवश्य होता है फिर मुक्ति कैसी अतएव 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरप हतिरस्ति' इत्यादि श्रुति जीवीमें दुःखका समर्थन करती है?

उत्तर—दुःखके निदान जो अविद्यादि क्लेश है उनका अत्यन्त उच्छेद होनेसे मुक्ति यहाँ गौण है इसमें प्रमाण अनुपलब्धि है सो भाष्यकार कहते हैं—'नहि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते' इति। अर्थ—मिथ्या ज्ञान रहित किसीको किसीने किसी जगह उत्पन्नको दृष्टिगोचर नहीं करता। न्यायाचार्य श्रीगौतम मुनिने भी कहा है—'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति अर्थात् सराग ही का जन्म देखा जाता है। पञ्चसिखाचार्यने इसको मोक्ष कहा है—द्वितीयो रागक्षयादिति।

*'स्वस्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति यो० सू०—चित्तके निरोध करनेपर चित्तके समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है एक इन्द्रियके जय करनेपर दूसरी इन्द्रियाँ स्वयं जित न होती किन्तु उनके जयके लिये पृथक् यत्न करना पड़ता है वैसा चित्तके जयमें नहीं किन्तु चित्तके समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है इतरेन्द्रिय जयके समान उपायान्तरकी आवश्यकता नहीं, इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—जैसे मधुकरराज, मधुमक्खियोंमें एक मधुकर सब मक्खियोंका राजा होता है उसके उड़ने पर अर्थात् पूर्वस्थानको छोड़कर निवासान्तर बनानेके लिये उड़ता है तो सब मक्खियाँ उसके पीछे उड़ती हैं और जहाँ वह राजा स्थान बनाने के लिए बैठता है वहाँ हो सब मक्खियाँ उसकी इच्छाके अनुसार बैठकर स्थान बनाना आरम्भ करती हैं वैसे ही चित्ताधीन इन्द्रियाँ चित्तके निरुद्ध होनेपर स्वयं निरुद्ध हो जाती है यही प्रत्याहार है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

और दूसरे योगी लोग सब इन्द्रियोंकी क्रियाओंको तथा प्राणोंके व्यापारोंको ज्ञानसे प्रकाशित हुई आत्मसंयमयोगरूपी अग्निमें हवन करते हैं ॥ २७ ॥

विषयेभ्यो निगृहीतानीन्द्रियाणि चित्तरूपाण्येव भवन्ति, ततश्च विक्षेपाभावाच्चित्तम् धारणादिकं निर्वहतीत्यर्थः । तदनेन प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूपं योगाङ्गचतुष्टयमुक्तम् । तदेवं समाध्यवस्थायां सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधो यज्ञत्वेनोक्तः । इदानीं व्युत्थानावस्थायाम् रागद्वेषराहित्येन विषयभोगो यः, सोऽप्यपरो यज्ञ इत्याह—

'शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' इति ।

अन्ये-व्युत्थितावस्थाः श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं स्पृहाशून्यत्वेनान्यसाधारणम् कुर्वन्ति, स एव तेषां होमः ॥ २६ ॥

प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूपचतुष्टय योगाङ्ग कहा । इस प्रकार समाध्यवस्थामें सब इन्द्रिय वृत्तियोंका निरोध यज्ञ भावसे कहा है । अब व्युत्थान अवस्था अर्थात् समाध्युपरम काल में राग द्वेष रहित विषयोपभोग जो है वह दूसरा यज्ञ है यह 'शब्दादि'से कहते हैं । अन्य योगी शब्दादि विषयकी इन्द्रियाग्निमें हवन करते हैं अन्यका अभिप्राय व्युत्थान कालिक योगीमें हैं व्यक्ति भेद नहीं किन्तु उपाधि भेद मात्र है, श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे योगाविरुद्ध विषयोंका ग्रहणकर तृष्णा शून्य होकर अन्य साधारण विषय ग्रहण करते हैं यही उनका होम है भेद इतना ही हैं कि अन्य तृष्णा युक्त होकर विषय ग्रहण करते हैं ये लोग स्पृहा शून्य होकर विषय ग्रहण करते हैं विषय ग्रहण उन दोनोंके साधारण है ॥ २६ ॥

सप्रयोजन यह प्रत्याहार विष्णुपुराणमें लिखाहै—

'शब्दादिष्वनुरक्तानि प्रगृह्याणि योगवित् । कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ।

वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम् । इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगो योगसाधकः' इति ।

अर्थ—स्पष्ट है । निष्कर्ष यह है कि ध्यान कालमें जब चित्त ध्येयवस्त्वाकार होता है तब जितेन्द्रिय पुरुषकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी तत्समानाकारके समान ही होती है स्वतन्त्र मनके साथ एक होकर विषयान्तरका संकल्प नहीं करती अजितेन्द्रिय पुरुष की उस समयमें भी चक्षुरादि इन्द्रियाँ मनसे रूपादि विषयोंमें ही दौड़ती है अतएव मनुभगवान्ने कहा है ।

'इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्' ॥ इति ।

अजितेन्द्रियकी भी इन्द्रियाँ भोगकालमें चित्तानुकारि होती है तन्निव्यावृत्तिके लिए स्वविषयाऽसंप्रयोग कहा है । ध्यानकालमें चक्षुरादि तुल्यवृत्तिका ही होती है इनमें तो वृत्तिका अभाव ही रहता है अतः 'अनुकार एव' यह कहा । अतएव 'पिबन्निव च चक्षुर्भ्यां पादौ सम्वाहयन्निव चित्तेन्द्रियैकयतो ध्यायेत्तन्मूर्ति विजितेन्द्रियः' इत्यादि स्मृतियोंमें भी इसका प्रयोग है ।

तदेवं पातञ्जलमतानुसारेण लयपूर्वकं समाधिम्, ततो व्युत्थानञ्च यज्ञद्वयमुक्त्वा, ब्रह्मवादिमतानुसारेण बाधपूर्वकं समाधिम्, कारणोच्छेदेन व्युत्थानशून्यं सर्वफलभूतं यज्ञान्तरमाह—'सर्वाणी'त्यादिना। द्विविधो हि समाधिर्भवति-लयपूर्वकः, बाधपूर्वकश्च। तत्र 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति न्यायेन कारणव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपम् समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकम् कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तत्रापि पृथिवी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाख्यपञ्चगुणा गन्धेतरचतुर्गुणाप्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति, ताश्चतुर्गुणा आपः गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण न सन्ति, तदपि त्रिगुणात्मकं तेजः गन्धरसरूपेतरद्विगुणवायुकार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति। सोऽपि द्विगुणात्मको वायुः शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति। स च शब्दगुण आकाशो 'बहु स्यामि'ति-परमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति, सोऽपि संकल्पात्मकोऽहंकारो मायेक्षणरूपमहत्तत्वकार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति, तदपीक्षणरूपं महत्तत्वं मायापरिणामत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति, तदपि मायाख्यं कारणं जडत्वेन चैतन्येऽध्यस्तत्वात्, तद्व्यतिरेकेण

इस प्रकार पातञ्जल मतानुसार लय पूर्वक समाधि ततः व्युत्थानरूप यज्ञद्वय कहकर अद्वैत ब्रह्मवादिमतानुसार बाधपूर्वक समाधिको कारणविनाशसे व्युत्थान शुन्य सर्व फलभूत यज्ञान्तर कहते हैं—'सर्वाणि' इत्यादिसे। दो तरहको समाधि होती है—लयपूर्वक और बाधपूर्वक उसमें "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' वे-द-२-१-१३ इस सूत्रोक्त न्यायसे कारणसे अतिरिक्त वस्तुतः कार्य है ही नहीं अतएव पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्य जो व्यष्टिरूप विराट् कार्य है अतः कारणीभूत समष्टिरूप विराटसे अतिरिक्त नहीं ऐसे ही समष्टिरूप भी कार्य अपञ्चीकृत पञ्चभूत कार्य होनेसे वह भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतसे अतिरिक्त नहीं उसमें भी पृथ्वी शब्द स्पर्श रूप रस गन्धाख्य पञ्चगुणात्मिका हैं। गन्धसे अतिरिक्त चतुर्गुण जल कार्य है अतः जलसे अतिरिक्त पृथ्वी नहीं हैं जल भी गन्ध रस व्यतिरिक्त त्रिगुणात्मक तेज कार्य होनेसे तेजसे अतिरिक्त नहीं है, तेज भी द्विगुणात्मक वायु कार्य होनेसे वायुसे भिन्न नहीं- वायु भी शब्दमात्रैक गुण आकाश कार्य है अतः आकाश व्यतिरिक्त नहीं, वह शब्दैकगुणक आकाश भी 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस परमेश्वर संकल्पात्मकाहंकार कार्य होनेसे तदतिरिक्त नहीं, वह भी संकल्पात्मक अहङ्कार मायेक्षणरूप महत्तत्व कार्य है इसलिए स्वकारणीभूत महत्तत्वसे अतिरिक्त नहीं वह भी ईक्षणरूप महत्तत्व माया परिणाम होनेसे मायासे अतिरिक्त नहीं; वह भी मायाख्य कारण जड़ होनेसे चैतन्यमें अध्यस्त हैं अधिष्ठानसे अतिरिक्त माया भी नहीं, इस आलोचनसे

नास्तीत्यनुसंधानेन विद्यमानेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः, सः लयपूर्वक उच्यते। तत्र 'तत्त्वमस्यादि'वेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याक्षीणत्वात् एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्नप्रपञ्चोत्थानादयं सुषुप्तिवत्सबीजः समाधिर्न मुख्यः।

मुख्यस्तु 'तत्त्वमस्या'दिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणाविद्याया निवृत्तौ सर्गक्रमेण तत्कार्यनिवृत्तेरनाद्यविद्यायाश्च पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यस्यापि पुनरुत्थानाभावान्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः,। स एवानेन श्लोकेन प्रदर्श्यते। तथाहि 'सर्वाणी'ति। सर्वाणि-निखिलानि स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि-चेन्द्रियकर्माणि इन्द्रियाणां श्रोत्र-त्वक्-चक्षुरसनघ्राणाख्यानां पञ्चानां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानां च पञ्चानां बाह्यानाम्, आन्तरयोश्च मनोबुद्ध्योः कर्माणि-शब्दश्रवण-स्पर्शग्रहण-रूपदर्शन-रसग्रहण गन्ध ग्रहणानि, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यानि च संकल्पाध्यवसायौ च। एवं प्राणकर्माणि च-प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यानां पञ्चानां कर्माणि बहिर्नयनमधोनयनमाकुञ्चनप्रसारणादि अशितपीतसमनयनमूर्ध्वंनयनमित्यादीनि। अनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशात्मकं लिङ्गमुक्तम्। तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्य-

---

कार्यकारणात्मक प्रपञ्चके विद्यमान रहनेपर भी चैतन्यमात्र गोचर लयपूर्वक समाधि कही जाती है। उसमें 'तत्त्वमस्या'दि महावाक्यार्थ ज्ञान न होनेसे अविद्या तत्कार्यका क्षय नहीं होता। इसी प्रकार चिन्तनमें भी कारण रहता ही है फिर समस्त प्रपञ्चका आविर्भाव होता है इसलिए सुषुप्तिके समान यह सबीज समाधि मुख्य नहीं किन्तु गौण है।

मुख्य तो 'तत्त्वमस्या'दि महावाक्यार्थ साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर सर्गक्रमसे तत्कार्यकी निवृत्ति होती है, अनादि अविद्याका फिर उत्थान न होनेसे तत्कार्योंका सुतरां पुनरुत्थान नहीं होता अतः बाधपूर्वक निर्बीज समाधि होती है वही सर्वाणि इस श्लोकसे दिखलाते हैं। ऐसा है कि सब स्थूल रूप और संस्कार रूप इंद्रिय कर्म, श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राणनामक पाँच तथा वाक् हाथ पांव गुदा लिङ्ग बाह्य पांचो आन्तर मनो बुद्धिके कर्म—क्रमसे शब्दश्रवण स्पर्शका ग्रहण रूपका दर्शन रसका ग्रहण गन्धका ग्रहण, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्द संकल्पाध्यवसाय है। इसी प्रकार प्राणकर्म—प्राणापान व्यानोदान समान नामक पञ्चप्राणोंके कर्म बाहर निकालना, नीचे गिरना, दूरस्थकी समीप खींचना, फैलाना, भुक्त पीतका समनयन ऊर्ध्व नयन आदि हैं। इससे पांच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण मन बुद्धि यह सत्रह वस्तुओंका समूह लिंग शरीर कहा गया है। यह सूक्ष्म भूत समष्टि रूप है यही हिरण्यगर्भ-

मिह विवक्षितमिति वदितुं 'सर्वाणी'ति विशेषणम्। आत्मसंयमयोगाग्नौ-आत्मविषयकः संयमः धारणा-ध्यान-संप्रज्ञातसमाधिरूपस्तत्परिपाके सति योगो निरोधसमाधिः। यं पतञ्जलिः सूत्रयासास—*'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयौ निरोधपरिणामः' ३-९. इति। व्युत्थानम्-क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्, तत्संस्काराः समाधिविरोधिनः, ते योगिना प्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते, तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति। ततश्च निरोधमात्रक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति। तस्य फलमाह 'तस्य प्रशान्तवाहिता

है यही विवक्षित है यह कहनेके लिए 'सर्वाणि' यह विशेषण है आत्मसंयमयोगाग्नि आत्मविषयक संयम-धारणा ध्यान संप्रज्ञात समाधिस्वरूप तत्फल होनेपर निरोध समाधि योग होता है। जिसके विषयमें भगवान् पतञ्जलिका सूत्र है—'व्युत्थाने'त्यादि ऊपर देखिए। व्युत्थान-क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्तस्वरूप भूमित्रिय और उनके संस्कार समाधिका विरोधी है प्रतिदिन प्रतिक्षण योगियोंके अधिक यत्नसे उनका निराकरण करना चाहिए। ऐसा करनेपर ही तद्विरोधी निरोध संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस कारणसे निरोधमात्र क्षणसे चित्तका अन्वय-निरोध परिणाम है अर्थात् यावत्क्षण निर्वृत्तिक चित्त है तावत्क्षण निरोध परिणाम है। उसका फल कहते हैं—'तस्य प्रशान्तवाहिता' इत्यादिसे। रजोगुण तमोगुणके नाश होनेसे लय तथा विक्षेप शून्य होनेसे शुद्ध

* व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणामः 'यो॰ सू॰

'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्' इस आगामिसूत्रव्याख्यानमें तीनों परिणामोंका उपयोग होगा अतः परिणामत्रयका स्फुट करनेकी इच्छासे पूछते हैं—अथेति। व्युत्थान और संप्रज्ञातमें चित्तके परिणामका भेद स्पष्ट होनेसे वहाँ प्रश्नका अवसर ही नहीं निरोधमें परिणामका अनुभव नहीं यदि अनुभव नहीं तो परिणाम नहीं है यही क्यों न मान लिया जाय यह आक्षेप ठीक नहीं कारण 'चल गुणवृत्तं' इस न्यायसे गुण परिणामके विना क्षणभर भी नहीं रह सकते असंप्रज्ञातकी अपेक्षा संप्रज्ञात भी व्युत्थान ही है इस तात्पर्यसे भाष्यकार कहते हैं. 'व्युत्थान निरोधसंस्काराः' इति २.२१ निरुध्यते अनेन, इस व्युत्पत्तिसे निरोध ज्ञानप्रसाद परवैराग्य है दोनों व्युत्थान निरोध संस्कारोंका अभिभव और प्रादुर्भाव होता है उसमें व्युत्थान संस्कारका अभिभव और निरोध संस्कारका आविर्भाव यहाँ अभिभव है क्रमशः ह्रास है प्रादुर्भाव क्रमशः वृद्धि है। निरोधलक्षण चित्तान्वय निरोध परिणाम है प्रत्येक निरोधक्षणमें एक ही स्थिर चित्तमें अन्वित रहता है एक ही चित्त भी उक्त संस्कारोंके अभिभव प्रादुर्भावसे स्वरूपतः भिन्न नहीं होता निरोध कालमें जायमान संस्कार निरोध संस्कार विवक्षित है इससे संप्रज्ञात कालीन प्रज्ञा अन्य संस्कारका भी संग्रह हुआ।

शङ्का—जैसे अविद्यामूलक क्लेश अविद्यानिवृत्तिसे निवृत्त होते हैं उनकी निवृत्तिके लिए यत्नान्तरकी अपेक्षा नहीं एवं व्युत्थानमूल संस्कार व्युत्थान निवृत्तिसे ही निवृत्त हो जायंगे उनकी निवृत्तिमें निरोध संस्कारकी अपेक्षा नहीं ?

उत्तर—कारणमात्रकी निवृत्तिसे कार्यमात्रकी निवृत्ति नहीं होती अन्यथा तन्तुवायकी निवृत्तिसे पटकी भी निवृत्ति हो जायगी किन्तु जो अन्वयी कारण है उसकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है जैसे तन्तुनिवृत्तिसे पट निवृत्ति, उक्त

संस्कारात्' ३-१०- इति। तमोरजसोः क्षयाल्लयविक्षेपशून्यत्वेन शुद्धसत्त्वरूपं चित्तं प्रशान्तमित्युच्यते। पूर्वपूर्वप्रशमसंस्कारपाटवेन तदाधिक्यं प्रशान्तवाहितेति। तत्कारणं च सूत्रयामास—*'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' १-१८ इति। विरामः-वृत्त्युपरमः, तस्य

सत्त्वस्वरूप चित्त प्रशान्त यह कहा जाता है पूर्व-पूर्व प्रशम संस्कारकी पटुतासे संस्काराधिक्य ही प्रशान्तवाहिता है उसका कारण सूत्र 'विरामप्रत्यये'ति' मूल देखिये। विराम = वृत्तिका उपरम = अवसान उसका प्रत्यय कारण वृत्त्युपरमार्थ है पुरुषका प्रयत्न उसका अभ्यास पुनः-पुनः सम्पादन तत्पूर्वक तज्जन्य कारण

क्लेश अविद्यान्वयी है अतः अविद्या निवृत्तिसे तन्निवृत्ति ठीक ही है प्रकृतमें संस्कार प्रत्ययान्वयी नही है क्योंकि प्रत्ययके चिरातीत होनेपर भी कालान्तरमें वर्तमान तत्संस्कारसे स्मरण होता है अतः प्रत्यय निवृत्ति होने पर भी संस्कार निवृत्तिके लिए निरोध संस्कारका सम्पादन करना आवश्यक है प्रत्यय संस्कारका निमित्त कारण है अन्वयी नहीं य निष्कर्ष है।

प्रश्न—व्युत्थान संस्कारका सर्वथा अभिभव होनेपर बलवान् निरोध परिणामसे चित्तका कैसा परिणाम होता है ?

उत्तर—व्युत्थान संस्कार मलरहित निरोध संस्कार परम्परा वाहिता प्रशान्त वाहिता निश्चल निरोध धाराप्रवाह निरोध संस्कार बलसे ही होता है अतः निरोध संस्कार और तत्प्रादुर्भाव आवश्यक है निरोध संस्कार पाटव प्रकृतमें अपेक्षित है केवल संस्कारमात्र नहीं मन्दसंस्कार होनेपर व्युत्थान संस्कारसे निरोध संस्कार ही का अभिभव हो जायगा।

* असंप्रज्ञात समाधिके अवतारार्थ भाष्यकार पूछते हैं कि असंप्रज्ञात समाधिका क्या उपाय और क्या स्वभाव है ? सूत्रसे उत्तर देते हैं—विरामेत्यादि, पूर्वपदसे उपाय कहते है संस्कार शेष और अन्य इन दोनों पदोंसे स्वरूपका निर्देश हैं वृत्तिरूपज्ञान भी न हो यह विराम प्रत्यय है इसका परवैराग्य उपाय है ज्ञानमें भी अलंबुद्धि व्यर्थबुद्धि-ज्ञान भी शान्त हो जाय। विराम वृत्तियोंका अभाव उसका प्रत्यय कारण उसका अभ्यास तदनुष्ठान पौनः पुन्य वही पूर्वमें है जिसके वह विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्व है। किसीका मत है पूर्व पदसे उपाय कथन है मध्यम पदसे लक्षण कथन है और अन्त्य पदसे लक्ष्य कथन है अन्त्य-असंप्रज्ञात।

प्रश्न—अपर वैराग्य निरोधका कारण क्यों नहीं होता।

उत्तर—वह सालम्बन है कार्यका स्वरूप ही कारण होता है विरूप नहीं अपर वैराग्य इसके विरूप है पुरुषपर्यन्त किसी आलम्बनमें चित्तकी एकाग्रताका अभ्यास असंप्रज्ञात समाधिका साक्षात् साधन नहीं है क्योंकि वह सालम्बन होनेसे विरूप है प्रकृत समाधि निरालम्बन है अतः निरालम्बन ज्ञानप्रसादमात्रसे असंप्रज्ञातप्रज्ञाकी उत्पत्ति ठीक है धर्ममेघ समाधि ही जो कि रजः मनोमल रहित बुद्धिसत्त्वसे उत्पन्न हुई है तत्तद्विषयातिक्रम कर अनन्त विषयोंमें दोषदर्शी अतएव समस्त विषयोंके परित्यागसे स्वरूपप्रतिष्ठ निरालम्बन संस्कारमात्र शेष निरालम्बन समाधिका कारण है क्योंकि दोनों निरालम्बनत्वेन समान है वृत्तिरूप कार्योंके अभावसे अभाव प्राप्तके समान चित्त होनेसे निर्बीज निरालम्बन समाधि हैं निरालम्बन जो पर वैराग्य है वही असंप्रज्ञातका साधन है क्योंकि वह जैसे निर्वस्तुक है अर्थात् कोई ध्येय वस्तु नहीं है क्योंकि असंप्रज्ञात ध्येयवदन्य है अतः पर वैराग्य भी सर्वार्थ शून्य है इस प्रकार निरालम्बनत्वसे दोनों समान है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कोई पुरुष वापी कूप तालाब आदिके निर्माणमें द्रव्य खर्च करते हैं, कोई पुरुष कृच्छ्र-चान्द्रायणादि रूप यज्ञ करने वाले हैं। कोई अष्टाङ्गयोगात्मक यज्ञ करते हैं, कोई वेदादिशास्त्राध्ययन रूप यज्ञ करनेवाले होते हैं, और कोई वेदार्थ ज्ञान रूप यज्ञ करते हैं, और यत्नशील यतिलोग दृढव्रत यज्ञवाले होते हैं ॥ २८ ॥

प्रत्ययः-कारणं वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नः, तस्याभ्यासः-पौनःपुन्येन संपादनम्, तत्पूर्वकः-तज्जन्यः अन्यः-संप्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः। एतादृशो य आत्मसंयमयोगः, स एवाग्निः तस्मिञ्ज्ञानदीपिते ज्ञानम्-वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः, तेनाविद्यातत्कार्यनाशद्वारा दीपिते-अत्यन्तोज्ज्वलिते बाधपूर्वके समाधौ समष्टिलिङ्गशरीरमपरे जुह्वति-प्रविलापयन्तीत्यर्थः। अत्र च 'सर्वाणीति, आत्मेति, ज्ञानदीपिते, इति विशेषणै 'रग्नावि'त्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यम् सूचितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ २७ ॥

एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वा, अधुनैकेन श्लोकेन षड् यज्ञानाह—'द्रव्ये'-त्यादिना। द्रव्यत्याग एव यथाशास्त्रं यज्ञो येषाम्, ते द्रव्ययज्ञाः-पूर्त-दत्ताख्यस्मार्तकर्मपराः। तथा च स्मृतिः—

'वापी-कूप-तडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

पूर्वक ही कार्य होता है अतः कारण पूर्व पदार्थ है अन्य-सम्प्रज्ञातसे विलक्षण असंप्रज्ञात यह अर्थ है। एतादृश जो आत्मसंयम योग वही है अग्नि ज्ञानदीपित ज्ञानप्रज्वलित उसमें ज्ञान - वेदान्त वाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कार उससे अविद्या तत्कार्य नाशके द्वारा दीपित अत्यन्त लहराती हुई बाधपूर्व समाधिमें समष्टि-लिङ्गशरीरकों दूसरा योगी ही हवन करते हैं उसमें प्रविलीन करते हैं यह स्फुटार्थ है। यहांपर 'सर्वाणि' 'आत्मा,' 'ज्ञानदीपिते' इन विशेषणोंसे और 'अग्नौ' सप्तमीके एकवचनसे पूर्वसे वैलक्षण्य सूचित हुआ है, इससे पुनरुक्ति नहीं है ॥ २७ ॥

इस प्रकार तीन श्लोकोंसे पाँच यज्ञोंको कहकर, इस समय एक श्लोकसे छः यज्ञोंको 'द्रव्य' इत्यादि से कहते हैं, शास्त्रानुसारि तीर्थविशेष पात्रविशेषमें द्रव्यविशेष रजत सुवर्णादिका लोष्ट पाषाणादिका नहीं, धर्मबुद्धिसे त्याग ही है यज्ञ जिनका वे द्रव्ययज्ञ हैं-पूर्तदत्ताख्य स्मार्त कर्मानुष्ठानपरायण। यहाँ ऐसो

शरणागतसंत्राणं भूतानां चाऽप्यहिंसनम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥' इति ॥

इष्टाख्यं श्रौतं कर्म तु 'दैवमेवापरे यज्ञम्' इत्यत्रोक्तम् । अन्तर्वेदि दानमपि तत्रैवान्तर्भूतम् । तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां, ते तपोयज्ञास्तपस्विनः । तथा योगश्चित्तवृत्ति-निरोधोऽष्टाङ्गो यज्ञो येषाम्, ते योगयज्ञा यमनियमासनादियोगाङ्गानुष्ठानपराः । *यमनियमा-सनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो हि: योगस्याष्टावङ्गानि । तत्र प्रत्याहारः 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' इत्यत्रोक्तः । धारणाध्यानसमाधयः 'आत्मसंयमयोगाग्नावि'त्यत्रोक्ताः ।

स्मृति है—'वापी कूप तडागादि' इत्यादि ऊपर मूलमें देखिये । इष्टाख्य श्रौतकर्म तो 'दैवमेवापरे' इत्यादि-श्लोकमें कह चुके हैं । वेदीमें दान जो अन्तर्वेदि दान है वह भी दैवयज्ञ ही के अन्तर्गत है एवं तप कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप ही यज्ञ है जिनका वे तपोयज्ञ तपस्वी है तथा योग अष्टाङ्ग चित्तवृत्तिनिरोधनामक यज्ञ है जिनका वे योगयज्ञ यमनियमादि योगाङ्गानुष्ठानपर होते हैं ।।

प्रश्न—योगके आठ अंग कौन हे ?

उत्तर—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योगके अङ्ग है । उनमें-प्रत्याहार 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' यहाँ कह चुके हैं । धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों

* यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये आठ योगके अङ्ग है अभ्यास वैराग्य श्रद्धा-वीर्यादिको यथायोग स्वरूपतः अविनाभावतः इसीमें अन्तर्भूत समझना, यथाक्रम इनका अनुष्ठान और स्वरूप अग्रिम सूत्रोंसे कहा जायगा । परन्तु यह प्रतिज्ञा भाष्यकारकी है मेरी नहीं क्योंकि मुझे उन्हीं सूत्रोंकी व्याख्या करनी है जिनका निर्देश व्याख्येय टीकामें है ।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' योगाङ्ग अहिंसाकी स्तुति करते हैं सर्वप्रकारोंसे सब कालोंसे प्राणियोंका द्रोह न करना अहिंसा है केवल प्राणवियोगानुकूल व्यापार ही नहीं जो पुरुष इस अहिंसाका परिपालन नहीं करता वह यमनियमादिका भी पालन नहीं कर सकता यदि किसी प्रकार करे तो भी निष्फल होनेसे अकृतके समान ही है अहिंसा-सिद्धिके लिये ही उनका अनुष्ठान अपेक्षित है ।

प्रश्न—यदि अहिंसा ही यमादिका मूल है तो वे अहिंसा सिद्धि परक कैसे ? कार्य कारण सिद्धपरक कहाँ दृष्ट है ?

उत्तर—सिद्धिसे यहाँ ज्ञान ईप्सित है उत्पत्ति नहीं धूमसे वह्निका ज्ञान होता ही है यदि अहिंसाज्ञानार्थ यमादि है तो वे व्यर्थ हैं श्रुति स्मृत्यादिसे अहिंसा ज्ञान सिद्ध ही है अवदातेति यदि अग्रिमकर्मोंको अनुष्ठान न किया जायगा तो अहिंसा असत्यादिसे मलिन हो जायगी अतः परिशुद्ध अहिंसा ज्ञानार्थ अग्रिमोंका अनुष्ठान है ।

प्राणायामो'ऽपाने जुह्वति प्राणमि'त्यनन्तरश्लोके वक्ष्यते। यमनियमासनान्यत्रोच्यन्ते। कानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायाम्-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः पञ्च।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः पञ्च।

स्थिरसुखमासनं पद्मक-स्वस्तिकाद्यनेकविधम्॥

अशास्त्रीयः प्राणिवधो हिंसा। सा च कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधा। एवमयथार्थभाषणम्-अवध्यहिंसानुबन्धि यथार्थभाषणं चानृतम्। स्तेयम्-अशास्त्रीयमार्गेण परद्रव्यस्वीकरणम्। अशास्त्रीयः स्त्रीपुंसव्यतिकरो मैथुनम्। शास्त्रानिषिद्धमार्गेण देहयात्रा-निर्वाहकाधिकभोगसाधनस्वीकारः परिग्रहः। एतन्निवृत्तिलक्षणा उपरमा यमाः, 'यम उपरमे' इति स्मरणात्। तथा शौचम्-द्विविधं बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। मृज्जलादिभिः

'आत्मसंयमयोगाग्नौ' में कहे गये हैं। प्राणायाम 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इस समनन्तर श्लोकमें कहेंगे, यम नियम आसन यहाँ कहते हैं।

प्रश्न—यम क्या है और कितने हैं?

उत्तर—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं।

प्रश्न—नियम क्या और कितने हैं?

उत्तर—शौच, सन्तोष, तप-स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पांच नियम हैं।

प्रश्न—आसन क्या और कितने हैं?

उत्तर—स्थिर सुख आसन है वह पद्मक, स्वस्तिकादि भेदसे अनेकविध हैं।

प्रश्न—हिंसा क्या है?

उत्तर—अशास्त्रीय प्राणिवध, शास्त्र विहित प्राणिवध हिंसा नहीं अतएव मनुने कहा है 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' इति। वह हिंसा कृत, कारित, अनुमोदित भेदसे तीन प्रकार की है।

प्रश्न—अनृत क्या है और कतिविध है?

उत्तर—असत्य बोलना और जिस सत्य भाषणसे अवध्य ब्राह्मणादिका वध हो वह सत्य भी अनृत ही है यह एक ही प्रकारका है।

प्रश्न—स्तेय क्या है?

उत्तर—अशास्त्रीय उपायसे परकीय द्रव्यग्रहण, अशास्त्रीय स्त्रीपुरुषसंयोग मैथुन है, शास्त्रप्रतिषिद्ध उपायसे और शरीर निर्वाहक भोगसे अधिक साधन ग्रहण प्रतिग्रह है इससे निवृत्ति स्वरूप उपरम यम है 'यम उपरमे' यह भगवान् आचार्य पाणिनिका धातु पाठ है। एवं शौच दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्य-

कायादिक्षालनम्, हितमितमेध्याशनादि च बाह्यम् । मैत्रीमुदितादिभिर्मदमानादिचित्तमलक्षालन-मान्तरम्, संतोषो विद्यमानभोगोपकरणादधिकस्यानुपादित्सारूपा चित्तवृत्तिः । तपः-क्षुत्पिपासा-शीतोष्णादिद्वंद्वसहनम्, काष्ठमौनाकारमौनादिव्रतादी च । इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम् काष्ठमौनम्, अवचनमात्रमाकारमौनमिति भेदः । स्वाध्यायः-मोक्षशास्त्राणामध्ययनम्, प्रण-

न्तर, मिट्टी जलसे शरीरस्थ मलनिवृत्तिरूप प्रक्षालन, और हित-मित-मेध्य भोजन यह बाह्य शुद्धि है । हित यानी अनुकूल, मित यानी परिमित अर्थात् अधिक नहीं मेध्य यानी पवित्र सात्त्विक, राजस, तामस, अपवित्र नहीं मैत्री मुदितादिसे मदमानादिरूप मनोमलका प्रक्षालन आन्तर शुद्धि है, सन्तोष विद्यमान भोगशाधनसे अधिक न लेनेको इच्छाका अभावस्वरूप चित्तवृत्ति है ।

प्रश्न—तप क्या है ?

उत्तर—भूख पिपासा सर्दी गर्मी आदि द्वन्द्वोंका सहन काष्ठवत्मौनाकार मौनादिव्रत है। यहाँ काष्ठ-वत् मौनका अर्थ है कि जो मुंहसे न बोलकर लिखकर या चेष्टासे समझाना है वह काष्ठमौन नहीं है किन्तु वस्तुतः अभिप्रायको वक्र मार्गसे सूचित करना ही है तो फिर ऋजुमार्ग शब्द हीसे सूचित करना अच्छा है अतएव काष्ठमौन और आकारमौन दोनों कहा है। काष्ठमौनका स्वरूप स्फुट करते हैं—'इङ्गितेन' से । अर्थ-चेष्टासे

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं मिट्टी जलादिसे मल प्रक्षालन द्वारा उत्पन्न शुद्धि है यहाँ आदि शब्दसे पञ्चगव्यादि गोमूत्र यावकादि मेध्य है, इनके भक्षणसे उत्पन्न शुद्धि, एवं आदि शब्दसे अशन-परिमाण संख्यादिका नियम भी समझना। चित्तके मल मद मान, असूयादिका हटाना मनका शौच है, प्राणरक्षामात्र हेतुसे अधिक न लेनेकी इच्छा सन्तोष है और लेकर छोड़नेसे पहिले तादृश इच्छा सन्तोष है सर्दी, गर्मी द्वन्द्वका सहना तप है भूख-पिपासा आदि द्वन्द्व जोड़े हैं, काष्ठमौन किसी चेष्टासे अपने अभिप्रायका अप्रकाश, न बोलना रूप ही आकार मौन है यही दोनोंमें भेद है कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप है स्वाध्याय-मोक्षशास्त्रका अध्ययन यदि उक्त शास्त्रका अध्ययन कर चुका हो अथवा करनेकी योग्यता न हो तो प्रणवका जप करना है, परम गुरु परमेश्वरमें सब कर्मोंका अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है ।

'स्थिरसुखमासनम्' यो० २ सू० ४६ ॥ इति ॥

जो स्थिर-स्थायि सुखप्रद है वह आसन है यह सूत्रका अर्थ है 'आस्यते अनेन' यह व्युत्पत्ति आसनकी है उसके कई प्रकार भाष्यमें है, कुछ निर्देश यहाँ करते हैं—पद्मासन भद्रासन स्वस्तिक आदि इनमें पद्मासन प्रसिद्ध है, वृषण कोशके समीपमें पादतलको सम्पुट कर उसके ऊपर पाणिकच्छिका करें वह भद्रासन है और दोनों हाथ और तथाकृत दोनों पैरोंको मोड़कर भूमि पर रखकर कच्छपाकार हो जाना उक्त आसन है, बायें पैरको सिकोड़कर दक्षिण जाँघ ऊरुके मध्यमें करके और दहिने पैरको बाँई जाँघ और ऊरुके बीचमें करें यह स्वस्तिकासन है इत्यादि विस्तार भाष्य और वैशारदीमें देखिये जिज्ञासार्थ लिख दिया है । टीकाके लिये विशेष उपयोगी नहीं आसन गौण है मुख्य चित्तैकाग्रता है जिससे सुखपूर्वक चित्तकी एकाग्रता हो वही आसन भगवान् सूत्रकारको अभिमत है ।

वजपो वा। ईश्वरप्रणिधानम्-सर्वकर्मणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतयाऽर्पणम्, एते विधिरूपाः नियमाः। पुराणेषु येऽधिका उक्ताः, त एष्वेव यमनियमेष्वन्तर्भाव्याः। एतादृशयमनियमाद्यभ्यासपरा योगयज्ञाः। 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च'—यथाविधि वेदाभ्यासपराः- स्वाध्याययज्ञाः, न्यायेन वेदार्थनिश्चयपरा ज्ञानयज्ञाः।

यज्ञान्तरमाह—'यतयः' इति। यतयः-यत्नशीलाः संशितव्रताः-सम्यक्शितानि-तीक्ष्णीकृतान्यतिदृढानि व्रतानि येषाम्, ते संशितव्रतयज्ञा इत्यर्थः। तथा च भगवान्पतञ्जलिः—'ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' २-३१ इति। ये

भी अपने अभिप्रायका प्रकाशन न करना काष्ठमौन है। वचन यानी शब्द न बोलना किन्तु आकारादिसे जो सूचित करते हैं वे आकारमौन है, काष्ठमौन आकारमौनमें उक्त भेद है, हम ऊपर कह आये हैं। स्वाध्याय-मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन और प्रणव जप। यदि उन शास्त्रोंको न पढ़ा हो तो पढ़े यदि न पढ़ सके या पढ़ चुका हो तो प्रणवका जप करे, ईश्वर प्रणिधान सब साधु कर्मोका परमगुरु परमात्मामें फलेच्छा रहित समर्पण। ये विधिरूप नियम हैं पुराणमें जो अधिक कहे गये हैं वे इन्हीं यह नियमोंके अन्तर्गत है एतादृश यम नियमाद्यभ्यासशील योगयज्ञ उक्त योग ही है यज्ञ जिनका वे योगयज्ञ कहे जाते हैं अथवा योग संयोग प्राप्ति पुण्यतीर्थोंमें जाना वहाँ निवास करना यह भी अर्थ हो सकता है। 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च' विधानानुसार वेदाध्ययनमें जो रत है वे स्वाध्याय यज्ञ कहाते हैं, ज्ञानयज्ञ यानी ज्ञान ही है यज्ञ जिनके वे ज्ञानयज्ञ हैं, ज्ञानसे यहाँ वेदार्थ ज्ञान विवक्षित है न्यायसे अर्थात् 'पूर्वोत्तर मीमांसाविचाररूपसे' कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डके वेदार्थनिर्णयमें ही जो प्रयत्नशील है वे ज्ञानयज्ञ है। दूसरा यज्ञ भी कहते हैं 'यतयः यत्नशीलाः संशितव्रताः' सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतानि अतिदृढानि अहिंसारूपाणि व्रतानि येषां अर्थात् अहिंसादि रूप व्रतमें जो अति दृढ संकल्प है वे ही संशितव्रत यज्ञ हैं ऐसा ही भगवान् पतञ्जलिने कहा है 'ते जाति-देश-काल-समयानवच्छिान्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति। जो पूर्वमें अहिंसादि पांच यज्ञ कहे गये है वे ही जात्यादि नियम रहित अतएव दृढ़भूमि महाव्रत कहाते है उनमें जात्यवच्छिन्ना अहिंसा है, मृगयू-मृगको

'ते जाति-देश-कालानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' २-२९॥ इति॥

जात्यवच्छिन्ना अहिंसा जैसे मछली मारनेवालेकी अहिंसा मछलीको न मारेंगे है यह जात्यवच्छिन्ना है मत्स्यस्व जातीयमें ही नियत है अन्य जातिमें नहीं यही तीर्थमें न मारेंगे यह देशावच्छिन्न है, पुण्य दिनोंमें हिंसा न करेंगे यही कालावच्छिन्न है सब भूमियोंमें सब विषयोंमें सर्व प्रकारसे हिंसा न हो तो वही अहिंसा सार्वभौम होनेसे महाव्रत है।

पूर्वमहिंसाद्याः पञ्च यमा उक्ताः, त एव जात्याद्यनवच्छेदेन दृढभूमयो महाव्रतशब्दवाच्याः। तत्राऽहिंसा जात्यवच्छिन्ना। यथा मृगयोर्मृगातिरिक्तान्न हनिष्यमीति। देशावच्छिन्ना। न तीर्थे हनिष्यामीति, सैव कालावच्छिन्ना। यथा न चतुर्दश्याम्, न पुण्येऽहनीति। सैव प्रयोजन-विशेषरूपसमयावच्छिन्ना। यथा क्षत्त्रियस्य देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि, युद्धं विना न हनिष्यामीति च। एवं विवाहादिप्रयोजनव्यतिरेकेणाऽनृतं न वदिष्यामीति। एव-मापत्कालव्यतिरेकेण क्षुद्भयाद्यतिरिक्तस्तेयं न करिष्यामीति। एवमृतुव्यतिरिक्तकाले पत्नीं न गमिष्यामीति। एवं गुर्वादिप्रयोजनमन्तरेण न परिग्रहीष्यामीति, यथायोग्यमवच्छेदो द्रष्टव्यः। एतादृगवच्छेदपरिहारेण यदा सर्वजाति-सर्वदेशकाल-सर्वप्रयोजनेषु भवाः सार्वभौमा अहिंसादयः भवन्ति, महता प्रयत्नेन परिपाल्यमानत्वात्, तदा ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते। एवं काष्ठमौनादि-व्रतमपि द्रष्टव्यम्। एतादृशव्रतदार्ढ्ये च काम क्रोध-लोभ-मोहानां चतुर्णामपि नरकद्वार-

---

मारनेवाला यानी व्याधकी मृगातिरिक्त जानवरोंको न मारेंगे इस संकल्पसे मृग जातिकी हिंसाका परिहार नहीं हुआ किन्तु इतर जातीयहिंसाका ही निषेध हुआ इस कारण यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न है, तीर्थमे न मारेंगे यह तीर्थ देशविशेषावच्छिन्न होनेसे देशावच्छिन्न है क्योंकि देश नियत है इससे अन्य देशमें हिंसा करेंगे यह फलित होता है वही कालावच्छिन्न भी होती है जैसे न चतुर्दशीमें न पुण्य दिनोंमें हिंसा करेंगे वही प्रयोजन विशेषरूप समयसे अवच्छिन्न समयावच्छिन्न होती है जैसे क्षत्रियकी देवता ब्राह्मणोंके प्रयोजन से अतिरिक्त प्रयोजनके लिए हिंसा न करेंगे एवं युद्धके विना हिंसा न करेंगे यह भी समयावच्छिन्न है इसी प्रकार विवाहादि प्रयोजनके विना झूठ न बोलेंगे विवाह परिहासादिमें झूठ बोलनेका निषेध नहीं है प्रत्युत अनुमति है एवं विपत्ति कालको छोड़ भूखके भयसे रहित होनेपर चोरी न करेंगे। भूखकी निवृत्तिके लिए चोरी करनेका निषेध नहीं अतएव श्रीविश्वामित्रमहर्षिने धर्मव्याधके सूनागृहसे श्वजाघनी यानी कुत्तेकी टांग रात्रिमें चोराई थी यह पुराणमें प्रसिद्ध है एवं ऋतुकालातिरिक्त कालमें भार्यागमन न करेंगे 'ऋतौ-भार्यामुपेयादि'त्यादि वचनोंमें तत्तत्कालमें भार्यागमन विहित है न करनेमें प्रत्यवाय है एवं गुरु दक्षिणादि प्रयोजनके विना प्रतिग्रहादि न लेंगे यह अपरिग्रह अवच्छिन्न है गुरु दक्षिणादि प्रयोजनके लिये प्रतिग्रह शास्त्र सम्मत है अतएव वरतन्तुशिष्य कौत्स १४ करोड रुपया मागनेके लिये श्रीरघु राजाके यहां गये और सैकड़ों ऊंटों खच्चरोंसे सोना गुरुजीके पास लाये यह रघुवंशमें प्रसिद्ध है, यथा सम्भव जाति देशकालाद्यवच्छेद इनमें समझना उक्त अवच्छेदसे रहित जब सब जाति सब देश सब काल सब प्रयोजनोंमें होने वाली सार्वभौम अहिंसादि होते हैं तब वे महाव्रत कहे जाते है क्योंकि बड़े परिश्रमसे उनकी रक्षा होती है इसी प्रकार काष्ठमौनव्रतको भी समझना इस व्रतके सुदृढ़ होने पर काम क्रोध लोभ मोह ये चारों जो नरकके द्वार

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। २९ ।।

दूसरे योगी जन प्राणवायुका अपान वायुमें हवन करते हैं। और लोग इसी प्रकार प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं। दूसरे लोग प्राण और अपानकी गति (श्वासबहिर्गमन, श्वास अन्तर्गमन) को रोककर प्राणायाम परायण होते हैं ।। २९ ।।

भूतानां निवृत्तिः । तत्राऽहिंसया क्षमया क्रोधस्य, ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेयापरिग्रहरूपेण संतोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । इतराणि च फलानि सकामानां योगशास्त्रे कथितानि ।। २८ ।।

प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन—'अपाने' इति । अपाने-अपानवृत्तौ जुह्वति-प्रक्षिपन्ति प्राणवृत्तिम्, बाह्यवायोः शरीराभ्यन्तरप्रवेशेन पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्राणे अपानं तथाऽपरे जुह्वति-शरीरवायोर्बहिर्निर्गमनेन रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । पूरक-रेचककथनेन च तदविनाभूतो द्विविधः कुम्भकोऽपि कथित एव । यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरम् श्वासप्रश्वासनिरोधः क्रियामाणोऽन्तः कुम्भकः । यथाशक्ति सर्ववायुं विरिच्यानन्तरं क्रियमाणो

प्रसिद्ध है इनकी निवृत्ति हो जाती है, उनमें क्रोधकी निवृत्ति अहिंसा और क्षमासे होती है, ब्रह्मचर्य और तात्विक विचारसे कामकी निवृत्ति होती है, अस्तेयापरिग्रह रूप सन्तोषसे चौर्यकी निवृत्ति होती है, अर्थात् चोरी करनेसे निवृत्ति होती है समीचीन ज्ञान सत्य है वही विवेक है उससे मोहकी निवृत्ति होती है यह जानना इनसे अन्य फल भी जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है वे भी फल सकाम पुरुषोंको होते हैं अर्थात् तत्तत्फल कामियोंको योगशास्त्रोक्त फल भी होते हैं ।। २८ ।।

प्राणायाम यज्ञ कहते है 'अपाने' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे। अपानवयायु यानी गुदास्थ वायुवृत्तिमें प्राणवृत्तिका निक्षेपरूप हवन करते है बाह्यदेशस्थित वायुका शरीरके भीतर प्रवेश करनेसे पूरक नामक प्राणायाम करते हैं, प्राणमें अपानका उसी प्रकार दूसरे हवन करते है अर्थात् शरीर स्थित वायुके बाहर निकालनेसे रेचक नामक प्राणायाम करते हैं रेचक पूरकका कथन तो है पर कुंभकका निर्देश नहीं है विना कुम्भकके उक्त दोनों नहीं हो सकते अतः उनसे कुम्भकका भी आक्षेप होता है क्योंकि 'येन विना यन्नोपपद्यते तेन तदाक्षिप्यते' यह न्याय प्रसिद्ध है जैसे भोजनके विना पीनत्व [मोटापन] नहीं हो सकता अतः मोटाईसे भोजनका आक्षेप होता है वैसे प्रकृतमें भी समझना आक्षिप्त कुम्भक दो प्रकारका है सामर्थ्यानुसार वायुको

वहिष्कुम्भकः। एतत्प्राणामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकमाह—'प्राणापानगती'-मुखनासिकाभ्यामान्तरस्य वायोबहिर्निर्गमः श्वासः-प्राणस्य गतिः। बहिर्निर्गतस्यान्तःप्रवेशः प्रश्वासोऽपानस्य गतिः। तत्र पूरके प्राणगतिनिरोधः। रेचकेऽपानगतिनिरोधः। कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण युगपच्च श्वासप्रश्वासाख्ये प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तोऽपरे पूर्वविलक्षणाः नियताहाराः आहारनियमादियोगसाधनविशिष्टाः प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणाञ्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाञ्जुह्वति-चतुर्थकुम्भकाभ्यासेन विलापयन्तीत्यर्थः।

तदेतत्सर्वं भगवता पतञ्जलिना संक्षेपविस्तराभ्यां सूत्रितम्। तत्र संक्षेपसूत्रम्—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः' २-४९ इति। तस्मिन्नासने स्थिरे सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः। कीदृशः ? श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदलक्षणः श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोर्या गतिः पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोध एव लक्षणम्-स्वरूपं यस्य, स तथेति। एतदेव विवृणोति—

पूर्णकर तदनन्तर क्रियमाण श्वास प्रश्वासका गतिनिरोध अंतःकुम्भक कहाता है जहाँ तक हो सके सब वायुको निकाल कर बाद क्रियमाण बहिः कुम्भक कहाता है इन तीनों प्राणायामोंका अनुवाद कर चतुर्थ प्राणायाम कुम्भकको कहते हैं 'प्राणापानगती' इत्यादिसे। मुख नासिका इन दोनोंसे भीतरके वायुको बाहर करना यानी श्वास बाहर जाना प्राणकी गति है बहिष्कृत वायुका भीतर प्रवेश प्रश्वास अपानकी गति है पूरकमें प्राणकी गतिका निरोध रेचकमें अपानकी गतिका निरोध और कुम्भकमें दोनोंकी गतियोंका निरोध इस क्रमसे अथवा एक कालमें श्वास प्रश्वास नामक प्राणापानगतिको रोककर प्राणायामपरायण तत्पर होते हुये दूसरे योगिजन पूर्व योगियोंसे विलक्षण संयताहार हित मित मेध्य आहारादि जो योगियोंको विहित है उन सभी योगसाधनोंमें श्रद्धायुक्त बाह्याभ्यन्तर कुम्भकाभ्याससे वशीकृत प्राणोंमें प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूपको हवन करते हैं चतुर्थ कुम्भकके अभ्याससे विलान यानी विनष्ट करते हैं। यह सब भगवान् पतञ्जलि महर्षिने संक्षेप विस्तारसे सूचित किया है अर्थात् दोनों प्रकारके सूत्र बनाये हैं उनमें पहिला सूत्र है 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः' इति। अर्थ-आसन स्थिर होनेपर प्राणायाम करना चाहिये अन्यथा नहीं कैसा प्राणायाम है, श्वास प्रश्वास गतिविच्छेदलक्षण है, श्वास प्रश्वास यानीं प्राणापान इन दोनोंकी पुरुष व्यापारके विना स्वाभाविक जो गति है उसका क्रमसे अथवा एक कालमें पुरुष व्यापार विशेषसे विच्छेद निरोध है यही निरोधका लक्षण स्वरूप है जिसका वह प्राणायाम है इसका

स तु 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म् २-५० इति

विवरण करते हैं—'बाह्याभ्यंतरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' इति। बाह्यगति

'बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टों दीर्घसूक्ष्मः' इति यो० सू० वृत्तिशब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध है। रेचक, पूरक, कुम्भक भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका है प्रश्वासके साथ प्राणगतिका अवरोध रेचक है वही बाह्यवृत्ति रेचक नामक प्राणायाम है, जहाँ श्वास पूरकके साथ गतिका अभाव है वह आभ्यन्तरवृत्तिपूरक नामक प्राणायाम है जहाँ अभ्यास निरपेक्ष एकबार प्रयत्नसे श्वास प्रश्वास इन दोनोंकी गतिका अभाव है वह स्तम्भवृत्ति कुम्भक नामक प्राणायाम है, वक्ष्यमाणकुम्भक विशेष जो चतुर्थ है उसकी व्यावृत्तिके लिये 'असकृत्प्रयत्नात्' यह विशेषण है वह असकृत्प्रत्नसे होता है यह वहाँ ही स्पष्ट है एक ही समयमें बाह्याभ्यन्तर प्राणोंके विलापनमें दृष्टान्त है कि जैसे सन्तप्त पत्थरके ऊपर प्रक्षिप्तजल सर्वतः सूखता हुआ संकुचित होता है वैसे ही वहनशील यह वायु बलवान विधारक प्रयत्नसे निरुद्धक्रिय होकर सूक्ष्मरूपसे शरीरमें ही रहता है पूरण न करनेसे पूरक नहीं रेचन न करनेसे रेचक भी नहीं वैसेही बाह्याभ्यन्तर दोनोंमें देशकाल संख्या परिदृष्ट इस विशेषण देनेका यह अर्थ है कि इतने देश इतने काल और इतनी संख्यासे परिमित रेचकादि मुझे करना है इसका निश्चय करलें और नासिकासे आगे प्रादेश परिमित अथवा बारह अंगुलसे परिच्छिन्न बाह्य देश रेचकका विषय है इसका निश्चय सरपतकी रूईसे किया जाता है, पूरकका पादतल यानी पैरका तलुआसे लेकर मस्तक पर्यन्त आभ्यन्तर विषय है वह चींटीके स्पर्शके समान स्पर्शसे अनुमेय यानी उसका अनुमान किया जाता है कुम्भक वा रेचक और पूरकका जो कथित देश है वही बाह्याभ्यन्तर देश है इन्हीं दोनों देशोंमें प्राणका विलय होता है यह उक्त रूईकी क्रिया है और उक्त स्पर्श न होनेसे जाना जाता है यद्यपि संख्यासे कालनियम किया जाता है तथापि प्रकार भेदसे दोनोंका उल्लेख है संख्यार्थ मात्रा मार्कण्डेय पुराणमें है निमिषोंके मात्रा—

'तालो लघ्वक्षरं तथा प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादश मात्रिकः'

इत्यादि विशेष योगवार्तिकादिमें देखिये बाह्यान्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ बाह्याभ्यन्तर विषयक जो क्रमणकर अर्थात् त्यागकर केवल स्वयं रहता एवं भूत जो प्राणायाम सो चौथा हैं इस चौथेकी कुम्भक संज्ञा है यह वसिष्ठजीके वाक्यसे स्पष्ट होगा पूर्व सूत्रोक्त कुम्भक तो नियमसे रेचक पूरकके मध्यमें ही होता है इस कारण इन दोनोंका अतिक्रम नहीं करता रेचक पूरकके विषयोंके अतिक्रमलाभार्थ विषयघटित लक्षण कहा है अन्यथा 'रेचकातिक्रमी' ऐसा सूत्र होता यह कुम्भक रेचक पूरकके देशमें नहीं होता क्योंकि यह व्यापक है और काल संख्या परिच्छिन्न भी नहीं है क्योंकि स्वेच्छासे मास वर्षकालतक स्थायी हो सकता है ध्रुवका यह प्राणयाम विष्णु पुराणमें लिखा है तपके समय ध्रुवके प्राण निरोधसे सब जीवोंके प्राणोंका निरोध हुआ यह वहाँ कहा गया है

यह चौथा प्राणयाम वसिष्ठसंहितामें ऐसा लिखा है—

'प्रस्वेदं जनयेद् यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः। मध्यमः कम्पनात्प्रोक्त उत्थानं चोत्तमे भवेद् ॥ १ ॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः। निश्वासोच्छ्वासको देहे स्वाभाविकगुणावुभौ ॥ २ ॥

बाह्यगनिरोधरूपत्वाद्बाह्यवृत्तिः पूरकः । अन्तरगतिनिरोधरूपत्वादान्तरवृत्ती रेचकः ।

कैश्चित्तु बाह्यशब्देन रेचकः, आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः । युगपदुभयगतिनिरोधःस्तम्भः तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तम् 'यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव

निरोधरूप होनेसे बाह्यवृति पूरक है । भीतर गतिनिरोधरूप होनेसे आभ्यन्तर वृत्ति रेचक है ।

कोई विद्वान् तो बाह्यशब्दसे रेचकका आन्तर शब्दसे पूरकका व्याख्यान किया है एक कालमें श्वास प्रश्वास दोनोंकी गतिका निरोध स्तम्भवृत्ति कुम्भक है यह कहा है, जहां दोनों श्वास प्रश्वासोंका विधारक प्रयत्नसे

तस्यापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि । तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्तुः केवलकुम्भकम् ।। ३ ।।

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा मुख्यं यद् वायुधारणम् । प्राणायामो प्रमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।। ४ ।।

सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् । यावत्केवलसिद्धिः स्यात् तावत्सहितमभ्यसेत् ।। ५ ।।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते' ।। ६ ।। इति ।।

आकाशमें गमन करनेकी शक्तिके प्रादुर्भावसे स्वेच्छानुसार चाहें जहां जा सकता है बाह्यविषय रेचक प्रथम देशकाल और संख्यासे परिच्छिन्न होता है पीछे देशादिके साथ ही आक्षिप्त होकर तदतिक्रामित होता है सूत्रमें देशवाची विषयशब्द काल संख्याका भी उपलक्षक है यह संक्षिप्त सूत्रार्थ है ।

यो० सू० तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः, वक्ष्यमाण चार प्रकारके प्राणायामोंका सामान्य लक्षण गतिविच्छेद है शास्त्रानुसार स्वाभाविक गतिका अभाव स्वेच्छानुसार नहीं यह सामान्य लक्षण रेचक पूरक और कुम्भक इन तीनोंमें अनुगत है ।

शंका—प्रत्येक प्राणायाममें सामान्य लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी कारण रेचकादि तीनों मिलित प्राणायाम है 'एकैक नहीं' प्राणायामस्तु विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकैः' यह अभियुक्तोक्ति है ?

समाधान—एकैक भी प्राणायाम इष्ट ही हैं अतः लक्षणानुगति इष्टसाधिका है अनिष्टापादिका नहीं पूर्वापरिभावसे प्रथम भूमिकामें साथ ही अनुष्ठानका नियम होनेसे तीनोंमें एकत्वव्यवहार है यही उक्त वाक्यका तात्पर्य है तीनों मिलित प्राणायाम है एकैक नहीं इसीसे वसिष्ठसंहितामें—

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।'

यह कहा गया है, केवलकुम्भकमें भी प्राणायामत्व इष्ट ही है आसन ठीक होनेपर प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इन पाँचोंको करना चाहिए । 'सत्यासनजये' इस भाष्योक्तिका तात्पर्य यह है कि जैसे कालान्तरकृत यमनियमादि योगाङ्ग है वैसा आसन नहीं किन्तु प्राणायामादिके साथ तदङ्ग है समाधिपर्यन्त 'सत्यासनजये'की अनुवृत्ति है बाह्य वायुका अन्तःप्रवेशकर धारणा करना पूरकमें श्वास प्रश्वासका गति विच्छेद हैं जहां भीतरके वायुको निकालकर बाहर धारण करते हैं रेचकमें वहांपर भी श्वासप्रश्वासकी गतिका विच्छेद है इसी प्रकार कुम्भमें भी समझना । इति' ।

विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति, न पूनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारणम् नापि रेचकप्रयत्नौघविधारणम् किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यतेः एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मीभूतोऽवतिष्ठते। न तु पूरयति, येन पूरकः, न तु रेचयति, येन रेचकः 'तत्त्व वै. पृ. २७१ इति।

त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति। यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति, तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते। तथाहि—हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते देशे स्वासः समाप्यते। तत एव च परावृत्त्य हृदयपर्यन्तम् प्रविशतीति, स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेः, आधारद्वारा निर्गच्छति। नासातश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिर्निवाते देश इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रिययाऽनुमातव्या। अन्तरपि पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमातव्या। सेयं देशपरीक्षा। तथा निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः तेषामियत्ताऽवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः।

एक ही समयमें अभाव होता है पूर्ववत् फिर आपूरणप्रयत्नसमूहका विधारण अर्थात् रोकना, एवं रेचक प्रयत्नसमूहका विधारण अर्थात् अवरोध न होता है और न रेचन प्रयत्नौघ विधारण ही होता है किन्तु तपे पत्थल पर जैसे प्रक्षिप्त जल सूखता हुआ सब जगहोंसे संकुचित हो जाता है वैसे यह भी मारुत यानी 'वायु' वहनगतिशील बलवान् विधारक प्रयत्न "व्यापार"से प्रतिबद्धगति होकर शरीरमें ही सूक्ष्म होकर रहता है पूरण नहीं करता जिससे पूरक कहा जाय और न रेचन ही करता हैं जिससे रेचन कहा जाय।

तीन प्रकारका यह प्राणायाम देशसे कालसे और संख्यासे परिच्छिन्न होनेपर दीर्घ सूक्ष्म नामका होता है घनीभूत तूलपिण्ड यानी जमी रूई यानी दगलाको धुनकर फैलानेसे बड़ा होता है अर्थात् अधिक देश व्यापी होता है और समेटनेपर सूक्ष्म यानी छोटा होता है तद्वत् प्राण भी देश काल और संख्याकी अधिकतासे अभ्यस्यमान बड़ा और देखनेके अयोग्य होनेसे सूक्ष्म भी होता है 'तथाहि'से यही दिखलाते हैं, हृदय प्रदेशसे बहिर्गत नासा यानी नाकके सामने बारह अंगुल पर्यन्त देशमें श्वास समाप्त होता है वहाँ ही से लौटकर हृदयमें प्रवेश करता है यह प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति है अभ्याससे तो क्रमसे नाभीके आधार द्वारा निकलता है नासान्त चौबिस अंगुलपर्यन्त वा छत्तिस अंगुलपर्यन्त देशमें समाप्त होता है इसी प्रकार

स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः । स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्र इति । नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्विरिच्यमानस्य शिरस्यभिहननमुद्धात इत्युच्यते । सेयं कालपरीक्षा, संख्यापरीक्षा च । प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा संख्यापरीक्षा, श्वासप्रवेशगणनया वा । कालसंख्ययोः कथंचिद्भेदविवक्षया पृथगुपन्यासः । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते, तथाऽपि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव । स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्म इति, निरूपितस्त्रिविधः प्राणायामः ।

चतुर्थम् फलभूतं सूत्रयति स्म—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' २-५१ इति । बाह्यविषयः श्वासः रेचकः । आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः । वैपरीत्यं वा । तावुभावपेक्ष्य सकृद्वलवद्वि-

---

प्रवेश भी उतना ही समझना वहाँ बाह्य देश व्याप्ति कैसे प्रतीत होगी कि यहाँ तक वायुका प्रवेश हुआ क्योंकि वायुका चाक्षुष प्रत्यक्ष है नहीं स्पर्श प्रत्यक्ष शरीर ही में होता है, बाह्यप्रदेशमें नहीं इस शङ्काके वारणार्थ कहते हैं—'निर्वातेति' । वायुरहित देशमें सर्पतको सूक्ष्म रूईकी क्रियासे व्याप्तिका अनुमान किया जाता है अर्थात् १२ या ३६ अंगुलकी दूरीपर रखी हुई रूई यदि हीलने लगे तो समझना चाहिये कि वायु वहाँ तक गया वाह्यवायुप्रयुक्त क्रियावृत्तके लिये निर्वात प्रदेश कहा है भीतर प्रवेशका ज्ञान कैसे होगा भीतर रूईकी सम्भव नहीं इसके समाधागार्थ कहते हैं—'अन्तरपी'ति । भीतर भी जव वायु प्रवेश करता है चीटीके स्पर्शके समान भीतर स्पर्श ज्ञान होता है उसीसे उसका अनुमान होता है यही देशपरीक्षा है निमेषक्रिया पलकगिरना तदवच्छिन्न कालका चौथा भाग क्षण कहा जाता है उनकी भी इस प्रकारकी संख्या जाननी चाहिए । अपने जानुमण्डलको यानी जाँघको तीन बार छूना छोटिकावच्छिन्न काल मात्रा है जितने समयमें अपनी जाँध तीन बार छुइ जाय उतना समय मात्रा है उन छत्तिस मात्राओंसे पहिला अद्धात मन्द है उसीके दूनेको दूसरा मध्य कहते हैं वही तिगुना होकर तीसरा तीव्र है ।

नभिमूलसे प्रेरित रिच्यमान वायुका शिरमें अभिघात ठोकर उद्धात कहाता है यह काल परीक्षा है, संख्या परीक्षा प्रणव जपादिकी आवृत्ति भेदसे अथवा श्वास प्रश्वासकी गणनासे होती है, काल परीक्षा और संख्यापरिक्षा वस्तुतः समान ही हैं फिर भी दोनोंका स्वरूप वस्तुतः भिन्न हे अतः कथं चिद् भेद मानकर औपाधिक भेदसे अलग उल्लेख किया गया है यद्यपि कुम्भकमें देश व्याप्ति नहीं मालूम पड़ती तो भी काल संख्या व्यप्ति ज्ञान होती ही है यही वह प्राणायाम प्रतिदिनके अभ्याससे उत्तरोत्तर वढ़ता है, दिन मास वर्षादि पर्यन्त प्राणायाम स्थायी होता है अतएव देशका प्रचय व्यापी होनेसे दीर्घ अति निपुण बुद्धिसे जाननेके योग्य सूक्ष्म हैं इस प्रकार त्रिविध प्राणायामका निरूपण हुआ । फलभूत चतुर्थका सूत्र कहते हैं—'वाह्ये'त्यादि । वाह्य विषय श्वास रेचक आभ्यन्तर विषय प्रश्वास पूरक अथवा विपरीत बाह्य विषय पूरक आभ्यन्तर विषय रेचक ऐसा

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

नियत आहार करनेवाले अन्य योगीजन प्राणोंका प्राणोंमें हवन करते हैं। यज्ञके द्वारा निवृत्त पापवाले सभी पुरुष यज्ञोंके ज्ञाता और कर्ता होते हैं ॥ ३० ॥

धारकप्रयत्नवशाद्भवति बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्तृतीयः कुम्भकः । तावुभावनपेक्ष्यैव केवलकुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्तत्प्रयत्नवशाद्भवति चतुर्थः कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयात् प्रयत्नवशाद्भवति चतुर्थः कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीति, तदनपेक्ष इत्यर्थः ।

अन्या व्याख्या—बाह्यो विषयो द्वादशान्तादिः, आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य-पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः, स चतुर्थः प्राणायाम इति । तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरौ विषयावपर्यालोच्यैव सहसा भवतीति विशेषः । एतादृशश्चतुर्विधः प्राणायामः 'अपाने जुह्वति प्राणमि'त्यादिना सार्धेन श्लोकेन दर्शितः ॥ २९ ॥

तदेवमुक्तानां द्वादशधा यज्ञविदां फलमाह—'**सर्वेऽप्येते यज्ञविदः**'इति । यज्ञान्विदन्ति-जानन्ति, विन्दन्ति-लभन्ते वेति यज्ञविदः-यज्ञानां ज्ञातारः, कर्तारश्च । यज्ञैः

भी व्याख्यान हो सकता है कारण रेचक भीतरसे बाहर निकलता है उसमें आन्तर और बाह्य दोनों विषय हैं विनिगमनाविरहसे दोनों कह सकते हैं एवं पूरक बाह्य वायुको भीतर खींचना सो भी बाहर भीतर एतदुभय विषयक हैं अतः व्याख्यानद्वयमें अर्थ भेद नहीं इन दोनोंकी अपेक्षा कर, सकृत् एक बारके बलवान विधारक प्रयत्नसे बाह्याभ्यन्तर भेदसे द्विविध तीसरा कुम्भक होता है उन दोनोंकी अपेक्षा न करके ही केवल कुम्भकाभ्यास पटुतासे बारबार तत्तद् प्रयत्न वश होता है यह चतुर्थ कुम्भक है तथा च बाह्यान्तर विषयाक्षेपीका अर्थ है बाह्यान्तर विषयानपेक्ष ही चतुर्थ कुम्भक होता है यदि उक्त विषयोंकी अपेक्षा हो तो तदपेक्षी ऐसा सूत्र ही व्यर्थ होगा पूर्व कुम्भकसे अतिरिक्त न होगा पूर्वोक्त स्वरूप तो कह ही चुके हैं अतः उक्त व्याख्या ही ठीक है। दूसरी भी व्याख्या सुनिये बाह्यविषय १२ आदि अंगुलादि आभ्यन्तर विषय हृदय नाभि चक्रादि उन दोनों विषयोंका आक्षेपक अर्थात् पर्यालोचनकर जो स्तम्भ रूप गति विच्छेद हैं वह चतुर्थ प्राणायाम है तीसरा तो उन दोनों विषयोंका पर्यालोचन करके नहीं शीघ्र हो जाता है यह दोनोंमें भेद है एतादृश चतुर्थ प्राणायाम 'अपाने जुह्वति प्राणमि'त्यादिसे है ॥ २९ ॥

उक्त बारह प्रकारके यज्ञ वेत्ताओंका फल कहते है यज्ञविद्की व्युत्पत्ति दिखलाते हैं यज्ञान् विदन्ति जानन्ति 'विद ज्ञाने' धातु यज्ञोपपदकविद्से यज्ञ विद्की सिद्धि है यज्ञान् विन्दन्ति यह व्युत्पत्ति 'विद्लृ लाभे'से

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! यज्ञसे बचा हुआ अमृतस्वरूप अन्नादिका भोजन करनेवाला सनातन [नित्य] ब्रह्मको प्राप्त करता है। उक्त यज्ञोंमेंसे एक भी यज्ञ जिसने नहीं किया, उसको स्वल्प सुखवाला संसार भी नहीं है। परलोक की बात हीं क्या ? ॥ ३१ ॥

एवं अनेक प्रकारके यज्ञ वेदमें विस्तृत हैं। उनको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाओंसे उत्पन्न समझो। इस प्रकार अपनेको उदासीन जानकर संसार बन्धनसे मोक्ष प्राप्त करोगे ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्तैः क्षपितम्-नाशितं कल्मषं पापं येषाम्, ते यज्ञक्षपितकल्मषाः। यज्ञान्कृत्वा [अवशिष्टे काले] अवशिष्टममृतशब्दवाच्यमन्नं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः। ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञान-प्राप्तिद्वारेण यान्ति-ब्रह्म सनातनम्-नित्यम्, संसारान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवमन्वये गुणमुक्त्वा, व्यतिरेके दोषमाहार्धेन 'नायमि' त्यादिना। उक्तानां यज्ञानाम् मध्येऽन्यतमोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति, सोऽयज्ञः, तस्याऽयम्-अल्पसुखोऽपि मनुष्यलोको नास्ति, सर्व-निन्द्यत्वात्, कुतोऽन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः परलोकः हे कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥

बननेवाले यज्ञवित्की है दोनों व्युत्पत्ति प्रकृतमें विवक्षित है अतः उक्त शब्दसे यज्ञवेत्ता और यज्ञकर्ता ये दोनों अर्थ विवक्षित है पूर्वोक्त यज्ञोंसे क्षपित विनाशित कल्मष पाप है जिनका यज्ञोंको करके शेष कालमें या अवशिष्ट अमृत शब्द वाच्य अन्नका भोजन करते हैं वस्तुतः यज्ञ शिष्ट अन्न स्वरूपतः अमृत नहीं है तथापि स्तुतिके लिये पारिभाषिक अमृतशब्दका प्रयोग है इसको व्यक्त करनेके लिए अमृत शब्द वाच्य कहा है 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' ये सब सत्त्व शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्ति द्वारा सनातन नित्य ब्रह्मको प्राप्त करते हैं—संसारसे मुक्त होते हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार यज्ञान्वयमें संसारके मुक्तिरूप गुणको कहकर व्यतिरेकमें यज्ञ न करने पर दोष कहते हैं डेढ़ श्लोक 'यज्ञ' इत्यादिसे। उक्त यज्ञोंमें एकविध भी जो यज्ञ नहीं किया वह अयज्ञ-यज्ञशून्य है उसको स्वल्प सुख संसार मनुष्य लोक भी नहीं है क्योंकि हीन दशा होने पर सर्व निन्द्य होता है, विशिष्ट साधनसे प्राप्तियोग्य परलोक उसको कहाँ, 'कुरुसत्तम' इस सम्बोधनसे कुरु लोग यज्ञवेत्ता हुए हैं तुम उनमें श्रेष्ठ हो अतः तुम भी अवश्य यज्ञविद् बनो यह अभिप्राय सूचित किया ॥ ३१ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ।

सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।। ३३ ।।

हे अर्जुन ! द्रव्यसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि सम्पूर्ण श्रौत स्मार्त कर्मका ज्ञानमें पर्यवसान है ।। ३३ ।।

किं त्वया स्वोत्प्रेक्षामात्रेणैवमुच्यते ? न हि, वेद एवात्र प्रमाणमित्याह—'एवमिति' । एवं-यथोक्ता बहुविधाः-बहुप्रकारा यज्ञाः-सर्ववैदिकश्रेयःसाधनरूपा वितताः-विस्तृता ब्रह्मणः-वेदस्य मुखे-द्वारे । वेदद्वारेणैवैतेऽवगता इत्यर्थः । वेदवाक्यानि तु प्रत्येकं विस्तरभयान्नोदाह्रियन्ते । कर्मजान्-कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि-जानीहि तान् सर्वान्यज्ञाननात्मजान् । निर्व्यापारो ह्यात्मा, न तद्व्यापारा एते, किन्तु निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे-अस्मात्संसारबन्धनादिति शेषः ।। ३२ ।।

सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात्कर्मज्ञानयोः साम्यप्राप्तावाह—'श्रेयानि'त्यादिना । श्रेयान्-प्रशस्यतरः, साक्षान्मोक्षफलत्वात्, द्रव्यमयात्-तदुपलक्षिताज्ज्ञानशून्यात्सर्वस्मादपि यज्ञात्संसार-

---

क्या यह आप स्वयं अपनी ऊहासे कह रहे हैं या इसमें कुछ प्रमाण भी है ।

हां । प्रमाण वेद ही है यह कहते हैं इस प्रकार जैसा कहा है अनेक प्रकार यज्ञ सब वैदिक कल्याणकर वेद मुख वेद द्वारमें विस्तृत है वेद द्वारा ही मैं भी जाना है स्वप्रतिभामात्रसे नहीं, प्रत्येक वेद वाक्योंका उदाहरणसे अन्यमें जिसके उदाहरण न देंगे उनमें अविश्वास हो जायगा उदाहृत वाक्योंसे प्रतीयमान यज्ञमें विश्वास होगा इसलिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस प्रकारके अनेक याग वेद विहित हैं जिनके अनुष्ठानसे अनेक पुरुषधौरेय भवबन्धनसे विमुक्त होकर मुक्त हो गये हैं ये यज्ञ कायिक वाचिक और मानसव्यापारसे उत्पन्न होते हैं यह समझो उन सब यज्ञोंको अनात्मासे उत्पन्न समझो क्योंकि वस्तुतः आत्मा निर्व्यापार है, ये आत्माके व्यापार नहीं है किन्तु मैं निर्व्यापार अतएव उदासीन हूं इस प्रकारके ज्ञानसे संसार बन्धनसे विमुक्त होंगे यह शेष है वाक्यसे नहीं प्रतीत होता किन्तु एतदर्थक वाक्यका यहां आर्थिक या शाब्दिक सम्बन्ध कर लेना चाहिए।। ३२ ।।

सबके तुल्यवन्निर्देशसे कर्म और ज्ञानमें समानता प्राप्त होती हैं अर्थात् दोनों बराबर हैं इस भ्रमके निराकरणार्थ भगवान् कहते हैं 'श्रेयानित्यादि' । श्रेयान् अतिशय प्रशस्त द्रव्यमय अर्थात् द्रव्यसे उपलक्षितज्ञानरहित सांसारिक फल देनेवाले सभी यज्ञोंसे ज्ञान यज्ञ ही एक मात्र है क्योंकि यह साक्षात् मोक्षका हेतु

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुषोंसे अच्छीतरह दण्डवत् प्रणाम और सेवा एवं निश्छलभावसे किये गये प्रश्नके द्वारा उस ज्ञानको समझो । ज्ञानी जन तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे ॥ ३४ ॥

फलाज्ज्ञानयज्ञ एक एव । हे परंतप ! कस्मादेवम् ? यस्मात्सर्वं कर्म-इष्टि-पशु-सोम-चयनरूपम् श्रौतमखिलं-निरवशेषं स्मार्तम्-औपासनहोमादिरूपं च यत्कर्म, तत् ज्ञाने-ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे समाप्यते-प्रतिबन्धक्षयद्वारेण पर्यवस्यति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति, 'धर्मेण पापमपनुदति' ना० उ० १०-८, 'यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' वि० द० ३-४-३६ इति न्यायाच्चेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतादृशज्ञानप्राप्तौ कोऽतिप्रत्यासन्न उपाय इति चेत् ? उच्यते—'तद्विद्धि' इति । तत्-सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानं विद्धि-लभस्व । आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन-प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातः-दीर्घनमस्कारः, तेन । कोऽहं ? कथं बद्धोऽस्मि ? केनोपायेन मुच्येयमि ? त्यादि [ना] परिप्रश्नेन-बहुविषयेण प्रश्नेन । सेवया-सर्वभावेन तदनुकूलकारितया । एवं भक्ति-

---

है ज्ञानका फल मोक्ष है । द्रव्यमयोपलक्षित ज्ञानशून्य सब संसार फलक यागोंसे ज्ञानयज्ञ एक ही है । हे परन्तप ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यतः सब इष्टि-पशु-सोम-चयनादि श्रुति प्रतिपाद्य श्रौत और स्मृतिप्रतिपाद्य औपासनहोमादि-रूप कर्म ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारमें समाप्त होता है तत्त्वज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक दुरितनाश द्वारा उक्त ज्ञानमें पर्यवसान होता है तथा च श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि, धर्मेण पापम-पनुदति' यह भी श्रुति हैं 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस न्यायसे भी यह अर्थ सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

एतादृश ज्ञान प्राप्ति होनेमें कौन उपाय अति सन्निहित होता है सो कहते हैं–'तद्विद्धि'से । सब कर्मोंके फल भूत ज्ञान प्राप्त करो । आचार्योंके समीप जाकर उनको विनीतभावसे अतिशय भूमिपतन साष्टांग दण्डवत् करके हम कौन हैं ? देहेन्द्रियादि मनोबुद्धियोंमें से कोई है या तदतिरिक्त कैसे बद्ध हुए किस उपायसे मुक्त होंगे ? इत्यादि अनेक विषयक प्रश्नोंसे सब प्रकारकी सेवा तत्त्वज्ञानियोंकी सेवा कायिक अधिक नहीं होती किन्तु उनके अनुकूल आचरण करना प्रतिकूल नहीं यही सेवा है, एवं इसी तरह भक्ति श्रद्धाधिक्यसे

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। ३५ ।।

हे अर्जुन ! जिसको जानकर पुनः तुम इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त करोगे । जिस ज्ञानके द्वारा सर्वतोभावेन प्राणियोंको अपनेमें और इसके बाद मुझमें देखोगे ।। ३५ ।।

श्रद्धातिशयपूर्वकेणाऽवनतिविशेषेणाऽभिमुखाः सन्तः उपदेक्ष्यन्ति-उपदेशेन संपादयिष्यन्ति ते-तुभ्यं ज्ञानं परमात्मविषयं साक्षान्मोक्षफलं ज्ञानिनः-पद-वाक्य-न्यायादिमाननिपुणाः। तत्त्वदर्शिनः-कृतसाक्षात्काराः । साक्षात्कारवद्भिरुपदिष्टमेव ज्ञानं फलपर्यवसायि, न तु तद्रहितैः पद-वाक्य मानिपुणैरपीति भगवतो मतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतिसंवादि ।

तत्रापि श्रोत्रियम्, अधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठम्-कृतब्रह्मसाक्षात्कारमिति व्याख्यानात् । बहुवचनं चेदमाचार्यविषयमेकस्मिन्नपि गौरवातिशयार्थम्, न तु बहुत्वविवक्षया । एकस्मादेव तत्त्वसाक्षात्कारवत आचार्यात्तत्त्वज्ञानोदये सति, आचार्यान्तरगमनस्य तदर्थमयोगादिति द्रष्टव्यम् ।। ३४ ।।

एवमतिनिर्बन्धेन ज्ञानोत्पादने किं स्यात् ? अत आह—'यत् ज्ञात्वा' इति ।

अतिविनय विशेषसे अभिमुख उपदेशदानोन्मुख होकर ज्ञानी साक्षात् मोक्षफलक ज्ञानका उपदेश तुमको देंगे, यह व्याकरण, वाक्य-मीमांसा न्यायादिशास्त्रमें निपुणमति कृतात्मैक्य साक्षात्कार तत्त्वदर्शी जिनको आत्मैक्य साक्षात्कार हो चुका है उन्हींके उपदेशसे मोक्षजनक ज्ञान होता है साक्षात्कार जिनको नहीं है उनका उपदेश फलजनक ज्ञान नहीं होता वे चाहे पद-व्यकरणादि शास्त्रमें कितना भी निपुण हो यह भगवान्का मत है। यह "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदित्यादि" श्रुति संवादि है। श्रोत्रिय-अधीतवेद तदर्थाभिज्ञ केवल शब्दाभिज्ञ नहीं ब्रह्मनिष्ठ-कृतब्रह्मसाक्षात्कार अर्थात् जिसने ब्रह्मसाक्षात्कार किया हो, 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इस स्मृतिके अनुसार एक गुरुकी विवक्षामें भी बहुवचन ही उचित होता है इसलिए बहुवचनसे अनेक गुरुकी विवक्षा है यह समझ ठीक नहीं तत्त्वदर्शी एक ही आचार्यसे तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होनेसे अनेक गुरुके पास तदर्थ जाना ठीक नहीं ।। ३४ ।।

शङ्का—इस तरह अति आग्रहसे ज्ञानोत्पादनसे क्या होगा ?

उत्तर—पूर्वोक्त अर्थ ज्ञान जिसका उपदेश आचार्योंने दिया है उसको जानकर पाकर, 'ज्ञानम् ज्ञात्वा' यह प्रयोग तो साधु नहीं अतएव 'पाकं पचति' यह प्रयोग इष्ट नहीं फलमें फलका अन्वय नहीं हो

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तुम निखिल पापियोंसे भी अधिक पापाचारी हो तो ज्ञानरूपी नौकासे समग्र पापोंको अच्छी प्रकार तर जाओगे ॥ ३६ ॥

यत्पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्यैरुपदिष्टं ज्ञात्वा-प्राप्य, 'ओदनपाकं पचती'तिवत्तस्यैव धातोः सामान्य-विवक्षया प्रयोगः । न पुनर्मोहम्-एवं बन्धुवधादिनिमित्तं भ्रमं यास्यसि । हे पाण्डव ! कस्मादेवम्? यस्मात् येन ज्ञानेन भूतानि-पितृपुत्रादीनि अशेषेण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यंन्तानि स्वाविद्याविजृम्भितानि आत्मनि त्वयि-त्वंपदार्थे अथो-अपि, मयि-भगवति वासुदेवे तत्पदार्थे परमार्थतो भेद-रहितेऽधिष्ठानभूते द्रक्ष्यस्यभेदेनैव, अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् । माम्-भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशे तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः ॥ ३५ ॥

किञ्च शृणु ज्ञानस्य माहात्म्यम्—'अपि चे'ति ।, 'अपि चेदि'त्यसंभाविताभ्युपगम-प्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न संभवत्येव, तथाऽपि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते ।

सकता इत्यादि शाब्दिक नयमें प्रसिद्ध है ठीक है 'ओदनपाकं पचति' यह प्रयोग सामान्य विवक्षासे पच् धातुका ही अनुप्रयोग जैसे माना जाता है तद्वत् प्रकृतमें भी समझना, भाष्यकारने तो 'ज्ञात्वा'का पर्याय 'अधिगम्य' यह किया है 'अधिगम्य'का अर्थ 'प्राप्य' किया है तदनुसार ही मूलमें भी 'ज्ञात्वा'का 'प्राप्य' अर्थ किया है ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं फिर बन्धुवधादि निमित्तक मोह भ्रममें न जाओगे अर्थात् मुग्ध भ्रान्त न होओगे ।

हे पाण्डव ! इस सम्बोधनसे जैसा मैं इस समय 'मैं पाण्डु पुत्र हूँ ये मेरे हैं इस अहंकार'से मुग्ध हुये हो वैसे मोहोच्छेदक ज्ञानके लाभ होने पर मोह न प्राप्त करोगे यह सूचित होता है । 'अथो' अप्यर्थ है और भी जिस ज्ञानसे भूत पितृपुत्रादि सबकी अपनेमें त्वंपदार्थमें भगवान् वासुदेव मुझमें अर्थात् तत्पदार्थमें वास्तविक भेदरहित स्वाधिष्ठानभूतमें अभिन्न बुद्धिसे देखोगे अधिष्ठानसे अतिरिक्त कल्पित वस्तु नहीं है रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुसे अतिरिक्त नहीं यह स्पष्ट है एवं ब्रह्ममें कल्पित निखिल प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं मुझ :भगवान् वासुदेवको स्वात्मरूपसे साक्षात्कार करने पर सम्पूर्ण अज्ञानका नाश हो जायगा तो अज्ञान कार्य सब भूत न रहेंगे यह भाव है ॥ ३५ ॥

और भी ज्ञानका माहात्म्य सुनिये 'अपि चेदि'तिसे । ये दोनों अव्यय असम्भावित पदार्थ स्वीकारके द्योतक हैं असम्भावितका अनुष्ठान नहीं होता केवल अर्थवाद है अपिच देवदत्त पर्वतको शिरसे तोड़ सकते हैं घटके

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रदीप्त अग्नि लकड़ीयोंको भस्मीभूत कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मोंको भस्म कर देता है ॥ ३७ ॥

यद्यपि त्वं पापकारिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यतिशयेन पापकारी पापकृत्तमः स्याः, तथाऽपि सर्वं वृजिनम्-पापमतिदुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानप्लवेनैव, नान्येन। ज्ञानमेव प्लवं पोतं कृत्वा संतरिष्यसि-सम्यगनायासेन पुनरावृत्तिवर्जितत्वेन च तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि। वृजिनशब्देनात्र धर्माधर्मरूपं कर्म संसारफलमभिप्रेतम्, मुमुक्षोः पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टत्वात् ॥ ३६ ॥

ननु समुद्रवत्तरणे कर्मणां नाशो न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह—'यथैधांसि' इति। एधांसि-काष्ठानि समिद्धः-प्रज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते-भस्मीभावम् नयति। हेऽर्जुन ! ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि-पापानि पुण्यानि चाविशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा—तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे इति ॥'

तोड़नेमें क्या सन्देह किन्तु यहाँ यह सब बात सम्भव नहीं इस तात्पर्यसे कहते हैं—यह असम्भव है तथापि ज्ञानफल कथनार्थं मानकर कहते हैं—यद्यपि सब पाप कर्मियोंसे तुम अधिक पाप कारी हो। अतिशयेन पापकारी इति पापकृत्तम हो तो भी सब पाप अति दुस्तर दुःख तरनेके अयोग्य अर्णव (समुद्र) सदृश ज्ञान रूपी नौकासे ज्ञानसे अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय तरनेका नहीं है। 'तरिष्यति' न कहकर 'सन्तरिष्यति' कहा है यहाँ समका अर्थ स्फुट करनेके लिए कहते हैं सम्यग् पुनरावृत्ति रहित तरोगे उपायान्तरसे उक्त समुद्र तरने पर पुनः आगमन और तरण होता ही रहता है अतः इस प्रकारका तरण सन्तरण नहीं है उक्त समुद्रका संल्लंघन करोगे। वृजिनशब्द यद्यपि पापवाची है तथापि संसारफल धर्माधर्म दोनोंका बोधक है। मुमुक्षुको पापके सदृश पुण्य भी अनिष्ट है केवल पुण्यसे स्वर्गका बन्धन रहेगा अतः यह भी अनिष्ट है अतः उसका भी अतिक्रमण आवश्यक है ॥ ३६ ॥

शङ्का—समुद्रके समान तरनेसे कर्मका नाश न होगा यदि कर्म रहेगा तो फिर बन्धका सम्भव रहेगा ही तो सम्यक् तरण कैसे होगा ? यह शंका कर दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथैधांसी'तिसे। जैसे काष्ठोंको प्रदीप्त

'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्, 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' ४-१-१३-१४ इति च सूत्रे। अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम्–'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४-१-१५' इति। ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः। "तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये" इति श्रुतेः, 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते' ४-१-१९ इति सूत्राच्च। आधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि, तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि। यथा वसिष्ठापान्तरतमःप्रभृतीनाम्। तथा च सूत्रं 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' वे० द० ३-३-३६ इति। अधिकारः-अनेकदेहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म। तच्चोपासकानामेव, नान्येषाम्। अनारब्धफलानि नश्यन्ति आरब्धफलानि तु यावद्भोगसमाप्ति तिष्ठन्ति।

अग्नि धधकती हुई आग भस्म कर देती है। हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको चाहे पाप हो अथवा पुण्य हो, समान रूपसे केवल प्रारब्ध फलभूत पुण्य पापोंको छोड़कर बाकी सबको भस्मीभाव कर देती है तथा तत्कारण अज्ञानके नाशद्वारा तत्कार्य धर्माधर्मको भी नष्ट करती है यह श्रुति भी कहती है–भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि।* वेदान्त सूत्र भी ऊपर देखिए। जो कर्म पुण्य पाप स्वरूप अपना फल सुख दुख भोग नहीं दे चुके हैं किन्तु देने वाले हैं वे अनारब्ध पुण्य पाप हैं ये तो नष्ट होते ही हैं इसमें सूत्र है 'अनारब्ध कार्ये'त्यादि, ज्ञानोत्पादक देहारम्भक कर्मोंका देहनाशके समय नाश हो जाता है पहिले नहीं इसीसे प्रारब्ध कर्मसे इतर सञ्चित कर्मोंका तत्त्व ज्ञानसे नाश होता है यदि प्रारब्धका भी नाश माना जाय तो जीवन्मुक्ति ही असम्भव हो जायगी अतएव इस अर्थमें श्रुति एवं सूत्र है—'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये' 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते' इति। अधिकारियोंके तो जो कर्म ज्ञानोत्पादक देहके आरम्भक हैं वे ही देहान्तरके भी आरम्भक होते हैं जैसे वसिष्ठ अपान्तरतमा प्रभृति महर्षियोंका, इसमें प्रमाण सूत्र हैं 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"। अधिकार अनेक देहोंके आरम्भक है बलवत् प्रारब्ध कर्म बलवत्तत्त्वज्ञानसे भी अनाश्य है यही इनमें बलवत्ता है ईदृश कर्म उपासकोंको ही होता है दूसरेको नहीं। अनारब्ध कर्म अर्थात् संचित तो नष्ट होते ही हैं आरब्ध फल कर्म जब तक भोग होता रहेगा तब तक रहेंगे ही अन्यथा भोग ही अनियत हो जायगा सुख दुःख भोगमें कोई नियम न रहनेसे क्रमशः उभय भोग जो श्रुत है सो अव्यवस्थित हो जायगें एवं निर्हेतुक कार्य नहीं होता अतः भोग ही न होगा, भोगायतन ही शरीर है, भोग

* भिद्यते ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर हृदयकी गाँठ छूट जाती है सभी संशयोंका नाश हो जाता है और सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। * तदधिगमे ब्रह्म साक्षात्कारके पश्चात् होनेवाले पापोंका स्पर्श नहीं होता, पूर्वमें किये हुये पाप विनष्ट हो जाते हैं श्रुतिमें ऐसा लिखा है। इतरस्य-पापके समान पुण्यका भी स्पर्श नहीं होता। देह पातानतर मोक्ष हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ।। ३८ ।।

इस संसारमें ज्ञानके सदृश पवित्र करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। उस ज्ञानको बहुत काल पर्यन्त कर्मयोगसे संस्कृत मनमें अनुभव करता है ।। ३८ ।।

भोगश्चैकेन देहेन, अनेकेन वेति न विशेषः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ।। ३७ ।।

यस्मादेवम्, तस्मात्—'नहि ज्ञानेने' ति । न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्-पावनं शुद्धिकरमन्यदिह-वेदे, लोकव्यवहारे वा विद्यते, ज्ञानभिन्नस्याज्ञानानिवर्तकत्वेन समूलपापनिवर्तकत्वाभावात्, कारणसद्भावेन पुनः पापोदयाच्च । ज्ञानेन त्वज्ञाननिवृत्त्या समूलपापनिवृत्तिरिति तत्सममन्यन्न विद्यते । तदात्मविषयं ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते तत्राऽऽह—'तदि'ति । तत्-ज्ञानं कालेन महता योगसंसिद्धः-योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन संसिद्धः-संस्कृतो योग्यतामापन्नः स्वयमात्मनि-अन्तःकरणे विन्दतिलभते, न तु योग्यतामापन्नोऽन्यदत्तं स्वनिष्ठतया, न वा परनिष्ठ स्वीयतया विन्दतीत्यर्थः ।। ३८ ।।

समाप्ति ही शरीर समाप्तिका कारण है। भोग एक शरीरसे हो या अनेकशरीरसे इसमें कोई अन्तर नहीं है कुछ विस्तार देखना हो तो आकर ग्रन्थोंमें देखिये ।। ३७ ।।

यतः ज्ञान ऐसा है अतः ज्ञानके समान पवित्र दूसरा शुद्धिकर इस लोकमें अथवा वेदमें नहीं है ज्ञानसे अतिरक्त कोई अज्ञान निवर्तक नहीं है अतः समूल पाप निवर्तक ज्ञान ही है पाप निवृत्तिके विना शुद्धि नहीं अतः यह बहुत ठीक कहा गया है ज्ञानसे अतिरिक्त संसारमें कोई पवित्र नहीं अज्ञानकी यदि न निवृत्ति होगी तो मूलकारण रहने पर फिर पापोदय हो सकता है ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे समूल पापकी निवृत्ति होती है अतः ज्ञानके सदृश दूसरा कोई नहीं है।

प्रश्न—अच्छा तो आत्मविषयक ज्ञान सबको क्यों शीघ्र नहीं होता ?

उत्तर—वह ज्ञान बहुत दिनमें कर्म योगसे संसिद्ध संस्कृत ज्ञानोत्पत्ति योग्यता पवित्रान्तःकरणवाला पुरुषको होता है स्वयमात्मामें अर्थात् अन्तःकरण मनमें पाता है योग्यतापन्न होकर अन्यप्रदत्त ज्ञानको नहीं पाता न अन्यज्ञानको ही आत्मीय बुद्धिसे प्राप्त करता है किन्तु कर्म योग सिद्धके अन्तःकरणमें स्वयं उत्पन्न होता है अतः तदुत्पत्ति कामनासे चिरकाल तक कर्मयोग करना चाहिए तुम भी यदि उस ज्ञानको चाहते हो तो चिरकाल तक निष्काम कर्म करो यह भाव है, आचार्याद्युपदेश परोक्षज्ञानमें ही उपयोगी है ।। ३८ ।।

श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय, एवं गुरूपासनामें लगा हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञानको प्राप्तकर शीघ्र ही परमशान्ति (मुक्ति) प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति, स उपायः पूर्वोक्तप्रणिपाताद्यपेक्षयाऽप्यासन्नतरः उच्यते—'**श्रद्धावान्**' इति। गुरुवेदान्तवाक्येष्विदमित्थमेवेतिप्रमारूपाऽस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा, तद्वान्पुरुषो लभते ज्ञानम्। एतादृशोऽपि कश्चिदलसः स्यात्, तत्राऽऽह—'**तत्परः**,' गुरूपासनादौ ज्ञानोपायेऽत्यन्ताभियुक्तः। श्रद्धावांस्तत्परोऽपि कश्चिदजितेन्द्रियः स्यात् अत आह— संयतेन्द्रियः' इति। संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानीन्द्रियाणि येन, स संयतेन्द्रियः। य एवम्-विशेषणत्रययुक्तः, सोऽवश्यं ज्ञानं लभते। प्रणिपातादिस्तु बाह्यो मायावित्वादिसंभवादनैकान्तिकोऽपि। श्रद्धावत्त्वादिस्त्वैकान्तिक उपाय इत्यर्थः। ईदृशेनोपायेन ज्ञानं लब्ध्वा परां-चरमां शान्तिम्-अविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिमचिरेण-तदव्यवधानेनैवाधिगच्छति-लभते। यथा हि दीपः स्वोत्पत्तिमात्रेणैवान्धकारनिवृत्तिं करोति, न तु कंचित्सहकारिणमपेक्षते। तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तिमात्रेणैवाज्ञाननिवृत्तिं करोति, न तु किंचित्प्रसंख्यानादिकमपेक्षत इति भावः॥ ३९ ॥

जो उक्त ज्ञानके अचूक साधन है वह पूर्वोक्त ज्ञानोपाय प्रणिपातादिके अपेक्षासे भी अति सन्निकट हैं, उसको कहते हैं 'श्रद्धावानितिसे' गुरु तथा वेदान्त वाक्योंमें यह जेसा कहा गया हे वैसा ही हैं यथार्थ बुद्धि रूप आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान लाभ करता है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' यह भगवान् स्वयं कहेंगे संशय विपर्ययादि बुद्धि होनेपर साभिनिवेश सोत्साह तत्साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा भी कोई आलसी हो तो ज्ञानोत्पत्ति न होगी फिर श्रद्धा अति सन्निहित साधन नहीं इसलिए कहते हैं—'तत्परः' इतिसे। गुरुपासना गुरु शुश्रूषा ज्ञानोपायमें सदा व्यापृत होना चाहिए।

शङ्का—श्रद्धावान् तत्पर होकर भी यदि अजितेन्द्रिय होगा तो भी ज्ञान नहीं होगा इसलिए कहते हैं— संयतेन्द्रियइतिसे। संयतेन्द्रिय होना चाहिए संयत-विषय पराङ्मुख हो इन्द्रियां जिनकी वह स्ववशीकृतेन्द्रिय जो उक्त विशेषणत्रयसे संयुक्त होगा उसको अवश्य ज्ञान प्रप्ति होगी। बाह्य प्राणिपातादि तो मायावीमें भी हो सकते है अतः व्यभिचारी साधन है श्रद्धावत्त्वादि ऐकान्तिक अव्यभिचारी उपाय हैं, ईदृश उपायसे ज्ञान लाभकर उत्कृष्ट अन्तिम सान्ति अविद्या तत्कार्यप्रपञ्च निवृत्तिरूप मुक्ति अचिर अति शीघ्र ज्ञानोत्पत्तिके अव्यवहित उत्तरक्षणमें लाभ करता है जैसे प्रदीप स्वोत्पत्तिके अनन्तर क्षणमें ही अन्धकार समूहकी निवृत्ति

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

भगवान्‌को न जाननेवाला श्रद्धारहित, तथा संशयशील पुरुष स्वार्थसे च्युत हो जाता है। संशयशील को न सुख है न यह लोक है न परलोक ही है ॥ ४० ॥

अत्र च संशयो न कर्तव्यः। कस्मात्? 'अज्ञश्चे'ति। अज्ञः-अनधीतशास्त्रत्वेनाऽऽत्मज्ञान-शून्यः। गुरुवेदान्तवाक्यार्थं इदमेवं न भवत्येवेतिविपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धिरश्रद्धा तद्वान्-अश्रद्दधानः। इदमेवं भवति न वेति सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्तः संशयात्मा विनश्यति-स्वार्थाद्भ्रष्टः भवति। अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यतीति संशयात्मापेक्षया न्यूनत्वकथनार्थं चकाराभ्यां तयोः प्रयोगः, कुतः? संशयात्मा हि सर्वतः पापीयान्। यतो नायं मनुष्यलोकोऽस्ति, वित्तार्जनाद्य-भावात्, न परो लोकः स्वर्गमोक्षादिः, धर्मज्ञानाद्यभावात्, न सुखं भोजनादिकृतं संशयात्मनः सर्वत्र संदेहाक्रान्तचित्तस्य। अज्ञस्याश्रद्दधानस्य च परो लोको नास्ति, मनुष्यलोके भोजनादि-सुखं च वर्तते, संशयात्मा तु त्रितयहीनत्वेन सर्वतः पापीयानित्यर्थः ॥ ४० ॥

करता है कोई सहकारि कारणको अपेक्षा नहीं करता वैसे ज्ञान भी स्वोत्पत्ति मात्रसे अज्ञानकी निवृत्ति करता है कोई ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता, प्रसंख्यान तत्त्वज्ञान है ॥ ३९ ॥

इसमें संशय नहीं करना चाहिए—

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—अज्ञ-शास्त्राध्ययन रहित अतएव आत्मज्ञान रहित गुरु और वेदान्त वाक्योंके अर्थमें यह ऐसा हो नहीं सकता यह विपर्यय भ्रम ज्ञान रूप नास्तिक्य ज्ञानका लाभ कर सकता है एवं अश्रद्दधान भी युक्ति युक्त बातको सुनकर श्रद्धावान् भी हो सकता है अतः वे दोनों परलोक भागी हो सकते हैं सदा संशयग्रस्त वैसा नहीं होता किन्तु अति पापी है इस प्रकार सब उपदिष्ट अर्थोंमें संशयसे आकुल चित्त अतएव संशयात्मा सन्दिग्ध चित्त विनष्ट हो जाता है स्वरूपसे तो विनाश नहीं होता स्वार्थसे भ्रष्ट प्रच्युत होता है यही विनाशसे विवक्षित हैं, अज्ञ और अश्रद्दधान दोनों नष्ट होते हैं, संशय आत्माकी अपेक्षासे उक्त दोनोंमें न्यूनता कथनार्थं चकारका प्रयोग किया गया है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।। ४१ ।।

हे धनंजय ! योग (समत्वबुद्धिरूप) से भगवान्में कर्मोको समर्पित करनेवाले, ज्ञानसे निवृत्त संशय-वाले तथा सदा अप्रमादी पुरुषको कर्म नहीं बाँधते हैं ।। ४१ ।।

एतादृशस्य सर्वानर्थमूलस्य संशयस्य निराकरणायाऽऽत्मनिश्चयमुपायं वदन्नध्याय-द्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकाभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—'योगे'ति । योगेन - भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण संन्यस्तानि - भगवति सर्मापतानि कर्माणि येन । यद्वा परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि येन, तं योगसन्यस्तकर्माणम् । संशये सति कथं योगसन्यस्तकर्मत्वम् ? अत आह-'ज्ञाने'ति । ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेनाऽऽत्मनिश्चयलक्षणेन च्छिन्नः संशयो येन, तम् । विषयपरवशत्वरूपप्रमादे सति कुतो ज्ञानोत्पत्तिः इत्यत आह-'आत्मवन्तमि'ति आत्मवन्तमप्रमादिनम् । सर्वदा सावधानम् । ईदृशमप्रमा-

---

प्रश्न—क्यों ? संशयात्मा सबसे अधिक पापी है ?

उत्तर—सर्वत्र सन्देह होनेसे धनार्जनोपायमें भी सन्देह होगा कि व्यापार कृषि, आदि घाटा लगनेके भयसे न करेगा तो यह मनुष्य लोक भी उसका अच्छा न होगा न परलोक स्वर्ग मोक्षादि—तत्साधन धर्म ज्ञान संशयात्माको होता नहीं अतः तदभाव कैमुतिकन्याय सिद्धि है क्योंकि वह सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्त रहता है यज्ञ और अश्रद्दधानको परलोक नहीं होता यह लोक तो होता है मनुष्यलोकमें भोजनादि सुख होता है इष्ट प्रयोजन साधनमें उत्साह प्रवृत्ति होती है संशयात्मा तो इह लोक स्वर्ग और मोक्ष इन तीनोंसे रहित अतएव महापापी होता है ।

एवंभूत सब दुःखका निदान संशयके निराकरणार्थं आत्मनिश्चयरूप उपायको कहते हुए अध्याय-द्वयोक्त पूर्वापर भूमिका भेदसे कर्म ज्ञानमयी द्विविधा ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं—'योगे'तिसे । भगवदा-राधनलक्षण समत्वरूप बुद्धिसे संन्यस्त भगवान्में समर्पित्त किया है कर्मोको जिसने अथवा परमार्थ दर्शन रूप योगसे सम्यक् त्याग किया है कर्मोंको जिसने उस योग संन्यस्तकी,

प्रश्न—संशय रहनेपर योगसन्यस्त कर्म कैसे ?

उत्तर—आत्मनिश्चयात्मक ज्ञानसे नष्ट किया है संशयका जिसने उस ज्ञान संछिन्न संशयविषयाधीन स्वभावको प्रमाद हो सकता है ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ॥
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे भारत (अर्जुन) अज्ञानसे उत्पन्न हुए हृदयमें अवस्थित इस अपने संशयको ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर तत्त्वज्ञान करो और युद्धके लिये खड़े हो जाओ ॥ ४२ ॥

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

दित्वेन ज्ञानवन्तं ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वेन योगसंन्यस्तकर्माणं कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि, वृथाचेष्टा-रूपाणि वा न निबध्नन्ति अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नारभन्ते हे धनञ्जय ! ॥ ४१ ॥

यस्मादेवम्, 'तस्मात्' इति । अज्ञानादविवेकात्संभूतमुत्पन्नं हृत्स्थम्-हृदि बुद्धौ स्थितम्, कारणस्याऽऽश्रयस्य च ज्ञाने शत्रुः सुखेन हन्तुं शक्यत इत्युभयोपन्यासः । एनम्-सर्वानर्थ-मूलभूतं संशयमात्मनो ज्ञानासिनाऽऽत्मविषयकनिश्चयखड्गेन च्छित्त्वा योगम् सम्यग्दर्शनोपायम्

प्रश्न—प्रमाद होनेपर कैसे ज्ञानोत्पत्ति होगी ?

उत्तर—ठीक है प्रमादीको नहीं किन्तु आत्मवान्को आत्म विषयमें सदा सावधान अतएव ईदृश प्रमाद-शून्य ज्ञानवान् ज्ञानवत्त्वसे निवृत्तसंशय अतएव योग सन्यस्त कर्मको लोकसंग्रह बुद्धिसे कृत वृथा चेष्टा रूपादि नहीं बांधते अनिष्ट, इष्ट मिश्र उभयात्मक वा शरीरका आरम्भ नहीं करते हैं। हे धनञ्जय ! राजगण अति बलवान् है उनका विजयकर धनापहरण करनेका सामर्थ्य मुझमें है या नहीं इस संशयको अति प्रबल आत्म निश्चयसे छोड़कर धन जीतनेवाला तुम हो दृष्टान्त हो इसके ध्वननार्थ धनञ्जय विशेषण है ॥ ४१ ॥

जिस कारणसे ऐसा है तस्मादि तिसे ततः अज्ञान अविवेक ज्ञानसे समुत्पन्न हृदय स्थित बुद्धिस्थ करण और आश्रयके ज्ञानसे बुद्धिमें स्थित अज्ञानको ज्ञानसे सुखसे अनायाससे नाशकर सकते हैं इस हेतु दोनोंका उपन्यास है इस सर्वानर्थ मूल संशयको आत्मविषयक निश्चय खड्ग, तलवारआदि रूप ज्ञानसे छेदनकर यथार्थ ज्ञानके उपाय कर्मानुष्ठान करो इस समय तो स्वधर्म युद्ध करनेके लिए उठो। योग्यता सूचनार्थ भारत सम्बोधन है तस्मात् इस चतुर्थाध्यायसे योग सम्प्रदाय सिद्ध है।

निष्कामकर्माऽऽतिष्ठ-कुरु । अत इदानीमुत्तिष्ठ युद्धाय हे भारत ! भरतवंशे जातस्य युद्धोद्योगो: न निष्फल इति भाव: ॥ ४२ ॥

स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते ।
धीहेतु: कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्याय: !

*

भगवान् वासुदेव सर्वज्ञ तथा ईश्वर है इसका प्रतिपादन कर योग्यता सम्पादनके लिए कर्म निष्ठा और तत्साध्य ज्ञान निष्ठा उसमें प्रणिपातादि वहिरङ्ग साधन श्रद्धादि अन्तरङ्ग साधन उसका फल सर्वानर्थ निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभाव है अतिपासिष्ठ संशयको कहते हुए संम्पूर्ण दोषवान् संशयको छोड़कर उत्तमाधिकारीको ज्ञाननिष्ठा, कर्मीको कर्मनिष्ठा इसको स्थापित किया। स्वस्यानीशत्वेति । अपनेमें अनीश्वरत्वका बोधकर भक्ति श्रद्धाको दृढ़ किया ज्ञानहेतु कर्म निष्ठाको भी दृढ़ किया इसीका भगवान्‌ने उपसंहार किया ।

इस प्रकार म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित मधुसूदनी-भाषानुवाद चौथा अध्याय समाप्त



अथ पञ्चमोऽध्यायः।

म० टी०—अध्यायाभ्यां कृतो द्वाभ्यां निर्णयः कर्म-बोधयोः।
कर्म-तत्त्यागयोर्द्वाभ्यां निर्णयः क्रियतेऽधुना ॥

तृतीयेऽध्याये 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादिनाऽर्जुनेन पृष्टो भगवाञ्ज्ञानकर्मणोः विकल्पसमुच्चयासंभवेनाधिकारिभेदव्यवस्थया 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया' इत्यादिना निर्णयं कृतवान्। तथा चाज्ञाधिकारिकं कर्म न ज्ञानेन सह समुच्चीयते, तेजस्तिमिरयोरिव युगपदसंभवात्, कर्माधिकारहेतुभेदबुद्ध्यपनोदकत्वेन ज्ञानस्य तद्विरोधित्वात्। नापि विकल्प्यते, एकार्थत्वाभावात्, ज्ञानकार्यस्याज्ञाननाशस्य कर्मणा कर्तुमशक्यत्वात्, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेः।

'अध्यायाभ्यामि'त्यादि। पूर्वमें दो अध्यायोंसे ज्ञान कर्मका निर्णय किया गया है अब कर्म और उसके त्यागका निर्णय दो अध्यायोंसे करते हैं। तृतीय अध्यायमें 'ज्यासी चेदि'त्यादिसे। कर्मसे बुद्धि अधिक-श्रेष्ठ है यदि यह आपका निश्चय है तो मुझे अपने भक्तको कठिन कर्ममें क्यों नियुक्त करते हैं। इस प्रकार अर्जुन भगवानसे प्रश्न किया, भगवान ज्ञान कर्मोका विकल्प तथा समुच्चयको असंभव मानकर अधिकारि भेद, शुद्धान्तःकरण और अशुद्धान्तःकरणके भेदसे दोनोंकी व्यवस्था है इस अभिप्रायसे 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा 'इत्यादिसे अर्जुनको उत्तर दिया अर्थात् अज्ञानियोंको कर्मनिष्ठा और ज्ञानियोंको ज्ञाननिष्ठा भेदसे दो प्रकारकी निष्ठा इस लोकमें मैंने कही है यह भगवान्ने श्रीमुखसे निर्णय किया इस स्थितिमें अज्ञानाधिकारीके लिये विहित कर्मका ज्ञानके साथ समुच्चय नहीं है कारण प्रकाश और अन्धकारके समान दोनोंका सामानाधिकरण्य एक कालमें एक पुरुषमें दोनोंकी स्थिति असंभव है एवं कर्माधिकारहेतु साध्य-साधनादिभेदज्ञानोपमर्दक ज्ञान कर्मका विरोधी है और न दोनोंका विकल्प ही हो सकता है क्योंकि दोनों भिन्नार्थक हैं एकार्थक नहीं ज्ञानका कार्य अज्ञान नाश है जो कर्मसे नहीं हो सकता 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पंथाः विद्यतेऽयनाय' आत्माको ही जानकर मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है दूसरा मार्ग मुक्तिके लिये नहीं यह श्रुति है, ज्ञान उत्पन्न होने पर कर्मको कुछ कार्य ही नहीं मनःशुद्धिद्वारा

ज्ञाने जाते तु कर्मकार्यं नापेक्ष्यत एवेत्युक्तं "यावानर्थं उदपाने" इत्यत्र। तथा च ज्ञानिनः कर्मानधिकारे निश्चिते, प्रारब्धकर्मवशाद् वृथाचेष्टारूपेण तदनुष्ठानं वा सर्वकर्मसंभ्यासोवेति निर्विवादं चतुर्थे निर्णीतम्। अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः, सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इति भगवद्वचनाच्च। एवं सर्वकर्माणि ज्ञानार्थानि। तथा सर्वकर्मसन्यासोऽपि ज्ञानार्थः श्रूयते---'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति,

---

ज्ञानोत्पादन ही कर्मका प्रयोजन है ज्ञान हो ही चुका फिर कमका क्या प्रयोजन कुछ नहीं 'यावानर्थं उदपाने' इसके व्याख्यानके अवसरमें पूर्वमें ही कह चुके हैं उस प्रकार ज्ञानीको कर्मानुष्ठानमें अधिकार नहीं है यह निश्चित होनेपर भी आरब्ध कर्म वश वृथाचेष्टा रूपसे कर्मानुष्ठान अथवा सभी कर्मोंका त्याग ज्ञानी के लिए है। यह चतुर्थ अध्यायमें विवादरहित निर्णय हो चुका है। अज्ञ तो मनःशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिके लिये कर्म अवश्य ही करें। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति उक्तार्थका बोधक है 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ 'ज्ञाने परिसमाप्यते' यह भगवद्वचन भी उक्तार्थक है। इस प्रकार सब कर्म ज्ञानार्थ हो जाते हैं तथा सर्व कर्मसंन्यास भी ज्ञानार्थ ही श्रुत है 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' इत्यादि श्रुति मूलमें देखिये 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादि भी 'सत्यानृते सुखदुःखे' इत्यादि इनका अर्थ अतिस्पष्ट है उसमें कर्म और उसका त्याग जो कि आरादुपकारक और संनिपत्योपकारक स्वरूप है इनका प्रयाज और अवधा-सादिके समान समुच्चय नहीं हो सकता 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति, इन वाक्योंसे विहित ये समिदादि पाँच प्रयाज हैं इनमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष शास्त्रदीपिकामें इस प्रकार है क्या समिदादिको देवता मानकर तत्संस्कारार्थं तदुद्देशेन याग विधान है, अथवा आरादुपकारक-यागविधान है यह संशय कर सामवायिकलाभेच्छासे देवता संस्कार विधि है।

'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते। देवता 'संगतिः तत्र दुर्बलत्वपरं परमं', पृ० ५३३ विधिरित्यादिवचनसे समिदादिमें देवताकी प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि देवता विधायक तद्धितादि कोई नहीं है तथापि 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य देखनेसे देवताभिधानमें द्वितीया भी समर्थ है यह पूर्वपक्ष कर उत्तर दिया कि उद्देश पूर्वक त्याग यजिका अर्थ है त्यागमें देवता कर्म नहीं होती किन्तु संप्रदान ही होती है, उद्देश पूर्वक त्याग याग है उसका एक देश उद्देशगत कर्मत्वका त्यागमें उपचार आरोपकर 'विष्णुं यजति' इत्यादि प्रयोग है पांचो पर विधिमें उपचार उक्त नहीं केवल याग ही का यहां विधान है। इन पांचोका कार्य विशेष फल विशेष श्रुत्यादिसे प्रतीत नहीं होता है इसलिये प्रकरणसे आरादुपकारक प्रयाजादि है समिदादिशब्द मन्त्रवर्णप्राप्तदेवतानिमित्तकर नामधेय ही है यह मानकर देवताके अनुवादक है अनुवादमें उपचार दोष नहीं। आरादुपकारक प्रयाज है यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसाका।

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्, बृ० उ० ४-४-२२-२३. 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्, सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्य, आत्मानमन्विच्छेत्, इत्यादौ। तत्र कर्म तत्त्यागयोरारादुपकारक-संनिपत्योपकारकयोः प्रयाजावघातयोरिव न समुच्चयः संभवति, विरुद्धत्वेन यौगपद्याभावात्।

नापि कर्म-तत्त्यागयोरात्मज्ञानमात्रफलत्वेनैकार्थत्वात् अतिरात्रार्थयोः षोड़शिग्रहणा-

---

भाव यह है कि यागके उपकारक अङ्ग दो प्रकारके होते हैं एक सन्निपत्योपकारक जो सामवायिक भी कहलाते हैं दूसरे आरादुपकारक कहे जाते हैं यागके दो स्वरूप हैं द्रव्य और देवता, इनके संस्कारक कर्म सन्निपत्योपकारक हैं ये साक्षात् द्रव्यदेवता संस्कार द्वारा प्रधान यागके उपकारक हैं जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि। यद्यपि प्रोक्षित वा अप्रोक्षित व्रीहिके अवघात करनेपर तण्डुल निष्पत्ति समान ही है तथापि प्रोक्षणसे व्रीहिमें संस्कार होता है जिससे प्रोक्षित अवहत व्रीहि निष्पन्न तण्डुल पुरोडाशहोमसे आग्नेयादियागजन्य अपूर्वकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं प्रयाजादि द्रव्य देवता संस्कार नहीं है किन्तु दर्शपूर्णमास प्रकरणमें इनका पाठ है, जो जिसका उपकारक होता है उसीका उसके प्रकरणमें पाठ होता है दर्शपूर्णमास प्रकरणमें इनका पाठ देखनेसे ये दर्शपूर्णमासके अङ्ग हैं यह निश्चय स्वाभाविक है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस वाक्यसे स्वर्गके लिये दर्शपूर्णमास यागका विधान है उक्त यागसे स्वर्ग कैसे करें इस कथंभावाकांक्षासे प्रकरण पठित प्रयाजादिसे उपकार संपादन करके, यह आकांक्षा उक्त याग की है तथा प्रयाजादिविधि वाक्यमें फलका निर्देश नहीं है अतः मुझसे क्या फल होगा यह आकांक्षा प्रयाजादिकी है क्योंकि फलके विना प्रयाजादिका कोई अनुष्ठान ही नहीं करेगा विना अनुष्ठानके विधि ही व्यर्थ है अतः उभयाकांक्षारूप प्रकरणसे 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' दोनोंका सम्बन्ध है। आग्नेयादि छः याग भिन्न-भिन्न कालमें होते हैं इनका समुदाय एकसमयमें नहीं रह सकता अतः एक-एक यागसे एक-एक अपूर्व होता है जिसको उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं प्रयाजादि अपूर्व सहकृत ये छः अपूर्व अथवा तदपूर्वद्वारा उक्त षड्याग प्रधानापूर्वके उत्पादक होते हैं अथवा प्रधानापूर्व द्वारा उक्त छः याग स्वर्गका उत्पादक होता है यह निष्कर्ष है सारांश यह है कि यद्यपि यागार्थ ही प्रोक्षण अवघात आदि हैं एवं तदर्थ ही प्रयाजादि भी हैं किन्तु इनका समुच्चय नहीं हो सकता भिन्नकालीन होनेसे तदभाव स्पष्ट ही है इस अभिप्राय से कहते हैं—'यौगपद्याभावसे समुच्चय नहीं हो सकता और न कर्म और तत्त्याग का विकल्प ही हो सकता। यद्यपि दोनों आत्मज्ञानमात्रफलक हैं अर्थात् दोनों से आत्मज्ञान ही ईप्सित है अतएव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन दोनों वचनों से षोडशिग्रहण और अग्रहण का विकल्प है यद्यपि दोनो विरुद्ध हैं तथापि एकार्थक होने से इनका विकल्प होता है तद्वत् कर्म-तत्त्याग परस्पर विरुद्ध होने पर भी एक आत्मज्ञानमात्र-

ग्रहणयोरिव विकल्पः स्यात्, द्वारभेदेनैकार्थत्वाभावात्। कर्मणो हि पापक्षयरूपमदृष्टमेव द्वारम्, सन्यासस्य तु सर्वविक्षेपाभावेन विचारावसरदानरूपं दृष्टमेव द्वारम्, नियमापूर्वं तु दृष्टसमवायित्वादवघातादाविव न प्रयोजकमेकार्थतायाम्।

फलक विकल्प नहीं होता, कारण द्वारभेदसे दोनों एकार्थक हीं हैं कर्म का पापक्षयरूप अदृष्ट ही द्वार है और संन्यास का चित्तविक्षेपाभावसंपादनद्वारा विचारावकाशदानरूप दृष्ट प्रयोजन है कर्मानुष्ठान समय में साध्यसाधनादिविषयक मनोवृत्ति होने से आत्मव्यतिरिक्त विषय में चित्तविक्षेप का होना स्वाभाविक है इससे निरन्तर आत्मविचार में अवसर न मिलने से बाधा पड़ेगी। कर्मत्याग करने से तदनुष्ठान का समय भी आत्मविचार ही में मिलेगा इस तरह तत्याग आत्मविचारावसरप्रद होने से दृष्टप्रयोजनक है अतः द्वारभेद से दोनों का विकल्प नहीं होता।

'नियमापूर्वमि'त्यादि' यह भाव है विधि तीन प्रकार की होती है अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि। प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का विधान अपूर्वविधि है जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' यहाँ यागमें स्वर्गजनकत्व किसी प्रमाण से ज्ञात न हो उसका प्रापक उक्त वाक्य ही है अतः यह अपूर्व विधि है। पक्ष में अप्राप्त का प्रापक नियम विधि है जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यहाँ व्रीहि का अवघात 'कूटना' तण्डुल निष्पत्ति के लिए विहित है अवघात में तण्डुल निष्पादकत्व अन्वय व्यतिरेक दर्शन द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाण-सिद्ध हैं सर्वथा अप्राप्त नहीं किन्तु पक्ष में अप्राप्त है, धान से चावल निकालने का दो उपाय हैं—एक कूटना दूसरा नखविदलन [नख से उकेलना] जिस पक्ष में नख से निकोल कर चावल निकालेगें उस पक्ष में अवघात अप्राप्त है अतः उक्त नियम विधि है अवघात ही से चावल निकालना नखविदलन से नहीं।

शङ्का। तण्डुल निष्पत्ति दोनों उपायों से समान ही है फिर अवघात में क्या विशेष जो अवघात ही करना यह नियम मानते हैं।

उत्तर—अवघातजन्य तण्डुल संस्कार अपूर्व विशेष होता है जो पुरोडाशहोमद्वारा अग्नेयादिजन्य अपूर्व का उत्पादक होता है अन्यथा निष्पन्न तण्डुल से पुरोडाशद्वारा याग करने पर उक्तापूर्वसहकारि-वैकल्यसे उक्तयागजन्य अपूर्व न होगा इसलिये नियमापूर्वोत्पत्त्यर्थं अवघात ही का विधान है।

परिसंख्या विधि का उदाहरण 'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः' है यहां क्षुन्निवृत्ति के लिये 'पंचनख अपंचनख साधारण में रागतः भक्षण प्राप्त है अतः पंचनख में भी भक्षण रागतः प्राप्त ही है, प्राप्तमें विधि होती नहीं इसलिये पंचनखका तदन्यमें और भक्षका अभक्ष्यमें लक्षणा होती है। 'पंचनख पांचसे अन्य अभक्ष्य है शशक शाही गोधा खड्ग कूर्म यानी कछुआ इन पांचोंसे अतिरिक्त पंचनख भक्ष्य नहीं इतरमें भक्ष्यत्व निषेधकी

तथा चादृष्टार्थ-दृष्टार्थयोरारादुपकारक-संनिपत्योपकारकयोरेकप्रधानार्थत्वेऽपि विकल्पो नास्त्येव, प्रयाजावघातादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। तस्मात्क्रमेणोभयमप्यनुष्ठेयम्। तत्रापि संन्यासानन्तरम्

विधि पंचनखमें भक्षणकी विधि नहीं अन्यथा उक्त पंचनखका जो भक्षण न करेगा उसको प्रत्यवाय होगा परिसंख्यामें तीन दोष हैं। स्वार्थत्याग, इतरार्थग्रहण और प्राप्तका बाध।

'विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति कीर्त्यते' तं-वा-पृ० ६०।

'परिसंख्या त्रिदूषणा' इति च। यह पूर्वमीमांसामें अतिस्पष्ट है।

प्रकृतमें अवघात जन्य नियमापूर्व भी अवघातका प्रयोजक और तण्डुलनिष्पत्ति दोनों हैं तण्डुलनिष्पत्ति ही नहीं अतः अवघात अदृष्टार्थ भी, केवल फिर दृष्टार्थ ही क्यों यदि यह कहिये कि अपूर्व अवघातजन्य है वह अवघातसमयमें सिद्ध नहीं किन्तु साध्य है प्रयोजक वही होता है जो प्रयोज्यकालमें सिद्ध हो एक हीमें सिद्धत्व साध्यत्व दोनों धर्म एक कालमें नहीं रह सकते क्यों वे दोनों पूर्वापरकालघटित हैं एक ही काल पूर्व पर नहीं हो सकता तो तण्डुलनिष्पत्तिपर भी दृष्टि दीजिये वह भी तो अपूर्ववद् भावी ही है वही कैसे प्रयोजक होगा इसका उत्तर यह है कि प्रवृत्तिमें क्रियाफल सर्वत्र प्रवृत्तिप्रयोजक माना जाता है यद्यपि फल स्वरूपसे प्रवृत्तिसमयमें सिद्ध नहीं हैं तथापि बुद्धिमें विषयतासम्बन्धसे है अतः बुद्धिविषयत्वेन सिद्ध मान कर प्रयोजक कहा जाता है अतः एव 'फलमपि हेतुः' यह अभियुक्तोंका सिद्धान्त है।

प्रश्न—यदि दोनों समान है तो अवघातमें क्या विनिगमक है जो प्रयोजकत्व मानते हैं? तत्समवायि अपूर्वमें नहीं।

उत्तर—तण्डुल अन्तरङ्ग है अतः पूर्व उपस्थित होता है और दृष्ट भी है अपूर्व तण्डुलमें होनेपर तदाश्रित परकालमें होगा और अदृष्ट है अतः अन्तरङ्ग पूर्वोपस्थित तण्डुल ही अवघातका प्रयोजक माना जाता है तत्समवेत अपूर्व नही जो तत् प्रयोजक है वह तदर्थ है इस न्यायसे अवघात दृष्ट तण्डुलार्थ है तदपूर्वार्थ नहीं एवं 'त्यजतैव'त्यादि त्यागविधि नियमविधि माने तो भी त्याग जन्य नियमापूर्व त्यागार्थ नहीं हो सकता किन्तु दृष्ट आत्मविचारावकाशप्रदानार्थ ही है दृष्टार्थ और अदृष्टार्थका विकल्प नहीं होता इस अभिप्रायसे कहते हैं कि 'नियमापूर्वन्तु' इत्यादि। अवघात नियमविध्यपूर्व दृष्टतण्डुलसमवायी तण्डुलवृत्ति होनेसे जैसे अवघातका प्रयोजक नहीं वैसे ही त्यागनियमविधि-अपूर्व त्यागका प्रयोजक नहीं किन्तु उक्त अवसरप्रदान ही त्यागका प्रयोजक है अतः दृष्टार्थक त्याग है और कर्म अदृष्टार्थक है दोनोंका विकल्प नहीं माना जाता। अन्यथासे बाधक कहते हैं यदि मानें तो प्रयाजावघातका भी विकल्प कह सकते हो प्रयाज अदृष्टार्थ है और अवघात उक्त रीतिसे दृष्टार्थ है अतः क्रमसे ही कर्म और तत्त्यागका अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रश्न—तो क्या संन्यास लेकर भी कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता?

उत्तर—कभी नहीं।

कर्मानुष्ठानं चेत्, न तदा परित्यक्तपूर्वाश्रमस्वीकारेणाऽऽरूढपतितत्वात्कर्मानधिकारित्वम्, प्राक्तन-संन्यासवैयर्थ्यं च, तस्यादृष्टार्थत्वाभावात्। प्रथमकृतसंन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे, तदुत्तरकाले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यं च। तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण वैराग्येण विविदिषायां दृढायां सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणमननादिरूपवेदान्तवाक्यविचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतम्। तथा चोक्तम्—'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति।

वक्ष्यते च—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥" इति॥

योगोऽत्र तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा। तदुक्तं वार्तिककारैः—

"प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीतिश्रुतेर्बलात्॥" इति॥

स्मृतिश्च—"कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥" इति॥

मोक्षधर्मे च—"कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्॥

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'तत्रापी'ति संन्यासके बाद यदि कर्म कोई करेगा तो पूर्वाश्रमका त्याग कर उत्तराश्रम संन्यासमें आरूढ़ होकर भी पुनः परित्यक्त पूर्वाश्रम स्वीकारसे आरूढ़पतित होनेसे कर्माधिकारी ही नहीं है और पूर्व-स्वीकृतसंन्यास भी व्यर्थ हो जायगा क्योंकि सन्यास तो अदृष्टार्थ है नहीं उसमें दृष्टार्थकत्वका प्रतिपादन विशदरूपसे अभी कर ही चुके हैं और प्रथम स्वीकृत सन्याससे ही ज्ञानाधिकारका लाभ हो गया फिर तदुत्तरकालमें कर्मानुष्ठान व्यर्थ है। अतः सर्वप्रथम भगवदर्पणबुद्धिसे निष्कामकर्मानुष्ठान करना चाहिये उससे अन्तःकरण-मनकी शुद्धि होनेपर इससे तीव्रवैराग्यसे विविदिषा-ब्रह्मज्ञानेच्छा दृढ़ होगी तदनन्तर सर्व कर्म-संन्यास श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप वेदान्तवाक्यविचारके लिये करना चाहिये यही भगवानको अभिमत है। ऐसा ही कहा है 'न कर्मणामि'त्यादि। कर्म न करनेसे ही मोक्ष नहीं होता। आगे भी गीतामें भगवान् श्रीमुखसे कहेंगे 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते 'इत्यादि योग यहां तीव्र वैराग्यपूर्वक ब्रह्मज्ञानेच्छा विवक्षित है, यह वार्तिककारने कहा है, 'प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै' इत्यादि मूल देखिये। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिविहितवेदानुवचनादि आत्मविविदिषोत्पत्तिके लिए विहित है ब्रह्मप्राप्तिरूप-मोक्षके लिये तो कर्मत्यागका ही विधान है 'इमं लोकममुं च परित्यज्य आत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादि उक्तार्थमें मूल

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥
तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः॥" इति॥

मोक्षम्-वैराग्यम्। एतेन क्रमाक्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ। तथा च श्रुतिः—"ब्रह्मचर्यं समाप्य, गृही भवेद्, गृही भूत्वा, वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा, यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्" इति। तस्मादज्ञस्याविरक्ततादशायाम् कर्मानुष्ठानमेव। तस्यैव विरक्ततादशायां सन्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थं इति, दशाभेदेनाज्ञमधिकृत्यैव कर्म-तत्त्यागौ व्याख्यातुं पञ्चम-षष्ठावध्यायावारभ्येते। विद्वत्संन्यासस्तु ज्ञानबलादर्थसिद्ध एवेति, संदेहाभावान्नात्र विचार्यते। तत्रैकमेव जिज्ञासुमज्ञं प्रति ज्ञानार्थत्वेन

है स्मृति भी है। 'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः' हेतुहेतुमत्की अभेद यहाँपर विवक्षासे प्रथम द्वितीय पाद है क्रमसूचनार्थं तृतीयचतुर्थं पाद है।

मोक्षधर्ममें भी लिखा हैं 'कषायं पाचयित्वा चे'त्यादि। तीनों श्रेणी तीनों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य और वैखानसमें तत्तदाश्रमविहितकर्मोंसे मनके मलको पचाकर अनुत्तमं न उत्तमं यस्मात् तदनुत्तम सर्वोत्तम परं स्थानम् उत्कृष्टस्थान संन्यास आश्रमका ग्रहण करें इससे आश्रमानुक्रम संन्यास सूचित होता है। संसारकी बहुविध योनिमें भ्रमण करता हुआ परिशुद्धान्तःकरण प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रममें ही मोक्ष पा लेता है, यहाँ मोक्ष वैराग्यपरक है, वैराग्य मोक्षको पाकर दृष्टार्थ अतएव विद्वान् मुक्त परब्रह्म विविदिषावान्को तीनों आश्रमोंसे क्या प्रयोजन इससे अक्रम संन्यास सूचित होता है, इस प्रकार द्विविध संन्यास सूचित हुआ, ऐसी ही श्रुति है 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि'त्यादि। 'इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि'त्यादि। अतः अज्ञको अविरक्तता दशामें कर्मानुष्ठान ही विहित है वही करना चाहिये, उसीको वैराग्यकी अवस्थामें संन्यास श्रवणादिके अवसरप्रदानार्थ है, इस प्रकार अवस्थाभेदसे अज्ञके प्रति ही कर्म और तत्त्यागके व्याख्यानके लिये पञ्चम और षष्ठ अध्यायका आरम्भ है। विद्वान्का संन्यास तो ज्ञानबलसे अर्थतः सिद्ध है, क्योंकि संन्यासके विना ज्ञान हो ही नहीं सकता, ज्ञान हो गया तो अर्थतः वैराग्यसिद्धि मानी जाती है, अतः वैराग्यमें सन्देह न होनेसे उसका विचार नहीं किया गया, संदिग्धका ही विचार होता है असंदिग्धका नहीं 'संन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते' यह सिद्धान्त हैं, एक ही जिज्ञासु अज्ञके प्रति ज्ञानार्थ ही कर्म और तत्त्यागका विधान है,

अर्जुन उवाच

सन्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! आप वेद विहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंका त्याग कहते हैं। पुनः त्यागके विरुद्ध कर्मका अनुष्ठान कहते हैं। इन दोनोंमें जो कल्याण कारी हो मेरे लिये वही निश्चित कर कहिये। १ ॥

कर्म-तत्त्यागयोर्विधानात्, तयोश्च विरुद्धयोर्युगपदनुष्ठानासंभवान्मया जिज्ञासुना किमिदानी-मनुष्ठेयमिति संदिहानः अर्जुनउवाच-'सन्यासमि'ति। हे कृष्ण-सदानन्दरूप, भक्तदुः-खकर्षणेति वा। कर्मणाम्-यावज्जीवादिश्रुतिविहितानां नित्यानाम्, नैमित्तिकानां च संन्यासं-त्यागं जिज्ञासुमज्ञं प्रति कथयसि वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगं च-कर्मानुष्ठानरूपं शंससि "एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिवाक्यद्वयेन,

"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्, ॥"

"छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत !" इति गीतावाक्यद्वयेन वा। तत्रैकमज्ञम्

विरुद्ध इन दोनोंका एक कालमें अनुष्ठान असंभव है, जिज्ञासु मैं इस समय क्या करूं इस प्रकार सन्दिग्ध अर्जुन बोले। हे कृष्ण ! सदानन्दस्वरूप अथवा भक्तदुःखापहारक 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यादि श्रुति-वचनोंसे विहित जीवनकाल पर्यन्त अनुष्ठेय नित्य नैमित्तिक कर्मोंका संन्यास त्याग अज्ञके प्रति कहते हो, फिर तद्विरुद्ध योग कर्मानुष्ठानस्वरूप योग भी वेदमुखसे कहते हो 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' 'तमेतं वेदानुवचनेने' त्यादि वाक्यद्वय से। अथवा 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः' इत्यादि 'छित्वैनं संशयम्' इत्यादि दो गीतावाक्योंसे यह भी अर्थ हो सकता है कि वेद और गीता दोनों भगवद्वाक्य ही है अतः वाक्य रूपसे दोनोंका संग्रह होता है। इसमें एक अज्ञके प्रति कर्म और तत्त्यागका विधान होनेसे एक कालमें दोनोंका अनुष्ठान हो असंभव है, अतः कर्म और तत्त्याग इन दोनोंके मध्यमें जो एक श्रेय अधिक

म० टी०—एवमर्जुनस्य प्रश्ने तदुत्तरं श्रीभगवानुवाच—'संन्यासः' इति।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

म० टी०—तमेव कर्मयोगं स्तौति त्रिभिः—'ज्ञेयः' इत्यादिभिः।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

श्री भगवान् बोले—संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मोक्षोपयोगी हैं। इन दोनों में कर्मसन्यासकी अपेक्षा (अज्ञ के लिये) कर्मयोग उत्तम है ॥ २ ॥

जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसीसे आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा सन्यासी ही जानने योग्य है। क्योंकि राग और द्वेषसे रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रति कर्म-तत्यागयोर्विधानाद्युगपदुभयानुष्ठानासंभवादेतयोः कर्म-तत्त्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः-प्रशस्यतरं मन्यसे कर्म वा तत्यागं वा, तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्-तव मतमनुष्ठानाय ॥ १ ॥

उभौ यद्यपि निःश्रेयसकरौ-ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ। तथापि तयोस्तु कर्मसंन्यासादनधिकारिकृतात्कर्मयोगो अविशुद्धचित्तेनाऽविरक्तेन चित्तशुद्धि वैराग्यादि जनको विशिष्यते-श्रेयानधिकारसंपादकत्वेन उत्कृष्टो भवतीति कर्मयोगं स्तौति ॥ २ ॥

सः निष्कामकर्मयोगी कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं संन्यासीति ज्ञेयः। कोऽसौ?

प्रशस्त मानते हो कर्म अथवा तत्याग सो मुझसे सुनिश्चित कहिये अनुष्ठानके लिये अर्थात् 'तुम कर्म करो अथवा तुम कर्मत्याग करो' इस तरह अपना मत स्पष्ट कहिये जिससे मैं सन्देहरहित होकर करूँ ॥ १ ॥

अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर भगवान् कहते हैं—'संन्यासः' इत्यादिसे। यद्यपि संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःश्रेयसकर तत्वज्ञानोत्पत्तिहेतु होनेसे तद्द्वारा मोक्षोपयोगी हैं मोक्ष नित्य है इसलिये मोक्षोत्पत्तिका न कहकर मोक्षोपयोगी कहा; प्रतिबन्धकीभूत अविद्यापनयनद्वारा मोक्षका अभिव्यंजक है। इन दोनों में अनधिकारि कृत कर्मसंन्यास से कर्मयोग उत्तम है, क्योंकि अधिकारिता संपादक कर्मयोग है, अपूतान्तःकरण कर्मसंन्याससे पतित हो जायगा और कर्मयोगसे कुछ दिनों बाद कर्मसन्यासका अधिकारी हो सकता है, अतः अज्ञको कर्मयोग ही उत्तम है यह स्तुति है ॥ २ ॥

तीन श्लोकोंसे उसी कर्मयोग की स्तुति करते हैं—

वह कर्म करता हुआ भी नित्य ही संन्यासी है यह समझना चाहिए।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सन्यास और कर्मयोगको मूर्ख लोग पृथक् पृथक् फलवाले कहते हैं, पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। एकमें भी भली प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों का फल प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

यो न द्वेष्टि भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म निष्फलत्वशङ्कया न कांक्षति स्वर्गादिकम् । निर्द्वन्द्वः-रागद्वेषरहितः हि-यस्मात्सुखम्-अनायासेन हे महाबाहो ! बन्धात्-अन्तःकरणाशुद्धि-रूपाज्ज्ञानप्रतिबन्धात्प्रमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेकादिप्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

म० टी०----ननु यः कर्मणि प्रवृत्तः, स कथं संन्यासीति ज्ञातव्यः ? कर्मत्यागयोः स्वरूपविरोधात्, फलैक्यात्तथेति चेत् ? न । स्वरूपतो विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधस्यौचित्यात् । तथा च 'निःश्रेयसकरावुभावि'त्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—'सांख्ययोगावि'ति ।

प्रश्न—कौन ?

उत्तर—जो राग-द्वेष नहीं करता भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करता है, स्वर्गादि फल नहीं चाहता । निर्द्वन्द्व-राग द्वेष रहित, 'हि' हेत्वर्थ है, यस्मात् जिससे 'सुखम् अनायासं' से हे महाबाहो ! अन्तःकरण अशुद्धिरूप ज्ञान प्रतिबन्धसे मुक्त हो जाता है ।

"कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ॥" इत्यादि वचनोंसे मनकी अशुद्धि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है कर्मयोगसे उस अशुद्धिसे मुक्त हो जाता है उसका मन तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्य हो जाता है । नित्यानित्यवस्तुविवेकप्रकर्षसे मुक्त हो जाता है ।

अपना मत है ।

वस्तुतस्तु 'यो न द्वेष्टि न कांक्षति' इस वाक्यसे दुःख, तत्साधन सामान्यसे द्वेष नहीं करता और न सुख तत्साधन की इच्छा ही करता है रागद्वेषशून्यस्वरूप संन्यासगुणयोगसे वह कर्मी भी संन्यासी ही है, यह व्यापक अर्थ ही प्रकृतमें विवक्षित है । भगवदर्पणबुद्धिसे क्रियमाण कर्मसे निष्फलत्व शंकासे उससे द्वेष नहीं करता और न उससे स्वर्गादि चाहता है, इस अर्थसे राग द्वेष केवलनिष्काम कर्ममात्रविषयक संकुचित किया गया है, एतावन्मात्र संन्यासिगुण भी नहीं है, जिससे तद्गुणयोगसे वह संन्यासी कहा जाय । वस्तुतस्तु निर्द्वन्द्वसे राग द्वेष सामान्याभावका बोध सिद्ध ही है, अतः स्वामीजीका संकुचित अर्थ ठीक है ॥ ३ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानियोंको जो स्थान प्राप्त होता है वही स्थान फलाभिसन्धिरहित कर्म करनेवालोंको भी प्राप्त होता है। जो ज्ञानयोग और कर्मयोगको समान देखता है क्योंकि दोनोंका फल समान है वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संख्या-सम्यगात्मबुद्धिः, तां वहतीति ज्ञानान्तरङ्गसाधनतया सांख्यः - संन्यासः, योगः-पूर्वोक्तः कर्मयोगः। तौ पृथक्-विरुद्धफलौ बालाः-शास्त्रार्थविवेकज्ञानशुन्याः प्रवदन्ति, न पण्डिताः। किं तर्हि पण्डितानां मतम् ? उच्यते—एकमपि संन्यास-कर्मणोर्मध्ये सम्यगास्थितः-स्वाधिकारानुरूपेण सम्यक्-यथाशास्त्रं कृतवान्सन् उभयोर्विन्दते फलम्-ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण निःश्रेयसमेकमेव ॥ ४ ॥

एकस्यानुष्ठानात् कथमुभयोः फलं विन्दते, तत्राऽऽह—'यदि'त्यादिना ।

सांख्यैः-ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिरैहिककर्मानुष्ठानशून्यत्वेऽपि प्राग्भवीयकर्मभिरेव संस्कृतान्तःकरणैः श्रवणादिपूर्विकया ज्ञाननिष्ठया यत्प्रसिद्धं स्थानं तिष्ठत्येवास्मिन्, तु कदाऽपि च्यवत इति-

प्रश्न—जो कर्म करता है वह संन्यासी कैसे माना जाय, क्योंकि कर्म-तत्त्यागका स्वरूप ही विरुद्ध है दोनोंका फल एक है, अतः फलतः अविरोध कह सकते हैं यह भी कहना ठीक नहीं, विरुद्धस्वरूपोंका फल भी विरुद्ध ही होता है, जैसे अग्निसंयोगका फल उष्णस्पर्श, जलसंयोगका फल शीतस्पर्श ऐसी परिस्थितिमें दोनों मोक्षोपयोगी हैं यह कथन सर्वथा उपपत्तिशून्य है, इस शंकासे कहते हैं 'सांख्ययोगाविति'से । संख्या-सम्यग् आत्मबुद्धिः तां वहति प्रापयति इति सांख्यः 'तद्वहति रथयुगप्रासंगम्' इससे संख्या शब्दसे यत्प्रत्यय हुआ 'यस्येति च' से आकारका लोप हुआ, सांख्य प्रकृतमें संन्यास है संन्यास ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है, साधन साध्यका प्रापक होता है, यह सर्वसंमत है योग-पूर्वोक्त कर्मयोग ये दोनों भिन्न फलक हैं, यह शास्त्रज्ञजन नहीं अतएव बालक कहते हैं पण्डित ऐसा नहीं कहते ।

प्रश्न—तो पण्डितोंका क्या मत है ?

उत्तर—'उच्यते'से । संन्यास और कर्मोंमें एक भी सम्यगास्थित अपने अधिकारके अनुरूप यथाशास्त्र शास्त्रका उल्लंघन कर नहीं यथाविधान जो किया सो दोनोंके फलका भागी होता है क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति-द्वारा दोनोंका फल एक ही मोक्ष है ॥ ४ ॥

प्रश्न—एकके अनुष्ठानसे दोनोंका फल कैसे पाता है ?

उत्तर—ज्ञाननिष्ठ सांख्य संन्यासी शास्त्रीय कर्मानुष्ठानरहित प्राचीन जन्मकृत कर्मसे ही संस्कृतान्तः-

व्युत्पत्त्या मोक्षाख्यं प्राप्यते-आवरणाभावमात्रेण लभ्यत इव, नित्यप्राप्तत्वात्। योगैरपि-भगवदर्पणबुद्ध्या फलाभिसंधिराहित्येन कृतानि कर्माणि शस्त्रीयाणि योगाः, ते येषां सन्ति, तेऽपि योगाः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। तैर्योगिभिरपि सत्त्वशुद्ध्या संन्यासपूर्वक-श्रवणादिपुरःसरया ज्ञाननिष्ठया वर्तमाने, भविष्यति वा जन्मनि संपत्स्यमानया तत्स्थानं गम्यते। अत एकफलत्वादेकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स एव सम्यक्पश्यति, नान्यः। अयं भावः-येषां सन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा दृश्यते, तेषां तयैव लिंगेन प्राग्जन्मसु भगवदर्पितकर्मनिष्ठाऽनुमीयते, कारणमन्तरेण कार्योत्पत्त्ययोगात्। तदुक्तम्—

"यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत्।
सत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः॥" इति॥

करण हैं वे श्रवणादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठासे जो प्रसिद्ध स्थान है अर्थात् जहाँ सदा स्थिति ही रहे कभी वहाँसे च्युत न हो वही वास्तविक स्थान है, वह है मोक्ष 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिसे, वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होगी यह निश्चय है।

शङ्का—मोक्ष तो आत्मस्वरूप होनेसे सदा प्राप्त ही है उसकी प्राप्ति कैसी ?

उत्तर—वस्तुतः प्राप्त है, पर अज्ञानवश अप्राप्तवत् प्रतीत होता है, ज्ञान होनेपर प्राप्त अप्राप्तके समान प्रतीत होता है केवल मोक्षावरण अज्ञानके हटानेसे वह लब्ध होता है, योग भगवदर्पण बुद्धिसे फलकामना-शून्य कृत कर्म निरभिसन्धि कर्म कहाते हैं वे शास्त्रीय हों तो योग कहाता है एवंभूत कर्म जिनके हैं वे भी योग भी कहाते हैं 'योगः अस्ति अस्य' इस अर्थमें मत्वर्थीय अर्श आदि मानकर अच्प्रत्यय होता है। वे योगी भी इस जन्म या जन्मान्तरके साधु कर्मोंसे अन्तःकरणशुद्धि द्वारा श्रवणमननादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठासे सम्पन्न होकर उसी स्थानमें जाते हैं, जहाँ सन्यासी जाते हैं, अतः एक मोक्षरूप फल होनेसे एक सांख्ययोगको जानता है यही सम्यग्दर्शी है दूसरा नहीं, यह तात्पर्य है, जिनकी सन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा देखी जाती है उसी ज्ञाननिष्ठास्वरूप हेतुसे पूर्वजन्ममें भगवदर्पण बुद्धिसे कृत कर्मानुष्ठाननिष्ठाका अनुमान होता है, क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती सो कहा है।

"यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत्।
सत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः॥" इति॥

ज्ञाननिष्ठावान् पुरुषको देखकर यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि इस पुरुषने पूर्व जन्ममें ब्रह्मज्ञा-नोत्पत्तिके योग्य साधुकर्म भगवदर्पण बुद्धिसे निरभिसन्धि सत् कर्म अवश्य किया है अन्यथा ब्रह्ममें स्थिति नहीं होती, दृष्टान्त व्यतिरेकी है जो नहीं किया है ऐसा नहीं है, इस प्रकार जिनकी भगवदर्पित कर्मनिष्ठा

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे अर्जुन । अशुद्ध अन्तःकरणसे अर्थात् हठसे किया हुआ संन्यास दुःखकी प्राप्तिके लिये होता है, मननशील निष्काम कर्म करनेवाला ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त करता है ।

एवं येषां भगवदर्पितकर्मनिष्ठा दृश्यते, तेषां तयैव लिंगेन भाविनी संन्यासपूर्वज्ञाननिष्ठाऽनुमीयते, सामग्र्याः कार्याव्यभिचारित्वात् । तस्मादज्ञेन मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्धये प्रथमं कर्मयोगोऽनुष्ठेयः, न तु संन्यासः । स तु वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यति ॥ ५ ॥

अशुद्धान्तःकरणेनापि संन्यास एव प्रथमं कुतो न क्रियते, ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वेन तस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेत् ? तत्राऽऽह----'संन्यासस्त्वि' इति । अयोगतः-योगमन्तःकरणशोधकं शास्त्रीयं कर्म अन्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः, स तु दुःखमाप्तुमेव भवति । अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् । शोधके च कर्मण्यनधिकारात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसंकटापत्तेः । कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म-सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मानं नचिरेण-शीघ्रमेवाधिगच्छति, साक्षात्करोति, प्रतिबन्धकाभावात् । एतच्चोक्तं प्रागेव—

देखो जाती है उनकी उसी ज्ञाननिष्ठा नियमसे भावी अगले जन्ममें संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका अनुमान होता है, क्योंकि सामग्री कार्यका व्यभिचार नहीं करती, कारण रहनेपर अवश्य कार्य होता है कारण रहनेपर कार्य न हो तो वह व्यभिचार है, पर ऐसा नहीं होता नदीपूरसे जातवृष्टिका और मेघोत्पत्यादिसे भविष्यद् वृष्टिका अनुमान लौकिक पुरुष भी करते हैं अतः अज्ञ मुमुक्षुजनको प्रथम अन्तःकरण शुद्धिके लिये अवश्य कर्म करना चाहिये, तत्याग रूप सन्यास नहीं, कर्मसन्यास तो तीव्र वैराग्य होनेपर स्वयं हो जायगा ॥ ५ ॥

प्रश्न—अशुद्धान्तःकरण पुरुष ज्ञाननिष्ठा हेतुभूत कर्मसन्यास ही प्रथम क्यों नहीं करते सन्यास ज्ञाननिष्ठाका हेतु है तो इससे उक्त फल हो ही जायगा, फिर क्लिष्ट कर्मानुष्ठानसे क्या लाभ ?

उत्तर—'अयोगतः' इत्यादि-योग अन्तःकरणशोधक शुद्धिकारण शास्त्रविहित तत्तत्कर्मानुष्ठान इसके विना हठसे किया गया कर्मत्यागरूप सन्यास दुःख ही देनेवाला होता है, क्योंकि अशुद्धान्तःकरण होनेसे तत्फल-सन्यासफल ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती । संन्यास ग्रहण करनेपर फिर शोधककर्मानुष्ठान

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जितेन्द्रिय' देहको वशमें रखनेवाला निर्मल अन्तःकरणवाला तथा चेतन अचेतन सब जगत् को आत्म स्वरूप समझनेवाला निष्काम कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति ॥" इति ।

अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति यत्प्रागुक्तम्, तदुपपन्नम् ॥६॥ ननु कर्मणो बन्धहेतुत्वाद्योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीत्यनुपपन्नमित्यत आह-'योगयुक्तः' इति । भगवदर्पण-फलाभिसंधिराहित्यादिगुणयुक्तं शास्त्रीयं कर्म योग इत्युच्यते । तेन योगेन युक्तः पुरुषः प्रथमं विशुद्धात्मा-विशुद्धो रजस्तमोभ्यामकलुषितः आत्मा-अन्तःकरणरूपं सत्त्वम् यस्य, स तथा । निर्मलान्तःकरणः सन्विजितात्मा-स्ववशीकृतदेहः । ततो जितेन्द्रियः-स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेन मनूक्तस्त्रिदण्डी कथितः---

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥" १२-१०, इति ॥

'वागि'ति बाह्येन्द्रियोपलक्षणम् । एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यं भवतीत्याह-'सर्वे'ति सर्वभूता-

में अधिकार भी नहीं रहता कर्म ब्रह्म दोनोंसे च्युत होनेपर क्लेशप्रद अवस्था हो जायगी, कर्मयोगयुक्त तो शुद्धान्तःकरण युक्त होनेसे मुनि मननशील अर्थात् संन्यासी होकर सत्यज्ञानानन्दलक्षण ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्तकर लेता है, प्रतिबन्धक दुरितका कर्म द्वारा नाश होनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार करता है यह पहले ही कह चुके हैं 'न कर्मणामनारम्भात्' इत्यादि । अतः एक फल होनेपर भी कर्मसन्याससे कर्मयोग विशिष्ट है, यह उपपत्तियुक्त है ॥ ६ ॥

प्रश्न—कर्म तो बन्धका कारण है फिर कर्मानुष्ठानशील योगयुक्त मुनि ब्रह्मको प्राप्त करता है यह सोपपत्तिक नहीं, इसपर उत्तर कहते हैं 'योगयुक्तः' इत्यादिसे । भगवदर्पणफलाभिसन्धिरहितत्वगुणयुक्त शास्त्र-विहित कर्म योग कहाता है, उस योगसे युक्त पुरुष प्रथम विशुद्धात्मा होकर अर्थात् रजोगुणतमोगुणरूप

त्मभूतात्मा-सर्वभूत आत्मभूतश्चाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य, स तथा। जड़ाजड़ात्मकं सर्वमात्ममात्रम् पश्यन्नित्यर्थः।[१]

सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्येति व्याख्याने तु सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूतेत्यधिकं स्यात्। सर्वात्मपदयोर्जडाजपरत्वे तु समञ्जसम्। एतादृशः परमार्थदर्शी कुर्वन्नपि कर्माणि परदृष्ट्या न लिप्यते-तैः कर्मभिः। स्वदृष्ट्या तदभावादित्यर्थः॥ ७॥

कलङ्कसे निर्मुक्त अन्तःकरण हो गया जिसका, अतएव विजितात्मा द्वितीय आत्म शब्द देहपरक है, देहको अपने वशमें कर उसके वाद बाह्येन्द्रियोंको वशमें कर जो पुरुष उक्त तीनोंको वशमें कर लेता है वह त्रिदण्डी कहाता है, तथा च मनुः।

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिताः दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते॥" इति॥

वाग् यह बाह्येन्द्रियोंका उपलक्षण है, ऐसे पुरुषको तत्त्वज्ञान अवश्य होता है, यह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा'से कहते हैं। सर्वभूतः सर्वस्वरूपापन्न और आत्मभूत आत्मा स्वरूप है जिसका वह जड़ाजड़ सब जगत्को आत्मस्वरूप ही देखता है, अतिरिक्त नहीं। सब भूतोंका आत्मभूत आत्मस्वरूप है आत्मा जिसका ऐसा व्याख्यान करनेमें सर्वभूतात्मा यही पर्याप्त है फिर आत्मभूत यह व्यर्थ हो जायगा। सर्वशब्द जड़परक और आत्मशब्द अजड़परक होनेसे दोनों सार्थक होते हैं, अतः यही अर्थ भगवान्को अभीष्ट है। ऐसा परमार्थदर्शी परदृष्टिसे कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता अर्थात् तज्जन्य पुण्य और पापसे संश्लिष्ट नहीं होता यही कर्म श्रेय है सो नहीं होता कारण आत्मदृष्टिसे कुछ करता ही नहीं अतः कर्माभाव ही है॥ ७॥

---

१. सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तंवपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत 'आत्मा प्रत्यक् चेतनो यस्य' इस भाष्यव्याख्यानका 'सर्वेषां भूतानाम्-आत्मभूत इत्यादिसे अनुवादकर उसमें दोष स्वामीजी देते हैं सर्वभूतात्मा उसीसे भाष्योक्तार्थका लाभ हो जाता है फिर आत्मभूत यह पद व्यर्थ हो जायगा, इस आपत्तिसे भाष्यकारके मतको दूषितकर 'सर्वभूत जड़भूत आत्मभूत अजड़भूत आत्मा यस्य' व्याख्यानकर दोनों पदोंको सार्थक कहा है, परन्तु यह बालवंचनामात्र है, सर्वशब्द अखिलार्थक होनेसे जड़ और अजड़ दोनोंका उक्त शब्द से परामर्शकर सर्वभूतात्मा इसीसे स्वामीजीके अर्थका लाभ सुखसे हो जाता है फिर आत्मभूत वैयर्थ्य स्वमतमें ही वज्रलिप्त है, 'यश्चोभयोः समो दोषः' इस न्यायसे स्वामीजीका भाष्यपर आक्षेप अनुचित है। किंच भाष्यमतमें 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे ही जीवात्मा परमात्माका अभेद सिद्ध है, तदर्थक गीतावाक्य मानना उचित है, आपके मतमें केवल श्रौताभेदसे ही निर्वाह नहीं किन्तु कार्यकारणाभेदलिङ्गक अनुमानसे जड़साधारण आत्मपरमात्मका ऐक्य प्रतीत होता है, अतः भाष्योक्त ही अर्थ समीचीन है दर्दुर दृष्टियोंको इसपर ध्यान देना चाहिये।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

समाहितचित्त तत्वज्ञानी देखता हुआ सुनता हुआ स्पर्श करता हुआ सूंघता हुआ भोजन करता-हुआ जाता हुआ सोता हुआ श्वास लेता हुआ बोलता हुआ मूत्रपुरीष त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ और आंखोंको खोलता और बन्द करता हुआ भी सब इन्द्रियां अपने अपने विषयों में प्रवृत्त हैं इस प्रकार जानता हुआ वस्तुतः ऐसा समझे कि मैं कुछ नहीं करता हूँ ॥ ८-९ ॥

एतदेव विवृणोति द्वाभ्याम्—'नैवे'ति। चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैः, वागादिकर्मेन्द्रियैः, प्राणादिवायुभेदैः, अन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणीन्द्रियादीन्येवेन्द्रियार्थेषु, स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते-प्रवर्तन्ते, न त्वहमिति धारयन्-अवधारयन्नैव किंचित्करोमीति मन्येत-मन्यते तत्त्ववित्-परमार्थदर्शी युक्तः-समाहितचित्तः।

अथवाऽऽदौ युक्तः कर्मयोगेन (ण) पश्चादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्त्वविद्भूत्वा नैव किंचित्करोमीति मन्यत इति संबन्धः। तत्र दर्शन-श्रवण-स्पर्शन-घ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः। गतिः पादयोः, प्रलापो वाचः, विसर्गः पायूपस्थयोः, ग्रहणं हस्तयोरिति-पञ्च कर्मेन्द्रियव्यापारा गच्छन्प्रलपन्वि-

---

दो श्लोकोंसे इसीका विवरण करते हैं—नैवे'ति'से।

चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियोंसे, वागादिकर्मेन्द्रियोंसे, प्राणादि वायुविशेषसे, चतुर्विध अन्तःकरणसे तत्तच्चेष्टा-रूप क्रिया करते समय इन्द्रियां ही स्वस्व विषय इन्द्रियार्थमें प्रवृत्त हो रही हैं, मैं नहीं उनमें प्रवृत्त हूँ, इस धारणासे मैं कुछ नहीं करता हूँ यह तत्त्वदर्शी-परमार्थदर्शी युक्त-समाहितचित्त मानता है

अथवा प्रथम कर्मयोगसे युक्त होकर पीछे अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तत्त्ववित् होकर कुछ नहीं करते हैं यह मानता है यह संबन्ध इष्ट है। उसमें दर्शन श्रवण स्पर्शन घ्राण अशन चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसना पांच ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् ये कहे हैं। पैरकी गति, वाणीका प्रलाप, पायूपस्थका विसर्ग, हाथोंका ग्रहण ये पांच कर्मेन्द्रियोंके व्यापार 'गच्छन्' 'प्रलपन्' 'विसृजन्' 'गृह्णन्' से कहा 'उन्मिषन्' 'निमिषन्' इत्यादि नागकूर्मादि पांच प्राणोंका व्यापार है। 'स्वपन्' आदिका सर्वत्र सम्बन्ध है यह अन्तःकरण

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष परमेश्वरमें सब कर्मोंको अर्पण करके फलाभिलाष को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष पाप पुण्य कर्मसे युक्त नहीं होता जैसे जलसे कमल का पत्ता लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

सृजन्गृह्णन्नित्युक्ताः । श्वसन्निति प्राणादिपञ्चकस्य व्यापारोपलक्षणम् । उन्मिषन्निमिषन्निति नागकूर्मादिपञ्चकस्य । स्वपन्नित्यन्तःकरणचतुष्टयस्य । अर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा व्याख्याताविमौ श्लोकौ । यस्मात्सर्वव्यापारेष्वप्यात्मनोऽकर्तृत्वमेव पश्यति, अतः 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' इति युक्तमेवोक्तमिति भावः ॥ ८ ॥ ९ ॥

तर्हि अविद्वान् कर्तृत्वाभिमानाल्लिप्येतैव, तथा च कथं तस्य सन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा स्यादित्याह 'ब्रह्मणि' इति ।

ब्रह्मणि-परमेश्वरे आधाय-समर्प्य सङ्गम्-फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरार्थं भृत्य इव—

चित्त अहंकार बुद्धि मन इन चारोंका व्यापार है पाठक्रमका त्यागकर अर्थक्रमके अनुसार इन दोनों श्लोकोंका व्याख्यान किया है। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' यह न्याय प्रसिद्ध है, अर्थबोधार्थं ही शब्दप्रयोग होता है वही इष्टानिष्टसाधनद्वारा पुरुषार्थ है, इसलिये अर्थक्रम ही प्रधान है। विरोध होनेपर अर्थ क्रम ही का अनुसरण करना युक्तियुक्त है, अतः सब व्यापारोंको अनात्मकर्तृक मानता है, अतः कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता यह ठीक ही कहा ॥ ८.९ ॥

प्रश्न—अविद्वान् तो कर्तृत्वाभिमानसे लिप्त होता ही है क्योंकि वह तो तत्तद्व्यापारसमयमें अपनेको कर्ता मानता ही है, इसलिये उसकी क्या गति होगी; संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा उसकी कैसी हो सकती है ?

उत्तर—सविशेष निर्विशेष बोधक वेदान्तवाक्य द्वारा आत्मश्रवण करनेपर संशय होना स्वाभाविक है क्योंकि अपौरुषेय दोनों वाक्योंमें प्रामाण्य समान है, विरुद्धधर्मद्वयविशिष्ट एक धर्मी हो नहीं सकता; अन्यथा विरोध ही लुप्त हो जायगा। संशयनिवृत्तिके लिये मननका विधान 'मन्तव्य' इस श्रुतिसे किया गया है। 'मनन' अनुमानात्मक है। कुसुमाञ्जलिमें

'न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता'

इत्यादि स्पष्ट है' न्याय-पंचावयववाक्य है 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' इत्यादि अन्यत्र विस्तर है, मननसे संशयनिवृत्ति होती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं, लब्धश्रवणमननफलसे लब्धं

स्वाम्यर्थं स्वफलनिरपेक्षतया करोमीत्यभिप्रायेण कर्माणि-लौकिकानि वैदिकानि च करोति यः, लिप्यते न स पापेन । पापपुण्यात्मकेन कर्मणेति यावत् । यथा पद्मपत्रमुपरि प्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् । भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमेव स्यात् ।। १० ।।

'श्रवणमननयोः फलं' येन, स ईदृश पुरुषके सब असंभावनाओंसे शून्य होनेपर भी विपरीतभावनावान् हो सकता है, अतः वही प्रतिबन्धक हो जायगी, अतः जीवात्मपरमात्मैक्यसाक्षात्कार नहीं होगा, अतः निदिध्यासन कहते हैं यह भाव है, 'तत्त्वमसीत्यादि'वाक्यसे विहित जीवब्रह्माभेदसात्क्षात्कारमें असंभावनाज्ञान और विपरीतभावनाज्ञान प्रतिबन्धक है। संशयमूलक असंभावनाज्ञानकी निवृत्ति मननसे होती है, विरुद्ध-धर्मविशिष्टका अभेद बाधित है, सर्वज्ञत्व-किंचिज्ज्ञत्वादि विरुद्धधर्मविशिष्ट जीवब्रह्मका अभेद घटपटाभेदके समान बाधित है तथा स्वस्वामीका अभेद जैसे असंभव है वैसे ही जीवेश्वरका भी इस विपरीतभावनाकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासनकी 'निदिध्यासितव्यः'से विधान है, निदिध्यासन प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानापरपर्याय है, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यज्ञानका निरन्तर चिन्तन करनेसे विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धककी निवृत्तिसे अप्रतिबद्ध उक्त वाक्य अभेदसाक्षात्कारका जनक होता है।

प्रश्न—उक्त वाक्यमें तदभेद साक्षात्कार जनक सामर्थ्य है या नहीं, यदि है तो सकृत् श्रुत वाक्यार्थ-ज्ञान ही तदुत्पादक हो सकता है, पुनः उसकी आवृत्ति धारा ही व्यर्थ है, द्वितीय पक्षमें ज्ञान तदुत्तरोत्तर ज्ञान भी अविशेषसे जनक नहीं हो सकते अत निदिध्यासन व्यर्थ है यदि कहिये कि एक-एक ज्ञानमें उक्त ज्ञानजनकत्व नहीं है किन्तु तत्समुदायमें है तो यह भी ठीक नहीं क्षणिक ज्ञानोंका तावत्समुदाय एक समयमें रही नहीं सकता तो उक्तसमुदाय उक्तज्ञानका कारण कैसे रहेगा ?

उत्तर—ठीक है विपरीतभावना अनादिकालपरम्परापरिप्राप्त प्रचुर है यद्यपि वे स्वरूपसे नहीं हैं किन्तु उनकी वासनायें हैं ही जबतक वासनायें रहेंगी तब तक विपरीत ज्ञान प्रतिबन्धक स्वरूप होते रहेंगे, अतः एक-एक वासनाकी निवृत्तिके लिये एक-एक उक्त वाक्यार्थ ज्ञान तद्वासनाकी आवश्यकता है सर्वफल-विपरीत ज्ञानवासनाकी निवृत्तिके बाद सकृत् श्रुत उक्त वाक्य अप्रतिबद्ध होकर उक्ताभेद साक्षात्कारजनक होता है इत्यादि विशेष मत्कृत बृहदारण्यकवार्तिकसारकी पृ०सं० भाषा टीकामें देखिये—इस अभिप्रायसे कहते हैं 'सर्वप्रतिबन्धापगमादि'त्यादि मननसे असम्भावना निदिध्यासनसे विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेसे सर्वप्रतिबन्धापगम स्फुट है इति दिक् ।

सन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा कैसी हो सकती है ? इसका उत्तर 'ब्रह्मणीति'से है यथा सुभृत्य स्वार्थं त्यागकर केवल स्वामिगत फलके लिये कर्म करता है तथा फलमें संग तदभिलाषका त्यागकर ईश्वरार्थ कर्म जो करता है इस अभिप्रायसे लौकिक वा वेदिक जो करता है वह पाप तथा पुण्य एवमुभयात्मक कर्मसे लिप्त नहीं होता। इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं पद्मपत्र कमलके पत्तेमें पानी छोड़नेपर भी पानी उसमें सटता

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

निष्काम कर्मयोगी केवल शरीर मन बुद्धि एवं इन्द्रियोंसे भी फलासक्ति को त्यागकर अन्तःकरण-की शुद्धिके लिए कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

निष्काम कर्मयोगी कर्म फलको त्याग कर नित्यानित्यवस्तुविवेक पूर्वक ज्ञान निष्ठा क्रमसे शान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। और जो पुरुष ईश्वरार्थ कर्म है इस भावनासे शून्य है वह फलमें सक्त हुआ कामनाके द्वारा बद्ध होता है ॥ १२ ॥

तदेव विवृणोति—'कायेने'ति । कायेन मनसा बुद्धयेन्द्रियैरपि योगिनः—कर्मिणः फलसङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति । कायादीनां सर्वेषां विशेषणं 'केवलैरि'ति । ईश्वरायैव करोमि, न मम फलायेति । ममताशून्यैरित्यर्थः । आत्मशुद्धये-चित्तशुद्धयर्थम् ॥ ११ ॥

कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽपि, तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते, कश्चित्तु वध्यत इति—वैषम्ये को हेतुरिति तत्राऽऽह—'युक्तः' इति ।

नहीं बिन्दु होकर निकल जाता है वह पूर्ववत् रहता है जलसे आर्द्र नहीं होता, पत्रान्तर या वस्त्रादि जेसे भीगते हैं वेसा वह भीगता नहीं कारण उसमें जल ठहरता ही नहीं अतः तद्गुणाधान नहीं होता, एवं ज्ञानी भी उक्त प्रकारसे कर्मलिप्तः नहीं होता भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म करता है, इसलिये उन कर्मोंसे उनकी अन्तःकरणकी शुद्धि होती हैं, इस प्रकारके कृत कर्मोका फल अन्तःकरणशुद्धि ही है ॥ १० ॥

इसीका विवरण करते हैं 'कायेनेत्यादि'से । शरीर, मन और बुद्धीन्द्रियोंसे कर्मी-योगी फलेच्छा त्यागकर कर्म करते हैं शरीरादि सबोंका विशेषण है 'केवलैः' यह । केवल शरीर, केवल मन, केवल-इन्द्रियोंसे ईश्वरार्थ कर्म करता हूँ अपने फलके लिये नहीं इस प्रकार ममता शून्य होकर कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, फलेच्छुक होनेपर वह कर्म आत्मकर्तृक भी हो जायगा। केवल कायादिकर्तृक नहीं इसलिये केवल विशेषण है यहां आत्म शब्द चित्तपरक हैं, चित्तशुद्धयर्थ कर्म होता है, वस्तुतः आत्मा तो सदा शुद्ध ही है, कभी अशुद्ध होता ही नहीं 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस योगसूत्रके अनुसार

सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

जितेन्द्रिय निष्काम कर्मयोगी नवद्वारवाले शरीर रूपी घरमें सब कर्मोंको मनसे त्याग करता हुआ न कराता हुआ अनायास प्रारब्ध कर्म वश अवस्थित रहता है ॥ १३ ॥

युक्तः-ईश्वरायैवैतानि कर्माणि, न मम फलायेत्येवमभिप्रायवान् कर्मफलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वन् शान्ति-मोक्षाख्यामाप्नोति । नैष्ठिकीम्-सत्त्वशुद्धिम् । नित्यानित्यवस्तुविवेकसन्यासज्ञान-निष्ठाक्रमेण जातामिति यावत् । यस्तु पुनरयुक्तः ईश्वरायैवैतानि कर्माणि, न मम फलायेत्य-भिप्रायशून्यः, स कामकारेण - कामतः प्रवृत्त्या मम फलायैवेदं कर्म करोमीति फले सक्तः निबध्यते कर्मभिः-नितरां संसारबन्धं प्राप्नोति । यस्मादेवम्, तस्मात्त्वमपि युक्तः सन्कर्माणि कुर्विति वाक्यशेषः ॥ १२ ।

अशुद्धचित्तस्य केवलात्संन्यासात्कर्मयोगः श्रेयानिति पूर्वोक्तं प्रपञ्च्य, अधुना शुद्धचित्तस्य कर्मसंन्यास एव श्रेयानित्याह—'सर्वकर्माणी'ति ।

जेसा चित्त सन्निहित होता है वैसा ही आत्मा प्रतीत होता है अतः तुम भी युक्त होकर करो, इस प्रकार कर्मसे बन्धकी शंका नहीं यह भगवान का अभिप्राय है ॥ ११ ॥

प्रश्न—कर्तृत्वाभिमान समान होनेपर भी उसी कर्मसे कोई मुक्त होता है कोई बद्ध होता है इस वैषम्यमें क्या कारण ?

उत्तर—'युक्तः' इत्यादिसे । ईश्वरार्थं ही ये कर्म हैं मेरे फल के लिये नहीं, एतदाशयवान् कर्मफलका त्यागकर कर्मोंको करता हुआ मोक्षनामक शान्तिको प्राप्त करता है, यही नैष्ठिकी शान्ति है । मुक्तको फिर अशान्ति कभी नहीं होती अतः मोक्ष ही शान्ति है । यह शान्ति साक्षात् कर्मानुष्ठानमात्रसे नहीं होती, किन्तु सत्त्वशुद्धि नित्यानित्यवस्तुविवेक सन्यास ज्ञाननिष्ठाक्रमसे हीं होती है, अन्यथा कर्मजन्म होनेपर अनित्य हो जायगी । मोक्षहेतुज्ञानसाधनोत्पत्तिक्रमसे ज्ञानोत्पन्न होनेपर है, जो अयुक्त है, ईश्वरार्थं ही ये कर्म हैं मेरे फलके लिये नहीं इस भावसे शून्य कामतः-तत्फलेच्छा अपने फलके लिये इन कामोंको करता हूं इस प्रकार फलमें जो आसक्त हैं वह कर्मोंसे बद्ध होता है 'नि'उपसर्गसे नियतत्व बन्धमें सूचित किया गया है । अतः 'बध्यते' न कहकर 'निबध्यते' कहा संसारके विना सांसारिक फल नहीं मिल सकता सांसारिक फल कामियोंको संसारबन्धन आवश्यक ही है यत एवं ततः यदि ऐसा है तो तुम भी युक्त ही कर्मोंको करो बन्धनका भय इस प्रकारसे नहीं यह वाक्य शेष है पूर्व वाक्यको पर्यवसितार्थ करनेके लिए इतना और जोड़ देना चाहिये ॥ १२ ॥

नित्यम्, नैमित्तिकम्, काम्यम्, प्रतिषिद्धम्, चेति सर्वाणि कर्माणि मनसा 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदि' त्यत्रोक्तेनाकर्त्रात्मस्वरूपसम्यग्दर्शनेन संन्यस्य-परित्यज्य प्रारब्धकर्मवशादास्ते-तिष्ठत्येव। किं दुःखेन? नेत्याह—सुखम्-अनायासेन, आयासहेतुकायवाङ्मनोव्यापारशून्यत्वात्। कायवाङ्मनांसि स्वच्छन्दानि कुतो न व्याप्रियन्ते? तत्राऽऽह—वशी—स्ववशीकृतकार्यकरणसंघातः। क्वाऽऽस्ते? नवद्वारे पुरे। द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे नासिके, वागेकेति शिरसि सप्त, द्वे पायूपस्थाख्ये अध इति नवद्वारविशिष्टे देहे देही-देहभिन्नात्मदर्शी प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्नहंकारममकारशून्यस्तिष्ठति। अज्ञो हि देहतादात्म्याभिमानाद्देह एव, न तु देही। स च देहाधिकरणमेवाऽऽत्मनोऽधिकरणं मन्यमानो गृहे, भूमौ, वाऽऽसने वाऽहमासे इत्यभिमन्यते, न तु देहेऽहमास इति, भेददर्शनाभावात्। संघातव्यतिरिक्तात्मदर्शी तु सर्वकर्म-

---

अशुद्ध चित्तवाले को केवल सन्याससे कर्मयोग ही अतिश्रेष्ठ है यह पूर्वोक्तका विस्तारसे निरूपणकर अब शुद्धचित्तको सब कर्मोका त्याग ही अति उत्तम है यह कहते हैं 'सर्वकर्माणी'त्यादि से। नित्य नैमित्तिक काम्य और प्रतिषिद्ध ये ही सब कर्म है इनका मनसे कर्ममें अकर्म देखता इस प्रकार पूर्वकथनानुसार आत्मा वस्तुतः कर्ता नहीं है अकर्तृ स्वरूपात्मसमीचीनज्ञानसे त्यागकर कर्मवशसे केवल स्थित रहता है।

प्रश्न—क्या दुखमें जीवनयापन करता है?

उत्तर—सुखसे-अनायाससे आयास श्रम कहाता है अजितेन्द्रियोंको इन्द्रिय विषयोंके संग्रहादिमें आयास करना आवश्यक है इसीको स्फुट करते हैं आयास हेतु कायिक वाचिक मानसिक व्यापार रहित होनेसे आयासकी क्या संभावना?

प्रश्न—वाक्, काय और मन स्वतंत्र स्वयं क्यों नहीं प्रवृत्त होते?

उत्तर—वे स्वतन्त्र हुई नहीं शरीरेन्द्रियादिको अपने वशमें कर लिया हैं।

प्रश्न—सुखसे कहां रहता है नौ द्वारवाले नगरमें, नौ द्वार कौन है?

उत्तर—दो कान दो आंख दो नाक एक वाक् सातवा शिर और दो पायूपस्थ मलमूत्रादिको त्यागनेवालोंकी इन्द्रियां देहसे भिन्न आत्माके जाननेवाला यथा दूसरेके गृहमें विदेशी रहता है गृहस्वामीकी आदरसे न प्रसन्न होता है न निरादरसे अप्रसन्न अहंकार ममकारसे रहित केवल रहता है अज्ञ पुरुष देहतादात्म्याभिमानसे देहस्वरूप ही आत्माको जानता है अतएव अहं गौरः, अहं कृशः 'इत्यादि प्रतीतियोंको यथार्थ मानता है। अतएव वह देहके अधिकरणको अपना अधिकरण मानता है गृहमें आसनपर भूमिपर हर जगह देह

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

आत्मा देहादिका कर्तृत्व और कर्मो का निर्माण नहीं करता तथा न कर्म फलके सम्बन्धका ही निर्माण करता है, प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्त होती है ॥ १४ ॥

संन्यासी भेददर्शनाद्देहेऽहमास इति प्रतिपद्यते । अत एव देहादिव्यापाराणामविद्ययाऽऽत्मन्यक्रिये समारोपितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसंन्यास इत्युच्यते । एतस्मादेवाज्ञवैलक्षण्याद्युक्तम्-विशेषणं 'नवद्वारे पुर आस्ते' इति । ननु देहादिव्यापाराणामात्मन्यारोपितानां नौव्यापाराणां तीरस्थवृक्ष इव विद्यया बाधेऽपि स्वव्यापारेणाऽऽत्मनः कर्तृत्वम्, देहादिव्यापारेषु कारयितृत्वञ्च स्यादिति ? नैवेत्याह—'नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्ते' इति संबन्धः ॥१३॥

देवदत्तस्य स्वगतैव गतिर्यथा स्थितौ सत्यां न भवति, एवमात्मनोऽपि कर्तृत्वम्, कारयितृत्वं च स्वगतमेव सत्सन्यासे सति न भवति। अथवा नभसि तलमलिनतादिवद्वस्तुवृत्त्या तत्र नास्त्येवेति संदेहापोहायाऽऽह—'नकर्तृत्वमि'ति। लोकस्य - देहादेः कर्तृत्वं प्रभुरात्मा - स्वामी न सृजति । त्वं कुर्विति नियोगेन तस्य कारयिता न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्माणि - ईप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति-

रहता है वही . अपना अधिकरण समझकर 'घरमें हैं आसनपर हम हैं' इत्यादि प्रयोग करता है यह नहीं कहता कि हम देहमें है कारण भेदज्ञानाभाव है देहसे भिन्न आत्माको जानता नहीं फिर कहें कैसे देहादि-समुदायसे आत्मा अतिरिक्त है यह जाननेवाला भिन्न दर्शी तो सर्व कर्म त्यागी अतएव देहमें हम हैं ऐसा जानता है अतएव देहादि व्यापारोंको अक्रिय-क्रियाशून्य आत्मामें अज्ञानसे आरोपितोंका विद्यासे बाध ही कर्मसंयास का होता है इसी अज्ञ वैलक्षण्यसे ठीक विशेषण है नवद्वार पुरमें रहता है।

प्रश्न—यथा तीरस्थ वृक्षोंमें नौकास्थित चलन व्यापारको वृक्षमें आरोप करता है तथा आत्मामें आरोपित देहादि व्यापारोंका विद्यासे बाध होनेपर भी अपने व्यापारसे आत्मामें कर्तृत्व तथा देहादि व्यापारसे कारयितृत्व हो सकता है देहादि व्यापारसे आत्मा न हो निजव्यापारसे कर्ता कारयिता होनेमें क्या आपत्ति ?

उत्तर—नहीं न वह करता है न कारयिता है कूटस्थ चैतन्यमें क्रियाका सम्भव नहीं 'आस्ते' का सम्बन्ध कर लेना चाहिये ।। १३ ॥

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

व्यापक परमात्मा किसी के पाप या पुण्य कर्म को ग्रहण नहीं करता है। किन्तु अज्ञान (माया) से आवृत अर्थात् छिपा है इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य-कर्म कृतवतस्तत्फलसम्बन्धं सृजति-भोजयिताऽपि । भोक्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति, ध्यायतीव लेलायतीव सधीः' बृ० उ० ४-३-७. इत्यादिश्रुतेः ।

अत्रापि "शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते" इत्युक्तेः, ।

यदि किंचिदपि स्वतो न कारयति, न करोति चाऽऽत्मा, कस्तर्हि कारयन्कुर्वंश्च प्रवर्तत इति ? तत्राऽऽह--'स्वभावस्तु' इति । स्वभावस्तु-अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृतिः प्रवर्तते ॥ १४ ॥

नन्वीश्वरः कारयिता, जीवः कर्ता, तथा च श्रुतिः—"एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तम्, यमेभ्यो लोकेभ्यउन्निनीषते । एषह्येव एव । साधु कर्म कारयति तम्, यमधो निनीषते', कौ. उ. ३-८ इत्यादिः ।

देवदत्तमें वस्तुतः गति रहती है खड़े होनेपर निवृत्त हो जाती है एवं आत्मामें भी कर्तृत्व कारयितृत्व वास्तविक मानकर उसीके संन्यासको सन्यास क्यों नहीं कहते-अथवा आकाशमें नीलिमाके समान वास्तविक कर्तृत्वादि आत्मामें नहीं है इस सन्देह निवृत्तिके लिये कहते हैं तलमलिनता इन्द्रनीलमणिनिर्मितावाङ्मुखकटाहतलगतमालिन्य जो आकाशमें प्रतीत होती है वह वस्तुतः उनमें नहीं है लोक-देहका प्रभु आत्मा कर्तृत्वका सर्जन नहीं करता तू कर्म कर ऐसी प्रेरणा नहीं करता जिससे वह कारयिता कहा जाय और न लोकके कर्म इष्टतम घटपटादि स्वयं करता है अतः कर्ता ही नहीं है कर्म करनेवाले लोकका कर्ताके साथ हमारा कर्मके फल सम्बन्धकी सृष्टि भी नहीं करता सम्बन्धकी भी सृष्टि नहीं करता भोजयिता भी नहीं है भोक्ता भी नहीं है "स समानः सन्नुभौ लोकौ अनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः" यह श्रुति है। गीतामें भी कहा है, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' इति ।

प्रश्न—यदि आत्मा स्वयं कुछ नहीं कराता न कर्ता है तो फिर कौन कराता कर्ता है ?

उत्तर—इसका स्वाभाव कराता कर्ता है अज्ञानस्वरूप देवो माया प्रकृति स्वभाव है वही प्रकृति करती कराती है ॥ १४ ॥

स्मृतिश्च—"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" ।। इति ।।

तथा च जीवेश्वरयोः कर्तृत्व-कारयितृत्वाभ्यां भोक्तृत्व-भोजयितृत्वाभ्यां च पापपुण्यलेपसंभवात्कथमुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तत इति ? तत्राऽऽह 'नादत्ते' इति । परमार्थतः विभुः-परमेश्वरः कस्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते, परमार्थतो जीवस्य कर्तृत्वाभावात्, परमेश्वरस्य च कारयितृत्वाभावात् । कथं तर्हि श्रुतिः, स्मृतिः, लोकव्यवहारश्च ? तत्राऽऽह 'अज्ञानेने'ति । अज्ञानेन-आवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येन-अनृतेन तमसाऽऽवृतम्-आच्छादितं ज्ञानं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतं नित्यं स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दरूपमद्वितीयं परमार्थं सत्यम्, तेन स्वरूपावरणेन मुह्यन्ति-प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण-कर्तृ-कर्म-करण-भोक्तृ-भोग्य-भोगाख्य-नवविधसंसाररूपं मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपं गच्छन्ति जन्तवः-जननशीलाः संसारिणः

प्रश्न—ईश्वर कारयिता है 'तं एभ्यो लोकेभ्यः' श्रुति भी ऐसी ही कहती है उससे व साधु कर्म कारयित।से यमुन्निनीषते इत्यादि, 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽय'मित्यादि एतदर्थक स्मृति भी है। ऐसी स्थितिमें जीव कर्ता ईश्वर कारयिता जीव भोक्ता ईश्वर भोजयिता माननेसे पुण्य पापके संसर्गका संभव है फिर कैसे कहते हैं स्वभाव ही प्रवृत्त कराता कर्ता है ?

उत्तर—परमार्थतः यह है 'नादत्ते' इत्यादिसे। विभु परमेश्वर किसी भी जीवका पाप पुण्य नहीं लेता कारण तत्त्वतः जीव कर्ता ही नहीं है परमेश्वर भी वस्तुतः कारयिता नहीं कर्ता तत्त्वतः कोई हो तो कारयिता भी वास्तविक हो सकता है, प्रकृतमें सो है नहीं।

प्रश्न—तो उक्त श्रुति स्मृति और लोक व्यवहार इस विषयका कैसे संगत होगा ?

उत्तर—आवरणविक्षेपशक्तिशाली माया नामक अज्ञान तमसे आच्छादित-आवृत ज्ञान जीवेश्वर-जगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतनित्यस्वप्रकाशचिदानन्दस्वरूप अद्वितीयपरमार्थ इस स्वरूपावरणसे प्रजा मुग्ध होती है। अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा एक ही परमार्थ सत् है मायासे जब उक्त स्वरूप आत्मा आवृत हो जाता है तो उसीमें जीवेश्वर भेद कल्पना समस्त चराचर जगत्की कल्पना होती है निरधिष्ठान कल्पना नहीं होती कल्पित अधिष्ठान नहीं हो सकता कारण कल्पनासे पूर्व कल्पित नहीं है इसलिए वह कल्पनाका अधिष्ठान नहीं हो सकता अतः स्वप्रकाश सदा-सिद्ध स्वरूप आत्मा ही कल्पित निखिल जगत्का अधिष्ठान है उक्त कल्पनानुसार प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय कर्तृ, कर्म, करण, भोक्तृ, भोग्य, भोग इस प्रकार नवविध संसार रूप मोह विपर्यय अतस्मिन् तदवभासरूप

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जिनका अन्तःकरण का अज्ञान आत्मज्ञानसे नष्ट हो गया है वह ज्ञान सूर्यके समान परमात्माको भासना है। अर्थात् परमात्माके स्वरूपको साक्षात् करता है। ॥ १६ ॥

वस्तुस्वरूपादर्शिनः। अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयात्मस्वरूपादर्शननिबन्धनोऽयं जीवेश्वर-जगद्भेदभ्रमः प्रतीयमानो वर्तते मूढानाम्। तस्यां चावस्थायां मूढप्रत्ययानुवादिन्यावेते श्रुतिस्मृती वास्तवाद्वैतबोधिवाक्यशेषभूते इति न दोषः ॥ १५ ॥

तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतत्वात्कथं संसारनिवृत्तिः स्यात्? अत आह—'ज्ञानेने'ति। तदावरणविक्षेपशक्तिमदनाद्यनिर्वाच्यमनृतमनर्थव्रातमूलमज्ञानमात्माश्रयविषयमविद्यामायादि-शब्दवाच्यमात्मनो ज्ञानेन-गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन श्रवण-मनन-निदिध्यासनपरिपाक-निर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण निर्विकल्पकसाक्षात्कारेण शोधिततत्त्वंपदार्थभेदरूपशुद्धसच्चिदानन्दा-

रजत भिन्न शुक्ति शकलमें रजत ज्ञान के समान मोहरूप विक्षेपको प्राप्त होते हैं। अतः जननशील संसारी वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे शून्य रहते हैं अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही यह जीवेश्वरादि जगद्विभ्रम मूढ़ोंको रहता है उस अवस्थामें मूढ पुरुषोंके विद्यमानके अनुवाद करनेवाली उक्त श्रुति स्मृत्यादि हैं वस्तुतः अद्वैतबोधि वाक्यके शेषभूत है अतः प्रकृतमें कोई दोष नहीं ॥ १५ ॥

प्रश्न—अच्छा तो अनादि अज्ञानसे सब आवृत ही हैं फिर संसार निवृत्ति कैसे होगी?

उत्तर—'ज्ञानेने'त्यादिसे। ज्ञानावरण विक्षेप दो प्रकारकी शक्तियां अज्ञानमें होती हैं आवरण शक्तिसे अधिष्ठानके विशेषांशका आवरण और विक्षेप शक्तिसे पदार्थान्तरका आरोप भ्रमसे होता है शुक्तित्व-विशेषका आवरण और रजतका आरोप शुक्त्यज्ञानसे होता है यह लोकमें प्रसिद्ध है, एवं आत्माज्ञानमें वर्तमान आवरण शक्तिसे स्वप्रकाश चैतन्य अद्वितीयानन्दस्वरूपके आनन्दादि कल्पित विशेषांशका आवरण और विक्षेप शक्तिसे जीवेश्वरादिभेद आरोपित होता है इस अर्थको प्रौढ रचनासे कहते हैं आवरणविक्षेप-शक्तिद्वयशाली अनादि सदसदादि विलक्षण अनृत अनर्थ समुदायका मूल आत्माश्रय (आत्मामें रहनेवाला) और आत्मविषयक अविद्यामायादिपर्याय अज्ञान आत्मामें रहता है।

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥' सं-शा-१-३१९ इति ॥

खण्डैकरसवस्तुमात्रविषयेण नाशितम्-बाधितं कालत्रयेऽप्यसदेवासत्तया ज्ञातमधिष्ठानचैतन्यमात्रतां प्रापितं शुक्ताविव रजतं शुक्तिज्ञानेन येषां श्रवणमननादिसाधनसंपन्नानां भगवदनुगृहीतानाम् मुमुक्षूणाम्, तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ, आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो निरवशेषम् निवर्तयति, न तु कंचित्सहायमपेक्षते। तथा ब्रह्मज्ञानमपि शुद्धसत्त्वपरिणामत्वाद्व्यापकप्रकाशरूपम्

यह संक्षेप शारीरकका मत है इसके अनुसार अज्ञान ब्रह्माश्रय और ब्रह्मविषयक है वाचस्पति मिश्रके मतमें जीवाश्रित ब्रह्मविषयक हैं ज्ञान अधिष्टान कहनेसे ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं किमाश्रय विषयक अज्ञान है इसके स्फुट करनेके लिये ज्ञानमें अग्रिमविशेषण है नित्य स्वप्रकाश भी दोनों हैं इनसे बौद्ध नैयायिकाभिमत आत्मस्वरूपका व्यवच्छेद होता है 'सच्चिदानन्दरूप' परमार्थ सत्य सच्चिदानन्दरूपसे और द्वितीयसे भागवताभिमत आत्मस्वरूपका व्यवच्छेद है वे आनन्दवान् और सद्वितीय आत्मा मानते हैं यह पूर्व श्लोकमें कह चुके हैं उक्त अज्ञान गुरूपदिष्ट'तत्त्वमस्या'दिवेदान्तमहावाक्यजन्य श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासातिशयसे निर्मलपरिशुद्धान्तःकरणवृत्तिरूप अतएव निर्विकल्पक साक्षात्कार शोधिततत्त्वंपदार्थाभेदरूप सच्चिदानन्दाखण्डैकरस वस्तुमात्रविषयक ज्ञानसे नष्ट-बाधित होता है भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंमें असत् ही असत्स्वरूपसे ज्ञात अधिष्ठान चैतन्यमात्र स्वरूपताको प्राप्त किया जाता है।

'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'

इस वचनके अनुसार कल्पित वस्तुका बाध अधिष्ठान स्वरूप होता है। जैसे शुक्तिमें रजत शुक्तिज्ञान से बाधित होकर शुक्तिरूप ही रजत था, अतिरिक्त नहीं, श्रवणमननादि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसाधनसम्पन्न भगवान्‌के दयापात्र मुमुक्षुओंका ज्ञान यही 'प्रकाशयति' क्रियाका कर्ता है इसमें दृष्टान्त 'आदित्यवत्' है। जैसे आदित्य स्वकीय उदय मात्रसे संम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त करता है, कुछ बाकी नहीं छोड़ता और तन्निवृत्ति में स्वोदयसे अतिरिक्तकी कुछ भी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ब्रह्मज्ञान भी शुद्ध सत्वगुणका परिणाम होनेसे व्यापक प्रकाशरूप स्वोत्पत्तिमात्रसे सहकारि कारणान्तरका व्यवच्छेदक है अति स्पष्ट है। सहकारि कारणान्तर निरपेक्ष भी कहा कार्यके साथ अज्ञानकी निवृत्ति करता हुआ परमात्मज्ञानानन्दस्वरूप एक अद्वितीय परमात्मतत्त्वका प्रकाश करता है।

प्रश्न—शुद्ध आत्मा तो अविषय है, फिर वह घटादिवत् ज्ञानका कर्म कैसे होगा ? ज्ञान स्वस्वरूपातिरिक्तको विषयविधया ही प्रकाशित करता है।

उत्तर—ठीक है, ज्ञानका कर्म आत्मा नहीं है, फिर भी अन्तःकरण अति शुद्ध [स्वच्छ] होनेसे उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तद्विशिष्ट जड़ात्मक वृत्ति अविषय स्वरूपके सदृश तादृश चैतन्यको अभिव्यक्त करती है।

स्वोत्पत्तिमात्रेणैव सहकार्यन्तरनिरपेक्षतया सकार्यमज्ञानं निवर्तयत्परं सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपमेकमेवाद्वितीयं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति-प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मतामन्तरेणाऽभिव्यनक्ति । अ'त्राज्ञानेनाऽऽवृतम्' ज्ञानेन नाशितमि'त्यज्ञानस्याऽऽवरणत्व-ज्ञाननाश्यत्वाभ्याम् ज्ञानाभावरूपत्वं व्यावर्तितम् । न ह्यभावः किंचिदावृणोति, न वा ज्ञानाभावो ज्ञानेन नाश्यते, स्वभावतो नाशरूपत्वात्तस्य । तस्मा'दहमज्ञः मामन्यं च न जानामी'त्यादिसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धम् भावरूपमेवाज्ञानमिति भगवतो मतम् । विस्तरस्त्वद्वैतसिद्धौ पृ० सं० ५५८ द्रष्टव्यः । 'येषामि'ति बहुवचनेनानियमो दर्शितः । तथाच श्रुतिः—"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथर्षीणां, तथा मनुष्याणां, तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति, स इदं सर्वं भवति" बृ. उ. १-४-१० इत्यादिः यद्विषयं यदाश्रयमज्ञानं तद्विषय-तदाश्रयप्रमाणज्ञानात्तन्निवृत्तिरिति न्यायप्राप्तं नियमं दर्शयति ।

तत्राज्ञानगतमावरणं द्विविधम्—एकं सतोऽप्यसत्त्वापादकम्, अन्यत्तु भासतोऽप्यभानापादकम् । तत्राऽऽद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रान्निवर्तते, अनुमितेऽपि वह्न्यादौ

प्रश्न—शुद्धचैतन्यसे अनाश्य अत एव तदावरक अज्ञान तत्प्रतिबिम्बविशिष्ट वृत्तिसे कैसे नष्ट होगा ? क्या बिम्बकी अपेक्षा प्रतिबिम्बमें विशेष अतिशय है ?

उत्तर—बिम्ब अज्ञानका साधक है, अतः वह बाधक नहीं हो सकता । प्रतिबिम्बविशिष्ट वृत्ति तन्नाशक होती है यह लोकमें दृष्टचर है । जैसे सूर्यके आलोकसे तृण रुई भस्म नहीं होती, सीसामें सूर्य प्रतिबिम्बसे वह भस्म होती है, वैसे ही शुद्धसे अज्ञानका नाश न होनेपर भी तत्प्रतिबिम्ब विशिष्ट वृत्तिसे समूल समस्त अज्ञानका नाश होता है इसमें आश्चर्य ही क्या ? अज्ञानसे ज्ञान आवृत होता है, ज्ञानसे उस आवरणका नाश होता है, इस कथनसे अज्ञानमें आवरकत्व-ज्ञाननाश्यत्व इन दोनों विशेषणोंसे अज्ञान नैयायिकाभिमत ज्ञानाभाव स्वरूप है, इसकी व्यावृत्तिकी गई है, अर्थात् भावाभावविलक्षण अनिर्वचनीय है क्योंकि अभाव किसीका आवरण नहीं करता और न ज्ञानाभावका नाश ही करता है । स्वभावसे ही वह नाशस्वरूप है, अतः मैं अज्ञ हूँ, मैं अपनेको और अन्यको नहीं जानता हूँ, इत्यादि साक्षि प्रत्यक्षसिद्ध भावाभावविलक्षण स्वरूप ही अज्ञान भगवान्‌को अभिमत है, इससे विस्तार अद्वैत सिद्धिमें देखिये । 'येषां' इस बहुवचनसे देव मनुष्यादिका नियम नहीं है, इसी अर्थका पोषक श्रुति है—'तद् यो यो देवानाम् प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्, तथा मनुष्याणाम्, तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति, सः इदं सर्वं भवति' इत्यादि ।

यद्विषयक यदाश्रयक अज्ञान तद्विषयक तदाश्रयक प्रमाणज्ञानसे निवृत्ति होती है यह न्यायप्राप्त नियमको

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

परमात्मतत्त्वमें परिनिष्पन्न अन्तः करणवृत्ति है जिसकी एवं परब्रह्म ही आत्म है जिसका तथा ब्रह्ममें ही निष्ठा-स्थिति है जिसकी यत्परायण अर्थात् सबसे विरक्त ज्ञानके द्वारा पाप मुक्त हुए मुक्तिको प्राप्त करते हैं। ॥ १७ ॥

पर्वते वह्निर्नास्तीत्यादिभ्रमादर्शनात् । तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मा"स्ति इति वाक्यात्परोक्ष-निश्चयेऽपि, ब्रह्म नास्तीति भ्रमो निवर्तत एव । अस्त्येव ब्रह्म, किं तु मम न भातीत्येवम् भ्रमजनकं द्वितीयमभानावरणं साक्षात्कारादेव निवर्तते । स च साक्षात्कारो वेदान्तवाक्येनैव जन्यते निर्विकल्पक इत्यादि अद्वैतसिद्धावनुसंधेयम् पृ० सं० ७०१ ॥ १६ ॥

'तद्बुद्धयः' इति । ज्ञानेन परमात्मतत्त्वप्रकाशे सति—तस्मिञ्ज्ञानप्रकाशिते परमात्मतत्त्वे सच्चिदानन्दघन एव बाह्यसर्वविषयपरित्यागेन साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिः-अन्तः-करणवृत्तिः साक्षात्कारलक्षणा येषाम्, ते तद्बुद्धयः-सर्वदा निर्बीजसमाधिभाज इत्यर्थः । तत्किम् बोद्धारो जीवा बोद्धव्यं ब्रह्मतत्त्वमिति बोद्धृबोद्धव्यलक्षणभेदोऽस्ति ? नेत्याह—'तदात्मानः' इति ।

दिखलाते हैं। उसमें अज्ञानगत आवरण दो प्रकारका होता है। वस्तु रहनेपर भी तदसत्त्वापादक, दूसरा भान होनेपर भी अभानापादक, उसमें प्रथम परोक्षापरोक्ष साधारण है। प्रमाणज्ञानमात्रसे उसकी निवृत्ति होती है। पर्वतादिमें वह्निका अनुमान ज्ञान होनेपर भी पर्वतमें अग्नि नहीं है यह भ्रम नहीं देखा जाता है, कारण परोक्ष वह्न्यनुमान प्रमाण ज्ञानसे वह्न्यज्ञानका नाश होता है तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस परोक्षवाक्यजन्य निश्चय होनेपर भी ब्रह्म नहीं हैं यह भ्रम निवृत्त होता है ही, ब्रह्म है किन्तु हमारे भानमें नहीं आता, हमको उसका भान नहीं होवा, यह भ्रम जनक द्वितीय अभानापादक आवरण, है, इसका साक्षात्कारसे ही निवृत्ति होती है, तदन्य परोक्षप्रमाणजन्य ज्ञानसे नहीं वह साक्षात्कार वेदान्त-वाक्य ही से होता हैं। निर्विकल्पस्वरूप निर्गतः विकल्पः गुणादिधर्मः यस्मात्' इस व्युत्पत्तिसे चैतन्यव्यक्ति-मात्रविषयकज्ञान निर्विकल्प कहा जाता है इत्यादि विस्तार अद्वैत सिद्धिमें देखिये ॥ १६ ॥

ज्ञानसे प्रकाशित उस परमात्मतत्त्वमें सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें ही बाह्य सब विषयोंके परित्याग से साधनपरिपाक होता है, उससे पर्यवसित-परिनिष्पन्न अन्तःकरण वृत्ति साक्षात्कार लक्षण जिनकी वे ही यद्बुद्धयः कहाते हैं। सदा निर्बीजसमाधि निरत रहते हैं, तो क्या बोद्धा समझनेवाला जीव बोद्धव्य ब्रह्मतत्त्व यह बोद्धृ-वोद्धव्यलक्षण भेद है नहीं, किन्तु 'तदात्मानः' वह परब्रह्म हैं आत्मा जिनका वे 'तदात्मानः'

तदात्मानः-तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां, ते तथा। बोद्धबोद्धव्यभावो हि मायाविजृम्भितः, न वास्तवाभेदविरोधीति भावः।

ननु 'तदात्मानः' इति विशेषणं व्यर्थम्। अविद्वद्व्यावर्तकं हि विद्वद्विशेषणम्। अज्ञाः अपि हि वस्तुगत्या तदात्मान इति कथं तद्व्यावृत्तिरिति चेत्? न। इतरात्मत्वव्यावृत्तौ तात्पर्यात्। अज्ञा हि अनात्मभूते देहादावात्माभिमानिन इति, न तदात्मान इति व्यपदिश्यन्ते। विज्ञास्तु निवृत्तदेहाद्यभिमाना इति, विरोधिनिवृत्त्या 'तदात्मानः' इति युक्तं विशेषणम्। ननु कर्मानुष्ठानविक्षेपे सति कथं देहाद्यभिमाननिवृत्तिरिति इति। तत्राऽऽह—'तन्निष्ठाः'। तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या निष्ठा स्थितिर्येषाम्, ते तन्निष्ठाः, सर्वकर्मसंन्यासेन तदेकविचारपरा इत्यर्थः। फलरागे सति कथं तत्साधनभूतकर्मत्याग इति? तत्राऽऽह—तत्परायणाः। तदेव परमयनं प्राप्तव्यं येषाम्, ते तत्परायणाः। सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः। अत्र 'तद्बुद्धयः' इत्यनेन साक्षात्कार उक्तः। 'तदात्मानः' इत्यनात्माभिमानरूपविपरीतभावनानिवृत्तिफलको निदि-

बोद्धबोद्धव्यभाव मायिक है, अतः वास्तविक जीव ब्रह्माभेदका बाधक नहीं यह भाव है।

शंका—तदात्मानः यह विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि सब जीव ब्रह्मस्वरूप ही है कोई जीव अब्रह्म स्वरूप होता तो फिर उसकी व्यावृत्तिकर उक्त विशेषण सार्थक होता।

उत्तर—अविद्वानके आत्माकी व्यावृत्तिके लिये उक्त विशेषण है। अज्ञात्मा भी तो ब्रह्म स्वरूप ही है फिर उनकी व्यावृत्ति कैसे?

उत्तर—भिन्नात्म व्यावृत्तिमें तात्पर्य है। अज्ञ लोग अनात्म-आत्मभिन्न देहमें आत्माका अभिमान करते हैं, इस कारण उनका तदात्मानः से व्यवहार नहीं होता। ज्ञानी तो निवृत्त देहाभिमान होनेसे विरोधिदेहाभिमानकी निवृत्तिसे, तदात्मानः से उनका व्यवहार होता है, अतः विशेषण ठीक है।

शंका—कर्म करनेकी अवस्थामें साध्य, साधन, इतिकर्तव्यताज्ञानसे चित्तका विक्षेप अवश्य होगा, उस समय 'तदात्मानः' कैसे होंगे? देहाभिमान भी उस समय रहेगा ही।

उत्तर—'तन्निष्ठाः' उनी ब्रह्ममें ही निष्ठा अखिल कर्मानुष्ठान विक्षेपकी निवृत्तिसे निष्ठाकी स्थिति है—जिनको वे 'तन्निष्ठाः' हैं सब कर्मोंको छोड़कर ब्रह्मके विचारपरायण उसीके मननमें निरत हैं।

शंका—फलमें अनुराग रहनेपर उसका साधन कर्मका त्याग ही कैसे होगा?

उत्तर—'तत्परायणाः' वही ब्रह्म पर उत्कृष्ट अयन प्राप्तव्य है जिनका वे तत्परायण हैं, सब प्रकारसे विरक्त हैं यहां 'तद्बुद्धयः' से साक्षात्कार कहा है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

पण्डित लोग (ज्ञानी जन) विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मणमें जी हांथी कुत्ते तथा चाण्डालमें भी समदर्शी होते हैं । ॥ १८ ॥

ध्यासनपरिपाक इत्यनेन सर्वकर्मसन्यास पूर्वकः प्रमाणप्रमेयगतासंभावनानिवृत्तिफलको वेदान्त-विचारः श्रवणमननपरिपाकरूपः, "तत्परायणाः' इत्यनेन वैराग्यप्रकर्ष इति, उत्तरोत्तरस्य पूर्व-पूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम् । उक्तविशेषणा यतयो गच्छिन्ति-अपुनरावृत्ति पुनर्देहसंबन्धाभावरूपां मुक्तिम् प्राप्नुवन्ति । सकृन्मुक्तानामपि पुनर्देहसम्बन्धः कुतो न स्यादिति चेत् ? तत्राऽऽह-'ज्ञाननिर्धूत' कल्मषाःइति । ज्ञानेन निर्धूतम्-समूलमुन्मूलितं पुनर्देहसम्बन्धकारणं कल्मषम्-पुण्यपापात्मकम् कर्म येषाम्, ते तथा । ज्ञानेनानाद्यज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यकर्मक्षये तन्मूलकं पुनर्देहग्रहणं कथम् भवेदिति भावः ॥ १७ ॥

देहपातादुर्ध्वं विदेहकैवल्यरूपं ज्ञानफलमुक्त्वा, प्रारब्धकर्मवशात्सत्यपि देहे जीवन्मुक्तिरूपं तत्फलमाह—'विद्ये'त्यादि । विद्या-वेदार्थपरिज्ञानम्, ब्रह्मविद्या वा । विनयः-निरहंकारत्वम्रम् । अनौद्धत्यमिति यावत् । ताभ्यां संपन्ने ब्रह्मविदि विनीते च ब्राह्मणे सात्त्विके

'तदात्मानः' से अनात्मा देहादिना आत्माभिमान रूप विपरीतधारण निवृत्तिफलक निदिध्यासन परिपाक । 'तन्निष्ठाः' इस विशेषण से सर्वकर्मसन्यासपूर्वक प्रमाण प्रमेयगत असंभावनानिवृत्तिफलक वेदान्त विचार श्रवण मनन परिपाकरूप' तत्परायण से वैराग्यप्रकर्ष, इस प्रकार उत्तरोत्तर पूर्व पूवमें हेतु है इसपर दृष्टि देना, उक्त विशेषणविशिष्ट संन्यासी पुनर्देहसम्बन्धाभावरूप मुक्तिको प्राप्त करते हैं ।

शंका—मुक्तोंको एक बार भी फिर देह सम्बन्ध क्यों न ही होता ?

उत्तर—'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' ज्ञान से निर्मूल किया है पुनर्देहसम्बन्धका हेतु कल्मष पुण्यपापात्मक कर्म जिनका वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष हैं । तत्वज्ञानसे अनाद्यनर्थहेतुभूत अज्ञान की निवृत्तिसे अज्ञावकार्य कर्मके क्षयसे तन्मूल देह ग्रहण कैसे हो सकता है ? यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

देहनाशोत्तारा विदेह कैवल्यफल कहकर प्रारब्ध कर्मवश देह रहनेपर भी जीवन्मुक्तिरूप फल कहते-हैं— 'विद्ये'त्यादि से । विद्या-वेदार्थज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या विनय-अहंकार राहित्य अनौद्धत्य-अदुर्व्यवहारता अनुद्दण्डता इन दोनोसे संपन्न ब्रह्मवेत्तामें, सात्त्विक विनीत विनयसम्पन्न सत्त्वसे उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मणमें एवम्-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समतामें स्थित है, वे जीवन कालमें ही संसारको जीत लिए हैं। क्योंकि ब्रह्म, सब-विकार शून्य एवं कूटस्थ नित्य है, इसलिये वे समदर्शी ब्रह्म हैं। ॥ १९ ॥

सर्वोत्तमे, तथा गवि संस्कारहीनायां राजस्यां मध्यमायाम्, तथा हस्तिनि, शुनि, श्वपाके चात्यन्ततामसे सर्वाधमेऽपि, सत्त्वादिगुणैःतज्जैश्च संस्कारैरस्पृष्टमेव समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषाम्, ते समदर्शिनः, पण्डिताः-ज्ञानिनः । यथा गंगातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्याऽऽदित्यस्य न तद्गुणदोषसम्बन्धः, तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसम्बन्ध इति, प्रतिसन्दधानाः सर्वत्र समदृष्ट्यैव रागद्वेष-राहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

ननु सात्त्विक-राजस-तामसेषु स्वभावविषमेषु प्राणिषु समत्वदर्शनं धर्मशास्त्र-निषिद्धम् । तथा हि 'तस्यान्नमभोज्यमि'त्युपक्रम्य गौतमः स्मरति—"समासमाभ्याम् विषमसमे पूजातः" इति । 'समासमाभ्यामि'ति चतुर्थी-द्विवचनम् । 'विषमसमे' इति द्वन्द्वैक-वद्भावेन सप्तम्येकवचनम् । चतुर्वेदपारगाणामत्यन्तसदाचाराणां यादृशो वस्त्रालंकारान्नादि-

---

संस्कार हीन गौ में जो राजसी रजोगुण प्रधान है अतएव 'मध्यमा' कहा तथा हस्ती, कुत्ता, चाण्डाल सर्वाधम अत्यन्त तामसमें तम, सत्त्व रजस्तमसः क्रमसे अनादि व्यवहार होता आया है तदनुसार मध्यमा रजोगुणमयीका ग्रहण है दुग्ध घृतादि उत्तम पदार्थोपादान होनेसे राजसी है तथा हाथी, कुत्ता चाण्डाल अत्यन्त तामस ये हैं, अतएव सबसे अधम तामस है। सत्त्वादिगुण तज्जनित संस्कारसे सर्वथा असंयुक्त सम ब्रह्म दर्शन का शील है जिनका वे समदर्शी पण्डित ज्ञानी होते हैं। जैसे गङ्गाजल में तालाब के जल में मद्य में, मूत्र में प्रतिबिम्बित आदित्यमें प्रतिबिम्बाधार वस्तुगत गुणदोषका सम्बन्ध नहीं होता वैसे चिदाभास द्वारा प्रति-बिम्बित ब्रह्म में भी उपाधिगत गुण दोषका सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रतिसन्धानकारी पुरुष सब स्थलमें सम दृष्टिसे युक्त राग द्वेष रहित परमानन्द प्रकाशसे जीवन्मुक्तिका अनुभव करते हैं ॥ १८ ॥

शंका—सात्त्विक राजस तामसोंमें जो स्वभावसे ही विषम प्राणी हैं, उनमें समदृष्टि करना धर्मशास्त्रसे विरुद्ध है। तथाहि 'तस्याऽन्नमभोज्यम्' उसका अन्न भोजन के योग्य नहीं, इसको उपक्रम कर गौतम की स्मृति है—'समासमाभ्यां' विषमसमे पूजातः' इति। 'समासमाभ्याम्' यह चतुर्थी विभक्ति का द्विवचन है।

दानपुरस्सरः पूजाविशेषः क्रियते, तत्समायैवान्यस्मै चतुर्वेदपारगाय सदाचाराय विषमे तदपेक्षया न्यूने पूजाप्रकारे कृते, तथाऽल्पवेदानां हीनाचाराणां यादृशो हीनसाधनः पूजाप्रकारः क्रियते, तादृशायैवासमाय पूर्वोक्तवेदपारगसदाचारब्राह्मणापेक्षया हीनाय तादृशहीनपूजाधिके मुख्यपूजासमे पूजाप्रकारे कृते, उत्तमस्य हीनतया, हीनस्योत्तमतया पूजातो हेतोस्तस्य पूजयितुरन्नमभोज्यं भवतीत्यर्थः। पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्‌'धनाद्धर्माच्च हीयते' इति च दोषान्तरम्। यद्यपि यतीनां निष्परिग्रहाणां पाकाभावाद्धनाभावाच्चाभोज्यान्नत्वम्, धनहीनत्वम् स्वत एव विद्यते, तथाऽपि धर्महानिर्दोषो भवत्येव। अभोज्यान्नत्वं चाशुचित्वेन पापोत्पत्त्युपलक्षणम्। तपोधनानां च तप एव धनमिति, तद्धानिरपि दूषणं भवत्येवेति कथं समदर्शिनः पण्डिताः जीवन्मुक्ता इति? प्राप्ते परिहरति—'**इहैवे**'त्यादिना। तैः-समदर्शिभिः पण्डितैः

विषमसमे द्वन्द्वसमासमें एकवद्भाव करनेसे सप्तमीका एकवचन है, इसका अर्थ है कि चारों वेदोंका पारंगत विद्वान् अत्यन्त सदाचारीकी जैसी वस्त्रालङ्कारादिसे विशेष पूजा की जाय, उसीके समान अन्य विद्वान् जो चारों वेदों का पारंगत सदाचार संपन्न है उसमें विषम-न्यून पूजा करने से तथा अल्प वेदाभिज्ञ हीनाचार का जैसे हीन साधन पूजा प्रकार है किया जाता है तादृश ही, अतएव असम पूर्वोक्तवेदपारंगत सदाचारी ब्राह्मण की अपेक्षा से हीन की तादृश हीन पूजासे अधिक मुख्यपूजा समपूजा प्रकार करने से; अर्थात् उत्तम की हीन प्रकार की पूजा से, हीन की उत्तम पूजा से पूजा करनेवाले का अन्न अभोज्य होता है, यह उक्त स्मृति का अर्थ है। पूजा करनेवाला पात्र के अवधान न कर धन और धर्म से रहित होता है, यह दूसरा दोष है। यद्यपि सञ्चयशील यति नहीं होते, अतः उनमें पाकाभाव तथा धनाभावसे अभोज्यान्नत्व धनहीनत्व स्वतः सिद्ध है। संन्यासी रसोई बनाते ही नहीं, स्वयं दूसरे के गृह में भिक्षा करते हैं जिसको अपने भोजनके लिये अन्न नहीं उसमें धनहीनत्व, अभोज्यन्नत्व स्वतः सिद्ध है। अतः यति उक्तस्मृतिके लक्ष्य नहीं, अतः उनके समदर्शनमें कोई स्मृतिविरोधकी शङ्का नहीं, तो भी धर्महानिदोष होता ही है। अभोज्यान्नत्व अशुचित्व सम्पादनद्वारा पापोत्पत्तिमें उपलक्षण है। तपोधन यतियों को तप ही धन है, उस तपरूपी धनको हानि भी दोष ही है। अतः समदर्शी जीवन्मुक्त पण्डित कैसे हो सकते हैं इस संदेह का परिहार करते हैं—'**इहैवेति**' से।

वे समदर्शी पण्डित 'इहैव' यहाँ ही जीवन दशामें ही 'सृज्यते इति सर्गः' द्वैत प्रपञ्च को जीत लिया अर्थात् सर्ग प्रपञ्च को जीत लिया अर्थात् सर्ग प्रपञ्च से अतिक्रान्त रहते हैं शरीरपात के अनन्तर सर्ग का अतिक्रम करना है; इसको चर्चा ही क्या? उस समय तो स्वतः सिद्ध है।

इहैव-जीवनदशायामेव जितः-अतिक्रान्तः सर्गः सृज्यत इति व्युत्पत्त्या द्वैतप्रपञ्चः। देहपातात् ऊर्ध्वमतिक्रमितव्य इति किमु वक्तव्यम्। कैः ? येषां साम्ये-सर्वभूतेषु विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मणः समभावे स्थितं निश्चलं मनः,। हि-यस्मात् निर्दोषं समं सर्वविकारशून्यं कूटस्थनित्यमेकम् च ब्रह्म। तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः। अयं भावः—दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति - अदुष्टस्यापि दुष्टसम्बन्धात्, स्वतोदुष्टत्वाद्वा। यथा गङ्गोदकस्य मूत्रगर्तपातात्, स्वत एव वा। यथा मूत्रादेः। तत्र दोषवत्सु श्वपाकादिषु स्थितं तद्दोषैर्दुष्यति ब्रह्मेति मूढैर्विभाव्यमानमपि, सर्वदोषासंसृष्टमेव ब्रह्म, व्योमवदसंगत्वात्, "असंगो ह्ययं पुरुषः,"

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" कठ-उ-२-६-१९ इति श्रुतेः॥ नापि कामादिधर्मवत्तया स्वत एव कलुषितम्, कामादेरन्तःकरणधर्मत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्। तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यतयो जीवन्मुक्ता अभोज्यान्नादिदोषदुष्टाश्चेति व्याहतम्।

प्रश्न—किसने सर्ग जीता ?

उत्तर—सर्वभूतों में विषयों में भी वर्तमान ब्रह्म के साम्य में मन स्थित जिनका स्थिर है, क्योंकि निर्दोष अत एव सम, सर्वविकार रहित, कूटस्थ, नित्य एक ब्रह्म है, अतः वे समदर्शी ब्रह्म ही में स्थित हैं। भाव यह है—दुष्टता दो प्रकार की होती है—अदुष्ट में दुष्ट के सम्बन्ध से या स्वतः दुष्टता से भी, प्रथम का उदाहरण—गङ्गाजल स्वतः अदुष्ट है, किन्तु मूत्र के गढेमें गिरनेसे तत्संबंध से दूषित होता है। स्वतः दूषित मूत्रादि प्रसिद्ध ही है, उनमें स्वतः दुष्ट श्वपाकादि में स्थित ब्रह्म उसके दोषसे दूषित होता हैं। ब्रह्म भी यह मूर्खोंकी संभावना होती है, लेकिन ब्रह्म सब दोषोंसे सदा असंबद्ध ही है, क्योंकि आकाशके तरह ब्रह्म असंग है। 'असंगोह्ययं पुरुषः' ऐसी ही श्रुति कहती है।' सूर्यो यथा सर्वलोकस्य' इत्यादि मूल देखो। सब लोकका नेत्र सूर्य विना सूर्य प्रभा केवल नेत्र वस्तु प्रकाशनमें समर्थ नहीं है। अतः सूर्य भी सब लोकोंके नेत्र हैं उनका सम्बन्ध मेध्यामेध्य सबके साथ होता है, परन्तु बाह्य अशुचिपदार्थके संसर्गमें दुषित नहीं होते तथा सर्वभूतोंके अन्तरात्मलोकके दुःखादि दोषसे लिप्त नहीं होते, स्वतः भी दोष आत्मामें नहीं, क्योंकि कामादि दोष अन्तःकरण के धर्म हैं आत्माके नहीं इसमें प्रमाण श्रुतिस्मृत्यादि है। ततः निर्दोष ब्रह्मस्वरूप यति जीवन्मुक्त अभोज्यान्नादि दोषसे दुष्ट होते हैं यह कहना ही व्याहत है।

प्रश्न—फिर उक्त स्मृतिकी क्या गति है ?

उत्तर—उक्त स्मृति अविद्वान् गृहस्थ विषयक है। कारण, इसका अन्न अभोज्य है इसके प्रकरणमें

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जो प्रियवस्तुको प्राप्तकर आनन्दित नहीं हो और अप्रिय की प्राप्त उद्विग्न न हो ऐसा स्थिरबुद्धि सन्देहरहित ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्ममें स्थित है । ॥ २० ॥

स्मृतिस्त्वविद्वद्गृहस्थविषयैव, तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रमात्, पूजात इति मध्ये निर्देशात्, धनात् धर्माच्च हीयते' गौ ध-सू- ५-२५ इत्युपसंहाराच्चेति द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म, तस्मात्तद्रूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन्नाह 'न प्रहृष्योदि'त्यादि । "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" इत्यत्र व्याख्यातं पूर्वार्धम् । जीवन्मुक्तानाम् स्वाभाविकं चरितमेव मुमुक्षुभिः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति वदितुं लिङ्प्रत्ययौ । अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगान्न तन्निमित्तौ हर्षविषादा-वित्यर्थः । अद्वितीयात्मदर्शनमेव विवृणोति - 'स्थिरबुद्धिरि'ति । स्थिरा-निश्चला सन्यासपूर्वकवेदान्तवाक्यविचारपरिपाकेण सर्वसंशयशून्यत्वेन निर्विचिकित्सा निश्चिता ब्रह्मणि बुद्धिर्यस्य, सः तथा । लब्धश्रवणमननफल इति यावत् । एतादृशस्य सर्वसंभावना-

---

पाठ है । 'पूजातः' यह मध्यमें निर्देश है, धन और धर्मसे हीन होता है उपक्रम, मध्यमें अभ्यास, अन्तमें उप-संहारसे शास्त्रका तात्पर्य निर्णय किया जाता है ॥ १६ ॥

जिस कारण दोष शून्य सम ब्रह्म है, अतः तद्रूप अपनेको साक्षात्कार करता हुआ दुःख उपस्थित होनेपर चित्तमें उद्वेग न करना, सुख प्राप्तिकी इच्छा न करना, यहाँपर पूर्वार्द्धका व्याख्यान कर चुके हैं। जीवन्मुक्तोंके स्वाभाविक चरित मुमुक्षुओंके प्रयत्न पूर्वक अनुष्ठेय है अर्थात् उनके स्वाभाविक चरित्र मुमु-क्षुओंके प्रयत्न पूर्वक किये जाते हैं। मुमुक्षुकी अपेक्षा जीवन्मुक्त उच्चश्रेणीके हैं 'प्रहृष्येत्' इत्यादि इसको अभियुक्त अनुष्ठान करने के लिए लिङ् प्रत्यय है । अद्वैतात्मदर्शनस्वभाव अतएव अद्वितीयात्मदर्शन परायणको ब्रह्म अतिरिक्त प्रियाप्रियाप्राप्ति का संभव न होने से तन्निमित्तक हर्षविषाद नहीं होना । प्रियप्राप्ति होनेसे हर्ष नहीं होता, अप्रिय प्राप्त होनेसे विषाद नहीं होता। अद्वितीयात्मदर्शन का विवरण करते हैं—स्थिरबुद्धि-रितिसे निश्चल कर्मत्यागपूर्वक वेदान्त वाक्यश्रवणादि विचार परिपाकसे सब प्रकार संशय निवृत्त हो जाता है, अतएव 'विचिकित्सा तु संशयः' इस कोशसे विचिकित्सा संशय कहाता है। असंदिग्ध निश्चित ब्रह्ममें बुद्धि है जिसकी वह अर्थात् श्रवण मनन फल लाभ युक्त ऐसे को सब असंभावनाओंसे शून्यके–अभाव रहने

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्य विषयोंमें अनासक्त मनवाला, मनमें बाह्य विषय निरपेक्ष उपशमरूप सुख प्राप्त करता है। वह ब्रह्ममें समाधियुक्त अन्तः करणवाला अक्षय सुख का लाभ करता है। ॥ २१ ॥

शून्यत्वेपि विपरीतभावनाप्रतिबन्धात्साक्षात्कारो नोदेतीति । निदिध्यासनमाह- 'असंमूढः' इति । असंमूढः-निदिध्यासनस्य विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहस्य परिपाकेण विपरीतभावनाख्यसंमोहरहितः । ततः सर्वप्रतिबन्धापगमात् ब्रह्मवित्-ब्रह्मसाक्षात्कार-वान् । ततश्च समाधिपरिपाकेण निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितो नान्यत्रेति, ब्रह्मणि स्थितः । जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एतादृशस्य द्वैतदर्शनाभावात्प्रहर्षोद्वेगौ न भवत इत्युचितमेव । साधकेन तु द्वैतदर्शने विद्यमानेऽपि विषयदोषदर्शनादिना प्रहर्षविषादौ त्याज्यावित्य-भिप्रायः ॥ २० ॥

ननु बाह्यविषयप्रीतेरनेकजन्मानुभूतत्वेनातिप्रबलत्वात्तदासक्तचित्तस्य कथमलौकिके-

---

पर भी विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धकके कारण ब्रह्म साक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता है अतः निदि-ध्यासन कहते हैं। निदिध्यासन शब्दार्थं स्फुट करते है-'विजातीये' त्यादिसे । विजातीय सांसारिक घटादिज्ञान से अनन्तरित-अव्यवहित सजातीयज्ञान प्रवाह निदिध्यासन है। १०।१५ मिनट जहाँ तक हो सके आत्मज्ञानधारा लगातार होती रहे, मध्य में विच्छेदन और न विषयान्तर के ज्ञान से व्यवहित ही हो ज्ञान का स्वभाव ही क्षणिक है। एक ज्ञान चिरकाल तक स्वरूपसे नहीं रह सकता, जिस विषय का आलम्बन कर ज्ञान उत्पन्न हो उसी विषयका आलम्बन उत्तरोत्तरक्षणोत्पन्न ज्ञान भी करता जाय तो ज्ञानधारा ताव-त्काल तक सजातीय विषय का ही आलम्बन किया विजातीय घटादि का नहीं; इस लिये विजातीय प्रत्यया-नन्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाहरूप निदिध्यासन ध्यानापरपर्याय प्रसिद्ध है। इसके परिपाकसे फलोन्मुख होनेसे. विपरीतभावनाख्य संमोह से रहित होता है, इससे सब प्रतिबन्धकों के अभाव से 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मसाक्षा-त्कारवान्ः भवति' तब समाधिपरिपाकसे दोषशून्य अतएव सम ब्रह्म में ही अन्यत्र नहीं, इस प्रकार ब्रह्म में स्थित जीवन्मुक्त ही है वही स्थितप्रज्ञ है। ईदृश महात्मा पुरुष को द्वैत दर्शनाभाव प्रयुक्त हर्षोद्वेगाभाव उचित ही है। साधक द्वैतदर्शन रहने पर भी विषय दोषदर्शन से हर्ष विषाद को त्यागना चाहिये। शास्त्र तो वस्तुतः साधक के लिये है, साधकावस्था में उपयोग इसी प्रकार हो सकता है; यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

प्रश्न—दृष्ट सांसारिक सुखसाधन से समुत्पन्न प्रीति अनेकजन्मानुभूत होने से अतिप्रबल है, अतः उसमें

ब्रह्मणि दृष्टसर्वसुखरहिते स्थितिः स्यात्, परमानन्दरूपत्वादिति चेत्? न। तदानन्दस्याननुभूतचरत्वेन चित्तस्थितिहेतुत्वाभावात्। तदुक्तं वार्तिके—

"अप्यानन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम्॥" इति॥

तत्राऽऽह— 'बाह्ये' त्यादिना। इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः-शब्दादयः, ते च बाह्याः, अनात्मधर्मत्वात्। तेष्वसक्तात्मा-अनासक्तचित्तस्तृष्णाशून्यतया विरक्तः सन्नात्मनि-अन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमात्मकं सुखम्, तद्विन्दति-लभते निर्मलसत्त्ववृत्त्या।

तदुक्तं भारते—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥" इति॥

अथवा प्रत्यगात्मनि—त्वंपदार्थे यत्सुखं स्वरूपभूतं सुषुप्तावनुभूयमानं बाह्यविषयासक्तिप्रतिबन्धादलभ्यमानम्, तदेव तदभावाल्लभते, न केवलं त्वंपदार्थसुखमेव लभते, किंतु तत्पदार्थैक्यानुभवेन पूर्णसुखमपीत्याह—'स' इति। तृष्णाशून्यो ब्रह्मणि परमात्मनि योगः समाधिः, तेन युक्तः-तस्मिन्व्यापृत आत्मा-अन्तःकरणं यस्य' स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा।

आसक्त चित्तका अलौकिक-लोकप्रमाणाविषय ब्रह्म में जो दृष्ट सब सुखों से रहित है उसमें वह स्थित कैसे होगा? यह कहिये कि सब वैषयिक आनन्दों से उत्कृष्ट है, अतः प्रवृत्ति क्यों न होगी, तो वह आनन्द अनुभूत नहीं। इसलिये शब्दबोधनमात्र से उसमें चित्तस्थिति नहीं हो सकती। वार्तिककारने भी यही कहा है—'अप्यानन्दः' इत्यादिसे। साक्षात् श्रुत भी परमानन्द मननसे विषयभूत न होने पर अर्थात् मनोगोचर होने पर दृष्ट लौकिकानन्द की अभिलाषा से मन को शिथिल भी नहीं कर सकता, उससे हटाना तो दूर रहा?

उत्तर—बाह्येति। इन्द्रियाँ जिनका स्पर्श शब्दादि हैं, वे बाह्य हैं, क्योंकि वे अनात्मधर्म हैं उनमें आसक्तिशून्य है आत्मा जिसका वह तृष्णाशून्य विरक्त होकर आत्मा अन्तःकरणमें, यहां रजस्तमःशून्य सात्त्विक चित्तवृत्तिसे आत्मशब्द अन्तःकरण तात्पर्य से प्रयुक्त है। निरपेक्ष उपशमनात्मक सुख का लाभ करता है यही भारत में कहा है 'यच्च कामसुखम्' इत्यादि से। लोकमें वैषयिक जो काम सुख है और देवलोकमें दिव्य स्वर्गादि सुख है ये दोनों तृष्णाक्षय जन्य सुख की सोरहवीं कला-अंश के बराबर नहीं हो सकते। अथवा आत्मनि प्रत्यगात्मनि त्वंपदार्थ जीव में जो स्वरूपभूत सुख है सुषुप्तिमें अनुभूयमान बाह्यविषयासक्ति प्रतिबन्धकवश से लब्ध नहीं होता, वही सुखप्रतिबन्धकाभाव से अनुभव करता है। केवल त्वंपदार्थ सुख का ही लाभ नहीं करता, किन्तु तत्पदार्थनुभवजन्य पूर्णसुख का भी लाभ करता है यह कहते हैं—'स' इत्यादि से।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जो भोग हैं वे सब दुःखके ही कारण हैं और आदि अन्तवाले (अनित्य) हैं। हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उसमें नहीं रमता है । ॥ २२ ॥

अथवा ब्रह्मणि-तत्पदार्थे योगेन वाक्यार्थानुभवरूपेण समाधिना युक्तः-ऐक्यं प्राप्त आत्मा-त्वंपदार्थस्वरूपं यस्य, स तथा, सुखमक्षयमनन्तं स्वस्वरूपभूतमश्नुते—व्याप्नोति। सुखानुभवरूप एव सर्वदा भवतीत्यर्थः। नित्येपि वस्तुन्यविद्यानिवृत्त्यभिप्रायेण धात्वर्थयोग औपचारिकः। तस्मादात्मन्यक्षयसुखानुभवार्थी सन्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया महानरकानुबन्धिन्यास्सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयेत्, तावतैव च ब्रह्मणि स्थितिर्भवतीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

ननु बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तावात्मन्यक्षयसुखानुभवः, तस्मिंश्च सति तत्प्रसादादेव बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तिरितीतरेतराश्रयवशान्नैकमपि सिध्येदित्याशङ्क्य, विषयदोषदर्शनाभ्यासेनैव तत्प्रीतिनिवृत्तिर्भवतीति परिहारमाह—'ये हो' त्यादिना। हि यस्माद्ये संस्पर्शजाः-

---

स वह तृष्णाशून्य हो ब्रह्म (परमात्मा) में योग-समधि चित्तसमावेश इससे युक्त अर्थात् ब्रह्म में ही सब लीन है अतःकरण जिसका वह है ब्रह्मयोगयुक्तात्मा।

अथवा ब्रह्म तत्पदार्थ में योग वाक्यार्थानुभवरूप समाधि से युक्त-ब्रह्मैक्य प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूप जिसका वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अनन्त अक्षय सुखस्वरूप भूत में व्याप्त रहता है। 'अशूङ्व्याप्तौ' से 'अश्नुते' बना है, सदा सुखानुभव स्वरूप ही रहता है।

प्रश्न—मोक्ष से पूर्व में भी त्वंपदार्थ की व्याप्ति तत्पदार्थ में उभयाभेद से सदा रहती है तद्दशा में विशेष क्या ?

उत्तर—ठीक है जीवब्रह्माभेद नित्य वस्तु है इसमें मुख्य वह्नि धूम के समान व्याप्ति नहीं है। अविद्या की अनिवृत्ति से तत्पदार्थ से अपने को भिन्न मानता है तन्निवृत्त्युत्तर प्राप्त मानता है। इसलिये औपचारिक धात्वर्थव्याप्ति तद्योग समझना, इस कारण आत्मा में अक्षय सुखानुभव का इच्छुक होकर बाह्यविषयक क्षणिक प्रीति जो महानरकनिदान है उससे इन्द्रियों को निवृत्त करें इसीसे ब्रह्म में स्थिति होती है यह अभिप्राय है ॥ २१ ॥

प्रश्न—बाह्य विषय में प्रीति न होने से आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता है। आत्मा में उक्तानुभव होने से बाह्यविषयप्रीति की निवृत्ति होती है इससे परस्पराधीन उत्पत्ति होने से अन्योन्याश्रय दोष है इससे एक भी नहीं सिद्ध होगी। दोनों में किसी की भी उत्पत्ति न होगी ?

विषयेन्द्रियसंबन्धजा भोगाः-क्षुद्रसुखलवानुभवा इह वा परत्र वा रागद्वेषादिव्याप्तत्वेन दुःखयोनय एव ते, ते सर्वेऽपि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दुःखहेतव एव। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

"यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥" इति।

एतादृशा अपि न स्थिराः, किं तु आद्यन्तवन्तः-आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगः, अन्तश्च तद्वियोग एव, तौ विद्येते येषाम्, ते पूर्वापरयोरसत्त्वान्मध्ये स्वप्नवदाविर्भूताः क्षणिका मिथ्याभूताः। तदुक्तं गौडपादाचार्यैः—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥" प्र० २-श्लोक-४ ॥ इति ॥

यस्मादेवम्, तस्मात्तेषु बुधः-विवेकी न रमते-प्रतिकूलवेदनीयत्वान्न प्रीतिमनुभवति। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वम्

उत्तर—अन्योन्याश्रय नहीं है; बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्ति विषयदोषदर्शन से हो जाती है उसके लिये तादृशानुभव की आवश्यकता नहीं, इस आशय से परिहार करते हैं—'ये ही त्यादिना' से। हि यतः जो विषयेन्द्रियसंबन्ध से भोग होते हैं अतिस्वल्प सुखलेशानुभव इस लोक में तथा परलोक में रागद्वेषमिश्रित होने से वे दुःख के मूल ही हैं। वे सब ब्रह्मलोकपर्यन्त-कार्यब्रह्मलोक तक सब दुःख के हेतु ही हैं, यह विष्णुपुराण में कहा गया है—'यावतः कुरुते जन्तुः' इत्यादि। प्राणी जितने प्रियपदार्थों के साथ मनका संबन्ध करता है उतने शोक के कीलें हृदय में गाड़ता है एक कील की व्यथा हृदय को सह्य नहीं अनेक कीलों की व्यथा कैसे सह सकता है ? प्रिय मानस विषयों से सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है, ऐसे भी स्थिर नहीं, किन्तु उत्पत्ति विनाश शील हैं, विषयेन्द्रिय संयोग आदि है, तद्वियोग-तत्संयोगाभाव अन्त है, ये दोनों विद्यमान है जिनमें वे पूर्व में उत्तर में भी नहीं ही हैं मध्य में कुछ समय तक स्वाप्निक पदार्थों के समान उत्पन्न क्षणिक मिथ्याभूत होते हैं। गौडपादाचार्य जी ने यही कहा है—'आदावन्ते' इत्यादि। जो आदि अन्त में नहीं है, वर्तमान अवस्था में भी वह नहीं है यह विषयों का स्वभाव है। अतः विवेकी स्वभावज्ञ पुरुष उनमें नहीं रमता। प्रतिकूलवेदनीय दुःखप्रद होने से प्रीति का उनमें अनुभव नहीं करता। महर्षि पतञ्जलि ने भी ऐसा ही कहा है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति। सब विषयसुख दृष्ट ऐहिक अदृष्ट वैदिकप्रमाणसिद्ध स्वर्गादि प्रतिकूलवेदनीय होने से दुःख ही है।

प्रश्न—किस को ?

उत्तर—विवेकी को।

प्रश्न—क्यों ?

विवेकिनः" यो-द-२-१५ इति । सर्वमपि विषयसुखम्-दृष्टमानुश्रविकं च दुःखमेव, प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिस्वरूपस्य, न त्वविवेकिनः । अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखलेशेनाप्युद्विजते, यथोर्णातन्तुरतिसुकुमारोऽप्यक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, नेतरेषु अङ्गेषु, तद्वद्विवेकिन एव मधुविषसंपृक्तान्नभोजनवत्सर्वमपि भोगसाधनं कालत्रयेऽपि क्लेशानुविद्धत्वाद्दुःखम्, न मूढस्य बहुविधदुःखसहिष्णोरित्यर्थः । तत्र 'परिणामतापसंस्कारदुःखै'रिति भूतवर्तमानभविष्यत्कालेऽपि दुःखानुविद्धत्वादौपाधिकं दुःखत्वं विषयसुखस्योक्तम्, गुणवृत्तिविरोधाच्चेत्यनेन स्वरूपतोऽपि दुःखत्वम् । तत्र परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तएव दुःखानि, तैरित्यर्थः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । तथाहि–रागानुविद्ध एव सर्वोऽपि सुखानुभवः, न हि तत्र न रज्यति, तेन सुखी चेति संभवति । राग एव च पूर्वमुद्भूतः सन्विषयप्राप्त्या सुखरूपेण परिणमते । तस्य च प्रतिक्षणं वर्धमानत्वेन स्वविषयाप्राप्तिनिबन्धनदुःखस्यापरिहार्यत्वाद्दुःखरूपतैव । या हि भोगेष्विन्द्रियाणामुपशान्तिः, परितृप्तत्वात्, तत्सुखम् । या लौल्यादनु-

उत्तर—उसको क्लेशादि स्वरूप का यथार्थ परिचय है। अविवेकी विषय के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, इसलिये उनमें वे रमण करते हैं आंख में सूत्रपात गिरना भी आंख को सहन नहीं। दूसरे अवयवोंको सूत्रसंबन्धसे दुःख नहीं प्रत्युत सुख हो है इसोको स्फुट करते है—विद्वान्-विषयस्वरूपाभिज्ञ आंख के समान अतिस्वल्प दुःखलेश से भी उद्विग्न होते हैं। जैसे मकरोका सूत अतिसूक्ष्म अतिकोमल आंखरूप पात्र में पर स्पर्शमात्र से दुःख देता है दूसरे अङ्गों में नहीं तथा विवेको को ही दुःख देता है अविवेकी को नहीं। मधुविषसंमिश्रितान्नभोजन के सदृश सब भोगसाधन तीनों कालों में क्लेशानुसूत-व्याप्त होने से दुःख ही है। अनेकविधदुःखसहनशील मूढ़ को दुःख नहीं मालुम होता यह अर्थ है। उनमें 'परिणामतापसंस्कारदुखैः' भूत वर्तमान भविष्य काल में दुःखानुसंबद्ध होने से विषय सुखमें औपाधिक दुःखत्व ही है। परिणामतापसंस्कार ही दुःख है उनसे इत्यम्भूतलक्षणमें तृतोयाविभक्ति है तथाहि से उक्तार्थ को स्फुट करते हैं। सब वैषयिकसुखानुभव रागानुविद्ध ही है। जिसमें जो अनुरक्त नहीं होता उससे वह सुखी नहीं होता। पूर्वकालोत्पन्न राग ही विषय प्राप्ति से सुखरूपसे परिणत होता है। प्रतिक्षण उसके बढ़ने से जब उसके विषय की प्राप्ति न होगी तो दुःख अवश्य हो होगी उसका परिहार नहीं हो सकता है। सदा विषयप्राप्ति का तो :संयोगा विप्रयोगान्ताः,' से निराकरण कर ही चुके हैं। भोगों में जो इद्रियों की शान्ति है परितृप्त होने से वही सुख है। विषय लोलुपता से जो चंचलात्मक अशान्ति है वही दुःख है। यह तो जानी हुई बात है कि भोग द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति अनेकजन्म में भो नहीं हो सकती वल्कि तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इन्द्रियो में

पशान्तिः, तद्दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्; यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । स्मृतिश्च—"न जातु कामः" इत्यादिः । तस्माद्दुःखात्मकरागपरिणामत्वाद्विषयसुखमपि दुःखमेव, कार्यकारणयोरभेदादिति परिणामदुःखत्वम् । तथा सुखानुभवकाले तत्प्रतिकूलानि दुःखसाधनानि द्वेष्टि । नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति, भूतानि च हिनस्ति । द्वेषश्च-सर्वाणि दुःखसाधनानि मे मा भूवन्निति संकल्पविशेषः । न च तानि सर्वाणि कश्चिदपि परिहर्तुं शक्नोति । अतः सुखानुभवकालेऽपि तत्परिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्तापदुःखं दुष्परिहरमेव । तापो हि द्वेषः, एवं दुःखसाधनानि परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेति मोहदुःखताऽपि व्याख्येया । तथाचोक्तम् योगभाष्यकारैः—'सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभवः' पृ० ३८० इति । तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानःकायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ।

यह कौशल नैपुण्य अर्थात् चमत्कार है कि भोग के पश्चात् राग दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही जाता है । मनु भगवान् ने स्पष्ट कहा है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।' २०९४ ।।

जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं, किन्तु बढ़ती हैं अतिवेग से जितना ही घृत बढ़ेगा उसके अनुसार अग्नि प्रदीप्त होती जायगी वैसे ही विषयोपभोग से इन्द्रियां शान्त नहीं होती, इन्द्रियशान्ति ही सुख है । अतः सुखार्थी को भोग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये यह भाव है दुखात्मक राग का परिणाम होने से विषयसुख भी दुःख ही है । कार्य कारण का हेमकुण्डल के समान अभेद है, अतः विषय भोग में परिणामदुःखत्व है इसी प्रकार सुखत्वानुभवकालमें सुखविरोधी दुःखसाधनों से सुखार्थी द्वेष करता है । प्राणी पीडन के विना विषयोपभोग होता नहीं, इसलिये भूतों की हिंसा भोगी करते कराते ही हैं । द्वेष का स्वरूप यह है सब दुःखसाधन हमको न हो यह संकल्प मानस भावविशेष सब दुःखसाधनों का परिहार कोई भी संसारी जीव नहीं कर सकता । अतः सुखानुभवसमय में भी सुखविरोधी के प्रति सदैव द्वेष बना ही रहता है । तापदुःख भी दुष्परिहार हुई है, ताप ही द्वेष है, इस प्रकार दुःखसाधनों के परिहार करने में असमर्थ होकर मोह को प्राप्त होता है इस प्रकार मोह को दुःखताहेतु समझना, यह योगभाष्यकारने कहा—'सर्वस्येत्यादि' से । सब को द्वेषसंयुक्ताचेतन के अधीन तापानुभव है ।

भोग के साधन दो श्रेणियों में विभक्त हैं, चेतन और अचेतन से दोनों द्वेष संयुक्त हैं अतः इनके अधीन तापानुभव है ।

ततः परमनुगृह्णाति, उपहन्ति चेति, परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावचिनोति, स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते। तथा वर्तमानः सुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते। स च सुखस्मरणम्, तच्च रागम्, स च मनःकायवचनचेष्टाम्, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीति, संस्कारदुःखता। एवं तापमोहयोरपि संस्कारौ व्याख्येयौ।

एवं कालत्रयेऽपि दुःखानुवेधाद्विषयसुखं दुःखमेवेत्युक्त्वा, स्वरूपतोऽपि दुःखतामाह— 'गुणवृत्तिविरोधाच्चे' ति। गुणाः-सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहात्मकाः परस्परविरुद्ध-स्वभावा अपि तैलवर्त्यग्नय इव दीपं पुरुषभोगोपयुक्तत्वेन त्र्यात्मकमेकं कार्यमारभन्ते, तत्रैकस्य प्राधान्ये द्वयोर्गुणभावात्प्रधानमात्रव्यपदेशेन सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिगुणमपि कार्यमेकेन गुणेन व्यपदिश्यते। तत्र सुखोपभोगरूपोऽपि प्रत्यय उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽप्यनुद्भूतरजस्तमः कार्यत्वात्त्रिगुणात्मक एव। तथा सुखात्मकत्ववत्दुःखात्मकत्वम्, विषादात्मकत्वञ्च तस्य ध्रुवमिति, दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। न चैतादृशोऽपि प्रत्ययः स्थिरः, यस्मा 'च्चलं च गुणवृत्तमि' ति-

उनमें द्वेषज कर्माशय है सुख साधनों का प्रार्थी शारीरिक, वाचिक मानसिक चेष्टा करता है, उससे दूसरे का अनुग्रह करता है परोपकारव्यवहार से धर्माधर्म की वृद्धि होती है, वह कर्माशय लोभ मोह से होता है। यही ताप दुःखता कही जाती है। यथा—वर्तमान सुखानुभव स्वनाशकाल में संस्कार का आधान करता है। संस्कार सुखका स्मरण कराता है वह स्मरण राग उत्पन्न करता है। राग मन शरीर वचन चेष्टा करता है। चेष्टा पुण्यपापात्मक कर्माशय को उत्पन्न करती है। पुण्यापुण्य कर्माशय जन्मादि करता है। इस प्रकार संस्कार दुःखता एवं तम रूप मोह के संस्कारों का व्याख्यान कर लेना। इस प्रकार तीनों कालों में दुःख संसर्ग से विषय सुख दुःख ही है, यह कहकर स्वरूप से भी दुखत्व कहते हैं—गुण—सत्त्वरजस्तम क्रमशः सुखदुःखमोहात्मक मिथोविरुद्धस्वभाव होने पर भी तेल वत्ती और अग्नि जैसे प्रदीप के आरम्भक होते हैं वैसे ही पुरुषोपभोगयोग्य सुखदुःखमोहात्मक एकैक कार्य करते हैं। सुखादि त्रिगुणपरिणाम है, अतस्त्रिगुण तापात्मक हैं। एकैक में एकैक गुणप्रधान होने से सात्त्विक, राजस, तामस, इस तरह त्रिगुण भी कार्य एकैक गुण से व्यवहृत होता है। उनमें सुखोपभोगरूप भी प्रत्यय उपचित्त सत्त्वकार्य अनुद्भूतरजस्तमःकार्य होने से त्रिगुणात्मक है ऐसी स्थिति में सुखात्मकत्व के समान दुःखात्मकत्व मोहात्मकत्व भी निश्चित ही है। अतः विवेकी को सब दुःख ही है, ऐसा भी प्रत्यय स्थिर नहीं, क्योंकि गुणवृत्त चल क्षणिक परिणाम-स्वभाव है।

प्रश्न—एक ही प्रत्यय परस्परविरुद्ध सुख-दुःख मोहत्व का एकसमय में कैसे आश्रय होगा?

च क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धसुखदुःखमोहत्वान्येकदा प्रतिपद्यत इति चेत् ? न। उद्भूतानुद्भूतयोर्विरोधाभावात्। समवृत्तिकानामेव हि गुणानाम् युगपद्विरोधः, न विषमवृत्तिकानाम्। यथा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि लब्धवृत्तिकानि लब्धवृत्तिकैरेवाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः सह विरुध्यन्ते, न तु स्वरूपसद्भिः, प्रधानस्य प्रधानेन सह विरोधः, न तु दुर्बलेनेति हि न्यायः। एवं सत्त्वरजस्तमांस्यपि परस्परं प्राधान्यमात्रं युगपन्न सहन्ते, न तु सद्भावमपि।

एतेन परिणामतापसंस्कारदुः खेष्वपि रागद्वेषमोहानां युगपत्सद्भावो व्याख्यातः, प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूपेण क्लेशानां चतुरवस्थत्वात्। तथा हि—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता। सुखानुशयी-रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः यो-द-२-३-१३" इति पातञ्जलानि सूत्राणि। तत्रातस्मिंस्तद्बुद्धिः-विपर्ययोः, मिथ्याज्ञानम्, अविद्येति पर्यायाः। सा चाशेषसंसारनिदानम्। तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारकाः द्यौरमृता दिवौकस इति। अशुचौ-परमबीभत्से काये शुचि-

उत्तर—उद्भूत अनुद्भूत का विरोध नहीं होता। समवृत्तिक गुणों का एककाल में ही विरोध होता है विषमवृत्तियों का विरोध नहीं होता, समवृत्ति गुणों का ही विरोध होता है। यथा धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य लब्धवृत्तिक का अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य लब्धवृत्तिक के साथ विरोध हैं। स्वरूप से वर्तमान का नहीं, प्रधान का प्रधान के साथ विरोध हैं, दुर्बल के साथ नहीं, यही न्याय है। इसी प्रकार सत्त्वरजस्तम-परस्पर प्राधान्यमात्र का सहन नहीं करते, स्वरूप से रहने के विरोधी नहीं है। गुणत्रय का सर्वत्र समावेश सब मानता ही है,

इससे परिणामतापसंस्कार दुःख में भी राग, द्वेष, मोहका एककाल में समावेश समझना। प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदाररूप से क्लेशों की चार अवस्थायें हैं। 'तथाहि' से इसी को स्फुट करते हैं। अविद्यास्मिता से लेकर 'भोगाः' पर्यन्त योग सूत्र है। मूल में देख सकते हैं—उनमें यथाक्रम प्रथम निर्दिष्ट अविद्या का लक्षण कहते हैं—'अतस्मिन् तद्बुद्धि विपर्यय मिथ्या ज्ञान, अविद्या ये दोनों शब्द पर्याय वाची है अतस्मिन् अर्थात् जो विषय जैसा नहीं उस विषय में तद्बुद्धि उसको वैसा समझना।

बुद्धिर्यथा—नवेव शशाङ्कलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयतीवेति, कस्य केन संबन्धः ।

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥" इति च

वैयासिकः श्लोकः । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः, अनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । दुःखे सुखख्यातिरुदाहृता, 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति। अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—शरीरे मनुष्योऽहमित्यादिः । इयं चाविद्या सर्वक्लेशमूलभूता तम इत्युच्यते । बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता मोहः । साधनरहितस्यापि सर्वं सुखजातीयं मे-

---

यह अविद्या अशेष संसारका मूल कारण है। अनित्य में नित्यबुद्धि-यथा ध्रुवा पृथिवी नित्य अथवा अचल हैं। यह अनित्य पृथिवी में नित्यबुद्धि अविद्या है। चन्द्रतारा से युक्त आकाश है, जरामरण रहित देवता हैं, इत्यादि मिथ्या ज्ञान अविद्या है।

अशुचि परम अति घृणित शरीर में पवित्रबुद्धि यथा शशिकलाके समान सुन्दरी यह कन्या है। मधु अमृत अवयवों से निर्मित के समान यह चन्द्रका भेदनकर निकली सी ज्ञात होती है। नील कमलदल के समान लम्बे नेत्र हैं, वह[१] भावगर्भित लोचनों से जीवलोक को आश्वासन देती सी मालूम पड़ती है। स्वयं आप विचारिये, किसके साथ किसका संबन्ध है। व्यास भगवान् का यह श्लोक देखिये, या सुनिये इस विषय में क्या कहते हैं—

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात् निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ 'इति ।

इसी से अपुण्य में पुण्य ज्ञान, अनर्थ में अर्थ का ज्ञान भी समझना। दुःख ज्ञान कह ही चुके हैं। वैषयिक सुख ज्ञान अनात्मा में आत्मज्ञान। जैसे शरीर में आत्मज्ञान अहं मनुष्यः, कृष्णः, गौरः, इत्यादि। मनुष्यत्व, कृष्णत्व, गौरत्वादि देहधर्म है, आत्मधर्म नहीं मनुष्यत्वादि सामानाधिकरण्येन प्रतीयमान आत्मत्व शरीर वृत्ति ही प्रतीत होता है। आत्मा शरीर नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त हैं। यही अविद्या सब क्लेशोंका मूलभूत अतएव तम कहाती है।

बुद्धि पुरुषका अभेदाभिमान अस्मिता है, इसको मोह कहते हैं। उपाय रहित भी पुरुष चाहता है

---

१. 'विकारो मानसो भावः' अमरकोश है मनोविकार आदि को भाव कहते हैं। २. स्थानात्-उत्पत्ति स्थान, बीजशुक्र शोणित अस्थि आदि, आश्रय, स्वेदमूत्रादि और मरणसे भी आरोपित अपवित्रता के कारण भी पंडित लोग अपवित्र समझते हैं।

भूयादिति विपर्ययविशेषो रागः, स एव महामोहः। दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः। स तामिस्रः। आयुरभावेऽप्येतैः शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदितिआविद्वदङ्गनाबालं स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणः मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः। सोऽन्धतामिस्रः। तदुक्तं पुराणे—

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" इति॥

एते च क्लेशाश्चतुरवस्था भवन्ति। तत्रासतोऽनुत्पत्तेरनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था। अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यलाभात्कार्याजनकत्वं तन्ववस्था। अभिव्यक्तस्य जनितकार्यस्यापि केनचिद्बलवताऽभिभवो विच्छेदावस्था। अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन स्वकार्यकरत्वमुदारावस्था। एतादृगवस्थाचतुष्टयविशिष्टानामस्मितादीनां चतुर्णां विपर्ययरूपाणां क्लेशानामविद्यैव सामान्यरूपा क्षेत्रम्-प्रसवभूमिः। सर्वेषामपि विपर्ययरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। तेन अविद्यानिवृत्त्यैव क्लेशानां निवृत्तिरित्यर्थः।

कि सब सुख हमको हो, यह विपर्यय विशेष राग है, यही महामोह है, दुःख हमको न हो यह विपर्यय विशेष द्वेष है, यह तामिस्र कहाता है। आयु न रहने पर भी इन अनित्य शरीरेन्द्रियादि को मेरा वियोग न हो यह पण्डित स्त्री बालकपर्यन्त सर्वप्राणी साधारण मरणभयरूप विपर्ययविशेष अभिनिवेश है, यही अन्धतामिस्र है। यह पुराणमेंकहा है—'तमो मोहो महामोहः'[१] इत्यादि। चार अवस्थावाले ये क्लेश होते हैं। असत् की उत्पत्ति होती नहीं, खपुष्पादि कहीं होते हैं। अतः उत्पत्ति से पहले भी कारण में कार्य रहता है। यह 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इसके अनुसार जो गीता सम्मत है तदनुरूप अर्थ करते हैं। उत्पत्तिशब्द अभिव्यक्ति परक है। उत्पत्तिसे पूर्व और नाश के बाद भी कारण में कार्य रहता है, उत्पत्ति होने पर ही सर्वसाधारण बुद्धिगोचर होता है, इसलिये कारण में कार्य दो रूप से रहता है। अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त रूपसे विद्यमानता दशा में अभिव्यक्तरूप से उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के अनन्तर अनभिव्यक्तरूप से रहता है। अनभिव्यक्तरूप से क्लेशका अवस्थान सुप्तावस्था है, अभिव्यक्त होने पर भी सहकारिकारण का लाभ न होने पर कार्याजनकत्व अवस्था तनु अवस्था है। अभिव्यक्त आरब्ध कार्य का किसी बलवान् से अभिभव पराजय प्रतिरुद्धारब्धकार्यत्व विच्छेदावस्था है। अभिव्यक्त कारणों को सहकारी अप्रतिबन्ध से स्वकार्यकरत्व उदार अवस्था है। ईदृश अवस्थाचतुष्टयविशिष्ट अस्मितादि चारों का

---

१. 'तमो मोहः' इत्यादि, तम, मोह' महामोह, तामिस्र, और अन्धतामिस्र में, पाञ्चभेद वाली अविद्या परमात्मा से प्रादुर्भूत हुई है।

ते च क्लेशाः प्रसुप्ताः । यथा प्रकृतिलीनानां तनवः-प्रतिपक्षभावनया तनूकृताः-यथा-योगिनाम् । त उभयेऽपि सूक्ष्माः प्रतिप्रसवेन-मनोनिरोधेनैव निर्बीजसमाधिना हेयाः । ये तु सूक्ष्मवृत्तयस्तत्कार्यभूताः स्थूला विच्छिन्ना उदाराश्च विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः प्रादुर्भवन्तीति विच्छिन्नाः, यथा रागकाले क्रोधो विद्यमानोऽपि न प्रादुर्भूत इति विच्छिन्नः उच्यते, एवमेकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति, नान्यासु विरक्तः, किं त्वेकस्यां रागो लब्धवृत्तिः, अन्यासु च भविष्यद्वृत्तिरिति, स तदा विच्छिन्न उच्यते, ये यदा विषयेषु लब्धवृत्तयः, ते तदा सर्वात्मना प्रादुर्भूता उदारा उच्यन्ते । तत उभयेऽप्यतिस्थूलत्वाच्छुद्धसत्त्वमयेन भगवद्ध्यानेन हेया न मनोनिरोधमपेक्षन्ते । निरोधहेयास्तु सूक्ष्मा एव, तथा च परिणामतापसंस्कारदुःखेषु प्रसुप्ततनुविच्छिन्नरूपेण सर्वे क्लेशाः सर्वदा सन्ति । उदारता तु कदाचित्कस्यचिदिति विशेषः । एते च बाधनालक्षणं दुःखमुपजनयन्तः क्लेशशब्दावाच्या भवन्ति । यतः कर्माशयो धर्माधर्माख्यः क्लेशमूलक एव। सति च मूलभूते क्लेशे, तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलम्-जन्म, आयुः, भोगश्चेति।

विपर्ययरूप क्लेशों का अविद्या ही सामान्यरूपा उत्पत्ति भूमि है, सब विपर्यय रूप से है। यह दिखला चुके हैं इससे यह स्पष्ट है कि अविद्यानिवृत्ति होने से ही क्लेशों की निवृत्ति होती है यह अर्थ है। वे क्लेश प्रसुप्त कहाते हैं—जैसे प्रकृतिचिन्तकों को प्रकृति में ही लय होता है, उनके क्लेश शरीरादि सहकारि कारणविरह से कार्य नहीं कर सकते, इस वास्ते तावत्सुप्त रहेगें जब तक प्रकृति लीन है। अनन्तर शरीरादि सम्बन्ध होने पर फिर स्वकार्यारम्भ करेगें। तनु विरोधिभावना से निर्बल किये गये जैसे योगियों के ये दोनों सूक्ष्म क्लेश हैं प्रतिप्रसव मनोनिरोध निर्बीज समाधिसे हेय-निवर्त्तनीय है और सूक्ष्मवृत्ति है। अथवा सूक्ष्म के कार्यभूत स्थूल विच्छिन्न और उदार रुक-रुक कर स्वरूप से फिर उत्पन्न होते हैं। विच्छिन्न का उदाहरण देते हैं—यथा रागकाल में क्रोध विद्यमान रहता है, प्रादुर्भूत नहीं है इसलिये विच्छिन्न है—एवं एक ही स्त्री में चैत्रनामक पुरुष अनुरक्त है, दूसरी स्त्री में विरक्त नहीं, किन्तु एक में राग लब्धवृत्ति है अन्य-स्त्रियों में भविष्यद्वृत्ति, अतः उस समय विच्छिन्न कहा जाता है। जो जिस समय जिस विषय में लब्धवृत्ति है वह उस समय सर्वात्मभाव से प्रवृत्त है, प्रादुर्भूत है, इसलिये उदार कहाते हैं ये दोनों अतिस्थूल हैं शुद्ध सत्त्वमय शुद्धसात्त्विक भगवद्ध्यान से हेय है, इनकी हानि के लिये मनोनिरोध की अपेक्षा नहीं मनोनिरोध से हेय सूक्ष्म ही है तथा च परिणामताप संस्कारदुःखमें प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाररूप से सब क्लेश सदा रहते हैं, उदारता कदाचित् किसी की होती है। ये क्लेश बाधनालक्षण दुःख को उत्पन्न करते हैं, अतः क्लेशशब्द वाच्य है। यतः धर्माधर्मरूप कर्माशय क्लेशमूलक ही हैं, मूलभूत क्लेश के रहने पर उस कर्माशय का विपाक-

स च कर्माशय इह परत्र च स्वविपाकारम्भकत्वेन दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। एवं क्लेशसंततिर्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तते। अतः समीचीनमुक्तम्—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः' इति।

दुःखयोनित्वं परिणामादिभिः, गुणवृत्तिविरोधाच्च आद्यन्तवत्त्वम्, गुणवृत्तस्य चलत्वादिति योगमते व्याख्या।

औपनिषदानां तु अनादिभावरूपमज्ञानमविद्या। अहंकारधर्म्यध्यासोऽस्मिता। रागद्वेषाभिनिवेशास्तद्वृत्तिविशेषा इति, अविद्यामूलत्वात्सर्वेऽप्यविद्यात्मकत्वेन मिथ्याभूता रज्जुभुजंगाध्यासवन्मिथ्याभूतत्वेऽपि दुःखयोनयः—स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्रत्वेनाऽऽद्यन्तवन्तश्चेति बुधः-अधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवृत्तभ्रमस्तेषु न रमते—मृगतृष्णिकास्वरूपज्ञानवानिव तत्रोदकार्थी न प्रवर्तते। न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा, ततः सर्वाणीन्द्रियाणि निवर्तयेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

फल-जाति, आयु, भोग है। वह कर्माशय इस लोक परलोक में स्वविपाक जात्यादि का आरम्भक होने से दृष्टादृष्टजन्म वेदनीय है। इस प्रकार क्लेशसन्तान घटी यन्त्र के समान प्रतिक्षण [लगातार] चलता रहता है, अतः ठीक ही कहा है—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' आद्यन्तवन्तः, इति। दुःखयोनित्व परिणामादि से निर्गुण वृत्तिविरोध से चलत्वहेतु से गुणवृत्त में आद्यन्तवत्व है, यह व्याख्यान योगमत से है,

औपनिषद अद्वैत वेदान्ती के सम्मत यह व्याख्यान है—अनादि भावरूप अज्ञान अविद्या है, अहंकार धर्म्यध्यास अस्मिता है। रागद्वेष अभिनिवेश अन्तःकरण के धर्म विशेष हैं, इस चाल से ये सब अविद्यामूलक, हैं, अतः अविद्यात्मक होने से मिथ्याभूत ही हैं। रज्जु में सर्पाध्यास के सदृश मिथ्या होने पर भी दुःख के कारण हैं, स्वप्नादिवद् दृष्टिसृष्टिमात्र से आद्यन्तवान् है बुध-अधिष्ठानभूत शुद्धात्म साक्षात्कार से निवृत्तभ्रम उन विषयों में नहीं रमण करते। उदकार्थी पुरुष मृगतृष्णा में उदकाभावका किम्बा सूर्य मरीचिका ज्ञान होने से तदादानादि में नहीं प्रवृत्त होता एवं ब्रह्म वेत्ता भी प्रपञ्चाधिष्ठान के साक्षात्कार होने से प्रपञ्चाभाव किम्बा ब्रह्म ही को देखता हुआ प्रवृत्त नहीं होता। ब्रह्म स्वयं है तदतिरिक्त है नहीं कहां प्रवृत्त हो संसार में सुखका लेश भी नहीं है, यह जानकर सांसारिक सब विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति करें यह अर्थ है ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शरीर त्याग करने के पहले काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन कर सकता है वह मनुष्य इस लोकमें योगी और सुखी है । ॥ २३ ॥

सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवारोऽयं श्रेयोमार्गप्रतिपक्षः कष्टतमो दोषो महता यत्नेन मुमुक्षुणा निवारणीय इति यत्नाधिक्यविधानाय पुनराह—'शक्नोती' त्यादिना । आत्मनोऽनुकूलेषु सुखहेतुषु दृश्यमानेषु 'श्रूयमाणेषु' स्मर्यमाणेषु वा तद्गुणानुसंधानाभ्यासेन यः रत्यात्मको गर्धः-अभिलाषस्तृष्णा लोभः, स कामः । स्त्रीपुंसयोः परस्परव्यतिकराभिलाषे त्वत्यन्तनिरूढः कामशब्दः । एतदभिप्रायेण 'कामः क्रोधस्तथा लोभः' इत्यत्र धनतृष्णा लोभः स्त्रीपुंसव्यतिकरस्तृष्णा काम इति कामलोभौ पृथगुक्तौ । इह तु तृष्णासामान्याभिप्रायेण कामशब्दः प्रयुक्त इति, लोभः पृथङ्नोक्तः । एवमात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु, श्रूयमाणेषु, स्मर्यमाणेषु वा तद्दोषानुसंधानाभ्यासेन यः प्रज्वलनात्मकः द्वेषो मन्युः, स क्रोधः । तयोरुत्कटावस्था लोकवेदविरोधप्रतिसंधानप्रतिबन्धकतया लोकवेद-विरुद्धप्रवृत्त्युन्मुखत्वरूपा नदीवेगसाम्येन वेग इत्युच्यते । यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलतया-

---

सब अनर्थों की प्राप्ति का कारण श्रेयामार्ग का प्रतिपक्ष प्रबल शत्रु यह दोष अतिशयेन कष्टकारी कष्टतम अतिदुर्निवार है । बड़े परिश्रम से मुमुक्षु इसका त्याग करे, इस प्रकार यत्नाधिक्य विधान के लिये भी कहते हैं —'शक्नोतीति' से । आत्मा के अनुकूल सुख हेतु दृश्यमान श्रूयमाण स्मर्यमाण दोख पड़ता हो, सुन पड़ता हो, स्मृतिविषय होता हो । दृश्यमानादिविषय के गुणों का अनुसन्धानाभ्यास तुरंत स्मरणाभ्यास से जो रागात्मक गर्द्ध विषयाभिलाष तृष्णा लोभ वही काम है । स्त्री पुरुष का परस्पर संपर्काभिलाष में अत्यन्त निरूढ काम शब्द है, इस अभिप्राय से 'कामःक्रोधस्तथा लोभः' यहां पर लोभ ही तृष्णा स्त्री पुरुष संसर्ग काम है, एतदर्थ दोनों का अलग निर्देश किया है। यहां पर तृष्णा सामान्य के अभिप्राय से काम शब्द का प्रयोग है, इसीसे लोभ का अलग उपदेश नहीं किया। काम से ही लोभ का भी संग्रह हो जाता है, इसीप्रकार आत्मप्रतिकूल स्वविरोधि दुःखहेतु श्रूयमाण स्मर्यमाण वर्त्तमान दृष्ट श्रुत स्मृत विषयों में उनके दोषानुसंधानाभ्यासे दोषस्मरणपाटवसे अन्तःकरण की प्रज्वलनात्मक वृत्ति का मन्यु द्वेष क्रोध इत्यादि शब्द से व्यवहार करते हैं । लोभ, क्रोधका विशेषाभिव्यक्ति अवस्था लोकशास्त्रविरुद्ध के प्रतिसंन्धान का प्रतिबन्धक होने से विषयप्रवृत्त्यादि अनुचित है, अकर्तव्य है एतत्स्मरण का प्रतिबन्धक होने से लोक वेदविरुद्ध विषयक

लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा मज्जयति चाधो नयति च' तथा कामक्रोधयोरपि वेगो विषयाभिध्यानाभ्यासेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलो लोकवेदविरोध-प्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि विषयगर्ते पातयित्वा संसारसमुद्रे मज्जयति चाधो महानरकान्नयति चेति वेगपदप्रयोगेण सूचितम् । एतच्च 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इत्यत्र विवृतम् । तम्-एतादृशम् कामक्रोधोद्भवं वेगमन्तःकरणप्रक्षोभरूपं स्तम्भस्वेदाद्यनेकबाह्यविकारलिङ्गमाशरीरविमोक्षणात्-शरीरविमोक्षपर्यन्तमनेकनिमित्तवशात्सर्वदा संभाव्यमानत्वेनाविस्रम्भणीयमन्तरुत्पन्नमात्रमिहैव वहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद्गर्तपतनात्प्रागेव यो यतिर्धीरस्तिमिंगिल इव नदीवेगं विषयदोषदर्शना-भ्यासजेन वशीकारसंज्ञकवैराग्येण सोढुम्-तदनुरूपकार्यासंपादनेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति-समर्थः भवति, स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः पुमान्पुरुषार्थसंपादनात् । तदितरस्त्वा-हारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

प्रवृत्ति उन्मुख रूप हेतु होने से नदी वेग के सदृश है । इस लिये वेग कहाता है। जैसे वर्षाकाल में नदी वेग अतिप्रबल हो लोक शास्त्रविरुद्ध प्रतिसन्धान से पुरुष की इच्छा नहीं है कि हम प्रवाह में गिर कर डूब जाँय, गिर जाँय फिर भी विवश होकर नदी प्रवाह से डूबता है, गढ्ढे में गिरता है, जल के नीचे दब जाता है, वैसे ही कामक्रोधका भी वेग विषय-ध्यानाभ्याससे वर्षाकाल-स्थानापन्न अतिबलवान् होने से लोक वेद-विरुद्ध स्मरण से इच्छा न होने पर भी अनिच्छुक पुरुष को विषयरूप गढ्ढो में गिराकर संसाररूपी समुद्र में डुबा देता है, नीचे महान् नरक में ले जाता है, यह भाव वेगपद से सूचित किया है। यह 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' यहाँ पर विशेषरूप से निरूपित है। इस प्रकार के काम क्रोध से उत्पन्न वेग जो अन्तःकरण को प्रक्षुब्ध-अति चंचल करने वाला है, स्तम्भ-प्रवृत्ति प्रतिरोध स्वेद-पसीना आदि अनेक बाहर के विकारों का ज्ञापक है। जो कामी क्रोधी में देखे जाते हैं जिनको देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कामी है यह क्रोधी है वही यहाँ स्तम्भ स्वेदादि से विवक्षित है वे ही बाह्य विकार हैं। उनका ज्ञापक उक्त वेग है शरीरत्याग-पर्यन्त अनेक कारणों से सदा संभाव्यमान होने से अविश्वसनीय भीतर उत्पत्ति के समय में तुरत यहाँ ही बहिरिन्द्रियादिव्यापाररूप गर्त गढ्ढे में गिरने से पूर्व ही जो संन्यासी ज्ञानी तिमिंगिलमत्स्य-मछली के समान नदी वेग को विषय दोष दर्शन के अभ्याससे उत्पन्न वशीकारसंज्ञक वैराग्य से सहन करने में अर्थात् तदनुकूल कार्य न कर उसको विफल करने में समर्थ होता है वही युक्त है वही योगी सुखी होता है वही मनुष्य पुरुष है, पुरुषार्थ संपादन ही पुरुष का कर्त्तव्य है। इससे भिन्न 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनश्च सामान्यमेतत्पशु-भिर्नराणाम्' इस श्लोक के अनुसार तद्धर्ममात्रनिष्ठ होने से मनुष्याकार पशु ही है, यह भाव है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो मनुष्य विषय निरपेक्ष आत्मस्वरूप सुखका अनुभव करनेवाला और अन्तरात्मामें ही क्रीडा करने वाला तथा बाह्य इन्द्रियोंसे अनुत्पन्न अन्तरात्मामे ज्ञानवाला है, वह समाहित योगी ब्रह्मरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि योगी सदा स्वयं ब्रह्मरूप ही है ॥ २४ ॥

प्राक्शरीरविमोक्षरणादित्यत्रान्यद्व्याख्यानम्—यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात्कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते 'स युक्तः' इत्यादि। अत्र यदि मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं ब्रूयात्, तदैतद्युज्येत। यथोक्तं वसिष्ठेन—

"प्राणे गते यथा देहे सुखं दुःखं न विन्दति।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥" इति ॥

इह तूत्पन्नयोः कामक्रोधयोर्वेगसहने प्रस्तुते तयोरनुत्पत्तिमात्रं न दृष्टान्त इति किमतिनिर्बन्धेन ॥ २३ ॥

'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' इसका दूसरा भी व्याख्यान है—जैसे मरने के बाद विलाप करती हुई स्त्रियों से आलिङ्ग्यमान प्रायः मरने के बाद स्त्रियां माता, भगिनी, स्त्री, लड़की आदि रोती और तदुपकारप्रकाश द्वारा, विलाप करती शव से चारों तरफ लपट जाती हैं, बाहर ले जाने में बाधा डालती हैं यह चाल है, एवं पुत्रादि से दह्यमान होने पर प्राण शून्य है, इसलिये काम क्रोध का वेग सहता है, वैसे मरण से पूर्व जीता जो उक्त वेग को सहता है वही युक्त योगी सुखी है इत्यादि समझना। ऐसा ही श्रीवसिष्ठजीने कहा है 'प्राणो गते' इत्यादि से। यहां तो उत्पन्न काम क्रोध के वेग को सहना प्रस्तुत है उन दोनों की अनुत्पत्तिमात्र दृष्टान्त में है, अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में वैषम्य हैं।

अपना मत

वस्तुतः बात यह है कि वसिष्ठजीने जिनका देहाद्यध्यास निवृत्त हो चुका है, जीवन्मुक्त हैं उनके विषय में कहा है। प्रकृत गीताश्लोक आरुरुक्षु योगी के विषय में है, इसलिये उक्त दृष्टान्त प्रकृत में लागू नहीं हो सकता। मृत शरीर प्राणादि शून्य अतएव काष्ठ लोष्ठसम अचेतन है, इसलिये उसमें कामादि हो ही नहीं सकते। प्रकृत तितिक्षु सप्राणादि है इस कारण से कामादि का पूरा संभव है फिर भी यावज्जीवन इनके रोकने का प्रयत्न जो पुरुष करेगा वही योगी सुखी है इतर नहीं यह भाव है इस तात्पर्य से कहते हैं अधिक दुराग्रह व्यर्थ है ॥ २३ ॥

कामक्रोधवेगसहनमात्रेणैवमुच्यत इति न, किं तु 'योऽन्तः' इति। अन्तर्बाह्यविषयनिरपेक्षमेव स्वरूपभूतं सुखं यस्य सोऽन्तःसुखो बाह्यविषयजनितसुखशून्य इत्यर्थः कुतो बाह्यसुखाभावस्तत्राऽऽह—'अन्तरारामः' इति। अन्तः-आत्मन्येव, न तु स्त्र्यादिविषये बाह्यसुखसाधन आरामः-आरमणं क्रीडा यस्य, सोऽन्तरारामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वेन बाह्यसुखसाधनशून्यः इत्यर्थः। ननु त्यक्तसर्वपरिग्रहस्यापि यतेर्यदृच्छोपनतैः कोकिलादिमधुरशब्दश्रवण-मन्दपवनस्पर्शन चन्द्रोदय-मयूरनृत्यादिदर्शनातिमधुरशीतलगङ्गोदकपान-केतकीकुसुमसौरभाद्यवघ्राणादिभिर्ग्राम्यैः सुखोत्पत्तिसंभवात्कथं बाह्यसुखतत्साधनशून्यत्वामिति ? तत्राऽऽह—तथाऽन्तर्ज्योतिरेवे' ति। यथाऽन्तरेव सुखं, न बाह्यैर्विषयैः-तथाऽन्तरेवआत्मनि ज्योतिर्विज्ञानं न बाह्यैरिन्द्रियैर्यस्य, सोऽन्तर्ज्योतिः श्रोत्रादिजन्यशब्दादिविषयविज्ञानरहितः। एवकारो विशेषणत्रयेऽपि संबध्यते।

काम क्रोध सहन मात्र से मुक्त होता है यह नहीं, किन्तु अन्तः-बाह्यविषयक निरपेक्ष स्वरूपभूत सुख हो जिसको वह अन्तःसुखी, शब्दादि वाह्य विषयोत्पन्न सुख से शून्य यह अर्थ है।

प्रश्न—बाह्य सुखाभाव क्यों ?

उत्तर—उसमें कहते हैं अन्तरात्मा में ही एवकार से बाह्यसुखसाधन पुत्र कलत्रादि की व्यावृत्ति करते हैं। आराम क्रीड़ा है जिसको 'रमु क्रीडायाम्' आङ् पूर्वक उक्त धातु से आराम शब्द की निष्पत्ति है, त्यक्त सर्वपरिग्रह निखिल भोगसाधन संग्रह का त्यागी बाह्यसाधन शून्य होता ही है।

प्रश्न—त्यक्त सर्वपरिग्रह संन्यासी की भी यह प्राप्त कोकिलादि कोयल प्रभृति पक्षियों के मीठे रसीले शब्दों का सुनना। मन्दसमीरसंपर्क चन्द्रोदय मयूर नृत्य (मोर का नाच) देखना अति मधुर शीतल गङ्गाजल पीना। केतकीपुष्पके सुगन्धको सूंघना। श्रोत्र त्वक् नेत्र रसना घ्राण इन पांचों इन्द्रियों के साथ अनायास प्राप्त उक्त पाँच विषयों का सम्बन्ध होने पर ग्राम्य सुख सांसारिक पुरुषों के सुख की उत्पत्ति अवश्य होगी। उसका परिहार योगी नहीं कर सकता फिर बाह्यसाधन शून्य कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—'अन्तर्ज्योतिरि' त्यादि। जैसे—भीतर ही सुख होता है, बाहर के विषयों से नहीं भीतर ही आत्मा में विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्येन्द्रियोंसे नहीं, जिसमें से वह अन्तर्योति श्रोत्रादि पंचेन्द्रियजन्य शब्दादिज्ञानरहित एवका संबन्ध अन्तःसुख अन्तराम अन्तर्योति इन तीनों विशेषणों के साथ समाधि समयमें निरुद्धचित्तावस्था में शब्दादि विषयों का भान ही नहीं होता। समाधि से विरत होने पर उत्थान दशा में

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके पाप निवृत्त हो गये हैं, जिनके संशय निवृत्त हो चुके हैं, परमात्मा में जिनका चित्त एकाग्र है तथा सभी प्राणियों के हित में तत्पर हैं ऐसे ब्रह्म ज्ञानी ऋषि मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

समाधिकाले शब्दादिप्रतिभासाभावाद्, व्युत्त्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न सुखोत्पत्तिसंभव इत्यर्थः । य एवं यथोक्तविशेषणसंपन्नः, स योगी-समाहितो ब्रह्मनिर्वाणम्-ब्रह्म-परमानन्दरूपं कल्पितद्वैतोपशमरूपत्वेन निर्वाणं तदेव, कल्पिताभावस्याधिष्ठानात्मकत्वात् । अविद्यावरणनिवृत्त्याऽधिगच्छति-नित्यप्राप्तमेव प्राप्नोति । यतः सर्वदैव ब्रह्मभूतः, नान्यः, "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" तै० आ० २–अनु० २– इति श्रुतेः, "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः वे० द १–४–२२" इति न्यायाच्च ॥ २४ ॥

मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तराणि विवृण्वन्नाह—'लभन्ते' इत्यादिना । प्रथमम् यज्ञादिभिः क्षीणकल्मषाः, ततोऽन्तःकरणशुद्ध्या ऋषयः—सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः संन्यासिनः, ततः श्रवणादिपरिपाकेण च्छिन्नद्वैधाः-निवृत्तसर्वसंशयाः, ततो निदिध्यासनपरि-

---

शब्दादि का भान होने पर भी उनमें मिथ्यात्व निश्चय से बाह्य तादृश विषयों से योगी को सुखोत्पत्ति का संभव ही नहीं मिथ्यारजतादि से भला कोन सुखी होता है ? यह अर्थ है जो पूर्वोक्त गुण सम्पन्न है। वह योगी समाहित होकर निरुद्ध बाह्य विषयवृत्तिक हो ब्रह्मनिर्वाण-ब्रह्म परमानन्दरूप निर्वाण मोक्ष कल्पित द्वैताभाव से उपलक्षित ब्रह्म ही मोक्ष है। कल्पित का अभाव अधिष्ठानस्वरूप ही होता है। रज्जु-से कल्पित भुजंग का अभाव रज्जुस्वरूप ही है, अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति से प्राप्त ही को पाता है। यतः 'सदा ब्रह्मभूतः, नान्यो योगी स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है तदतिरिक्त नहीं। अपने को सदा अपनी प्राप्ति रहती है, भेद इतना है कि सांसारिकको स्वप्राप्ति सदा ज्ञात रहती है ब्रह्म होकर ही ब्रह्म पाता है, एतदर्थक 'ब्रह्म वे'त्यादि श्रुति है। इसी में वेदान्तसूत्र प्रमाण देते हैं–'अवस्थितेरि'त्यादिसूत्रोक्तन्याय से भी उक्तार्थ सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

मुक्तिहेतुज्ञान के साधानान्तर-अन्यसाधनों का विवरण करते हैं—'लभन्ते' इत्यादि से। सर्वप्रथम यज्ञदानादिकों से अन्तःकरण के पापों का क्षय करना, तदनन्तर अन्तःकरण शुद्ध होता है; उससे सूक्ष्म-वस्तुओं के विवेचन में समर्थ होते हैं तदनन्तर श्रवणमननादि के परिपाक से छिन्नद्वैध-निवृत्त सन्देह होते हैं, तदनन्तर निदिध्यासनपरिपाक से संयतात्मा का अर्थ–परमात्मा में ही जिनका सदा एकान्तचित्त रहता है

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम और क्रोध से रहित संयत चित्त वाले तथा परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले यत्नशील सन्यासियों के लिये जीवित और मृत दोनों अवस्थाओं में मोक्ष प्राप्त है ।

पाकेण संयतात्मानः-परमात्मन्येवैकाग्रचित्ताः एतादृशाश्च द्वैतादर्शित्वेन सर्वभूतहिते रताः हिंसाशून्या ब्रह्मविदः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ।

"यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥" ईश० उ० म० ७ ।

बहुवचनं "तद्यो यो देवानाम्" बृ० उ० १-४-१० इत्यादिश्रुत्युक्तानियमप्रदर्शनार्थम् ॥२५॥

पूर्वं कामक्रोधयोरुत्पन्नयोरपि वेगः सोढव्य इत्युक्तम्, अधुना तु तयोरुत्पत्ति-प्रतिबन्ध एव कर्तव्य इत्याह—'कामक्रोधे'ति । कामक्रोधयोगवियोगः-तदनुत्पत्तिरेव तद्युक्तानां-कामक्रोधवियुक्तानाम् । अत एव यतचेतसाम्-संयतचित्तानां यतीनाम्-यत्नशीलनाम्

वे संयतात्मा कहलाते हैं । यहाँ आत्मशब्द मनःपरक है एतादृश पुरुष द्वैतादर्शी होने से सब प्राणियों के हित में अनुरक्त रहते हैं । अतः वे हिंसाशून्य ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मनिर्वाण का लाभ करते हैं । यस्मिन्नित्यादि ।

प्रश्न—'संर्वभूतहिते रताः' यहाँ बहुवचन है । 'तद्यो देवाना' मित्यादि में एकवचन है, अतः श्रुत्य-नुसारि एकवचनत्याग में क्या भाव है ?

उत्तर—बहुवचन ही ठीक है, श्रुति में एववचन विवक्षित नहीं, एतत्सूचनार्थं उक्त श्लोक में बहु-वचन का प्रयोग किया है अथवा 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत्' इत्यादि श्रुति से एवं भूत पुरुषरत्न संयासी ही हो सकते हैं अन्य आश्रमी नहीं, आश्रमैकत्वविवक्षा से एकवचन का ही प्रयोग करना उचित है, बहुवचन का नहीं, इस सन्देह की व्यावृत्ति करते हैं । बहुवचन 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत' इस श्रुति के अनुसार आश्रमानुक्रम नियत नहीं यदहरेव विरजेत्तनदहरेवप्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुति ही अनियम कहती है; अतः सब आश्रमों में एवंभूत योगी हो सकते हैं एतत्सूचनार्थं उक्तगीताश्लोक में बहुवचन है ॥ २५ ॥

काम क्रोध के उत्पन्न होनेपर उनके वेग को सहना चाहिये, यह कहा—अब तो यह कहते हैं कि उनकी उत्पत्ति ही को रोकना चाहिये । काम क्रोध का वियोग दो प्रकार से होता है । उत्पन्न का ध्वंस करने से अथवा तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध करने से अथवा तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध करने से पहिला तो कह चुके है । दूसरा कहते हैं—'कामक्रोधवियुक्तानाम्' इत्यादि से (अतएव 'यतचेतसाम्') वशीकृत अन्तःकरण

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहर के शब्दादि विषयों को बाहर ही छोड़कर दृष्टि को भृकुटी के मध्य में स्थिर कर नासिका में सञ्चरण करने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके।

इन्द्रियाँ मन और बुद्धि वशीभूत हैं जिसकी ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त ही है।

संन्यासिनां विदितात्मनां साक्षात्कृतपरमात्मनामभितः-उभयतो जीवताम्, मृतानां च तेषाम् ब्रह्मनिर्वाणं-मोक्षो वर्तते, नित्यत्वात् । न तु भविष्यति, साध्यत्वाभावात् ॥ २६ ॥

पूर्वमीश्वरार्पितसर्वभावस्य कर्मयोगेन अन्तःकरणशुद्धिः,ततः सर्वकर्मसंन्यासः, ततः श्रवणादिपरस्य तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनमुदेतीत्युक्तम् । अधुना 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणमि'त्यत्र सूचितं ध्यानयोगम्-सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गसाधनं विस्तरेण वक्तुं सूत्रस्थानीयान्त्रीन् श्लोकानाह भगवान् । एतेषामेव वृत्तिस्थानीयः कृत्स्नः षष्ठोऽध्यायो भविष्यति । तत्र द्वाभ्यां संक्षेपेण योग उच्यते। तृतीयेन तु तत्फलं परमात्मज्ञानमिति विवेकः 'स्पर्शान्नि'ति। स्पर्शान्-शब्दादीन्बाह्यान्-बहिर्भवानपि श्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिभिरन्तः प्रविष्टान्पुनर्बहिरेव कृत्वा। परवैराग्यवशेन तत्तदाकारां वृत्तिमनुत्पाद्येत्यर्थः। यद्येत आन्तरा भवेयुः,तदोपाय-

यत्नशील संन्यासी अतएव विदितात्मब्रह्मसाक्षात्कृतात्मा को दोनों दशामें—जीवित मरण दशामें ब्रह्मनिर्वाण रहता है मोक्ष नित्य है भावी नहीं अतएव 'भविष्यति' न कहकर 'वर्तते' कहा ॥ २६ ॥

पहले ईश्वर में समर्पित सर्वभाव का योग कर्मयोग निरभिसन्धिकर्मानुष्ठान से अन्तःकरणशुद्धि होती है । तदनन्तर सब कर्मों का सन्यास ततः श्रवण निदिध्यासनशील को मोक्षकारणतत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा। इस समय वह योगी 'ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छति' से सूचित तत्त्वज्ञान का अन्तरङ्गसाधन ध्यानयोग का विस्तृतकथनार्थं तत्सूत्रस्थानीय भगवान् ३ श्लोक कहते हैं—सूत्र संक्षिप्तार्थक होता है उसका विस्तृत व्याख्यान भाष्य हो जाता है। तदल्पव्याख्यान वृत्ति की परम आवश्यकता होती है, परमदयालु भगवान् उक्त सूत्रों का अर्थ एतद्वृत्तिस्वरूप षष्ठाध्याय से स्वयं करेंगे, उनमे भी दो श्लोकों से संक्षेप में योग कहते हैं। तीसरे से योगफल परमात्मा का ज्ञान यह विवेक है। स्पर्श बाह्य शब्दादिविषय श्रोत्रादी-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सन्यासयोगो नाम
पंचमोऽध्याय:

सभी यज्ञों एवं तपों का भोक्ता या पालक, सभी लोकों के ईश्वर के (हिरण्यगर्भादि के ईश्वर) तथा सभी प्राणियों के स्वार्थ रहित प्रिय ऐसा मुझको जानकर शान्ति प्राप्त करता है।

सहस्रेणापि बहिर्न स्युः, स्वभावभङ्गप्रसङ्गत्। बाह्यानां तु रागवशादन्तःप्रविष्टानां वैराग्येण बहिर्गमनं संभवतीति वदितुं बाह्यानिति विशेषणम्। तदनेन वैराग्यमुक्त्वा, अभ्यासमाह-चक्षुरिति—'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोरि'ति'। कृत्वेत्यनुषज्यते अत्यन्तनिमीलने हि निद्राख्या-लयात्मिका वृत्तिरेका भवेत्। प्रसारणे तु प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-स्मृतयश्चतस्रो विक्षेपात्मिका वृत्तयो भवेयुः। पञ्चपि तु वृत्तयो निरोद्धव्या इति, अर्धनिमिलनेन भ्रूमध्ये चक्षुषो निधानम्। तथा प्राणापानौ समौ तुल्यावूर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यान्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा, अनेनोपायेन यताः-संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य, स तथा। मोक्षपरायणः-सर्वविषयविरक्तः मुनिः-मनशीलो भवेत्। 'विगतेच्छाभयक्रोधः' इति 'वीतराग-भय-क्रोधः' इत्यत्र व्याख्यातम्।

न्द्रियद्वारा जो अन्तःप्रविष्ट हे उनको फिर बाहर करके पर वैराग्यवश से तत्ताकारवृत्ति को अनुत्पन्न कर, याद वस्तुतः आन्तरिक होते तो हजारों उपायों से बाहर न हो सकते। अन्यथा वस्तुस्वभावका ही भङ्ग हो जायगा, बाहरवाले किसी के द्वारा भीतर घुप गये हैं तो उनका वैराग्य से बाहर निकालना हो सकता है। यही कहने के लिये बाह्यान् यह स्पर्शादि में विशेषण है। इससे वैराग्य कहकर अभ्यास कहते हैं—'चक्षुश्चै-वान्तरे' इत्यादि भ्रुवोरेवान्तरे चक्षुः' कृत्वा दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में नेत्र करके अत्यन्त आंख बन्द करने पर लयात्मक निद्रावृत्ति ही हो जायगी। नेत्र फैलाने से प्रमाणविपर्ययविकल्प स्मृति ये चार विक्षेपात्मक वृत्तियां होगीं पांचों वृत्तियों का निरोध करना है इसलिये अर्द्धनिमीलन आधी आंख बन्द करने के लिये भोहों के मध्यमें आंख क अर्ध मीलन का विधान है। इसी तरह प्राण अपान तुल्य ऊर्द्धवगति और अधोगति को रोक कर नासिका के भीतर ही कुम्भकप्राणायामविशेष से संचार करके इस उपाय से संयत है इन्द्रिय मन बुद्धि जिसका वह तथा यतेन्द्रिय मनोबुद्धि मोक्षपरायण सब विषयों से विरक्त मुनि मननशील हो—मनन-

एतादृशो यः संन्यासी सदा भवति, मुक्त एव सः, न तु तस्य मोक्षः कर्तव्योऽस्ति। अथवा य एतादृशः, स सदा जीवन्नपि मुक्त एव।

एवं योगयुक्तः किं ज्ञात्वा मुच्यत इति। तदाह—'भोक्तारमि'ति। सर्वेषाम् यज्ञानाम्, तपसाञ्च कर्तृरूपेण, देवतारूपेण च भोक्तारम्-भोगकर्तारम्। पालकमिति वा। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति धातुः। सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरम्-हिण्यगर्भादीनामपि नियन्तारं सर्वेषां प्राणिनां सुहृदम्-प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वान्तर्यामिणं सर्वभासकम् परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरसं परमार्थसत्यं सर्वात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वा-आत्मत्वेन साक्षात्कृत्य शांतिम्-सर्वसंसारोपरतिं मुक्तिमृच्छति-प्राप्नोतीत्यर्थः। त्वां पश्यन्नपि कथं नाऽहम् मुक्त इत्याशङ्कानिराकरणाय विशेषणानि। उक्तरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिकारण-मिति भावः॥ २९॥

तत्पर हो, विगतेच्छाभयक्रोध—इसका व्याख्यान 'वीतरागभयक्रोध' पर कर चुके हैं। अतः इनकी यहाँ व्याख्यान की आवश्यकता नहीं। एतादृशगुणविशिष्ट संन्यासी सदा मुक्त ही होता है उसको मोक्ष कर्तव्य नहीं अथवा एतादृश पुरुष सदा जीता हुआ भी मुक्त ही है॥ २७॥ २८॥

इसी तरह योगयुक्त क्या जानकर मुक्त होता है? यह कहते हैं—'भोक्तारमिति' से। सब यज्ञों का तपों का कर्तृरूप से, देवतारूप से अथवा पालन कर्ता यह अर्थ है। भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस धातु से भोक्ता बना, अतः इसका भोग कर्ता, पालक दोनों अर्थ है। सब लोगों का महान ईश्वर कर्ता भोक्ता महेश्वर इससे परमात्मा का प्रतिबिम्ब जीव है। बिम्ब प्रतिबिम्ब एक ही है भेदावभास भ्रान्ति है। जीवकर्तृक योग ईश्वरकर्तृक है जीव कर्तृक तत्फल भोग ईश्वरकर्तृक ही है 'भुज् पालनाभ्यवहारयोः' इस स्मृति के अनुसार 'भुज्' धातु का दो अर्थ है पालन और अभ्यवहार अर्थात् दोनों प्रकृत में विवक्षित है इस आशय से पालक भी अर्थ उचित ही है। सब लोकों का महान् ईश्वर हिरण्यगर्भ अपरब्रह्म उनका भी नियन्ता शासनकर्ता सब प्राणियों का सुहृद्-सच्चा मित्र प्रत्युपकार न चाहकर उपकारी संसार में मित्र ऐसे ही मिलते हैं जो अपने उपकार के लिये दूसरे का उपकार करते हैं। भगवान् का कोई उपकार ही क्या कर सकता है? वस्तुतः वे पूर्णकाम हैं उनको उपकार की आवश्यकता ही नहीं, फिर भी प्राणियों का सदा उपकार करते हैं। सबके अन्तर्यामी, सबके भासक, परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरसपरमार्थसत्य, सर्वात्मा, नारायण मुझको जानकर अर्थात् स्वात्माभिन्नत्वेन अपनी आत्मा से अभिन्न देखकर सर्वसंसारनिवृत्तिस्वरूपशान्ति मुक्ति को प्राप्त करता है।

अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् ॥१॥

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
मधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायाम्
स्वरूपपरिज्ञानं नाम
पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो मैं आप को देख रहा हूँ फिर मुक्त क्यों न हुआ ?

उत्तर—इस आशंका के निराकरणार्थं उक्त विशेषण है। जिस रूप से कहा है उस रूपसे ही मेरा ज्ञान मुक्ति का कारण है रूपान्तर से नहीं, तुम उस रूप से अभी मुझे देख ही नहीं सकते जिसरूप से देख रहे हो, वह दर्शन मुक्ति का कारण ही नहीं, अनेक साधनोंसे उत्पन्न भगवदुपेदुपदिष्टतस्वरूपपरिज्ञान सबको मुक्तिका कारण है, केवल संन्यासी ही ज्ञान से मुक्त होते हैं दूसरे नहीं यह कार्पण्य भगवान् में नहीं, किसी भी आश्रमी को तादृशज्ञान हो तो वही मुक्त होता हैं। मुक्ति में आश्रमविशेष प्रतिबन्ध नहीं यह अभिप्राय है ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्री म० म० पण्डित प्रवर हरिहरकृपालु-द्विवेदिविरचित मधुसूदनी-
भाषानुवाद पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो कर्म फल की अपेक्षा न रखता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह सन्यासी तथा योगी है, अग्निसाध्य श्रौत कर्म का त्याग करने वाला एवं अग्निनिरपेक्ष स्मार्त कर्म करने वाला सन्यासी और योगी नहीं होता है ॥ १ ॥

योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पञ्चमान्ते यदीरितम्।
षष्ठस्त्वारभ्यतेऽध्यायस्तस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥१॥

तत्र सर्वकर्मत्यागेन योगं विधास्यन् त्याज्यवेत्त हीनत्वभाशङ्क्य कर्मयोगं स्तौति द्वाभ्यां श्रीभगवानुवाच 'अनाश्रितः' इत्यादिना।

पूर्वोत्तर अध्यायों की संगति भाष्यकार ने इस प्रकार दिखलाई है—सम्यक् दर्शन का अन्तरङ्गसाधन ध्यानयोग के सूत्रस्वरूप 'स्पर्शान् कृत्वा वहिः' इत्यादि तीन श्लोकों से उपदेश दिया है उन्हीं का विवरण-स्वरूप छठवां अध्याय का आरंभ होता है उसमें ध्यान योग का बहिरङ्ग हेतु कर्म है। इसको यावद् ध्यान योगारोहण में समर्थ न हो तावत्काल अधिकारी गृहस्थ कर्म करें इस कारण कर्म की स्तुति करते हैं—'अनाश्रितः' इति से।

प्रश्न—कर्म करने की अवधि ध्यानयोगारोहण सीमा क्यों कहते हैं श्रुति तो यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का विधान करती है 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इति।

उत्तर—नहीं, योगारोहणेच्छुक को कर्म करना चाहिए क्योंकि योगारोहण में कर्म कारण है आरोहणेच्छा विशेषण निष्पन्न होने पर तदिच्छा की निवृत्ति हो जायगी तदारूढ़ का शम से ही सम्बन्ध है। आरुरुक्षु और आरूढ़ दोनों को शम कर्म ये दोनों करने चाहिए यह यदि भगवान् को अभिप्रेत होता है तो आरुरुक्षु आरूढ़ यह विभाग करना तथा शम कर्म विषय भेद से विशेषण ये दोनों अनर्थक हो जायेंगे

पुनः शंका आश्रमियों में ही कोई योग पर आरुरुक्षु है कोई आरूढ़ है अन्य न कोई आरुरुक्षु है न आरूढ़ है। उनकी अपेक्षा से आरुरुक्षु आरूढ़ ये विशेषण विभाग कारण हैं नहीं पुरुषभेद से व्यवस्था इष्ट नहीं तस्यैव इस विशेषण से जिसको आरोहणेच्छा काल में कर्मापेक्षा है उसी को आरोहणोत्तर शमापेक्षा कहते हैं कर्मापेक्षा नहीं पुनर्योगग्रहण से जो पूर्व योगारुरुक्षु था वही जब योगारूढ़ हो जाय तब उस योगारूढ़ को योग फल के प्रति योगफल के लिए शम ही कर्तव्य कारण है दूसरा नहीं अतः कोई भी कर्म यावज्जीवन कर्तव्यत्वेन प्राप्त नहीं योगभ्रष्टवचन से भी उक्तार्थ ही सिद्ध होता है गृहस्थ कर्मी को यदि योग विहित होता तो छठें अध्याय में वह कर्मी गृहस्थ योग विभ्रष्ट होने पर भी कर्म फल पाता ही है फिर उसकी नाश की आशंका अयुक्त है, किया हुआ काम्यकर्म हो अथवा नित्य हो मोक्ष नित्य होने से कार्य ही नहीं। अतः स्वफल देगा ही नित्यकर्म का कुछ फल नहीं यह कथन निर्मूल है। वेदप्रमाण से नित्यकर्म का भी विधान है अतः उसका भी फल अवश्य है यह कह चुके हैं अन्यथा वेद अनर्थक हो जायगा और कर्म रहने पर उभयविभ्रष्ट का कुछ अर्थ ही नहीं। कर्मी के विभ्रंश का कोई कारण ही नहीं।

प्रश्न—ईश्वर में कर्म का अर्पण की बुद्धि से अनुष्ठान किया इसलिए कर्मी को फल नहीं होगा यह कथन ठीक नहीं ईश्वर में समर्पित कर्म के सन्यास का फल तो अधिक होगा ?

प्रश्न—मोक्ष के लिए होगा स्वयंकृत कर्मों का ईश्वर में सन्यास करने पर मोक्ष ही फल देता है दूसरा नहीं। योगसहित कर्मसंन्यःसी मुक्त होता है योग भ्रष्ट होकर यदि संन्यासी होगा तो मुक्त होगा नहीं कारण योग सहित नहीं ईश्वर में कर्मफल का संन्यास कर चुका है अतः फलान्तर नहीं इस परिस्थिति में नाश की आशंका ठीक ही है।

उत्तर—ध्यानसहित ईश्वरसमर्पित कर्म का फल मोक्ष ही है इसमें कुछ प्रमाण नहीं इस कारण गृहस्थ योगभ्रष्ट से नहीं कहा जा सकता। दूसरा हेतु यह है कि 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः'। 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' इत्यादि वचनों से कर्मसंन्यास का विधान है उक्त विशेषणों का गृहस्थ में सम्भव ही नहीं इसलिए स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थ के प्रति ध्यानयोग की विधि नहीं है अतः उनके प्रति योगभ्रष्ट वचन लागू नहीं।

प्रश्न—गृहस्थ भी ध्यानकाल में एकाकी रहता है क्योंकि उक्तकाल में स्त्री की सहायता की आवश्यकता नहीं आज्यावेक्षणादि के लिए अग्निहोत्रादिकर्म में यथा स्त्रीसहायता की अपेक्षा है, अतएव विधुर अग्निहोत्रादि में अधिकारी नहीं होता तथा ध्यानकाल में स्त्री की सहायता की अपेक्षा नहीं अतः अप्राप्तस्त्री-सहायता का 'एकाकी' इत्यादि से प्रतिषेध अनर्थक है ?

उत्तर—'निराशीरपरिग्रहः' इत्यादिविशेषणों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वचन गृहस्थों के अनुकूल नहीं। और भी कारण है गृहस्थ में एकाकित्व का विधान कर यदि ध्यानयोग का विधान किया जायगा तो उभय विभ्रष्ट प्रश्न का उत्थान ही नहीं हो सकता क्योंकि योगभ्रष्ट होने से ज्ञानभ्रंश

कर्मणां फलमनाश्रितः - अनपेक्षमाणः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यम्-कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादि कर्म करोति यः, स कर्म्यपि सन् संन्यासी च योगी चेति स्तूयते। संन्यासो हि त्यागः, चित्तगतविक्षेपाभावश्च योगः, तौ चास्य विद्येते फलत्यागात्, फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच्च। कर्मफलतृष्णात्याग एवात्र गौण्या वृत्त्या संन्यास - योगशब्दाभ्यामभिधीयते सकामानपेक्ष्य प्राशस्त्यकथनाय। अवश्यंभाविनौ हि निष्कामकर्मानुष्ठातुर्मुख्यौ सन्यास-योगौ। तस्मादयं यद्यपि न निरग्निः-अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी-

---

होने पर भी कार्यभ्रंश नहीं हो सकता कारण वर्तमान कार्यभ्रंश होने पर भी पूर्वकृतकर्म का तो फल अवश्य ही होगा अतः उक्त प्रश्न का पर्यालोचन से गृहस्थ के प्रति कर्म की विधि है ध्यान की विधि नहीं है।

प्रश्न—'अनाश्रितः' इत्यादि वाक्यसे कर्मी गृहस्थमें ही संन्यासित्व योगित्व कहा है प्रतिषेध भी किया निरग्नि अक्रियसे सन्यासित्व योगित्व का ?

उत्तर—ठीक है ध्यानयोगके प्रति बहिरङ्गकारण कर्मके फलाकांक्षाके सन्यासका विधान नहीं किन्तु उक्तवाक्य स्तुतिपरक है केवल निरग्नि अक्रिय ही संन्यासी योगी नहीं किन्तु कर्मी भी फलासक्तिका त्यागकर चित्तशुद्धिके लिए कर्मानुष्ठाननिष्ठ सन्यासी योगी हो सकता है यह उसकी स्तुति है। एक वाक्यसे कर्मफला-सङ्गन्यासस्तुति, चतुर्थाश्रमसन्यासप्रतिषेध, का सम्भव नहीं। निरग्नि और अक्रिय परमार्थसन्यासीमें श्रुत्यादि-विहितलोकप्रसिद्धसंन्यासित्व का भगवान् प्रतिषेध करते हैं अन्यथा 'सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्य' 'नैव कुर्वन्' इत्यादि स्ववाक्यविरोध हो जायगा अतः योगारुरुक्षु को विहित अग्निहोत्रादिकर्म फल निरपेक्ष क्रियमाण ध्यान योगारोहण का साधन होता है इस कारण वह संन्यासी योगी है इससे वह स्तुत होता है कर्म फलकामनाशून्य कर्मफल अनाश्रित कहाता है। एवं भूत होकर काम्यकर्मसे विपरीत नित्य अग्निहोत्रादि कर्म जो करता है वह कर्मी इतर कर्मियोंसे विशिष्ट है यही वह संन्यासी योगीसे कहते हैं शेष भाष्य स्पष्ट है॥

पञ्चमाध्यायके अन्तिम तीन श्लोकोंसे जो योगसूत्रमें कहा है उसीके विस्तृत व्याख्यानार्थ छठवाँ अध्यायका आरम्भ करते हैं। उसमें सब कर्मोंको त्यागकर योगका विधान करेगें त्यज्यमान कर्मयोग कौन है इस आशंकासे उसकी स्तुति करते हैं दो श्लोकों से—'श्री भगवानुवाच' इत्यादिसे। कर्मके फलोंकी अपेक्षा न कर फलकामनारहित होकर शास्त्रविहित हैं अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम नित्य अग्निहोत्रादि कर्म करें इस बुद्धिसे जो करता है वह कर्मी भी संन्यासी योगी है यह उसकी स्तुति है। संन्यास त्याग है, चित्तगत विक्षेपाभाव योग है, ये दोनों इसको हैं फलत्यागसे फलतृष्णारूप चित्तविक्षेपाभावसे कर्मफलेच्छात्याग ही गौणी वृत्तिसे यहां संन्यास योगशब्दसे कहा गया है सकाम कर्मियों की अपेक्षा कर्मयोगी प्रशस्त हैं। निष्काम कर्मानुष्ठाननिष्ठको मुख्यसंन्यासयोग अवश्य होगा। यद्यपि यह निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य श्रौत-

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ! ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं उसको तुम योग समझो । फल संकल्पको नहीं छोड़नेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता ॥ २ ॥

न भवति, न चाक्रियः-अग्निनिरपेक्षस्मार्तक्रियात्यागी च न भवति । तथापि संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः ।

अथवा 'न निरग्निर्न चाक्रियः' संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः, किन्तु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी संन्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते । 'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः, पशवो गोअश्वाः' इत्यत्रेव प्रशंसालक्षणया नञन्वयोपपत्तिः । अत्र 'चाक्रियः' इत्यनेनैव सर्वकर्मसंन्यासीति लब्धे, निरग्निरिति व्यर्थं स्यादित्यग्निशब्देन सर्वाणि कर्माण्युपलक्ष्य, निरग्निरिति संन्यासी, क्रियाशब्देन चित्तवृत्तीरुपलक्ष्य, अक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तिर्योगी च कथ्यते, तेन न निरग्निः संन्यासी मन्तव्यः न चाक्रियो योगी मन्तव्य इति यथासङ्ख्यमुभयव्यतिरेको दर्शनीयः । एवं सति नञ्द्वयमप्युपपन्नमिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

कर्मत्यागी नहीं है और न अक्रिय अग्नि निरपेक्ष स्मार्त्त कर्मत्यागी ही हैं तथापि संन्यासी तथा योगी माना जाता है अथवा निरग्नि और योगी न मानना चाहिए किन्तु साग्नि और सक्रिय निरभिसन्धि कर्मानुष्ठानकर्ता को संन्यासी योगी जानना चाहिए । इसी तरह उसकी स्तुति है इस प्रकारके शब्दप्रयोग वेदमें भी पाये जाते हैं तथाहि 'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः, पशवो गो अश्वाः' इत्यादि । 'लोमवल्लाङ्गलवान्' पशु शब्दार्थ हैं, लोमयुक्तः पूँछ वाला जानवर प्राणी पशु ही कहाता है गो अश्व के पूँछ में केश होते हैं अतः ये पशु हैं इनसे अतिरिक्त महिषादिके पूँछमें भी लोम होते हैं अतः वे भी पशु हैं किन्तु श्रुति ही कहती है कि वे पशु नहीं है । पशु में नञर्थ पशुभेद के अन्वयार्थ पशु शब्दकी प्रशस्त पशुमें लक्षणा है अर्थात् प्रशस्त पशुसे भिन्न महिषादि हैं क्योंकि वे प्रशस्त नहीं हैं एवं निरग्नि संन्यासी अक्रिय योगी है फिर भी प्रशस्त नहीं । ध्यान-सहित निरभिसन्धि कर्मानुष्ठायी कर्मी गृहस्थ ही प्रशस्त संन्यासी योगी है इस प्रकार यह स्तावक वाक्य है विधायक नहीं । यहाँ अक्रियसे ही अग्निसाध्य श्रौतकर्म तदसाध्य स्मार्तादिसकलकर्मके प्रतिषेधका लाभ हो सकता है । श्रौतकर्माभावबोधनार्थ निरग्न यह शब्द व्यर्थ है इस शंकाकी निवृत्ति के लिए अग्निशब्दसे सब कर्मोंको लक्ष्य कर निरग्निसे संन्यासी, क्रियाशब्दसे चित्तवृत्तियोंकी लक्ष्यकर अक्रिय शब्दसे निरुद्धचित्त-वृत्ति योगी कहा जाता है इससे निरग्नि मात्रसे संन्यासी नहीं समझना चाहिए अक्रिय मात्रसे योगी नहीं समझना चाहिए इस प्रकार से दोनोंका भेद दिखलानेसे नञ्द्वय उपपन्न होता है अर्थात् दोनों नञ् सार्थक होते हैं ॥१॥

असंन्यासेऽपि संन्यासशब्दप्रयोगे निमित्तभूतं गुणयोगं दर्शयितुमाह— 'यं संन्यासमि'ति। यं सर्वकर्म-तत्फलपरित्यागं संन्यासमिति प्राहुः श्रुतयः—'न्यास एवात्यरेचयत्, ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यम् चरन्तीत्याद्याः'। योगम्-फलतृष्णा-कर्तृत्वाभिमानयोः परित्यागेन विहितकर्मानुष्ठानं तं संन्यासं विद्धि हे पाण्डव!, अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तमित्याह 'तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमि'ति न्यायात्। परशब्दः परत्र प्रयुज्यमानः साहश्यं बोधयति गौण्या वृत्त्या, तद्भावारोपेण वा। प्रकृते तु किं साहश्यमिति तदाह—'न ही' ति। यस्मात् असंन्यस्तसङ्कल्पः-अत्यक्तफलसङ्कल्पः कश्चन-कश्चिदपि योगी न भवति। अपि तु सर्वो योगी त्यक्तफलसङ्कल्प एव भवतीति फलत्यागसाम्यात्, तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्म्येव संन्यासी च योगी च भवतीत्यर्थः।

असंन्यासमें संन्यासशब्दप्रयोग का निमित्तभूत गुणयोग दिखलाने के लिए कहते हैं—'यं सन्यासमिति' से। जिस परित्यागको संन्यासके नामसे श्रुतियाँ कहती हैं 'न्यास एवात्यरेचयत्', ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्चे'त्यादि। पुत्र-वित्त-लोकैषणासे निवृत्त होकर भिक्षाचर्य (संन्यास) लेते हैं–करते हैं योग फलतृष्णा कर्तृत्वअभिमान इन दोनोंका त्याग कर विहित कर्मानुष्ठान रूपको संन्यास समझो हे पाण्डव! अब्रह्मदत्त को ब्रह्मदत्त कहनेसे माना जाता है कि ब्रह्मदत्त सदृश यह है इस न्यायसे परशब्द परत्र शक्यार्थातिरिक्त लक्ष्यमें प्रयुज्यमान गौणीवृत्तिसे अथवा तद्भावसे तदीय प्रवृत्ति निमित्तारोपसे तत्सादृश्यका बोधक होता है प्रकृतमें क्या सादृश्य है? यह कहते हैं—जिस कारणसे असंन्यस्तसंकल्प अर्थात् फलसंकल्पत्यागके विना कोई भी योगी नहीं हो सकता है किन्तु सब योगी फलसंकल्प त्यागी ही होता है अतः फलत्याग सादृश्य तृष्णारूप चित्तवृत्तिनिरोध सादृश्यसे गौणीवृत्तिद्वारा कर्मी ही संन्यासी एवं योगी होता है। तथाहि (१) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

---

(१) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। जिस अवस्थाविशेषमें चित्तकी प्रमाणादि वृत्तियां रोकी जाय वह अवस्थाविशेष योग है वह दो प्रकारका है संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात यह आगे कहेंगे।

प्रश्न—संप्रज्ञात योग में इस लक्षण की अव्याप्ति है अर्थात् उसमें यह लक्षण नहीं जाता क्योंकि सात्त्विकवृत्तियों का निरोध संप्रज्ञात में नहीं होता यदि कहिये कि लक्षण में सर्वशब्द का निवेश नहीं है सर्ववृत्ति निरोध कहते तो दोष होता राजस-तामसवृत्तियों का निरोध तो होता ही है अतः किञ्चिद्वृत्तिनिरोध लेकर लक्षणसमन्वय हो जायगा यह ठीक नहीं कारण विक्षिप्तादिमें यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध रहता ही है उसको लेकर अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

उत्तर—ठीक है क्लेशकर्मविपाकाशयविरोधि निरोध में विशेषण देते है, उक्त विरोधी चित्तवृत्ति निरोध योग है

तथा हि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, प्रमाण-विपर्यय-विकल्प,-निद्रा-स्मृतय इति वृत्तयः पञ्चविधाः। तत्र प्रत्यक्षानुमानशास्त्रोपमानार्थापत्त्यभावाख्यानि प्रमाणानि षडिति वैदिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि त्रीणीति योगाः। अन्तर्भाव-बहिर्भावाभ्यां सङ्कोचविकासौ-

---

'प्रमाणविपर्यये'त्यादि। पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं, वैदिकों मीमांसक, तदनुयायि अद्वैत वेदान्तियोंके मतसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शास्त्र, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिभेदसे छ प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और आगम तीन प्रमाण

क्षिप्तादि में यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध है किन्तु वह क्लेशादिविरोधी नहीं है प्रत्युत अविरोधी है अतः अतिव्याप्ति नहीं। संप्रज्ञात में जो राजस तामस निरोध है वह उक्त क्लेशादि का विरोधी है सात्त्विकवृत्ति स्वयं उक्त क्लेशादि की विरोधिनी है तन्निरोध तदनुकूल ही होगा प्रतिकूल नहीं इस कारण वह लक्षण घटक नहीं।

प्रश्न—एक ही चित्त में क्षिप्तादि पांच भूमियों का सम्बन्ध कैसे ? और क्यों ऐसी अवस्था से युक्त चित्त की वृत्तियां रोकने के योग्य है ?

उत्तर—पहले प्रश्न के उत्तर में हेतु कहते हैं—चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है प्रख्यग्रहण उपलक्षणार्थं हैं इस से अन्य प्रसाद-लाघवादि का भी संग्रह होता है चित्त प्रख्याशील होने से सत्त्वात्मक है प्रवृत्तिशील होने से रजोगुणात्मक है स्थितिशील होने से तमोगुणात्मक है। प्रवृत्ति से परिताप शोकादि राजसों एवं स्थितिग्रहण से गौरव, आवरण दैन्यादि तामसों का भी उपलक्षण तथा ग्रहण समझना।

'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपमवचार्थतो वृत्तिः।'

उत्तर का निष्कर्ष यह है कि चित्त एक ही है फिर भी त्रिगुणात्मक होने से गुणों के मिथः उपचयापचय वैचित्र्य से विचित्र परिणत होता हुआ अनेक अवस्था से युक्त होता है। चित्तरूप से परिणत सत्त्व चित्तसत्त्व है इससे प्रख्यारूप होने से चित्त में सत्त्व से थोड़ा कम रज और तम जब परस्पर बराबर होते हैं तब ऐश्वर्य और विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ही चित्त को प्रिय होते हैं। सत्त्वप्रधान चित्त होता हुआ भी तत्त्व में प्रणिधान की इच्छा करता है परन्तु स्वोपसर्जनीभूत तमसे तत्त्व का आवरण हो जाता है इस हेतु से अणिमादि ऐश्वर्य को ही तत्त्व समझकर उसके प्रणिधान की इच्छा करता है तथा प्रणिधान भी करता है क्षण भर, अनन्तर ही रजोगुण से परिचालित होकर उस में भी स्थिर न रहकर केवल ऐश्वर्यादि प्रियमात्र ही होता है क्योंकि शब्दादि में चित्त का स्वभाविकप्रेमंवद्धमूल है इससे विक्षिप्तावस्था में अतिव्याप्ति का परिहार हुआ। मूढावस्था में अतिव्याप्ति का परिहार भाष्यकार करते है—'तदेव तमसेति'। जब रजोगुण को जीतकर तमोगुण बढ़ता है तब चित्तसत्त्व का आवरक तमके हटाने में असमर्थ होने से तमसे तिरोहित चित्तसत्त्व अधर्मोन्मुख होता है अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य प्रवण होता है अज्ञान भ्रमज्ञान निद्राज्ञान भी गृहीत होता है इससे मूढ़ावस्था भी सूचित हुई। अनैश्वर्य सब जगह इच्छा का विघात जो चाहे वह न हो और जब वही चित्तसत्त्व संजातसत्त्व तम.समुदायरहित रजोगुण सहित होता है तब धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यविषयक होता है। प्रवर्तक रजोगुणलेश से संसृष्ट होने से चित्त का धर्मादि में प्रवृत्त कराता है वही चित्तसत्त्व रजोगुणलेशरूप तम से रहित अतः

स्वरूपप्रतिष्ठ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र चित्त धर्ममेघख्यातोन्मुख होता है धर्ममेघ आगे कहेंगे। योगिजन सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति मात्र चित्त धर्ममेघपर्यन्त को पर प्रसंख्यान कहते हैं यद्यपि चित्त प्रसंख्यान ही है किन्तु तद्वृत्तिविशेष प्रसंख्यान है तथापि धर्मधर्मि का अभेद मानकर चित्त को प्रसंख्यान कहा है प्रसंख्यान तत्त्वज्ञान है प्रख्या भौतिकप्रकाशभिन्न यथार्थ-विषयप्रकाश शुद्धसत्त्वगुण है सत्त्व का परिणाम विशेष ज्ञान है 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इत्यादि के अनुसार सत्त्व ही प्रकाशक है निरोधावस्था में भी लक्षणसमन्वय करते हुए सकारण निरोध का स्वरूप कहते हैं —'चितिशक्तिरि'त्यादि से। संप्रज्ञात समय में संसार कारणत्वादि दोषदर्शन से ही इतरवृत्तिनिरोध हुआ उसकी सिद्धि होने पर विवेकख्याति में भी वैराग्य होता है इससे सब वृत्तियों का निरोध होता है यह प्रक्रिया है। जैसी विवेकख्यातिनिष्ठा विवेकख्याति वैराग्य में हेतु है उसको प्रथम दिखलाते हैं—'रुयातिरि'त्यन्त से। चितिशक्ति पुरुषरूप परिणामिनी नहीं है पूर्वधर्मनिवृत्ति उत्तरधर्म उत्पत्ति परिणाम है तद्रहिता कूटस्थ नित्या परमार्थसत्या है विशेष आकरग्रन्थों में देखिये।

वृत्तीनां विभागः

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ये पांच चित्त की वृत्तियाँ है। प्रमितिः प्रमाण, विकल्पन विकल्पः, विपरीतिः-विपर्ययः, निद्राणं निद्रा, स्मृतिः स्मरणं तत्करण भी करण व्युत्पत्ति से, प्रमाणादि पांच है। इनमें प्रमाण का विभाग करते हैं—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, संशयव्यावृत्ति के लिये अनधिगतत्व विशेषण है। संशय अधिगतविषयक होता है अनधिगत में संस्काराभाव से कोटि की उपस्थिति नहीं अतः संशयाभाव स्फुट है भ्रमव्यावृत्तिके लिये तत्त्वविशेषण है निर्विकल्पादिव्यावृत्ति के लिये व्यवहार हेतु विशेषण है तत्करण व्यावृत्ति के पौरुषेय विशेषण है।

प्रत्यक्ष का लक्षण।

इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं—इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्, अर्थ से समारोपितत्व का निषेध है बौद्ध अद्वैतादि मतमें आरोपित अर्थ का भान होता है अतएव प्रत्यक्षादि में व्यावहारिक प्रामाण्य है पारमार्थिक नहीं। योगशास्त्रानुसार अर्थ वास्तविक है बौद्धमतमें अर्थ ज्ञानाकार है, ज्ञान स्वाकारमात्र का ग्राही होता है कारण ज्ञान भीतर होता है घटादि विषय बाह्य है और दूरस्थ तथा व्यवहित है उनके साथ ज्ञान का सम्बन्ध ही नहीं है प्रकाशक असंबद्ध का भासक नहीं होता अन्यथा असंबद्धात्वाविशेष से एक ही ज्ञान से त्रिलोकी का भान हो जायगा अतः अर्थाकार परिणत ज्ञानाकार को ज्ञान ग्रहण करता है वासना से ज्ञान भेदकी सिद्धि स्वप्नादि के समान उपपन्न होती है फिर बाह्यार्थ सद्भाव में कुछ प्रमाण नहीं इत्यादि के खण्डनार्थ बाह्यगोचर कहा। बाह्यविषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है यह बौद्धों का आक्षेप प्रलापमात्र है बाह्येन्द्रियद्वारा आहंकारिक अन्तःकरण बाह्यविषय के साथ सम्बद्ध होकर तदाकार परिणत होता है। अर्थ समान्यविशेषोभयात्मा माना जाता है। अनुमानादि से व्यावृत्ति के लिये 'विशेषावधारणप्रधाना' यह विशेषण है अनुमानादि से सामान्याकार से अर्थ की प्रतीति होती है धूमदर्शन से पर्वत में अग्नि है एतावन्मात्र की प्रतीति होती है अग्निगत वार्णत्व हस्तवितस्त्यादिदेशस्थत्वादिविशेष का अवधारण नहीं हो सकता प्रत्यक्षसे इन विशेषणों का भी अवधारण होता है। यद्यपि सामान्याकार भी ज्ञान प्रत्यक्षमें होता

है तथापि वह प्रधान रूप से नहीं किन्तु विशेष में गुणविधया भासित होता है अतः ठीक कहा--विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् । प्रमाण फलके विषयमें विप्रतिपत्तिका तिराकरण करते हैं—फलम्-विशिष्टः पौरुषेयः चित्तवृत्तिर्बोधः ।

प्रश्न—चित्तगत वृत्ति का पुरुषगत बोध फल कैसे हो सकता है क्रियासमानाधिकरण तत्फल होता है । खादिर में कुठारसंयोग से पलाश से छिदा नहीं होती ?

उत्तर—अविशिष्ट से देते है बोध पुरुषमें नहीं उत्पन्न होता अन्यथा परिणामित्वापत्ति होगी, किन्तु दर्पण के समान अतिस्वच्छ बुद्धि में प्रतिविम्बित चैतन्य ही बुद्धिवृत्ति से अर्थाकार तथा तदाकारतापन्न फल है । बुद्धिमें जो चैतन्य का प्रतिविम्ब पड़ा है वही पौरुषेय प्रमा है विम्बभूत वृत्ति और चैतन्यप्रतिविम्ब दोनों बुद्धिमें ही है इसलिये क्रियाफलभाव की अनुपपत्ति नहीं अत एव भाष्यकार ने कहा—अविशिष्टः अर्थात् अर्थाकारापन्न प्रतिविम्ब और विम्बभूतवृत्ति दोनों ग्रह्यात्मक होने से अविशिष्ट हैं बिम्बप्रतिविम्ब का अभेद अन्यत्र विस्तार से सुनिरूपित है । 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान वृत्तिरूप विम्ब है मैं जानता हूँ वह बोध पौरुषेय प्रमा है । वस्तुतस्तु—

"तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः । इमास्ता प्रतिबिंवन्ति सरसीव तटद्रुमाः ।।
यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः । रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः ।।"

इत्यादि स्मृतिवचनों से चैतन्यमें बुद्धिवृत्ति का प्रतिविम्ब प्राचीनों ने माना है यह सिद्ध होता है अतः विषयाकार बुद्धि प्रमाण है तो वृत्ति फल है इत्यादि अन्यत्र विस्तार है ।

अनुमान लक्षण

प्रत्यक्षानन्तर प्रत्यक्षादिमूलक अनुमान का निरूपण करते हैं—अनुमेयस्य तुल्यजातीयेषु अनुवृत्तः विजातीयधर्मम्-यावृत्त सबन्धो यः, तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। विजातीयधर्मविशिष्ट धर्मी अनुमेय है उसका तुल्यजातीय साध्यधर्मसामान्य से समान सपक्षमें अनुवृत्त इससे विरुद्ध असाधारणत्वका निरास हुआ । भिन्न जातीय असपक्ष है वे विरुद्ध और साध्याभाववान् विपक्ष है वे व्यावृत्त हुए, इससे साधारण अनैकान्तिक का निरास हुआ । 'सम्बद्धचते' इस व्युत्पत्ति से संबन्ध शब्द यहाँ लिङ्ग परक है इससे पक्षधर्मता दिखलाते हुये असिद्धत्वका वारण करते हैं । तद्विषया तन्निबन्धना सामान्यावधारणप्रधाना से प्रत्यक्षविषय से व्यवच्छेद करते हैं । संबन्धज्ञानाधीन अनुमान है विशेष में सम्बन्ध-ग्रहण नहीं होता किन्तु सामान्य के साथ ही सम्बन्धग्रहण होता हैं अतः सामान्यावधारणप्रधाना अनुमिति होती है विशेषावधारणप्रधाना नहीं । गृहीतव्यापकतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न विधेयताक ही अनुमति होती है अन्यथा नहीं । उदाहरण है चंद्रतारकादि गतिमान है देशान्तर प्राप्ति से । जैसे चैत्रादि सवेरे पूर्वदिशा में सूर्य को देखता सायं काल में पश्चिम दिशामें देखने से देशान्तर प्राप्ति स्फुट है इससे गतिका अनुमान होता है । चैत्रादि में गतिपूर्वक ही देशान्तर-प्राप्ति दृष्ट है तदनुसार चन्द्रतारकादि में भी तदनुमान होता है । वैधर्म्य दृष्टान्त है विन्ध्यप्राप्ति है क्यों कि उसमें गति नहीं है ।

आगम का लक्षण

आगम वृत्ति का लक्षण कहते हैं—आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिश्यते शब्दात्त-दर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः' । दृष्ट तथा अनुमित अर्थ का श्रोता में स्वबोधसंक्रान्ति के लिये शब्द से उपदेश करते हैं ।

शब्द से तद्वृत्ति जो श्रोता की होती है वह आगम है। जिस वाक्य का वक्ता अश्रद्धेयार्थ तथा दृष्टनुमितार्थ नहीं वह आगम प्रमाण नहीं किन्तु वह आगमाभास है मूल वक्ता यदि दृष्टानुमितार्थ नहीं है तो वह आगम प्रमाण है।

तत्त्वदर्शन-कारुण्य-करणपाटवाभिसंबन्ध आप्ति हैं उपदिश्यमान का ज्ञान हो यही दया है दयाशून्य पूंछनेपर भी ठीक नहीं कहता प्रायः वैसे पुरुष प्रतारण ही करते हैं 'आप्त्या वर्तते इति आप्तः' उससे दृष्ट वा अनुमित जो अर्थ का दृष्टानुमित ही में अन्तर्भाव हैं इस कारण अलग नहीं कही गई आप्तपुरुषमें जो ज्ञान है वह श्रोता में नहीं जा सकता अतः तत्त्वज्ञान सदृश ज्ञानोत्पादन श्रोता के चित्त में जो होता हैं वही प्रकृत में स्वबोधसंक्रान्ति हैं वही अर्थ श्रोता के हिताहित प्राप्ति परिहार के लिये कहा जाता है जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेयार्थ है जैसे जो अनार है वे अपूप मालपूये है अदृष्टानुमितार्थ 'चैत्यं वन्देत स्वर्गकाम.' इत्यादि।

प्रश्न--यदि ऐसा है तो मनुस्मृति आदि भी आगम नहीं होगे क्योंकि वे भी दृष्टानुमितार्थ नहीं है जैसे कहा है?

"यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मः मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥"

उत्तर- इसमें मूल वक्तरि कहा मूल वक्ता वहाँ ईश्वर दृष्टानुमित्यर्थ है।

विपर्ययका लक्षण

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। विपर्यय यह लक्ष्य है मिथ्याज्ञानमित्यादि लक्षण है ज्ञानमें जो रूप प्रकाशित होता है उस रूपमें ज्ञान प्रतिष्ठित न रहना ही अतद्रूपप्रतिष्ठ है, जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत का भान है परन्तु उसमें प्रतिष्ठित नहीं 'नेदं रजतम्' इस बाधक के होने पर अतद्रूपरजतभिन्न शक्तिरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अनित्याशुचीत्यादि सूत्रोंक्तोदाहरण स्पष्ट है। योगवार्तिक के मतमें ज्ञानाकारका विपयमें आरोप होता है ज्ञानाकारेणोपस्थित शुक्त्यादि को छोड़कर दूरस्थ रजत विपय कल्पना में गौरव दोष है वैशेपिक से इतना अन्तर है कि वे बाह्य रजत का आरोप करते हैं यहाँ ज्ञानाकारके इससे संशय का भी संग्रह हो जाता है कि प्रतिभासि कोटिद्वय में स्थाणुपुरुप दोनों कोटियों में प्रतिष्ठित ज्ञान नहीं रहता बाध निश्चयोत्तर एककोटि में वह प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रश्न—विकल्प भी तद्रूपाप्रतिष्ठित होनेके विचार से वह विपर्यय ही हो सकता है?

उत्तर—नहीं, विपर्यय मिथ्याज्ञान है विकल्प तद्भिन्न हैं इसकी व्यावृत्ति के लिये मिथ्या ज्ञान का निर्देश है इससे सर्वानुभवसिद्ध बाध दिखलाया यह विपर्यय में ही है विकल्पमें नहीं उसका तो सदा व्यवहार होता ही है विचारशील प्रशस्त पंडितों को ही उसमें बाध बुद्धि होती है।

प्रश्न—फिर वह क्यों प्रमाण नहीं?

उत्तर—अनुपजात विरोधी उत्तर ज्ञ.न से पूर्व ज्ञान का बाध उचित नहीं उत्तर ज्ञानोत्पत्ति वेला में तद्विरोधी उत्तर ज्ञान उपजात विरोधी हैं पूर्व ज्ञान अनुपजात विरोधी है अतः पूर्व ज्ञान से ही उत्तर ज्ञान का बोध होना उचित है।

भूतार्थ-सत्यार्थ विपयक प्रमाण है प्रमाण से अप्रमाण का बाध दृष्ट है जैसे तैमिरिकादि दोष से एक चन्द्र में द्विचन्द्रत्व बुद्धि का बाध होता है एक चन्द्रत्व दर्शन से, क्योंकि बुद्धियों का तत्त्व में पक्षपात है उपजातानुपजातविरोधिबाध

के विषय में यह व्यवस्था है कि जहाँ की अपेक्षा कर उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ ही अनुपजात विरोधि उत्तर ज्ञान का बाघ होता है यहां तो पूर्व की अपेक्षा न कर स्वस्वकारणमात्र से दोनों ज्ञान होते है विशेष अन्यत्र देखिये। यह पंचपर्वा अविद्या है अविद्या सामान्य अविद्यास्मितेयादि पाँचों में हैं अव्यक्त महदहंकार पञ्च तन्मात्र इन आठों में जो अनात्मा है इनमें आत्मवृद्धि अविद्या है इसी की योगी जघन्य कहते है इसी प्रकार योगियों को आठ अणिमादिकों ने जो अश्रेय ऐश्वर्य है उनमें श्रेयो बुद्धि आठ प्रकार का मोह है पूर्वसे भी यह जघन्य है इसको अस्मिता कहते है। योग से अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्तकर दिव्य तथा अदिव्य शब्दादि दश विषयों का उपभोग करेंगे ईदृश बुद्धि महामोह है इसी को राग भी कहते है इत्यादि अन्यत्र देखिये।

विकल्पका लक्षण

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने अनुपातिनी यस्य स शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'।

प्रश्न—यदि शब्दज्ञानानुपाती विकल्प है तो आगम प्रमाण के अन्तर्गत विकल्प होगा यदि यह निर्वस्तुक पदार्थशून्य है तो विपर्यय होगा ?

उत्तर—इस शंका के वारणार्थ भाष्यकार कहते हैं कि न वह प्रमाण के अन्तर्गत है न विपर्यय के अन्तर्गत है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—वस्तु शून्य है तो भी शब्द ज्ञान के प्रभाव से तद्धेतुक व्यवहार देखा जाता है उदाहरण—पुरुष चैतन्य-स्वरूप है। यदि चिति ही पुरुष है तो किससे कौन विशेपित हो, बात यह है कहीं अभेद में भेदका आरोप किया जाता है कहीं भिन्नों में अभेद का इस कारण भेद और कोई वस्तु नहीं अतः तदाभास विकल्प प्रमा ज्ञान ही और विपर्यय ही हैं क्योंकि व्यवहार का विसंवादन ही बाधन शास्त्रप्रसिद्ध उदाहारण है। 'पुरुपस्य चैतन्यम्' व्यपदेश विशेष्यभाव उसमें वाक्य की वृत्ति होती है जैसे—चैत्र की गौ है यहां चैत्र स्वत्वसबन्धसे गौ में विशेषण है वस्तुतः इन दोनों का भेद है और स्वस्वामिभाव संवन्ध भी है इत्यादि।

निद्रावृत्तिका लक्षण

अभावप्रत्ययालम्बना धृतिर्निद्रा। प्रमाणादि पाँचों में वृत्तित्वका विवाद परीक्षक को वही है और प्रमाणादि सूत्र में वृत्ति का ग्रहण हुई है फिर यहाँ वृत्तिग्रहण अनुवादार्थक है विधेयार्थक नहीं अनुवाद निरर्थक नहीं किन्तु विशेष विधान के लिये है निद्रा के वृत्तित्व में विद्वानों का विवाद है अतः यहाँ वृत्तित्व का विधान है प्रकृत अनुवादार्थक वृत्तिपद यहाँ अनुवर्तमान भी विधायक नहीं हो सकता इसलिये फिर वृत्तिग्रहण है। जागर स्वप्न वृत्तियों का अभाव उसका प्रत्यय कारण बुद्धि के सत्त्वगुणका आच्छादक तम वही आलम्बन है विषय जिसकी वही वृत्ति निद्रा है त्रिगुण बुद्धि सत्त्व में जब सत्त्वरजस्तम को अभिनव कर संपूर्ण कारण इन्द्रियों के आवरक तम आविर्भूत होता है तब बुद्धि के विषयाकार परिणाम के अभाव से प्रादुर्भूत तमोमयी बुद्धि का अनुभव करता हुआ पुरुष सुपुप्त अतएव अन्तःसंज्ञ कहाता है।

द्रष्टव्यौ । अतएव तार्किकादीनां मतभेदाः । विपर्ययः-मिथ्याज्ञानम् । तस्य पञ्च भेदाः-अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः, त एव च क्लेशाः । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽवभासो विकल्पः-

योगी मानते हैं, अन्तर्भाव बहिर्भावसे संख्याभेद है उपमानका अनुमानमें, अर्थापत्तिका केवलव्यतिरेकी अनुमानमें, अभावका प्रत्यक्षमें, अन्तर्भाव माननेसे उक्त तीन प्रमाण हैं। बहिर्भाव मानने से वैदिक मीमांसक वेदान्ती छै प्रमाण मानते हैं, फलमें विशेष नहीं इसीसे तार्किक नैयायिक वैशेषिक के मतभेद हैं। नैयायिक

प्रश्न—क्यों नहीं निरोध कैवल्यदशा के समान वृत्त्यभाव ही निद्रा में नहीं मानते ?

उत्तर—सुप्तोत्थित पुरुष उत्पत्ति के साथ निद्राका स्मरण करता है 'सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषमि'त्यादि में सुख से सोया कुछ भी नहीं जाना कि कहाँ है क्या करना है इत्यादि जब सत्त्वसहकृत तम आविर्भूत होता है तब सुप्तोत्थित को ऐसा स्मरण होता है मैं सुख पूर्वक् सोया मेरा मन प्रसन्न है बुद्धि को विशद करता है। और जब रजःसहकृत तमका आविर्भाव होता है तव इस प्रकार का स्मरण होता है दुःख से सोया गर्मी मच्छर आदि से निद्रा कठिन से कुछ हुई मेरा मन कुण्ठित है कोई कार्य करना नहीं चाहता अकर्मण्य है ममता है इत्यादि जब सत्त्व और रजका अत्यन्त अभिभव कर तम उपचित होता है कि गाठमूठ मैं था मेरे शरीर के सब अवयव भारी मालूम पड़ते है बहुत श्रान्त मन है आलस्य से भरा है चुराया हुआ प्रतीत होता है यदि उस समय अनुभव न होता तो उक्त स्मरण नहीं हो सकता स्मरणमें संस्कारद्वारा अनुभव कारण है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान विशेष ही निद्रा है।

प्रश्न—व्युत्थान चित्त के अधिकारी प्रमाणादि वृत्तियों का विरोध हों क्योंकि वे चित्तैकाग्रचरूप समाधि के प्रतिकूल है निद्रा तो एकाग्रबुद्धि के सदृश है जैसे समाधिमें चित्त विक्षेप नहीं होता एक विषयक ही चित्त रहता है वैसे ही निद्रा में भी अतः यह समाधि के अनुकूल ही है प्रतिकूल नहीं फिर इसका निरोध क्यों ?

उत्तर—एकाग्र तुल्य होने पर भीं वह तामस होने से समाधि के प्रतिकूल अतएव निरोधार्ह है।

स्मृतिका लक्षण

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः । प्रमाणादिकों से अनुभूत विषय में जो असंप्रमोष-अचौर्य वह स्मरण है। संस्कारमात्रजन्य जो ज्ञान तत्कारण जो संस्कारकारणीभूत जो अनुभव उससे भासित जो अर्थ स्मरण का अपना है उसमें अधिक का ग्रहण करना चौर्य है पराये का ग्रहण चोरी है स्मरण चोर नहीं है अपने ही विषयमात्रका ग्रहण नहीं 'मुष स्तेये' इस धातु से सम्पूर्वक से घञ् करने से संप्रमोष बनता है पर स्मरण पूर्वानुभव मर्यादा का अतिक्रम नहीं करता अर्थात् अनुभूत ही का ज्ञापक होता है इतर का नहीं अनुभूत से कदाचित् न्यून का ज्ञापक हो जाता है यदंश में संस्कार अनुद्बुद्ध वा अनुत्पन्न किम्वा प्रतिरुद्ध हुआ उसका स्मरण नहीं होता अर्थात् अपना छोड़ देता है पर परायेका ग्रहण नहीं करता। वृत्त्यन्तर से स्मृति में यह विशेष है। संशय करते हैं—क्या चित्त ज्ञान का स्मरण करता है वा ग्राह्य विषय का ? किं प्रत्ययस्य—चित्तमित्यादि से। प्रत्ययस्य विषयस्येत्यादि में 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' से कर्म में षष्ठी है स्मृति विषयज्ञानोभयविषयक होती है क्योंकि उभयविषयक स्मरण में उभयविषयक संस्कार कारण है सो युक्ततम हैं।

प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारः-शशविषाणमसत्, पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिः । अभावप्रत्यया-लम्बना वृत्तिर्निद्रा, चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः-कारणं तमोगुणः,तदालम्बना वृत्तिरेव निद्रा, न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमित्यर्थः ।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः प्रत्ययः स्मृतिः । पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः । तस्य सर्ववृत्तिजन्यत्वादन्ते कथनम् । लज्जादिवृत्तीनामपि पंञ्चस्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । एतादृशाम्

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द ४ प्रमाण मानते हैं, वैशेषिक शब्द उपमानको शब्दमें अन्तर्भाव कर दो २ ही प्रमाण मानते हैं। विपर्यय मिथ्याज्ञान है उनका पांच भेद है अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये ही क्लेश हैं 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽवभासो विकल्पः' यह ज्ञान भ्रम प्रमासे विलक्षण है इसमें अत्यन्त असत् अर्थका व्यवहार होता है। भ्रममें अन्यत्र विद्यमान पूर्वदृष्टका भान होता है अथवा अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजतादिका इसमें अत्यन्त अप्रसिद्ध अतएव अदृष्टपूर्व अत्यन्तासत्का व्यवहार होता हैं—यथा शशविषाणं, पुरुषस्य चैतन्यमि'त्यादि। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' चारों वृत्तियोंके अभावका कारण तमोगुण है। तदाश्रया वृत्ति निद्रा है ज्ञानाभावमात्र नहीं।

अनुभूतविषयासंप्रमोष स्मृति है, पूर्वानुभवसंस्कारजन्य ज्ञान यह स्पष्ट है। प्रत्यक्षानुमानादि सकल-वृत्तिजन्य होने से स्मरण का सब वृत्तियोंके अन्त में निर्देश किया है। लज्जा आदि वृत्तियों का उक्त पञ्चक में अन्तर्भाव है। इन सब वृत्तियों के निरोध योग और समाधि इन शब्दों से व्यवहृत होता है। फल संकल्प भी रागाख्य-रागनामक तीसरा विपर्यय विशेष है तदीय निरोधमात्र भी गौणी वृत्ति से योग और संन्यास से कहा जाता है। रागाख्य-वृत्ति यदि पृथक होती तो पाँच ही मनोवृत्तियाँ हैं इस कथन से विरोध होता है।

प्रश्न —घटमात्र का 'अयं घटः' यह अनुभव है अनुभवविषयक यह नहीं हैं अतः तज्जन्य विषयमात्रका संस्कार होगा उससे विषय का ही स्मरण होगा ज्ञान का नहीं ?

उत्तर—'ग्राह्योपरक्ते'त्यादि। 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय में केवल ज्ञान का भान नहीं हैं किन्तु विषय घटपटादि विशिष्ट ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक अनुभव है अतः तज्जन्य संस्कार उभयविषयक होने से ज्ञानविषयोभयविषयक स्मरण होता है।

प्रश्न — व्यवसायरूप वृत्ति को स्वप्रकाश मानकर तज्जन्योभयविषयक संस्कार हो सकता है अनुव्यवसायपर्यंन्तानु-सरण व्यर्थ है ?

उत्तर—कर्म कर्तृ विरोध से व्यवसाय अपना अनुभव नहीं कर सकता अननुभूत का संस्कार नहीं होता अतः अनुव्यवसाय आवश्यक है अधिक योगभाष्यादि में देखिये।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

वैराग्यरूपी योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छा रखनेवाला भविष्य कर्मके फलका त्याग करनेवाला मुनिसे भगवदर्पणबुद्धि पूर्वक किया गया नित्यकर्मादि योगके साधन हैं। वैराग्यरूपी योगको प्राप्त किये हुए उस मुनिको सर्वकर्मका त्याग ही साधन है ॥ ३ ॥

सर्वासां चित्तवृत्तीनां निरोधः, योग इति च, समाधिरिति च कथ्यते। फलसङ्कल्पस्तु रागाख्यस्तृतीयो विपर्ययभेदः, तन्निरोधमात्रमपि गौण्या वृत्त्या योग इति, संन्यास इति चोच्यते इति न विरोधः ॥ २ ॥

तत् किं प्रशस्तत्वात् कर्मयोग एव यावज्जीवमनुष्ठेय इति, नेत्याह—'आरुरुक्षोरि'ति। योगम्-अन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यमारुरुक्षोः-आरोढुमिच्छोः, न त्वारूढस्य मुनेः भविष्यतः कर्मफलतृष्णात्यागिनः। कर्म-शास्त्रविहितमग्निहोत्रादि नित्यं भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कारणम्-योगारोहणे साधनमनुष्ठेयमुच्यते वेदमुखेन मया। योगारूढस्य-योगम्-अन्तःकरणशुद्धिरूपम् वैराग्यं प्राप्तवतस्तु तस्यैव पूर्वं कर्मिणोऽपि सतः शमः—सर्वकर्मसंन्यास एव कारणम्-अनुष्ठेयतया ज्ञानपरिपाकसाधनमुच्यते ॥ ३ ॥

यदि इसका विपर्यय में अन्तर्भाव हो जाता तो पाँच प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं यह कहना अटल रहता है जिसको वेदों ने संन्यास कहा है हे पाण्डव ! उसको कर्मयोग समझो यह कथन कर्मयोग और संन्यास के अभेदाभिप्राय से नहीं हैं किन्तु माणवक में सिंहशब्द प्रयोग के समान निष्काम कर्म में संन्यास शब्द का प्रयोग उक्त कर्म प्राशस्त्य सूचनार्थ है ॥ २ ॥

तो क्या कर्मयोग प्रशस्त है इसलिए यावज्जीवन इसी का अनुष्ठान करना चाहिए ? नहीं, योग-अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य आरुरुक्षु के लिए है तदारूढ़ के लिए नहीं। भाविमुनि जो कर्मफल तृष्णा त्यागी हैं शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म भगवदर्पणबुद्धि से किया है वही योगारोहण में हेतु है। वेद द्वारा उसी को मैंने अनुष्ठेय कहा है अन्तःकरणशुद्धि योगाख्य वैराग्यारूढ़ हो गया है अर्थात् इस वैराग्य को प्राप्त कर चुका है उसी उक्त कृतकर्मा को शम सर्वकर्मसन्यास ही ज्ञान परिपाक का मोक्षाभिव्यक्ति का साधन है उसी का अनुष्ठान युक्त है यही मैंने कहा है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

जिस समाधिकाल में इन्द्रियार्थं अर्थात् रूप रसादि विषयों में तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों में आसक्त नहीं होता है उस काल में सभी मनोवृत्तियों का परित्याग करने वाला वह योगारूढ़ कहलाता है ।४।

विवेक युक्त मन से आत्मा (जीव) का उद्धार कर अर्थात् योगारूढ़ बनावें । न कि विषयासक्ति से उसको संसार समुद्र में डुबावे । मन ही आत्मा का बन्धु और मन ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥

कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते—'यदा ही'ति । यदा-यस्मिन् चित्तसमाधानकाले इन्द्रियार्थेषु-शब्दादिषु कर्मसु च नित्य-नैमित्तिक-काम्य-लौकिक-प्रतिषिद्धेषु नानुषज्यते, तेषाम् मिथ्यात्वदर्शनेनात्मनोऽकर्त्रं भोक्तृपरमानन्दाद्वयस्वरूपदर्शनेन च प्रयोजनाभावबुद्धयाऽहमेतेषाम् कर्ता, ममैते भोग्या इत्यभिनिवेशरूपमनुषङ्गं न करोति । हि-यस्मात्, तस्मात् सर्वसंकल्प-सन्यासी सर्वेषां सङ्कल्पानामिदं मया कर्तव्यम्, एतत्फलं मोक्तव्यमेत्येवंरूपाणां मनोवृत्ति-विशेषाणाम्, तद्विषयाणां च कामानाम्, तत्साधनानाञ्च कर्मणां त्यागशीलः, तदा शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य, तद्धेतोश्च सङ्कल्पस्य योगारोहणप्रतिबन्धकस्याभावात् योगम्-समाधिमारूढः योगारूढ इत्युच्यते ॥ ४ ॥

कब योगारूढ़ होता है यह कहते हैं—'यदेति' से । जिस चित्तसमाधिकाल में इन्द्रियार्थं शब्द स्पर्शादि में तथा नित्य नैमित्तिक काम्य लौकिक प्रतिषिद्धों कर्मों में अनुरक्त न हो कारण उनमें दृढ़ मिथ्यात्व निश्चय होने से तथा आत्मा अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय है इस निश्चय से प्रयोजनाभाव बुद्धि के कारण मैं इनका कर्ता हूँ ये मेरे भोग्य हैं यह अभिनिवेश-आग्रहरूप अनुषङ्ग सम्बन्ध नहीं करता जिसमें सर्व संकल्प संन्यासी सब संकल्पों का यह मेरा कर्तव्य है यह मेरा भोक्तव्य है एवं भून मनोवृत्ति विशेषों का तथा तद्विषयों के कर्ताओं का और तत्साधन कर्मों का त्यागी होता है तब शब्दादि विषयों में तद्धेतु कर्मों में अनुषङ्ग तथा तत्कारण संकल्प वस्तुतः ये ही दोनों योगारोहण के प्रतिबन्धक हैं इनके अभाव से योग-समाधि में योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

विवेक युक्त मन से शरीर और इन्द्रियों को जिसने जीत लिया उस जीवात्मा का वही आत्मा अर्थात् मन बन्धु है। मन सहित इन्द्रियां और शरीर जिसका नहीं जीता गया है वह मन शत्रु की तरह शत्रुता में वर्ताव करता है ॥ ६ ॥

यो यदैवं योगरूढो भवति, तदा तेनात्मनैवात्मोद्धृतो भवति, संसारानर्थव्रातात्। अत आह–'उद्धरेदि'ति। आत्मना-विवेकयुक्तेन मनसा आत्मानम्-स्वं जीवं संसारसमुद्रे निमग्नं ततः उद्धरेत्-उत्-ऊर्ध्वं हरेत्। विषयासङ्गपरित्यागेन योगारूढतामापादयेदित्यर्थः। न तु विषयासङ्गे-नात्मानमवसादयेत्-संसारसमुद्रे मज्जयेत्। हि-यस्मादात्मैवात्मनो बन्धुः- हितकारी संसारबन्ध-नान्मोचनहेतुः, नान्यः कश्चित्। लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् आत्मैव। नान्यः कश्चित् रिपुः शत्रुः-अहितकारी विषयबन्धनागारप्रवेशात् कोशकार इवात्मनः-स्वस्य बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वाद्युक्तमवधारणम् 'आत्मैव रिपुरात्मनः'इति ॥ ५ ॥

जो जिस काल में योगारूढ होता है उसी काल में उसने सांसारिक दुःख समूह से अपने से अपना उद्धार कर लिया। यहाँ प्रथम आत्म शब्द विवेकयुक्त मनःपरक है द्वितीय आत्मशब्द जीव परक है विवेकी मन से संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए स्वस्वरूप जीव का उद्धार करे अन्तस्तल से ऊपर निकाले विषयों की आसक्ति को त्याग कर योगारूढ़ हो विषयासक्तिद्वार आत्मा का अवसाद समुद्र में डुबावे नहीं, क्योंकि आत्मा उक्त विवेक निष्ठ मन ही आत्म-जीव का परम हितकारी होने से वास्तविक बन्धु है अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त कराने का हेतु है दूसरा लौकिक बन्धु उक्त बन्धु से छुड़ा नहीं सकता अतः वह पारमार्थिक बन्धु नहीं प्रत्युत लौकिक बन्धु स्नेहादि द्वारा संसार बन्धन हेतु होने से तदाभास है तथा आत्मा ही, दूसरा कोई नहीं अहितकारी विषय बन्धन गृहप्रवेश द्वारा कोषकार–कीटविशेष के समान अपना जीव का शत्रु है।

प्रश्न—बाह्य भी शत्रु होते हैं फिर आत्मा ही यह अवधारण कैसे संगत हो सकता है ?

उत्तर—बाह्य शत्रु भी मन ही से बनते हैं कोई जन्म से ही मनुष्य का मनुष्य शत्रु नहीं होता किन्तु विरोध से मित्र भी शत्रु बन जाता है विरोध विषयासक्ति द्वारा ही होता है यह प्रसिद्ध है। जिसका मन विषयासक्ति से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख हो जाय तो उसके बाह्य शत्रु कहाँ, अतः ठीक ही कहा बाह्य शत्रु भी मनः प्रयुक्त होते हैं अतः यह बहुत ठीक मन ही आत्मा का बन्धु है और मन ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीत और उष्ण सुख दुःख तथा मान और अपमान में समत्व बुद्धि से जो रागद्वेष शून्य है उसी का केवल आत्मा समाहित होता है अर्थात् योगारूढ़ होता है ॥ ७ ॥

इदानीं किंलक्षण आत्मा आत्मनो बन्धुः, किंलक्षणो वात्मनोंरिपुरित्युच्यते—'बन्धुरि'ति । आत्मा-कार्यकरणसंघातो येन जितः-स्ववशीकृतः आत्मनैव विवेकयुक्तेन मनसैव, न तु शस्त्रादिना । तस्यात्मा-स्वरूपम्-आत्मनो बन्धुः, उच्छृङ्खलप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकरणात् । अनात्मनस्तु-अजितात्मन इत्येतत् । शत्रुत्वे-शत्रुभावे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् बाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खलप्रवृत्त्या स्वस्य स्वेनानिष्टाचरणात् ॥ ६ ॥

जितात्मनः स्वबन्धुत्वं विवृणोति—'जितात्मनः' इति । शीतोष्ण-सुखदुःखेषु चित्तविक्षेपकरेषु सत्स्वपि, तथा मानापमानयोः-पूजा-परिभवयोश्चित्तविक्षेपहेत्वोः सतोरपि तेषु समत्वेनेति वा । जितात्मनः-प्रागुक्तस्य जितेन्द्रियस्य प्रशान्तस्य सर्वत्र समबुद्धचा रागद्वेषशून्यस्य परमात्मा-स्वप्रकाशज्ञानस्वभावः आत्मा समाहितः-समाधिविषयो योगारूढो भवति । परमिति-

इस समय कीदृश आत्मा-मन आत्मा-जीव का बन्धु है कीदृश आत्मा आत्मा का शत्रु है। ज्ञापक चिह्न को लक्षण कहते हैं यथा उष्णस्पर्श अग्नि का लक्षण है तथा प्रकृत में किस लक्षण से मन बन्धु या शत्रु समझा जाता है, इस पर 'बन्धुरि'यादि से उत्तर देते हैं। आत्मा-कार्य-शरीर करण-इन्द्रियां एतदुभयात्मक संघात जिसने अपने वश मे कर लिया विवेकी मन से ही शस्त्रादि से नहीं मन ही विवेकशील स्वयं उक्त संघात को जीत लिया है वही आत्मा, आत्मा—जीव का बन्धु है क्योंकि निर्मर्याद प्रवृत्तिकर न होने से जीव का हितकारी है जो जितेन्द्रिय है वही मन बन्धु है जो मन उक्त संघात की विजयी नहीं है वह मन अजितात्मा है उन अजितात्मा मन में शत्रुभाव शत्रुत्व का व्यवहार अर्थात् बाह्य शत्रुवद्व्यवहार करेगा बाह्य शत्रु, जैसे उच्छृङ्खलप्रवृत्ति से अनिष्ट करता है वैसे यह मन अपने से ही अपना अनिष्टकारी है ॥ ६ ॥

जितात्मा स्वविजित मन बन्धु है इसी का विवरण करते हैं—चित्त के विक्षेप - चंचल करने वाले शीतोष्ण सुखादि रहने पर भी तथा चित्त विक्षेप कर मान-अपमान आदर अनादर होने पर भी उनमें सम बुद्धि जितात्मा को होता है जितेन्द्रिय अतः प्रशान्तात्मा सब विषयों में सम बुद्धि होने से राग द्वेष शून्य होकर परमात्मा स्वप्रकाश ज्ञान स्वभाव समाहित समाधि विषय होता है अर्थात् वही योगारूढ़ होता है

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला विकार रहित एवं अच्छी तरह इन्द्रियों को जीतने वाला तथा मिट्टी पत्थर सोना में समान बुद्धि वाला योगी, युक्त अर्थात् भगवान की प्राप्ति वाला ऐसा कहा जाता है ।८।

वा छेदः । जितात्मनः प्रशान्तस्यैव परम्-केवलमात्मा समाहितो भवति, नान्यस्य । तस्माज्जितात्मा प्रशान्तश्च भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

किंच 'ज्ञाने'ति । ज्ञानम्-शास्त्रोक्तानां पदार्थानामौपदेशिकं ज्ञानम्, विज्ञानम्-तदप्रामाण्यशङ्कानिराकरणफलेन विचारेण तथैव तेषां स्वानुभवेनापरोक्षीकरणम् । ताभ्याम् तृप्तः-संजातालम्प्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य सः, तथा कूटस्थः विषयसन्निधावपि विकारशून्यः, अत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तितानीन्द्रियाणि येन सः, अत एव हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि मृत्पिण्डपाषाणकाञ्चनानि यस्य सः । योगी-परमहंसपरिव्राजकः परवैराग्ययुक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ८ ॥

अथवा परमात्मा इति छेदः । परम्-आत्मा शुद्ध तत्पदार्थं समाहित साक्षादात्मस्वरूप प्रतीत होता है वही जीवन्मुक्त होता है जिसने कार्य करण संघातरूप आत्मा को जीत लिया है उसी का केवल आत्मा समाहित है दूसरे का नहीं अतः जितात्मा और प्रशान्त होना चाहिए॥ ७॥

और भी सुनिये ज्ञान शास्त्रीय पदार्थोंका गुरूपदेशपूर्वक परोक्ष शाब्दबोधात्मक ज्ञान इससे अप्रामाण्य-शंका निराकरणार्थं स्वयं विचार करना । विचार का फल है संशय निवृत्ति इसके होने पर उपदिष्टार्थ में प्रामाण्य ग्रहण होता है इससे जैसा सुना है वैसे ही अपने अनुभव से प्रत्यक्ष करना । उपदेश और प्रत्यक्ष इन दोनों ज्ञान विज्ञानों से तृप्त अब इस विषय का पूरा परिज्ञान हो चुका है इसमें कुछ विचारणीय विषय नहीं है संजातालंप्रत्यय का यही भाव है । संजात-समुत्पन्न अलं प्रत्यय - पूर्णज्ञान तद्विषय में जिस मन में ईदृश चित्त है जिसका वही संजातालंप्रत्यय पुरुष है इस विषय का पूर्ण विचार हो चुका है यही तत्त्व है। अब यहां कुछ विचारणीय अंश नहीं रह गया है वह कूटस्थ अविकारशील शब्दादि विषयसमीप में रहने पर भी तत्प्रयुक्त विकारशून्य अतएव इन्द्रियविजयी अर्थात् इष्टानिष्टों से रागद्वेष पुरस्सर इन्द्रियों को जिसने पृथक् कर लिया है यह पुरुष हेयोपदेय बुद्धि रहित होने से तुल्य हैं। मिट्टी का टुकड़ा पत्थर का रोड़ा सुवर्ण का खण्ड बराबर है जिसको वह योगी परमहंस परिव्राजक परमवैराग्ययुक्त योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

स्वार्थ रहित सबका उपकार करनेवाला सुहृत्, एवं स्नेह से उपकार करने वाला मित्र, शत्रु उदासीन मध्यस्थ द्वेषी बन्धुओं में साधुओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला पुरुष अति-श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धिस्तु सर्वयोगिश्रेष्ठ इत्याह—'सुहृन्मित्रे'ति । सुहृत्-प्रत्युपकार-मनपेक्ष्य पूर्वस्नेहम्, संबन्धं च विनैवोपकर्ता, मित्रम्-स्नेहेनोपकारकः अरिः-कृतोपकारमनपेक्ष्य स्वभावक्रौर्येणापकर्ता, उदासीनः-विवदमानाविवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः । मध्यस्थः-विवद-मानयोरुभयोरपि हितैषी । द्वेष्यः-स्वकृतापकारमपेक्ष्यापकर्ता । बन्धुः-संबन्धेनोपकर्ता एतेषु साधुषु-शास्त्रविहितकारिषु, पापेषु-शास्त्रप्रतिषिद्धकारिष्वपि, चकारादन्येषु च सर्वेषु, समबुद्धिः-कः कीदृक्कर्मेत्यव्यापृतबुद्धिः सर्वत्र रागद्वेषशून्यः विशिष्यते-सर्वत उत्कृष्टो भवति । 'विमुच्यते' इति वा पाठः ॥ ९ ॥

सुहृन्मित्रादि में समबुद्धि तो सब योगियों में श्रेष्ठ है यह कहते हैं—'सुहृदि'त्यादि से । बदले में मेरा भी समयपर उपकार करेगा इसकी अपेक्षा न करें और पूर्व के प्रेम तथा सम्बन्ध के विना जो उपकार करता है वह सुहृत् हैं । स्नेह से जो उपकार करता है वह मित्र है । पूर्व किये अपकार की अपेक्षा न कर अर्थात् उसका पूर्व में कुछ भी अपकार नहीं किया गया है फिर भी क्रूरस्वभाव से अपकारकर्त अरि कहाता है । (उदासीन) झगड़ेवाले दोनों की उपेक्षा करने वाला दोनों में किसी का पक्षपाती नहीं, दोनों का हितैषी वह मध्यस्थ है ।

द्वेष्य—स्वकृत अपने अपकार की अपेक्षा कर बदला चुकाने की बुद्धि से अपकारकर्ता ।

बन्धु—सम्बन्धनिमित्तक उपकारकारी । इनमें तथा शास्त्रविहित कर्म करने वाले साधुओं में शास्त्रप्रतिषिद्धकर्मकारी पापियों में, चकार से अन्य सब पुरुषों में समबुद्धि कौन क्या करता है इस अनुसन्धान से रहित सब में रागद्वेषशून्य विशिष्यते—सबसे उत्कृष्ट होता । 'विमुच्यते' यह भी पाठ है तो वह संसार-बन्धन से विमुक्त होता है ॥ ९ ॥

योगो युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

शरीर सहित इन्द्रियों को जीतने वाला तृष्णा रहित परिग्रह (संग्रह) रहित, योगी एकान्त में रहकर अकेले आत्मा (चित्त) को निरन्तर समाधि में लगावें ॥ १० ॥

एवं योगारूढस्य लक्षणम्, फलं चोक्त्वा, तस्य साङ्गं योगं विधत्ते—'योगी'त्यादिभिः 'स योगी परमो मतः' इत्यन्तैस्त्रयोविंशत्या श्लोकैः । तत्र एवमुत्तमफलप्राप्तये योगी—योगारूढः आत्मानम्-चित्तं सततं-निरन्तरं युञ्जीत-क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्तभूमिपरित्यागेनैकाग्रनिरोधभूम्यां समाहितम् कुर्यात् । रहसि-गिरिगुहादौ योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिवर्जिते देशे स्थितः एकाकी-त्यक्तसर्वगृह-परिजनः संन्यासी चित्तम्-अन्तःकरणम्-आत्मा देहश्च संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापारशून्यौ यस्य, सः-यतचित्तात्मा । यतो निराशीः-वैराग्यदार्ढ्येन विगततृष्णः । अतएव चापरिग्रहः-शास्त्रा-भ्यनुज्ञातेनापि योगप्रतिबन्धकेन परिग्रहेण शून्यः ॥ १० ॥

इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण तथा फल कहकर उसको साङ्गयोग का विधान करते हैं—'योगी-त्यादि' से । 'स योगी परमो मतः' इत्यन्त तेईस २३ श्लोकों से । उत्तमफलप्राप्ति के लिये योगी-योगारूढ़, आत्मा चित्त, आत्मशब्द यहाँ चित्तपरक है सतत अनवरत (लगातार) योग करे, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त भूमि से चित्त को हटाकर एकाग्र निरुद्ध भूमि से युक्त करे । एकान्त में निर्जनप्रदेश में पर्वत की गुफादि में योग प्रतिबन्धक दुर्जनादिशून्य प्रदेश में रहकर अकेला सब का त्याग कर संन्यासी होकर चित्त अन्तःकरण, आत्मा देह ये दोनों संयत योगप्रतिबन्धक व्यापार शून्य हैं जिसके वही यत चित्तात्मा है जिससे निराशी पर वैराग्य की दृढ़ता से विगत तृष्ण सब विषय की कामना से रहित इसी से अपरिग्रह सिद्ध होता है ।

शंका—अपरिग्रह कहने का क्या भाव है ?

उत्तर—अनेक झोला पुस्तकादि परिग्रहशून्य हो समयान्तरोपयोगिविषयों का संग्रही न हो तात्कालिक अत्यावश्यक वस्तु मात्र का संग्रह निश्चित नहीं है शास्त्र सम्मत भी योग प्रतिबन्धक परिग्रह शून्य हो यद्यपि अनेक कन्था पुस्तकादि का परिग्रह शास्त्र से अभ्यनुज्ञात है तथापि चित्त विक्षेपकर होने से एकाग्रता में प्रतिबन्धक है अतः उनका त्याग ही श्रेयान् है ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

पवित्र स्थान में क्रम से कुश व्याघ्रचर्म या मृगचर्म और मृदुवस्त्र वाला न अति ऊंचा न अति नीचा अपने आसन को स्थिर प्रतिष्ठित करके ॥ ११ ॥

तत्रासननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्यां 'शुचौ देशे'इत्यदिना । शुचौ देशे शुचौ-स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धे जनसमुदायरहिते निर्भये गङ्गातटगुहादौ देशे समे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् निश्चलं नात्युंच्छ्रितम्'-नात्युचं नाप्यतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलम्-मृदुवस्त्रम् अजिनम्-मृदु व्याघ्रादिचर्म च कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन् तद् । आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं कुशमयबृस्युपरि मृदुचर्म, तदुपरि मृदुवस्त्ररूपमित्यर्थः । तथा चाह भगवान्—पतञ्जलिः 'स्थिरसुखमासनमि'ति । आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थम्, तस्यापि परेच्छानियमाभावेन योगविक्षेपकरत्वात् ॥ ११ ॥

योग करे यह कहाँ कहां पर कैसे करे ऐसी आकाङ्क्षा होने पर तदङ्ग आसनादि नियम को कहते हैं—'शुचो देशे' इत्यादि दो श्लोकों से । आसन नियम दिखलाते हैं और कहते हैं—शुचिता दो प्रकार की होती हैं स्वतः स्वभावतः अथवा परिमार्जनादि से, दोनों में कोई भी हो पवित्र देश में जन ससुदाय रहित निर्भय हिंस्रजन्तु से शून्य गंगातट गिरि गुहादि देश में सम स्थान में ऊंचा नीचा स्थान न हो समतल हो उसमें स्थिर निश्चल न अति ऊंचा और न अति नीचा हो 'चैलाजिनकुशोत्तर आसन रखे, चैल-कोमल-वस्त्र, अजिन कोमल व्याघ्रादि चर्म, ये दोनों कुशासन के ऊपर रहे 'उपरि उपरि आस्यते अस्मिन्' इति आसनम् कुशासन के ऊपर व्याघ्र चर्मासन, उसके ऊपर मृदु वस्त्रासन होना चाहिये । 'चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरोत्तरे यस्मिन्' इस विग्रह से पूर्व चैलासन तदुपरि व्याघ्र चर्मासन तदुपरि कुशासन रखना ऐसा प्रतीत होता है पर इस प्रकार का. आसन सुखद नहीं हो सकता इसलिए ते वस्त्राजिने कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन् यह विग्रह पूर्वोक्त समीचीनार्थ लाभ के लिए मूलकार ने दिखलाया है । स्वोक्त समास से लब्ध अर्थ को स्फुट करते हैं—'कुशमयेत्यादि' से । यही योगसूत्रकार भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'स्थिर-सुखमासनम्' इति । अपना आसन हो आसन में अपना विशेषण पराये आसन की व्यावृत्ति के लिए है । दूसरे की इच्छा नियत नहीं हो सकती न जाने कब कहें कि मेरा आसन दे दो यह सन्देश चित्त विक्षेपकर होने से योग में प्रतिबन्धक है इसलिए ठीक कहा अपना ही आसन ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वशीभूत करने वाला अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे ॥ १२ ॥

एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यादिति ? तत्राह 'तत्रे'ति। तत्र तस्मिन्नासने उपविश्यैव, न तु शयानस्तिष्ठन्वा, 'आसीनः संभवादि ४-१-७ ति न्यायात्। यताः-संयता-उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणाम् क्रिया वृत्तयो:-येन संयतचित्तेन्द्रियक्रियः सन् योगम्-समाधिं युञ्जीत-अभ्यसेत् । किमर्थम् ? आत्म-विशुद्धये-आत्मनः-अन्तऽकरणस्य सर्वविक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै, "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरि"ति श्रुतेः । किं कृत्वा योगमभ्यसेदिति ? तत्राह 'एकाग्रमि'ति । एकाग्रम्-राजस-तामसव्युत्थानाख्यप्रागुक्तभूमित्रयपरित्यागेनैकविषयक-धारावाहिकानेकवृत्तियुक्तमुद्रिक्तसत्त्वं मनः कृत्वा दृढभूमिकेन प्रयत्नेन संपाद्य एकाग्रताविवृद्धयर्थम् योगम् संप्रज्ञातसमाधिमभ्यसेत् । स च ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाह एव निदिध्यासनाख्यः ।

इस प्रकार आसन बिछाकर क्या करना चाहिए इसमें कहते हैं—वह उस आसन पर बैठकर ही करना चाहिए सो कर या खड़ा होकर नहीं। बैठकर ही उपासना का होना सम्भव है यह न्याय है। सम्भवतः बैठना स्वतः प्राप्त है उसी का अनुवाद 'आसीनः' है विधि नहीं। संयत-सम्यक् नियन्त्रित है स्व स्व विषय ग्रहण व्यावृत्त है चित्त और इन्द्रियों की वृत्तियाँ जिसकी वह यतचित्तेन्द्रिय क्रिय होकर योग समाधि करे उसका अभ्यास पुनः पुनः आवर्तन करे।

प्रश्न—क्यों ऐसा करे ?

उत्तर—आत्मा की शुद्धि के लिए, आत्मा अन्तःकरण सब विक्षेपों से रहित होने से अति सूक्ष्म चित्त होगा अतः उसमें ब्रह्मसाक्षात्कार करने की योग्यता उत्पन्न होगी तदर्थ समाधि आवश्यक है इसमें 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

प्रश्न—क्या करके योगाभ्यास करे ?

उत्तर—एकाग्र मन कर राजस तामस व्युत्थान नामक पूर्वोक्त भूमित्रय का परित्याग कर एक विषयक धारावाहिक अनेक वृत्तियुक्त अतएव उपचित सत्त्व मन करके जिस विषय की वृत्ति लगातार होती रहे विषयान्तरकी वृत्ति न हो यही योग का अभ्यास है। दृढ़ भूमिक प्रयत्न से तथाभूत मन का सम्पादन कर एकाग्रता बढ़ाने के लिए 'संप्रज्ञात' नामक समाधि का अभ्यास करे। यही संप्रज्ञात समाधि ब्रह्माकार मनोवृत्तिधारा ही निदिध्यासन कहाता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

शरीर का मध्यभाग, शिर और ग्रीवा (गर्दन) को सीधा और कम्प रहित धारण करते हुए दृढ़ प्रयत्न योगी अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर और दिशाओं को न देखते हुये ॥ १३ ॥

तदुक्तम्—'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यसप्रकर्षतः ॥'

एतदेवाभिप्रेत्य ध्यानाभ्यासप्रकर्षं विदधे भगवान् 'योगी युञ्जीत सततम्,, युञ्ज्याद्योग-मात्मविशुद्धये, 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि बहुकृत्वः ॥ १२ ॥

तदर्थं बाह्यमासनमुक्त्वा, अधुना तत्र कथं शरीरधारणमित्युच्यते 'समम्'ति। कायः-शरीरमध्यन् स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धान्त-पर्यन्तं समम्-अवक्रं अचलम्-अकम्पं धारयन्नेकतत्त्वाभ्यासेन विक्षेपसहभाव्यंगमेजयत्वाभावम्

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥' इति ॥

इसी के अनुरोध से ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष का भगवान् ने विधान किया है 'योगी युञ्जीत सततम्' इत्यादि वाक्य से अनेकवार ॥ १२ ॥

योगार्थं बाह्य आसन कह कर इस समय आसन पर कैसे शरीर धारण करे यह कहते हैं—कायः—शरीरमध्य वह और शिर, ग्रीवा, कण्ठ ये काय शिरोग्रीव ये प्राण्यङ्ग होने से द्वन्द्वैकवद्भाव है। मूलाधार से लेकर मूर्द्धान्त पर्यन्त को सम सीधा कर टेढ़ा न कर अचल-कम्प रहित धारण करते हुए एक तत्त्व के ही अभ्यास से विक्षेप के साथ होने वाले अङ्गमेजयत्व शरीर कम्पादि के अभाव का सम्पादन करते हुए दृढ़ प्रयत्न होकर अपने नासिका के अग्र भाग को देखकर ही लय विक्षेप राहित्य के लिए खुली आँख रखकर आँख मीचने पर निद्रा आ जायगी वह यदि स्वप्नात्मक होगी तो चित्त में विक्षेप होगा यदि सुषुप्त्यात्मक होगी तो चित्त का प्राण में लय हो जायगा ये दोनों योग विरोधी हैं अतःएतदभावार्थं आँख खुली रहना ही ठीक है। अथवा निमीलित नेत्र होने से निद्रा उससे चित्त का लय हो जायगा अतः नासिकाग्र देखने का विधान है 'अवलोकयन्नेव विक्षेप व्यावृत्त्यर्थं' दिशश्चानवलोकयन्' का विधान हैं। दिशाओं को देखकर नेत्र स्थित कोई भी वस्तु दीख पड़ने से विक्षेप आवश्यक हो जायगा अतः ठीक कहा कि दिशा को न देखना

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचर्य गुरुशुश्रूषा आदि में स्थित रहते हुए निर्भय तथा शान्त अन्तःकरण वाले होकर मन को विषयाकार वृत्ति से शून्य कर मेरे में चित्त लगाने वाले और मत्परायण होकर रहें ॥ १४ ॥

संपादयन् स्थिरः-दृढप्रयत्नो भूत्वा, किं च स्वम्-स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यैव लय-विक्षेपराहित्याय विषयप्रवृत्तिरहितोऽनिमीलितनेत्र* इत्यर्थः । दिशश्चानवलोकयन्-अन्तरान्तरा दिशां चावलोकनम् मकुर्वन्, योगप्रतिबन्धकत्वात्तस्य । एवंभूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ १३ ॥

'किंच' "प्रशान्तात्मे'ति । निदाननिवृत्तिरूपेण प्रकर्षेण शान्तः-रागादिदोषरहित आत्मा-अन्तःकरणं यस्य, स प्रशान्तात्मा । शास्त्रीयनिश्चयदार्ढ्याद्विगतभीः-सर्वकर्मपरित्यागे युक्तत्वायुक्तत्वशङ्का यस्य, स विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते-ब्रह्मचर्य-गुरुशुश्रूषा-भिक्षाभोजनादौ स्थितः सन् । मनः संयम्य-विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा मयि-परमेश्वरे प्रत्यक्चिति - सगुणे निर्गुणे वा चित्तं यस्य, स मच्चित्तो मद्विषयकधारावाहिकचित्तवृत्तिमान् । पुत्रादौ प्रिये चिन्तनीये सति कथमेवं स्यात्, अत आह—'मत्परः' इति । अहमेव परमानन्द-रूपत्वात्परः पुरुषार्थः प्रिया यस्य, स तथा । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्, प्रेयः वित्तात्, प्रेयः-

---

नासिकाग्र देखने से विषयान्तर की वृत्ति न हो एतदर्थं सकल तत्त्वाभ्यास में दृढ़ प्रयत्न कहा है मध्य-मध्य में दिशाओं को न देखना, दिग्दर्शन भी योगका प्रतिबन्धक है एवंभूत होकर आसन पर बैठे रहना उत्तर—श्लोकस्थ 'आसीत' क्रिया के साथ सम्बन्ध है* अर्धनिमीलितनेत्र क. पु. पाठ है ॥ १३ ॥

विशेषणान्तर भी कहते हैं—'किञ्च' से । निदान—राग—द्वेषादि तन्निवृत्ति से प्रशान्त है आत्मा जिसका, आत्मा—अन्तःकरण विवक्षित है । प्रशान्त आत्मामें रागद्वेषादिका सम्भव ही नहीं शास्त्रके निश्चय की दृढ़तासे विगत निवृत्त है भीः—भय जिसका सब कर्मोंके त्यागसे योग होगा कि नहीं इस शंकासे रहित अथवा सर्व कर्म परित्याग उचित है या नहीं इत्यादि शास्त्रीय सर्वकर्म परित्याग है अतः युक्त ही है इस निश्चयसे असंदिग्ध बुद्धि विगत भीः । ब्रह्मचारिव्रत-ब्रह्मचर्य गुरु शुश्रूषादि, भिक्षा, भोजन, स्नान, शौचादिके पालनमें स्थित होकर मन संयम कर विषयाकार वृत्तिसे रहितकर मयि—युक्त परमेश्वरमें स्वयं प्रकाशित चैतन्य, सगुण या निर्गुणमें चित्त है जिसका वह मच्चित्त, मद्विषयक निरन्तर चित्त वृत्तिमान् ।

प्रश्न—प्रिय पुत्रादि चिन्तनीय रहनेपर परमेश्वर ही में धारावाहिक चित्त वृत्ति कैसे हो सकती है ?

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

इस प्रकार मनको निरोधोन्मुख करता हुआ निरुद्ध मनोविकार वाला योगी मेरे में अवस्थित परमानन्द रूप मुक्तिपर्यंवसायिनी शान्ति को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

अन्यस्मात्सर्वस्मात्, अंतरतरं यदयमात्मे' बृ–उ० १·४·८ । ति श्रुतेः । एवं विषयाकारसर्ववृत्ति-निरोधेन भगवदेकाकारसर्ववृत्तियुक्तः-संप्रज्ञातसमाधिमान् आसीत-उपविशेद्यथाशक्ति । न तु स्वेच्छया व्युत्तिष्ठे दित्यर्थः । भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तः, न तु स्त्रियमेव परत्वेनाराध्यत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि राजानं वा देवं वा, अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च सर्वाराध्यत्वेन मामेव मन्यते' इति भाष्यकृतां व्याख्या ।

व्याख्यातृत्वेऽपि मे नात्र भाष्यकारेण तुल्यता ।
गुञ्जायाः किं नु हेम्नैकतुलारोहेऽपि तुल्यता ॥ १४ ॥

एवं संप्रज्ञातसमाधिनाऽऽसीनस्य किं स्यादित्युच्यते—'युञ्जन्नेवमि'ति । एवम्-

---

उत्तर—'मत्परः' में ही परमानद स्वरूप होनेसे पर सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ प्रिय हूँ जिसके वही 'मत्परः' है इस अर्थमें श्रुति प्रमाण कहते हैं–'तदेतत् प्रेयः पुत्रादि'त्यादि । इस प्रकार विषयाकार सब वृत्तियोंके निरोध-द्वारा भगवदाकार चित्तवृत्ति युक्त होता है । संप्रज्ञात समाधिमान् होकर आसन पर बैठा रहे जब तक वैसी बैठनेकी शक्ति रहे शक्ति सहित होकर स्वेच्छासे उपरत न हो शक्ति न रहनेपर व्युत्थान उचित ही है, ऐसा ही प्रकृत रागी स्त्रीचित्त होता है परन्तु फिर भी स्त्रीको ही परम आराध्य नहीं मानता है यह योगी तो 'मच्चित्तः मत्परः' होकर सर्वाराध्य मुझको ही मानता है यही भाष्यकारकी व्याख्या है ।

प्रश्न—भाष्यकार का तात्पर्य है कि मच्चित्तसे मत्परका लाभ हो ही जाता है फिर तदुपादानका क्या तात्पर्य ?

उत्तर—'यथा कश्चित् रागी' इत्यादि, स्त्रीचित्त होनेपर भी स्त्रीको ही आराध्य नहीं मानता इसलिए 'मत्परः' यह विशेषके प्रकाशनार्थं आवश्यक है । गीताका व्याख्यान भाष्यकारने किया है । मैं भी किया हूँ । दोनोंमें व्याख्यातृत्व धर्म रहनेपर भी भाष्यकार की समता मुझमें नहीं है जैसे गुञ्जा (घुंघुची) से सोना तौला जाता है यह तो लोक प्रसिद्ध है तौलनेके समय तुला (तराजू) में दोनों साथ ही चढ़ते हैं तो भी घुघुंची सोनाके समान कीमती नही होती यह भी प्रसिद्ध ही है ॥ १४ ॥

उक्त रीति से सम्प्रज्ञात समाधिस्थ होने पर क्या होगा यह कहते हैं—'युञ्जन्नेवमित्यादि' से ।

रहोऽवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेनात्मानम्-मनो युञ्जन्-अभ्यास-वैराग्याभ्यां समाहितं कुर्वन् योगी-सदा योगाभ्यासपरोऽभ्यासातिशयेन नियतम्-निरुद्धं मानसं-मनो येन, नियतोनिरुद्धा मानसाः मनोवृत्तिरूपा विकाराः येनेति वा, नियतमानसः सन् शान्तिम्-सर्ववृत्त्युपरतिरूपां प्रशान्त-वाहितां निर्वाणपरमाम्-तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिद्वारेण सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपां मुक्तिपर्यव-सायिनीं मत्संस्थाम्-मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति, न तु सांसारिकाण्यैश्वर्याणि

पूर्वोक्त नियम से आत्मा मन को योगशील करता हुआ अभ्यास वैराग्य से मन को निरोधोन्मुख करता हुआ योगी सदा योगानुष्ठान परायण अभ्यासातिशय से नियत—निरुद्ध है मानस मन जिससे अथवा नियत-निरुद्ध किया है मानस मनोवृत्तिरूप विकार जिससे यह भी अर्थ विवक्षित हो सकता है। 'स्वान्तं हृन्मानसम् मनः' इस कोश से मानस, मन, दोनों पर्यायवाची हैं यथेच्छ किसी का प्रयोग किया जाता है तो भी लाघवानुसार मन ही का प्रयोग प्रायः गीता में देखा जाता है। यहाँ पर उक्तार्थ लाभ के लिए लाघवन्याय की उपेक्षा कर मानस कहा गया है 'मनसि भवा मानसा विकाराः' इस व्युत्पत्ति के तात्पर्य से दूसरा अर्थ है। वस्तुतः विषयाकार वृत्यादिनिरोध ही मन का नियन्त्रण है वह नियत कहने से गतार्थ हो जाता है इसलिये उक्त व्युत्पत्तिप्रदर्शन अनावश्यक है अतः अनास्थासूचक वा शब्द का प्रयोग है, अतएव भाष्यकार ने मानस का विवरण मन ही किया है अन्य व्याख्याकारों ने मानस का मन ही अर्थ किया है। नियत-मानस होकर निखिलवृत्त्युपरतिरूप शान्ति तद्विषय वृत्तियाँ ही मन में अशान्ति है तदभावरूप ही उनकी शान्ति है इसको प्रशान्तवाहिता कहते हैं। राजस मानस वृत्तियों से अनभिभूत गृहीतविषयक सात्त्विक चित्तप्रवाहरूप निर्वाणम्-परमात्मतत्त्व साक्षात्कारोत्पत्तिद्वारा कार्य के साथ तत्कारणीभूत अविद्या निवृत्ति-रूप मुक्ति पर्यवसायी मत्संस्था मत्स्वरूप परमानन्दरूप निष्ठा को प्राप्त करता है। सांसारिक ऐश्वर्यों को जो अनात्मपदार्थ है तद्विषयक समाधि फल नहीं पाता। क्योंकि ये अपवर्ग मोक्षसाधनभूत समाधि के प्रतिबन्धक है। सर्ववृत्त्युपरमरूप शान्ति में ही ये सब विशेषण है 'निर्वाण परमा मोक्षफला' इसमें हेतु हैं तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वारा उक्त शान्तियुक्त चित्त में ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से कार्य-संसार इसके साथ अविद्या की निवृत्ति होती है, उपादान की निवृत्ति से उपादेय कार्य निवृत्त होता है। अविद्या का साक्षाद् विरोध है विद्या अविद्या की समूल तत्कार्यनिवृत्ति करती है अविद्यानिवृत्ति-अभाव अधिकरणस्वरूप माना जाता है एतदनुसार ब्रह्मस्वरूप ही अविद्या निवृत्ति है अतिरिक्त नहीं

अतएव—'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः'। यह वचन संगत होता है।

इस अभिप्राय से अविद्या निवृत्तिरूप मोक्ष पर्यवसायिनी कहा, उक्त शान्ति का अन्तिम फल मुक्ति है इसलिये मुक्ति पर्यवसायिनी ठीक ही है अविद्या निवृत्ति अभावस्वरूप होने से अपुरुषार्थ है इस

अनात्मविषयसमाधिफलान्यधिगच्छति, तेषामपवर्गोपयोगिसमाध्युपसर्गत्वात् । तथा च तत्तत्समाधिफलान्युक्त्वाह भगवान् पतञ्जलिः, 'ते समाधावुपसर्गाः, व्युत्थाने सिद्धयः' इति (१) स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादि'ति च । स्थानिनः-देवाः । तथाचोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तत्र सङ्गम्-आदरं स्मयम्-गर्वं चाऽकृत्वा देवानवज्ञाय पुनरनिष्टप्रसङ्गनिवारणाय निर्विकल्पकमेव समाधिमकरोदिति वसिष्ठेनोपाख्यायते ।

मुमुक्षुभिर्हेयश्च समाधिः सूत्रितः पतञ्जलिना (२) 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः' सम्यक् संशय-विपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते-प्रकर्षेण-विशेषरूपेण ज्ञायते

व्युत्थानकाल में सिद्धियां हैं। (२) स्थान्युपनिमन्त्रणेत्यादि यो० सू० । स्थानी देवता स्व स्व ऐश्वर्यों के ऊपर अधिकार करने के भय से उनके समाधि भङ्गार्थ योगियों को निमन्त्रण देते हैं जो उसको स्वीकार करते हैं वे परम पुरुषार्थ से वञ्चित हो जाते हैं जो नहीं स्वीकार करते वे परम पुरुषार्थ भागी होते हैं इसलिए योगसूत्रकार ने योगियों को सावधान करने के लिए कहा है—'स्थानिनः' इत्यादि । उद्दालक मुनि देवताओं से आमन्त्रित होने पर भी उसमें आदर तथा गर्व न कर देवतागणों की उपेक्षा-अनादर कर पुनः अनिष्टापत्तिप्रसङ्ग भय वारणार्थं निर्विकल्प समाधि ही की, यह योग वशिष्ठ का उपाख्यान है । मुमुक्षुओं को समाधि भी हेय है एतदर्थक सूत्र पतञ्जलि ने रचा है—'वितर्के'त्यादि । संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय निश्चयाभाव से रहित 'प्रज्ञायते' प्रकर्ष से विशेषरूप से ज्ञात होता है भाव्यरूप जिससे वह संप्रज्ञात मन्दाशंका की निवृत्ति के लिये मत्संस्था मत्स्वरूप परमानन्द मन्निष्ठाम्-मयि भगवति चिदानन्दरूपे निष्ठा स्थितिः मदभिन्नात्मक स्थिति को प्राप्त करता है यह भाव है ।

उक्त समाधि के प्रतिबन्धक अनात्म ऐश्वर्य हैं यह समाधि फल कहने के अनन्तर भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है—(१) ते समाधाविति । अर्थात् तत्तत् समाधि फल समाधि में प्रतिबन्धक है ।

१—आत्मविषयसंयम में प्रवृत्त योगी को आत्म संयम के प्रभाव से किसी समय इन अर्थान्तर सिद्धियों को प्राप्तकर अपने को कृतकृत्य समझ कर योग से विरत हो जायगा इसलिये परमकारुणिक सूत्रकार योगियों को सावधान करने के लिये कहते है—'ते समाधौ उपसर्गाः,व्युत्थाने सिद्धयः' अ० ३ सू० ३७ इति' । 'व्युत्थितचित्त' उनको सिद्धि मानता है—जैसे सुदामा के समान जन्मदरिद्र पुरुष दश पाँच रुपये को पाकर मानो खजाना पा गये ऐसा समझता है समाहितचित्त योगी को ये स्वयं प्राप्त सिद्धियाँ हेय है इनसे सदा विरत रहना चाहिये । आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखत्रय का आत्यन्तिक निवृत्तिरूप परमपुरुषार्थं मोक्षकाम वह योगी तद्विरोधि सिद्धियो में कैसे अनुरक्त होगा यह सूत्र भाष्य का अर्थ है ।

भाव्यस्वरूपं येन, स संप्रज्ञातः समाधिः-भावनाविशेषः। भावना हि भाव्यस्य विषयान्तर-परिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्। भाव्यं च त्रिविधं-ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृभेदात्। ग्राह्यमपि-द्विविधं स्थूल-सूक्ष्मभेदात्। तदुक्तं "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनतासमापत्तिः'। क्षीणा राजस-तामसवृत्तयो यस्य, तस्य चित्तस्य गृहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येष्वु-आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्था-तत्रैवैकाग्रता, तदञ्जनता-तन्मयता। न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानस्यै-वोत्कर्ष इति यावत्। तथाविधा समापत्तिः-तद्रूपः परिणामो भवति। यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाश्रयवशात्तत्तद्रूपापत्तिः, एवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भाव-

---

समाधि भावनाविशेष है, ध्येयस्वरूप का सविशेष दृढ़ निश्चय संप्रज्ञात समाधि से होता है, भावना को स्फुट करते हैं—'भावना हीत्यादि से। विषयान्तरवृत्ति निरासपूर्वक गृहीत ध्येयविषयक निरन्तर चित्तवृत्त्युत्पाद ध्यानापरपर्याय भावना है। भाव्य तीन प्रकार का है–ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता। स्थूल सूक्ष्म भेदसे ग्राह्य भी दो प्रकार का है यह योग सूत्र में कहा है—'क्षीणवृत्तेरि'त्यादि। क्षीण हैं राजस तामस वृत्तियां

---

(२)—'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' पा० ३ सू० ५१ कहीं 'स्थान्यु नियन्त्रणे' यह पाठ है दोनों का अर्थ देवा यही है। चार प्रकार के योगी होते हैं उनमें अभ्यासवान् प्रवृत्तमात्र जो है वह प्रथम है, 'ऋतंभरप्रज्ञ' दूसरा है, भूत और इन्द्रियों का विजयी ही तृतीय है अतिक्रान्त भावनीय चतुर्थ है। इनमें चौथा समाधि की सप्तविध प्रान्तभूमि की प्रज्ञा को प्राप्त हुआ है। मधुमतीसंज्ञक द्वितीयभूमिका साक्षात्कारि 'ऋतंभरप्रज्ञ' का निमन्त्रण स्वामी देवता करते हैं, दिव्यस्त्री वसनादिक से सत्कार करना चाहते हैं उसमें सङ्ग अभिलाष या स्मय आश्रयं या अहङ्कार योगी को नहीं करना चाहिये। सङ्गका दुष्परिणाम तो स्पष्ट ही है विषय सेवी होने से मुक्ति मार्ग ही से प्रच्युत हो जायगा। समय से समाधि में शिथिल प्रयत्न हो जायगा अपने को अहो! धन्य मैं हूँ ऐसा मानेगा देवता सत्कार कर रहे हैं इससे अधिक क्या करना है अतः संग स्मय दोनों योगी को नहीं करना चाहिये।

(१) 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः' पा० १ सू० १७ संप्रज्ञातपूर्वक असंप्रज्ञात समाधि होती है इसलिये प्रथम संप्रज्ञात का निरूपण है संप्रज्ञात सामान्य वितर्क विचारानन्दास्मिता के स्वरूप के अनुगम से समझना यह श्रीवाचस्पति के अनुसार अर्थ है। योगवार्तिककार ने उक्तसूत्र में रूप का पाठ अप्रामाणिक है ऐसा लिखा है, इसमें हेतु दिया है—'वितर्कविकलः सविचारः' इत्यादि भाष्यप्रयोग। इसमें रूपशब्द का प्रयोग नहीं है आद्यसूत्र में भी भाष्यकार का 'वितर्कानुगतः विचारानुगतः' ऐसा ही पाठ है चारों में संप्रज्ञातशब्द प्रयोग का प्रवृत्तिनिमित्त है साक्षात्कार विशेषरूप है यह आगे स्फुट होगा। स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा-आभोग है, वह स्थूलविषयक होने से स्थूल। जैसे धानुष्क-धन्वा से बाण चलाने वाला पुरुष पहिले अभ्यासार्थ स्थूल लक्ष्यका ही वेधन करता है उसके अनन्तर सूक्ष्म

नीयवस्तूपरागात, तद्रूपापत्तिः, समापत्तिः, समाधिरिति च पर्यायः। यद्यपि ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येष्वित्युक्तम्, तथापि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृष्विति बोद्धव्यम्। यतः प्रथमम्

जिसकी उस चित्त का ग्रहीता, ग्रहण ग्राह्य में आत्मा, इन्द्रिय, विषय में तत्स्थता उसी में एकाग्रता, तदञ्जनता-तन्मयता विनीत चित्त में ध्येय का ही उत्कर्ष होता है तथाविध समापत्ति-तद्रूप परिणाम होता है। जैसे निर्मल स्फटिकमणि में तत्समीपस्थित जपाकुसुमादिगत आरुण्यप्रतिबिम्ब से स्फटिकमणि भी अरुण (लाल) प्रतीत होती है वस्तुतः उक्त मणि लाल नहीं है वैसे ही मलरहित चित्त तद्धय वस्तुरूपरुषित अत-एव तद्रूपापन्न होता है यही तद्रूपापत्ति समापत्ति है। समापत्ति समाधि ये पर्याय वाची है। यद्यपि सूत्रकार ने गृहीतृ ग्रहण ग्राह्य कहा है तथापि भूमिकाक्रमवश से ग्राह्य ग्रहण ग्रहीता समझना चाहिये क्योंकि प्रथम

लक्ष्यका वेधन करता है वैसे प्रथम योगी पांचभौतिक-पृथिव्यादि पंचभूतों से बनी चतुर्भुजादि ध्येय का साक्षात्कार करता है, अनन्तर सूक्ष्मका, इस प्रकार सूक्ष्म चित्त के आलम्बन का साक्षात्कार होता है स्थूलकारणभूत सूक्ष्म पंचतन्मात्रलिंगा-लिंगविपयकविचार अर्थात् स्थूलभूत आलंवन में कारणत्वेन उसमें स्थित प्रकृति महदहंकार पञ्चतन्मात्र भूतेन्द्रियों का सूक्ष्म अर्थ तदाकार सूक्ष्म जो चित्त का साक्षात्कार सूक्ष्मगत अशेप प्रत्यक्ष है वह विचार है। विशेष से चरम सूक्ष्मपर्यन्त गमन उसमें अनुगत-युक्त निरोध-विचारानुगत नामक योग है इसविचार का ही अवान्तर भेद सविचार निर्विचार आगे कहेंगे।

ग्राह्यविपयक संप्रज्ञात को कहकर ग्रहणविपयक संप्रज्ञात कहते हैं—'अस्मिता' से। इन्द्रियां हुई है इसकारण इन्द्रियों का सूक्ष्मरूप अस्मिता है अस्मिता ग्रहीता आत्मा के साथ एकात्मक बुद्धि संवित् है। उसमें ग्रहीता का अन्तर्भाव होने से ग्रहीतृविपयक संप्रज्ञात होता है एक आलम्बन में चित्त की केवल पुरुषाकार जो वृत्ति होती है अस्मितामात्र आकार होने से यह साक्षात्कार अस्मिता है। यह प्रत्यक्ष जीव विपयक और परमात्मविपयक होने से दो प्रकार का होता है कारणानुगत कार्य होता है कार्यानुगत कारण नहीं होता है अतः स्थूल प्रत्यक्ष सूक्ष्मेन्द्रियास्मिता कारणचतुष्टय से अनुगत होता है अगले तीन दो एक कारणक होने से तीन दो एक रूप होते हैं। असंप्रज्ञात से भेदक कहते हैं ये सब सालम्बन समाधियां है। असंप्रज्ञात निरालम्बन होता है।

'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदंजनतासमापत्तिः' पा० १ सू० ४१। अभ्यास और वैराग्य से राजस तामस वृत्तियां क्षीण हो गई है जिस चित्तकी उस चित्तका इससे चित्त सत्त्व जो स्वभाव से स्वच्छ है रजस्तम से उसका अभिभवाभाव स्फुट किया गया इसमें दृष्टान्त स्पष्ट कहते हैं—'यथेति' से। जैसे स्वभावस्वच्छ स्फटिकमणि जपाकुसुमादि उपाधिवश तत्सरूपापन्न भासित होता है उपाधिका जो अपना रूप है नील पीतादि तदुपरक्त मणि प्रतीत होता है दार्ष्टान्तिक में तथा से भाष्यकार योजना करते हैं। ग्राह्य जो आलंबन तदुपरक्त जो चित्त इससे ग्रहीतृ ग्रहण का व्यवच्छेद होता है ग्राह्यसमापन्न चित्त ग्राह्याकार से प्रतीत होता है भूतसूक्ष्मोपरक्त भूतसूक्ष्मसमापन्न भूतसूक्ष्मस्वरूपाभास होता है। स्थूलरूपसमापन्न स्थूलरूपाभास होता है इससे वितर्क विचारानुगत समाधि दिखालाया जिससे अर्थ का ग्रहण

ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिर्भवति। ततो ग्रहणनिष्ठः, ततो ग्रहीतृनिष्ठ इति ग्रहीत्रादिक्रमोऽप्यग्रे व्याख्यास्यते। तत्र यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसन्धानेन, शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते, तदा सवितर्कः समाधिः। अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धान-शब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते, तदा निर्वितर्कः। एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ। तत्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य, तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते, तदा सविचारः। अस्मिन्नेवाऽवलम्बने देशकालधर्मावच्छेदम् विना धर्मिमात्रावभासित्वेन यदा भावना प्रवर्तते, तदा निर्विचारः। एतावुभावप्यत्र विचारशब्देनोक्तौ। तथा च भाष्यम् 'वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बने आभोगः, सूक्ष्मे विचारः' इति। इयं ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते। यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तः-

---

ग्राह्य विषयक ही समाधि होती है तदनन्तर ग्रहणनिष्ठ बाद ग्रहीतृनिष्ठ यह क्रम स्वाभाविक है, स्थूल आलम्बनपूर्वक ही सूक्ष्मालम्बन चित्त होता है ग्रहीत्रादि का क्रम आगे व्याख्यान करेंगे। उनमें जिस समय स्थूल महाभूतेन्द्रियादि षोडश विकाररूप-पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये षोडश (सोलह) विकार हैं। इनमें किसी एक का आलम्बन कर पूर्व अपर के अनुसन्धान के साथ इसका वाचक यह शब्द है इस शब्द का इस प्रकार अर्थ है इस प्रकार शब्दार्थभावनापुरस्सर गृहीतविषय की भावना करते है तब यह सवितर्क समाधि हैं इसी पूर्वगृहीत आलम्बन में पूर्वापरानुसन्धान तथा शब्दार्थोल्लेखशून्य जब भावना करते है तब वह निर्वितर्क समाधि है ये दोनों भी यहां वितर्कशब्द से कहे गये हैं। उस अन्तःकरणरूप सूक्ष्मविषय का आलम्बन कर उसमें देशकालप्रयुक्त धर्मविशिष्ट की जब भावना करते हैं तब सविचार समाधि कहाती है। जब इसी आलम्बन में देश-काल धर्म सम्बन्ध के विना धर्मिमात्रभानपुरस्सर भावना होती है तब निर्विचार समाधि होती है ये दोनों भी यहाँ विचारशब्द से कहे गये हैं। इसी के अनुसार भाष्य है 'वितर्कश्चित्तस्य स्थूले आलम्बन आभोगः,

---

होता है वे ग्रहण इन्द्रियां है। ग्रहणरूप जो आलंबन उससे उपरक्त अन्तःकरण अपने रूपको छिपाकर इन्द्रिय के समान चित्त हो जाता है इससे आनन्दानुगत कहकर अस्मितानुगत कहते है—'ग्रहीतृपुरुषे'-ति। अस्मिता से ग्रहीता पुरुष विवक्षित है ग्रहीता के आलम्बन करने पर चित्त ग्रहीता के समान प्रतीत होता है एवं मुक्त पुरुष शुकादि का जब चित्त आलम्बन करता है तो तत्समान चित्त होता है उस ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्य में चित्त लगाने पर ध्यान परिपाकवश निवृत्तरजस्तमोमन चित्तका जो तत्स्थ तदंजनता तदाकारता वही समापत्ति संप्रज्ञात योग है। १-४१

यद्यपि सूत्रमें ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्य लिखा है तथापि भूमिका क्रम से ग्राह्य ग्रहण ग्रहीतृसमापत्ति कही गई है स्थूलालम्बनपूर्वक सूक्ष्मालम्बन चित्तसमापत्ति होती है इसलिये तदनुसार व्याख्यात है।

करणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चिच्छक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति, ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्देनोच्यन्ते। इयं ग्रहणसमापत्तिः। ततःपरं रजस्तमोलेशानभिभूतम् शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या भावना प्रवर्तते, तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिःसास्मित इत्युच्यते। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते, सोऽहङ्कारः। यत्र त्वन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति, साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः, ते परं पुरुषमपश्यन्तश्चेतसः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। सेयम् ग्रहीतृसमापत्तिः, अस्मितामात्ररूपग्रहीतृनिष्ठत्वात्। ये तु परं पुरुषं विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते, तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिः, विवेकेन अस्मितायास्त्यागात्। तत्र गृहीतृभानपूर्वकमेव ग्रहणभानम्, तत्पूर्वकं च सूक्ष्मग्राह्यभानम्, तत्पूर्वकश्च

सूक्ष्मे विचारः' यही ग्राह्य समापत्तिशब्द से व्यवहृत होती है। जब रजस्तमोगुण के लेश से सम्बद्ध अन्तःकरणगत सत्त्वगुण की भावना करते हैं तब चिच्छक्ति के गुणभाव होने से सुख प्रकाशमय ध्येय सत्य के उपचय से सानन्द समाधि होती है इसी समाधि में जो बद्धादर होकर प्रधान पुरुषरूप तत्त्वान्तर को नहीं देखते वे देहाहङ्काररहित होने से विदेहशब्द से कहे गये हैं यह ग्रहण समापत्ति है। इसके बाद रजस्तमोगुण के लेश से अनभिभूत-अतिरोहित शुद्धसत्त्व का आलम्बन कर जो भावना की जाती है उस भावना में ग्राह्य तत्त्व का न्यग्भाव होने से चैतन्य शक्ति के उपचय से सत्तामात्र भानपुरस्सर समाधि सास्मिता कही जाती है। अहंकार और सस्मिता ये दोनों एक हैं ऐसी शंका ठीक नहीं क्योंकि जिसमें अहं उल्लेखपुरस्सर विषय का ज्ञान होता है वह अहंकार है यथा 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घड़े को जानता हूं। जहाँ अन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिपाक से प्रकृतिलीनचित्त में सत्तामात्र का भान होता है वह सास्मिता है। भाव यह है कि अन्तःकरण का अन्तर्मुख और बहिर्मुख भेद से दो प्रकार का परिणाम होता है। यथा—घटेन्द्रियसन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण इन्द्रियद्वारा घट से सम्बद्ध होकर घटाकार परिणत होता है उस घटाकारवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से घट का प्रकाश होता है इसी कारण अहमर्थ का उल्लेख होता है और जब अन्तर्मुख अतएव अन्तःकरण का प्रतिलोम परिणाम होता है तो वह चित्त प्रकृति में लीन होने से अहमर्थ का उल्लेख न होकर केवल पदार्थसत्तामात्रका भान होता है वह सास्मिता है। इसी समाधि में जो लीन सन्तुष्ट हो जाते हैं वे प्रकृति पुरुष को न देखकर चित्त प्रकृति में लीन होने से प्रकृतिलय कहे जाते हैं। यही ग्रहीतृ समापत्ति है क्योंकि अस्मितामात्ररूप ग्रहीतृनिष्ठ है।

स्थूलग्राह्यभानमिति । स्थूलविषयो द्विविधोऽपि वितर्कश्चतुष्टयानुगतः । द्वितीयो वितर्कविकलः-त्रितयानुगतः । तृतीयो वितर्क-विचाराभ्यां विकलो द्वितयानुगतः, चतुर्थो वितर्कविचारानन्दैः विकलोऽस्मितामात्र इति-चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञात इति ।

एवं सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च समाधिरन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतु-समाधिविरोधित्वाद्धेय एव मुमुक्षुभिः । ग्रहीतृ-ग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतादशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्धेयोपादेयविभागकथनाय ग्राह्यसमापत्तिरेव विवृता सूत्रकारेण । चतुर्विधा हि ग्राह्य-समापत्तिः । स्थूलग्राह्यगोचरा द्विविधा-सवितर्का निर्वितर्का च । सूक्ष्मग्राह्यगोचरापि द्विविधा-सविचारा निर्विचारा च । (१) 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का' । शब्दार्थ-

---

जो लोग परपुरुष परमात्मा का विवेक कर भावना करते हैं उनकी भी केवल पुरुषविषयक विवेकज्ञान ग्रहीतृ-समापत्ति होने पर भी सस्मिता नहीं है क्योंकि वे लोग विवेकपुरस्सर सस्मिता का त्याग कर चुके, इनमें ग्रहीतृ-भानपूर्वक ही ग्रहण का भान तत्पूर्वक सूक्ष्मग्राह्य का भान होता है। दो प्रकार के स्थूल विषय १—वितर्क-चतुष्टयानुगत २—वितर्कविकल ३—त्रितयानुगत, वितर्क विचार से रहित दो से अनुगत हैं ४ वितर्क विचार आनन्द इन तीनों से रहित होकर सस्मितामात्र है। इस प्रकार चार अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की है।

इसी प्रकार सवितर्क सविचार, सानन्द, सास्मिता ये चारों समाधियां अन्तर्धानादिसिद्धि हेतु हैं मुक्ति हेतु समाधि के विरोधी हैं अतः मुमुक्षुओं के ये त्याज्य हैं। जिस सिद्धि से समाधि स्थित पुरुष को कोई देख नहीं सकता उसको अन्तर्धान सिद्धि कहते हैं, जिस पुरुष को उक्त समाधियाँ होती हैं वह पुरुष चाहे जहाँ जन समूह में उसको कोई देख सकता नहीं, ग्रहीता और ग्रहण भी चित्तवृत्ति की विषयता दशा में ग्राह्य कोटि में प्रक्षेप होने से हेयोपादेय-त्याज्य ग्राह्य विभाग कहने के लिये ग्राह्यसमापत्ति का हो सूत्रकार ने विशेष विवरण किया है। चार प्रकार की ग्राह्यसमापत्ति हैं। स्थूल गोचर दो प्रकार की है—सवितर्क—निर्वितर्क । सूक्ष्मग्राह्यगोचर भी दो प्रकार की हैं—सविचार—निर्विचार। उसमें 'शब्दार्थज्ञान विकल्पैः सकीर्णाः सवितर्का' अर्थात् शब्दार्थज्ञानविकल्प से मिली हुई स्थूलार्थभान-स्वरूप सवितर्का समापत्ति है स्थूलविषयक सविकल्पवृत्ति यह निष्कर्ष है।

---

(१) शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का ॥ १-४२ ॥

सामान्य समापत्ति कही गई, यह अवान्तर भेदसे ४ प्रकार की है सवितर्का निर्वितर्का समापत्ति का लक्षक यह सूत्र है शब्दार्थज्ञान विकल्पका उदाहरण देते हैं 'गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम्' इन विभक्तों का अविभाग से ग्रहण लोकमें दृष्ट है शब्दार्थज्ञानों में वस्तुतः भेद है अभेद नहीं किन्तु अभेदप्रत्यय है शब्दज्ञानानुपातीत्यादि वस्तुशून्य प्रत्यय विकल्प कहाता है।

ज्ञानविकल्पसंभिन्ना स्थूलार्थावभासरूपा सवितर्का समापत्तिः। स्थूलगोचरा सविकल्पकवृत्तिरित्यर्थः, 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये वाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'। तस्मिन्नेव स्थूल आलम्बने

उसी स्थूल आलम्बन में शब्दार्थ स्मृति न होकर सुस्पष्ट ग्राह्याकारमात्र का भान होने से ज्ञानांश का तिरोधान होने से स्वरूपशून्य के समान निर्वितर्का समापत्ति है ज्ञानांश यदि तिरोहित न होता उसका भान होता तो स्वरूपशून्या न कहाती। अतएव लिखा है—'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमात् ध्येयैक गोचरः'

प्रश्न—प्रतीतिवलसे तीनों का अभेद ही मानिये तो विकल्प न होगा ?

उत्तर— परीक्षकों से अन्वय-व्यतिरेकद्वारा विभाग करने पर अर्थ ज्ञान धर्म से भिन्न शब्द धर्म तारत्व-मन्दत्वादि है इसी प्रकार अर्थ धर्म जडत्व मूर्तत्वादि शब्द ज्ञान धर्म से भिन्न है एवं ज्ञान धर्म प्रकाश आमूर्तत्वादि शब्दार्थ धर्म से अन्य है इस तरह इन तीनों का भिन्न २ मार्ग है समापत्ति ही विकल्परूप है स्थूल भूत, इन्द्रियों में समाहित योगी की समाधिप्रज्ञा में समारूढ़ जो गवाद्यर्थ वा नारायणाद्यर्थ वह यदि शब्दार्थज्ञानविकल्प से प्रतीत होता है शब्दार्थज्ञानाभेद मायानुविद्ध विपयी-कृत होता है तब संकीर्णा विकल्पमिश्रित समापत्ति सवितर्कसंज्ञक होती है यह इस गौ अंश में शब्दार्थ का अभेद विकल्प है भासते इस अंशमें अर्थज्ञान का अभेद विकल्प है एवं 'नारायणोऽयं भासते' इत्यादिरूप से सवितर्का समापत्ति है शब्दार्थज्ञानविकल्प से यथासंभव अन्य विकल्प भी समझना ॥ १–४२ ॥

(१) स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १–४३ ॥

सूत्रयोजना के लिये प्रथम निर्वितर्का का व्याख्यान करते है—'यदा पुनरि'ति। जैसा शब्दार्थ संगति ग्रहण होता है वैसा ही स्मरण होता है तदनुसारी आगम और अनुमान होता है संगतिग्रह 'अयं गौः' यह शब्दार्थज्ञानका परस्पराध्यास-स्वरूप है इससे जो शाब्द तथा अनुमान होगा वह भी विकल्प ही होगा इससे आगमानुमानपूर्वक समाधि प्रज्ञा सवितर्का है। यदि पुनः अर्थमात्र के आदर अतएव अर्थमात्रप्रवणचित्तसे संकेत का त्याग करते हैं तो समाधिमें तन्मूलक विकल्प नहीं होता अतः विकल्पशून्य समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र स्थित अर्थ स्वरूपमात्र से ज्ञात होता है विकल्पिताकार से नहीं वही निर्वितर्का समापत्ति है वही योगियों का पर प्रत्यक्ष है असत् का लेशमात्र आरोप नहीं।

पर प्रत्यक्ष से अर्थतत्त्व का ग्रहण कर योगी उपदेश देते हैं तथा पदार्थ का उपपादन करते है परन्तु प्रश्न यह है कि यदि आगम और अनुमान शुद्धार्थ मिथ्याऽध्यासशून्य केवल अर्थमात्र विषय होता ही नहीं तो फिर वह अर्थ अज्ञात अनुमान का विषय नहीं है तो अविषय अर्थ का उपदेश या उपादान कैसे होगा शब्दादि से स्वविषय का उपदेश उपादान करते हैं यह सर्वानुभवसिद्ध अर्थ है, अन्यथा एक ही शब्द से सबका उपदेश हो सकता है शब्दान्तर व्यर्थ ही हो जायगें अतः आगम और अनुमान मिथोऽध्यस्तताविषयक विकल्प ही है पर भी प्रत्यक्ष विकल्प ही है अतः कहा—'तच्चति'। वह श्रुत आगम अनुमानका बीज है अर्थात् अविकल्प प्रत्यक्ष से अर्थतत्त्व का ग्रहण कर पश्चात् शब्द अनुमानद्वारा उपदेशादि करते है श्रुतानुमानसहभूततात्कालिक विशेषदर्शन है परन्तु इक्षुक्षीर माधुर्यविशेष को जैसे शब्द से कोई नहीं कह सकता तद्वत् पदार्थगत तत्त्वविशेष शब्द विषय नहीं जो जिसका कारण होता है वह तद्विषयक नहीं होता जैसे—धूमज्ञान वह्निज्ञानका

कारण है वह धूमज्ञान विषयक नहीं होता एवं श्रवण मनन का कारण है अतः परप्रत्यक्ष विषया अर्थ का, शब्दादिद्वारा श्रवणादि नहीं हो सकता ।

व्याख्येय सूत्र की योजना कहते है शब्दसंकेत श्रुत अनुमान इनका ज्ञान ही विकल्प है उससे स्मृति परिशुद्धि अपगम-निवृत्ति उसमें संकेत स्मृति परिशुद्धि हेतु है 'श्रुतानुमानस्मृतिपरिशुद्धिः हेतुमती अनुमानशब्दः तत्त्व-वै० पृ ११३ अनुमीयते इत्याद्यनुमानम्' इस कर्मव्युत्पत्ति से अनुमेयार्थक है । भाष्यार्थ-शब्दसंकेत श्रुतानुमानज्ञानस्मृति परिशुद्धिस्मृत्यागम होनेपर ग्राह्यस्वरूपोपरक्त प्रज्ञा 'स्वमिव' यहाँ स्वं इव पदं भिन्नक्रिय है जहाँ पठित है वहाँ से हटाकर अन्यत्र इनका अन्वय है 'त्यक्त्वा' के साथ संवन्ध है 'त्वक्त्वा' इन स्वरूपग्रहणात्मक का त्याग कर पदार्थमात्रस्वरूप ग्राह्यस्वरूपापन्न के समान वह होती है तब निर्वितर्का समापत्ति कहाती है ।

प्रश्न—निर्वितर्क सात्क्षात्कार का विषय अवयव है या अवयवी प्रथमपक्ष में वक्ष्यमाण निर्विचार समापत्तिके साथ एक विषयत्वापत्ति हो जायगी अन्त्यपक्ष में अवयवी कल्पित होने से तद्विषयक निर्विकल्प में विकल्पशून्यत्व की अनुपपत्ति होगी अर्थात् विकल्पात्मक होने से अप्रमाण हो जायगा यह शंका कर अवयवी कल्पित नहीं किन्तु वस्तु है यह सिद्ध करते हुये अवयविविषयक यह साक्षात्कार है यह वृद्धवाक्य से निश्चित करते है भाष्यक.र 'तथा च' से लेकर 'लोकः' इत्यन्त वाक्य से पूर्वाचार्योंने निर्वितर्का का गवादि घटादि लोक आलम्बन है ऐसा कहा है ।

प्रश्न—अवयवातिरिक्त अवयवी में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—'एकबुद्ध्युपक्रमः' भा० ११३ इति । एक गौ इस बुद्धि का उपक्रम आरम्भ करता है अवयव अन्यथा अवयवों के अनेक होने से एकत्वबुद्धि न होगी अतः अवयव अवयविबुद्धि का निर्वाहक नहीं हो सकते ।

प्रश्न—अच्छा तो एक प्रत्यय के अनुरोध से एक विज्ञान ही अवयवि व्यवहार का हेतु मानिये ?

उत्तर—'अर्थात्मा' इति । दृश्यस्वरूप यदि विज्ञानमात्र ही अनवयव होगा तो तद्विज्ञान से दृश्य न होगा स्वसे स्वदर्शन में कर्मकर्तृविरोध प्रसकृत् कह चुके है ।

प्रश्न—यदि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी मानते हो तो कपाल घट हुआ तन्तु पट हुआ इत्यादि अवयव अवयवी का अभेद प्रत्यक्ष न होगा ?

उत्तर—'अणुप्रचयविशेषात्मा' इति । अणुओं का जो प्रचयाख्यसंयोग तन्निमित्तक जो विशेष परिणामरूप तत्स्वरूप यह अर्थ है ऐसी परिस्थिति में सामान्यविशेष का भेदाभेद मानकर अभेदप्रत्यय भी युक्त ही होता है ।

प्रश्न—भेदाभेद का तो परस्पर विरोध है एक में दोनों कैसे मान सकते है ?

उत्तर—भेद अन्योन्याभावस्वरूप है अभेद अविभाग वा तादात्म्यस्वरूप है अतः विरोध नहीं । यदि अभेद भेदाभावस्वरूप होता अथवा अभेदाभावस्वरूप भेद होता है तो मिथोविरोध होता सो है नहीं यह भाव है ।

प्रश्न—यदि अवयवी मानते हो तो अवयव के नाश से अवयवी का भी नाश मानना होगा तदनन्तर उसको अनुपलब्धि भी माननी होगी । किंच यदि अवयवी नित्य है तो सदा कार्यापत्ति भी होगी यदि अनित्य मानें तो असदुत्पत्ति माननी पड़ेगी और शशशृङ्गादि अत्यन्तासत्को भी अवयवी कारणव्यापार से उत्पत्तिप्रसंग हो जायगा ?

शब्दार्थे स्मृतिप्रविलये प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्यैव निर्वि-तर्का समापत्तिः। स्थूलगोचरा निर्विकल्पकवृत्तिरित्यर्थः। १ 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता'। सूक्ष्मः-तन्मात्रादिर्विषयो यस्याः, सा सूक्ष्मविषया समापत्तिर्द्विविधा सविचारा निर्विचारा च। सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदेन एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च स्थूल-

---

इत्यादि स्थूलविषयक निर्विकल्पकज्ञान के स्वरूप का भान होता है यह सर्वानुभव सिद्ध है। 'एतयै'वे-त्यादि। सूक्ष्म शब्दादि जन्मा विषय है। वह सूक्ष्मविषया समापत्ति दो प्रकार की है १—सविचारा २—निर्विचारा। सविकल्पक सविचारा है, निर्विकल्प निर्विचारा है, स्थूलविषयक इसी सविचारा निर्विचारा से सवितर्का, निर्वितर्का समापत्ति से सविचारा, निर्विचारा व्याख्यातप्राय है। शब्दार्थज्ञान विकल्प के साथ

उत्तर—'सचे'ति। वह स्थूल अवयवकारणभूत सूक्ष्मों का साधारण है प्रत्येकमें परिसमाप्त है द्वित्वादि के समान व्यासज्यवृत्ति नहीं अन्यथा एकावयव व्यवधान में अप्रत्यक्ष हो जायगा अतः एक अवयव के नाश होने पर भी अव-यवान्तर में अवयवी रहता है। अतः तदुपलब्धि होती है अवयवविभाग विशेप-आरम्भ संयोगप्रतिद्वंद्वी विभाग अवयवि-विनाशक है तथा आत्मभूत होनेसे सदा भूतसूक्ष्ममें अनुगत रहता है अतः शशादि है शृङ्गादिकी उत्पत्ति नहीं उसमें प्रमाण करते है—'फलेने'त्यादि। फल-कार्य उसकी अभिव्यक्ति से अनुमिति होती है कि यह कार्य इसमें था। यदि असत्की अभिव्यक्ति कारण से होगी सबकी सबसे अभिव्यक्ति हो जायगी।

प्रश्न—सब समय अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती।

उत्तर—'स्वव्यञ्जके'ति। स्वाभिव्यक्ति का जो कारण वही अंजन-व्यंजक है जिसका स तथा भूत आविर्भूत होता है वर्तमान अवस्था को प्राप्त होता है सदा नहीं, इसी प्रकार मुद्गरपातादिकारण से धर्मान्तर विनाशरूप तिरोधान को प्राप्त करता है कारण में लीन हो जाता है यही अवयवी अवयवों का धर्म कहाता है। 'यस्य पुनरि'त्यादि ग्रन्थ से वैनाशिकमतका निराकरण है ग्रन्थविस्तारभय से प्रकृत में उसका उपयोग न देखकर छोड़ दिया जिज्ञासु जन तद्भाप्यादि देखें॥ १-४३॥

१ एतयैव च सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ १-४४॥

अभिव्यक्तः घटादिना धर्मो यैः साऽभिव्यक्तधर्मा, जिनसे घटादिरूपधर्म अवयवी अभिव्यक्त होता है वे भूतसूक्ष्म है उन देश कालनिमित्त और अनुभवसे अवच्छिन्नों में जो समापत्ति है वह सविचारा है। देश— ऊपर नीचे बगल आदि, काल—वर्तमान निमित्त पार्थिवपरमाणु के गन्धतन्मात्रा प्रधान पञ्चतन्मात्राओं से उत्पत्ति होती है अतः गन्धतन्मात्रप्रधानपंचतन्मात्र-पार्थिवपरमाणु का निमित्त हैं इसी प्रकार जलपरमाणुका गन्धतन्मात्ररहित रसतन्मात्राओं से तैजस का गन्धरसतन्मात्ररहित रूपतन्मात्रप्रधान तीन तन्मात्राओंसे वायवीय का गन्धरसरूपतन्मात्रा से रहित स्पर्शप्रधान दो स्पर्शशब्द तन्मात्राओं से एवं आकाश की उत्पत्ति केवल शब्दतन्मात्रा से होती है इनमें देश कालनिमित्तों का अनुभव होता है तदवच्छिन्न में अनुभूत विशेषों की विशेष्य में बुद्धि नहीं होती।

विषयया समापत्त्या व्याख्याता। शब्दार्थज्ञानविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्याम्, सा सविचारा, । शब्दार्थज्ञानविकल्परहितत्वेन देशकालधर्माद्यनवच्छिन्नत्वेन च धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्याम्, सा निर्विचारा । सविचारनिर्विचारयोः सूक्ष्म-विषयत्वविशेषणात्सवितर्कनिर्वितर्कयोः स्थूलविषयत्वमर्थाद्व्याख्यातम् । 'सूक्ष्मविषयत्वम्

देशकालावच्छिन्नत्वविशिष्ट सूक्ष्म अर्थ का जिसमें भान होता है वह सविचारा है एतत् तद्वाच्य ईदृश देश काल में वर्तमान एवंभूत अर्थ है ऐसा भान जिसमें होता है वह सविचारा है। शब्दार्थज्ञानविकल्पशून्यत्वेन अर्थात् देशकालधर्माद्यविशिष्टत्वेन केवल धर्मिमात्रविषयक सूक्ष्म अर्थ का भान जिसमें हो वह निर्विचारा समापत्ति है। अमुक देश अमुक काल अमुक धर्मविशिष्ट एतत् पदवाच्य यह अर्थ है। इसका भान न होकर केवल सूक्ष्म अर्थमात्र का भान हो वही उक्त समापत्ति है। सविचारा, तथा निर्विचारा इन दोनों में सूक्ष्म-विषयत्व विशेषण दिया गया है, अतः सवितर्क निर्वितर्क इन दोनों में स्थूल विषयत्व अर्थात् प्राप्त है।

प्रश्न--सवितर्का के साथ सविचारा का क्या सारूप्य है ?

उत्तर--'तत्रापी' तत्त्व० वै० पृ० ११९ ति। वहाँ भी एकबुद्धिविषय वर्तमानधर्मविशिष्ट भूतसूक्ष्म आलंबनीभूत समाधि प्रज्ञामें आरूढ़ होता है पार्थिवपरमाणु पंचतन्मात्रप्रचयात्मा एक बुद्धिनिर्ग्राह्य एक परमाणु है इत्याकारक बुद्धि विषय' इसी तरह जलादि परमाणुओं में चार, तीन, दो एक तन्मात्रात्मा को एक बुद्धि निर्ग्राह्यत्व समझना। इससे संकेतस्मृत्यागमानुमानविकल्पानुवेध सूचित होता है क्योंकि स्थूलविषयक प्रत्यक्ष में परमाणुका प्रकाश नहीं होता कि आगमों से ही प्रकाशित हो सकते हैं अतः इसमें संकीर्णत्व ठीक है। निर्विचारा को कहते है--'या पुनर्रि' तत्त्वै पृ० १२० ति। जो फिर सर्वनीलपीतादिप्रकार सबसे सब देशकालानुभवों से यह अर्थ है अविच्छिन्न सर्वधर्मयुक्त सर्वधर्मात्मकों में समापत्ति है वह निर्विचारा कही जाती है ईदृश स्वरूप यह भूतसूक्ष्म इसी स्वरूप से आलम्बनीभूत होकर समाधिप्रज्ञा के स्वरूप का उपरंजक है। प्रज्ञा स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्रस्वरूप होती है उसमें सद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च, इस प्रकार दोनों का इसी निर्वितर्का से विकल्प की हानि व्याख्यात हुई। योगवार्तिकानुसार महत् से केवल विकृति विवक्षित है प्रकृति; विकृति उभय नहीं इससे भूतपरमाणु और इन्द्रियों का संग्रह है सूक्ष्म के मध्य में भूतपरमाणुओंका प्रवेश उचित नहीं अगले सूत्र में पार्थिवपरमाणु गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म है यह आगे भाष्यकार कहेंगे सूक्ष्मत्व प्रकृत में तत्त्वान्तरकारणत्व है। परमणु तत्त्वान्तर के कारण नहीं वस्तुतस्तु प्रकृति महदहंकार पंचतन्मात्रायें ये आठ प्रकृतियां सूक्ष्म है ये ही तत्वान्तर के कारण भी हैं।

प्रश्न--शब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्ण का ही 'एतया' से अतिदेश क्यों नहीं करते ?

उत्तर--इसी निर्वितर्कासे विकल्पहानि व्याख्यात हुई। विकल्पादि नहीं तो उत्तर संकीर्णत्व का अतिदेश कैसे ? पूर्व भूमिका में जिस विषय का त्याग हो चुका है उत्तर भूमिका में उसका संभव तो नहीं॥ १-४४॥

'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'॥ १-४५॥

चालिङ्गपर्यवसानम्'। सविचारायाः, निर्विचारायाश्च समापत्तेर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम्, तदलिङ्ग-पर्यन्तं द्रष्टव्यम्। तेन सानन्द-सास्मितयोर्ग्रहीतृ-ग्रहणसमापत्त्योरपि ग्राह्यसमापत्तावेवान्तर्भावः इत्यर्थः।

तथा हि-पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्यापि रसतन्मात्रम्, तैजसस्य-रूपतन्मात्रम्, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, नभसः शब्दतन्मात्रम, तेषामहङ्कारः। तस्य लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्। तस्याप्यलिङ्गं प्रधानं सूक्ष्मो विषयः। सप्तानामपि प्रकृतीनां प्रधान एव सूक्ष्मताविश्रान्तेः, तत्पर्यन्तमेव सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम्।

यद्यपि प्रधानादपि पुरुषः सूक्ष्मोऽस्ति, तथाप्यन्वयिकारणत्वाभावात्तस्य सर्वान्वयि-कारणे प्रधान एव निरतिशयं सौक्ष्म्यं व्याख्यातम्। पुरुषस्तु निमित्तकारणं सदपि नान्वयि-कारणत्वेन सूक्ष्मतामर्हति। अन्वयिकारणत्वाविवक्षायां तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मो भवत्येवेति द्रष्टव्यम्।

(१) 'ता एव सबीजः समाधिः' यो-द-१-४६। ताश्चतस्रः समापत्तयः ग्राह्येण बीजेन सह वर्तन्त इति सबीजः समाधिर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात इति-

---

'सूक्ष्मविषयत्वञ्चाऽलिङ्गपर्यवसानम्'। अर्थ—सविचार निर्विचार समापत्ति मे जो सूक्ष्मविषयत्व कहा है वह प्रधानपर्यन्त समझना, इससे सानन्द सस्मिता वे ही ग्रहीतृ-ग्रहण समापत्तियों का भी ग्राह्य-समापत्ति में अन्तर्भाव है। अलिंग पर्यवसान जो सूक्ष्म विषयक कहा है उसी को स्फुट करते हैं—'तथाही' त्यादिसे। पृथ्वी के परमाणुओं में जो गन्धतन्मात्रा है वह सूक्ष्मविषय है यदि इन परमाणु में जो रसतन्मात्रा है एवं तैजस परमाणु में जो रूपतन्मात्रा है, वायु के परमाणु में स्पर्शतन्मात्रा, आकाश के परमाणु में शब्दतन्मात्रा ये सूक्ष्मविषय हैं। इनका कारण, अहंकार सूक्ष्मविषय है। इन सातों प्रकृतियों की सूक्ष्मता

प्रश्न—क्या भूतसूक्ष्म में ही ग्राह्यविषया समापत्ति परिसमाप्ति है?

उत्तर—नहीं किन्तु सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्गपर्यन्त है पार्थिवपरमाणु की गन्धतन्मात्रा वह समापत्ति का सूक्ष्मविषय है इसी प्रकार जलीयपरमाणु का रसतन्मात्रा-तैजसपरमाणु का रूपतन्मात्रा। वायवीयपरमाणु का स्पर्शतन्मात्रा आकाश का शब्दतन्मात्रा इनका कारण अहंकार है इसका भी लिङ्गमात्र सूक्ष्मविषय है, लिङ्ग से महत्तत्व, क्यों कि वह स्वकारण प्रधान में लीन हो जाता है, लिङ्गमात्र का सूक्ष्मविषय है, अलिङ्ग प्रधान है क्योंकि वह किसी में लीन नहीं होता अलिङ्गसे परे कोई सूक्ष्म नहीं है।

प्रधान में विश्रान्त है अतः प्रधानपर्यन्त ही सूक्ष्मविषय कहा है 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' इस वचन के अनुसार तथा तर्कादि से प्रधान किसी का कार्य नहीं है यदि वह कार्य माना जाय तो उसका भी कोई कारणान्तर मानना पड़ेगा एवं वह भी कार्य हो उसके भी कारणान्तर की कल्पना करनी होगी, इस रीति से अनवस्था होगी कोई मूलकारण नहीं सिद्ध होगा इसके विना कार्यकारणभावव्यवस्था असङ्गत हो जायगी इसलिए कहीं कहीं कारणान्तर कल्पना का त्याग करना होगा, प्रधान में ही उक्त कल्पना का त्याग समुचित है अतः प्रधान अलिंग अर्थात् अकारण है। सब कार्यों का मूलकारण प्रधान है इसलिए सबसे सूक्ष्म प्रधान ही माना जाता है।

यद्यपि प्रधान की अपेक्षा पुरुष अतिसूक्ष्म है, तथापि वह कार्यमात्र में निमित्तकारण है अन्वयी अर्थात् उपादान कारण (कार्यानुगत) कारण नहीं है जैसे प्रकृति के साथ रजस्तम आदि गुण कार्यमात्र में पाये जाते हैं वैसे चैतन्य के गुण कार्य में दृष्ट नहीं है। अन्वयी कारण में तत्पर्यन्त अर्थात् पुरुषपर्यन्त न कहकर प्रधानपर्यन्त ही सौक्ष्म्य की व्याख्या की गई है। पुरुष तो निमित्तकारण होने पर भी अन्वयी कारण नहीं इसलिए तत् सूक्ष्मता नहीं कही गई है यदि अन्वय कारण की विवक्षा न करे, तो पुरुष में भी सूक्ष्मता आ जायगी यह सारांश है।

सूत्र--'ता एव सबीजः समाधिः'। अर्थ--वे चारों समापत्तियां ग्राह्यबीज के साथ रहती है

प्रश्न—अलिङ्ग से सूक्ष्म पुरुष है फिर अलिङ्ग पर्यन्त ही सूक्ष्म क्यों ?

उत्तर—ठीक है पुरुष सूक्ष्म है किन्तु 'उपादानत्वे सति सूक्ष्मत्वम्' यहाँ विवक्षित है लिङ्ग कारण प्रधानवत् पुरुष भी है परन्तु प्रधान (उपादान) कारणं-अन्वयि कारण है, पुरुष महत्तत्त्व का निमित्त कारण है जैसे प्रधान महदाद्याकार से परिणत होता है वैसा पुरुष नहीं उपसंहार करते है–'अतः मा–१२३' से। प्रधान में सौक्ष्म्य निरतिशय व्याख्यात हुआ ॥ १–४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १–४६ ॥ अर्थ—वे चारों समापत्तियाँ वहिर्वस्तुबीज होने से समाधि भी सबीज है, ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य में जो समापत्तियाँ कह चुके हैं, वे ही सबीज समाधिसंप्रज्ञात योग है।

प्रश्न—ग्रहीतृग्रहणान्तसमापत्तियों से वितर्कविचारास्मितानुगत तीन का ही संग्रह होता है आनन्दानुगत का नहीं फिर ता एव अवधारण कहां ?

उत्तर—आनन्द बुद्धिधर्म होने से ग्राह्यमध्य में ही प्रविष्ट है।

प्रश्न—दुःखबीजसंस्कार हेतु होने से समापत्तियाँ ही सबीज है वृत्तिनिरोधात्मक योग फिर योग को सबीज कैसे कहते हो !

उत्तर—'ताश्चतस्रः' इति। 'बहिर्वस्तुनि अनात्मधर्माः संस्कारधर्मादयः दुःखबीजानि जायन्ते आभ्यः इति बहिर्वस्तुबीजाः' संप्रज्ञातनिष्ठ भी संस्कार हेतु होता है और धर्ममेघ भी है। एवकार भिन्नक्रम है। यदि यथाश्रुत का अन्वय मानोगे तो ये ही सबीज कहावेगी ग्रहीतृ-ग्रहणगोचर में सबीजत्व नहीं होगा अतः एवकार का संबन्ध सबीज के साथ है तो

प्रागुक्तः । स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः । सूक्ष्मेऽर्थे सविचारः, निर्विचार इति । तत्रान्तिमस्य फलमुच्यते—(१) 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' । स्थूलविषयत्वे तुल्येऽपि सवितर्कंशब्दार्थज्ञानविकल्पसङ्कीर्णमपेक्ष्य तद्रहितस्य निर्विकल्परूपस्य निर्वितर्कस्य प्राधान्यम्, ततः सूक्ष्मविषयस्य सविकल्पकप्रतिभासरूपस्य सविचारस्य । ततोऽपि

अतः सबीज समाधि वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता इनके सम्बन्ध से संप्रज्ञातसमाधि पूर्व में कहा है । स्थूल अर्थ में सवितर्क, निर्वितर्क समाधि है ।

सूक्ष्म अर्थमें सविचार और निर्विचार समाधि है इनमें अन्तिम जो निर्विचार समाधि है उसका फल कहते हैं--'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' । स्थूलविषय समान होनेपर भी सवितर्क शब्दार्थज्ञान-विकल्पमिश्रित की अपेक्षा तदगृहीत अतएव निर्विकल्प निर्वितर्क समाधिप्रधान है । उसके बाद सूक्ष्म विषयक

'ताः सबीजा एव' चार ग्राह्यसमापत्तियाँ सबीजा ही है सबीजता से वे नियत हुई सबीजता स्वयं अनियत होकर ग्रहीतृ-ग्रहण विषयक समापत्ति में विकल्पाविकल्पभेद से अनिवारिता सती व्यवस्थित होती है इस कारण ग्राह्य में चार समापत्तियाँ और ग्रहीतृग्रहण में चार संकलन करने पर आठ सिद्ध होती है ।

प्रश्न—स्थूल सूक्ष्म समापत्तियाँ ही चार है आनन्दास्मिता समापत्ति मिलाने से छै होगी चार कैसे कहते है ?

उत्तर–'तत्र स्थूले' भा० पृ० १२४ इति भाष्यम्, चारों समापत्तियों के मध्यमें स्थूल अर्थ में एक ही समाधि है किन्तु अवान्तर भेद से सवितर्क निर्वितर्करूप से दो कही गई है । इसी प्रकार सूक्ष्म अर्थ में भी एक ही समाधि है अवान्तरभेद से सविचार निर्वितर्करूप से दो कही गई है इस कारण वितर्कानुगतादिरूप से पूर्व में संप्रज्ञात चार प्रकार का कहा गया है मिश्रजी की व्याख्या से आठ समापत्तियाँ सिद्ध होती हैं परन्तु योगवार्तिककारने उस व्याख्या का खण्डन किया है ग्रहणाख्य इन्द्रियों में सानन्द निरानन्द दो समापत्ति ग्रहीता में सास्मित निरस्मितरूप दो समापत्तियाँ इस प्रकार आठ समापत्तियाँ सिद्ध होती है वह प्रमाणाभाव से ठीक नहीं आनन्दानुगता अस्मितानुगताओं में निरानन्दनिरस्मितस्वरूप विशेष का संभव ही नहीं आनन्द आह्लादमात्र है और अस्मिता चैतन्यमात्रसंवित् यह भाष्यकार ने कहा है ह्लादशब्द से इन्द्रियों का ग्रहण और अस्मिताशब्द से अहंकारोपरक्त चैतन्य के ग्रहण से लक्षण माननी पड़ेगी । और कैसे ह्लाद वा संप्रज्ञात में ह्लादशून्यत्व और विविक्तचिन्मात्रसंविद् से युक्त संप्रज्ञात में तच्छून्यत्व रहेगा इति दिक् ।

(१) निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ १-४७ ॥

चारों ग्राह्यसमापत्तियों में निर्विचारा को उत्तम कहते है, वैशारद्यपदार्थ भाष्यकार कहते हैं–'अशुद्धी' भा०पृ० १२५ ति । रजस्तम की वृद्धि अशुद्धि है वही आच्छादकलक्षण मल है उससे रहित प्रकाशस्वभाव बुद्धिसत्त्व का अनभिभूत स्वच्छस्थितिधारावैशद्य हैं जिस समय निर्विचार समाधि का स्वच्छ प्रवाह होता है उस समय योगी का अध्यात्मप्रसाद होता है तो यथार्थ-विषय युगपत् एक ही समय में सर्वार्थग्राही स्फुटबुद्धयालोक होता है इसी अर्थ में परम ऋषियों की गाथा का उदाहरण—प्रज्ञाप्रसादमारुह्य इति । बुद्धिप्रकाशप्रकर्ष से 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति के अनुसार स्वयं अपने को

सूक्ष्मविषयस्य निर्विकल्पकप्रतिभासरूपस्य निर्विचारस्य प्राधान्यम्। तत्र पूर्वेषां त्रयाणाम् निर्विचारार्थत्वात्, निर्विचारफलेनैव फलवत्त्वम्। निर्विचारस्य तु प्रकृष्टाभ्यासबलाद्वैशारद्ये रजस्तमोऽनभिभूतसत्त्वोद्रेके सत्यध्यात्मप्रसादः। क्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः प्रादुर्भवति।

तथा च भाष्यम्—

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥' यो० भा० पृ० १२५॥इति॥

(१) 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। तत्र-तस्मिन् प्रज्ञाप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनः

सविकल्प प्रणिधानरूप सविचार प्रधान है उससे भी सूक्ष्मविषयक निर्विकल्प ज्ञानरूप निर्विचार प्रधान है। इन चारोमें पूर्व तीनों निर्विचारार्थ है अर्थात् निर्विचारके अङ्ग हैं इसलिए निर्विचारके फलसे ही वे तीनों फलवान् हैं उक्त तीनोंका पृथक् फल नहीं है 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' यह न्याय प्रसिद्ध है। निर्विचार के प्रकृष्टाभ्यासके बलसे असकृत् अभ्यास परिपाकसे जब उक्त विचार परिपक्व होता है रजोगुण तमोगुणसे न दबकर सत्त्वका उपचय-अधिक होता है तब अध्यात्मप्रसाद होता है अर्थात् क्लेशवासना रहित परमार्थ-विषयक क्रमाननुरोधि स्पष्ट चित्तका प्रज्ञालोक-ज्ञानप्रकाश उत्पन्न-(प्रादुर्भाव) होता है। इसी प्रकार योग भाष्य है--

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूयिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥' इति॥

प्रज्ञालोक को पाकर स्वयं अशोच्य और लोगोंको शोचते हुए देखता है, शैलस्थ पुरुष पर्वतके चोटीपर स्थित प्राज्ञभूमिमें रहनेवालों (सब मनुष्यों) को जैसे देखता है अर्थात् स्वयं उत्कृष्टावस्थाका अनुभव करता-

---

अशोच्य मानकर अन्य सब जन को दुःखित देखता है जो पुरुष स्वयं शोच्य है वह मूर्खतावश किसी सुखी समान देखता है यह पूर्ण सुखी है और जो पुरुष स्वयं अशोच्य है वह वस्तुतः दुखार्णव निमग्न सब जीवों को दुःखित ही देखता है क्यों कि वह मूढ़ नहीं यथार्थदर्शी है निर्विचारवैशारद्य होनेपर प्रकृति पुरुष के विवेक का किं वा परमेश्वरतत्त्व का साक्षात्कार करता है फिर साक्षात्कार करने के लिये योग की अपेक्षा नही यही निर्विचारा में उत्कर्ष है॥ १-४७॥

(१) 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' १-४८

उनमें समाहित चित्त को जो प्रज्ञा होती है वह ऋतंभरा कहलाती है यह संज्ञा अन्वर्थ है 'ऋतं सत्यं बिभर्ति' विपर्यय का गन्ध भी उसमें नहीं रहता यह कहा है—

या प्रज्ञा जायते, सा ऋतंभरा। ऋतं सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति-यौगिक्यैवेयं समाख्या। सा चोत्तमो योगः।

तथा च भाष्यम्—

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥' यो. भा. पृ० १२६॥ इति॥

सा तु (१) 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' यो०द, १–४१
श्रुतम्-आगमविज्ञानम्, तत् सामान्यविषयमेव। न हि विशेषेण सह कस्यचिच्छब्दस्य सङ्गतिर्गृहीतुम्-

---

हुआ अधःस्थित लोगोंको हीनावस्थामें देखता है तथा व्यवधान होनेसे सब लोगों को एक समूहमें देखता है इसीमें सूत्र है-- 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' अर्थ--पूर्वोक्त प्रज्ञाप्रसाद होनेपर समाहित योगी को जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह ऋतम्भरा बुद्धि कहाती है 'ऋतं सत्यमेव बिभर्ति' अर्थात् सत्यमात्र ही जो विषयक करती है, विपर्यासके गन्धमात्र की उसमें सम्भावना नहीं, इसी कारण सत्यमात्रविषयक उक्त बुद्धि ऋतम्भरा कहाती है 'ऋतम्भरा' यह यौगिक शब्द है, योगार्थं कह चुके हैं यह उत्तम योग है. भाष्य भी ऐसा ही है--

'आगमनेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥'

इसमें श्रवण अनुमान और निज ध्यानाभ्यास का परिपाक से इन तीन का प्रकारों से जिसकी बुद्धि उत्पन्न होती है वह उत्तम योग का लाभ करता है।

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥'

ध्यान चिन्तन का जो अभ्यास-असकृदावर्तन उसमें जो आदर उससे आगम-श्रवण, अनुमान-मनन, ध्यान-निदिध्यासन इन तीनों कारणों से सबीज योगकाल में प्रकर्ष से विपर्यासादिराहित्य से प्रज्ञा को उत्पादन करता हुआ योगी प्रज्ञा से परवैराग्यद्वारा वक्ष्यमाण उत्तमयोग निर्बीज का लाभ करता है॥ १–४८॥

'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्'॥ १–४९॥

समाधिसामान्य जो प्रज्ञा श्रुतानुमानरूप प्रज्ञा से अतिरिक्त विषया है

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—विशेषार्थत्वात्-विशेषार्थविषयक है

शक्यते । तथानुमानं सामान्यविषयमेव, न हि विशेषेण सह कस्यचिद्व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्यते । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनः लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति । किन्तु समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भवति, भूतसूक्ष्मगतो वा, पुरुषगतो वा । तस्मान्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवायां श्रुतानुमानविलक्षणायां सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टसर्वविशेषायामृतंभरायामेव प्रज्ञायां योगिना महान् प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

यह ऋतम्भरा प्रज्ञा शब्द अनुमान, बुद्धि से विशेषार्थमान के कारण भिन्नविषयक है। क्योंकि शब्दजन्यज्ञानसामान्यविषयक ही होता है क्योंकि सामान्य ही होता है क्योंकि सामान्य ही के साथ व्यवहारादि से शब्द शक्ति ग्रह होता है, विशेष के साथ किसी शब्द का सङ्गतिग्रह नहीं हो सकता क्योंकि विशेष आश्रय के अनन्त होने से अनन्त है। तथा अनुमान भी सामान्यविषयक ही रहता है उक्त न्याय से विशेष के साथ किसी हेतु का व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता कारण पूर्वोक्त ही है इस कारण शब्द और अनुमान से विशेष को नहीं कहा जा सकता अर्थात् उक्तज्ञान का विशेष कोई नहीं है किन्तु सामान्य ही है इस सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु का लौकिक प्रत्यक्ष से अर्थात् चक्षुरादि से ज्ञान नहीं होता किन्तु समाधि बुद्धि ग्राह्य ही सविशेष भूतसूक्ष्मगत अथवा पुरुषगत होता है इस कारण श्रुतानुमान विलक्षण निर्विचारवैशारद्य-समुत्पन्न होने से सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट सर्व विशेष विषयक ऋतम्भरा प्रज्ञा में ही योगियों को महान् प्रयत्न रखना चाहिए यह निष्कर्ष हुआ।

प्रश्न—आगम और अनुमान से अधिगत जो अर्थ तद्विषयक भावनाप्रकर्षबल से प्राप्त निर्विचारा आगमानुमान-विषय विषयक ही होगी क्योंकि अन्यविषयानुभवजन्यसंस्कार अन्यविषयज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकता यह निश्चित है अन्यथा अतिप्रसङ्ग हो जायगा कामिनीभावनाजन्यसंस्कार से ब्रह्म प्रत्यक्षापत्ति हो जायगी अतः निर्विचारा यदि ऋतंभरा है तो अभ्यस्यमान प्रज्ञा भी ऋतंभरा होगी ?

उत्तर—'श्रुतानुमानेत्यादि'। बुद्धि सत्त्व प्रकाशस्वभाव है अतः सर्वार्थदर्शन समर्थ है किन्तु तमोगुण से आवृत रहता है जब जिस विषय में जो तमोगुण है उसका रजोगुण से अभिभव होता है उसी विषय को ग्रहण करता है और जब अभ्यास वैराग्य से पराकृत रजस्तमस्त्व अतएव निर्दुष्ट वैशारद्य उत्पन्न होता है तब मानमेयसीमा को पारकर अनन्त अबाध प्रकाश होने पर किसको अविषय नहीं करता अर्थात सबको ग्रहण करता है जिसको ग्रहण नहीं करता वह हुई नहीं है यह भाव है। श्रुत-आगमजन्यज्ञान सामान्यविषयक होता है पदार्थतावच्छेदकरूपसे पदार्थ शब्दबोधमें प्रतीत होता है पदार्थतावच्छेदक घटत्वादि सामान्य होता है घटादिगत विशेष नहीं क्योंकि वे अनन्त है अतएव सबोंकी एक समय में उपस्थिति नहीं इस कारण तत्तद्विशेषधर्मों में शक्तिग्रहका संभव नहीं विशेषों का परस्पर व्यभिचार भी है श्रुत अर्थ में भी विशेष का संशय दृष्ट है अतः विशेष के साथ शब्द का संकेतग्रह नहीं, इस कारण विशेष के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की

ननु क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्ताख्यव्युत्थानसंस्काराणामेकाग्रतायामपि सवितर्कनिर्वितर्कसविचारजानाम् संस्काराणां सद्भावात्, तैश्चाल्यमानस्य चित्तस्य कथं निर्विचारवैशारद्यपूर्वकाध्यात्मप्रसादलभ्या ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यात् ? अत आह—"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' १–५० । तया-ऋतंभरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः, सः तत्त्वविषयया प्रज्ञया जनितत्वेन बलवत्त्वात्, अन्यान् व्युत्थानजान्, समाधिजांश्च संस्कारानतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितत्वेन दुर्बलान्

शंका—क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्त नामक व्युत्थान संस्कार एकाग्रदशा में भी सवितर्क निर्वितर्क सविचार से जो समुत्पन्न हुये हैं उन संस्कारों के सद्भाव से उनसे चाल्यमानचित्त निर्विचारवैशारद्यपूर्वक अध्यात्म-प्रसादलभ्य ऋतम्भरा प्रज्ञा कैसे प्रतिष्ठित अर्थात् सुस्थिर हो सकती है ?

उत्तर—'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' । अर्थ—'तया ऋतम्भरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः, स तज्जः' अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा-समुत्पन्न संस्कार स तज्जः' अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञासे समुत्पन्न संस्कार तत्त्वविषयक बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण बलवान है अन्य व्युत्थानजन्य और समाधिजन्य संस्कार अन्य विषयक ज्ञान उत्पन्न होने से दुर्बल होते हैं बलवान् दुर्बल का बाधक होता है यह लोक-

प्रतीति नहीं। अनुमान से भी सामान्यरूप से ही अर्थ का ज्ञान होता है विशेषरूप से नहीं गृहीतव्यापकतावच्छेदक गतित्वादिसामान्यरूप से ही गतिका अनुमान होता है क्रियागत विशेषरूप से नहीं 'यत्राप्राप्तिः, तत्र न गतिः' यो० भा–पृ–१ २८ । इस भाष्य लेख से अप्राप्ति में हेतुत्व का प्रतीति होती है सो ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेकिस्थल में साध्याभाव ही हेत्वभाव का लिंग होता है इसलिये यत्र तत्र के स्थान का परिवर्तन करना 'यत्र न गतिः, तत्र न प्राप्तिः' यह भाव है।

प्रश्न—अच्छा तो आगमाविषय अर्थ लौकिकप्रत्यक्ष का ही विषय मानिये क्योंकि प्रत्यक्ष तो सम्बन्धग्रहापेक्ष से नहीं फिर योगजप्रत्यक्ष की भी आवश्यकता ही है ?

उत्तर—'नचास्येति' । सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट पदार्थं का लौकिक प्रत्यक्ष हो हा नहीं सकता इन्द्रियों की उसमें योग्यता ही नहीं है।

प्रश्न—प्रमाणाभाव से तादृश विशेषाभाव ही क्यों न कहा ?

उत्तर—विना विशेष के सामान्य होता ही नहीं इस न्याय से तथा अनुभव से सब वस्तुओं में विशेष रहता है यह मानना आवश्यक है इसमें मिश्रजी की उपपत्ति भी है कि प्रमाण प्रमेय का न व्यापक है और न कारण ही जिससे व्यापकाभाव से अथवा कारणाभाव से प्रमेयाभाव कह सकें। चन्द्रादि का परभाग प्रत्यक्ष नहीं होनेपर उसमें लोगों का सन्देह होता ही है यदि प्रमाण निवृत्ति से प्रमेय की निवृत्ति मानी जाय तो परभागाभाव निश्चित ही हो जायगा फिर उसमें संशय कैसे ? वस्तुतः प्रमाणनिवृत्ति भी नहीं है समाधि प्रज्ञा निर्ग्राह्य है विशेष वैशारदी और योगवार्तिकादिमें देखिये ॥ १–४९ ॥

प्रतिबन्ध्नाति-स्वकार्याक्षमान् करोति, नाशयतीति वा । तेषां संस्काराणामभिभवात्, तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । ततः समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति, नवो नवः संस्काराशयो वर्धते, ततश्च प्रज्ञा, ततश्च संस्काराः-इति ।

ननु भवतु व्युत्थानसंस्काराणामतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितानां तत्त्वमात्रविषयसंप्रज्ञात-समाधिप्रज्ञाप्रभवैः संस्कारैः प्रतिबन्धः, तेषां तु संस्काराणां प्रतिबन्धकाभावादेकाग्रभूमावेव सबीजः समाधिः स्यात्, न तु निर्बीजो निरोधभूमाविति, तत्राह—'तस्यापि निरोधे-

---

प्रसिद्ध न्याय है इसके अनुसार ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार तदितर संस्कारों का प्रतिबन्धक स्वकार्याक्षम अथवा नाश करता है । प्रतिबन्ध, पूर्ण कार्य सामग्री रहने पर जिसके कारण से कार्य नहीं होता वह प्रतिबन्ध कहा जाता है । सत्कार्यवाद में वस्तु का अत्यन्त नाश नहीं होता किन्तु स्वकारण में लीन होने से स्वकार्यक्षम नहीं होता । असत् कार्यवाद के अभिप्राय से 'नाशयतीति वा' यह द्वितीय अर्थ कहा है । सर्वथा इन संस्कारों का ऋतम्भराप्रज्ञा संस्कार से तिरोभाव होने से तत् संस्कार निमित्तक ज्ञान नहीं होते ततः इसमें समाधि होती है, तदनन्तर निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है प्रज्ञा से फिर संस्कार, इस रीति से नये नये प्रज्ञासंस्कारातिशय बढ़ते जाते हैं उनमें प्रज्ञा उनमें संस्कार इति ।

शंका—अतत्त्वबुद्धि जनित व्युत्थान संस्कारों का तत्त्वमात्र (परमार्थमात्र) विषयक संप्रज्ञात समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों द्वारा प्रतिबन्ध हो इन संस्कारों का प्रतिबन्धकाभाव से एकाग्र भूमिका में ही सबीज समाधि होगी निरोधभूमि में निर्बीज समाधि न होगी ?

परमार्थविषय संप्रज्ञात मानिये किन्तु अनादिकाल से प्राप्त अतएव प्ररूढमूल व्युत्थान संस्कार से समाधिप्रज्ञा अचिरागत होने से अपुष्टमूल वात्यामध्यवर्ती प्रदीपपरमाणु के समान स्वयं नष्ट हो जायगी इस शंका की निवृत्ति के लिये सूत्र का अवतरण देते हैं—'समाधिप्रज्ञे'ति । तत् शब्द से निर्विचारा समापत्ति का परामर्श है अन्यसे व्युत्थान को कहते है बुद्धियों का तात्त्विक अर्थ में पक्षपात अभिनिवेश है यह स्वभाव है अव्यवस्थित बुद्धि तबतक घूमती रहती है जबतक तात्त्विक पदार्थ को नहीं विषय करती तात्त्विक पदार्थ के पाने पर उसपर पैर जमाकर संस्कार बुद्धि संस्कारबुद्धि चक्रक्रमसे आवर्तमान अनादि अतत्त्वसंस्कार बुद्धि क्रमका बाधक होती है, वेदबाह्यों ने भी कहा है—

'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधोऽनादिमत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥' इति ।

प्रमाणजन्यपरमार्थविषयकबुद्धि का अनादिविपर्ययों से बाध नहीं होता इसमें हेतु है बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात । कवियों ने भी कहा है 'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः' । अच्छा तो समाधिप्रज्ञा से व्युत्थान संस्कारका निरोध हो समाधि से जायमान जो संस्कारविशेष वह समाधिप्रज्ञोत्पादक हेतु अविकल ही है अतः चित्त पूर्ववत्साधिकार ही रहेगा यह शङ्का-

सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' यो-द-१-५१ । तस्य-संप्रज्ञातस्य समाधेरेकाग्रभूमिजस्य, अपिशब्दात् क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्तानामपि निरोधे-योगिप्रयत्नविशेषेण विलये सति सर्वनिरोधात्समाधेः समाधिजस्य संस्कारस्यापि निरोधान्निर्बीजः-निरालम्बनोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति । स च सोपायः प्राक् सूत्रितो 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोन्यः' यो-द-१-१८ इति । विरम्यतेऽनेनेति विरामः-वितर्कविचारानन्दास्मितादिरूपचिन्तात्यागः, तस्य प्रत्ययः-कारणम् । परं वैराग्यमिति-

उत्तर—(१) 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' । अर्थ—तस्य सम्प्रज्ञातस्य समाधेः एकाग्रभूमिजन्यस्य, एकाग्रभूमिजन्य सम्प्रज्ञातसमाधि के अपि शब्द से क्षिप्त मूढ विक्षिप्त संस्कारों का भी निरोध अर्थात् योगीके प्रयत्नविशेष से लय होने से तब संस्कारों का लय हो जाता है इस कारण समाधिजात संस्कार का भी लय होने से निर्बीज-निरालम्बन असम्प्रज्ञातसमाधि होती है उपाय सहित उसको पूर्व में सूत्रकार ने कहा है—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' । अर्थ—विरम्यते अनेनेति विरामः, वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता चिन्ता का त्याग-विराम शब्दार्थ है उसका कारण

करते हैं, इसका परिहार करते हैं—'न तु' इति । वे प्रज्ञाजन्य संस्कार क्लेशनाश हेतु है अतः वे चित्तको साधिकार नहीं करते । चित्तके दो कार्य हैं—शब्दस्पर्शादिविषयों का उपभोग और विवेकख्याति, उसमें क्लेशकर्माशयसहित—चित्त उक्त विषयोपभोग में प्रवृत्त होता है प्रज्ञोत्पन्नसंस्कारों में निर्मूलित क्लेशकर्माशय समाप्तप्राय अधिकारत्व चित्त का कार्य विवेकख्यातिमात्र बाकी रहती है अर्थात् क्लेशकर्माशयसहकृत चित्त भोगसाधन है और तदभावसहकृतचित्त योगसाधन है सहकारिभेद से दोनों कार्य व्यवस्थित है, अतः समाधिसंस्कार चित्त के सर्गाधिकार हेतु नहीं है किन्तु उसके विरोधी है स्वकार्यभोगस्वरूप से प्रच्युत करते हैं असमर्थ करते हें ।

प्रश्न—क्यों विवेकख्याति पर्यन्त ही चित्तका व्यापार है ?

उत्तर—तबतक ही चित्त भोग के लिये चेष्टा करता है जबतक विवेकख्याति का अनुभव नहीं करता विवेकख्याति-युक्त चित्तका क्लेशनिवृत्ति होने पर भोगाधिकार नहीं ॥ १–५० ॥

(१) 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः' ॥ १–५१ ॥

प्रज्ञासंस्कारों का प्रयोजन भोगाधिकार प्रशम है यह कहा हैं, पूछते हैं इसको क्या होता है—प्रज्ञासंस्कारविशिष्ट चित्त प्रज्ञासंस्कारधाराजनक होने से पूर्ववत्साधिकार ही चित्त रहेगा अतः संस्कारोच्छेद के लिये अन्य भी किसी की अपेक्षा है सूत्र से उत्तर कहते है—'तस्यापी'ति । ज्ञानप्रसादलक्षण परवैराग्य से संस्कारोत्पादनद्वारा प्रकृतसंस्कार का निरोध होने पर केवल प्रज्ञा का ही नहीं उत्पद्यमान सब संस्कारप्रवाह के निरोध से 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्याय से कानुत्पाद से यह निर्बीज समाधि होती है, भाव यह है कि पूर्व पूर्व असंप्रज्ञात से प्रज्ञा का ही निरोध होता है संस्कार केवल लघु हो जाते हैं इस क्रम से प्रज्ञाकृतसंस्कार का असंप्रज्ञातपरम्परा से निरोध करने पर चरम असंप्रज्ञात

यावत्। विरामश्चासौ प्रत्ययः, चित्तवृत्तिविशेष इति वा। तस्याभ्यासः-पौनःपुन्येन चेतसिनिवेशनम्, तदेव पूर्वं कारणं यस्य। स तथा, संस्कारमात्रशेषः-सर्वथा निर्वृत्तिकोऽन्यः पूर्वोक्तात् सबीजाद्विलक्षणः-निर्बीजः असंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः। संप्रज्ञातस्य हि समाधेर्द्वावुपायावुक्तावभ्यासः, वैराग्यञ्च। तत्र सालम्बनत्वादभ्यासस्य, न निरालम्बनसमाधिहेतुत्वं घटत इति, निरालम्बने-

परवैराग्य वस्तुतः विराम शब्दार्थ है। 'विरामश्चासौ प्रत्ययः चित्तवृत्तिविशेषः' यह भी अर्थ है उसका अभ्यास बारम्बार चित्तमें सन्निवेश वही पूर्व कारण है जिसका स तथा। संस्कारमात्र शेष सर्वथा निर्वृत्तिक सकलवृत्ति शून्य अन्य याने भिन्न है पूर्वोक्त सबीज से विलक्षण निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि है यह तात्पर्य है।

संप्रज्ञात समाधि का दो उपाय कहा है १. अभ्यास २. वैराग्य, उनमें अभ्यास सालम्बन है इस कारण निरालम्बन समाधि का हेतु नहीं हो सकता इसलिए निरालम्बन जो परवैराग्य है वही कारण

निर्बीजयोग का परा काष्ठा होती है जिसकारण से प्रज्ञा और तत्संस्कार अत्यन्तविलय कर दिया गया अतः निर्बीज है दुःखबीजसंस्कारों से शून्य यह अर्थ है। एवं पूर्व असंप्रज्ञात व्यक्तियों में क्रमसे बीज तनुभाव को प्राप्त होता है अतः गौणनिर्बीजत्व है अन्तिम असंप्रज्ञात में सब प्रज्ञासंस्कार क्षीण होते हैं अतः चित्तको साधिकार नहीं करते यह भाव है।

प्रश्न—वैराग्य से जायमान ज्ञान समीचीनज्ञान है अतः प्रज्ञाबाधक होता है यह ठीक है संस्कार जो ज्ञानस्वरूप नहीं फिर उसको कैसे बाधता है यह तो देखा गया है कि जागा पुरुष स्वप्नदृष्ट अर्थ का स्मरण करता है जागरणज्ञान से मिथ्याभूत स्वप्नज्ञान का बाध होने पर भी उसका स्मरण होता है यदि संस्कार का भी बाधक होता तो स्मरण न होगा स्मरण में उद्बुद्धसंस्कार हेतु है।

उत्तर—निरोध से देते है—'निरुद्ध्यते अनेन प्रज्ञा' इस व्युत्पत्ति से निरोधशब्द परवैराग्यपरक है। उनसे जातनिरोधसंस्कार दीर्घकालादि से चित्त, परवैराग्यजन्यसंस्कार से प्रज्ञा संस्कार का बाध होता है विज्ञान से नहीं।

प्रश्न—अच्छा तो निरोध संस्कार ही में क्या प्रमाण है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष तो होता नहीं स्मरणकार्यलिङ्गक अनुमान से भी नहीं सिद्ध हो सकता सब वृत्तियों के निरोध होने पर योगी को प्रत्यक्ष ही नहीं होता कि उसको प्रमाण कहें, न स्मरण ही है वह वृत्तिमात्र का निरोध होने से स्मृतिजनक नहीं हो सकता स्मृति भी तो वृत्त्यात्मक ही है।

उत्तर—'निरोधे'ति। निरुद्धावस्थ चित्त की स्थिति के कालक्रम का अनुभव होता है, मुहूर्त आधा प्रहर एक प्रहर एक दिन रात इत्यादि का अनुभव होता है कि इतने कालतक चित्त निरुद्ध था यह योगीको अनुभव होता है यह माना जाता है वैराग्याभ्यासप्रकर्ष के अनुरोधी निरोधप्रकर्ष मुहूर्तयामादिव्यापकत्व से योगी को प्रतीत होता है यदि वैराग्यक्षण परस्पर क्रमनियत न होते तो तत्कालव्यापी संस्कार को नहीं उत्पन्न कर सकते अतस्तद्वैराग्यक्षणप्रचयजन्य स्थायी संस्कारप्रचय मानना आवश्यक है।

प्रश्न—तो प्रज्ञासंस्कार नष्ट हो निरोधसंस्कार कैसे नष्ट होंगे यदि उनका उच्छेद न होगा तो चित्त साधिकार ही रहेगा ?

उत्तर—'व्युत्थाने'ति। व्युत्थान और उसका निरोधसमाधि संप्रज्ञात एतदुभयजन्य संस्कार कैवल्यभागीय संस्कार निरोधसंस्कार व्युत्थानप्रज्ञानसंस्कार चित्तमें प्रकर्ष से लीन हो जाते हैं इस कारण चित्त व्युत्थानप्रज्ञासंस्कारवत् होता है निरोधसंस्कार वर्तमान ही चित्तमें रहता है निरोध संस्कार रहने पर भी चित्त साधिकार नहीं होता पुरुषार्थजनक चित्त साधिकार होता है शब्दादिविषयों का उपभोग और विवेकख्याति ये ही दोनों पुरुषार्थ है ये हो चुके हैं, व्युत्थानज्ञानसामान्य निरोधसमाधि असंप्रज्ञात तदुभयजन्यसंस्कार के सांकेतकैवल्यहेतुरूप संस्कारविशिष्ट चित्त नित्यस्वकीयप्रकृतिमें लीन हो

परं वैराग्यमेव हेतुत्वेनोच्यते । अभ्यासस्तु संप्रज्ञातसमाधिद्वारा प्रणाड्योपयुज्यते । तदुक्तम्—'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' धारणा-ध्यान-समाधिरूपं साधनत्रयं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-रूपसाधनपञ्चकापेक्षया सबीजस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनम् । साधनकोटौ च समाधिशब्देनाभ्या-स एवोच्यते, मुख्यस्य समाधेः साध्यत्वात् । 'तदपि [त्रयं] बहिरङ्गं निर्बीजस्य' अनिर्बीजस्य समाधेस्तदपि बहिरङ्गं परम्परया तस्योपकारि । तस्य तु परं वैराग्यमेवान्तरंगमित्यर्थः ।

अयमपि द्विविधः-भवप्रत्ययः, उपायप्रत्ययश्च । 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' विदेहानां, सानन्दानाम् प्रकृतिलयानां च सास्मितानां देवानां प्राग्व्याख्यातानां जन्मविशेषादौष-धिविशेषात्, मन्त्रविशेषात्, तपोविशेषाद्वा यः समाधिः, स भवप्रत्ययः । भवः-संसारः आत्माना-त्मविवेकाभावरूपः प्रत्ययः कारणं यस्य, स तथा । जन्ममात्रहेतुको वा पक्षिणामाकाशगमनवत्, पुनस्संसारहेतुत्वान्मुमुक्षुभिर्हेय इत्यर्थः ।

कहा जाता है, अभ्यास तो संप्रज्ञात समाधि द्वारा परम्परया हेतु है, सूत्रकार ने ऐसा ही कहा है 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' । अर्थात् पूर्व कारणोंसे ये तीन अन्तरङ्ग है धारणा ध्यान समाधि रूपसे ये तीन साधन यम, नियम-आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार रूप इन पांचो साधनोंकी अपेक्षा सबीज समाधिके उक्त तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। साधन कोटि में जो समाधि शब्द का प्रयोग आया है वह अभ्यासके तात्पर्य से अन्यथा साध्य साधन कोटिद्वयमें समाधि शब्द प्रयोग असङ्गत हो जायगा। क्योंकि मुख्य समाधि साध्य है किसीका साधन नहीं फिर साधन कोटिमें मुख्यार्थं समाधि शब्दके प्रयोगकी असंगति स्फुट है ।

जाता है दग्धेन्धनाग्नि के समान आत्यन्तिक जीवन हो जाता है क्योंकि चित्त परिणामिस्वभाव है चित्तका विसदृश परिणाम ही तत्स्वामी पुरुषका भोग है पुरुषार्थ न होने से फिर विसदृश परिणाम नहीं होता विशेष योगवार्तिक में देखिये ॥१-५१॥

(१) 'त्रयमेकत्र संयमः' इस योगसूत्र के अनुसार यद्विषयक धारणा हो तद्विषयक ही ध्यान समाधि हो तो उक्त तीनों संयम कहाते हैं। संप्रज्ञात भी तद्विषयक ही विवक्षित है साध्य संप्रज्ञात समान विषय संयम अन्तरङ्ग है यमादि चित्तस्थैर्य-साधनद्वारा संप्रज्ञात के बहिरंग साधन है अतएव जडभरतादि जिन महापुरुषों का चित्त प्राग्जन्मार्जित कर्मवश संयमयोग्य था उनको अन्तरङ्ग साधन की भी अपेक्षा नहीं यह गरुडपुराण में लिखा है—

'आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ॥
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥' इति ॥

अतएव गीता में भी संयमाशक्त के लिये ही अभ्यासादिकर्मों का विशेष उपदेश है—'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि 'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव' इत्यन्त ।

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।'

इस श्रुति से ज्ञान और कर्मों का साहित्य कहा है सो उसका अङ्गाङ्गि के औत्सर्गिक सहानुष्ठान में तात्पर्य है मोक्षफल में दोनों का समुच्चय नहीं विवक्षित है ।

'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् १-१८। जन्मौषधिमन्त्रतपःसिद्धव्यतिरिक्ता-नामात्मानात्मविवेकदर्शिनान्तु यः समाधिः, स श्रद्धादिपूर्वकः। श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य, स तथा। उपायप्रत्यय इत्यर्थः।

तेषु श्रद्धा-योगविषये चेतसः प्रसादः। सा हि जननीव योगिनं पाति। ततः श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यम्-उत्साह उपजायते। समुपजातवीर्यस्य पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत्स्मरणाच्च चित्तमनाकुलं सत् समाधीयते, समाधिरत्रैकाग्रता, समाहितचित्तस्य प्रज्ञा भाव्यगोचरा विवेकेन जायते, तदभ्यासात्, पराच्च वैराग्याद्भवत्यसंप्रज्ञातः समाधिर्मुमुक्षूणामित्यर्थः।

"प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावाः ऋते चितिशक्तेः" इति न्यायेन तस्यामपि सर्ववृत्ति-निरोधावस्थायां चित्तपरिणामप्रवाहः, तज्जन्यसंस्कारप्रवाहश्च भवत्येवेत्यभिप्रेत्य 'संस्कारशेषोऽन्यः' इत्युक्तम्। तस्य च संस्कारस्य प्रयोजनमुक्तम् "तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति। प्रशान्तवाहिता नाम अवृत्तिकस्य चित्तस्य निरिन्धनाग्निवत् प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः। यथा-समिदाज्याद्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्धया प्रज्वलति, समिदादिक्षये तु प्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति, उत्तरोत्तरक्षणेषु त्वधिकमधिकं शाम्यतीति, क्रमेण शान्तिर्वर्धते, तथा निरुद्धचित्तस्य-उत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति। तत्र पूर्वप्रशमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम्। तदा च निरिन्धनाग्निवच्चित्तं क्रमेणोपशाम्यद्व्युत्थान-समाधि-निरोधसंस्कारैः सह स्वस्याम् प्रकृतौ लीयते, तदा समाधिपरिपाकप्रभवेन वेदान्तवाक्यजेन सम्यग्दर्शनेनाविद्यायां निवृत्तायाम् तद्धेतुकदृग्दृश्यसंयोगाभावाद्वृत्तौ पञ्चविधायामपि निवृत्तायां स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः शुद्धः केवलः मुक्त इत्युच्यते।

तदुक्तम्—"तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्' इति। तदा-सर्ववृत्तिनिरोधे। वृत्तिदशायान्तु नित्यापरिणामिचैतन्यरूपत्वेन तस्य सर्वदा शुद्धत्वेऽप्यनादिना दृश्यसंयोगेनाविद्यकेनान्तःकरणतादात्म्याध्यासादन्तःकरणवृत्तिसारूप्यं प्राप्नुवन्नभोक्तापि भोक्तेव दुःखानां भवति। तदुक्तम्, 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इति। इतरत्र-वृत्तिप्रादुर्भावे। एतदेव विवृतं 'द्रष्टृदृश्योपरक्तम् विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिव, अचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते।

(१) 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' अनिर्बीजसमाधिका धारणा ध्यान समाधिरूप उक्तत्रय बहिरङ्ग (परम्परया) उपकारक है पर वैराग्य ही अन्तरङ्ग साधन है यह भी दो प्रकार का है। १. भवप्रत्यय २. उपाय प्रत्यय। (२) 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' । अर्थ—विदेहानाम् सानन्दानां प्रकृतिलयानाञ्च इत्यादि, विदेह और सानन्द प्रकृति लय और सास्मिता पूर्व में व्याख्यात

अतएव—'न केवलेन योगेन प्राप्यते परमं पदम् ।
ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गप्रदायकम् ।' इत्यादि

अतएव योगवासिष्ठ में कहा है— 'उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां यत्र ते परमं पदम् ॥' इति । १. ७,

(१) 'तदपिं बहिरङ्गं निर्बीजस्य' ॥ ३-८ ॥

वह भी अन्तरङ्ग-साधनत्रयसंयम निर्बीजस्य का बहिरङ्ग साधन है उक्त साधनत्रयसंप्रज्ञातका ही अन्तरङ्ग है, असंप्रज्ञात में नहीं क्योंकि असंप्रज्ञात निर्बीज होने से उसके साथ समानविषयत्व ही नहीं और समानविषयत्वप्रयुक्त ही अन्तरङ्गत्व है यमादि के चिरनिरोध होनेपर ज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्य से असंप्रज्ञात होता है, असंप्रज्ञात के पूर्वक्षण में न रहने से संयम कारण ही नहीं तो उसमें अन्तरङ्गत्व की क्या संभावना वहिरंग ईश्वरप्रणिधान से भी समाधि होती है इस कारण यदनन्तर उत्पत्ति हो वह अन्तरङ्ग है यह नहीं कह सकते, अन्यथा बहिरङ्ग ईश्वरप्रणिधान में भी अन्तरङ्गत्व की आपत्ति हो जायगी समानाविषयक होने से ईश्वरप्रणिधान बहिरंग साधन है अन्तरंग नहीं ॥ ३-८ ॥

(२) 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' ॥ १.१९ ॥

'लोके योगभ्रष्टानामि'त्यादि यो० वा० । योगभ्रष्ट अतएव देवभावों को देवलोक में भवप्रत्यय योग का विस्तार से कहने की इच्छा से 'सूचीकटाह' न्याय से प्रथम भवप्रत्यय त्याग के लिये कहते हैं मुमुक्षु को यह उपादेय नहीं है, मिश्रजीने 'भवन्ति जायन्तेऽस्यां—जन्तवः' इति भवः-अविद्या, यह भव की व्याख्या की है भूतों में इन्द्रियों में या विकारों में अथवा प्रकृति में अव्यक्त महदहंकार पञ्चमात्राओं में अनात्मख्याति तौष्टिकवैराग्यसंपन्नों को जो होती है वह भवप्रत्यय निरोध समाधि है उक्त सब अनात्म सत्र पदार्थों में योग्यतानुसार आत्मभ्रम होने से आत्मा मानकर उपासना कर संतुष्ट हो गये अर्थात् वास्तविक आत्मा की उपासना है यह समझकर संतुष्ट हुए वे तौष्टिकवैराग्यसम्पन्न हैं यह भवप्रत्यय है। इनमें उपाय प्रत्यय जो अग्रिमसूत्र से वक्ष्यमाण है वही योगियों को उपादेय है विशेष के विधान से शेष में मुमुक्षु का निषेध करते हैं।

प्रश्न—भवप्रत्यय किनका है ?

सूत्र से उत्तर देते हैं—'भवप्रत्ययः' इत्यादि। विदेह और प्रकृतिलय इनको भवप्रत्यय निरोध होता है। भूतेन्द्रियों में किसी को आत्मा मान कर उसकी उपासना से तद्वासनावासितान्तःकरण शरीरत्यागोत्तर इन्द्रियों में या भूतों में उपासनानुसार लीन संस्कारमात्रावेशचित्त षाट्कोशिकशरीर मनुष्यादिशरीर से रहित विदेह कहाते हैं वे संस्कारमात्र के उपयोगमात्र से वृत्ति का अभाव सूचित करते हैं। कैवल्य मोक्ष के समान करते हुए विदेह कहाते हैं वृत्तिशून्यत्व ही कैवल्य

जो देवादिक है जन्मविशेष, ओषधिविशेष मन्त्रविशेषोंसे इनमें किसी के कारण जो समाधि होती है वह भवप्रत्यय है। भवः-आत्मानात्मविवेकाभावरूप संसार, वह प्रत्यय कारण है जिसका वह भवप्रत्यय है जैसे जन्ममात्र से पक्षियों में आकाश गमन संस्कार है तद्वत् यह पुनः संसारहेतु होने से मुमुक्षुओं से भवप्रत्यय हेय ही है। **'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'**। जन्म ओषधि मन्त्र तपः सिद्धियों से व्यतिरिक्त आत्मानात्मविवेकदर्शियों की जो समाधि वह श्रद्धापूर्वक है। श्रद्धादयः पूर्वे उपायाः यस्य स तथा, पूर्व शब्द उपायपरक है उपेय से पूर्व नियम से उपाय रहता है अतः वह उपायप्रत्यय है, श्रद्धादिकों में योगविषय में चित्तप्रसन्नता श्रद्धा है, वही मोधा (बेंग या मेढक) के समान योगी की भी रक्षा करती है इससे श्रद्धावान् विवेकार्थी को एकाग्रता समाधि होती है। समाहितचित्त को विवेकसे भाव्यविषयक बुद्धि होती है उस अभ्यास और परवैराग्य से मुमुक्षुओं की असंप्रज्ञात समाधि होती है। भाष्य है—**'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः'** इति।

के साथ सादृश्य है मोक्ष से भेद कहते हैं—साधिकार संस्कारशेषता वैषम्य हैं मोक्ष निरधिकारचित्त प्रकृतिलीन होता है। इसमें साधिकारचित्त भूतेन्द्रियादि में न होता है यह भेद है। 'संस्कारमात्रोपभोग' ऐसा भी कहीं पाठ है इसका अर्थ है संस्कार मात्र ही उपभोग है जिसका यह वृत्ति नहीं होती अवधि की समाप्ति होने पर स्वयं संस्कारविपाक तथा जातीयक का अतिक्रम करते हैं अर्थात् फिर भी संसार में प्रविष्ट होते हैं ऐसा ही वायुपुराणमें कहा है—

'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु समं पूर्णम्' इत्यादि ॥

ऐसा ही प्रकृतिलय अव्यक्त महदहंकार पंचतन्मात्राओं में किसी को आत्मा मानकर उसकी उपासना से तद्वासना-वासितान्तःकरण शरीर वियोगानन्तर अव्यक्त में उपासनानुसार किसी में लीन होते हैं किन्तु चित्त साधिकार ही रहता है चरितार्थ नहीं होता चित्त चरितार्थ तब होता है यदि विवेकख्यातिको भी उत्पन्न करता प्रकृतिपुरुष के विवेक को न उत्पन्न कर अतएव अचरितार्थ चित्तमें साधिकारता रहती है प्रकृतिसाम्य को प्राप्त करके भी अवधि को समाप्त कर फिर भी उत्पन्न होता है उससे विवेक होता है इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—जैसे वर्षा बीतने पर ही मेघ (मेढकी) की शरीर सूख कर कम हो जाती है मेघ के जलसंपर्कसे फिर मेघा की शरीर हो जाती है यह भी वायुपुराण में लिखा है—

... ... सहस्रं त्वाभिमानिकाः,
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः॥
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ॥' इति।

अतः यह पुनर्जन्मकारण होने से हेय है।

इसमें आक्षेप यह है कि इन्द्रियादि प्रकृतिचिन्तकों में अविद्याहेतुक असंप्रज्ञात समाधि होती है यह मिश्रजी के व्याख्यान का सार है सो ठीक नहीं कारण परवैराग्यहेतुक असंप्रज्ञात का अविद्वान में संभव नहीं वायुपुराण का वाक्य

इस न्याय से समाधि में भी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों की निरोधावस्थामें चित्त का स्वरूप परिणाम धारा तथा तज्जन्य संस्कारधारा होती ही है इस अभिप्राय से संस्कारशेष कहा उस संस्कारका प्रयोजन सूत्रकार ने कहा है सूत्र (१) 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्'। अर्थ--प्रशान्तवाहिता अवृत्तिक चित्त का इन्धनशून्य अग्नि की तरह प्रतिलोम परिणाम से उपशम शान्ति। लोक में काष्ट न रहने पर अग्नि जैसे शनैः शनैः स्वकारणलयद्वारा क्षीण होती जाती है उसी तरह चित्त का शनैः शनैः कारण में लय प्रतिलोम परिणामरूप क्षय होता है यही यथा से कहते हैं—लकड़ी घृतआदि आहुति प्रक्षेप से उत्तरोत्तर वृद्धि से अग्नि प्रज्वलित होती है और काष्ठादि के क्षय होने पर प्रथम क्षण में कुछ कमी होती है। उत्तरोत्तर क्षण में अधिक २ शान्ति होती है इस प्रकार अग्नि की शान्ति बढ़ती जाती है इसी प्रकार चित्तकी अधिकाधिक शान्तिधारा बढ़ती जाती है इनमें पूर्वप्रशमजनित संस्कार उत्तरोत्तर प्रशम का कारण है जब काष्ठशून्य अग्नि के समान चित्त क्रम से शान्त होता हुआ व्युत्थानसमाधि निरोधसंस्कारों के साथ अपनी प्रकृति में लीन होता है तब समाधि परिपाकोत्तर वेदान्तवाक्य जन्य समीचीनज्ञान से अविद्यानिवृत्ति होती है

इन्द्रियाद्युपासक अनुत्पन्नज्ञान कर्मदेवों के तत्तस्थितिकाल का ही बोधक है उनके असंप्रज्ञात समाधि अथवा देहाद्यभावप्रयुक्त वृत्त्यभाव काल से नहीं इन्द्रियादिध्यानमात्र से असंप्रज्ञात नहीं हो सकता और इन्द्रियाद्युपासक का इन्द्रियाद्यमिमानी सूर्यादिपद प्राप्ति ही फल है यह अन्यत्र स्पष्ट है ॥ १–१९ ॥

'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'॥१–२०॥ उपाय प्रत्यय योगियों को होता है उपपत्ति श्रद्धादि है।

प्रश्न—श्रद्धा तो इन्द्रियादि चिन्तकों को भी है?

उत्तर—श्रद्धा चित्त की प्रसन्नता है वह आगम अध्यात्मशास्त्र आचार्य का उपदेश अनुमान आगमाद्यविरोधी इनसे समझ लिया है तत्त्व यथार्थस्वरूप जिस तत्त्व का तद्विषयक चेतःप्रसाद श्रद्धा है इन्द्रियाद्युपासकों में यह नहीं है इसी को स्फुट करते हैं—'अभिरुची'त्यादि से। क्योंकि उनकी अभिरुचि मोहमूलक होने से संप्रसाद नहीं।

प्रश्न—क्यों यही श्रद्धा है?

उत्तर—'सा हीति'। अनर्थफलक असन्मार्गसे माताके समान योगीकी रक्षा करती है यह इच्छाविशेष श्रद्धा इच्छाविषय में प्रयत्न करती है विवेकार्थी में वीर्य होता है स्मृति अनाकुलध्यान इससे चित्त समाहित होता है यमनियमादि के विना न होने वाली समाधि के उपादानसे यमनियमादि भी सूचित हुए। इस प्रकार अखिलभोगाङ्गसंपन्न को संप्रज्ञात-समाधि होती है प्रज्ञा में विवेक प्रकर्ष होता है संप्रज्ञातपूर्वक असंप्रज्ञात की उत्पत्ति कहते हैं—'तदभ्यासादि'ति। तत्तद्भूमिकाप्राप्त होने पर तत्तद्विषयवैराग्य से असंप्रज्ञातसमाधि होती है वही मोक्ष का हेतु है सत्त्वपुरुषान्यताख्याति पूर्व ही निरोधभोगापवर्गरूप अखिलकार्य सम्पादन करने से चरितार्थ चित्तको अधिकारसे रहित करता है॥ १-२०॥

(१) तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ ३–१०॥
प्रश्न—सर्वथा व्युत्थानसंस्कार मलरहित निरोध संस्कार धारा प्रवाह प्रशान्त वाहिता है?
उत्तर—तस्येति, व्युत्थानसंस्कार मलरहित निरोधसंस्कार संस्कार धारा प्रवाह प्रशान्त वाहिता है।
प्रश्न—क्यों संस्कार पाटव की अपेक्षा है संस्कारमात्र की नहीं?
उत्तर—निरोधसंस्कार यदि मन्द होता तो व्युत्थानसंस्कार से निरोधसंस्कार का अभिभव हो जायगा।

अतः तद्धेतुक दृग्दृश्यहेतुसंयोग के अभाव से प्रमाणादि पञ्चप्रकार की वृत्तिता निवृत्त होती है अतएव स्वरूपप्रतिष्ठ केवल शुद्धपुरुष मुक्त कहा जाता है। सो सूत्रकार ने कहा है--(१) 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१-३) इति। तब सब वृत्तियों के निरोध होने पर वृत्ति दशा में यद्यपि नित्य अपरिणामि चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है तथापि अनादि दृग् दृश्य संयोग से अन्तःकरण में तदात्माध्यासवश अन्तःकरणवृत्ति सारूप्यका अनुभव करता हुआ अर्थात् अन्तःकरण के धर्म को वस्तुतः

---

(१) 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ॥ १-३ ॥

असंप्रज्ञातयोगकालमें द्रष्टा चितिशक्ति पुरुष का स्वरूप निर्विषय चैतन्य में अवस्थान रहता है जैसे जपाकुसम के असन्निधान काल में अलोहित स्वस्वरूप में स्फटिकमणि का अवस्थान रहता है तद्वत् वृत्ति के अभाव काल में वृत्तिप्रतिबिम्ब शून्य ये स्वस्वरूप में पुरुष का अवस्थान रहता है यो० भा०। चित्त की असंप्रज्ञात अवस्था विषयभान न होनेसे विषयाकार परिणत बुद्धि से उपरक्त ही सदा पुरुष प्रतीत होता है बुद्धि बोधरहित नहीं अतः जैसे सूर्य का प्रकाश स्वभाव है वैसे ही पुरुष की बुद्धि बोधस्वभाव है संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त में बुद्धिबोध है नहीं स्वभाव को छोड़कर पदार्थ रहता नहीं।

प्रश्न—संस्कारशेष ही बुद्धि को पुरुष क्यों नहीं जानता ?

उत्तर—'विषयाभाव' इति। बुद्धिमात्र पुरुष का विषय नहीं किन्तु पुरुषार्थवती बुद्धि पुरुष का विषय है विवेकख्याति विषयभोग पुरुषार्थ हैं ये दोनों निरुद्धावस्था में नहीं है। इससे विषयाभाव स्फुट है भूत से परिहार करते हैं।

'तदेति'। स्वरूप इससे आरोपित शान्त मूढत्व का निराकरण करते हैं पुरुषका वास्तविक स्वरूप चैतन्य है शान्तादिरूप बुद्धिबोध नहीं वह तो स्फटिकके लौहित्य के समान औपाधिक है। उपाधि की निवृत्ति से उपहित की निवृत्ति नहीं होती अन्यथा लौहित्यनिवृत्ति से स्फटिक की भी निवृत्ति हो जायगी यह आपत्ति है स्वाभिन्नस्वरूप में भेद की कल्पना कर अधिकरणत्व कहा है यही अर्थ भाष्यकार स्फुट करते हैं 'स्वरूपप्रतिष्ठेति'। निरोधावस्था में, व्युत्थानावस्था में नहीं।

प्रश्न—व्युत्थानावस्था में अप्रतिष्ठित स्वस्वरूप में चित्तिशक्ति निरोध अवस्था में प्रतिष्ठित होती हुई परिणामिनी हो जायगी ?

उत्तर—'व्युत्थानचित्ते' त्विति। कूटस्थनित्या चितिशक्ति कभी भी स्वस्वरूप से च्युत नहीं होती इससे जैसे व्युत्थान में वैसे निरोध में शुक्तिका में रजतभ्रम होनेपर रजतज्ञान विषय होने से स्वरूप का उत्पाद नाश नहीं होता केवल ज्ञाता पुरुष रजत भिन्न को रजत मानता है निरोधसमाधि की अपेक्षा संप्रज्ञात भी व्युत्थान ही है। १-३।

आत्मधर्म मानता हुआ स्वरूप से दुःखों का अभोक्ता होने पर भी अध्यासरूप से भोक्ता होता हैं यह सूत्रकार ने कहा है--(१) वृत्तिसारूप्यमितरत्र १-४'। इतरत्र-वृत्तिप्रादुर्भावे-वृत्तियों के उत्पन्न होने पर।

(१) 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' १-४। अर्थ—इतरत्र व्युत्थान में से चित्त के साथ द्रष्टा का वृत्ति होने पर सारूप्य है व्युत्थान में बिम्बप्रतिबिम्बरूप बुद्धि पुरुषवृत्तिका सारूप्य है। व्युत्थान में जो चित्त की वृत्तियाँ होती हैं दीपशिखा के समान द्रव्य विनश्वर अवस्थापरिणाम मूषानिषिक्तद्रुतताम्र के समान स्वरूयुक्त अर्थाकार त्रिगुणकार्य होने से सुख-दुःख-मोहाश्रयत्व से 'शान्त' घोर मूढाख्य होती है, उन वृत्तियों के समान वृत्तियाँ है जिस पुरुष की वह पुरुष वृत्तिसरूप होता है। सारूप्य में सशब्द एकार्थक है यह कहा गया है कि जपाकुसुम स्फटिक के समान अतिसन्निधानवश अभेदग्रह होने से बुद्धिवृत्तियों का पुरुष में आरोप कर 'शान्त हूँ दुःखित हूँ मूढ हूँ' यह निश्चय करता है जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख को मलिन मानकर अपने को शोचता है मैं मलिन हूँ यद्यपि शाब्दादिविज्ञानवत्त्व पुरुषमालिन्यादिसमावेश बुद्धिवृत्ति है और यद्यपि प्रकृतिविकार होने से अचिद्रूप है अतएव अनुभाव्य है अथापि बुद्धि ये पुरुषत्व का आपादन करता हुआ पुरुषवृत्ति के समान अनुभव के समान भासित होता है तथा च आत्मा विपर्ययशून्य है फिर विपर्ययवान के समान अभोक्ता भी भोक्ता के समान विवेकख्यातिरहित भी तत्सहित के समान विवेकख्याति से प्रकाशित होता है। इसका 'चितेरप्रतिसंक्रमायाः' इसके व्याख्यान के समय उपपादन करेंगे। यह मतान्तर में भी सिद्ध है पञ्चशिखाचार्य का सूत्र है--'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति।

प्रश्न---एक ही दर्शन है यह कैसे क्योंकि शब्दादिविषया विवेकविषयाबुद्धि वृत्तिरूप जड़ अतएव अनुभव विषय है दर्शन उससे भिन्न पुरुष का चैतन्य अनुभव दर्शन है ?

उत्तर---ख्यादिरेवदर्शनम्-उत्पन्नापवर्गिणी वृत्तिख्याति के लौकिकी अभिप्राये से यह कहा है कि एक ही है। चैतन्य तो पुरुषका स्वभाव है ख्याति का नहीं सो तो लौकिक प्रत्यक्ष विषय नहीं किन्तु आगमानुमानविषय है इससे व्युत्थान काल में मूलकारण अविद्या को दिखलाते हुए तद्धेतुक संयोग भोगहेतु है। स्वस्वामिभाव भी सूचित हुआ इसका उपपादन करते हैं—चित्त पुरुष स्वामी का स्व है।

प्रश्न—चित्तकृत उपकारका सेवी चेतन चित्तका स्वामी हो सकता है किन्तु यहाँ पुरुष में चित्तकृत उपकार का कुछ भी संभव नहीं ?

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—चित्तका पुरुष के साथ संबन्ध ही नहीं और पुरुष उपकार्य भी नहीं।

प्रश्न—यदि दोनों मानें तो ?

उत्तर—तो पुरुष परिणामी हो जायगा।

उत्तर—'अयस्कान्तमणिकल्पमि'त्यादि। पुरुषसंयुक्त चित्त नहीं यह ठीक है किन्तु पुरुष सन्निहित दैशिक कालिक नहीं क्योंकि देशादिसंबंध भी पुरुष में नहीं किन्तु योग्यतालक्षण संबंध है, पुरुषमें भोक्तृलक्षण और चित्तमें भोग्यलक्षण शक्तिरूप योग्यता है विशेष आकर ग्रन्थों में देखिये॥ १-४॥

इसी का विवरण सूत्रकार ने किया है। सूत्र--(१) 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' यो-द-४-२३ इति। 'दृग्दृश्योपरक्तं चित्तमेव विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नम्' आत्मा चेतन है चित्त अचेतन है तथा आत्मा विषयी है चित्त विषय है, दोनों के परस्पराध्यास होने पर अचेतन चित्त चेतनधर्मक चेतन आत्मा अचेतनधर्मक परस्पर अध्यस्तधर्म के होने से वस्तुतः विषयात्मकचित्त अविषयात्मक के समान अचेतन भी चेतन के समान जपाकुसुमसन्निहित स्फटिकमणि के समान सर्वार्थं कहा जाता है इसी चित्तसारूप्य से

---

(१) 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' ॥ ४-२३ ॥ अर्थ—जैसे घटादिविशेपितचित्त घटादि अर्थ को प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध करता है इसी प्रकार द्रष्टा की छाया के सम्पर्क से तदुपरक्त चित्त द्रष्टा को भी प्रत्यक्ष से सिद्ध करता है। तीन आकारों का ज्ञान है—'घटमहं संप्रत्येमि' मैं घट जानता हूँ ज्ञेय, ज्ञाता, और ज्ञान तीनों का भान होता है अतः ज्ञेय के समान ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध है तो भी यह विविक्त बुद्धयादिव्यतिरिक्त चैतन्यरूप से अर्थात् पारमार्थिकस्वरूप से नहीं सिद्ध कर सकता, जैसे जल में चन्द्रमा का बिम्ब प्रत्यक्ष होता है परन्तु बिम्ब प्रतीयमानरूप से पारमार्थिक नहीं है बिम्ब चञ्चल तथा स्वल्पपरिमाण जल के भीतर प्रतीत होता है पर है विपरीत केवल बिम्बसत्ता में प्रमाण है इससे बिम्ब अप्रत्यक्ष है यह नहीं कह सकते प्रत्यक्षबिम्ब जलगत है इसमें जैसे अप्रमाण है वैसे बिम्बस्वरूप में भी अप्रमाण है यह नहीं कह सकते तस्मात् चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्यविषयकचित्तवृत्ति चैतन्याविपयक नहीं यही चित्तमें सर्वार्थत्व है यही कहते हैं—'मनो हि' त्यादि से। विपयाकारापत्ति से मन्तव्य अर्थ से उपरक्त मन है इतना ही नहीं किन्तु वह स्वयं विषय होने से पुरुष से आत्मीयवृत्ति से अभिसम्बद्ध है यह चित्त दृग्दृश्योपरक्त विपयविपयिनिर्भासचेतनाचेतन स्वरूपापन्न विपयात्मक भी अविपयात्मक के समान अचेतन चेतन के समान स्फटिकमणिकल्प सर्वार्थं कहा जाता है यह चित्त में चैतन्यच्छायापत्ति वैनाशिकों को भी मान्य है अन्यथा वे भी चित्तमें चैतन्य का आरोप कैसे करेंगे कोई वैनाशिक चित्तको ही चेतन मानते हैं—'अपरे विज्ञानवादिनः' इति।

यदि चित्त ही द्रष्टाकार और दृश्याकार प्रतीत होता है तो चित्त से अभिन्न ही द्रष्टा और दृश्य है, कहा भी है—

'अभिन्नोऽपि हि बुद्धयात्माविपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥' इति।

चित्त और आत्मा दोनों अभिन्न है किन्तु भ्रान्त को चित्त ग्राह्य है आत्मा ग्राहक है इस प्रकार ग्राह्यग्राहकभाव से भिन्न के समान प्रतीत होते हैं फिर कैसे वे ग्राह्य है ?

उत्तर—'समाधिप्रज्ञायाम्' इति। कर्मकर्तृविरोधादि पूर्वयुक्तियों से चित्तातिरिक्त अपरिणामी नित्यचेतन है यह स्वीकार कराकर अष्टाङ्गयोगोपदेश से समाधिप्रज्ञामें उतार कर समझाना समाधि में स्वयं चित्तातिरिक्त आत्मा प्रतीत होगा अतः वे भी आत्मा होकर संसारानर्थ से मुक्त हो जांयगे इस प्रकार वे भी दयनीय हैं। समाधिप्रज्ञा में जो ज्ञेयप्रतिबिम्बभूत आत्मा है वह किसका प्रतिबिम्ब है आत्मा तो आलम्बन ही है अतः जिसका प्रतिबिम्ब है वह कूटस्थ चैतन्य भिन्न ही है।

तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः (१) 'तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (यो० द० ४-२४) यस्य भोगापवर्गार्थं तत्, स एव परश्चेतनोऽसंहतः पुरुषः, न तु घटादिवत् संहत्यकारि चित्तं चेतनमित्यर्थः। एवम्

भ्रान्त तार्किकादिक उसको चेतना कहते हैं। सूत्र—'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वादि'ति। अर्थ—जिसके भोग व अपवर्ग के लिए चित्त है वही चेतन असंहत असमुदायात्मक चेतन पर-पुरुष है। घटादिवत् संहत्यकारि चित्त चेतन नहीं है जैसे घटादि ससुदायात्मक होने से परप्रयोजनकारि है।

प्रश्न—चित्तसे अभिन्न ही आलंबन क्यों न हो धृष्टता से समझाने पर भी यदि ऐसा कहें कि वह आत्मा चित्तमात्र ही है उससे अतिरिक्त नहीं स्वरूपका निश्चय कैसे करेगी जैसे अंगुलीका अग्रभाग अपने से अपना स्पर्श नहीं करता ?

उत्तर—इसपर तो यह उत्तर देना कि प्रज्ञा अपने से अपने गर्दन पर स्वयं नहीं चढ़ सकता क्योंकि एक क्रिया में एक ही कर्ता कर्म नहीं हो सकता यह लोकानुभवसिद्ध है तथा प्रज्ञासे प्रज्ञाका अवधारण भी नहीं हो सकता ॥ ४-२३ ॥

(१) 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' ४-२४। अर्थ—चित्तसे अतिरिक्त आत्मा है इसमें अन्य हेतु कहते हैं—'तदि'त्यादि से। अगणितवासना से चित्रित चित्त पदार्थ है स्वातिरिक्त के भोगापवर्गार्थ है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'संहत्यकारित्वात्'। मिलकर कार्यकारी है अकेला नहीं जो मिलकर कार्य करते हैं वे परार्थ ही दृष्ट है यथा शयन आसन अभ्यंगादि, संहत्यकारि चित्त स्वार्थ नहीं प्रवृत्त होता सुख सुखार्थ नहीं किन्तु अन्यार्थ है एवं चित्तको भी समझना। यद्यपि संख्यातिग कर्मवासनायें और क्लेशवासना चित्तमें ही रहती हैं पुरुषमें नहीं ऐसी स्थिति में वासनाधीन फलभोग चित्तको ही भोक्ता सिद्ध करते हैं भोक्ता के लिये भोग्य है अतः सब चित्तार्थ ही है यही प्राप्त है तथापि चित्त अगणितवासना से चित्रित भी परार्थ है क्योंकि संहत्यकारी है।

चित्त संहत्यकारी भी हो और स्वार्थ भी, इसमें क्या विरोध है यह यदि कोई कहें तो उसके प्रति कहते हैं—'संहत्ये'ति। सुखचित्त भोगोपलक्षणार्थ है इससे दुःखचित्त भी समझना ज्ञान से अपवर्ग कहा है। चित्तका दो ही कर्तव्य है अनुकूलात्मकसुख प्रतिकूलात्मकदुःख अपने लिये अनुकूल प्रतिकूल नहीं होते क्योंकि सुखादि सुखादि में नहीं रह सकते अन्यथा स्थितिविरोध स्पष्ट है भिन्नमें आधाराधेयभाव होता है अभिन्न में नहीं, संहत्यकारी अन्य भी कोई साक्षात् वा परंपरा से सुख दुःख भोगता हुआ सुखादि से अनुकूलनीय वा प्रतिकूलनीय है अतः जो साक्षात् वा परंपरा से सुखदुःखों में व्यापार करता है वही उन दोनों से अनुकूलनीय वा प्रतिकूलनीय है वह नित्य उदासीन पुरुष है वही मुक्त होता है। एवं ज्ञेयपरतन्त्र ज्ञान भी स्वात्मा में पूर्वोक्तवृत्तिनिरोध संज्ञानार्थं नहीं बाह्यविषयकज्ञान से अपवर्ग का संभव नहीं अन्यथा विदेह प्रकृतिलयों की भी मुक्ति हो जायगी अतः ज्ञान भी स्वार्थ नहीं और न परार्थ ही किन्तु पुरुषार्थ है।

प्रश्न—शयनादि जो परार्थ दृष्ट है वे सब संहत—परार्थ ही हैं शरीरेन्द्रियादि संघातविशिष्ट ही आत्मा के लिये शयनादि है केवल के लिये नहीं अतः उक्तानुमान से भी संहत ही आत्मा सिद्ध होगा उदासीन चैतन्यमात्र नहीं ?

'(१) विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः'। एवं योऽन्तःकरणपुरुषयोर्विशेषदर्शी, तस्य योऽन्तः-करणे प्रागविवेकवशादात्मभावभावनाऽऽसीत्, सा निवर्तते, भेददर्शने सति, अभेदभ्रमानुपपत्तेः। सत्त्व-पुरुषयोर्विशेषदर्शनं च भगवदर्पितनिष्कामकर्मसाध्यम्। तल्लिङ्गं च योगभाष्ये दर्शितम्-'यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते, तथा मोक्षमार्गश्रवणेन सिद्धान्त-रुचिवशात् यस्य लोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते, तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्ग-

वैसे ही चित्त भी संहत्यकारि होने से परार्थ है इस तरह सूत्र-'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' पूर्वोक्तरीति से जो अन्तःकरण और पुरुष इन दोनोंमें पूर्वोक्त विशेष का जानकार है उसके अन्तःकरण में अविवेकवश सर्वकाल में उत्पन्न जो वासना थी उसकी निवृत्ति होती है क्योंकि भेदसाक्षात्कार होने से अभेदभ्रम नहीं होता है, सत्त्व-पुरुषों के विवेक का साक्षात्कार भगवच्चरणारविन्द में समर्पित निष्कामकर्म से होता है। इसका लिङ्ग योगभाष्य में भाष्यकार ने दिखलाया है 'यथा प्रावृषि इत्यादि'। अर्थ-वर्षाकाल में तृणांकुर भूमिभेदन से उस भूमि में तद्बीज के सत्ता का अनुमान होता है वैसे ही मोक्षोपायश्रवण से पूर्वसिद्ध अन्तः-करण रुचिवश जिसमें रोमाञ्च अश्रुपातादि देखे जाते हैं उनमें विशेषदर्शनबीज अपवर्ग हेतु पूर्वजन्मार्जित है।

उत्तर—संहत परार्थ मानने से वह भी संहत होने से उसमें भी परार्थत्वानुमिति होगी एवं रीति से अनवस्था होगी अतः असंहतपदार्थ सिद्ध समझना। पुरुष का भोगसुखादि साक्षात्कार ही है अपवर्ग विवेकख्याति साक्षात्कार अथवा स्वरूप से अवस्थान वह सर्वथा चैतन्यमात्र है क्योंकि पुरुष अपरिणामी और निर्धर्मक है।

प्रश्न—परार्थत्वमात्र से पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती विनाशादिमें भी परार्थत्वका संभव है विनाशार्थ ही उत्पत्ति कुछ लोग मानते हैं ?

उत्तर—भोगअपवर्गार्थ नहीं यहां पर साध्यकोटि में प्रविष्ट है अतः सामान्य यत्किंचित्पर से सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तर नहीं जो यों विशेषपुरुषाख्य पर है वह कूटस्थ नित्य होने से संहत्यकारी नहीं अतः उसमें परार्थत्वापत्ति से अनवस्था नहीं यो० वा० ॥ ४-२४ ॥

(१) 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' ॥ ४-२५ ॥

मोक्षमूल बीज युक्तिप्रचुर आत्मदर्शन कहकर तदुपदेश के अधिकारी पुरुषकी अनधिकृत पुरुषकी व्यावृत्ति कहते हैं—'विशेषदर्शिनः' इत्यादिसे। अर्थ—जिसकी आत्मामें भावना है उसकी अष्टाङ्गयोगोपदेश के अनुसार तदनुष्ठानशील पुं ज्ञान की योगाङ्ग के अनुष्ठानपरिपाक से सत्त्वपुरुष के विवेकदर्शन से शरीरादिमें आत्मभाव भावना की निवृत्ति होती है, जिसकी आत्मभावना ही नहीं है नास्तिक की उपदेशानधिकृत पुरुष जिसको आत्मतत्त्व परलोकसद्भाव का निश्चय नहीं उसको न उपदेश है न विशेषदर्शन आत्मभावना की निवृत्ति यह सूत्रका अर्थ है।

भागीयं कर्मभिर्निर्वर्तितमित्थमनुमीयते यस्य तु तादृशं कर्मबीजं नास्ति, तस्य मोक्षमार्गश्रवणे पूर्वपक्षयुक्तिषु रुचिर्भवति, अरुचिश्च सिद्धान्तयुक्तिषु, तस्य 'कोऽहमासम् कथमहमासमि'त्यादिभिरात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते' यो-भा० पृ० ४४१-४४२ इति ।

एवं सति किं स्यादिति । तदाह 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' । निम्नम्-जलप्रवहणायोग्यो नीचदेशः । प्राग्भारः-तदयोग्य उच्चप्रदेशः । चित्तं च सर्वदा प्रवर्तमानवृत्तिप्रवाहेण प्रवहज्जलतुल्यं तत्प्रागात्मानात्मविवेकरूपविमार्गवाहिविषयभोगपर्यन्तमस्य आसीत् । अधुना त्वात्मानात्मविवेकमार्गवाहि कैवल्यपर्यन्तं संपद्यत इति । अस्मिंश्च विवेकवाहिनि-

---

यह अनुमान होता है जिसमें ऐसा कर्मबीज नहीं है उसका मोक्षोपायश्रवण में पूर्वपक्षयुक्तियों में ही रुचि होती है, सिद्धान्तयुक्तियों में अरुचि होती है उसको मैं कौन था कैसे था इत्यादि आत्मभावना स्वाभाविक होती है उक्तभावना विशेषदर्शी में नहीं होती है ।

प्रश्न—ऐसा होने पर क्या होता है ?

उत्तर—सू०—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इति । अर्थ—निम्न - जलवहनयोग्य नीचप्रदेश प्राग्भार है तदयोग्य उच्चप्रदेश है । चित्त सदा वर्तमान धाराप्रवाह से वहता हुआ जल के समान है विवेकज्ञान से पूर्व आत्मानात्मविवेकरूप जो मार्ग उससे जो विपरीतमार्ग अनात्मविषयकभोग

प्रश्न—आत्मभावना चित्तमें रहनेवाली है उसका ज्ञान कैसे ?

उत्तर—'यथे'ति । प्राग्जन्मार्जित तत्त्वदर्शनबीज अपवर्गभागीय जो कर्म अष्टाङ्गयोगानुष्ठान अथवा तदेकदेशका अनुष्ठान उसको इस पुरुष ने किया है यह अनुमान होता है उसकी आत्मभावना अवश्य वस्तु के अभ्यास के विना स्वाभाविकी होती है । पूर्वपक्ष कर्मफल नहीं है अतः परलोक भी नहीं है इनमें उसकी रुचि होती है और निर्णय में कर्मफल है पारलोकिक और परलोक ये दोनों हैं इसमें अरुचि होती है । स्वर्ग नरक मोक्षादि से विचित्ररूपता चित्तमें ही होती है चिन्मात्रमें नहीं यह निश्चित होनेपर आत्मभाव चित्तता नहीं होती है । श्रुति भी है—'एतं ह वाव न तपति, किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति' इति । आत्मभावना का स्वरूप भाष्यकारने कहा है मैं कौन था ? क्या मनुष्यादिरूप था ? कैसे था ? दुःखसे दर्शनवान् था वर्तमान भी यह मेरा स्वरूप क्या देह है ? वा मन आदि है विशेष योगवार्तिक देखिये ।।४-२५।।

'योगभाष्ये दर्शितम्' इसी सूत्र के योगभाष्य में दिखलाया है ।

'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यं प्राग्भारं चित्तम्' विषयदर्शीका कैसा चित्त होता है सूत्रसे उत्तर कहते हैं—'तदे'ति । कैवल्य में प्राग्भार आभिमुख्य है जिसका एवंभूत चित्त होता है विशेष दर्शनावस्था स्वर्गादि में वैराग्यवश चित्त अन्यथा तदभिलाषुक नहीं होता विषयाभिमुख चित्त अज्ञान निम्न अज्ञानमार्ग संचारी होता है 'प्राग्भार-आभिमुख्य' यह यो० वा० है । 'तदयोग्य उच्चप्रदेशः' मधुसूदनी है ।

चित्ते येऽन्तरायाः, ते सहेतुका निवर्तनीया इत्याह सूत्राभ्यां 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः, हानमेषां क्लेशवदुक्तम्' यो-द-४-२७--२८। तस्मिन्-विवेकवाहिनि चित्ते छिद्रेषु-अन्तरालेषु प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाण्यहं ममेत्येवंरूपाणि व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्यः क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति। एषां च संस्काराणां क्लेशानामिव हानमुक्तम्, यथा क्लेशा अविद्यादयो ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं प्राप्नुवन्ति,

---

तत्परतया इस समय आत्मानात्मविवेकमार्गवाही होने से कैवल्यपर्यन्त सम्पन्न होता है इस विवेकवाही चित्तमें जो विघ्न हैं वे सहेतुक और और निवर्तनीय हैं यह दो सूत्रों से सूत्रकार ने कहा है। (१) 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः, (२) हानमेषां क्लेशवदुक्तम्'। अर्थ—इस विवेकवाही चित्त में बीच बीचमें व्युत्थानरूप 'अहं मम' इत्याकारक ज्ञानान्तर होते हैं। ज्ञानान्तर व्युत्थानानुभव से उत्पन्न संस्कारों से होते हैं, यद्यपि वे संस्कार क्षीयमाण हैं तो भी उक्त प्रत्यय होते हैं उन संस्कारों का त्याग क्लेशवत् कहा है जैसे अविद्यादिक्लेश ज्ञानाग्निदग्धबीजभाव होने से चित्तभूमि में फिर अंकुर लाभ नहीं कर सकते,

---

(१) 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥' ४-२७॥

प्रश्न—विशेषदर्शन यदि विवेकनिष्ठ होगा तो कभी भी व्युत्थित न होगा देखते हैं भिक्षाटनादि दशा में व्युत्थित चित्त ?

उत्तर—'तच्छिद्रेत्या'दि सूत्र से। प्रतीति होती हैं जिससे वह प्रत्यय चित्तसत्त्व है इससे चिति का विवेक है उससे निम्न का 'जानामि साक्षान्मोक्षम्' जानता हूँ विवेककर दिखलाया गया है नहीं जानता हूँ यह मोह है एतन्मूलक अहंकार, ममकार है 'अहमस्मि' मैं हूँ इससे अहंकार ममसे ममकार दिखलाये हैं ये क्षीयमाण बीज पूर्वसंस्कार व्युत्थानसंस्कारों से होते हैं॥ ४-२७॥

(२) 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥' ४-२८॥

प्रश्न—अच्छा तो यदि विवेक ज्ञान होने पर भी व्युत्थानसंस्कार—ज्ञानान्तर जबतक होते हैं तो इनके हानि का क्या उपाय है जिससे फिर ज्ञानान्तर को उत्पन्न न करे ?

उत्तर—'हानमि'त्यादिसूत्र। जिसको परिपक्वविवेकज्ञान नहीं हुआ है उस अपरिपक्वविवेकज्ञान का अक्षीयमाणसंस्कार प्रत्ययान्तर को उत्पन्न करते हैं परिपक्वविवेकज्ञान के संस्कार ज्ञानान्तरजनक नहीं होते जैसे विवेकरन्ध्र में (गर्त में) उत्पन्न क्लेश संस्कारान्तर के उत्पादक नहीं होते यह क्यों होता है इसका कारण यह है कि इन क्लेशों के बीजत्व का विवेकज्ञान से दाह हो जाता है इसी प्रकार व्युत्थानसंस्कार भी भस्म हो जाते हैं।

प्रश्न—व्युत्थानसंस्कारों का निरोध विवेक ज्ञानसंस्कारों से करना और विवेकसंस्कारों का निरोध निरोधसंस्कार से करना, निरोधसंस्कारों का निरोध किससे होगा ? क्योंकि वे अबाह्यविषयक बतलाये गये हैं ?

यथा ज्ञानग्निना दग्धबीजभावाः संस्काराः प्रत्ययान्तराणि न विप्रसोतुं [प्ररोढु] मर्हन्ति ज्ञानाग्नि-संस्कारास्तु यावच्चित्तमनुशेरत इति। एवं च प्रत्ययान्तरानुदयेन विवेकवाहिनि चित्ते स्थिरीभूते सति 'प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेधः समाधिः' यो-द-४-२९। प्रसङ्ख्या-नम्-सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः। शुद्धात्मज्ञानमिति यावत्। तत्र बुद्धेः सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव च शान्तेदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन यथावद्विवेकज्ञानम्-सर्वज्ञातृत्वं च। विशोका नाम सिद्धिः फलम्। तद्वैराग्याच्च कैवल्यमुक्तम्।

वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्धबीजसंस्कार ज्ञानान्तररूप अंकुर का उत्पादन नहीं कर सकते, ज्ञानाग्निसंस्कार तो यावच्चित्त रहते हैं, इस प्रकार ज्ञानान्तर की अनुत्पत्ति से विवेकवाही चित्त स्थिर होने पर। सू०—(१) 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'। प्रसंख्यानम् - सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति। चित्त से आत्मा भिन्न है यह ज्ञान प्रसंख्यान है। शुद्ध आत्मज्ञान यह फलितार्थ है। इसमें बुद्धि-के सात्त्विक परिणाम में जिसने संयम किया है उसको सब गुण परिणामों में स्वामीके समान सर्वाधिष्ठातृत्व होता है उन्हीं को शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थित को जबतक विवेकज्ञान रहता है तबतक सर्वज्ञातृत्व भी रहता है वह विशोका नाम सिद्धि उसका फल है उसके वैराग्य होने से मोक्ष है।

इसीको सूत्रकार कहते हैं—

(१) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च, तद्वैराग्या-दपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' इन दोनों सूत्रों से। अर्थ—इस प्रसंख्यान में अकुसीदस्य फललिप्सारहितस्य, ज्ञानान्तर के अनुदय होने से सब प्रकार से विवेकख्याति का परिपोष होने से धर्ममेघ समाधि होती है।

उत्तर—चित्ताधिकार समाप्ति होने पर चित्त के साथ ही सदा लीन हो जाते हैं॥ ४—२८॥

(१) 'प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥' ४—२९॥

सूत्रकार उक्त प्रकार से व्युत्थाननिरोधोपाय विवेकज्ञान को कहकर प्रसंख्यान के निरोध का उपाय कहते हैं—'प्रसंख्यानेऽपी'ति। प्रसंख्यान-विवेकसाक्षात्कार उसमें भी जो अकुसीद अर्थात् कृषीवल (किसान) के समान सर्वभावा-धिष्ठातृत्वादिरूपसिद्धि को न चाहें प्रत्युत उससे भी क्लेश ही माने क्योंकि परिणामित्वादिदोष उसमें भी है अतः उससे भी विरक्त सर्वथा विवेकख्यातिनिष्ठ ही हो इसी का विवरण करते हैं—यदि व्युत्थानप्रत्यय हो तो वह ब्राह्मण सर्वथा विवेकख्यातिनिष्ठ नहीं है यह समझना, क्योंकि विवेकख्यातिनिष्ठ को ज्ञानान्तर नहीं होता है उसी से वह सर्वथा विवेकख्याति कहाता है, तब उसको धर्ममेघ समाधि होती है निष्कर्ष यह है कि विवेक-साक्षात्कार में भी विरक्त निरोध के उपाय को चाहता है वह धर्ममेघ समाधि की उपासना करे उसकी उपासना से सर्वथा विवेक-ख्याति होती है तब उसके निरोध में समर्थ होता है धर्मं मेहति वर्षति सिञ्चति वा इति धर्ममेघः॥ ४—२९॥

(१) 'सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् सर्वज्ञातृत्वञ्च॥' ४—४९॥

रजस्तमोरूपमलरहित बुद्धिसत्त्व का परवैशारद्यरूप वशीकार संज्ञा वर्तमान चित्त योगी को सर्वभावों में अधिष्ठातृत्व

'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, सर्वज्ञातृत्वं च' यो० द० ३-४९ ।' (१) 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमि' यो० द० ३-५० ति सूत्राभ्याम् । तदेतदुच्यते, तस्मिन्—प्रसङ्ख्याने सत्यप्यकुसीदस्य-फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारैर्विवेकख्यातेः परिपोषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति ।

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनमि ।।' या० १-८ ।। ति स्मृतेः ।

धर्मम्—प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारं मेहति-सिञ्चतीति धर्ममेघः । तत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्यर्थः ।

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।'

यह स्मृति है । यज्ञ आचार दम (इन्द्रियों का दमन या उपशमन) अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म ये सब धर्म है । इनमें योगद्वारा आत्मदर्शन उत्कृष्ट धर्म है । धर्म जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूप को सींचता है

अर्थात् प्रकृति तत्तत्कार्य पुरुषों में अधिष्ठातृत्व स्वेच्छा से विनियोग करने की शक्ति अपने देह के समान होती है एवम् प्रकृतिपुरुषादि सर्वज्ञातृत्व भी होता है यह भी संयम साक्षात्कारपर्यन्त इष्ट है संयमनिष्पत्ति ही सिद्धि का हेतु है ।

प्रश्न—परार्थात् इस सूत्र में उक्त संयम की अपेक्षा इसमें क्या विशेष है जिससे उसमें पुरुष की न सिद्धि है यहाँ न दूसरी सिद्धि ?

उत्तर—यहाँ सुखाद्यनुभवरूप पुरुष प्रत्यय अतएव परिच्छिन्न में संयम कहा है अपरिच्छिन्न में नहीं, यहाँ पर उस संयम से ज्ञात परिपूर्ण पुरुष में संयम कहते हैं यह विशेष है ।

प्रश्न—सत्त्व यह विशेषोपादान व्यर्थ है पुरुषान्यता यही कहना ठीक है ?

उत्तर—रजस्तम से पुरुष में साक्षादविवेक नहीं होता किन्तु बुद्धिसत्त्वाविवेक द्वारा ही देहेन्द्रियादि में अविवेक होता है स्वप्नबाधिर्यादि अवस्था में चेतन में देहेन्द्रियभेद बालकों से भी सुज्ञेय है, परवैशारद्य परमस्वच्छता अतिसुक्ष्मवस्तु प्रतिबिम्बग्रहणसामर्थ्य है परम वशीकरणसंज्ञा परमाणु-परमहत्त्वान्त वशीकरण कहा है 'अशेषगृह्य'ेति । संकल्पमात्र से पुरुष संयुक्त असंयुक्त अशेषवस्तु समानरूप से सब गुणों के स्वामी हैं तथापि मायादिप्रतिबन्ध से सब गुण सदा सब पुरुषों के प्रति भोग्यत्व से उपस्थित नहीं होते यह श्रुति में है—'स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः-समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादिसे क्रियैश्वर्यरूपसिद्धि का व्याख्यान कर ज्ञानैश्वर्यरूप की व्याख्या करते हैं—बद्ध मुक्त ईश्वर तथा शान्तादिरूपधर्मविशिष्टों का एक ही समय में ज्ञान होता है यही सर्वज्ञातृत्व है जिसको प्राप्त कर योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन वशी विहार करता है इसी को विशोकासिद्धि फल कहते हैं । ४-४९ ।

(१) 'तद्वैराग्यादपि दोषवीजक्षये कैवल्यम् ।।' ३-५० ।।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः, ततो धर्ममेघात्समाधेः, धर्माद्वा क्लेशानां पञ्चविधानाम्-अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशानाम्, कर्मणां च रक्त-कृष्ण-शुक्लभेदेन त्रिविधानामविद्यामूलानामविद्याक्षये बीजक्षयादात्यन्तिकी निवृत्तिः कैवल्यं भवति। कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तेरात्यन्तिक्याः उचितत्वादित्यर्थः।

विस्तरेणोक्तस्यार्थस्य संक्षेपेण वर्णनम्।

एवं स्थिते 'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्' इत्यनेन संप्रज्ञातः समाधिरेकाग्रभूमावुक्तः, 'नियत-मानसः' इत्यनेन तत्फलभूतोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्निरोधभूमावुक्तः। 'शान्तिमि'ति निरोधसमाधिज-संस्कारफलभूता प्रशान्तवाहिता, निर्वाणपरमामि'ति धर्ममेघस्य समाधेस्तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्य-हेतुत्वम्, 'मत्संस्थामि'त्यनेनौपनिषदाभिमतं कैवल्यं दर्शितम्, यस्मादेवं महाफलो योगः, तस्मात् तमं महता प्रयत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

इसलिए धर्ममेघ है तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु है यह अर्थ है। सू०—'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ४-३०। अर्थ—धर्ममेघसमाधिसे अथवा धर्म से अविद्यादिपञ्चविध क्लेशों का एवं रक्त कृष्ण शुक्ल भेद से त्रिविध तीन प्रकार की अविद्यामूल अविद्या के क्षय होने से बीजक्षय से आत्यन्तिकनिवृत्तिरूप कैवल्य होता है, कारण निवृत्ति से अत्यन्तकार्यनिवृत्ति उचित ही है।

उस परिस्थिति में 'युञ्जनेन्वं सदात्मानम्' इस वचन से एकाग्रभूमि से संप्रज्ञात समाधि कहा है। 'नियतमानसः' इस शब्द से तत्फलभूत असंप्रज्ञातसमाधि निरोधभूमि में कहा है। 'शान्ति' इस विशेषण से निरोधसमाधिजसंस्कार का फलभूत प्रशान्तवाहिता कही है। 'निर्वाणपरमां' इस शब्द से धर्ममेघसमाधि तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्य हेतु है यह स्फुट किया। 'मत्संस्थाम्' इस शब्द से औपनिषदाभिमत कैवल्य दिखलाया। जिस कारण ईदृश महाफल योग है अतः बड़े प्रयत्न से उस योग का संपादन करो—यह भगवान् का अभिप्राय है ॥१५॥

दुःखदोषबीज निखिलकर्मवासनाओं का चित्त के साथ लय होने पर पुनर्गुणसंयोगरूप कैवल्य होता हैं विशेष यो० वा० में देखिए।

'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ॥ ४-३० ॥ मूल में देखिए।

दूसरे संयम का फल आभासमात्र है वास्तविक नहीं विवेकख्याति का संयम परमपुरुषार्थ है इसको दिखलाने के लिये विवेकख्याति का परवैराग्यजनन द्वारा मोक्षाख्यफल कहते हैं। 'तद्वैराग्यादि'ति। जब इस योगी के कर्मों का क्षय हो जाता है तब ऐसा ज्ञान होता है कि चितिशक्ति ही पुरुष है तथा च उक्त सिद्धि में वैराग्य होने पर असंप्रज्ञातगोय

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग अधिक भोजन करने वालेको और न अत्यल्प आहार करनेवालेको एवं न अधिक शयन स्वभाव वालेको और न अधिक जागने वालेको सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याहारादिनियममाह द्वाभ्याम्—'नाती'ति । यद्भुक्तं सत् जीर्यति-शरीरस्य च कार्यक्षमतां संपादयति, तत्-आत्मसम्मितमन्नम्, तदतिक्रम्य लोभेनाधिकमश्नतः न योगोऽस्ति, अजीर्णदोषेण व्याधिपीडितत्वात्, न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति, अनाहारात्, अत्यल्पाहाराद्वा रसपोषणाभावेण शरीरस्य कार्याक्षमत्वात् । 'यदुह वा आत्मसम्मितमन्नम्, तदवति, तन्न हिनस्ति । यद्भूयः, हिनस्ति तत् । यत्कनीयः, न तदवती' का. ७-२-२-१७' ति शतपथश्रुतेः । तस्माद्योगी नात्मसम्मितादन्नादधिकम्, न्यूनं वाऽश्नीयादित्यर्थः ।

इसी प्रकार योगाभ्यासपरायण पुरुष का दो श्लोकों से नियम कहते हैं, जो खाया हुआ अन्न पचकर शरीर को स्वकार्य समर्थ करता है उस अन्न को आत्मसम्मित कहते हैं । उसका उल्लंघन करके लोभ से तृष्णा से अधिक भोजन करनेवाले को योग नहीं होता अजीर्ण दोष से जो व्याधि-रोग उससे पीडित रहता है । सर्वथा न खानेवाले को भी योग नहीं होता क्योंकि अनाहार अथवा स्वल्पाहार से रसपोषण न होने से शरीर अपना कार्य करने म समर्थ नहीं होता 'यदुह वा आत्मसम्मितमन्नम्, तदवति । तन्न हिनस्ति, यद् भूयः । हिनस्ति तत्, यत् कनीयः, न तदवति' ऐसी शतपथ श्रुति है । —अर्थ—उक्तरीत्या आत्मसम्मित अन्न भुक्त होने पर रसादिद्वारा शरीर की रक्षा करता है वह शरीर का नाश नहीं करता, अधिक भुक्त अन्न शरीर का नाशक है जो स्वल्प अन्न वह शरीर की रक्षा नहीं करता यह अर्थ है ।

धर्ममेघसमाधि का फल कहते हैं--'ततः' इति । मूल क्लेशसंस्कार उनके साथ क्लेश अभिनिवेश से अतिरिक्त छिन्न हो जाते हैं अतएव प्रारब्धातिरिक्तकर्माशय क्लेश के साथ नष्ट हो जाते हैं फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती ।

प्रश्न—दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति मोक्ष है जीवित पुरुषमें दुःख अवश्य रहेगा ही श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'नह वैस शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति, तो फिर जीवन्मुक्ति कैसे हो सकती है यही प्रश्न करते है–'कस्मादिति'से ।

उत्तर—'यस्मादि' यो० भा० पृ० ४४७ ति । मिथ्याज्ञान संसार का कारण है निवृत्तिविपर्यय कोई भी कहीं किसीने उत्पन्न नहीं देखा अतएव गौतममहर्षि ने कहा —'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति । दुःख निदान का अत्यन्तसमुच्छेद गौणमुक्ति है पंचशिखाचार्यने इसको भी मोक्ष कहा है—'द्वितीयो रागक्षयात्' इति द्वितीयो गौण इत्यर्थः । जीवन्मुक्तों में सवासनक्लेशों का अत्यन्त विनाश हो हो जाता है यह सर्वसंमत मार्ग है ॥ ४-३० ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

उचित आहार विहार करनेवाले कर्मोंमें युक्त चेष्टा करनेवाले और योगके उचित शयन करनेवाले एवं जागनेवालेका योग सर्व दुःखनाशक होता है ॥ १७ ॥

अथवा—'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः सञ्चारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकम्, न्यूनं वाऽश्नतो योगो न संपद्यत इत्यर्थः । तथा अतिनिद्राशीलस्या, अतिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति हे अर्जुन ! सावधानो भवेत्यभिप्रायः । एकश्चकार उक्ताहारातिक्रमसमुच्चयार्थः, अपरोऽत्रानुक्तदोषसमुच्चयार्थः ।, यथा मार्कण्डेयपुराणे—

'नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः । ।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र ! योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥
नातिशीते न चैवोष्णे न द्वन्द्वे नानिलान्विते ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परम् ॥' इत्यादि ॥ १६ ॥

एवमाहारादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा, तन्नियमवतो योगान्वयमाह—'युक्ते'ति । आह्रियत इत्याहारः-अन्नम्, विहरणम्-विहारः पादश्रमः तौ युक्तौ-नियतपरिमाणौ यस्य, तथा अन्येष्वपि प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिषु कर्मसु युक्ता नियतकाला चेष्टा यस्य तथा, स्वप्नः-निद्रा अवबोधः-जागरणं तौ युक्तौ नियतकालौ यस्य, तस्य योगो भवति-साधनपाटवात्

इस कारण से योगी आत्मसम्मित अन्न से अधिक अथवा न्यून अन्न न खाया करे अथवा—

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः सांचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

इत्यादि योगशास्त्र कथित परिणाम से अधिक न्यून अथवा न खाने से योग नहीं सम्पन्न होता । एवं अधिक सोनेवाले को अतिजागरणशील को योग नहीं होता है, हे अर्जुन ! सावधान हो जाओ । एक चकार कथिताहार के अतिक्रम का समुच्चयार्थ है, दूसरा अनुक्तदोष समुच्चयार्थ है; मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है—'नाध्मातः क्षुधितः' इत्यादि (मूलमें देखिए) ॥ १६ ॥

उक्त आहारादि नियमरहितको योगाभाव कहकर उक्त नियमशीलको योग होता है यह कहते हैं—'युक्तसे' । आह्रियते इत्याहारः-अन्नम्' विहार पादश्रम, ये दोनों नियत परिणाम हैं जिसके उसको तथा अन्य में भी प्रणव जप उपनिषद् पाठादि कर्म में युक्त अर्थात् नियत काल चेष्टा है जिसकी तथा निद्रा

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

इस प्रकार योगाभ्याससे वशीभूत हुआ चित्त जिस समयमें परमात्मामें ही सुस्थित हो जाता है उस समय सभी कामोंसे तृष्णा रहित पुरुष युक्त अर्थात् समाहित कहा जाता है॥ १८॥

समाधिः सिध्यति, नान्यस्य। एवं प्रयत्नविशेषेण संपादितो योगः किंफल इति ? तत्राह— 'दुःखहे'ति। सर्वसंसारदुःखकारणाविद्योन्मूलनहेतुब्रह्मविद्योत्पादकत्वात्समूलसर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः। अत्राहारस्य नियतत्वम्-अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य, तृतीयमुदकस्य, वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेदित्यादि प्रागुक्तम्। विहारस्य नियतत्वम्—योजनान्न परं गच्छेदित्यादि। कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वागादिचापलपरित्यागः, रात्रेस्त्रिभागत्रयं कृत्वा प्रथमान्त्ययोर्जागरणम्, मध्ये स्वपनमिति स्वप्नावबोधयोर्नियतकालत्वम्। एवमन्येऽपि योगशास्त्रोक्ता नियमा द्रष्टव्याः।१७।

एवमेकाग्रभूमौ संप्रज्ञातं समाधिमभिधाय, निरोधभूमावसंप्रज्ञातं समाधिं वक्तुमुपक्रमते— 'यदे'ति। यदा-यस्मिन् काले परवैराग्यवशाद्विनियतं सर्ववृत्तिशून्यतामापादितं चित्तं विगत-

---

सूतना जागना युक्त अर्थात् नियत काल है जिसका उस पुरुष को योग होता है, क्योंकि उक्त साधन शील की इन्द्रियाँ परिपुष्ट होती हैं जिससे समाधि सिद्ध होती है अन्य दुर्बलेन्द्रियों को योग नहीं सिद्ध होता।

प्रश्न—इस प्रकार अतिपरिश्रम से समुत्पादित योग का क्या फल है ?

उत्तर—'दुःखहा' इति। सर्वसंसारदुःखकारणीभूत अविद्या उसके निश्शेषनिवृत्तिहेतु जो ब्रह्मविद्या उसका उत्पादक होने से सकल सकारण सर्वदुःख निवृत्ति का हेतु है। यहां पर आहार नियत है सव्यञ्जन-भोजन पेट का आध हिस्सा अन्न से, जलसे तीसरा हिस्सा पूर्ण करे अर्थात् पेटको चारभागों में विभक्त कर उसके आधेभाग को अन्नसे पूर्ण करे तृतीयभागकी जल पूर्ति करे और चौथाभाग वायुसंचार के लिये खाली रक्खे इत्यादि पूर्व में कह चुके हैं। चार कोश से अधिक न चलना चाहिये यह विहार नियम है, कर्म में चेष्टा का नियम वागादि चपलता का त्याग प्रयोजन से अधिक न बोलना, रात्रिका तीनभाग कर प्रथम और अन्त्यभाग में जागना मध्यभाग में सूतना यही शयन निद्रा का नियम है इसी प्रकार योगशास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी प्रयत्न पूर्वक पालन करना॥ १७॥

इस प्रकार एकाग्रभूमि में संप्रज्ञात समाधि कहकर निरोधभूमिमें असंप्रज्ञात में समाधि कहने का आरम्भ करते हैं—'यदे'ति। जब पर वैराग्यवश विशेषरूप से नियन्त्रित चित्त वृत्त्यभाववश सर्वशून्यतापन्न रजस्तमसे रहित अन्तःकरणसत्त्व स्वच्छ होने से सर्वाकारग्रहणसमर्थ भी सब ओर से निरुद्धवृत्तिक होकर

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। १९ ।।

जैसे निवात (वायु रहित) स्थानमें स्थित दीपक चञ्चल नहीं होता , वही उपमा (दृष्टान्त) है । सम्प्रज्ञात समाधिवाले अतएव समो चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेवाले तथा असम्प्रज्ञात समाधिरूप योगका अनुष्ठान करते हुए योगीकी आत्मा अर्थात् चित्तकी कही जाती है ।। १९ ।।

रजस्तमस्कमन्तःकरणसत्त्वं स्वच्छत्वात्सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतो निरुद्धवृत्तिकत्वात् आत्मन्येव-प्रत्यक्चिति अनात्मानुपरक्ते वृत्तिराहित्येऽपि स्वतः सिद्धस्यात्माकारस्य वारयितुमशक्यत्वाच्चितेरेव प्राधान्यात्, न्यग्भूतं सदवतिष्ठते-निश्चलं भवति तदा-तस्मिन् सर्ववृत्तिनिरोधकाले-युक्तः-समाहित इत्युच्यते । कः ? यः सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः-निर्गता दोषदर्शनेन सर्वेभ्यो दृष्टादृष्टविषयेभ्यः कामेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्येति, परं वैराग्यमसंप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं साधनमुक्तम् । तथा च व्याख्यातं प्राक् ।। १८ ।।

समाधौ निर्वृत्तिकस्य चित्तस्योपमानमाह—'यथे'ति । दीपचलनहेतुना वातेन रहिते देशे स्थितो दीपो यथा चलनहेत्वभवान्नेङ्गते-न चलति सोपमा स्मृता-सदृष्टान्तश्चिन्तितो योगज्ञैः । कस्य ? योगिन एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधिमतोऽभ्यासपाटवात् यतचित्तस्य-निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेः

अनात्मानुपरक्त प्रत्यक्चैतन्य में न्यग्भूत (दबकर) गुणभाव से अवस्थित होता है अर्थात् निश्चल रहता है, भाव यह है कि 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस सूत्र के अनुसार अस्मितादिद्वारा अनात्मविषयक वृत्त्युपरक्त आत्मविषयक चित्तवृत्ति होती है तो वह शुद्धचैतन्याकारवृत्ति न होने से चित्त निश्चल नहीं रह सकता सर्ववृत्तिशून्यत्व ही निश्चलत्व है अनात्मविषयकवृत्तिदशामें वृत्ति ही प्रधान रहती है आत्मा तदनुसारी प्रतीत है अतः न्यग्भूत होकर ही प्रतीत होता है। और जब पर वैराग्य से सकल अनात्मविषयकवृत्ति निरुद्ध हो जाती है अतएव निर्वृत्तिक मन शुद्ध अनुपरक्त आत्मा के सम्मुख स्थित होता है तो अतिस्वच्छ होने से चितिका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस कारण तदाकारवृत्ति रहने से सर्ववृत्तिशून्यत्वरूप निश्चलत्व चित्तमें कैसे हो सकता है ? इस शङ्का का वारण करते हैं कि वह स्वतः सिद्ध है उसका वारण कोई नहीं कर सकता है, वारण तो आगन्तुकों का ही होता है जैसे स्वच्छदर्पणादि सम्मुख स्थित की छाया दुष्परिहर है वैसा ही अन्तःकरणसत्त्वमें चिति छाया भी दुष्परिहर है चितिप्राधान्य होने से वह वृत्ति चित्त चाञ्चल्य में हेतु नहीं उस वृत्ति निरोध काल में वह योगी युक्त कहाता है।

प्रश्न—कौन ?

योगी जो सब कामों से निस्पृह है विषयदोषदर्शन से सर्वदृष्टादृष्टविषयक कामों से जिसकी तृष्णा निवृत्त हो चुकी है पर वैराग्य असंप्रज्ञात समाधिका अन्तरङ्ग साधन है वैसा ही पूर्वमें व्याख्यान किया ।।१८।।

असंप्रज्ञातसमाधिरूपं योगं निरोधभूमौ युञ्जतः-अनुतिष्ठतो य आत्मा अन्तःकरणम्, तस्य निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च निश्चलो दीपो दृष्टान्त इत्यर्थः ।

'आत्मनो योगं युञ्जतः, इति व्याख्याने दार्ष्टान्तिकालाभः, सर्वावस्थस्यापि चित्तस्य सर्वदाऽऽत्मपदवैयर्थ्यं च, न हि योगेन आत्माकारता चित्तस्य संपाद्यते, किन्तु स्वत एव

समाधिमें निवृ त्तिक चित्तकी उपमा कहते हैं 'यथे'तिसे । प्रदीप प्रकंपनहेतु पवन शून्यप्रदेश में स्थित प्रदीपचांचल्यकारणाभावसे जैसे नहीं चलता वही उपमा योगियोंसे स्मृत हुई है ।

प्रश्न—किस योगी का ?

उत्तर—एकाग्रभूमि में संप्रज्ञातसमाधियुक्त अभ्यासपाटव से संयतचित्त अतएव निरुद्धसर्ववृत्तिक का असंप्रज्ञातसमाधिरूप योग निरुद्धभूमि में योगानुष्ठायी का जो आत्मा अन्तःकरण उसकी निश्चलता से सत्त्वोपचय होने से प्रकाशक भी है निश्चलदीप दृष्टान्त है यह अर्थ है ।

भाष्य के व्याख्यान में अपनी अरुचि प्रकाश करते हैं—'आत्मनो योगं युञ्जतः' इति व्याख्याने दार्ष्टान्तिकालाभः' इति । यहाँ यह भाव है कि 'यतचित्त' और 'आत्मा' ही दो शब्द हैं चित्तशब्द अन्तःकरणवाची है यह प्रसिद्ध है, आत्मशब्द गौणीवृत्ति से चित्त का वाचक है दार्ष्टान्तिक लाभ के लिये प्रसिद्ध चित्त का ही ग्रहण करना चाहिये मुख्यार्थं का त्याग कर गौणार्थग्रहण युक्तियुक्त नहीं, 'यतचित्त' बहुव्रीहिसमास से योगी में विशेषण नहीं है किन्तु कर्मधारयसमास मानकर 'यतं च तत् चित्तं च' इस प्रकार संयतचित्त का लाभ होता है यही दार्ष्टान्तिक है, 'यतचित्तस्य योगिनः' यहाँ सामानाधिकरण्य में षष्ठी नहीं जिससे यतचित्त योगी का बोध हो किन्तु व्यधिकरण में षष्ठी है योगी का यतचित्त दोष के समान है, अथवा भावप्रधान मानकर यतचित्त से 'तस्य भावस्त्वतलौ' 'सूत्र से भाव में त्वप्रत्यय मानकर प्रकृत्यर्थं में प्रकारीभूत धर्म भाव कहाता है अतः यतचित्तत्वका अर्थ यतचित्त होगा अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि में यतचित्तवान् प्रकृत्यर्थ में प्रकार है अतः वही त्वप्रत्ययार्थं है इस में समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पना में गौरव है अतः' कर्मधारयो वा' यह आगे स्वयं कहेंगे ।

भाष्यव्याख्यान में आत्मपदवैयर्थ्योद्भावन भी असङ्गत है, विवेकादियुक्तभाव से अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है इस अर्थ में 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' के समान योगसे आत्मा में अनात्माकारता की निवृत्ति कर स्वतःसिद्ध आत्माकारता का जो स्फुरणरूप है उसका अनुष्ठायी योगी का चित्त निर्वात-प्रदीपके समान निश्चल है इस अर्थ में 'आत्मज्ञो योगं युञ्जन्' इस वाक्य के प्रयोग में आत्मपद सार्थक है व्यर्थ नहीं अन्यथा 'आत्मसस्थं मनः कृत्वा' इस वाक्य में आत्मपद व्यर्थ हो जायगा 'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्' आत्मा इसके समान अन्तःकरण समाधिनिरोध का अनुष्ठान असंप्रज्ञात समाध्यभिमुख का यह भी भाष्यार्थ-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जिस अवस्थामें योगाभ्यासके द्वारा निरुद्ध चित्त उपरत (शान्त) हो जाता है और जिस परिणामके होनेपर शुद्ध अन्तःकरणसे परमात्मासे अभिन्न आत्माको देखता हुआ परमानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

आत्माकारस्य सतोऽनात्माकारता निवर्त्यत इति। तस्माद्दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमेवात्मपदम्। यतचित्तस्येति भावपरो निर्देशः, कर्मधारयो वा। यतस्य चित्तस्येत्यर्थः॥ १९॥

एवं सामान्येन समाधिमुक्त्वा, निरोधसमाधिं विस्तरेण विवरीतुमारभते—'यत्रोपरमते' इति। यत्र-यस्मिन् परिणामविशेषे योगसेवया-योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धम् एकविषयकवृत्तिप्रवाहरूपामेकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यन्निर्वृत्तिकतया सर्ववृत्तिनिरोधरूपेण परिणतं भवति, यत्र च—यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वमात्रेणाऽऽन्तःकरणेनात्मानं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्माभिन्नं सच्चिदानन्दघनमनन्तमद्वितीयं पश्यन् वेदान्तप्रमाणजया वृत्त्या साक्षात्कुर्वन्नात्मन्येव परमानन्दघने तुष्यति, न देहेन्द्रियसङ्घाते, न वा

हो सकता है इस में आत्मपदका सार्थक्य स्पष्ट हैं आत्मशब्द चैतन्यपरक है यह तो भाष्यकार कहा नहीं फिर व्यर्थ कैसे।

प्रश्न—चित्त की निश्चलता में प्रदीप ही दृष्टान्त क्यों दिया पर्वतादि क्यों न कहा ?

उत्तर—प्रदीप में प्रकाशकत्व निश्चलत्व दोनों धर्म है चित्त में भी आत्मसम्बन्ध से प्रकाशत्वादि है अतः यही दृष्टान्त उचित है पर्वतादि नहीं॥ १९॥

पूर्वोक्त रीतिसे समान्यतः समाधि कह कर विस्तार से निरोध समाधि के विवरण का आरम्भ करते हैं—'यत्रोपरमते' इति से। जिस चित्तपरिणामविशेष में योग से वा योगानुष्ठान परिपाकसे होने पर चित्तनिरुद्ध गृहीतैकविषयकवृत्तिधारारूप एकाग्रता का त्याग कर काष्ठरहित अग्निके समान शान्त होता हुआ निर्वृत्तिकस्वरूप होकर सर्ववृत्तिनिरोधरूप से परिणत होता है और जिस परिणाम के होने पर रजस्तम से अतिरोहित शुद्धसत्त्वमात्र अन्तःकरण से प्रत्यक्चैतन्य संसारस्वभावप्रतिकूल चैतन्यपरमात्माभिन्न सच्चिदानन्दघन अनन्त अद्वितीय देखता हुआ अर्थात् वेदान्तप्रमाणजन्यवृत्ति से प्रत्यक्ष करता हुआ परमानन्दघनस्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है देहेन्द्रियादि समुदाय में नहीं तद्भोग्य अन्य शब्द स्पर्शादि-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

जिस अवस्थाविशेषमें अनन्त निरतिशय विषयेन्द्रिय संयोगसे अभिव्यक्त सत्त्वमात्रवाहिनी बुद्धिसे ग्राह्य सुखका अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित योगी आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता है। (इसीको योग कहते हैं यह अग्रिम श्लोकसे सम्बद्ध है) ॥ २१ ॥

तद्धेत्वयेऽन्यत्र । परमात्मदर्शने सति अतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेति वा । तमन्तःकरणपरिणामम्-सर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं विद्यादिति परेणान्वयः । 'यत्र काले' इति तु व्याख्यानमसाधु, तच्छब्दानन्वयात् ॥ २० ॥

आत्मन्येव तोषे हेतुमाह-'सुखमि'ति । यत्र-यस्मिन्नवस्थाविशेषे आत्यन्तिकमनन्तम्-निरतिशयं ब्रह्मस्वरूपम्, अतीन्द्रियम्-विषयेन्द्रियसंप्रयोगानभिव्यङ्ग्यं बुद्धिग्राह्यम्-बुद्ध्यैव रजस्तमोमलरहितया सत्त्वमात्रवाहिन्या ग्राह्यं सुखं योगी वेत्ति-अनुभवति । यत्र च स्थितोऽयम् विद्वांस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति । तं योगसंज्ञितं विद्यादिति परेणान्वयः समानः । 'अत्रात्यन्तिकमि'ति ब्रह्मसुखस्वरूपकथनम्, 'अतीन्द्रियमि'ति विषयसुखव्यावृत्तिः, तस्य

विषयों में भी नहीं। परमात्म दर्शन होने पर अतुष्टि के कारणाभाव से सन्तुष्ट होता ही है, एवकार अतुष्टि का व्यावर्तक है उसमें कारण है तद्धेत्वभावसर्ववृत्तिनिरोधरूप उक्त अन्तःकरणपरिणाम को योग समझना यह उत्तर ग्रन्थके साथ योजना है।

किसीने 'यत्र' का अर्थ जिस काल में यह कहा है सो असंगत है कारण 'तं योगं विद्यात्' इत्यादि २३ श्लोक के घटक तच्छब्दार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता क्यों कि काल योग नहीं है यह स्फुट है ॥ २० ॥

आत्मा में ही सन्तोष का कारण कहते हैं 'सुखमिति'से जिस अवस्थाविशेष में आत्यन्तिक अनन्त निरतिशय ब्रह्मस्वरूप अतीन्द्रिय विषयेन्द्रियसंयोग से अनभिव्यङ्ग्य लौकिकसुख विषयेन्द्रियसंयोग से अभिव्यक्त होता है तद् विपरीत आत्मसुख तदनभिव्यङ्ग्य उचित ही है। बुद्धि से ही ग्रहीत होता है लौकिक सुख भी तो बुद्धिग्राह्य हीं है अतः बुद्धि में विशेषण देते हैं रजस्तमरूपमलिनरहित सत्त्वमात्रवाहिनी-बुद्धि से ग्राह्यसुख का अनुभव करता है। लौकिकसुख मलिनबुद्धिग्राह्य है आत्मसुख शुद्धबुद्धिग्राह्य है यही दोनों में महान् अन्तर है। जहां पर स्थित होकर तत्त्वज्ञानी आत्मस्वरूप से वस्तुतः नहीं चलता हैं उसकी योगसंज्ञा समझना यह उत्तर के साथ अन्वय समान है। यहां आत्यन्तिक से ब्रह्म सुखस्वरूप का कथन है वही सर्वथा दुःखासंभिन्न है

विषयेन्द्रियसंयोगसापेक्षत्वात् । बुद्धिग्राह्यमिति सौषुप्तसुखव्यावृत्तिः, सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात् । समाधौ निर्वृत्तिकायास्तस्याः सत्त्वात् ।

तदुक्तं गौडपादैः—'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।' ३-३५ इति ।

तथा च श्रूयते—

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते ।।' मै-उ-४-९ इति ।

अन्तःकरणेन - निरुद्धसर्ववृत्तिकेनेत्यर्थः । वृत्त्या तु सुखास्वादनं गौडाचार्यैस्तत्र प्रतिषिद्धम्—

'नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।' मा-का ३-४५ इति ।

महदिदं समाधौ सुखमनुभवामीति सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वादः । तं व्युत्थानरूपत्वेन समाधिविरोधित्वाद्योगी न कुर्यात् । अतएवैतादृश्या प्रज्ञया सह सङ्गं परित्यजेत् । तां निरुध्यादित्यर्थः । निर्वृत्तिकेन तु चित्तेन स्वरूपसुखानुभवस्तैः प्रतिपादितः—

'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्' ३-४७ इति । स्पष्टं चैतदुपरिष्टात् करिष्यते ।।२१।।

स्वर्गादिसुख अन्ततः क्षयित्वादिजन्य परितापयुक्त ही है अतीन्द्रिय से विषयसुख व्यावृत्त इष्ट है क्योंकि वैषयिकसुख विषयेन्द्रियसंयोगाधीन प्रसिद्ध ही है । बुद्धिग्राह्य से सुषुप्तिकालिक सुख की व्यावृत्ति होती है क्योंकि सुषुप्ति में स्व कारण बुद्धि लीन रहती है समाधि में निर्वृत्तिकबुद्धि रहती है ।

'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।' इति ।

अर्थ—सुषुप्ति काल में तद्बुद्धिरूप अन्तःकरण लीन हो जाता है । समाधि में योग से निगृहीतचित्त लीन नहीं होता किन्तु निर्वृत्तिक होकर रहता है । 'समाधिनिर्धूतमलस्येत्यादि । आत्मा में सन्निवेशित निरस्तरजस्तममलचित्त का जो सुख होता है उसका उस समय वाणी से वर्णन नहीं हो सकता किन्तु स्वयं अन्तःकरण से गृहीत होता है इति । अन्तःकरण निरुद्धसर्ववृत्तिक अन्तःकरण परक है उस समय उस सुख का वृत्तिद्वारा अनुभव गौडपादाचार्यने मना किया है–'नास्वादयेत् सुखं तत्रे'त्यादि से । उस समय सुखास्वाद न करे प्रत्युत प्रज्ञा से निस्सङ्ग हो समाधि में इस महान सुख का अनुभव करता हूं ईदृश सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वाद है इस में सङ्ग न रक्खे समाधिविरोधी होने से उस सुखास्वाद को व्युत्थानरूप से भावना कर योगी न करे अतएव ईदृश प्रज्ञा के साथ सङ्ग न करे उसका भी निरोध करे निर्वृत्तिक चित्त से स्वरूप सुखानुभव उन लोगों (गौडा चार्य जी) ने कहा—'स्वस्थं शान्तम्' इत्यादि । इसका आगे स्पष्ट करेंगे ।। २१ ।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

वृत्ति रहित चित्तकी जिस अवस्थाविशेषको प्राप्तकर दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं मानते तथा जिस अवस्था विशेषमें स्थित योगी बहुत बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं किया जाता है ॥ २२ ॥

दुःख संयोगसे रहित उस वृत्ति शून्य चित्तावस्थाविशेषको योग संज्ञक जानो। यह योग निर्वेद (इतना समय बीतनेपर भी योग सिद्ध न हुआ इससे अधिक कष्ट क्या होगा इस प्रकारका अनुताप) रहित चित्तसे निश्चय पूर्वक करना चाहिये ॥ २३ ॥

यत्र 'न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः' इत्युक्तमुपपादयति—'यं लब्ध्वे'ति । यं च निरतिशयात्मकसुखव्यञ्जकं निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा-सन्तताभ्यासपरिपाकेण संपाद्य, अपरं लाभं ततोऽधिकं न मन्यते-कृतं कृत्यम्, प्राप्तं प्रापणीयमिति, 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' आप० ध-१-८-२. इति स्मृतेः । एवं विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनं नास्तीत्युक्त्वा, शीतवातमशकाद्युपद्रवनिवारणार्थमपि तन्नास्तीत्याह-यस्मिन्-परमात्मसुखमये-निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महता-शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यते, किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः ॥ २२ ॥

'तमि'ति । 'यत्रोपरमते' इत्यारभ्य वहुभिर्विशेषणैर्यो निर्वृत्तिकः परमानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तावस्थाविशेष उक्तः, तं चित्तवृत्तिनिरोधम् - चित्तवृत्तिमय-सर्वदुःखवियोग-

---

जहाँ पर स्थित होकर योगी तत्त्वतः नहीं चलता है इस पूर्वोक्तार्थ का उपपादन करते हैं—'यमि'तिसे । निरतिशयात्मक सुखव्यञ्जक निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेष का लाभ कर निरन्तर समाधिभावनापरिपाक से प्राप्त कर दूसरे लाभ को उससे अधिक नही मानता 'कृतं कृत्यम्' इत्यादि से कर्तव्य कर चुके प्राप्तव्य की प्राप्त कर चुके। क्योंकि आत्मलाभ से उत्कृष्ट लाभ दूसरा नहीं यह आपस्तम्ब स्मृति का अर्थ है। इस प्रकार विषयभोगवासना से समाधि में विचलन नहीं होता यह कहकर सर्दी, गर्मी, धूप, मच्छर आदि के उपद्रव वारणार्थ समाधि से चलन नहीं होता यह कहते हैं—जिस परमात्मसुखमय में निर्वृत्तिक चित्तावस्थाविशेष में स्थित योगी बड़े शस्त्रपातादिनिमित्तक भय के दुःख से विचलित नहीं होता, क्षुद्र अतिस्वल्प मशकाद्युपद्रव से क्या हो सकता है ॥ २२ ॥

मेव सन्तं योगसंज्ञितं—वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं विद्यात्-जानीयात्, नतु योगशब्दानुरोधात् कश्चित् सम्बन्धं प्रतिपद्येतेत्यर्थः.। तथा च भगवान् पतञ्जलिरसूत्रयत्-'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति । 'योगो भवति दुःखहा' इति यत्प्रागुक्तम्, तदेतदुपसंहृतम् । एवंभूते योगे निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानायाह-'स निश्चयेन' इति । यथोक्तफलो योगो निश्चयेन - शास्त्राचार्यवचनतात्पर्यविषयोऽर्थः सत्य एवेत्यध्यवसायेन योक्तव्यः, अभ्यसनीयः । अनिर्विण्णचेतसा, एतावतापि कालेन योगो न सिद्धः किमतः परम् कष्टमित्यनुतापो निर्वेदः, तद्रहितेन चेतसा इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति, किं त्वरयेत्येवम् धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः ।

तदेतत् गौडपादा उदाजह्रुः—

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥' ३-४१. इति ।

'यत्रोपरमते' से लेकर जितने विशेषणों से परमानन्दाभिव्यक्त करने वाला चित्त का अवस्थाविशेष योग कहा है उस चित्तवृत्तिनिरोध चित्तवृत्तिमय निखिलदुःखविरोधी होने से दुःखाभाव के समान वर्तमान योगसंज्ञक है, यद्यपि दुःखाभाव को वियोगशब्द से कहना चाहिए तथापि विरोधी लक्षणा से योगशब्दवाच्य जानना । यद्यपि उक्त योग का दुःखाभाव के साथ विरोध नहीं है तथापि सकलद्वैत का विरोधी उक्तयोग है अतः द्वैतरूप दुःखाभाव का भी विरोध होने से विरोधि लक्षणा कहा है यह योगशब्द का मुख्य अर्थ है अतएव उपादेय है इस बुद्धि से उसमें सङ्ग-संबन्ध न करे यह अर्थ है। भगवान् पतंजलि ने ऐसा ही कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति। 'योगो भवति दुःखहा' यह जो पूर्व में कहा है उसका यह उपसंहार हुआ ऐसे योग में निश्चय अनिर्वेद इन दोनों में योग साधनता विधान के लिए कहते हैं कथित-फलक योगशास्त्र आचार्य वचनों के तात्पर्य का विषय योग सत्य है यह दृढ़ निश्चय-अध्यवसाय से अभ्यसनीय है निर्वेदरहितचित्त से उसका अभ्यास करे इतना दिन बीत गया योग सिद्ध नहीं हुआ इससे अधिक कष्ट और क्या होगा यह चित्त का परिताप निर्वेद है तद्रहित चित्त से इस जन्म में किं वा जन्मान्तर में योग सिद्ध होगा जल्दी करना व्यर्थ है ईदृश धैर्ययुक्त मन से। गौडपादाचार्य ने इसका उदाहरण दिया है—

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वत् भवेदपरिखेदतः ॥'

संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

संकल्पसे उत्पन्न सभी कामनाओंको वासना सहित त्यागकर और मनसे ही समग्र इन्द्रिय समूहों को सभी विषयोंसे खींचकर नियन्त्रित करके ॥ २४ ॥

उत्सेकः— उत्सेचनम् । शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत् । अत्र-संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते—'कस्यचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थानि तरङ्गवेगेन समुद्रोऽपजहार । स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप । तदा च बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम । यदृच्छया च तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि, जन्मान्तरे वा येन केनाप्युपायेन समुद्रम् शोषयिष्याम्येवेति प्रतिजज्ञे । ततश्च दैवानुकूल्यात् कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास-'समुद्रस्त्वज्ज्ञातिद्रोहेण त्वामवमन्यते' इति वचनेन, ततो-गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे प्रददाविति । एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति, ततश्च पक्षिण इव तस्याभिमतं सिध्यतीति भावः ॥ २३ ॥

किं कृत्वा योगोऽभ्यसनीयः ? इत्यत आह—'संकल्पे'ति । सङ्कल्पः-दुष्टेष्वपि विषयेष्वशोभनत्वादर्शनेन शोभनाध्यासः । तस्माच्च सङ्कल्पादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः

उत्सेचन वा जल बाहर करना सुखाने के अभिप्राय से जल निकालना यह फलितार्थ है ।

इस विषय में किसी पक्षी के पूर्वाचार्यो ने आख्यायिका को कहा है—तीरस्थ अण्डों को तरङ्ग लहर के वेग से समुद्र बहा ले गया वह पक्षी समुद्र को सुखा ही देगा इस निश्चय से प्रवृत्त होकर अपने चोंच से एक २ जलबिन्दु ऊपर फेंकने लगा उस समय अनेक पक्षियों के बन्धुवर्गों के मना करने पर न माना अर्थात् उक्त कर्म से विरत न हुआ । बाद यदृच्छा से आगत श्रीनारदजीने भी मना किया कि इस प्रकार से समुद्र नहीं सुखा सकते हो; इस जन्म अथवा जन्मान्तर में जिस किसी उपाय से समुद्र सुखावेंगे ही यह प्रतिज्ञा की, तदनन्तर प्रारब्धानुकूलता से दयालु नारद उसकी सहायता के लिए गरुड़ को भेजा 'समुद्र तुम्हारी जाति के विद्रोह से तुम्हारा अपमान कर रहा है' इसके अनन्तर गरुड़ के पखों से सूखता हुआ समुद्र डरकर उन अण्डों को पक्षी को दे दिया । इस प्रकार अखेद से मनोनिरोधरूप परमधर्म में प्रवर्तमान योगी का अनुग्रह ईश्वर करते हैं उससे पक्षी के समान योगी का मनोरथ सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धीरे-धीरे भूमिकाओंका जय करते हुए उपरामताको प्राप्त करे। अवश्यकर्तव्यता निश्चयरूप बुद्धिसे मनको आत्म संस्था अर्थात् सर्वविध वृत्तिसे शून्य आत्माकारमात्र विशिष्ट करके आत्मा और अनात्मा दोनों विषयोंका चिन्तन न करे॥ २५॥

प्रभवन्ति। तान् शोभनाध्यासप्रभवान् विषयाभिलाषान् विचारजन्याशोभनत्वनिश्चयेन शोभनाध्यासबाधात् दृष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिषु, अदृष्टेषु चेन्द्रलोकपारिजाताप्सरःप्रभृतिषु श्ववान्तपायसवत्स्वत एव सर्वान् ब्रह्मलोकपर्यन्तानशेषतः-निरवशेषतः निरवशेषान् सवासनान् त्यक्त्वा, अतएव कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकयुक्तेन मनसैवेन्द्रियग्रामम्-चक्षुरादिकरणसमूहं विनियम्य-समंततः-सर्वेभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपर-मेदित्यन्वयः॥ २४॥

शनैरिति। भूमिकाजयक्रमेण शनैश्शनैरुपरमेत्। धृतिः—धैर्यम्-अखिन्नता, तया गृहीता या बुद्धिरवश्यकर्तव्यतानिश्चयरूपा, तया यदा कदाचिवश्यंभविष्यत्येव योगः, किं त्वरयेत्येवंरूपया शनैः शनैर्गुरूपदिष्टमार्गेण मनो निरुन्ध्यात्। एतेनानिर्वेदनिश्चयौ प्रागुक्तौ।

प्रश्न—क्या कर योगाभ्यास करना चाहिए?

उत्तर—'संकल्पे'ति। दूषित विषयों में भी दोषादर्शन से शोभनत्वाध्यास संकल्प है उस संकल्प से यह मुझको हो एवंरूप कामना होती है। उन शोभनाध्यासों से जायमान विषयाभिलाष विचार समुत्पन्न अशोभनत्व निश्चय से शोभनाध्यास का बाध होने पर दृष्ट-माला चन्दन वनितादि, तथा अदृष्ट इन्द्रलोक परिजात अप्सरा प्रभृतियों में कुत्ता के वान्त पायस खीर के समान स्वतः ही ब्रह्मलोकपर्यन्त सकल वासनाओं का त्याग कर अतएव कामना पूर्वक हो इन्द्रियों की स्व विषय में प्रवृत्ति होती है प्रवृत्तिकारणी-भूत काम के अभाव होनेपर विवेकयुक्त मन से इन्द्रियसमूह चक्षुरादि करणसमुदायकी सब विषयों से सर्वथा खींच कर नियन्त्रित कर धीरे-धीरे संसार से उपरत हो यह अन्वय है॥ २४॥

'शनैरिति'से भूमिकाजय के क्रम से धीरे-धीरे उपरत। हो' धृतिः' अर्थ है—धैर्य, अखिन्नता इससे जो बुद्धि अवश्यकर्तव्यतानिश्चयरूपा योग अवश्य करेंगे यह निश्चयरूप बुद्धि जैसे किसी समय योग अवश्य होगा यह जल्दी करना व्यर्थ है एवंरूपवाली बुद्धि उससे धीरे-धीरे गुरूपदेशानुसार मन को रोके इस उक्ति से पूर्वोक्त अनिर्वेद निश्चय दिखलाया।

तथा च श्रुतिः—

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥' इति ॥

'वागिति' वाचं लौकिकीं वैदिकीञ्च मनसि व्यापारवति नियच्छेत् । 'नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० उ० ४—२१) इति श्रुतेर्वाग्वृत्तिनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषो भवेदित्यर्थः । चक्षुरादिनिरोधोऽप्येतस्यां भूमौ द्रष्टव्यः । 'मनसी'ति छान्दसम् दैर्घ्यम् । तन्मनः-कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसहकारि नानाविधविकल्पसाधनं करणम । ज्ञाने-जानातीति व्युत्पत्त्या ज्ञातर्यात्मनि-ज्ञातृत्वोपाधावहङ्कारे नियच्छेत्-मनोव्यापारान् परित्यज्याहङ्कारमात्रम् परिशेषयेत् । तच्च ज्ञानं ज्ञातृत्वोपाधिमहङ्कारमात्मनि महति-महत्तत्त्वे सर्वव्यापके नियच्छेत् । द्विविधो ह्यहङ्कारः—विशेषरूपः, सामान्यरूपश्चेति । 'अयमहमेतस्य पुत्रः' इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्ट्यहङ्कारः, अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः समष्ट्यहङ्कारः, स च हिरण्यगर्भः, महानात्मेति च सर्वानुस्यूतत्वादुच्यते । ताभ्यामहङ्काराभ्यां विविक्तो निरुपाधिकः शान्तात्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसः, तस्मिन्महान्तमात्मानम् समष्टिबुद्धिं नियच्छेत् । एवम् तत्कारणमव्यक्तमपि नियच्छेत् । ततो निरुपाधिकस्त्वंपदलक्ष्यः शुद्ध आत्मा साक्षात्कृतः

ऐसी ही श्रुति है—

'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादि ऊपर देखिये । अर्थ—लौकिक एवं वैदिक वाणियों का व्यापारविशिष्ट मन नियन्त्रण करना 'नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्' इत्यादि श्रुति से बोलना वाग्विग्लापनरूप दोष कहा है वाक्वृत्ति के निरोध से मनोवृत्तिमात्र शेष योगी हो अर्थात् न बोल कर केवल विषयविषयक मनोवृत्तिमात्रवान् हो । इसी भूमिकामें चक्षुरादिकों का भी निरोध समझना 'मनसी' यहां दीर्घ छान्दस है वाङ्मन का द्वन्द्वसमास नहीं वह मन कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय का सहकारि और नानाविध संकल्प विकल्प हेतुभूत करण है 'जानातीति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति से ज्ञानशब्द ज्ञाता जो आत्मा है अर्थात् ज्ञातृत्वोपाधि अहंकार में निरोध करना । मनो व्यापारमात्र का भी परित्याग कर अहंकारमात्रावशिष्ट करे, उस ज्ञानको अर्थात् ज्ञातृत्वोपाधिक अहंकार को महत्तत्वरूप आत्मा में जो व्यापक है निरोध करे । अहंकार दो प्रकार का है—१—विशेषरूप २—सामान्यरूप । 'मैं इनका पुत्र हूँ' एवंरूप व्यक्त अभिमान विशेषरूप व्यष्टि अहंकार है, प्रत्येक व्यक्तिका एवंभूत अहंकारविशेष लोकप्रसिद्ध है । 'मैं हूँ' एतावन्मात्र अभिमान सामान्यरूप समष्ट्यहंकार है यह भी लोकप्रसिद्ध है । वह हिरण्यगर्भ सबसे बड़ा आत्मा है सर्वानुगत होने से महानात्मा कहाता है, द्विविध अहंकारों से विवेचित निरुपाधिक अतएव शान्त सर्वान्तर चिदेकरस है उसमें हिरण्यगर्भरूप महान आत्मा समष्टिबुद्धिरूप का निरोध करे । इसी प्रकार तत्कारण अव्यक्त का भी निरोध

भवति । शुद्धे हि चिदेकरसे प्रत्यगात्मनि जडशक्तिरूपमनिर्वाच्यमव्यक्तं प्रकृतिरुपाधिः । साच प्रथमेः सामान्याहङ्काररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति, ततोबहिर्विशेषाहङ्काररूपेण, ततो बहिर्मनोरूपेण, ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण । तदेतच्छ्रुत्याऽभिहितम्—

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' क,१-३-१०-११, इति ।

तत्र गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः, बालमुग्धादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया, तन्द्र्याष्विवाहङ्काराहित्यं तृतीया, सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमपेक्ष्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । यद्यपि महत्तत्व-शान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्याकृताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहारि, तथापि तत्र महत्तत्त्वस्य अव्याकृते नियमनं नाभ्यधायि ।

करें, तब निरुपाधिक त्वंपद का लक्ष्य शुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष होता है शुद्ध चिदेकरस स्वयं प्रकाश आत्मा में जड़ शक्तिरूप (स्वभाव) सदसद से अनिर्वाच्य अव्यक्त सूक्ष्मप्रकृति उपाधि है। वह प्रकृति पहले पहल सामान्याहंकाररूप महत्तत्व का नाम धरकर स्फुट होती है, बाद विशेषाहंकाररूप से तदनन्तर बाहर मनोरूप से उसके बाद वागादि इन्द्रियरूप से व्यक्त होती है यह श्रुति में कहा है—'इन्द्रियाणि[1] पराण्याहुः' इत्यादि। (मूल में देखिये)। उसमें गवादिके तरह वाङ्निरोध प्रथमा भूमि है। अर्थात् जैसे गवादि पशु वाक्शून्य होते हैं वैसे ही हो बालमुग्धादि में यद्यपि कुछ वाणी है तथापि मनोवृत्तिनिरोधरूप द्वितीय भूमि है। आलस्यादिवश अहंकार वृत्तिविरह तृतीयां भूमि है। सुषुप्ति के समान महत्तत्व शून्यता चौथी भूमि है, अर्थात् सुषुप्ति में जैसे विषय ज्ञान नहीं होता उसी तरह चौथी भूमि में विषयविषयक मनोवृत्तिविरह इष्ट है इन भूमि चतुष्टय की अपेक्षा शनैः शनैः (धीरे-धीरे) उपरत हो यह कहा। यद्यपि महत्तत्व और शान्तात्मा के बीच में महत्तत्व के उपादान अव्याकृतसंज्ञक तत्वका श्रुति में निरोधका उदाहरण दिया है,

---

१. इन्द्रियाणि—यद्यपि कठोपनिषद् में 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः' ऐसा पाठ भेद मिलता है तथापि अर्थादि में परत्व विवक्षित नहीं हैं। किन्तु पुरुष में परत्व विवक्षित है। विवक्षितार्थ में विरोध नही होने से पाठ भेद अकिञ्चित्कर है। इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ) हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि (हम लोगों की व्यष्टि बुद्धि) से महान् आत्मा (समष्टि बुद्धि पर है। उससे अव्यक्त (माया) पर है। अव्यक्त से पुरुष पर है। पुरुष से परे कुछ नहीं है। वही अन्तिम सीमा है। वही अन्तिम गति है।

सुषुप्ताविव जीवस्वरूपस्य 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुतेः स्वरूपलयप्रसङ्गात्। तस्य च कर्मक्षये सति पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव सिद्धत्वात्, तत्त्वदर्शनानुपयोगित्वाच्च। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति पूर्वमभिधाय, सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधसमाधेरभिधानात्। स तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन, दृष्टतत्त्वस्य च जीवन्मुक्तिप्रतिबन्धरूपक्लेशक्षयायाऽपेक्षितः। ननु शान्तात्मन्यवरुद्धस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवददर्शनहेतुत्वमिति चेत्? न, स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वत्। तदुक्तम्—

'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत॥' इति॥

यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते, जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति, तत्र जलादौ निःसारितेऽपि, वियन्निःसारयितुं न शक्यते।

यहाँ उक्त भूमि में इसके निरोधका उदाहरण नहीं दिखलाया तथापि श्रुति ने इस अव्याकृत में महत्तत्वका भी निरोध नहीं कहा सुषुप्ति के समान जीवस्वरूपस्य 'सता सौम्य तदा संपन्नो भवति' इस श्रुति के अनुसार जीवस्वरूप का लाभ हो जायगा उसका कर्म क्षय होने पर पुरुषव्यापार विना स्वतः सिद्ध है और तत्त्वज्ञान का उपयोगी नहीं है।

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।"

इस श्रुति से प्रथम उसको कहकर उसमें सूक्ष्मत्वसिद्धि के लिए निरोध समाधि का कथन है। वह तत्त्व दिदृक्षु के दर्शनहेतु होने से दृष्टतत्त्व की जीवन्मुक्तिरूप क्लेशक्षय के लिए अपेक्षित है।

प्रश्न—शान्तात्मामें अवरुद्ध चित्त वृत्तिरहित होनेसे सुषुप्तिके समान दर्शनहेतु कैसे होगा अर्थात् सुषुप्तिकालमें विषयवृत्तिसहित मन होनेसे विषयदर्शनहेतु नहीं हो सकता वैसे ही यदि निरोध समाधिमें निर्वृत्तिक मन रहेगा तो वह आत्मदर्शनहेतु कैसे होगा?

उत्तर—स्वतः सिद्ध दर्शनका निवारण अशक्य है अर्थात् विषय जड़ है अतएव तद्विषयक मनोवृत्तिद्वारा उसका प्रकाश होता है। आत्मा उससे विपरीत स्वयंप्रकाश स्वरूप है, इस कारण मनोवृत्तिकी आवश्यकता नहीं। यह कहा है—

'आत्मानात्माकारं स्वतोऽवस्थितं सदा चित्तम्।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत॥' इति।

अर्थ—स्वभावसे चित्त सदा आत्माकार रहता है आत्मैकाकारवृत्तिसे अनात्मदृष्टिका निराकरण करो, अर्थात् चित्त स्वाभाविक आत्मानात्माकार सदा रहता है इसमें आत्माकारत्व सदा प्राप्त होनेसे

मुखपिधानेऽप्यन्तर्वियदवतिष्ठत एव, तथा चित्तमुत्पद्यमानं चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते, उत्पन्ने तु तस्मिन् मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्सुखदुःखादिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मसहकृतसामग्रीवशाद्भवति। तत्र घटदुःखाद्यनात्माकारे विरामप्रत्ययाभ्यासेन निवारितेऽपि, निर्निमित्तश्चिदाकारो वारयितुं न शक्यते, ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन चित्तेन संस्कारमात्रशेषतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निरुपाधिकचिदात्ममात्राभिमुखत्वाद्वृत्तिं विनैव निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते। तदेतदाह—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचदपि चिन्तयेत्।' इति।

आत्मनि-निरुपाधिके प्रतीचि संस्था-समाप्तिर्यस्य तत्-आत्मसंस्थं सर्वप्रकारवृत्तिशून्यम् स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः कृत्वा-धृतिगृहीतया विवेकबुद्धया संपाद्य, असंप्रज्ञातसमाधिस्थः सन् किंचिदपि अनात्मानम्, आत्मानं वा न चिन्तयेत्—न वृत्त्या विषयीकुर्यात्। अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात्। आत्माकारवृत्तौ च संप्रज्ञातः समाधिरिति, असंप्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि चित्तवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः॥ २५॥

विधेय नहीं है किन्तु उसकी सदा अभिव्यक्तिके लिए तद्विरोधी अनात्माकारवृत्ति ही निरसनीय है, यथा उत्पद्यमान घट स्वभावतः आकाश पूर्ण उत्पन्न होता है आकाशपूर्तिमें पुरुषव्यापारकी अपेक्षा नहीं। चावल जलसे पूर्ति उत्पन्न घटमें पीछे पुरुष व्यापारसे होती है, उसमें जलादिके निकालने पर भी आकाशको निकाल नहीं सकते, घटके मुंह बन्द करने पर भी जलादिसे घटकी पूर्ति नहीं होती परन्तु आकाशपूर्ति उस अवस्थामें भी उसमें रहती है वैसे ही उत्पद्यमान चित्त चेतन्य पूर्ण ही उत्पन्न होता है, चित्त उत्पन्न होनेपर उसमें मूषा (ताम्रादिके रस ढालकर वस्तु तैयार करने वाला पात्र) में द्रवीभूत ताम्रादि डालने पर जैसे आधारभूत पात्रका आकार होता है तदाकार ताम्रादि पात्र होता है, भोगहेतु धर्माधर्मसहकृत सामग्रीवशसे मन भी तद्रूप होता है इसमें घटदुःखादि अनात्मकारका विराम प्रत्ययाभ्याससे निवारण करने पर भी निर्निमित्तक निर्हेतुक चिदाकारका वारण नहीं कर सकते इस निरोधसमाधिसे निर्वृत्तिक चित्त संस्कारमात्रावशिष्ट अतएव अतिसूक्ष्म निरुपाधिक चिदात्माके सम्मुख होनेसे वृत्तिके विना ही निर्बोध आत्मानुभव होता है, यह कहा है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इत्यादि। 'आत्मनि निरुपाधिके प्रत्यगात्मनि संस्था समाप्तिर्यस्य स आत्मसंस्थः' कहाता है सर्वप्रकारकी वृत्तियोंसे रहित स्वभावप्राप्त आत्माकारमात्रविशिष्ट मन करके धैर्यसे वशीकृत बुद्धि से सम्पादन कर असंप्रज्ञातसमाधिरत होकर कुछ भी आत्मा अनात्मा का चिन्तन न करना अर्थात् उक्तविषयक मनोवृत्ति न करना क्योंकि अनात्माकारवृत्ति होने पर समाधिसे व्युत्थान ही होगा। आत्माकार वृत्ति होनेसे सम्प्रज्ञात समाधि होगी इस कारण असंप्रज्ञात समाधिस्थिरताके लिए कोई भी चित्तवृत्ति मनमें न उत्पन्न करना यह अर्थ है॥ २५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

चञ्चल और अव्यवस्थित मन जिन जिन विषयोंको उद्देश्य कर समाधि विरोधिनी वृत्तियोंका उत्पादन करता है उन उन विक्षेप और लय कारणोंसे मनको नियन्त्रित कर आत्माके ही वशीभूत करे ॥ २६ ॥

'यतो यतः' इति । एवं निरोधसमाधिं कुर्वन् योगी शब्दादीनां चित्तविक्षेपहेतूनां मध्ये यतः यतः-यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादेर्विषयाद्रागद्वेषादेश्च चञ्चलम्-विक्षेपाभिमुखं सत् मनो निश्चरति-विक्षिप्तं सत् विषयाभिमुखीं प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-स्मृतीनामन्यतमामपि समाधिविरोधिनीम् वृत्तिमुत्पादयति, तथा लयहेतूनां निद्राशेष-बह्वशनश्रमादीनां मध्ये यतो ततो निमित्तादस्थिरम् लयाभिमुखं सन्मनो निश्चरति-लीनं सत्समाधिविरोधिनीं निद्राख्यां वृत्तिमुत्पादयति, ततस्ततः-विक्षेपनिमित्तात्, लयनिमित्ताच्च नियम्यैतन्मनो निर्वृत्तिकं कृत्वा, आत्मन्येव स्वप्रकाशपरमानन्दघने वशं नयेत्-निरुन्ध्यात् । यथा न विक्षिप्येत, न वा लीयेतेति । एवकारोऽनात्मगोचरत्वं समाधेर्वारयति। एतच्च विवृतं गौडपादाचार्यैः—

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ १ ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ २ ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार निरोध समाधि करता हुआ योगी चित्तविक्षेपकारण शब्दादिकोंके मध्यमें जिस-जिस निमित्तसे शब्दादिविषय और रागद्वेषसे विक्षेपोन्मुख चंचल होता हुआ मन विषयाभिमुख हो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति इनमें एक भी कोई समाधि विरोधिनी वृत्तिका उत्पादन करता है । तथा लयकारण निद्राशेष बहु अशन (अधिक भोजन) श्रमादिकोंके मध्यमें जिस-जिस निमित्तसे चञ्चल अतएव लयोन्मुख होता हुआ मन निकलता है समाधि विरोधिनी निद्राख्यवृत्तिको उत्पन्न करता है उस-उस विक्षेपकारणसे और लयकारणसे चित्तको नियन्त्रित कर अर्थात् निर्वृत्तिक कर स्वप्रकाशानन्द घन आत्माके वशमें ही करना

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४ ॥

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।

अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥' प्र० ३ का० ४२-४६ ॥५॥ इति-

पञ्चभिः श्लोकैः-उपायेन-वक्ष्यमाणेन वैराग्याभ्यासेन कामभोगयोर्विक्षिप्तं प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-स्मृतीनामन्यतमयापि वृत्त्या परिणतं मनो निगृह्णीयात्-निरुन्ध्यात्। आत्मन्येवेत्यर्थः । 'कामभोगयोरि'ति चिन्त्यमानावस्था-भुज्यमानावस्थाभेदेन द्विवचनम् । तथा लीयतेऽस्मिन्निति-लयः-सुषुप्तम्, तस्मिन् सुप्रसन्नम्-आयासवर्जितमपि मनो निगृह्णीयादेव । सुप्रसन्नं चेत्कुतः निगृह्यते ? तत्राह-यथा कामो विषयगोचरप्रमाणादिवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी, तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी। सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः । अतः कामादिकृतविक्षेपादिव, श्रमादिकृतलयादपि मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः । उपायेन निगृह्णीयात्केनेत्युच्यते—सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमल्पं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य 'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, अथ यदल्पम्,

---

अर्थात् आत्मामें ही निरोध करना, जिस तरहसे विक्षिप्त और लीन न हो। एवकार समाधिमें अनात्मगोचरत्वका वारण करता है, यह गौडपादाचार्यने विवृत किया है—

'उपायेन निगृह्णीयात् विक्षिप्तं कामभोगयोः ॥'

इत्यादि पांच श्लोकोंसे । वक्ष्यमाण वैराग्याभ्यासोपायसे कामभोगमें विक्षिप्त तत्तद्विषयक प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति इनमें किसी भी प्रकार वृत्तिमें परिणत मनका निग्रह अर्थात् निरोध करना ।

प्रश्न—कहां निरोध करना चाहिए ?

उत्तर—आत्मामें ही, काम और भोग चिन्त्यमान अवस्था और भुज्यमान अवस्थाके भेदसे द्विवचन है वस्तुतः कामभोग एक ही है दो पदार्थ नहीं । उसी प्रकार लीन होता है जिसमें लीन हो उसका लय कहते हैं सुप्रसन्न अतएव आयास परिश्रम रहित मनका निग्रह करना ।

प्रश्न—यदि मन सुप्रसन्न है तो उसका निग्रह क्यों ?

उत्तर—यथा काम विषयविषयकप्रमाणादिवृत्तिके उत्पादनद्वारा समाधि विरोधी है, तथा लय भी निद्राख्यवृत्तिके उत्पादनद्वारा समाधिविरोधी अतः उसका भी निरोध युक्त ही है । क्योंकि सर्ववृत्ति निरोध समाधि है इस कारण कामादिकृत विक्षेपके समान समाधिकृतलयसे भी मनका निरोध करना चाहिए। 'उपायेन निगृह्णीयात्' यह कहा है ॥ १ ॥

तन्मर्त्यम्, तद्दुःखम्' इति श्रुत्यर्थं गुरूपदेशादनु-पश्चात्पर्यालोच्य कामान्-चिन्त्यमानावस्थान् विषयान्, भोगान्-भुज्य, मानावस्थांश्च विषयान्निवर्तयेत्। मनसः सकाशादिति शेषः। कामश्च भोगश्च कामभोगम्, तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा। एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावना उपाय इत्यर्थः।

द्वैतविस्मरणं तु परमोपाय इत्याह—अजं ब्रह्म सर्वम्, न ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदस्ति इति शास्त्राचार्योपदेशादनन्तरमनुस्मृत्य, तद्विपरीतं द्वैतजातं न पश्यत्येव, अधिष्ठाने ज्ञाते कल्पितस्याभावात्। पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः ॥ २ ॥

एवं वैराग्यभावना-तत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनंदिनलयाभ्यास-वशाल्लयाभिमुखं भवेत्, तदा निद्राशेष-अजीर्ण-बह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तम् सम्यक् प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्नेन, यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशात् कामभोग-योर्विक्षिप्तं स्यात्, तदा वैराग्यभावनया, तत्त्वसाक्षात्कारेण च पुनः शमयेत्। एवं पुनः-पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितम्, नापि समप्राप्तम्-अन्तरालावस्थं चित्तम्

किस उपाय से यह कहते हैं—सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च अज्ञानविजृम्भित कल्पित है अल्प अतएव दुःखमय है एवंरूप से अनुसन्धान कर 'यो वै भूमा' इत्यादि श्रुति का अर्थ गुरूपदेश के पश्चात् (बाद) स्वयं पर्यालोचन कर काम अर्थात् चिन्त्यमानावस्थाविशेष भोग-भुज्यमान अवस्थावाले विषयोंसे चित्त को निवृत्त करना। कामश्च भोगश्च अनयोः समाहारः' कामभोगम्' उससे कामनाको निवृत्त करना इस प्रकार द्वैतप्रपञ्च-स्मरणसमय में वैराग्यभावना उपाय है। द्वैत का विस्मरण तो परम उपाय है। यही कहते हैं—'अजं ब्रह्म' इत्यादिसे यह सब ब्रह्म है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है इसका शास्त्राचार्योपदेश के बाद अनुसन्धान कर उक्त उपदेश से विपरीत प्रपञ्चसमुदाय नहीं देखता है अधिष्ठानलीन होने पर कल्पितवस्तु का अभाव वस्तुतः होता ही है। पूर्वोपाय की अपेक्षा से इस उपाय में विलक्षणता सूचनार्थ 'तु' यह शब्द है ॥ २ ॥

इस प्रकार वैराग्यभावना और तत्त्वदर्शन से विषयों से आकृष्यमाण चित्त यदि प्रतिदिन के लयाभ्यास के वश से लयाभिमुख हो तो निद्रावशेष अजीर्ण अधिकान्नभोजन श्रम ये लय के कारण हैं इनके निरोध से उत्थानप्रयत्नद्वारा अच्छी तरह से समझना, फिर भी यदि इस प्रकार समझाने पर प्रतिदिन के काम भोगाभ्यासवश काम भोगों में विक्षिप्त तत्प्रवृत्त्युन्मुख हो तो वैराग्यभावना और तत्त्वसाक्षात्कार से फिर शान्त करना। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करने से लय से सम्बोधित समुत्थापित विषयों से व्यावर्तित चित्त होता है इसको जानना मध्य स्थितचित्त (अन्तरालावस्था चित्त) स्तब्धीभूत सकषाय

स्तब्धीभूतं सकषायं रागद्वेषादिप्रबलवासनावशेन स्तब्धीभावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तम् विजानीयात्-समाहिताच्चित्ताद्विवेकेन जानीयात्। ततश्च नेदं समाहितमित्यवगम्य, लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात्, ततश्च लय-विक्षेप-कषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते, तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत्-विषयाभिमुखं न कुर्यात्, किं तु धृतिगृहीतया बुद्धया लयकषायप्राप्तेर्विविच्य, तस्यामेव समप्राप्तावतियत्नेन स्थापयेत् ॥ ३ ॥

तत्र समाधौ-परमसुखव्यञ्जकेऽपि सुखं नास्वादयेत् 'एतावन्तं कालमहं सुखी' इति सुखास्वादरूपां वृत्तिं न कुर्यात्, समाधिभङ्गप्रसङ्गादिति प्रागेव कृतव्याख्यानम्। प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखम्, तदप्यविद्यापरिकल्पितं मृषैवेत्येवंभावनया निःसङ्गः-निस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत्। अथवा प्रज्ञया-सविकल्पसुखाकारवृत्तिरूपया सह सङ्गं परित्यजेत्, न तु स्वरूपसुखमपि निर्वृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत्, स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात्। एवं सर्वतो निवर्त्यं निश्चलं प्रयत्नवशेन कृतं चित्तं स्वभावचाञ्चल्याद्विषयाभिमुखतया निश्चरद् - बहिर्निर्गच्छत् एकीकुर्यात्-प्रयत्नतः निरोधप्रयत्नेन समे ब्रह्मण्येकतां नयेत् ॥ ४ ॥

राग-द्वेष-मोहादि प्रबल वासनास्तब्धीभाव नामक कषाय दोष से युक्त समाहितचित्त से भिन्न विवेक से जानना। ईदृश चित्त ब्रह्म प्राप्त नहीं है तदनन्तर यह चित्त समाहित नहीं है यह समझ कर लय विक्षेप के समान कषाय से भी चित्त का निरोध करना। लय विक्षेप कषाय इन तीनों का परिहार करने पर परिशेष से चित्त समब्रह्म प्राप्त करता है वह समब्रह्म प्राप्त चित्त कषाय लय भ्रान्ति से विषयाभिमुख न चला आवे किन्तु धृतिगृहीतबुद्धि से लय कषाय प्राप्ति से विवेक कर उसी समब्रह्मप्राप्ति में अति परिश्रम से स्थापित करे ॥ ३ ॥

उत्कृष्टसुखव्यञ्जक उस समाधि में सुखास्वादन करे 'इतने समय में सुखी रहा' इत्याकारा सुखास्वादरूपा वृत्ति न करे क्योंकि ऐसा करने से समाधि का भंग हो जायगा यह पूर्व में ही कह चुके हैं। जो सुख वृत्ति से उपलब्ध होता है वह अविद्याकल्पित है, अतएव मिथ्या है इस भावना से निस्सङ्ग होकर सब सुखों से विलक्षण (विमुख) हो जाय। सविकल्पक सुखाकारवृत्ति प्रज्ञा से सम्बन्ध परित्याग करे। स्वरूप सुख का परित्याग न करे किन्तु निर्वृत्तिकचित्त से उसका अनुभव करे क्योंकि स्वतः प्राप्त वह सुख वारण करने में अशक्य है। इस प्रकार सब विषयों से निवृत्त कर निश्चल चित्त स्वभाव चञ्चलवश विषयाभिमुख बाहर निकले तो फिर एक करे, निरोधप्रयत्न से समब्रह्म से अभेद करे ॥ ४ ॥

समप्राप्तं चित्तं कीदृशम् ? उच्यते—यदा-न लीयते, नापि स्तब्धीभवति, तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्योपलक्षणात् । न च विक्षिप्यते पुनः-न शब्दाद्याकारवृत्तिमनुभवति, नापि सुखमास्वादयति, राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात् । पूर्वम् भेदनिर्देशस्तु पृथक्प्रयत्नकरणाय । एवं लयकषायाभ्याम्-विक्षेप-सुखास्वादाभ्यां च रहितम्, अनिङ्गनम्-अङ्गनं चलनं सवातप्रदीपवत् लयाभिमुखरूपम्, तद्रहितं निवातप्रदीपकल्पम् अनाभासम्-न केनचिद्विषयाकारेणाभासत इत्येतत् । कषायसुखास्वादयोरुभयान्तर्भावः उक्त एव । यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति, तदा तच्चित्तं ब्रह्म-निष्पन्नं समं ब्रह्म प्राप्तम् भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

एतादृशश्च योगः श्रुत्या प्रतिपादितः—

'यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥' क.उ. २-६-१० ११ इति ।

प्रश्न—सम प्राप्त चित्त कैसा होता है ?

उत्तर—जब लीन न हो और न स्तब्धीभूत हो लय और स्तब्धीभावत्वेन समान हैं अतः लयशब्द स्तब्धीभावका भी उपलक्षण है। और विक्षिप्त न हो अर्थात् फिर शब्दाद्याकारवृत्तिका अनुभव न करे और न सुखास्वाद करे राजसत्वके साम्यसे विक्षेपशब्द सुखास्वादका भी उपलक्षण है पूर्वमें दोनोंका अलग-अलग निर्देश अलग २ प्रयत्न करनेके लिए है। इस प्रकार लय कषाय और विक्षेप सुखास्वादोंसे रहित चित्त सवातप्रदीपके समान लयाभिमुखरूप चलन इंगन है उससे रहित निर्वातप्रदीप सदृश न किसी विषयाकारसे आभासमान स्वरूपतः सत् ।

कषाय सुखास्वादका दोनोंमें अन्तंभाव कहा है जिस समय इन चारो दोषोंसे रहित चित्त होता है तो वह चित्त-ब्रह्म निष्पन्न समब्रह्म प्राप्त होता है।

इस प्रकारका योग श्रुतिप्रतिपदित है-'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि। अर्थ-जिस समय मनके साथ पञ्चेन्द्रिय स्थित रहते हैं बुद्धि चेष्टा नहीं करती उसको परमा गति कहते हैं उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको योग मानते हैं। उस समय उत्पत्ति और नाश में योगी अप्रमत्त होता है एतन्मूलक

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

शान्त चित्तवाले निवृत्त रजोगुणवाले निष्पाप अथा ब्रह्मके साथ एकीभावापन्न योगीको अत्युत्तम आनन्द मिलता है ॥ २७ ॥

एतन्मूलकमेव च 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति सूत्रम् । तस्माद्युक्तं 'ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदि'ति ॥ २६ ॥

एवं योगाभ्यासबलादात्मन्येव योगिनः प्रशाम्यति मनः । ततश्च'प्रशान्ते'ति । प्रकर्षेण शा'तम्-निर्वृत्तिकतया निरुद्धं संस्कारमात्रशेषं मनो यस्य, तं प्रशान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् । निर्मनस्कत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयम्'शान्तरजसम्'अकल्मषम्'इति । शान्तं विक्षेपकं रजो यस्य, तं विक्षेपशून्यम्, तथा न विद्यते कल्मषम्-लयहेतुस्तमो यस्य, तमकल्मषम्-लय-शून्यम् । शान्तरजसमित्यनेनैव तमोगुणोपलक्षणे, अकल्मषं संसारहेतुधर्मादिविवर्जितमिति वा । ब्रह्मभूतं ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चयेन समं ब्रह्म प्राप्तम्-जीवन्मुक्तं एनं योगिनम् ।' एवम्-उक्तेन प्रकारेणेति 'श्रीधरः' । उत्तमम्-निरतिशयं सुखमुपैति-उपगच्छति । मनस्तद्वृत्त्योरभावे सुषुप्तौ स्वरूपसुखाविर्भावप्रसिद्धिं द्योतयति हिशब्दः, । तथा च प्रग्व्याख्यातं 'सुखमात्यन्तिकं यत्तदि'त्यत्र ॥ २७ ॥

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यह सूत्र है, अतः बहुत ठीक कहा है कि उन उन विषयों से चित्त को हटा कर आत्मा के वश में ही करे ॥ २६ ॥

इस तरह से योगाभ्यास बल से योगी का मन आत्मा में ही शान्त होता है तदनन्तर प्रकृष्टशान्त-शून्यवृत्ति होनेसे निरुद्धसंस्कारमात्रावशिष्ट मन है जिसका उस प्रशान्तमन योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है प्रशान्त मन का फलितार्थ है निर्मनस्क उसमें हेतुगर्भ विशेषण दो हैं प्रथम 'शान्तरजसम्' दूसरा 'अकल्मषम्' । रजोगुण ही मन का चालक है इसके शान्त होने से मन विक्षेपशून्य होता है अर्थात् निवृत्तिक होता है, वृत्ति न होने से योगी निर्मनस्क कहाता है तथा 'नहि विद्यते कल्मषं लयहेतुः तमो यस्य' इस विग्रह से लय हेतु (कारण) कल्मष न रहने से चित्त लयशून्य होता है । 'शान्तरजसम्' इसीसे तमोगुण का उपलक्षणतया बोध हो सकता है फिर 'अकल्मषम्' यह पृथक् पद संसारहेतु धर्माधर्मादिरहितत्वार्थक है, यह भी अर्थ है । ब्रह्मभूत ब्रह्म ही सब है इस निश्चय से समब्रह्मप्राप्त इस जीवन्मुक्त उत्तम योगी को । एवं-उक्त प्रकार से यह श्रीधरस्वामी जी का मत है—उत्तम निरतिशयसुख प्राप्त होता है । 'हि'

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

निष्पाप योगी इस प्रकार बराबर मनको समाहित करता हुआ अनायास ब्रह्मस्वरूप निरतिशय सुखका अनुभव करता है ॥ २८ ॥

उक्तं सुखं योगिनः स्फुटीकरोति—'युञ्जन्नेवमि'ति । एवम्-मनसैवेन्द्रियग्राममित्याद्युक्तक्रमेणात्मानम्-मनः सदा युञ्जन्-समादधत् योगी-योगेन नित्यसंबन्धी, विगतकल्मषः-विगतमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः सुखेन-अनायासेन ईश्वरप्रणिधानात् सर्वान्तरायनिवृत्त्या ब्रह्मसंस्पर्शम्-सम्यक्त्वेन विषयास्पर्शेन सह ब्रह्मणः स्पर्शः तादात्म्यं यस्मिन्, तद्विषयासंस्पर्शि । ब्रह्मस्वरूपमित्येतत् । अत्यन्तम्-सर्वानन्तान् परिच्छेदानतिक्रान्तम्, निरतिशयं सुखम्-आनन्दमश्नुते-व्याप्नोति-सर्वतोनिर्वृत्तिकेन चित्तेन लयविक्षेपविलक्षणमनुभवति । विक्षेपे वृत्तिसत्त्वात्, लये च मनसोऽपि स्वरूपेणाऽसत्त्वात् सर्ववृत्तिशून्येन सूक्ष्मेण मनसा सुखानुभवः समाधावेवेत्यर्थः । अत्र चानायासेनेत्यन्तरायनिवृत्तिरुक्ता ।

शब्द, मन और तद्वृत्तियोंके अभावसे सुषुप्ति में स्वरूप सुखाविर्भाव प्रसिद्ध है इसका द्योतक है 'सुखमात्यन्तिकं यत्' इस जगह व्याख्यान कर चुके हैं ॥ २७ ॥

'युञ्जन्' इसी से योगी के सुख को स्पष्ट करते हैं 'मनसैवेन्द्रियग्रामम्' इस श्लोकोक्तक्रम से आत्माशब्द मनोवाची है सदा समाहित करता हुआ योगी योगशब्द से नित्यसम्बन्धी अर्थ में मत्वर्थ-इनिप्रत्यय है । यहाँ योगीशब्द नित्ययोगसम्बन्धीपरक है विगतकल्मष विक्षालितमलः संसारहेतुधर्माधर्म-रहितः, अनायास से ईश्वरोपासना से सम्पूर्ण विघ्नों की निवृत्ति होती है तद्द्वारा ब्रह्मका सम्यक् स्पर्श तत्तादात्म्य प्राप्ति करता है । विषयके-असंस्पर्श के साथ ब्रह्मतादात्म्य है जिसमें विषयासंस्पर्शी 'ब्रह्म-संस्पर्शम्' इसको अत्यन्त सब अनत अपरिच्छेद निरतिशयसुख आनन्द को प्राप्त करता है । सबसे निर्वृत्तिक चित्त होने से लय विक्षेप विलक्षणका अनुभव करता है क्योंकि विक्षेप में मानस वृत्ति रहती है और लय में मन स्वरूप से भी नहीं रहता सूक्ष्म मन से सुखानुभव समाधि में ही होता है यहां पर 'अनायासेन' इससे विघ्ननिवृत्ति कही गई है । योगसूत्रकारने विघ्नों को बताया हैं—'व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादालस्याविरतिविभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।' चित्तं विक्षिपन्ति योगात् अपनयन्ति, अर्थात् योगसे चित्तके हटाने वालोंको चित्तविक्षेप कहते हैं । चित्तविक्षेप-

ते चान्तराया दर्शिता योगसूत्रेण [1]'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' यो. द. १-३०। चित्तं विक्षिपन्ति-योगादपनयन्तीति चित्तविक्षेपाः योगप्रतिपक्षाः। संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तिनिरोधस्य साक्षात्प्रतिपक्षौ, व्याध्यादयस्तु सप्तवृत्तिसहचरिततया तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः। व्याधिः-धातुवैषम्यनिमित्तोविकारो ज्वरादिः। स्त्यानम्-अकर्मण्यता। गुरुणा शिक्ष्यमाणस्याप्यासनादिकर्मानर्हतेति यावत्। योगः साधनीयो न वेत्युभयकोटिस्पृग्विज्ञानम्-

---

योग के विरोधी हैं संशय और भ्रान्तिदर्शन ये दोनों वृत्तिरूप होने से तन्निरोध के साक्षात् विरोधी हैं क्योंकि वृत्ति होने से तन्निरोध न होगा निरोध होनेसे वृत्तियां न होंगी। व्याध्यादि सात वृत्तियों के साथ रहने कारण सामग्रीविघटनद्वारा परम्परया विरोधी हैं। 'व्याधि-धातुवैषम्यमूलक विकार ज्वरादि। स्त्यान-अकर्मण्यता कर्मानुष्ठानानुत्साहता' गुरु से सिखाये जाने पर भी आसनादि कर्म में अयोग्यता सब करें या नहीं। यह योग करना या नहीं तदभावोभयकोटिविषयक ज्ञान संशय है। अतद्रूपप्रतिष्ठ होने से यद्यपि विपर्यय में ही अन्तर्भाव हो जाता है पुनः संशय का पृथक् निर्देश क्यों? इस शंका की निवृत्ति करने के लिए दोनों में अवान्तर विशेषधर्म दिखलानेके लिए पृथक् निर्देश है। संशय उभयकोटिविषयक होता है

---

(१) चित्तविक्षेप के हेतु व्याध्यादि नव अन्तराय हैं। ये चित्तवृत्तियां योगके अन्तराय योगविरोधिनी है। चित्त के विक्षेपक ये व्याध्यादि योग से चित्त को हटाकर अन्यत्र ले जाती हैं अतः विक्षेप है। योगविरोधित्व में हेतु कहते हैं—'सहैते' भा० पृ०८८ इति। अन्वयव्यतिरेकसे विक्षेप हेतुत्व व्याध्यादिमें सिद्ध करते हैं। व्यतिरेक दिखलाते है—'एतेषामि'भाति। संशय भ्रान्तिदर्शन ये दोनों वृत्तियाँ है अतः साक्षात् निरोध के प्रतिकूल है। जो व्याध्यादि वृत्तिस्वरूप नही हैं वे भी वृत्तिसाहचर्यसे वृत्तिप्रतिकूल हैं। वात-पित्त-कफ ये शरीर के धारण करनेवाले हैं इस कारण धातु कहे जाते हैं, भुक्त पीत आहारपरिणामविशेष रस है, करण इन्द्रियाँ हैं, न्यूनाधिकभाव कम वेसी होना वैषम्य है। अकर्मण्यता-कर्मायोग्यता, संशय उभयकोटिविषयक 'स्थाणुर्नवा' इत्यादि। यद्यपि संशय विपर्यय मिथ्याज्ञान से समान है, तथापि संशय उभयकोटिविषयक है विपर्यय एककोटिविषयक है जैसे 'इदं रजतम्' एककोटिविषयकत्वाविषयकत्वरूप अवान्तरविशेष विवक्षाभेद से दोनों का उपादान है। समाधिसाधनों का अभाव तद्विषयक प्रयत्नाभाव प्रमाद है, शरीर तथा चित्त के गुरुत्व-(भारीपना) से अप्रवृत्त आलस्य है, कफादि से शरीर में तमोगुण से चित्त में गुरुत्व होता है, विषयसेवनजन्य अत्यन्त अभिलाष अविरति है, मधुमती आदि समाधिभूमियों का अलाभ अलब्धभूमिकात्व है. किसी भूमि का लाभकर उतने ही से सुस्थित चित्त होने पर भी प्रयत्न की शिथिलता से चित्त की उसमें अस्थिरता-अनवस्थितत्व है हो सकती है इस हेतु से उसे लब्धभूमिका भी अपाय हो सकता है अतः जिससे समाधि लाभ होनेपर चित्त उसमें स्थित रहे वैसा प्रयत्न करना चाहिये।

संशयः। सच अतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन विपर्ययान्तर्गतोऽपि सन्नुभयकोटिस्पर्शित्वैककोटिस्पर्शित्वरूपावान्तर-विशेषविवक्षयाऽत्र विपर्ययाद्भेदेनोक्तः। प्रमादः-समाधिसाधनानामनुष्ठानसामर्थ्येऽप्यननुष्ठानशीलता। विषयान्तरव्यापृततया योगसाधनेष्वौदासीन्यमिति यावत्। आलस्यम्-सत्यामप्यौदासीन्यप्रच्युतौ कफादिना तमसा च कायचित्तयोर्गुरुत्वं व्याधित्वेनाप्रसिद्धमपि योगविषये प्रवृत्तिविरोधि। अविरतिः-चित्तस्य विषयविशेषे ऐकान्तिकोऽभिलाषः। भ्रान्तिदर्शनम्-योगासाधनेऽपि तत्साधनत्व-बुद्धिः, तथा तत्साधनेऽप्यसाधनत्वबुद्धिः, अलब्धभूमिकत्वम्-समाधिभूमेरेकाग्रतायाश्च अलाभः। क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्तरूपत्वमिति यावत्। अनवस्थितत्वम्-लब्धायामपि समाधिभूमौ प्रयत्नशैथिल्यात् चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठितत्वम्, त एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षाः, योगान्तराया इति चाभिधीयन्ते॥ 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः' यो०द० १-३१;

और विपर्यय एककोटिविषयक होता है इस प्रकार उभयकोटिकत्व एककोटिकत्व विवक्षा से विपर्यय से भिन्न संशय कहा। प्रमाद समाधिसाधन में सामर्थ्य होने पर भी अननुष्ठान स्वभावता।

विषयान्तर में संलग्न रहने से योगसाधन में उदासीनता ही है, आलस्य उदासीनताबुद्धि के न रहने पर भी कफ़ादि तथा तमोगुण से शरीर चित्तमें भारीपना, यद्यपि यह व्याधित्वेन लोकप्रसिद्ध नहीं है तथापि योगप्रवृत्ति के विरोधी होने से योगविषय में व्याधि समझना। अविरति एकविषय में चित्तका अत्यन्तिक अभिलाष है अर्थात् जिस किसी एकविषय में चित्तका सदा अभिलाष रहेगा उसकी उससे निवृत्ति कठिन रहेगी। भ्रान्तिदर्शन-योग के अकारण में योगकारणत्व बुद्धि है तथा तत्कारण में अकारणत्व बुद्धि है। अलब्धभूमिकत्व समाधिभूमि और एकाग्रता का लाभाभाव क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्तरूपता यह फलितार्थ है। अनवस्थितत्व-भूमि के लब्ध होनेपर भी प्रयत्न की शिथिलता से चित्त की उसमें अस्थिरता ये सब योगमल-हैं योगविरोधी योग के अन्तराय विघ्नभूत चित्तविक्षेप कहे जाते हैं। (१) 'दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्व-श्वासप्रश्वासाःविक्षेपसहभुवः'। चित्त का बाधनालक्षण रजोगुण परिणाम दुःख है, वह आध्यात्मिक

प्रश्न—भूमिलाभोत्तर तद्भ्रंश होने से क्या क्षति है ?

उत्तर—समाधि प्रतिलाभ यहाँ ध्येयसाक्षात्कार विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि साक्षात्कार पर्यन्त ही चित्तका भूम्यवस्थान है अकृतसाक्षात्कार योगारूढ़ का भ्रंश अनवस्थितत्व ही होता है।

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।'

इत्यादि स्मृति इसमें प्रमाण है। अतः ये नव योगमल योगप्रतिपक्ष जो अन्तराय भी कहाते हैं।

(१) 'दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः॥' १-३१॥

दुःखम्-चित्तस्य रजसः परिणामो बाधनालक्षणः। तच्चाध्यात्मिकम्, शारीरम्, मानसञ्च व्याधिवशात्,कामादिवशाच्च भवति। आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम्, आधिदैविकं ग्रहपीडादिजनितं द्वेषाख्यविपर्ययहेतुत्वात्समाधिविरोधि। दौर्मनस्यम्-इच्छाविघातादिबलवद्दुःखानुभवजनितश्चित्तस्य तामसः परिणामविशेषः क्षोभापरपर्यायस्स्तब्धीभावः। स तु कषायत्वाल्लयवत्समाधिविरोधी, अङ्गमेजयत्वम्-अङ्गकम्पनमासनस्थैर्यविरोधि, प्राणेन बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनम्-श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी, प्राणेन कोष्ठचस्य वायोर्बहिःसारणं प्रश्वासः, समाध्यङ्गपूरकविरोधी। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति। विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्तीति, विक्षेपसहभूवोऽन्तराया एव। एतेऽभ्यास-वैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। ईश्वरप्रणिधानेन वा तीव्रसंवेगानामासन्ने समाधिलाभे प्रस्तुते (१) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वे' ति पक्षान्तरमुक्त्वा, प्रणिधेयमीश्वरम्—

(२) 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

शारीरिक और मानसिक तीन प्रकार का है व्याधिवश तथा कामादिवश होता है। व्याघ्रादिजनित दुःख आधिभौतिक है, ग्रहपीड़ादिजनित दुःख आधिदैविक है। द्वेषनामक विपर्यय हेतु होने से समाधिविरोधी है। दौर्मनस्य इच्छा का विघातादि जो चाहे सो न हो अतिदुःखानुभव से समुत्पन्न चित्त का तामस परिणामविशेष क्षोभापरनामक स्तब्धीभाव है, वह तो कषाय होने से लय के सदृश समाधिविरोधी है अङ्गमेंजयत्व शरीर कम्पन है यह आसन की स्थिरता में विरोधी है। प्राण से बाह्य वायु का आभ्यन्तर प्रवेशन श्वास है यह समाधिहेतु रेचक विरोधी है प्राण से कुक्षिस्थवायु का बाहर निकालना प्रश्वास है यह समाधिकारणपूरक विरोधी है। समाहितचित्त को ये नहीं होते किन्तु विक्षिप्तचित्त को ही होते हैं इस कारण विक्षेप के साथ जायमान विघ्न कहाते हैं। ये अभ्यास वैराग्यों से निरोद्धव्य हैं। अथवा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा निरोध करना चाहिए। ईश्वरोपासना से तीव्रसंवेगवालों के समीप समाधि लाभ के प्रस्ताव में 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

ये केवल नव अन्तराय ही नहीं किन्तु दुःखादि भी इनके साथ होते हैं 'दुःखेमि'त्यादि से यही कहते हैं। प्रतिकूलवेदनीय दुःख है, आध्यात्मिक शरीररोगों से होते हैं, कामक्रोधादिवश मानस, आधिभौतिक व्याघ्रादि हिंसकजन्तुनिमित्तक, ग्रहपीड़ादि जनित है यह दुःख प्रतिकूल वेदनीय होने से प्राणिमात्र को हेय है। यद्यपि दुःखमात्र मानस है तथापि मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्व से त्रिधा विभक्त है—इच्छा के विघात से मन में क्षोभ चञ्चलता अंगमेंजयत्व-शरीरकम्प पुरुष के विना स्वयं प्राण जो बाह्यवायु को पीता है अर्थात् भीतर प्रवेश करता है वह श्वासनामक विकार समाध्यङ्ग रेचक का विरोधी है पेट के भीतर के वायुको जो निकालता है बाहर करता है पुरुष की इच्छा के विना भी वह प्रश्वास है समाध्यङ्ग पूरक का विरोधी है॥ १-३१॥

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदादि'

योॅ० द-१-२४-२५-२६ ति त्रिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्य, तत्प्रणिधानं द्वाभ्यामसूत्रयत्। तस्य वाचकः प्रणवः' (१) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

यह पक्षान्तर कहकर प्रणिधेय ईश्वरका क्लेशकर्मादि तीन सूत्रों से प्रतिपादन कर उनकी उपासना का दो सूत्र लिखे—

---

(१) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' १-२३।

तीव्रसंवेग को समाधि लाभ आसन्नतम है इसके प्रस्ताव में ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रसे पक्षान्तर सूचित किया है। प्रणिधान यहाँ भक्तिविशेष इष्ट है भक्ति मानसिक वाचिक अथवा कायिक कोई. भी हो उससे अभिमुखीकृत ईश्वर उस भक्त का अनुग्राहक होते हैं प्रेमलक्षण भक्तिरूप वक्ष्यमाण प्रणिधान से चिन्तन करने से अभिमुखीकृत ईश्वर ध्यान करने वालों को अभिध्यानमात्र से अर्थात् इसको समाधि मोक्षलाभ आसन्नतम हो ईदृश इच्छामात्र से रोगाशक्त्यादि वश उपाया-नुष्ठान मन्द होने पर भी वे अनुग्रह करते हैं ॥ १.३१ ॥

चेतनाचेतन से ही संसार निष्पन्न है दूसरे से नहीं, यदि ईश्वर अचेतन है तो प्रधान ही है प्रधान के विकारों का प्रधान में ही अन्तर्भाव है ऐसी स्थिति में ईश्वर का अभिमुखीकरण नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है तो भी चितिशक्ति उदासीन तथा असंसारी होनेसे अस्मितादिरहित है अतः आवर्जन कैसे ? और कैसे उक्ताभिध्यान ही हो सकता है इस अभिप्राय से कहते है—'अथे' भा-पृ० ६४ ति। इसमें सूत्र से उत्तर कहते हैं।

(२) 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥' १-२४॥

अविद्यादि क्लेश हैं, क्योंकि वे ही संसारी पुरुष को क्लेश देते हैं विविधदुःखों के भार कुशलाकुशल, धर्माधर्म-कर्मजन्य है इस कारण उपचार वृत्ति से कर्म है विपाक जात्यायुर्भोग विपाकानुरूप वासना चित्तभूमि में रहती है इससे आशय कही जाती है। उष्ट्रजातिसमुत्पादक कर्म पूर्व जन्म की उष्ट्रभोगजन्यवासना को जबतक अभिव्यक्त न करेगी तबतक उष्ट्रानुकूल भोग नहीं हो सकता अतः उष्ट्रजात्यनुभवजन्यवासना उष्ट्रविपाकानुगुण होती है।

प्रश्न—ये क्लेशादि बुद्धिधर्म है पुरुषधर्म नहीं अतः कोई भी पुरुष इनसे सम्बद्ध नहीं है अतः पुरुषपद से ही तदपरामर्श सिद्ध है पुनः क्लेशकर्मेत्यादिप्रवेश व्यर्थ है ?

उत्तर—'ते चे' भा-पृ० ६८ त्यादि। वे मनमें रहते हुए सांसारिक पुरुष में भी व्यवहृत होते हैं क्योंकि वही तत्फल भोक्ता चेतन है अतः पुरुषत्व से ईश्वर में भी क्लेशादि सम्बन्ध की प्रसक्ति है इस लिए उसका प्रतिषेध युक्त ही है यही कहते हैं— 'यो ह्यनेने' भा-पृ६६ ति। बुद्धिमें स्थित पुरुषमात्रसाधारण भोग से अपरामृष्ट असंबद्ध वही पुरुषविशेष ईश्वर है पुरुषान्तर से व्यवच्छिन्नविशेषके व्यावर्त्य को दिखलाने की कामना से शंकापूर्वक परिहार करते हैं—'कैवल्यमि'भा-त्यादिसे। प्रकृतिलयोंका प्राकृतबन्ध है विदेहों का वैकारिकबन्ध है, दिव्यादिव्य भोगभागियों का दक्षिणादिबन्ध है इन्हीं तीन बन्धनों का छेदन कर मोक्षप्राप्त हुए हैं। प्रकृतिभावनासंस्कृतमनों का देहनियोगान्तर ही प्रकृतिमें लीन हुए हैं अतः इनमें पूर्व बन्धकोटि स्फुट है

उसके विधान का संभव नहीं अतः उत्तर कोटिमात्र का विधान है अर्थात् ये पूर्वमें तो बद्ध थे ही उत्तर में अवधि समाप्त होने पर फिर बद्ध होंगे त्रैकालिकबन्धनिषेध इनमें नहीं है ईश्वर में पूर्वापरोभयकोटि का निषेध है ईश्वरमें न बन्ध था न है न होगा किन्तु सदा मुक्त है और सदा ईश्वर है ज्ञानक्रियाशक्तिसंपत् ऐश्वर्य है ज्ञानके विषय में पूछते हैं—'योऽसावि'भा-पृ-६८-ति। ज्ञान क्रिया इन दोनों का अपरिणामि चितिशक्ति में संभव नहीं अतः रजस्तम से रहित विशुद्धचित्तसत्त्व में हो रहते हैं यही कहना होगा। सदामुक्त ईश्वर का अविद्याजन्यचित्तसत्त्वसमुत्कर्ष के साथ स्वस्वामिभाव नहीं किन्तु दुःखत्रयाभिभूत प्रेत्यभावमहार्णवनिमग्न प्राणियों का उद्धार करेंगे, ज्ञान धर्मोपदेशद्वारा ज्ञानक्रिया का सामर्थ्यातिशय संपत्ति के विना ज्ञान धर्मोपदेश नहीं हो सकता। निवृत्तरजस्तमोमल विशुद्धसत्त्वोपादान के विना उक्तसंपत्ति नहीं हो सकती यह विचार कर अविद्या अपरामृष्ट भगवान् सत्त्वप्रकर्षका ग्रहण करते हैं अविद्याभिमानी अविद्या से तत्त्वको न जानकर होता है अविद्यासे अविद्या का जानकार अविद्याभिमानी नहीं होता। नाटकादिमें नर श्रीरामादि-रूप धारण कर भगवानको उन-उन चेष्टाओंको दिखाता हुआ भ्रान्त नहीं होता किन्तु वह जानता है कि मैं श्रीराम नहीं हूँ अतएव यह इसका आहार्य बाधकालिक इच्छाजन्यस्वरूप है तात्त्विक नहीं।

उद्धार की इच्छा से भगवान् सत्त्वका ग्रहण करेंगे और सत्त्वके उपादान से उद्धार की इच्छा होगी क्योंकि यह भी तो प्राकृत ही है तब तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है अतः शाश्वतिक कहा, हाँ यह दोष होता यदि यह सर्ग पहिला होता अनादिसर्ग प्रलयप्रवाह में सृष्टचन्तर में समुत्पन्न जो भगवान् की संहारेच्छा रहने समय तक प्रलय रहेगा अनन्तर फिर सृष्टि होगी इसके अनुसार अवधि के पूर्ण होने पर मैं फिर सत्त्व प्रकर्ष का ग्रहण करूंगा इसका अवधान कर भगवान् सर्ग का संहार किया। उस समय उक्त संकल्पवासनावासित ईश्वर चित्तसत्त्वप्रधानसदृश होकर भी प्रलयावधि के पूर्ण होने पर उक्त संकल्पवासनावश उसी प्रकार ईश्वर चित्तसत्त्वभाव से परिणत होता है, लोकमें जैसे चैत्रादि बड़े सबेरे उठता है यह संकल्प कर सूत गया वैसा ही उक्त संकल्पवासना से उठता है अतः ईश्वरप्रणिधान सत्त्वप्रकर्षोपादान इन दोनों को शाश्वतिक अनादि होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं।

ईश्वरका चित्तसत्त्व प्रलय में भी प्रकृति के सरूप नहीं यह कहना ठीक नहीं, कारण जो कभी भी प्रधानस्वरूप नहीं होता वह प्रधानविकार ही नहीं कहा जा सकता और चितिशक्ति उसको कह नहीं सकते क्योंकि वह अज्ञ है इन दोनों से अतिरिक्त प्रमाणाभाव से कोई पदार्थ ही नहीं है इस मत में प्रकृति पुरुष से अतिरिक्त पदार्थ नहीं विश्व का इन्हीं में अन्तर्भाव है ईदृश ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है।

प्रश्न—अच्छा तो यह ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष सप्रमाण है अथवा निष्प्रमाण ?

उत्तर—'तस्ये'भा-७२-ति। श्रुति स्मृति का शाश्वतिक उत्कर्ष सप्रमाण है अथवा निष्प्रमाण ?

प्रश्न—शास्त्र में क्या निमित्त है ईश्वर के सत्त्वप्रकर्ष का किसी को प्रत्यक्ष या अनुमान है नहीं ? शास्त्र ईश्वर प्रत्यय से उत्पन्न है इसमें प्रमाण नहीं अपने ऐश्वर्य के प्रकाशनार्थ कल्पना करके भी यह कह सकते हैं लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है ?

उत्तर—'प्रकृष्टसत्त्वे'भा-पृ-७०-ति। भाव यह है ईश्वर प्रणीत मन्त्रायुर्वेदादि में संवादि प्रवृत्ति देखने से अर्थात् अव्यभिचार निश्चय से प्रामाण्य सिद्ध होता है औषध विशेषों का तत्संयोग विशेष मन्त्रों का तत्तद्वर्णों के घटाने बढ़ाने से लौकिक

प्रमाणव्यवहारी हजारजन्म से भी अन्वयव्यतिरेक जो कारणत्वग्राहक है उसको नहीं जान सकता आगम से अन्वयव्यतिरेक-ग्रहण से अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। आगम से अन्वयव्यतिरेक और उनसे आगम अनादि मानकर इस दोषका परिहार नहीं हो सकता, प्रलय में महाप्रलय में दोनों के सन्तानों का विच्छेद हो जाता है। महाप्रलय में क्या प्रमाण है प्रधान का विकार जगत् 'प्रधान में अभिन्न है यह आगे कहेंगे। सदृश परिणामियों का असदृश परिणाम भी दृष्ट है तस्मात् प्रधान किसी समय महदहंकारादिरूप से विपरिणत होता है और किसी काल में सदृशरूप से परिणत होता है, जिस काल में सदृश रूप से परिणत होता है वही सदृश परिणाम प्रलय है। अतः मन्त्रायुर्वेदादिशास्त्रों की रचना से भगवान का रजस्तमो-मलरहित निरावरण सर्वतः प्रकाशशील अतएव विश्वविषयकज्ञान माना जाता है इसी में अभ्युदयनिःश्रेयसफलकोपदेश-प्रधान वेदराशि ईश्वरविरचित तद्बुद्धि प्रकर्ष से ही हो सकते हैं अन्यथा नहीं सत्त्वोत्कर्ष होनेपर रजस्तमर्निमित्तक भ्रम विप्रलम्भों का सम्भव नहीं अतः यह सिद्ध हुआ कि शास्त्र प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तक है विशेष वैशारदी आदिमें देखिये ॥ १-२४ ॥

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥' १-२५ ॥ (यह ६४५ के मूल में देखिये)

उक्त प्रकार से ईश्वर के ज्ञान क्रियाशक्ति में शास्त्र प्रमाण कहकर ज्ञानशक्ति में अनुमान प्रमाण है यह कहते हैं—'किञ्च' भा० पृ० ७४ ति। बुद्धिसत्त्वावरक तमोगुणके अपचय के तारतम्य से जो अतीत अनागत-भावी प्रत्युत्पन्न-वर्तमान एकैक का अथवा समुदाय का तथा अतीन्द्रियों का अल्प अधिक जो ज्ञान वह सर्वज्ञ बीज है कारण है। कोई पुरुष अतीतादि कुछ ही पदार्थ जानता है सब नहीं, कोई बहुत अतीतादियों का ग्रहण करता कोई उससे भी बहुतर जानता है उससे अधिकतम जानता है। ग्राह्य विषय की अपेक्षा से ग्रहण ज्ञान में अल्पत्व बहुत्व यहाँ इष्ट है अल्प विषयक ज्ञान में अल्पत्व बहुविषयक ज्ञान में बहुत्व कहा है यह उत्कर्ष बढ़ता हुआ जहाँ समाप्त हो जाता है उसके आगे फिर किसी में अतिशय नहीं निरतिशय अतिशय जिसके ज्ञान में है वही सर्वज्ञ है। इससे प्रमेय प्रमा का निरवधि उत्कर्ष कहा गया है इसको प्रमाणित करते हैं—'अस्ती' भा० ७४ त्यादि से। निरतिशयत्वकाष्ठा है जिससे परे अतिशयवान् दूसरा नहीं इससे अवधि लेकर सिद्ध साधन नहीं, सातिशयत्व हेतु है जो जो सातिशय है वह सब निरतिशय है जैसे आमलक बिल्वादि में सातिशय महत्व आत्मा में निरतिशय है परिमाणवत् से यह व्याप्ति दिखलाते हैं—'ईश्वरज्ञानं न निरतिशयं सातिशयत्वात् परिमाणवत्' यह अनुमान का आकार है इस व्याप्ति से व्यभिचार की आशङ्का करते हैं—'न च गरिमे'तत्त्व-वै-पृ० ७५ ति।

अवयवगत गुरुत्व की अपेक्षा से अवयविगत गुरुत्व अतिशयी नहीं है किन्तु परमाणुसे लेकर अन्त्यावयविपर्यन्त के जितने अवयव हैं उनमें प्रत्येक के गुरुत्वको इकट्ठाकर अवयवगुरुत्वसे अवयविगुरुत्व बड़ा है यह अभिमानमात्र है। भाव—यह है कि गुरुत्व गुण है, वह जन्य होनेसे स्वसमवायी कारणमात्र में ही रहता है एक ही गुरुत्व यदि अनेकमें होता तो कहीं अपकृष्ट कहीं उत्कृष्ट होने से सातिशयी कहाता किन्तु जिनके अवयव थोड़े हैं उनमें गुरुत्व कम है जिनके अवयव अधिक हैं उनमें गुरुत्व अधिक है यह कहा जाता है, वस्तुतः उन दोनों अवयवियों का गुरुत्व एक न हो किन्तु प्रतिव्यक्ति विश्रान्त भिन्न-भिन्न है अतः एक ही गुरुत्व कहीं छोटा होता और यही अन्यत्र बड़ा होता तो सातिशयी कह सकते किन्तु ऐसा है नहीं। वस्तुतस्तु अवयवगुरुत्वसे अतिरिक्त अवयविगुरुत्व हुआ नहीं है अन्य। १ सेर सूतसे बने कपड़े में कमसे कम

योo दo १-२७-२८ इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' योo-द-१-२९ इति ।

'तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपः तदर्थभावनम्' इति । 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'। उस

दो सेर का वजन होना चाहिये, एक तोला सोने से बनी अंगूठी दो तोले की होनी चाहिये इससे स्पष्ट है कि अवयवी में गुरुत्व है ही नहीं फिर सातिशयत्व की शंका कैसे हो सकती है इसीसे वेदान्तादिमतमें अवयवात्मक अवयवी है अज्ञानमें यह बात नहीं एकही ज्ञान अल्पविषयक बहुविषयक हो सकता है यह प्रति ज्ञेय विश्रान्त नहीं है।

प्रश्न—बुद्ध आर्हत कपिल प्रभृति अनेकशास्त्रकार हैं वे ही सर्वज्ञ क्यों न माने जाय ?

उत्तर—बुद्धादिप्रणीत आगम आभास हैं आगम नहीं सब प्रमाणों से बाधित क्षणिक नैरात्मादिमार्गके उपदेशक होनेसे विप्रलम्भक (वंचक) है। श्रुतिस्मृति प्रमाणादिरूप आगमसे ही 'आगच्छन्ति-बुद्धिविषयीभवन्ति अभ्युदय-निश्रेयसोपाया यस्मात्' इस व्युत्पत्तिसे आगम है इससे संज्ञा ईश्वरादिविशेष का निश्चय होता है ईश्वरादिसंज्ञाविशेष श्रुत्यादि में प्रसिद्ध हैं। वायुपुराण में—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥'

तथा—'ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टुत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे ।' वाo पुo १०।६ इति ।

विशेष आकर ग्रन्थों में देखिए ॥ १.२५ ॥

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥' १.२६ ॥ (यह ६४५ के मूलमें देखिये)

भगवान् में ब्रह्मादि से विशेषण कहते हैं वही यह पूर्व हिरण्यगर्भादि के भी गुरु हैं पूर्व गुरु काल से अवछिन्न हैं किसी कालमें है किसी में नहीं जहां अवच्छेदभाव से काल नहीं है अर्थात् कालत्रयवर्ती है वही पुरानों का भी गुरु है, जैसे सर्गादिमें आगम से ईश्वर सिद्धि होती है वैसी ही बीते हुए सर्गान्तरों में भी समझना। आगम—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि श्रुति है।

प्रश्न—तो प्रकृति स्वतन्त्र कैसे ?

उत्तर—'निमित्तमप्रयोजकमित्यादि। अग्रिम सूत्रसे निमित्त कारण ईश्वरसे प्रकृतिके स्वातन्त्र्यका विघात नहीं यह स्फुट करेंगे ईश्वर सब जीवोंके पिता है इसके अनुसार अग्नि विस्फुलिङ्ग दृष्टान्तसे भी जीव ब्रह्मका अंशांशिभाव और दोनोंका अभेद भी समझना। स्मृति भी ऐसा कहती है—

'यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रसूयते ।
तथा जीवसहस्राणि स एवैकः प्रसूयते ॥
सलिले करकाऽश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यात्पृथग् बुद्धो युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥'

इत्यादि आकरों में स्पष्ट है ॥ १.२६ ॥

(१) 'तस्य वाचकः प्रणवः ॥' १·२७ ॥

पूर्वोक्त प्रबन्ध से भगवान् को दिखलाया, अब उनके ध्यान करने के लिये उनके वाचक शब्द को कहते हैं— 'तस्येति' से। तथा च स्मृतिः—

'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥'

इति योगियाज्ञवल्क्यः। अदृष्टविग्रहः-अदृश्यशरीरः देवः परमात्मा भावग्राह्यो मनोमयः मनस्तुल्यकारणोपाधिशबलोऽयः— शकलाग्निवत् इत्यादिरर्थः। ईश्वर का वाचक प्रणव है विचारद्वारा परमतका उपन्यास करते हैं—'किमस्ये' तत्त्व. वै. पृ. ८१ ति। वाचकत्वम्-प्रतिपादकत्वम्, दूसरों का कहना है कि यदि शब्दार्थों का स्वाभाविक सम्बन्ध संकेत–इस शब्द से इस अर्थ को समझना इससे अभिव्यक्त होगा तो जहाँ सम्बन्ध नहीं है वहाँ सैकड़ों संकेतों से भी अभिव्यक्त न होगा। प्रदीपव्यङ्ग्य घट जहाँ नहीं है वहाँ हजारों प्रदीपों से तदभिव्यक्ति शक्य नहीं यदि उन दोनोंका सम्बन्ध कृत्रिम है कृतसंकेत करभशब्द हाथी में प्रतिपादकत्वेन दृष्ट है अर्थात् तत्प्रतिपादक देखा गया है तो संकेत ही वाचकत्व है ऐसा विचारकर इष्टका अवधारण करते हैं—'स्थितोऽस्ये' तत्त्व-वै० पृ० ८१ ति। भाव यह है कि सभी शब्द सब अर्थोंके कहने में समर्थ है इस परिस्थिति में सब शब्दोंका सब अर्थों के साथ नित्यसम्बन्ध ही हैं ईश्वर संकेत प्रकाशक तथा नियामक है यदि सब शब्दों में वाचकत्व समान है तो वाचक, अपभ्रंशविभाग कैसे, क्योंकि अवाचक ही अपभ्रंश कहे जाते हैं?

उत्तर—जिसमें ईश्वर संकेत है वह वाचक है जिसमें उक्त संकेत नहीं वह अपभ्रंश है अतः ईश्वरसंकेतासंकेतकृत ही से उक्त विभाग समझना इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'यथे' त० वै० पृ० ८२ ति से। जैसे पिता पुत्र का सम्बन्ध स्थित ही यह इसके पिता है यह इसका पुत्र है इस संकेत से अभिव्यक्त होता है तद्वत।

प्रश्न—शब्द भी तो प्रधानका विकार ही है महाप्रलय में प्रधान में जब शब्द लीन हो जायगा तो उसकी शक्ति भी लीन ही हो जायगी फिर महदादिक्रमसे उत्पन्न अवाचक शब्द की वाचकशक्ति की महेश्वर संकेतसे अभिव्यक्ति नहीं हो सकती क्योंकि अभिव्यक्ति वर्तमान की होती है विनष्ट की नहीं?

उत्तर—सर्गान्तरे 'प्वि' त० वै० पृ० ८२ त्यादि। यद्यपि शक्तिके साथ शब्द प्रधानमें लीन हुआ है तथापि सर्गादि में जब शब्द आविर्भूत होता है तो अपनी स्वाभाविक वाचकत्वशक्तिके साथ ही आविर्भूत होता है न्यायादिमत के समान महाप्रलयमें पदार्थोंका अत्यन्त विनाश नहीं होता किन्तु स्वकारणमें सूक्ष्मरूपसे अवस्थान रहता है उसीको लय कहते हैं यह 'नासतो विद्यते भावः' इसकी व्याख्यामें स्फुट है। इसमें दृष्टान्त है—वर्षा बीतने पर मण्डूक की शरीर सूखकर मिट्टी हो जाती है वर्षा होने पर फिर ज्यों कि त्यों मण्डूकशरीर बन जाती है तद्वत्, अतः पूर्वसर्गसंकेत के अनुसार ही उत्तर सर्गमें भी भगवान शब्दार्थों का संकेत करते हैं अतः सदृशव्यवहारपरम्परासे नियत होनेसे शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है कूटस्थ नित्य नहीं यह आगमिकोंका मत है।

प्रश्न—शक्ति नित्य हो परन्तु देवदत्तादि के समान किसी समय शक्तिभेद होनेपर प्रणव का दूसरा अर्थ हो सकता है जैसे देवदत्त का संकेत वत्सर में भी होता है वह भी उस शब्द का अर्थ ही है ऐसे ही प्रणव का सर्गान्तर में भी शक्ति हो सकती है फिर प्रणवार्थ सदा यही है यह संप्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—सर्गान्तरेष्वि'ति । यह संकेत लौकिक नहीं है जो पुरुषभेद से भिन्न हो किन्तु यह वैदिक है यहाँ का संकेत करनेवाला पुरुष सर्वज्ञ है अतः सर्गान्तरसिद्धशक्ति का स्मरण कर वर्तमान सर्ग में उसी अर्थ में उस शक्ति को उस पद में अभिव्यक्त करता है अतः वैदिकशब्दार्थ में अनाश्वास का संभव नहीं ॥ १-२७ ॥

वाचक को कहकर प्रणिधान कहते हैं—'तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥' १-२८ ॥

प्रणव का जप प्रणववाच्य ईश्वर की भावना फिर-फिर चित्त में सन्निवेश ।

प्रश्न—इसे क्या होता है ?

उत्तर—केवल भगवान् में ही चित्त रमता है इसी अर्थ में व्यासजी की गाथा का उदाहरण देते हैं—

'स्वाध्यायाद्योगमासीति योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥' इति ।

सारांश यह है—वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध जानकर प्रणव जप के साथ ब्रह्म का ध्यान करे; स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः'इति । यद्यपि प्रणवार्थ श्रुत्यादि में बहुविध कहा है परन्तु संक्षेप से गरुडपुराणोक्त अर्थ यहाँ लिखते हैं—

'व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्तिताः ।
अर्द्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥' इति ॥

प्रणवार्थ चित्त दो प्रकार का है—प्रथम अंश अंशि कार्यकारण शक्ति शक्तिमान् इन सबका अभेद से एकीभाव कर—'अहं ब्रह्म, सर्वं खलु ब्रह्म, तमेतमात्मानमेति ब्रह्मणा एकीकृत्य ब्रह्म चात्मानमित्येकीकृत्य' इत्यादि श्रुति है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह भी श्रुति है—

'एकं समस्तं यदिहास्ति किंचित्, तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥' इति स्मृतिः ।

दूसरा प्रकृति तत्कार्य और पुरुषके विवेकसे जानकर केवल ब्रह्मचिन्मात्रमें आत्मचिन्तन करना, 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं, स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्, तमेवैकं जानथ आत्मानम्, आत्मेत्येवोपासीत' यह श्रुति है—

'प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रसंख्याय विमुच्यते ॥
यः सर्वभूतचित्तज्ञो यश्च सर्वहृदि स्थितः ।
यश्च सर्वान्तरे ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत् ॥'

इत्यादि विशेष योगवार्तिकमें देखिये ॥ १-२८ ॥

ततः प्रणवजपरूपात्, तदर्थध्यानरूपाच्चेश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृतिविवेके-नाधिगमः-साक्षात्कारो भवति, उक्तानामन्तरायाणामभावोऽपि भवतीत्यर्थः।

अभ्यासवैराग्याभ्यामन्तरायनिवृत्तौ कर्तव्यायामभ्यासदार्ढ्यार्थमाह-(१) 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' यो-द-२-३२। तेषाम्-अन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासः-चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यम्। तथा (२) 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-

---

तदर्थध्यानरूप प्रणव जप से और ईश्वरप्रणिधानसे प्रत्यक् चेतनका अर्थात् पुरुषका, प्रकृतिविवेक से अधिगम-प्रत्यक्ष होता है। उक्त अन्तराय के अभाव भी होता है।

अब अभ्यास वैराग्यसे अन्तराय (विघ्न) के निवृत्ति हो जानेपर कर्तव्य अभ्यास दार्ढ्यार्थ कहते हैं—'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' इति। उन अन्तरायों की निवृत्ति के लिए जिस किसी इष्ट एक विषय में

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥' १-२९ ॥

और भी इसका फल है—'ततः' इत्यादि। प्रतीपं प्रतिकूलमञ्चति जानाति इति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्च प्रत्यक्चेतनः अविद्यावान् ईश्वर से भिन्न प्रत्यक्चेतन जीव जहाँ विवक्षित है यह सूचित हुआ। प्रत्यक् चेतन को अपने स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है और विघ्नाभाव भी है।

प्रश्न—ईश्वर ध्यान ईश्वर विषयक है वह प्रत्यक्चेतन का साक्षात्कार कैसे करेगा अन्यविषयक ध्यान यदि अन्य विषय का साक्षात्कारी हो तो कामिनी प्रणिधान से सनत्कुमार का भी साक्षात्कार हो जायगा ?

उत्तर—यथैवेश्वरः' त० वै०-पृ०-८७ इत्यादि। जैसे ईश्वर पुरुष शुद्ध कूटस्थनित्य होने से उपजनापायरहित है प्रसन्न क्लेशरहित केवल धर्माधर्मशून्य अतएव अनुपसर्ग जात्यायुर्भोगवर्जित सादृश्य किंचिद्भेदमें होता है इस लिये भेदक धर्म कहते हैं—बुद्धि का प्रतिसंवेदी बुद्धिप्रतिष्ठितार्थ को स्वात्मगत अध्यास से मानता है ईश्वर नहीं। भेद यह है कि अत्यन्त विसदृश का ध्यान तद्भिन्न का साक्षात्कारी नहीं होता जैसे कामिनी का चिन्तन सनत्कुमार का साक्षात्कारी नहीं होता यह ठीक है परन्तु सदृश का चिन्तन सदृशान्तर का साक्षात्कारक होता है एक शास्त्रका अभ्यास तत्सदृशार्थ शास्त्रान्तर ज्ञानका उपयोगी होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥ १-२९ ॥

(१) 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥' ३२ ॥

एक तत्त्व ईश्वर क्योंकि वही प्रकृत प्रस्तुत है विक्षेपों के प्रतिषेधार्थ, एकतत्त्व का अभ्यास करे। वैनाशिकमत का निराकरणार्थ 'परस्ये'त्यादि का उपन्यास है जिसके मत में एक एक व्यक्ति में ही ज्ञान विश्रान्त है जब तक अर्थ का भान है तब तक अर्थ और ज्ञान दोनों है क्षणान्तर में दोनों नष्ट हो जाते हैं। ऐसा भी ज्ञान है कि प्रथम एक अर्थ का ग्रहण कर पीछे दूसरे अर्थ का ग्रहण करे क्योंकि ज्ञानादि क्षणिक है और क्षण भी व्यक्तिमात्र है उसमें कोई भेदक विशेषण न रहने से वह अभेद्य है अतः पूर्वपश्चाद्भाव भी न हो सकता हमारे मतमें अक्षणिक चित्त स्वविषय एक वा अनेक में प्रतिक्षण

पुण्यापुण्यविषयाणां भवनातश्चित्तप्रसादनम् 'यो-द-१-३३। मैत्री-सौहार्द, करुणा-कृपा,

अभ्यास चित्त का पुनः पुनः स्थापन करना। तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्' मैत्री-सौहार्द सुहृद्भाव, करुणा-दया, मुदिता-आनन्द, उपेक्षा औदासीन्य, सुखादिशब्द से सुखादिमान पुरुषविशेष प्रतिपाद्य है। सम्पूर्ण प्राणियों में जो सुख सम्पन्न है उनमें मेरे मित्रों को बहुत अच्छा सुख है इस प्रकार मैत्री की भावना करें,

त्यागोपादान से अव्यवस्थित है अर्थात् प्रणिधान दशा में एक अर्थ का ही अनेक क्षणों तक ज्ञान अवगाहन करता है विक्षिप्त दशामें अर्थान्तरविषयक ही होता जाता है अतः विक्षेप को हटाकर उसमें एकाग्रता का आधान कर सकते हैं इसलिये तदुपदेश तदर्थ प्रवृत्तियां अनर्थ नहीं।

प्रश्न—अच्छा तो एक क्षणिक विज्ञानमें एकाग्रताका आधान नहीं हो सकता यह ठीक है किन्तु अक्षणिक अनादि चित्तसन्तानमें विक्षेप को हटाकर एकाग्रता का आधान करेंगे ?

उत्तर—इस दर्शनमें एकाग्रताप्रवाह चित्तका धर्म है अथवा संतानका ? प्रथमपक्ष ठीक नहीं क्रमसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानों में एकप्रवाहचित्त अनुगत नहीं दूसरे क्षणमें उत्पन्न जो ज्ञान होगा उस क्षणमें पूर्वचित्त अनुगत नहीं अन्यथा क्षणिकत्व ही भङ्ग हो जायगा क्योंकि आपके मतमें जो है सब क्षणिक ही है अक्षणिक है नहीं। अथ सांशत आविद्यक प्रवाह का अंश प्रत्यय परमार्थ सत् है उस प्रत्ययमें प्रयत्नसाध्य एकाग्रता धर्म हो सकती है इसको दूषते हैं इत्यादि विस्तृत योगभाष्यादि में देखिये अग्रिमानुवाद प्रकृतमें उपयोगी नहीं है इस कारण छोड़ दिया १-३२।

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥' १.३३॥
(यह सूत्र उपर मूल में देखिये)

परिकर्म मलवर्जन क्रिया शरीर शोभाधायकसंस्कार प्रकृतमें मनके मल असूयादि है तन्निवर्तक कर्म मैत्रीकरुणादि परिकर्म है इस तात्पर्य से 'अपरिकर्मितमतयोऽसूयादि मतः' पृ० ६६ यह मिश्रजीने लिखा है। असूयादिमचित्त में समाधि तदुपसंपत्ति नहीं होती अतः असूयादिविरोधि चित्तप्रसादनोपाय कहते हैं 'मैत्रीतिसे'। सुखितों से मैत्री सौहार्दभावना करनेवाले चित्त में ईर्ष्या कालुष्यादि दोष नहीं होता। मित्रके सुखमें किसीको असूया नहीं होती यदि हो तो वह वस्तुतः मित्र ही नहीं दुःखितों में जैसे अपने दुःखी होनेपर करुणा होती है वैसा ही उनमें दुःखनिवृत्तीच्छारूप करुणा की भावना से परोपकारचिकीर्षारूप कालुष्य निवृत्ति होती है। पुण्यशील प्राणियों में मुदिता हर्ष खुषी की भावना करने से असूया कालुष्य चित्तसे निवृत्त होता है। अपुण्यशीलों में उपेक्षाकी भावना से अमर्ष कालुष्य की निवृत्ति होती है तदनन्तर राजस तामस धर्म निवृत्त होनेपर सात्त्विक शुक्लधर्म उत्पन्न होता है ततः चित्त सत्वप्रकर्षसम्पन्न होता है। वृत्तिनिरोधपक्षमें प्रसादस्वभावसे चित्त प्रसन्न होता है प्रसन्नचित्त वक्ष्यमाण उपायों से स्थैर्यका लाभ करता है मैत्र्यादिभावना न रहने पर उक्त उपायों से चित्त एकाग्र नहीं होता विशेष आकर ग्रन्थमें देखिये। १-३३।

अर्थ—सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवानमें क्रमसे मैत्री, करुणा, मुदिता, तथा उपेक्षा करनेसे चित्त प्रसन्न होता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगसे प्रसन्न चित्तवाले समदर्शी योगी सभी भूतोंमें आत्माको और सभी भूतोंको आत्मामें देखते हैं ॥ २९ ॥

मुदिता-हर्षः, उपेक्षा-औदासीन्यम्, सुखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपाद्यन्ते । सर्वप्राणिषु सुखसंभोगसम्पन्नेषु साध्वेतन्मम मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं भावयेत्, न त्वीर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव भावयेत्, नोपेक्षाम्, न वा हर्षम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्यात्-नतु द्वेषम्, न चोपेक्षाम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेत्-नानुमोदनम्, न वा द्वेषम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च विगतरागद्वेषादिमलं चित्तम् प्रसन्नं सदेकाग्रतायोग्यं भवति ।

मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणम्,' 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादीनाम्, 'अमानित्वमदम्भित्वमि'त्यादीनां च धर्माणाम् सर्वेषामेतेषां शुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्तकत्वात् । रागद्वेषौ महाशत्रू सर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धकौ महता प्रयत्नेन परिहर्तव्यावित्येतत्सूत्रार्थः । एवमन्येऽपि प्राणायामादय उपायाश्चित्तप्रसादनाय दर्शिताः, तदेतच्चित्तप्रसादनं भगवदनुग्रहेण यस्य जातम्, तं प्रत्येवैतद्वचनं 'सुखेने'ति, अन्यथा मनः-प्रशमानुपपत्तेः ॥ २८ ॥

ये क्यों सुखी हैं इस प्रकार ईर्ष्या न करे । दुःखी प्राणियों में उनकी दुःखनिवृत्ति कैसे होगी इस प्रकार दया की भावना करना तथा उपेक्षा न करना और न हर्ष करना । पुण्यवान् प्राणियों में पुण्य के अनुमोदन से हर्ष करना, द्वेष या उपेक्षा न करना, अपुण्यवान् प्राणियों में औदासीन्यभावना करना अनुमोदन और द्वेष की नहीं; इस प्रकार भावनाशील पुरुष का शुद्धधर्म बढ़ता है उससे रागद्वेषादि मल से विमुक्त चित्त प्रसन्न होता हुआ एकाग्रता के योग्य होता है ।

मैत्र्यादि चारों उपलक्षण हैं 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि का, तथा 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि सब धर्मों का । ये सब शुभवासनारूप होने से मलिनवासना के निवर्तक हैं राग और द्वेष बड़े शत्रु हैं सब पुरुषार्थों के विरोधी हैं इनका परिहार बड़े परिश्रम से करना चाहिए ये सूत्रार्थ हैं । इसी तरह अन्य प्राणायामादि उपाय चित्त शोधन के लिये दिखलाये हैं यह चित्तप्रसन्नता भगवान् के अनुग्रह से हो जाती है उनके प्रति यह वचन है 'सुखेने'त्यादि । ईश्वर प्रसाद के बिना मनः प्रशान्ति नहीं होती ॥२८॥

तदेवं निरोधसमाधिना त्वंपदलक्ष्ये, तत्पदलक्ष्ये च शुद्धे साक्षात्कृते तदैक्यगोचरा-'तत्त्वमसो'तिवेदान्तवाक्यजन्या निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना जायते। ततश्च कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मसुखमत्यन्तमश्नुत इत्युपपादयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्र प्रथमं त्वंपदलक्ष्योपस्थितिमाह—'सर्वभूतस्थमि'ति। सर्वेषु भूतेषु-स्थावर-जङ्गमेषु शरीरेषु भोक्तृतया स्थितमेकमेव नित्यं विभुमात्मानं प्रत्यक्चेतनं साक्षिणं परमार्थसत्यमानन्द-घनं साक्ष्येभ्योऽनृतजडपरिच्छिन्नदुःखरूपेभ्यो विवेकेनेक्षते-साक्षात्करोति। तस्मिंश्चात्मनि साक्षिणि सर्वाणि भूतानि साक्ष्याण्याध्यसिकेन संबन्धेन भोग्यतया कल्पितानि, साक्षि-साक्ष्ययोः संबन्धान्तरानुपपत्तेः। मिथ्याभूतानि परिच्छिन्नानि जडानि दुःखात्मकानि साक्षिणो विवेकेनेक्षते। कः? योगयुक्तात्मा-योगेन निर्विचारवैशारद्यरूपेण युक्तः प्रसादं प्राप्त आत्मा-अन्तःकरणम् यस्य, स तथा। तथा च प्रागेवोक्तं–'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः, ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्'-यो-द-१-४९ इति। तथा च शब्दानुमाना-गोचरयथार्थविशेषवस्तुगोचरयोगजप्रत्यक्षेण ऋतम्भरसंज्ञेन युगपत् सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं च

इस प्रकार निरोध समाधि से त्वंपद का लक्ष्य और तद्पद का लक्ष्य जो शुद्ध ब्रह्म है उसके प्रत्यक्ष करने पर तदभेदविषयकबुद्धि जो 'तत्त्वमसि' वाक्यजन्य है निर्विकल्प साक्षाद्‌काररूपा वृत्ति जो ब्रह्मविद्या-पदवाच्य है वह होती है। उससे सम्पूर्ण अविद्या और तत्कार्यों की निवृत्ति से अत्यन्त ब्रह्मसुख व्याप्त करता है अर्थात् प्राप्त करता है। यह तीन श्लोकों से उपपादन करते हैं। उसमें पहिले त्वंपद लक्ष्य आत्मा की उपस्थिति कहते हैं—'सर्वे'त्यादिसे। स्थावर जङ्गमादि भेद भिन्न सब भूतों और शरीरों में भोक्तृरूपसे स्थित एक ही नित्य व्यापक आत्मा साक्षी परमार्थसत्य आनन्दघन को साक्ष्य अनृत जड़ परिच्छिन्न दुःखरूप से देखता है उस साक्षी आत्मा में सब भूत सब साक्षिविषय जो कि आध्यासिकसम्बन्ध से भोगविषतया कल्पित है क्योंकि साक्ष्यसाक्षी का कल्पित सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं बनता। अतः वे साक्षीकल्पित होने से मिथ्या परिच्छिन्न जड़ दुःखात्मक है, अतएव तद्विपरीत साक्षी से भिन्न है इस विवेक से देखता है।

प्रश्न—कौन देखता है?

उत्तर—योगयुक्तात्मा, निर्विचारवैशारद्यरूपयोग से जो युक्त हैं तथा प्रसन्नचित्त है वे यह पूर्व में कहा है—'श्रुतानुमाने'त्यादिसे। तथा च शब्दानुमानविषय यथार्थ विवेकवस्तुविषयक योगजप्रत्यक्षसे ऋतम्भरा संज्ञक हैं। एक समय सूक्ष्म व्यवहित दूरस्थ सम्पूर्ण को तुल्य ही देखता है सब जगह बराबर है दर्शन जिसका

सर्वं तुल्यमेव पश्यतीति। सर्वत्र समं दर्शनं यस्येति, सर्वत्रसमदर्शनः सन्नात्मानम्, अनात्मानञ्च योगयुक्तात्मा यथावस्थितमीक्षत इति युक्तम्।

अथवा यो योगयुक्तात्मा, यो वा सर्वत्र समदर्शनः, स आत्मानमीक्षत इति योगि-समदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ। यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुः, तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि। नावश्यं योग एवापेक्षितः। अत एवाह वसिष्ठः—

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः॥' इति।

चित्तनाशस्य-साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्, तददर्शनस्य तस्योपाय-द्वयम्-एकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः संप्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्त्वम् साक्षिणाऽनुभूयते। निरुद्धसर्ववृत्तिकं तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः। द्वितीयस्तु-साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव, साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः।

वह समदर्शन होता हुआ आत्मा और अनात्मा को योगयुक्त पुरुष जो जैसा है उसको वैसा देखता है यह ठीक है

अथवा योगयुक्तात्मा जो है सर्वत्र समदर्शन सब में आत्मा को देखता है योगी और समदर्शन ये दोनों आत्मदर्शन के अधिकारी यह कहा। जैसे चित्तवृत्तिनिरोध साक्षी के प्रत्यक्ष में हेतु है तथा जड़ विवेक से सर्वत्र अनुगत चैतन्य पृथक्करण भी हेतु है उसके लिए योग ही अवश्य अपेक्षित नहीं किन्तु दोनों उपाय हैं। अतएव वसिष्ठ जी ने भी कहा है—

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।'

इत्यादि मूलमें देखो। साक्षी के उपाधिभूत चित्त का साक्षी से अलग करने के दो उपाय हैं—एक चित्त नाश और दूसरा साक्षिविषयादर्शन, पहिला असंप्रज्ञात समाधि है क्योंकि असंप्रज्ञात समाधि में आत्मैक्याकार केवल आत्मविषयक वृत्तिधाराविशिष्ट अन्तःकरण सत्त्व साक्षी से अनुभूत होता है, निरुद्ध-सर्ववृत्तिक चित्त लीन होनेसे साक्षीसे अनुभूत नहीं होता यही विशेष है। दूसरा साक्षी में कल्पित साक्षी

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमे देखता है, उसके लिये न मैं अदृश्य हूँ और न मेरे लिये वह अदृश्य है॥ ३०॥

तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे। तेषां परमार्थस्य चित्तस्याऽदर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायासंभवात्। श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः प्रपञ्चानृतवादिनो द्वितीयमेवोपायमुपेयुः। तेषां ह्यधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते। अतएव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयांबभूवुः। अतएव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचारे एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय, न तु योगे। विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन॥ २९॥

एवं शुद्धं त्वंपदार्थं निरूप्य, शुद्धं तत्पदार्थं निरूपयति—'यो मामि'ति। यो योगी माम्-ईश्वरं तत्पदार्थमशेषप्रपञ्चकारणमायोपाधिकमुपाधिविवेकेन सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेण

विषय नहीं ही है परमार्थ सत्य केवल साक्षी विद्यमान है यह विचार है जिसमें प्रथम उपाय प्रपञ्च सत्यवादी योगशास्त्रवालों का है इसमें परमार्थचित्त के अदर्शन से साक्षी के दर्शन निरोधोपाय से अतिरिक्त उपाय का असंभव है। श्रीमच्छंङ्करभगवत्पूज्यपादमतानुयायी वेदान्ती प्रपञ्च मिथ्यावादी द्वितीय उपाय का अनुसरण करते हैं; इनके मत में साक्षीके अधिष्ठान साक्षात्कार दृढ़ होने से कल्पित, अतएव बाधित चित्त और साक्षी के विषय का अदर्शन सुखसे उत्पन्न होता है अतएव भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने कहीं भी ब्रह्मज्ञानी लोगों के लिये योग की अपेक्षा का उपपादन नहीं किया है। अतएव अद्वैतवेदान्ती परमहंस श्रौत-वेदान्तवाक्य विचार में गुरु के पास जाकर ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रवृत्त होते हैं। योग में नहीं, विचार द्वारा चित्तदोष का अपाकरण होता है अतः चित्तदोषनाश अन्यथा सिद्ध है, इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है॥ २९॥

इस प्रकार शुद्ध त्वंपदार्थ का निरूपण कर, शुद्ध तत्पदार्थ का निरूपण करते हैं—जो योगी मुझ ईश्वर तत्पदार्थ सम्पूर्ण प्रपञ्च कारण मायोपाधिक है उस ईश्वर को उपाधि विवेक से सब प्रपञ्चों में तद्रूप से तथा (प्रकाशरूप से) अनुगत सर्वोपाधिसे शून्य परमार्थ सत्य आनन्द घन को योगजप्रत्यक्ष से

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

एकी भावमें स्थित जो योगी सभी भूतोंमें अवस्थित मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे व्यवहार करता हुआ भी अभेदसे मुझमें ही व्यवहार करता है ॥ ३१ ॥

स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परमार्थसत्यमानन्दघनमनन्तं पश्यति-योगजेन प्रत्यक्षेणाऽपरोक्षीकरोति । तथा सर्वं च प्रपञ्चजातं मायया मय्यारोपितं मद्भिन्नतया मृषात्वेनैव पश्यति, तस्यैवं विवेकदर्शिनोऽहम्-तत्पदार्थो भगवान्न प्रणश्यामि-ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति परोक्षज्ञानविषयो न भवामि, किन्तु योगजापरोक्षज्ञानविषयो भवामि । यद्यपि वाक्यजापरोक्ष-ज्ञानविषयत्वं त्वंपदार्थाभेदेनैव, तथापि केवलस्यापि तत्पदार्थस्य योगजापरोक्षज्ञानविषयत्व-मुपपद्यत एव । एवं योगजेन प्रत्यक्षेण मामपरोक्षीकुर्वन् स च मे न प्रणश्यति-परोक्षो न भवति । स्वात्मा हि मम स विद्वान्, अतिप्रियत्वात् । सर्वदा मदपरोक्षज्ञानगोचरो भवति ।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

इत्युक्तेः । तथैव शरशय्यास्थभीष्मध्यानस्य युधिष्ठिरं प्रति भगवतोक्तेः । अविद्वांस्तु स्वात्मानमपि सन्तं भगवन्तं न पश्यति, अतो भगवान् पश्यन्नपि तं न पश्यति 'सः एनमविदितो न भुनक्ति' बृ. उ. १-३-१५ इति श्रुतेः । विद्वांस्तु सदैव सन्निहितो भगवतः अनुग्रहभाजनमित्यर्थः ॥ ३० ॥

देखता है तथा सब प्रपञ्चसमुदाय मुझमें भिन्न होने के कारण मिथ्या है अतएव मद्भिन्नत्वेन मृषा देखता है उस एवं विवेकदर्शी को तत्पदार्थ अहं (मैं) भगवान् प्रनष्ट नहीं होता हूँ ईश्वर मुझसे भिन्न कोई है इस परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता हूँ । यहां परोक्षज्ञान विषयप्रणाश विवक्षित है मुख्य नाश नहीं किन्तु योगजप्रत्यक्ष ज्ञानविषय होता हूँ । यद्यपि वेदान्तवाक्यजन्य अपरोक्षज्ञानविषयत्व त्वंपदार्थाभेद से ईश्वर में भी है तथापि त्वंपदार्थभेद के विना केवल तत्पदार्थ में योगजप्रत्यक्ष ज्ञानविषयता उपपन्न होती है, इस प्रकार योगजप्रत्यक्ष से मुझको प्रत्यक्ष करता हुआ योगी हमको प्रनष्ट नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं होता क्योंकि वह मेरा ही आत्मा है इस प्रकार का विद्वान् अतिप्रिय होने से सदा मेरे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है क्योंकि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' ये पूर्व में कह चुके हैं। इसी प्रकार शरशय्यास्थित भीष्मपितामह के अपरोक्ष ज्ञानका विषय मैं हूँ यह युधिष्ठिर के प्रति भगवान् ने कहा है। अविद्वान आत्मस्वरूप होते हुए भी श्री भगवान् को नहीं देखता इस कारण भगवान् भी उसको नहीं देखते क्योंकि 'स एनमविदितः न भुनक्ति' यह श्रुति है। अज्ञात परमात्मा इस पुरुष का पालन नहीं करता, विद्वान् तो सदा सन्निहित होने से भगवान के अनुग्रह का पात्र होता है ॥ ३० ॥

एवं त्वंपदार्थम्, तत्पदार्थं च शुद्धं निरूप्य 'तत्त्वमसी'ति-वाक्यार्थं निरूपयति— 'सर्वभूतेस्थितमि'ति। सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं-सर्वानुस्यूतसन्मात्रं माम्-ईश्वरं तत्पदलक्ष्यम् स्वेन स्वंपदलक्ष्येण सहैकत्वम्-अत्यन्ताभेदमास्थितः सन्-'घटाकाशे महाकाश इत्यत्रेवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन् यो भजति—'अहं ब्रह्मास्मि, इति वेदान्तवाक्यजेन तत्त्वसाक्षात्कारेण-अपरोक्षीकरोति, सोऽविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या जीवन्मुक्तः कृतकृत्य एव भवति। यावत्तु तस्य बाधितानुवृत्त्या शरीरादिदर्शनमनुवर्तते, तावत्प्रारब्धकर्मप्राबल्यात् सर्वकर्मत्यागेन वा याज्ञवल्क्यादिवत्, विहितेन कर्मणा वा जनकादिवत्, प्रतिषिद्धेन कर्मणा वा दत्तात्रेयादिवत्, सर्वथा - येन केनापि रूपेण वर्तमानोऽपि - व्यवहरन्नपि स योगी 'ब्रह्माहमस्मी'ति जानन्-विद्वान् मयि परमात्मन्येवाभेदेन वर्तते। सर्वथा तस्य मोक्षं प्रति नास्ति प्रतिबन्धशङ्का, 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां सः भवति, बृ. उ. १-४-१० इति श्रुतेः। देवा महाप्रभावा अपि तस्य मोक्षाभवनाय नेशते, किमुतान्ये क्षुद्रा इत्यर्थः। ब्रह्मविदो निषिद्धकर्मणि प्रवर्तकयो रागद्वेषयोः-

---

इस तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का निरूपण कर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का वाक्यार्थ का निरूपण करते हैं—कल्पित सब भूतों में अधिष्ठानस्वरूप से स्थित सर्वत्रानुगत सन्मात्र तत्पदलक्ष्य मुझ ईश्वर को त्वंपदलक्ष्य स्व के साथ एकत्व-अत्यन्ताभेद मानकर घटाकाश महाकाश के उपाधि निराकरण करने पर जैसे एकत्वनिश्चय होता है वैसे ही प्रकृत में त्वंतत्के उपाधिनिराकरण से एकत्वनिश्चय करता हुआ जो भजन करता है 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका वेदान्तवाक्यजन्य तत्त्वसाक्षात्कार से प्रत्यक्ष करता है वह अविद्या-तत्कार्यनिवृत्तिद्वारा जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य होता है। विशेष यह है कि जबतक बाधितानुवृत्ति से शरीरादिज्ञान की अनुवृत्ति होती है तबतक प्रारब्ध कर्म के प्राबल्य से याज्ञवल्क्य के समान सर्व कर्म का परित्याग कर अथवा जनकादि के समान विहित कर्म से किंवा दत्तात्रेय के समान प्रतिषिद्धकर्मद्वारा जिस किसी कर्म से वा किसीरूप से वर्तमान व्यवहार करता हुआ योगी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह जानता हुआ विद्वान् मुझ परमात्मा में ही अभेद भाव से रहता है सर्वथा उसके मोक्ष में प्रतिबन्ध शंका नहीं, 'तस्य ह न' इत्यादि श्रुति है। अर्थ–महामहिमशालि देवगण भी उसको मोक्ष न हो इसमें समर्थ नहीं है' दूसरे क्षुद्रों की क्या कथा जो कार्य देवसाध्य नहीं वह क्षुद्र साध्य कैसे ? इसमें हेतु है—'आत्मा ह्ये'त्यादि। देवताओं की भी आत्मा वह योगी है मोक्ष से आत्मा को वञ्चित करना कौन चाहेगा ? निषिद्धकर्मप्रवर्तक राग द्वेष ब्रह्मवेत्ता में नहीं रहता इसलिए उस निषिद्धकर्म का सम्भव नहीं फिर भी ज्ञानस्तुत्यर्थं निषिद्धकर्म

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी समानतासे सभीमें है, सुख या दुःको समान देखता है वह श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

सम्भवेन निषिद्धिकर्मासंभवेऽपि तदङ्गीकृत्य ज्ञानस्तुत्यर्थमिदमुक्तम्—सर्वथा वर्तमोनोऽपीति । हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' इतिवत् ॥ ३१ ॥

एवमुत्पन्नेऽपि तत्त्वबोधे कश्चिन्मनोनाश-वासनाक्षययोरभावाज्जीवन्मुक्तिसुखं नानुभवति, चित्तविक्षेपेण च दृष्टदुःखमनुभवति, सोऽपरमो योगी देहपाते कैवल्यभागित्वात् देहसद्भाव-पर्यन्तं च दृष्टदुःखानुभवात् तत्त्वज्ञान-मनोनाश-वासनाक्षयाणां तु युगपदभ्यासात् दृष्टदुःखनिवृत्ति-पूर्वकं जीवन्मुक्तिसुखमनुभवन् प्रारब्धकर्मवशात् समाधेर्व्युत्थानकाले आत्मैवौपम्यम्-उपमा, तेनाऽऽत्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समम्-तुल्यं यः पश्यति-स्वस्यानिष्टम् यथा न सम्पादयति, एवं परस्याप्यनिष्टं यो न सम्पादयति-प्रद्वेषशून्यत्वात् । एवं स्वस्येष्टम् यथा सम्पादयति, तथा परस्यापीष्टं यः सम्पादयति, रागशून्यत्वात् । स निर्वासनत-योपशान्तमनाः योगी ब्रह्मवित् परमः-श्रेष्ठो मतः पूर्वस्मात् हे अर्जुन ! अतस्तत्त्वज्ञान-मनो-नाश-वासनाक्षयाणां यथाक्रममभ्यासाय महान् प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

मानकर यह कहा है—'सर्वथा वर्तमानोऽपि' अर्थात् सब प्रकारसे वरतते हुये भी 'हत्वापि स इमान् लोकान्-न हन्ति न निबध्यते' इतिवत् । इन सब लोगों को मारकर भी न मारता है न बद्ध होता है ॥ ३१ ॥

एवं तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी मनोनाश, वासनाक्षय के न होने से कोई योगी जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव नहीं करता, चित्त विक्षेप से दृष्टदुःख ही का अनुभव करता है यह अपरम योगी है । देह नाश होनेपर मुक्त होगा यावद्देह दुःख का अनुभव करता है और जो योगी तत्त्वज्ञान मनोनाश और वासनाक्षय इन तीनों का एककाल में अभ्यास करता है वह जीवन्मुक्ति सुख का अनुभव करता हुआ समाधि से व्युत्थानकाल में प्रारब्धकर्मवश आत्मदृष्टान्त से ही सब प्राणियों में सुख कि वा दुःख बराबर देखता है अपना अनिष्ट अपने से नहीं करता वैसे ही दूसरे का भी अनिष्ट नहीं करता क्योंकि द्वेषरहित है तथा अपना जैसे हित करता है वैसे ही दूसरे का भी हित करता है कारण राग रहित वासना रहित प्रशान्तमना योगी ब्रह्मवेत्ता परम पूर्व से श्रेष्ठ माना गया है हे अर्जुन ! । तत्त्वसाक्षात्कार, मनोनाश, वासनाक्षय इन-

तत्र इदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैव, आत्मैवैकः परमार्थ सत्यः सच्चिदानन्दाद्वयः 'अहमस्मि' इति ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्, प्रदीपज्वालासन्तानवद्वृत्तिसन्तानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते, तस्य नाशो नाम-वृत्तिरूपपरिणामम् परित्यज्य सर्ववृत्तिविरोधिना निरोधाकारेण परिणामः, पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारविशेषः-वासना, पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात्। तस्याः क्षयो नाम विवेकजन्यायां चित्तप्रशमवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्ये निमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः। तत्र तत्त्वज्ञाने सति मिथ्याभूते जगति नरविषाणादादिव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पूनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति। नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यस्य निमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते, क्षीणायां वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति, नष्टे च मनसि शमदमादिसंपत्त्या तत्त्वज्ञानमुदेति, एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपा वासना क्षीयते, क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परकारणत्वं दर्शनीयम्।

तीनों का एक समय अभ्यास के लिए बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिए यह अर्थ है। उसमें यह सब द्वैतसमुदाय अद्वितीय सच्चिदानन्दाद्वय मैं हूँ यही ज्ञान तत्त्वज्ञान है। प्रदीपशिखा के समान उक्त वृत्तिसन्तानरूप से परिणत अन्तःकरणद्रव्य मननात्मक होने से मन कहा जाता है, उसका नाश यह है कि वृत्तिरूप परिणाम का त्याग कर सब वृत्तयों का विरोधी जो निरोध परिणाम है तद्रूप से परिणाम्। भाव यह है कि अन्तःकरण वस्तुतः तैजस द्रव्य है उसमें मननादि वृत्तयाँ होने से विशेषरूप से मन कहा जाता है। जब उसमें मननात्मक वृत्तयाँ नही होती तो वह मन नही किन्तु तैजस द्रव्य सामान्य है पूर्वापर विचार के विना अतिशीघ्र उत्पन्न क्रोधादि वृत्तविशेष का हेतु चित्तनिष्ठ संस्कारविशेष वासना है क्योंकि पूर्व पूर्व के अभ्यास से चित्त वासित है।

प्रश्न—पूर्वापर परामर्श क्रोधादिवृत्ति का निमित्त है अतः उसके विना कहाँ वासनोद्बोध ?

उत्तर—अदृष्टवश होता है अतः सहसा वासना का क्षय तत्त्वज्ञानजन्य चित्तशांतिवासना दृढ़ होनेपर क्रोधादि निमित्त बाह्यवस्तु सद्भाव दशा में क्रोध की अनुत्पत्ति होती है उसमें तत्त्वज्ञान होने पर मनुष्य शृङ्ग के समान मिथ्याभूत संसार में बुद्धि वृत्ति ही नहीं होती आत्मदर्शन हो ही चुका है। इन्धन-काष्ठादि रहित अग्नि के समान स्वयं शान्त हो जाता है मन के नाश होने पर संस्कारोद्बोधक बाह्यपदार्थ-ज्ञान न होने से वासना नष्ट हो जाती है अर्थात् वासना क्षीण होने से प्रतिबन्धकाभावप्रयुक्त तत्त्वज्ञानोत्पाद-

अत एव भगवान् वसिष्ठ आह—

'तत्त्वाज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥
तस्माद्राघव ! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत् ॥' इति।

पौरुषो यत्नः—'येन केनाप्युपायेनावश्यं संपादयिष्यामि' इत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बंधः। विवेको नाम विविच्य निश्चयः। तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनम्। मनोनाशस्य योगः, वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति। एतादृशविवेकयुक्तेन पौरुषेण प्रयत्नेन भोगेच्छायाः स्वल्पाया अपि 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' इति न्यायेन वासनावृद्धिहेतुत्वाद् 'दूरत' इत्युक्तम्।

द्विविधो हि विद्याधिकारी कृतोपास्तिः, अकृतोपास्तिश्च। तत्र य उपास्यसाक्षात्कार-पर्यन्तामुपास्तिं कृत्वा तत्त्वज्ञानाय प्रवृत्तः, तस्य वासनाक्षय-मनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वम् जीवन्मुक्तिः स्वत एव सिध्यति। इदानीन्तनस्तु प्रायेणाकृतोपास्तिरेव मुमुक्षुरौत्सुक्यमात्रात् सहसा विद्यायां प्रवर्तते। योगं विना चिज्जडविवेकमात्रेणैव च मनोनाशवासनाक्षयौ तात्कालिकौ संपाद्य शमदमादिसंपत्त्या श्रवणमनननिदिध्यासनानि संपादयति। तैश्च दृढाभ्यस्तैः सर्वबन्ध-

---

होता है उक्त ज्ञानोत्पत्ति में वासना प्रतिबन्धक है अतः इनके परस्पर कार्यकारणभाव जानना अतएव भगवान् वसिष्ठजी ने कहा है—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशः वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥'

इत्यादि श्लोक स्पष्ट है। किसी भी उपाय से योग अवश्य सिद्ध करेंगे एवंभूत उत्साहविशेष निर्बन्धापरपर्याय पौरुष प्रयत्न है, विचार कर निश्चय करना विवेक है, तत्त्वज्ञानोत्पत्ति का कारण श्रवणादि है, और मनोनाश का कारण योग है, वासनानाश का कारण विरोधिवासनोत्पादन, शमदमानुकूल-वृत्त्युत्पादन है एवंभूत विवेकादियुक्त उक्त पौरुषप्रयत्न से स्वल्प भी भोगेच्छा 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' इस न्याय से (घृताग्नि न्याय से) वासना वृद्धि का हेतु है अतः भोगेच्छा दूरतः परित्याज्य है यह कहा है।

विद्याधिकारी दो प्रकार के होते हैं—एक कृतोपास्ति, दूसरा अकृतोपास्ति, इनमें प्रथम यह है जो उपास्य की प्रत्यक्ष पर्यन्त उपासना कर तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त है उसकी वासना का क्षय और मनोनाश दृढ़ होने से ज्ञान से ऊपर जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध होती है, आधुनिक प्रायः अकृतोपासन ही मुमुक्षु हैं उपासना न कर उत्कण्ठावश सहसा विद्या ही में प्रवृत्त हो जाते हैं। योग के विना चिज्जड़-आत्मानात्मविवेकमात्र से

विच्छेदि तत्त्वज्ञानमुदेति । अविद्याग्रन्थिः, अब्रह्मत्वम्,हृदयग्रन्थिः,संशयाः, कर्माणि,असर्वकामत्वम् मृत्युः, पुनर्जन्म चेत्यनेकविधबन्धो ज्ञानान्निवर्तते । तथा च श्रूयते 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां, सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।

यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
य एवं वेद, अहं ब्रह्मास्मीति, स इदं सर्वं भवति'

इत्यसर्वकामत्वादिरूपबन्धनिवृत्तिपराणि वाक्यान्ययत्रोदाहरणीयानि ।

सेयं विदेहमुक्तिः सत्यपि देहे ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया । ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपितानामेतेषां बन्धानामविद्यानाशे सति निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यसंभवात् । अतः शैथिल्यहेत्वभावात् तत्त्वज्ञानं तस्यानुवर्तते, मनोनाश-वासनाक्षयौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन

तात्कालिक अस्थायि मनोनाश और वासनाक्षय का सम्पादन कर शमदमादि सम्पत्ति से श्रवण मनन निदिध्यासन करते हैं । दृढ़ अभ्यस्त इन श्रवणादि साधनों से उनके अभ्यास से बन्धनाशशील तत्त्वज्ञान होता है अविद्या की गाँठ 'मैं ब्रह्म भिन्न हूँ' ब्रह्मभिन्नत्व हृदयग्रन्थि है, संशय, कर्म असर्वकामत्व 'मृत्यु' पुनर्जन्म इत्यादि अनेक प्रकार के बन्ध तत्त्वज्ञान से निवृत्त होते हैं ऐसी ही श्रुतियाँ है—'एतद्यो वेदे' त्यादि । 'स इदं सर्वं भवति' इत्यन्त मूल में देखिये । असर्वकामत्व निरास तत्त्वज्ञान का फल कहा जाता है—जो जानता है 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब होता है इस प्रकार असर्वकामत्व की निवृत्ति ही तत्त्व ज्ञान का फल है, यह विदेहमुक्ति देह रहने पर भी ज्ञानोत्पत्तिसमकालिक ही समझना । इसमें देहनाश की अपेक्षा नहीं ब्रह्म में आरोपित उक्त बन्धों की अविद्या नाश होने पर निवृत्ति हो जाती है । अविद्याकारण के अभाव से फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती अतः ज्ञान शैथिल्य के हेतु न रहने से उसको तत्त्वज्ञान की उत्तरोत्तर अनुवृत्ति रहती है । मनोनाश वासनाक्षय तो दृढ़ अभ्यास न होने से भोगप्रद प्रारब्ध कर्म से बाध्यमान होकर सवातप्रदेशस्थित दीप के समान सहसा निवृत्त हो जाते हैं, यथा वायु से प्रदीप का नाश होता है तथा प्रारब्ध कर्म से मनोनाश वासना क्षय का भी नाश होता है अतः आधुनिक योगी को तत्त्वज्ञान के पूर्व सिद्ध तत्त्वज्ञान में

कर्मणा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशप्रदीपवत् सहसा निवर्तेत । अत इदानीन्तनस्य तत्त्वज्ञानिनः प्राक्सिद्धे तत्त्वज्ञाने न प्रयत्नापेक्षा, किंतु मनोनाश-वासनाक्षयौ प्रयत्नसाध्याविति । तत्र मनोनाशोऽसंप्रज्ञातसमाधिनिरूपणेन निरूपितः प्राक्,

वासनाक्षयस्त्विदानीं निरूप्यते,—तत्र वासनास्वरूपं वसिष्ठ आह—

'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥'

अत्र च—स्वस्वदेशाचार-कुलधर्म-भाषाभेदतद्गतापशब्द-सुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवेशः सामान्येनोदाहरणम् । सा च वासना द्विविधा मलिना शुद्धा च, शुद्धा दैवी सम्पत्, शास्त्रसंस्कारप्राबल्यात् । तत्त्वज्ञानसाधनत्वेनैकरूपैव । मलिना त्रिविधा—लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना चेति । सर्वे जना यथा न निन्दन्ति, तथैवाचरिष्यामीत्यशक्यार्थाभिनिवेशः-लोकवासना । तस्याश्च 'को लोकमाराधयितुं समर्थः' इति न्यायेन सम्पादयितुमशक्यत्वात् ।

प्रयत्न की अपेक्षा नहीं किन्तु मनोनाश वासनाक्षय में ही विशेष प्रयत्न की अपेक्षा है उसके लिए पूर्ण श्रम करना चाहिए। इस में असम्प्रज्ञातसमाधि निरूपण से मनोनाश का निरूपण पूर्व में कर चुके हैं। वासनाक्षय इस समय कहते हैं—वासना का स्वरूप वसिष्ठ जी ने कहा है—'दृढ़भावनाये'त्यादि। पूर्वापर विचार के विना दृढ़ पूर्वाभ्यास से जो पदार्थोपादान वह वासना है इसमें अपने अपने देश कुल आचार धर्म स्वभाषादि भेद से तत्तदपशब्द-अशोभनशब्द शोभनशब्दादि में अभिनिवेश आग्रह जो प्राणियों में पाया जाता है सामान्य से यही उदाहरण है, अर्थात् गुण दोष विचार के विना आचार धर्मादि का जिस देश में प्रचार है उस देश के मनुष्यों में उन कर्मों में प्रवृत्ति साग्रह होती है ये ही वासना के चिह्न हैं जैसे कुछ देशों में मांस भक्षण की प्रवृत्ति विद्वान् ब्राह्मणों में भी पाई जाती है इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझना। वह वासना दो प्रकार की है शुद्धा और मलिना। शुद्धा दैवी सम्पत् शास्त्रसंस्कारप्राबल्य से तत्त्वज्ञानसाधन होने से एकरूप ही है, मलिना तीन प्रकार की है—लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना के भेद से। सब लोग जैसे निन्दा न करें वैसा ही आचरण करेंगे यह अशक्य अर्थ है इसमें अभिनिवेश लोकवासना है।

"सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः" के अनुसार उक्तार्थ असम्भव है। लोक सदसत् स्वभाव भेद से दो प्रकार के मनुष्य हे उनमें "प्रकृत्य भिन्ना हि सतामसाधवः" इसके अनुसार असत्पुरुष सदाचार की निन्दा करते है सत्पुरुष असदाचार की निन्दा करते हैं क्योंकि लौकिकसदसत्व वासनारूप है इसलिए सर्वावाच्य आचरणादि अशक्य है यह ठीक ही है अतएव 'को लोकमाराधयितुं क्षमः' कौन लोगों के प्रसन्न करने में

पुरुषार्थानुपयोगित्वाच्च मलिनत्वम् । शास्त्रवासना तु त्रिविधा—पाठव्यसनम्, बहुशास्त्रव्यसनम्, अनुष्ठानव्यसनश्चेति । क्रमेण भरद्वाजस्य, दुर्वाससः, निदाघस्य च प्रसिद्धा । मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्वात् पुरुषार्थानुपयोगित्वाद्दर्पहेतुत्वाज्जन्महेतुत्वाच्च ।

देहवासनाऽपि त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्तिः दोषापनयनभ्रान्तिश्चेति । तत्रात्मत्वभ्रान्तिर्विः,रोचनादिषु प्रसिद्धा सार्वलौकिकी । गुणाधानं द्विविधं लौकिकम् शास्त्रीयं च, समीचीनशब्दादिविषयसंपादनं लौकिकम्, गङ्गास्नानशालग्रामतीर्थादिसंपादनं शास्त्रीयम् । दोषापनयनमपि द्विविधं लौकिकम्, शास्त्रीयश्च । चिकित्सकोक्तैरौषधैर्व्याध्याद्यपनयनं लौकिकम्, वैदिकस्नानाचमनादिभिरशौचाद्यपनयनं वैदिकम् । एतस्याश्च सर्वप्रकाराया मलिनत्वमप्रामाणिकत्वादशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वात्पुनर्जन्महेतुत्वाच्च शास्त्रे प्रसिद्धम् । तदेतल्लोकशास्त्र-देहवासनात्रयमविवेकिनामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वात्, विदुषो ज्ञाननिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् । तदेवं बाह्यविषयवासना त्रिविधा निरूपिता ।

आभ्यन्तरवासना तु कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्रूपा सर्वानर्थमूलं मानसी-

समर्थ है प्रथम तो इसका अनुष्ठान ही है फिर पुरुषार्थोपयोगी भी नहीं अतः सर्वथा अनुष्ठेय न होने से यह वासना मलिना है । शास्त्रवासना भी तीन प्रकार की है—पाठव्यसन, बहुशास्त्रव्यसन, अनुष्ठानव्यसन । क्रम से इनका उदाहरण देते हैं—भरद्वाज, दुर्वासा और निदाघ में प्रसिद्ध हैं इनमें मालिन्य है क्लेशकरत्व पुरुषार्थानुपयोगित्व दर्पहेतुत्व और जन्महेतुत्व । देहवासना भी तीन प्रकार की है—आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्ति, दोषापनयनभ्रान्ति, । आत्मत्वभ्रान्ति 'अहं गोरः इत्यादि सर्वलोकप्रसिद्ध है, शास्त्रोपाख्यान से विरोचनादि में भी प्रसिद्ध ही है । गुणाधान दो प्रकार का है—शास्त्रीय और लौकिक । समीचीन शब्दादि-विषयक सम्पादन लौकिक है शास्त्रीय गुणाधान जैसे—गंगाजलस्नान, शालग्राम नर्मदेश्वरादि समाराधन; तीर्थादि सेवनादि । लौकिक गुणाधान जैसे—साधु शब्द प्रयोग मेध्यमितहितशुचिविहित भक्षणादि दोषापनयन भी दो प्रकार का है—लौकिक और शास्त्रीय, वैद्यों के औषध से रोगनिवर्तन प्रथम है वैदिक स्नानशौचादि-द्वारा अशुद्धि का निष्कासन शास्त्रीय है । सब तरह से इनमें मलिनत्व, अप्रामाणिकत्व, अशक्यत्व पुरुषार्थानुपयोगित्व पुनर्जन्महेतुत्व शास्त्र में प्रसिद्ध है अतः ये लोकशास्त्र-देहवासना अविवेकी पुरुषों के ग्राह्यत्वेन प्रतीत होने पर भी, ब्रह्म जिज्ञासु के की वेदनोत्पत्ति का विरोधी तथा विद्वान् के लिए ज्ञाननिष्ठा का विरोधी होनेसे विवेकियों को त्याज्य है । इस प्रकार त्रिविध वासना व्याख्यात हुई, आभ्यन्तरवासना

१. इस विषय का विशेष विवरण जीवन्मुक्ति विवेक का वासना क्षय प्रकरण २२० पृष्ठ में देखिए

वासनेत्युच्यते। तदेवं बाह्याभ्यान्तरवासनाचतुष्टयस्य शुद्धवासनया क्षयः संपादनीयः। तदुक्तम् वसिष्ठेन—

'मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः।
मैत्र्यादिवासना राम! गृहाणाऽमलवासनाः॥' इति॥

तत्र विषयवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोक-शास्त्र-देहवासना विवक्षिताः। मानस-वासनाशब्देन काम-क्रोध-दम्भ-दर्पाद्यासुरसम्पद्विवक्षिता।

यद्वा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धा विषयाः, तेषां भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषय-वासना, काम्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो मानसवासना। अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामन-योरेवान्तर्भावः, बाह्याभ्यन्तरव्यतिरेकेण वासनान्तरासंभवात्।

तासां वासनानां परित्यागो नाम तद्विरुद्धमैत्र्यादिवासनोत्पादनम्, ताश्च मैत्र्यादि-वासनाः भगवता पतञ्जलिना सूत्रिताः, प्राक् सङ्क्षेपेण व्याख्याता अपि पुनर्व्याख्यायन्ते।

चित्तं हि राग-द्वेष-पुण्य-पापैः कलुषीक्रियते। तत्र 'सुखानुशयी रागः' मोहादनुभूयमानम् सुखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो राजसः-सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति। तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्य-

काम क्रोध दम्भ दर्पादि आसुरसम्पद्रूप सब अनर्थों दुःखों का मूल मानसी वासना कही जाती है। पूर्वोक्तरीति से बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्न चारों वासनाओं का क्षय करना चाहिए यह वसिष्ठ जी ने कहा है— 'मानसीर्वा-सनाः पूर्वम्' इत्यादि। इस श्लोक में वासनाशब्द से पूर्वोक्त लोक शास्त्र देह वासना ये तीनों विवक्षित हैं। मानसवासनाशब्द से काम क्रोध दम्भ दर्प आसुर सम्पत् विवक्षित है, अथवा शब्द-स्पर्श-रूप रस, गन्ध ये पांच विषय यहां ग्राह्य हैं इनकी भुज्यमानत्व दशा में जो संस्कार होता है वह विषयवासना है, काम्यमानत्व अवस्था में जो संस्कार होता है वह मानसवासना है इस पक्ष में पूर्वोक्त चारों का इन दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। बाह्याभ्यन्तर भेद से दो ही वासनायें हैं वासनान्तर नहीं है इन वासनाओं का परित्याग एतद्विरुद्ध पूर्वोक्त मैत्री आदि वासनोत्पादन है वे मैत्री आदिवासनाओं को भगवान् पातञ्जलि ने सूत्र से कहा है पूर्व में संक्षेप से व्याख्यात भी है फिर भी व्याख्यान करते हैं।

यह निश्चय जानिये कि चित्त पुण्य पाप राग द्वेष से मलिन होता है इनमें सुखानुशयी राग है अज्ञान से अनुभूयमान सुखाभिलाष राजसचित्तवृत्ति विशेष राग है, यह अनुकूलोपादेय से तृष्णावश सब सुख हमको हो, मूर्खता से यह नहीं समझना कि साधनाधीन सुख है इच्छाधीन नहीं, सब साधनों का

भावात्सम्पादयितुमशक्यम् । अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति, यदा तु सुखिषु प्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत्, सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति, तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते । यथा स्वस्य राज्यनिवृत्तावपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं राज्यं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षाव्यपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति । तथा च 'दुःखानुशयी द्वेषः' दुःखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषस्तमोनुगतरजःपरिणामः-ईदृशं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम्, न च सर्वे ते दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते । अतः स द्वेषः सदा हृदयं दहति । यदा तु स्वस्येव परेषां सर्वेषामपि दुःखं माभूदिति करुणां दुःखिषु भावयेत्, तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति । तथा च स्मर्यते—

'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥' इति ॥

एतदेवेहाऽप्युक्तम्—'आत्मौपौम्येन सर्वत्र' इत्यादि । तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति ।

मुझमें सम्भव नहीं अतः तदिच्छा ही व्यर्थ है । इनमें दो उपाय है दृष्ट और अदृष्ट, सब दृष्टादृष्ट पापों का सम्पादन ही एक पुरुष से अशक्य है अतः वह राग चित्त को मलिन करता है जब सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करेगा तो ये सब सुखी प्राणी मेरे ही हैं तब उन लोगों का वह सुख अपना ही हैं इस भावना में उसमें रागनिवृत्ति होती है । इष्टदेच्छाविशेष राग है, विषयप्राप्ति से निवृत्ति होती है । इक्त भावना से सब सुखों में मत्सम्बन्धिताज्ञान से उक्त सुखानुराग नहीं होता यथा राजा स्वराज्य स्वपुत्र को देने पर राज्यत्यागके दुःख का अनुभव नहीं करता, पुत्र का राज्य अपना ही है । राग के निवृत्त होने पर वर्षा बीतने पर जैसे जल साफ होने लगता है वैसा चित्त भी प्रसन्न होने लगता है । एवं दुःखानुशयी द्वेष दुःखानुशयी है तमोनुरयूतरजःपरिणामवृत्ति विशेष हृदय सन्तापात्मक द्वेष लोक में प्रसिद्ध है ऐसा सब दुःख हमको न हो पर शत्रु व्याघ्रादि रहने पर दुःख का परिहार इच्छामात्र से नहीं कर सकते जिस समय में अपने के समान सब प्राणियों को दुःख न हो इस प्रकार दुखियों में दया की भावना करता है उस समय शत्रु आदि नहीं रहते अतः चित्त प्रसन्न होता है वह स्मृति हैं 'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः' इत्यादि । यही यहाँ भी कहा है—'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि । तथा प्राणी प्रायः पुण्य नहीं करते किन्तु पाप ही करते हैं चाहते हैं सुख यह शास्त्र में कहा है—'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति' इत्यादि । पुण्य और पाप क्रियमाण अक्रियमाण उभयथा पश्चात्ताप के कारण है, श्रुति में ऐसा ही अनुवाद किया है—'किमहं साधु नाकरवमिति' इत्यादि । क्यों कि मैंने अच्छा कर्म नहीं किया क्यों मैंने पाप कर्म किया ? इत्यादि ।

तदाहुः—

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥' इति ॥

ते च पुण्यपापे अक्रियमाण-क्रियमाणे पश्चात्तापं जनयतः । स च श्रुत्यानूदितः 'किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति' इति । यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्, तदा तद्वासनावान् स्वयमेवाप्रमत्तः अशुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवर्तते । तदुक्तम्—'कर्माशुक्लकृष्णम् योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' यो०द-४-७ । अयोगिनां त्रिविधम्-शुक्लम्-शुभम्,कृष्णम्-अशुभम्, शुक्ल-कृष्णम्-शुभाशुभम्' इति । तथा पापपुरुषेषूपेक्षां भावयन् स्वयमपि तद्वासनावान् पापान्निवर्तते, ततश्च पुण्याकरणपापकरणनिमित्तस्य पश्चात्तापस्याभावे चित्तं प्रसीदति । एवं सुखिषु मैत्रीम् भावयतो न केवलं रागो निवर्तते, किन्त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते । परगुणेषु दोषाविष्कर-

---

यदि योगी पुण्य पुरुष में मुदिता की भावना करेगा तो तदीय वासनावान् स्वयं सावधान होकर अशुक्ल कृष्ण पुण्य में प्रवृत्त होता है सो कहा है—'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' इति ।
अयोगियों के तीन प्रकार के कर्म होते हैं—शुक्ल-शुभ, कृष्ण-अशुभ, शुक्लकृष्ण शुभाशुभ इति । तथा पापी पुरुषों में उपेक्षा की भावना करता हुआ स्वयं उपेक्षावासनावान् हो पाप से निवृत्त होता है । तथा च पुण्य का अकरण-न करना और पाप के करण-करना ये दोनों पश्चात्ताप के हेतु हैं इनके न होने से चित्त प्रसन्न होता है इसी प्रकार सुखियों में मैत्री की भावना से केवल राग की ही निवृत्ति नहीं होती किन्तु असूया ईर्ष्यादि की भी निवृत्ति होती है । ईर्ष्या परोत्कर्षासहिष्णुता, परके उत्कर्ष दर्शन से तदसहिष्णुता अर्थात् नहीं सहन करना परगुणों में दोषों का आरोपण करना असूया है । जब मैत्री आदिभावनावश परसुख

'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।'

सिद्धयोग अतएव क्षीणक्लेश योगी का कर्म शरीरादि व्यापार अशुक्ल कृष्ण होता है । वह पुण्य पाप का हेतु नहीं होता है अन्य अयोगियों का कर्म तीन प्रकार का होता है । कर्मसामान्य चार प्रकार का है—दुःखफलप्रद तथा तमोगुण-वर्धक कृष्ण है शुक्ल कृष्ण सुखदुःखफलप्रद एवं रजोवर्धक है । शुक्ल सुखप्रद तथा सत्त्वगुणवर्धक होता है, अशुक्ल कृष्ण सुखदुःखफलशून्य क्योंकि वह गुणों का हेतु नहीं है । यहाँ अशुक्लकृष्ण कर्मों के सुखदुःखरूपफल का हो प्रतिषेध किया है फलसामान्य का नहीं इससे अन्तःकरणशुद्धिरूप फल होता है । अन्तःकरणशुद्धि ज्ञान से ही हो जायगी फिर उक्त कर्म का वह फल नहीं यह शङ्का ठीक नहीं कारण कर्म भी ज्ञान का अङ्ग होने से अन्तःकरणशुद्धि का हेतु है यह ज्ञानकर्म समुच्चयवादियों का मत है । वस्तुतस्तु सत्त्वशुद्धि के अनन्तर ही ज्ञानोत्पत्ति है अत ज्ञान से शुद्धि नहीं हो सकती है

णामसूया, परगुणानामसहनमीर्ष्या । यदा मैत्रीवशात्परसुखं स्वीयमेव सम्पन्नम्, तदा परगुणेषु कथमसूयादिकं संभवेत् । तथा दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यदा निवर्तते । तदा दुःखिप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तदर्पोऽपि निवर्तते । एवं दोषान्तरनिवृत्तिरप्यूहनीया वासिष्ठरामायणादिषु । तदेवं-तत्त्वज्ञानम्, मनोनाशः, वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम् । तत्र केनाऽपि द्वारेण पुनःपुनस्तत्त्वानुस्मरणं तत्त्वज्ञानाभ्यासः ।

अपना ही जान पड़ता है तब परगुणों में असूयादि कैसे हो, अपने गुण में असूयादि नहीं होती वैसे ही परगुण में नहीं होते वस्तुतः उसको अपेक्षा परगुण ही नहीं है । तथा दुःखियों में करुणादि की भावना से शत्रु हननादि द्वेष जब निवृत्त हो जाता है दुःखित्वप्रतियोगिक सुखित्व प्रयुक्त दर्प भी निवृत्त होता है भाव-यह है कि सुखित्व और दुःखित्व सनिरूपक पिता पुत्रादि शीतोष्णादि के समान सापेक्ष है एक की सत्ता के बिना दूसरा नहीं रह सकता, उक्त भावना से जब दुःखनिमित्त द्वेषादि की निवृत्ति होती है यों दुःखित्व निवृत्ति द्वारा सुखित्व की भी निवृत्ति हो जाती है, जो किसी को दुःखी नहीं देखता वह यह सुखी है कैसे देखेगा ? सुखित्व न रहने से तत्प्रयुक्त दर्प की भी निवृत्ति होती है इसी प्रकार दोषान्तर निवृत्ति की ऊह करना विशेष जिज्ञासा हो तो योगवासिष्ठ देखना ।

अतएव—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।'

यह स्मार्त वचन है । पापक्षयरूपा सत्त्वशुद्धि इष्ट है—

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।।' इति ।।

अन्यथा वसिष्ठादि महर्षियों में कर्मानुष्ठानादि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । यदि कहिये कि लोकसंग्रहार्थ है तो उत्तर यह है कि लोकसंग्रह स्वतः पुरुषार्थ नहीं है किन्तु कैवल्यहेतु सत्त्वशुद्धिद्वारा उक्तार्थ में ही पर्यवसन्न है। चार प्रकार के कर्मों का क्रम से उदाहरण योगभाष्य में है । पापियों के जितने कर्म शरीरेन्द्रियादिभिन्न साधनसाध्य है सबों में किसी प्राणी की पीड़ा अवश्य होती है । व्रीह्यादिसाध्य कर्म पुरोडाशादि होम भी अवघातादिसमय में चींटी आदि के वध से वरी नहीं दक्षिणादानादि से ब्राह्मणों का उपकार होता है अतः यज्ञादि शुक्ल कृष्ण है इसमें पुण्य पाप हेतु रहने से सुखदुःखो-भयफलप्रदत्व है। तपः स्वाध्यायध्यानवत् असंन्यासिका हैं क्योंकि उक्त कर्म केवलमन से होता हैं अतः बहिःसाधन की अपेक्षा नहीं। मानस कर्म में किसी की हिंसा नहीं होती इसलिए सुखप्रदपुण्यफलक होने से शुक्ल ही है अशुक्ल कृष्ण संन्यासियों का है क्योंकि उनके प्रति किसी कर्म का विधान नहीं है अतः वे बहिःसाधनसाध्य कर्म में नहीं प्रवृत्त होते अतः उनका कर्माशय कृष्ण नहीं होता । योगानुष्ठान से उत्पन्न कर्माशय फल का ईश्वर में समर्पण करने से शुक्ल भी कर्माशय नहीं, निरवद्यफल शुक्ल कहलाता है जिसका फल ही नहीं है उसमें निरवद्यत्व की क्या संभावना इस प्रकार चतुष्टयी जाति भाष्यकार ने कहा है ।

तदुक्तम्—

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव सर्वदा।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्॥' इति॥

दृश्याभावविरोधियोगाभ्यासो मनोनिरोधाभ्यासः। तदुक्तम्—

'अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः॥' इति।

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीः-अभावसम्पत्तिः, स्वरूपेणाप्रतीतिः-अत्यन्ताभावसम्पत्तिस्तदर्थम्म् युक्त्या-योगेन।

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥' इति।

रागद्वेषादिक्षीणतारूपवासनाक्षयाभ्यास उक्तः। तस्मादुपपन्नमेतत्तत्त्वज्ञानाभ्यासेन,

---

सारांश यह है कि तत्त्वज्ञान मनोनाश, वासनाक्षय इन तीनों का प्रयत्न से सम्पादन करना चाहिए। उनमें किसी प्रकार से पुनः पुनः तत्त्व का स्मरण तत्त्वज्ञानाभ्यास है सो योगवासिष्ठ में कहा है 'तच्चिन्तनं तत्कथनम्' इत्यादि। ब्रह्म का चिन्तन, ब्रह्म का कथन परस्पर ब्रह्म सम्बोधन सदा ब्रह्मपरता, विद्वान् ब्रह्माभ्यास कहे हैं। प्रपञ्च सर्गादि में ही नहीं उत्पन्न हुआ अतएव सर्वदा-कालत्रय में नहीं है यह जगत है यह मैं हूं जगत से विविक्त आत्मदर्शन को बोधाभ्यास कहे हैं, प्रपञ्चाभाव विरोधी योगाभ्यास मनोनिरोधाभ्यास है सो कहा है—

'अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्मृताः'॥

ज्ञातृ ज्ञेय में मिथ्यात्वबुद्धि अभाव सम्पत्ति है स्वरूपेण अप्रतीति अत्यन्ताभाव संपत्ति है, इसके लिए सम्भवज्ञान से रागद्वेषादि दोष कम होने पर,

'रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥' इति।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

अर्जुन बोले, हे मधुसूदन ! आपने जो यह समदृष्टि लक्षण योग विषम दृष्टिके कारणीभूत राग द्वेषादिके निराकरण रूप समत्वसे कहा है, मैं इसकी स्थिति मनकी चञ्चलताके कारण अधिक काल तक स्थायी नहीं देखता हूँ ॥ ३३ ॥

मनोनाशाभ्यासेन, वासनाक्षयाभ्यासेन च रागद्वेषशून्यतया यः स्वपरसुखदुःखादिषु समदृष्टिः, सः परमो योगी मतः । यस्तु विषमदृष्टिः, स तत्वज्ञानवानवानप्यपरमो योगीति ॥ ३२ ॥

उक्तमर्थमाक्षिपन् अर्जुन उवाच—'योऽयं योगः' इति । योऽयं सर्वत्र समदृष्टिलक्षणः परमो योगः साम्येन-समत्वेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन त्वया-सर्वज्ञेनेश्वरेणोक्तः । हे मधुसूदन-सर्ववैदिकसंप्रदायप्रवर्तक ! एतस्य त्वदुक्तस्य सर्वमनोवृत्ति-निरोधलक्षणस्य योगस्य स्थितिम्-विद्यमानतां स्थिराम्-दीर्घकालानुवर्तिनीं न पश्यामि-न संभावयामि । अहमस्मद्विधोऽन्यो वा योगाभ्यासनिपुणः । कस्मान्न संभावयसि ? तत्राह—'चञ्चल त्वादि'ति । चञ्चलत्वान्मनस इति शेषः ॥ ३३ ॥

रागद्वेषादिक्षीणतारूप वासनाक्षयाभ्यास कहा गया है अतः यह सोपपत्तिक है कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास से मनोनाश के अभ्यास से, वासनाक्षयाभ्यास से रागद्वेषादि रहित होकर जो स्वपसुखदुःखादि में समदृष्टि है वह परम योगी माना जाता है और जो विषमदृष्टि परसुख को पर का ही सुख मानता है अपना नहीं वह अपरमयोगी है ॥ ३२ ॥

उक्त अर्थ में आक्षेप करते हुए अर्जुन बोले—सर्वत्र समदृष्टिरूप यह जो परम योग चित्तगत रागद्वेषादि विषमदृष्टि में निराकरण द्वारा समता योग सर्वज्ञ ईश्वर आपने कहा—हे मधुसूदन ! सब वैदिकसम्प्रदाय-प्रवर्तक भवदुक्त सर्वमनोवृत्तिनिरोध लक्षण यह योग चिरकाल तक स्थिर रहेगा इसकी सम्भावना मैं नहीं करता मैं अथवा मेरे सदृश अन्य योगाभ्यास में निपुण

प्रश्न—क्यों नहीं सम्भावना करते हो ?

उत्तर—मन चञ्चल है ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण ! यह मन प्रत्यन्त चञ्चल तथा विवश करनेवाला है। तथा दृढ़ और बलवान् हैं। अतः मैं उस मनको निगृहीत करना वायुके निरोधके समान दुष्कर मानता हूँ ॥ ३४ ॥

सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन तदेव चञ्चलत्वमुपपादयति—'चञ्चलमि'ति । चञ्चलम्-अत्यर्थं चलम्-सदा चलनस्वभावं मनः । हि-प्रसिद्धमेवैतत् । भक्तानां पापादिदोषान् सर्वथा निवारयितुमशक्यानपि कृषति-निवारयति, तेषामेव सर्वथा प्राप्तुमशक्यानपि पुरुषार्थानाकर्षति-प्रापयतीति वा कृष्णस्तेन रूपेण संबोधयन् दुर्निवारमपि चित्तचाञ्चल्यं निवार्य, दुष्प्रापमपि समाधिसुखम् त्वमेव प्रापयितुं शक्नोषीति सूचयति । न केवलमत्यर्थं चञ्चलम्, किन्तु प्रमाथि शरीरमिन्द्रियाणि नच प्रमथितुम्-प्रक्षोभयितुं शीलं यस्य तत् । क्षोभकतया शरीरेन्द्रियसङ्घातस्य विवशताहेतुरित्यर्थः । किंच बलवत्-अभिप्रेताद्विषयात् केनाऽप्युपायेन निवारयितुमशक्यम्, किंच दृढम् विषयवासनासहस्रानुस्यूततया भेत्तुमशक्यम्। 'तन्तुनागवदच्छेद्यमि'तिभाष्ये । तन्तुनागो नागपाशः तान्तनोति गुर्जरादौ प्रसिद्धः, महाह्रदनिवासी जन्तुविशेषो वा । तस्यातिदृढतया बलवतः बलवत्तया प्रमाथिनः प्रमाथितयाऽतिचञ्चलस्य महामत्तवनगजस्येव मनोनिग्रहं-निरोधं निर्वृत्ति-

---

सर्वजन प्रसिद्ध मनोगत चाञ्चल्य का निरूपण करते है—अतिचञ्चल सदा मन चलनस्वभाव है 'हि' प्रसिद्धि का द्योतक है। यह लोक में प्रसिद्ध ही है कि मन अतिचञ्चल है। दूसरे के परिहारायोग्य भक्तगत पापों का सर्वथा कर्षण निराकरणकर्ता और उन्हीं भक्तों को दुष्प्राप्य पुरुषार्थ को आकर्षति प्राप्त कहाते हैं अतः कृष्ण यह आपका अन्वर्थ नाम है अतः उसी रूप से सम्बोधन करते हुए दुर्निवार चित्त-चाञ्चल्य का निराकरण कर दुष्प्राप्य समाधिसुख आप ही प्राप्त करा सकते हैं यह सूचित होता है। मन केवल अतिचञ्चल ही नही किन्तु शरीर इन्द्रियों को प्रमथन-क्षुब्ध करने वाला स्वभाव है जिसका वह प्रमाथी है, क्षोभक होने से शरीरेन्द्रिय की विवशता का हेतु है। किञ्च ईप्सित अर्थ से किसी उपाय से वारण करने में अशक्य है तथा अनेक दृढ़वासना अनुबद्ध होने से भेदन करने में अशक्य है। भाष्य में है—'तन्तुनागवत् अच्छेद्यः 'तन्तुनागो नागपाशः' तान्तनी यह गुजरात में प्रसिद्ध है। महाह्रदनिवासी जलचर जन्तुविशेष तन्तुनाग है यह भी किसी का मत है। मन, अतिदृढ़, बलवान् प्रमाथी अतिचञ्चल है, महामत्त गजराज के समान इसका निग्रह निरोध अर्थात् वृत्तिशून्यतया अवस्थान सर्वथा दुष्कर है, वायु निरोध के

कतयाऽवस्थानम्, सुदुष्कम्-सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये वायोरिव यथाकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निश्चलत्वं सम्पाद्य निरोद्धुमशक्यं तद्वदित्यर्थः। अयं भावः—जातेऽपि तत्त्वज्ञाने प्रारब्ध-कर्मभोगाय जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखरागद्वेषादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशहेतुत्वाद्-बाधितानुवृत्त्याऽपि बन्धो भवति। चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण तु योगेन तस्य निवारणं जीवन्मुक्ति-रित्युच्यते, यस्याः सम्पादनेन 'स योगी परमो मतः' इत्युक्तम्।

तत्रेदमुच्यते बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते ? किं वा चित्तात्। नाद्यस्तत्त्वज्ञानेनैव साक्षिणो बन्धस्यनिवारितत्वात्। न द्वितीयः। स्वभावविपर्ययायोगात्, विरोधिसद्भावाच्च। न हि जलादार्द्रत्वमग्नेर्वौष्ण्यत्वं निवारयितुं शक्यते—'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन प्रतिक्षणपरिणामस्वभावत्वाच्चित्तस्य प्रारब्धभोगेन च कर्मणा कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्यापि प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रिया-

---

समान अशक्य माना जाता है यथा आकाश के चञ्चल वायु में निश्चलत्व का सम्पादन कर रोकना अशक्य है तद्वत् मन का भी, यह अर्थ है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए जब तक पुरुष जीता है तबतक कर्तृत्व भोक्तृत्व; सुख, दुःख, राग, द्वेषादि लक्षण चित्त धर्म क्लेशहेतु होने से बाधितानुवृत्ति से भी पुरुष का बन्ध है चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग से बन्ध का निवारण जीवन्मुक्त कहा जाता है, जिसके सम्पादन से वह परमयोगी कहा जाता है यह कह चुके हैं। उसमें यह कहते हैं—बन्ध का क्या साक्षी से निवारण करते हैं किम्वा चित्त से ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, साक्षी का बन्ध तत्त्वज्ञान ही से निवारित हो चुका है, द्वितीय पक्ष भी टीक नहीं, स्वभाव का विपर्यय अभाव नहीं हो सकता और विरोधी की सद्भावना हैं, जल में आर्द्रत्व और अग्नि में उष्णत्व, इसका वारण नहीं कर सकते; क्योंकि वे उक्त पदार्थों के स्वभाव है यावत्पदार्थस्थिति तावत्स्वभावस्थिति मानी जाती है 'प्रतिक्षणं परिणामिनो 'हि भावाः ऋते चितिशक्तेः' इस योगभाष्योक्तन्याय से चित्तप्रतिक्षण परिणाम स्वभावी होने से और प्रारब्धभोग से कर्म से सम्पूर्ण अविद्या तत्कार्य नाश में प्रवृत्त तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धकर सफल ज्ञान के लिए देहेन्द्रियादिक को स्थापित करता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान अविद्या तत्कार्य के नाश में प्रवृत्त होता है, परन्तु प्रारब्धकर्म बलवान् होने से भोग जनक शरीरेन्द्रियादिक को स्थापित करता ही है तत्त्वज्ञान प्रारब्धकर्मेतर अविद्या तत्कार्यका नाशक माना जाता है अतएव 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इसके प्रारब्धेतरकर्म अर्थ किया जाता है। प्रारब्धकर्म भोग ही से नष्ट होता है उपायान्तर से नहीं। कर्म चित्तवृत्ति के विना सफल सुखदुःखादि का भोग नहीं कहा जा सकता एतदर्थ चित्तवृत्ति भी उक्त कर्मवश रहती है इस कारण स्वाभाविक चित्त-

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है । हे कुन्ती-पुत्र ! अभ्यास और वैराग्यसे मन वशीभूत होता है ॥ ३४ ॥

दिक्रमवस्थापितम् । न च कर्मणा स्वफलसुखादुःखदिभोगश्चित्तवृत्तिभिर्विना सम्पादयितुं शक्यते । तस्माद्यद्यपि स्वाभाविकानामपि चित्तपरिणामानां कथंचिद्योगेनाभिभवः शक्येत कर्तुम्, तथापि तत्त्वज्ञानादिव योगादपि प्रारब्धफलस्य कर्मणः प्राबल्यादवश्यंभाविनि चित्तस्य चाञ्चल्ये, योगेन तन्निवारणमशक्यमहं स्वबोधादेव मन्ये । तस्मादनुपपन्नमेतदात्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत इत्यर्जुनस्याक्षेपः ॥ ३४ ॥

तमिममाक्षेपं परिहरन् श्रीभगवानुवाच 'असंशयमि'ति । सम्यग्विदितं ते चित्तचेष्टितम्, मनो निगृहीतुं शक्ष्यसीति संतोषेण संबोधयति । हे महाबाहो, महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति । प्रारब्धकर्मप्राबल्यादसंयतात्मना दुर्निग्रहम्-दुःखेनाऽपि निग्रहीतुमशक्यम् 'प्रमाथि बलवद्दृढमि'ति विशेषणत्रयं पिण्डीकृत्यैतदुक्तं चलम्-

परिणामों का कथञ्चित योग से निरोध कर सकते हैं तथापि तत्त्वज्ञान के समान योग से भी प्रारब्धफलक कर्म प्रबल होने से चित्तविक्षेप अवश्यम्भावी है योग से उसका निवारण अशक्य अपने बोधानुसार ही मानता हूं अतः यह सर्वथा अनुपपन्न है कि आत्मदृष्टान्त से सर्वत्र समदर्शी परमयोगी माना जाता है यह अर्जुन का आक्षेप है ॥ ३४ ॥

इस आक्षेप का परिहार करते हुए भगवान् बोले—तुम्हारे चित्त के विषय को मैं पूर्ण जान गया हूं । तुम मन के निग्रह में समर्थ होओगे इस सन्तोष से समझाते हैं हे महाबाहो ! महान्तौ साक्षात् महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ यस्य स महाबाहुः तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो ! (अर्जुन के तपश्चरण के समय भिल्लरूपधारी श्रीमहादेवजी के साथ बाहु युद्ध हुआ है यह इतिहास में प्रसिद्ध है । इस प्रकार अर्जुन के बाहु में सामर्थ्यातिशय उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं । प्रारब्धकर्मप्राबल्य से अनियन्त्रित आत्मा से दुर्निग्रह दुःख से भी निरोध करने में अशक्य 'प्रमाथि बलवत् दृढम्' इन तीनों विशेषणों को एक कर-निचोड़ कर दुर्निग्रह कहा । अर्थात् दुर्निग्रह में तीनों अन्तर्भूत हो जाते हैं, चलस्वभाव चञ्चल मन है इसमें संशय नहीं है,

स्वभावचञ्चलं मन इत्यसंशयोऽत्र । सत्यमेवैतद् ब्रवीषीत्यर्थः। एवं सत्यपि संयतात्मना समाधिमात्रोपायेन योगिनाऽभ्यासेन, वैराग्येण च गृह्यते-निगृह्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते। तन्मन इत्यर्थः। अनिग्रहीतुरसंयतात्मनः सकाशात् संयतात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय तुशब्दः। मनोनिग्रहेऽभ्यास वैराग्ययोः समुच्चयबोधनाय चशब्दः। हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रस्त्वमवश्यं मया सुखीकर्तव्य इति स्नेहसंबन्धसूचनेनाश्वासयति। अत्र प्रथमार्धेन चित्तस्य हठनिग्रहो न संभवतीति, द्वितीयार्धेन तु क्रमनिग्रह स्संभवतीत्युक्तम्।

द्विविधो हि मनसो निग्रहः हठेन, क्रमेण च। तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाणि च तद्गोलकमात्रोपरोधेन हठान्निगृह्यन्ते। तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि हठेन निग्रहीष्यामीति, मूढस्य भ्रान्तिर्भवति। न च निग्रहीतुं शक्यते, तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। अतएव च क्रमनिग्रह एव युक्तः।

सत्य ही कहते हो; ऐसा होनेपर भी संयतात्मासे समाधिमात्रोपाय योगी से अभ्यास और वैराग्य से मन निगृहीत यानी सर्ववृत्तिशून्य किया जाता है। अनिगृहीत असंयतात्मा पुरुष मन का निग्रह नहीं कर सकता। उससे संयतात्मा में जो कि मन का निग्रह कर सकता है उसमें विशेषद्योतन करने के लिये श्लोक में 'तु' शब्द है। मनोनिग्रह में अभ्यास वैराग्य इन दोनों का समुच्चय हेतु है एकैक नहीं, इसके सूचना के लिए 'च' शब्द है। हे कौन्तेय! यह सम्बोधन पितृभगिनीपुत्र आप हैं अवश्य आप को सुखी करूंगा। इस स्नेहसम्बन्ध सूचन से अर्जुन को आश्वस्त करते हैं। इस श्लोक से पहले के आधे से चित्त का हठ निग्रह सम्भव नहीं, द्वितीयार्ध से क्रमसे निग्रह सम्भव है यह कहा।

दो प्रकार का मनोनिग्रह होता है। हठ से और क्रम से, इसमें चक्षुश्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और वाक्पाण्यादि कर्मेन्द्रियाँ तत्तद् गोलकमात्र अर्थात् तत्तद् अभिव्यञ्जकस्थान का बलान्निरोध करने से इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती है। जैसे आँख मीचने से चक्षुरिन्द्रिय निरुद्ध हो ही जाती है इसी प्रकार शेष इन्द्रियों का भी हठ से निग्रह करना समझना।

इसी दृष्टान्त से मन का भी हठ से निग्रह करेंगे यह मूढ़ को भ्रान्ति होती है, किन्तु मन का वैसा निग्रह नहीं कर सकते क्योंकि तद् गोलक तद् अभिव्यञ्जक हृदयकमल का निरोध अशक्य है अतएव मन का क्रम निग्रह ही युक्त है।

तदेतद्भगवान् वसिष्ठ आह—

उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।।
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गः ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च ।।
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।।
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ।।' इति ।।

क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याधिगम एक उपायः, सा हि दृश्यस्य मिथ्यात्वम्, दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दस्वप्रकाशत्वं बोधयति । तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावम्, प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमानन्दरूपे दृग्वस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति । यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते, यो वा विस्मरति, तयोस्साधुसङ्गम एवोपायः । साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति ।

यह भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

'उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।'

इत्यादि मूल में देखिए । बैठ-बैठकर बारम्बार चित्तज्ञ पुरुष भी अदूषित युक्ति के विना मन का विजय नहीं कर सकता, जैसे दुष्ट मत्त गज (हाथो) अंकुश के विना वश में नहीं आता किन्तु अंकुश से ही वश में आता है तथा साधु संगत से ही अध्यात्मविद्या होती है । वासनासंपरित्याग प्राणचलन निरोध ये ही चित्त निरोध में प्रबल युक्तियां हैं । इन युक्तियों के रहते हुए जो लोग हठ से मन को नियन्त्रित करते हैं वे लोग दीप का त्याग कर अंजन से तम की निवृत्ति करना चाहते हैं, दीप से ही तमोनाश होता है अंजन से नहीं । क्रम निग्रह में अध्यात्मविद्याधिगम एक उपाय है अर्थात् प्रधान उपाय है यह विद्या दृश्यमात्र-को मिथ्या और दृग् वस्तु को परमार्थसत्य परमानन्द स्वप्रकाश बोधन कराती है । ऐसा मन होने पर यह मन स्वविषय दृश्यों में मिथ्यात्वप्रकाश (दर्शन) से प्रयोजनाभाव समझकर और प्रयोजनवान् परमार्थसत्य परमानन्दरूप दृग्वस्तु स्वप्रकाश होने से स्वाविषयत्व को समझ कर और काष्ठादि शून्य अग्नि की तरह स्वयमेव शान्त हो जाता है । जो सम्बोधित भी तत्त्व को सम्यक् नहीं समझता अथवा

स्मारयन्ति च। यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते, तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग एवोपायः, यस्तु वासनानामतिप्राबल्यात्तास्त्यक्तुं न शक्नोति, तस्य प्राणस्पन्दनिरोध एवोपायः। प्राणस्पन्द-वासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्, तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते। तदेतदाह स एव—

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दन-वासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥ १॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ २॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥ ३॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव॥ ४॥
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च।
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत्॥ ५॥
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते।
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः॥ ६॥
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा॥' इति॥

अत्र द्वावेवोपायौ पर्यवसितौ प्राणस्पन्दनिरोधार्थमभ्यासः, वासनापरित्यागार्थश्च वैराग्यमिति। साधुसङ्गमाध्यात्मविद्याधिगमौ त्वभ्यासवैराग्योपपादकतयाऽन्यथासिद्धौ तयोरेवान्तर्भवतः। अतएव भगवता 'अभ्यासेन, वैराग्येण चेति द्वयमेवोक्तम्।

भूल जाता है इन दोनों के लिए साधुसंगम ही उपाय है क्योंकि साधु लोग फिर-फिर समझावेंगे, तथा-स्मरण करावेंगे। जो पुरुष विद्या, अहंकार, दुर्वासना से पीड़ित होकर साधुओं की अनुवृत्ति करने का उत्साह नहीं करता उसको वासनापरित्याग पूर्वोक्तविवेक से होता है अतः पूर्वोपाय ही है। और जो अतिप्रबल वासनाओं के त्याग में समर्थ नहीं है उसका प्राणस्पंद निरोध ही उपाय है। प्राणस्पंद तथा वासना ये दोनों चित्त के प्रेरक हैं इनके निरोध से चित्त शान्त होता है यह वहाँ ही वसिष्ठ जी ने कहा है—

अतएव भगवान् पतञ्जलिरसूत्रयत् –'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति। तासां प्रागुक्तानां प्रमाण-विपर्यय-विकल्पनिद्रा-स्मृतिरूपेण पञ्चविधानामनन्तानामासुरत्वेन क्लिष्टानाम्, दैवत्वेनाक्लिष्टानामपि वृत्तीनाम् सर्वासामपि निरोधो निरिन्धनाग्निवदुपशमाख्यः परिणामोऽभ्यासेन वैराग्येण च समुच्चितेन भवति। तदुक्तं योगभाष्ये—'चित्तनदी नाम-उभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। तत्र या कैवल्यप्राग्भारा विवेकनिम्ना सा कल्याणवहा, या त्वविवेकनिम्ना संसारप्राग्भारा, सा पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन च कल्याणस्रोतःउद्घाट्यते, इति,

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य' इत्यादि।

'यहां पर दो ही उपाय वस्तुतः सिद्ध हुए, प्राणस्पंदन निरोधार्थं अभ्यास और वासनापरित्यागार्थं वैराग्य। साधुसंगम और अध्यात्मविद्याधिगम ये दोनों अभ्यास वैराग्यादि के साधक होने से अन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् स्वतः प्राप्त हैं अतः दोनों का अभ्यास वैराग्य ही में अन्तर्भाव है अतएव भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य इन्हीं दोनों उपायों को कहा है। भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्र रचा है, सूत्र—(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। पूर्वोक्त प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतिरूप से पञ्चप्रकार वृत्तिस्वरूप से अनन्त आसुरत्वेन क्लिष्ट' दैवत्वेन अक्लिष्ट सब वृत्तियों का निरोध काष्ठशून्य अग्निवत् उपशमाख्य चित्त का परिणामविशेष अभ्यास वैराग्य के समुच्चय से होता है, यह योगभाष्य में लिखा है—'चित्तनदीनाम, उभयतो वाहिनी वहति,'इत्यादि प्राग्भार निम्नप्रदेशः सूत्र—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यंप्राग्भारं चित्तम्'

(१) निरोध के उपाय को कहते हैं—'सवैराग्ये'ति। अभ्यास वैराग्य का आगे निरूपण करेंगे। निरोधकी उत्पत्ति में अवान्तर व्यापार भेद से अभ्यास वैराग्य का समुच्चय हेतु है एकैक नहीं। एकैक होता तो व्रीहियववद्विकल्प होता यही 'चित्तनदी'त्यादि से कहते है—चित्त नामक नदी दो धारों से वहती है। एक धारा कल्याण के लिये वहती है दूसरी धारा पाप के लिये वहती है दो धारों से बहने का कल्याण और पाप स्पष्ट प्रयोजन कहा है। कल्याण मोक्ष पाप का कारण संसार है कार्य में कारण का प्रयोग है सो कहा है—

'प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय पराग्दृशाम्।
अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः॥'

जो अपने मार्ग पर दृष्टि देकर चलता है वह तो चिचिरी से बच जाता है और जो अन्यत्र दृष्टि देकर चलता है वह उसमें फँस जाता है वैसा ही मोक्ष वन्ध दोनों विरुद्धफल को देने वाला संसार है। प्राग्भार का अर्थ अभिमुख है निम्न का अर्थ नीची भूमि है क्योंकि जल नीची भूमि से ही बहता है विवेकाभिमुख विवेकविषय निम्नप्रदेश है जिसका एवंभूत चित्त नदी मोक्षदायिनी है। मिश्रजी ने प्राग्भार का प्रबन्ध और निम्न का गम्भीर अर्थ किया है। वैराग्य से चित्त नदी के

उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः भा०-पृ०-४४ 'इति । प्राग्भारे निम्नपदे तदा विवेकनिम्नं कैवल्य-प्राग्भारं चित्तमित्यत्र व्याख्यायते—'यथा तीव्रवेगोपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याप्रण-यनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते, तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य, समाध्यभ्यासेन प्रशान्तवाहिता सम्पाद्यत इति, द्वारभेदात्समुच्चय एव । एकद्वारत्वे हि व्रीहिय-ववद्विकल्पस्यात्'—इति । मन्त्रजप-देवताध्यानादीनां क्रियारूपाणामावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः सम्भवति । सर्वव्यापारोपरमस्य तु समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां निवारयितुमभ्यासं सूत्रयति स्म—(१) 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इति । तत्र-स्वरूपावस्थिते द्रष्टरि शुद्धे चिदात्मनि चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चलतास्थितिः, तदर्थं यत्नः, मनसा

इस सूत्र पर व्याख्यान करेंगे। तीव्रवेगसंयुक्त नदी का प्रवाह सेतुबन्धद्वारा वारण कर नहर के द्वारा क्षेत्राभिमुख तिर्यक्प्रवाहान्तर उत्पन्न किया जाता है, यथा नहर वाले सेतु से नदी के वेग को रोककर नदी जल नहर द्वारा खेतों में पहुँचाते हैं उसी प्रकार चित्त नदी के विषयाभिमुख प्रवाह को वैराग्य से निरोध कर समाधि के अभ्यास से प्रशान्तवाहिता चित्त में सम्पादित होती है द्वारभेद से समुच्चय है अर्थात् वैराग्य से चित्तनदी के विषयप्रवाह का निवारण और अभ्यास से प्रशान्तवाहिता होगी।

इस प्रकार प्रशान्तवाहिता में दोनों का समुच्चय निहित है एक द्वार होने पर व्रीहि यव की तरह विकल्प हो जाता है यथा "व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत" इन वाक्यों से व्रीहि और यव इन दोनों का यागसाध-नत्वेन विधान है, पुरोड़ाश दोनों का द्वार है उक्त साधनता में पुरोड़ाशस्वरूप द्वार एक होने से व्रीहि और यव का विकल्प है अर्थात् एकैक से ही याग किया जाता है दोनों से नहीं तद्वत् यहाँ भी द्वार एक होता तो अभ्यास वैराग्य का विकल्प हो जाता, समुच्चय नहीं होता सो प्रकृत में नहीं है।

विषयगामी धारा को बलवान् करते हैं, जैसे नदी से नहर निकाली जाती है वैसे ही प्रकृत में समझना। इस प्रकार निरोध और उद्घाटनरूप व्यापार भेद से दोनों चित्तवृत्ति का निरोध होता है एक एक से नहीं अतः अभ्यास वैराग्य की वृत्तिनिरोध में समुच्चय हेतु है विकल्प नहीं।

(१) 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।'

उस अभ्यास वैराग्य के मध्य में राजस तामसवृत्तिरहित चित्त की स्थित प्रशान्तवाहिता हर्षशोकादिरहित एकाग्र-वृत्तिधारा और शास्त्रान्तर में शान्ति भी कहा है—

'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति न म्लायति च स शान्त इति कथ्यते ॥' इति ।

उत्साहः स्वभावचाञ्चल्याद् बहिःप्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवंविधः। स आवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यते—(१) 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः' विच्छेदाभावेन निरन्तरासेवितः, सत्कारेण-श्रद्धातिशयेन-वा सेवितः, सोऽभ्यासो दृढभूमिः-विषयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति। अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने श्रद्धातिशयाभावे च लय-विक्षेप-कषाय-सुखास्वादानामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्यात् दृढभूमिरभ्यासः फलाय न स्यादिति, त्रयमुपात्तम्।

वैराग्यं तु द्विविधम्-परम्, अपरं च। यतमानसंज्ञाव्यतिरेकसंज्ञैकेन्द्रियसंज्ञावशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्धा। तत्र पूर्वभूमिजयेनोत्तरभूमिसंपादनविवक्षया चतुर्थमेवासूत्रयत्—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णास्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति। स्त्रियः, अन्नं पानमैश्वर्यं-

---

प्रश्न—मन्त्रजप देवताध्यानादिरूप क्रियाओं का पुनः-पुनः आवर्तन लक्षण अभ्यास सम्भव है, सर्वव्यापाराभावरूपसमाधि में अभ्यास क्या हो सकता है अर्थात् किसका पुनः पुनः आवर्तन किया जायगा क्रिया ही साक्षात्साध्य है अन्य नहीं निरोध-क्रिया का अभावरूप हैं, अतः कृतिसाध्य नहीं ?

उत्तर—इस शंकाके वारण करनेके लिए सूत्र है—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" इति। तत्र-स्वरूपावस्थिते अर्थात् स्वरूप से स्थित शुद्ध चिदात्मा में वृत्तिशून्य चित्तकी प्रशान्तवाहितारूप निश्चलता स्थिति तदर्थं यत्न मानस उत्साह स्वभावचाञ्चल्यसे वहिःप्रवाहशील चित्तका सर्वथा निरोध करेंगे एवंविध आवर्तमान उत्साह अभ्यास कहा गया है—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितः' अनिर्वेद से दीर्घ काल से सेवित मध्य में विच्छेदरहित सेवित व्यवधानशून्य सेवित और श्रद्धातिशयरूपसत्कार से सेवित वह अभ्यास दृढ़भूमि अर्थात् विषयसुख वासना से चलाया जाना अशक्य होता हैं अदीर्घ काल अर्थात् थोड़े सेवन समय में अधिक सेवन में भी रुक रुक कर सेवन करने से श्रद्धातिशय न होने से लय विक्षेप सुखादि का परिहार नहीं

स्थिति शब्द का अर्थ है स्थितौ में तदर्थं 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' यहां जैसे चर्मार्थं यह अर्थ है, वैसे स्थितौ का अर्थ स्थित्यर्थं है इसको निमित्त कहते हैं निर्वृत्तिक चित्तसंपादन की इच्छा से श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञादि वक्ष्यमाण साधनों का अनुष्ठान अभ्यास है।

(१) 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितः' इत्यादि।

अनादि विरोधी व्युत्थान संस्कार से प्रतिरुद्ध अभ्यास स्थितिका संपादन कैसे करेगा इस शंका का उत्तर देते हैं सूत्रकार—'स तु' इत्यादि से। यह अभ्यास दीर्घकालासेवित निरन्तरासेवित सत्कारासेवित तप से ब्रह्मचर्य से विद्या से श्रद्धा से कृतसत्कारवान् दृढ़भूमि होता है। व्युत्थानसंस्कार से अनभिभूत संस्कारविषयक अभ्यास होता है। यदि ऐसा अभ्यास कर योगी उपरत होगा तो कालक्रम से अभिभूत हो जायगा अतः उपरत न होना एतदर्थं उपदेश हैं।

मित्यादयःदृष्टा विषयाः, स्वर्गाः, विदेहता, प्रकृतिलय इत्यादयो वैदिकत्वेनानुश्रविका विषयाः, तेषुउभयविधेष्वपि सत्यामेव तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादित्रयं भवति । अत्र जगति किं सारम् ? किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानम् । स्वचित्ते पूर्वविद्यमानदोषाणाम् मध्येऽभ्यस्यमानविवेकेनैते पक्वाः, एतेऽवशिष्टा इति चिकित्सकवद्विवेचनं व्यतिरेकः ।

कर सकते । व्युत्थान संस्कार प्रावल्य से अदृढ़भूमि अभ्यास फल के लिए न होगा इसलिए तीनों विशेषणों का आदान है ।

वैराग्य दो प्रकार का है अपर और दूसरा पर, यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा भेद से अपर वैराग्य चार प्रकार का है। इनमें पूर्व भूमि के जय करने पर उत्तर उत्तर भूमि सम्पादनार्थ चतुर्थ सूत्र है—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'इति । स्त्रियः अन्न पान ऐश्वर्य इत्यादि दृष्ट विषय हैं। स्वर्ग विदेहता प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक विषय है। अनुपश्चात् श्रूयते एव, न तु केनचित् क्रियते इत्यनुश्रवो वेदः । तत्र ज्ञातः आनुश्रविकः अपौरुषेय वेद विदित-विषय है । इन दोनों प्रकारों के रहते भी तृष्णा होने पर विवेक के न्यूनाधिकभाव से यतमानादि तीन होते-हैं। इस संसार में क्या तत्त्व है परमार्थ तत्त्व, क्या अतत्त्व है। यह गुरु और शास्त्रों से जानेंगे यह उद्योग यतमानसंज्ञक है। पुर्व विद्यमान दोषों का स्वचित्त में पूर्व दोषों के मध्य में अभ्यस्यमान विवेक से इतने नाली हैं इस प्रकार का चिकित्सक के समान विवेचन व्यतिरेकसंज्ञा है। जैसे चिकित्सक रोगी के दोषों का विवेक करता है इतने दोष पचे इतने अभी बाकी हैं। बाकी दोषों का पचाना आवश्यक है। दृष्टानुश्रविक

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।'

दृष्टविषय चेतन दारादिअचेतन अन्नपानादि ऐश्वर्य आदि में तृष्णा का अभाव एवं वेदोक्त स्वर्गादि में तृष्णा का अभाव विदेह (देहरहित) इन्द्रियलीन कोई प्रकृति को ही आत्मा मानकर तदुपासनारत साधिकार प्रकृति में लीन एतत्प्राप्तियोग्य वैदिकविषय में अनुश्रव वेद है तद्विषय में वितृष्णा ही स्वर्गादिविषय कहा जाता है। रागाभावमात्र का विषय दोष्पदर्शनजन्य रागाभावमात्र का वैराग्य नहीं है अन्यथा विषयप्राप्तिसमय में रोगादिवश अरुचि से जायमान रागाभाव में वैराग्य की आपत्ति हो जायगी विषयदोषदर्शनजन्य वैराग्य के बाद भी सौभर्यादि को विषय के रहने पर चित्त के क्षोभ से समाधि का भङ्ग हुआ; अतः वैतृण्यमात्र वैराग्य का लक्षण नहीं है किन्तु उक्त विशेषणविशिष्ट वशीकार संज्ञा वैराग्य है। आसंगदोषरहित उपेक्षा बुद्धि वशीकारसंज्ञा है तत्त्वज्ञानबल से यह होती है आध्यात्मिकादि त्रिविध परितापयुक्त विषय हैं इस भावना से उक्त साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है यतमानसंज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा-एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा ये चार संज्ञायें हैं विशेष भाष्य वार्तिकादि में देखिये ।

दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन बहिरिन्द्रियप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णायाः औत्सुक्यमात्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियम्। मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यम्। तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा। वैराग्यं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गम्, असम्प्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम्। तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परमेव वैराग्यम्। तच्चासूत्रयत—(१) 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' यो० द-१-१६ इति। सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः-साक्षात्कार उत्पद्यते, ततश्चाशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यद्भवति, तत्परम्-श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यम्। तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोपशमपरिपाकादविलम्बेन कैवल्यमिति ॥ ३५ ॥

विषयप्रवृत्ति दुःखात्मक है इस बोध से बहिरिन्द्रियों की प्रवृत्ति न कराती हुई तृष्णा औत्सुक्यमात्र मन में स्थित रहती है यह एकेन्द्रियसंज्ञक है अर्थात् उत्कण्ठामात्र से चित्त में तृष्णा रहती है किन्तु इन्द्रियों की प्रवृत्ति दृष्टानुश्रविक विषयों में नहीं कराती कारण उसमें यह दृढ़ निश्चय है कि उक्त सकलवृत्ति अनर्थंकर है यह प्रतिबन्ध है मन तृष्णाशून्य होने से सर्वथा वैतृष्ण्य तृष्णाविरोधिनी ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा। वैराग्य सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरङ्ग है और असम्प्रज्ञातसमाधि का बहिरङ्ग साधन है। असम्प्रज्ञातसमाधिका अन्तरङ्गसाधन पर ही वैराग्य है। यह पतञ्जलि ने सूत्र रचा है—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति। सम्प्रज्ञातसमाधि के पाटव से गुणत्रयात्मक प्रधान से विविक्त पुरुष की ख्याति-साक्षात्कार उत्पन्न होती हैं उससे सम्पूर्ण गुणत्रय व्यवहारों में तृष्णाभाव जो होता है तत्फलभूत श्रेष्ठ पर वैराग्य हैं तत्परिपाक निमित्त से चित्त की शान्ति का परिपाक होने से अतिशीघ्र कैवल्य होता है ॥ ३५ ॥

---

१. 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।'

अपर वैराग्य कह कर पर वैराग्य कहते हैं—'तत्परमि'त्यादि से। अपर वैराग्य पर वैराग्य का कारण है उसमें द्वार है दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शी विरक्त इससे अपर वैराग्य दिखलाया। शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश से ज्ञात पुरुष का जो दर्शन उसके अभ्यास पुनः पुनः मन से उस दर्शन की शुद्धि रजस्तम त्यागपूर्वक जो सत्त्वैकतानता उससे जो गुण पुरुष का प्रकृष्टविवेक पुरुष शुद्ध है अनन्त है इससे विलक्षण गुण है इससे जिस योगी की बुद्धि तृप्त है वह योगी विरक्त है इससे धर्म मेघसमाधि कही है। वैसा वह योगी व्यक्ताव्यक्तधर्मक गुणों से सर्वथा विरक्त गुणात्मक सत्त्वपुरुषान्यताख्याति में भी विरक्त होता है अतः परापर भेद से दो वैराग्य है। अपर वैराग्य सत्त्वोपयनिरस्ततमोगुणरजोगुण कलङ्क संयुक्त चित्त में होता है यह तौष्टिक में भी समान है वे उसी से प्रकृति में लीन हुए हैं इन दोनों वैराग्यों में जो उत्तर है वह ज्ञानप्रसादमात्र है शब्दविपयाभाव को सूचित करता है। वही उस प्रकार का चित्त सत्त्व रजोलेश से असंस्पृष्ट-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

मनको वशीभूत न करनेवाले पुरुषसे यह योग दुष्प्राप्य है । वशीकृत मनवाले प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा साधन करनेसे यह योग प्राप्त हो सकता है यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

यत्तु त्वमवोचः प्रारब्धभोगेन कर्मणा तत्त्वज्ञानादपि प्रबलेन स्वफलदानाय मनसः वृत्तिषूत्पाद्यमानासु कथं तासां निरोधः कर्तुं शक्य इति ? तत्रोच्यते—'असंयतात्मने'ति । उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वेदान्तव्याख्यानादिव्यासङ्गात्, आलस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवै-राग्याभ्याम् न संयतो निरुद्ध आत्मा-ऽन्तःकरणं येन, तेनाऽसंयतात्मना तत्त्वसाक्षात्कारवतापि योगः-मनोवृत्तिनिरोधः दुष्प्रापः-दुःखेनापि प्राप्तुं न शक्यते, प्रारब्धकर्मकृताच्चित्तचाञ्चल्यादिति चेत्त्वम् वदसि । तत्र मे मतिः-मम संमतिः । तत्तथैवेत्यर्थः । केन तर्हि प्राप्यते ? उच्यते-'वश्ये'ति । वश्यात्मना तु-वैराग्यपरिपाकेण वासनाक्षये सति वश्यः स्वाधीनो विषयपारतन्त्र्यशून्य आत्मा-अन्तःकरणं यस्य, तेन । 'तु' शब्दोऽसंयतात्मनो वैलक्षण्यद्योतनार्थः, अवधारणार्थो वा,

जो आपने कहा प्रारब्ध भोग से तत्त्वज्ञान से भी प्रबल कर्म से अपने फल देने के लिए मन में वृत्तियां जो उत्पन्न होती हैं उनका निरोध कैसे किया जा सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—तत्त्वप्रत्यक्ष के उत्पन्न होने पर भी वेदान्त व्याख्यानादि और आलस्यादिदोष से तथा 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां न संयतः निरुद्ध आत्मा-अन्तःकरणम् येन, स तेन असंयतात्मना' अनिरुद्धचित्त तत्त्व साक्षात्कारवान् से भी मनोवृत्तिनिरोध योग दुष्प्राप्य है दुःख से भी नहीं प्राप्त कर सकता । प्रारब्ध कर्मकृत चित्तचञ्चलता ही हेतु है । यदि यह तुम कहते हो तो इस अर्थ में मेरी सम्मति तुम्हारी सम्मति के समान ही हैं यह अर्थ है ।

प्रश्न—किससे प्राप्त होता है ?

उत्तर—वैराग्य परिपाक से वासनाक्षय होने पर वश्य स्वाधीनविषय पारतन्त्र्यशून्य आत्मा-अन्तःकरण है जिसका अन्तःकरण विषयपरतंत्रता से रहित अतएव स्वतंत्र है उसी पुरुष को योग प्राप्त होता है। श्लोक में 'तु' शब्द असंयतात्मा की अपेक्षा संयतात्मा में वैलक्षण्य बोधनार्थ है अथवा निश्चय अर्थ में है।

ज्ञानप्रसाद कहाता है । यद्यपि चित्त सत्त्वप्रसादस्वभाव है तथापि रजस्तम संपर्क से मालिन्य का अनुभव करता है वैराग्या-भ्यास विमल वारिधाराधौत निखिलरजस्तमोमल अतिप्रसन्न ज्ञानप्रसादमात्र परिशेष होता है जिसके उत्पन्न होने पर योगी तत्त्वज्ञानी होता है प्राप्तव्य मोक्ष प्राप्त हुआ आगे कहेंगे 'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति' इति । कैसे प्राप्त हुआ क्षीण क्लेश वासनासहित अविद्यादि नष्ट हुई इत्यादि । विस्तृत आकर ग्रन्थों में देखिये-इति ।

एतादृशेनाऽपि यतता-यतमानेन वैराग्येण विषयस्रोतःखिलीकरणेऽप्यात्मस्रोत उद्घाटनार्थमभ्यासं प्रागुक्तं कुर्वता योगः-सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः शक्योऽवाप्तुं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तानि प्रारब्धकर्माण्यप्यभिभूय प्राप्तुं शक्यः ।

कथमतिबलवतामारब्धभोगानां कर्मणामभिभवः ? उच्यते । उपायतः-उपायात् । उपायः-पुरुषकारः । तस्य लौकिकस्य, वैदिकस्य वा प्रारब्धकर्मापेक्षया प्राबल्यात् । अन्यथा लौकिकानां कृष्यादिप्रयत्नस्य, वैदिकानां ज्योतिष्टोमादिप्रयत्नस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वत्र प्रारब्धकर्मसदसत्त्वविकल्पग्रासात्प्रारब्धकर्मसत्त्वे तत एव फलप्राप्तेः किं पौरुषेण प्रयत्नेन, तदसत्त्वे तु सर्वथा फलासंभवात्किं तेनेति । अथ कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसम्पत्तिव्यतिरेकेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेत् ? योगाभ्यासेऽपि समं समाधानम्, तत्साध्यायाः जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धकर्मफलान्तर्भावात् । अथवा यथा प्रारब्धकर्मफलं तत्त्वज्ञानात्प्रबलमिति कल्प्यते, दृष्टत्वात् । तथा तस्मादपि कर्मणः

एतादृश यतमान वैराग्य से विषयप्रवाह को बन्द कर आत्मप्रवाह का उद्घाटनार्थं अर्थात् खोलने के लिए पूर्वोक्त अभ्यास करता हुआ योगी चित्तवृत्ति निरोधरूप योग प्राप्त कर सकता है। चित्तचाञ्चल्यकारणीभूत प्रारब्ध कर्मों का अभिभव कर योग प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—अतिबलवान् कर्मभोग का कर्म से पराभव कैसे ?

उत्तर—उपाय से। पुरुष प्रयत्न लौकिक हो अथवा वैदिक प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा प्रबल है अन्यथा-यदि ऐसा न हो तो कृष्यादि लौकिक प्रयत्न वैदिक ज्योतिष्टोमादि प्रयत्न भी व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उक्त स्थल में उक्त उपायद्वारा फलप्राप्ति होती है उसमें भी प्रारब्धकर्म हैं अथवा नहीं ? यदि हैं तो उसी से उक्त फल की प्राप्ति हो जायगी पुरुष प्रयत्न व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में सर्वथा फल असम्भव ही है, पुरुषप्रयत्न व्यर्थ ही है। अथ अदृष्टरूप कर्म दृष्टसाधन सम्पत्ति के बिना फल देने में असमर्थ है अतः अदृष्टरूप कर्म प्रारब्ध कहाता है। उसको कृषि खेती आदिफल में पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा है अन्यथा सहकारि कारणरूप दृष्टहेतु सम्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा मानें तो योगाभ्यास में भी यही समाधान है तत्साध्य जीवन्मुक्ति भी सुखातिशय स्वरूप होने से प्रारब्धफल के अन्तर्गत है। अथवा जैसे प्रारब्धकर्मफल तत्त्वज्ञान से प्रबल यह कल्पना करते हैं क्योंकि ये दृष्ट हैं तदनुरूप कल्पना उचित होती है तभी प्रारब्ध कर्म से योगाभ्यास भी

योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु, शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य, सर्वत्र ततः प्राबल्यदर्शनात्। तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन।।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते॥
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥'

उच्छास्त्रम्-शास्त्रप्रतिषिद्धं अनर्थाय-नरकाय, शास्त्रितम्-शास्त्रविहितमन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थाय-चतुर्ष्वर्थेषु परमाय मोक्षाय।

'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारय।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम्।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन॥
सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर।
शुभायां वासनावृद्धौ तात! दोषो न कश्चन॥

वासना। शुभेति शेषः।

प्रबल हो दृष्ट हेतु से यह भी मानिये। शास्त्रीय प्रयत्न सब जगह उससे बलवान् देखा गया है ऐसा ही भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—(१) 'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन!।' इत्यादि।

---

(१) हे रघुनन्दन! इस संसार में सब पुरुष साधुप्रयुक्त पुरुषार्थ से सब पाता है। उच्छास्त्र और शास्त्रित भेद से पौरुष दो प्रकार का होता है उनमें उच्छास्त्र अनर्थ प्राप्ति के लिये है। और परमार्थप्राप्ति के लिये शास्त्रित है। उच्छास्त्र-शास्त्रप्रतिषिद्ध अनर्थ नरकादि प्राप्ति हेतु है। शास्त्रित अन्तःकरणशुद्धिद्वारा चारों पुरुषार्थों में परम मोक्षाख्य पुरुषार्थ का हेतु है। वासनारूप नदी शुभाशुभ दो मार्गों से बहती है उसको पुरुषप्रयत्न से शुभमार्ग से संयुक्त करना चाहिये अर्थात् उससे प्रवाहित करना चाहिये। अशुभमार्ग प्रतिरोध के विना उक्तार्थ सिद्धि नहीं होता अतस्तत्प्रतिरोध आवश्यक है अशुभ से समाविष्ट स्वमन को ही बलवानों में श्रेष्ठ शुभमार्ग में उतारो स्वकीय पुरुषार्थ से अभ्यासवश जब तुम्हारी शुभवासना शीघ्र उदित उत्पन्न हो तब अभ्यास का साफल्य समझना, हे अरिमर्दन! सन्दिग्ध होनेपर भी शुभवासना को ही करो

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! योगसे चलायमान मन वाले अल्प यत्नवाले तथा श्रद्धायुक्त पुरुष योगसिद्धि (अज्ञान और तत्कार्य निवृत्ति) को न प्राप्तकर किस गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥

अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना ॥' इति ।

तस्मात्साक्षिगतस्य संसारस्याविवेकनिबन्धनस्य विवेकसाक्षात्कारादपनयेऽपि प्रारब्धकर्मपर्यवस्थापितस्य चित्तस्य स्वाभाविकीनामपि चित्तवृत्तीनां योगाभ्यासप्रयत्नेनाऽपनये सति जीवन्मुक्तः- परमो योगी । चित्तवृत्तिनिरोधाभावे तु तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति सिद्धम् । अवशिष्टम् जीवन्मुक्तिविवेके सविस्तरमनुसन्धेयम् ॥ ३६ ॥

एवं प्राक्तनेन ग्रन्थेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिरपरमो योगी मतः । उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिस्तु परमो योगी मत इत्युक्तम् । तयोरुभयोरपि ज्ञानादज्ञाननाशेऽपि यावत्प्रारब्धभोगम् कर्म देहेन्द्रियसङ्घातावस्थानात्प्रारब्धभोगकर्मापाये च वर्तमानदेहेन्द्रियसंघातापायात्पुनरुत्पादका-

---

तस्मात् अविवेक मूलक साक्षिगत संसार का विवेकप्रत्यक्ष से निराकरण होनेपर प्रारब्धकर्मावशिष्ट- चित्त की स्वाभाविक वृत्तियाँ योगाभ्यास प्रयत्न से निराकृत होनेपर परमयोगी जीवन्मुक्त हैं चित्तवृत्ति के निरोधाभाव होने से तत्त्वज्ञानवान् भी अपरम योगी है यह सिद्ध हुआ अवशिष्ट वक्तव्य जीवन्मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति प्रमाण प्रकरण में सविस्तर समझना ॥ ३६ ॥

इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से उत्पन्नतत्त्वज्ञानवान् अनुत्पन्नजीवन्मुक्ति अपरम योगी माना जाता है। उत्पन्नतत्त्वज्ञान और उत्पन्न जीवन्मुक्ति परम योगी है यह आपने कहा उन दोनों में ज्ञान से अज्ञाननाश

शुभवासना के बढ़ने पर भी कुछ दोष नहीं। जबतक आप अज्ञाततत्पदार्थ हैं अतएव अव्युत्पन्न चित्त हैं गुरु और शास्त्र- प्रमाणों से निर्णीत का तबतक आचरण करो, उससे दोष परिपाक होने से निश्चित ज्ञाततत्त्व आप से शुभ भी वासनासमूह निःशंक मनसे त्याज्य है । इति ।

भावाद्विदेहकैवल्यं प्रति कापि नास्त्याशङ्का। यस्तु प्राक्कृतकर्मभिर्लब्धविविदिषापर्यन्तचित्तशुद्धिः कृतकार्यत्वात्सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य प्राप्तपरमहंसपरिव्राजकभावः परमहंसपरिव्राजकमात्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तं परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपसृत्य, ततो वेदान्तमहावाक्योपदेशं प्राप्य, तत्राऽसंभावना-विपरीतभावनाख्यप्रतिबन्धनिरासाय 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यनावृत्तिः शब्दादि' त्यन्तया, चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवण-मनन-निदिध्यासनानि गुरुप्रसादात्कर्तुमारभते। स श्रद्दधानोऽपि सन्नायुषोऽल्पत्वेनाऽल्पप्रयत्नत्वादलब्धज्ञानपरिपाकः श्रवण-मनन-निदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापद्यते, स ज्ञानपरिपाकशून्यत्वेनाऽनष्टाज्ञानो न मुच्यते, नाऽप्युपासनासहितकर्मफलम्-देवलोकमनुभवत्यर्चिरादिमार्गेण, नापि केवलकर्मफलं पितृलोकमनुभवति धूमादिमार्गेण, कर्मणाम्, उपासनानाञ्च त्यक्तत्वात्। अत एतादृशो योगभ्रष्टः कीटादिभावेन कष्टां गतिमियात्, अज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गासंबन्धित्वात् वर्णाश्रमाचारभ्रष्टवत्, अथवा कष्टां गतिं नेयात्, शास्त्रनिन्दित-कर्मशून्यत्वाद्वामदेववदिति संशयपर्याकुलमना अर्जुन उवाच—'अयतिरि'त्यादिना। यतिः-यत्नशीलः। अल्पार्थे नञ् 'अलवणा यवागूरि' त्यादिवत्। अयतिः-अल्पयत्नः श्रद्धया गुरुवेदान्तवाक्येषु

होने पर भी यावत्प्रारब्धकर्म भोग अर्थात् जबतक पूर्वकृतकर्मों का फल भोग न हो जाय तावत्काल उक्त कर्म देहेन्द्रियसमुदाय से प्रारब्धकर्म भोग के न होने पर वर्तमान देहेन्द्रियसंघात के अभाव से पुनः देहेन्द्रिय-संघातोत्पादक न होने से विदेहमुक्ति के प्रति कोई शङ्का नहीं है। जो पुरुष प्राक्कृत कर्मों से विविदिषा (जिज्ञासा) पर्यन्त चित्तशुद्धि का लाभ कर चुका है वह कृतकार्य होने से सब कर्मों का परित्याग कर परमहंस परिव्राजकभाव को प्राप्त कर आत्मसाक्षात्कार से जीवन्मुक्त परमहंस परिव्राजक दूसरे के समझाने में समर्थ-गुरु के समीप जाकर उनसे वेदान्त महावाक्योपदेश प्राप्त कर उसमें असम्भावना विपरीतभावना नामक प्रतिबन्धनिरासार्थ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' एतदन्त चतुर्लक्षणी मीमांसा से श्रवण मनन निदिध्यासन का गुरुप्रसाद से करना आरम्भ करता है। वह श्रद्धायुक्त आयु अल्प होने के कारण अल्प प्रयत्न होने से ज्ञान परिपक्व को न लाभ कर श्रवण मनन निदिध्यासन करने के समय में मध्य में ही मृत्यु हो गई, तो वह पुरुष अज्ञानपरिपाकशून्य अर्थात् अनुत्पन्न तत्त्वज्ञान होने से अज्ञान का नाश हुआ नहीं अतः मुक्त होता नहीं और न उपासनासहित कर्मफल देवलोक का अर्चिरादि मार्ग से अनुभव करता है, और न धूमादि मार्ग से प्राप्त होकर केवल कर्मफल पितृलोक का अनुभव करता है। क्योंकि कर्मों और उपासनाओं का त्याग कर चुका है अतएव ईदृश योगभ्रष्ट पुरुष कीटादि के समान कष्टगति पावेंगे। अज्ञ होने से देवयान और पितृयान मार्ग के सम्बन्धी नहीं हैं। यथा वर्णभ्रष्ट आश्रमभ्रष्ट

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्ति मार्ग अर्थात् ज्ञानमें, मुग्ध और आश्रय रहित (उपासना और कर्मसे रहित) पुरुष छिन्न भिन्न मेघोंके समान दोनों ओरसे (कर्म और ज्ञानमार्गसे) क्या भ्रष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

विश्वासबुद्धिरूपयोपेतः-युक्तः । श्रद्धा च स्वसहचरितानां शमादीनामुपलक्षणम् । 'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' बृ. उ. ४-४-२३ इति श्रुतेः । तेन नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रभोगविरागः, शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादिषट्सम्पत्, मुमुक्षुता-चेति साधनचतुष्टयसम्पन्नः गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यश्रवणादि कुर्वन्नपि परमायुषोऽल्पत्वेन, मरण-काले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठानासंभवात्, 'योगाच्चलितमानसः' योगाच्छ्रवणादिपरि पाकलब्धजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्काराच्चलितम्-तत्फलमप्राप्तं मानसं यस्य, सः योगानिष्पत्त्यैव-अप्राप्य - योगसंसिद्धिं तत्त्वज्ञाननिमित्तामज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिमपुनरावृत्तिसहितामप्राप्य, अतत्त्वज्ञ एव मृतस्सन् कां गतिं हे कृष्ण ! गच्छति सुगतिम्, दुर्गतिं वा । कर्मणां परित्यागात्, ज्ञानस्य चानुत्पत्तेः शास्त्रोक्तमोक्षसाधनानुष्ठायित्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च ॥ ३७ ॥

और आचारभ्रष्ट ये उक्त मार्ग के सम्बन्धी नहीं हैं तद्वत् । अथवा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्मशून्य होने से वामदेव के समान कष्टगति प्राप्त नहीं करेगा, इस संशय से आकुल मन अर्जुन बोले—'अयतिरि'त्यादि से । यतिः यत्नशील अल्पार्थ में नञ् है । अयतिः-स्वल्प यत्नवाला 'अलवणा यवागूः, अनुदरा कन्या' के समान स्वल्पार्थक नञ् है । गुरुवेदान्त वाक्य में श्रद्धा से विश्वास बुद्धिरूप से संयुक्त श्रद्धा तत्सहचरित शमदमादि का उपलक्षण है "शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" इस श्रुति के अनुसार नित्यानित्यवस्तुविवेक इहलोक परलोक फलविराग, शम दम उपरति, तितिक्षा श्रद्धादिसम्पत् मुमुक्षुता, इन साधनचतुष्टयों से सम्पन्न गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यश्रवणादि करता हुआ भी आयु के अल्प होने से मरणकाल में इन्द्रियों की व्याकुलता से साधनानुष्ठान असम्भव है अतः योग श्रवणादिपरिपाक-लब्ध तत्त्वसाक्षात्कार से चलित अर्थात् अप्राप्त तत्त्वज्ञान मन है जिसका वह योगी योगानिष्पत्ति से योग सिद्धि को न पाकर अर्थात् तत्त्वज्ञान से अज्ञान तत्कार्यनिवृत्ति अपुनरावृत्ति सहित न पाकर अतत्त्वज्ञ ही मर गया तो किस गति को प्राप्त करेगा ? हे कृष्ण ! उसकी सुगति होगी या दुर्गति ? क्योंकि कार्यों का परित्याग किया, और ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ शास्त्रोक्त मोक्षहेतु कर्म का अनुष्ठाता है, शास्त्रविहित कर्म उसमें नहीं है अर्थात् सुगति दुर्गति के विशेष कारण न होने से यह संशय होता है कि उसकी क्या गति होगी ? ॥ ३७ ॥

एतदेव संशयबीजं विवृणोति—'कच्चिद'ति । कच्चिदिति साभिलाषप्रश्ने । हे महाबाहो ! महान्तः-सर्वेषां भक्तानां सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः, पुरुषार्थचतुष्टयदानसमर्था वा । चत्वारः बाहवो यस्येति । प्रश्ननिमित्तक्रोधाभावः, तदुत्तरदानसहिष्णुत्वं च सूचितम् । ब्रह्मणः पथि-ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढः-विक्षिप्तः [विचित्तः]। अनुत्पन्नब्रह्मात्म्यैक्यसाक्षात्कार इति यावत् । अप्रतिष्ठः—देवयान-पितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासना-कर्मभ्यां साधनाभ्यां रहितः, सोपासनानाम् सर्वेषां कर्मणां परित्यागात् । एतादृश उभयविभ्रष्टः-कर्ममार्गात्, ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्र-मिव-वायुना छिन्नम्-विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं मेघमप्राप्तमभ्रं यथा वृष्टयोग्यं सत्-अन्तराल एव नश्यति, तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्न उत्तरं च ज्ञानमार्गम-प्राप्तोऽन्तराल एव नश्यति-कर्मफलम्, ज्ञानफलं च लब्धुमयोग्यो न किमिति प्रश्नार्थः ।

एतेन ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृतः । एतस्मिन् हि पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफललाभ-संभवेनोभयविभ्रष्टत्वासंभवात् । न च तस्य कर्मसंभवेऽपि फलकामनात्यागात्, तत्फलभ्रंशवचन-मवकल्पत इति वाच्यम्, निष्कामानामपि कर्मणां फलसद्भावस्यापस्तम्बवचनाद्युदाहरणेन बहुशः

इसी संशयके बीजका विवरण कहते है—'कच्चिदिति' से । हे महाबाहो ! महान् सर्वेषां भक्तानाम्, सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः, अर्थात् सब भक्तों के निखिलोपद्रव शान्ति करने में समर्थ और पुरुषार्थचतुष्टय धर्म-अर्थ काम और मोक्ष के दान में समर्थ चार हाथ है जिनका वह महाबाहु है। प्रश्न से क्रोधाभाव तदुत्तरदान सहिष्णुताको सूचित किया। ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग ज्ञान से विमूढ़ विक्षिप्त अजात ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार हैं अतएव देवयान पितृयान मार्ग गमन हेतु उपासना कर्म से रहित होकर उपासना सहित सब कर्मों के परित्याग से उक्त मार्ग में अप्रतिष्ठ हैं। एतादृश उभयविभ्रष्ट अर्थात् कर्म मार्ग ज्ञान मार्ग दोनों से शून्य छिन्नाभ्र के समान नष्ट हो जाता है जैसे वृष्टि के लिए मेघ समुदाय आकाश में एकत्र होते हैं किन्तु प्रबलवायुवेग से छिन्न भिन्न होकर उत्तरोत्तर एक मेघ दूसरे मेघ से अलग होकर वृष्टि न कर वृष्टि के अयोग्य अवस्था को प्राप्त कर बीच में ही नष्ट हो जाता है वैसे ही योगभ्रष्ट भी पूर्व कर्ममार्ग से भ्रष्ट होकर उत्तर ज्ञानमार्ग को न प्राप्त कर बीच ही में नष्ट हो जाता है। कर्मफल और ज्ञानफल दोनों के पाने का अधिकारी नहीं है। 'किम' प्रश्नार्थ है।

'एतेने'ति। इससे ज्ञान कर्म समुच्चय का निरास किया। इस पक्ष में ज्ञान फल के न मिलने पर भी कर्म फल का लाभ होने से उभयविभ्रष्ट का सम्भव नहीं। यदि कहो कर्म सम्भव होने पर भी फल की कामना का त्याग किया इसलिए उस फल से वंचित रहेगा यह कल्पना करते है सो ठीक नहीं, निष्काम

एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्याऽस्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥
पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥ ४० ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देहको पूर्णरूपसे निवृत्त करनेमें आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त इस संशयका निवारण करनेवाला दूसरा सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले हे अर्जुन ! उस पुरुषका इस लोक और परलोकमें विनाश नहीं होता है। हे तात ! (ब्रह्म विद्याको विस्तार करनेवाले) शुभ कर्म करनेवाला कोई भी दुर्गति नहीं प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

प्रतिपादितत्वात् । तस्मात् सर्वकर्मत्यागिनं प्रत्येवायं प्रश्नः, अनर्थप्राप्तिशङ्कायास्तत्रैव संभवात् ॥ ३८ ॥

यथोपदर्शितसंशयापाकरणाय भगवन्तमन्तर्यामिणमर्थयते पार्थः—'एतन्मे' इति । एतत्-एतं पूर्वोपदर्शितं मे मम संशयं हे कृष्ण ! छेत्तुम्-अपनेतुमर्हस्यशेषतः-संशयमूलाधर्माद्युच्छेदेन । मदन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयमिमं संशयमुच्छेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—'त्वदन्यः' इति । त्वत्-परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्योऽनीश्वरत्वेनासर्वज्ञः कश्चिदृषिर्वा देवो वाऽस्य योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य संशयस्य छेत्ता-सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता, हि यस्मान्नोपपद्यते—न संभवति । तस्मात्त्वमेव प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य परमगुरुः संशयमेतं मम छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

कर्मों का भी आपस्तम्ब वचनाद्युदाहरण से फलसद्भाव अनेकस्थल में कहा गया है। अतः सर्व कर्म त्यागी के प्रति यह प्रश्न है क्योंकि इसी में अनर्थप्राप्ति की शङ्का है ॥ ३८ ॥

उक्त संशय के निराकरणार्थ अन्तर्यामी भगवान् से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—हे कृष्ण ! पूर्व में कहे इस संशय का पूर्णरूप से निवारण आप ही कर सकते हैं। मुझ से अतिरिक्त कोई ऋषि अथवा देवता तुम्हारे इस संशय को निवृत्ति करेगा इस शंका से कहते हैं अर्जुन—आप परमेश्वर सर्वज्ञ सब शास्त्र के रचनेवाले परम कारुणिक और परम गुरु आप से अन्य अनीश्वर होने से असर्वज्ञ कोई ऋषि अथवा देवता इस योगभ्रष्ट पर लोकगत विषय संशय का छेत्ता उत्तरप्रदान से नाशयिता नहीं है, तस्मात् प्रत्यक्षदर्शी आप ही सबके गुरु हैं एवं इस संशय की निवृत्ति करने में योग्य हैं ॥ ३९ ॥

एवमर्जुनस्य योगिनं प्रति नाशाशङ्कां परिहरन्नुत्तरं श्रीभगवानुवाच–'पार्थ ! नैवेहे'ति । उभयविभ्रष्टो योगी नश्यतीति कोऽर्थः ? किमिह लोके शिष्टविगर्हणीयो भवति, वेदविहितकर्मत्यागात्, यथा कश्चिदुच्छृङ्खलः । किं वा परत्र निकृष्टां गतिं प्राप्नोति । यथोक्तम् श्रुत्या—"अथैतयोः पथोर्न कतरेण 'छ' उ० ५-८-१० 'न विदुस्ते कीटाः पतङ्गाः-यदिदं दन्दशूकम्' बृ० उ० ६-२-१६ इति । तथा चोक्तं मनुना—

'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकात् च्युतः ।' १२-७१ इत्यादि ।

तदुभयमपि नेत्याह 'पार्थ'इति । हे पार्थ ! नैवेह-नामुत्र विनाशः, तस्य-यथाशास्त्रम् कृतसर्वकर्मसन्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य गुरुमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादि कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टस्य विद्यते । उभयत्रापि तस्य विनाशो नास्तीत्यत्र हेतुमाह'ही'ति। हि-यस्मात् कल्याण-कृत् शास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिम्-इहाकीर्तिम, परत्र च कीटादिरूपतां न गच्छति । अयं तु सर्वोत्कृष्ट एव सन् दुर्गतिं न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता-तत उच्यते, स्वार्थिकेऽणि तत एव तातः, पितैव च पुत्ररूपेण भवतीति, पुत्रस्थानीयस्य

इस प्रकार योगी के प्रति अर्जुन की शंका का परिहार करते हैं—'श्रीभगवानुवाच' से। उभयविभ्रष्ट योगी नष्ट होता है इसका क्या अर्थ है ? क्या इस लोक में अच्छे लोगों से निन्दित होता है क्योंकि वेदविहित कर्मों का त्याग किया है। जैसे उच्छृङ्खल स्वतन्त्राचार विचार वाला पुरुष किम्वा परलोक में नीच गति प्राप्त करता है श्रुति में ऐसा कहा है-'अथैतयोः पथोर्न कतरेण,नविदुः ते कीटा पतङ्गा यदिदंदन्तशूकम्' इन दोनों मार्गों में किसी मार्ग से जो नही जाता वह कीडा या पतङ्ग और सर्प हो जाते हैं। मनु ने भी ऐसा कहा है—

'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकात् च्युतः ।'

अर्थ—अपने धर्म से च्युत ब्राह्मण वान्ताशी और उल्कामुख प्रेत होता है,

ये दोनों नहीं हैं। हे पार्थ! इह लोक पर लोक दोनों में इसका विनाश नहीं होता। शास्त्रानुसार सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास करने वाला सबसे विरक्त गुरु के समीप जाकर वेदान्त श्रवणादि करता हुआ यदि मर जाता है तो उक्त योगभ्रष्ट का दोनों जगह विनाश नहीं होता। इसमें हेतु कहते हैं—हि यस्मात् शुभ कर्म कारी शास्त्रविहित कर्मानुष्ठायी कोई भी पुरुष इस लोक में अकीर्ति और पर लोक में कीटादिरूपता-गति को नहीं प्राप्त करता, यह तो सर्वोत्तम होता हुआ दुर्गति नहीं पाता इसमें कहना ही क्या है।

शिष्यस्य 'ताते'ति संबोधनं कृपातिशयसूचनार्थम् । यदुक्तं-योगभ्रष्टः कष्टां गतिं गच्छति, अज्ञत्वे सति देवयान-पितृयानमार्गान्यतरासंबन्धित्वात् स्वधर्मभ्रष्टवदिति, तदयुक्तम् । एतस्य देवयान-मार्गासंबन्धित्वेन हेतोरसिद्धत्वात् । पञ्चाग्निविद्यायां 'तद्य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा तपइत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ती'त्यविशेषेण पञ्चाग्निविदामिव, अतत्क्रतूनां श्रद्धासत्य-वतां मुमुक्षूणामपि देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनात् । श्रवणादिपरायणस्य च योगभ्रष्टस्य 'श्रद्धावित्तो भूत्वे'त्यनेन श्रद्धायाः प्राप्तत्वात् 'शान्तो दान्तः' इत्यनेन चानृतभाषणरूपवाग्व्या-पारनिरोधरूपस्य सत्यस्य लब्धत्वात् । बहिरिन्द्रियाणामुच्छृङ्खलव्यापारनिरोधो हि दमः। योग-शास्त्रे 'चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इति योगाङ्गत्वेनोक्तत्वात्। यदि तु सत्यशब्देन ब्रह्मैवोच्यते, तदापि न क्षतिः । वेदान्तश्रवणादेरपि सत्यब्रह्मचिन्तनरूपत्वात्, अतत्क्रतुत्वेऽपि च पञ्चाग्निविदामिव ब्रह्मलोकप्राप्तिसंभवात्। तथा च स्मृतिः—"सन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्'इति । तथा प्राप्तैहिकवेदान्तवाक्यविचारस्यापि कृच्छ्राशीतिफलतुल्यफलत्वं स्मर्यते । एवं च संन्यास-

---

तनोति आत्मानं पुत्ररूपेण इति पिता तत उच्यते' अर्थात् पिता अपने पुत्ररूप से विस्तृत करता है इसलिए पिता तत कहाता है, स्वार्थ में अण् करने से राक्षस वायसादिवत् तत एव तातः रक्ष एव राक्षसः, वय एव वायसः इत्यादिवत् सिद्ध होता है। पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है इति पुत्र स्थानीय शिष्य का तात यह सम्बोधन कृपातिशयसूचनार्थं है। जो कहा योग भ्रष्ट कष्ट गति को पाता है क्योंकि अज्ञ होने से देवयान और पितृयान मार्गों में एक का भी सम्बन्धी नहीं है जैसे स्वधर्मभ्रष्ट पुरुष, सो ठीक नहीं। इसका देवयान मार्ग सम्बन्धा-भावमें हेतु असिद्ध है, अर्थात् कोई कारण नहीं कि वह देवयान मार्ग सम्बन्धी न हो। पंचाग्निविद्या में 'तद्य इत्थं विदुः ये चाऽमी अरण्ये श्रद्धांतपइत्युपासते, ते अर्चिषम भिसम्भवन्ति' इस श्रुति में समान-रूपसे पञ्चाग्नि विद्वानोंके समान अतत्क्रतु श्रद्धा-सत्य-सम्पन्न मुमुक्षुओंका भी देवयानमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्ति स्फुट होने से श्रवणादि परायण योगभ्रष्ट को 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' इस वाक्य से श्रद्धा प्राप्त ही है। 'शान्तः दान्तः' इससे अनृत भाषणरूप व्यापारनिरोधरूप सत्य लब्ध ही है। बहिरिन्द्रियों का स्वेच्छाचार व्यापार जो शास्त्रविरुद्ध है उसका निरोध दम है। योगशास्त्र में 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इस सूत्र से योगाङ्गत्वेन सत्य का उपादान है। यदि सत्य शब्द से ब्रह्म कहते हैं तो भी आपत्ति नहीं क्योंकि वेदान्तश्रवणादि सत्य ब्रह्मचिन्तनरूप है अतत्संकल्प [अतत्क्रतु] होने पर भी पञ्चाग्नि विद्वानोंके समान ब्रह्मलोक-प्राप्ति का असम्भव नहीं है। तथा च स्मृतिः—सन्यासात् ब्रह्मणः स्थानम्' इति। तथा प्राप्त यह लोक वेदान्तवाक्य विचार का भी कृच्छ्राशीतिफल के तुल्य फल का स्मरण है अर्थात् अस्सी कृच्छ्र करने से जो

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योग भ्रष्ट पुरुष अश्वमेधादि याग कर्ताओंके लोकोंको प्राप्त कर उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके पवित्र आचारवाले धनिकोंके घर जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

श्रद्धा-सत्य-ब्रह्मविचाराणामन्यतमस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वात्समुदितानां तेषां तत्साधनत्वम् किं चित्रम् ? अतएव सर्वक्रतुरूपत्वं योगिचरितस्य तैत्तिरीयकाः आमनन्ति 'तस्यैवं विदुषो-यज्ञस्य' तै० आ० १० अनु ८० इत्यादिना । स्मर्यते च—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्ताऽवनिः
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ।' इति ॥ ४० ॥

तदेवं योगभ्रष्टस्य शुभकृत्त्वेन लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवतीत्युच्यते 'प्राप्ये'ति । योग-मार्गप्रवृत्तः सर्वकर्मसन्यासी वेदान्तश्रवणादि कुर्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित्पूर्वोपचितभोगवासना-प्रादुर्भावाद्विषयेभ्यः स्पृहयति । कश्चित्तु वैराग्यभावनादार्ढ्यान्न स्पृहयति, तयोः प्रथमः प्राप्य पुण्यकृताम्-अश्वमेधयाजिनां लोकान्-अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकान् । एकस्मिन्नपि भोगभूमिभेदा-पेक्षया बहुवचनम् । तत्र चोषित्वा-वासमनुभूय शाश्वतीः-ब्रह्मपरिमाणेनाक्षयाः समाः-संवत्सरान्

फल वह ऐहिक वेदान्तविचार का भी होता है । इस तरह संन्यास श्रद्धा सत्य ब्रह्म विचारों में अन्यतम का एकैक में ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्व है तत्समुदायों में साधनत्व का क्या आश्चर्य है ? अतएव योगियों के चरित्र को सर्वक्रतुरूप तैत्तिरीयों ने कहा है—(तैत्तिरीय का अर्थ है तित्तिरि शाखाध्यायी) 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना । स्मृति में भी है—स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले' इत्यादि श्लोक ऊपर देखिये । अर्थ स्पष्ट है ॥ ४० ॥

इस प्रकार योगभ्रष्ट पुरुष शुभकर्मकारी होने से दोनों लोकों में उसका नाश नहीं होता । तब क्या होता है ? यह कहते हैं—'उच्यते' से । योगमार्ग में प्रवृत्त हो सर्वकर्मसन्यास कर वेदान्त श्रवणादि करता हुआ यदि बीच में मर जाता है तो कोई पूर्वजन्म के भोग की वासना प्रादुर्भाव से विषयों की इच्छा करता है, कोई वैराग्यभावनादार्ढ्य से विषयों की स्पृहा नहीं करता । इन दोनों में पहिला पुण्यकारी-अश्वमेधयज्ञ

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वह पुरुष ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। एतादृश जो जन्म है यह संसारमें अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तदन्ते शुचीनाम्-शुद्धानाम्, श्रीमताम्-विभूतिमताम्-महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशेषसद्भावादजातशत्रु-जनकादिवद्योगभ्रष्टोऽभिजायते, भोगवासनाप्राबल्यात् । ब्रह्मलोकान्ते सर्वकर्मसन्यासायोग्यो महाराजो भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

द्वितीयं प्रतिपक्षान्तरमाह—'अथवेति' । श्रद्धावैराग्यादिकल्याणगुणाधिक्ये तु भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानाम्, न तु श्रीमताम्-राज्ञां कुले भवति, धीमताम्-ब्रह्मविद्यावताम् । एतेन योगिनामिति न कर्मिग्रहणम्, यच्छुचीनां श्रीमतां राज्ञां गृहे योगभ्रष्टजन्म, तदपि दुर्लभम्, अनेकसुकृतसाध्यत्वात्, मोक्षपर्यवसायित्वाच्च । यत्तु शुचीनाम्-दरिद्राणां ब्रह्मविद्यावतां कुले जन्म एतद्धि प्रसिद्धं शुकादिवत् ।

करने वालों का जो ब्रह्मलोक प्राप्य स्थान है उसको अर्चिरादि मार्ग से प्राप्त कर (यद्यपि ब्रह्मलोक एक ही है अतः एकवचन होना उचित है तथापि योगभूमियाँ अनेक हैं तदपेक्षया बहुवचन है) ब्रह्मलोक में अवस्थिति का अनुभव कर ब्रह्मा के परिमाण से सिद्ध जो संवत्सर है वहां रह कर 'शुचीनाम्' शुद्ध धनियों के महाराज चक्रवर्तियों के गृह में भोगवासनाशेष रहने से अजातशत्रु जनकादि के समान योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है। भोगवासना के प्राबल्य से ब्रह्मलोक के भोग पूर्ण होने पर सर्व कर्मों के सन्यास करने में अयोग्य महाराज होता है ॥ ४१ ॥

दूसरे के प्रति (पक्षान्तर कहते हैं) 'अथवेतिसे श्रद्धा' वैराग्यादि कल्याण गुणों की अधिकता से भोगवासना नहीं, अतः पुण्यकारी के लोगों को अप्राप्त करही दरिद्र ब्राह्मण योगियों के कुल में उत्पन्न होता है लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के कुल में नहीं, क्योंकि तदनुकूल भोगवासना नहीं है। 'धीमताम्' ब्रह्मविद्या सम्पन्न उच्च ब्राह्मण कुल में जन्म होता है। इससे 'योगिनाम्' इस शब्द से योगियों के कुल में होता है कर्मियों के कुल में नहीं। लक्ष्मीसम्पन्न पवित्र राजगृह में योगभ्रष्ट जन्म जो होता है वह भी अनेकपुण्यसाध्य होने और मोक्ष रूपी फल में परिणत होने से अतिदुर्लभ है और जो ब्रह्मविद्यासम्पन्न दरिद्रब्राह्मण के गृह में जन्म वह शुक आदि के जन्म के समान प्रसिद्ध अतिदुर्लभ है। लोक में इस प्रकार का जन्म सर्व प्रमाद कारण से

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥

वह पुरुष पूर्वदेहमें साधन किये गये बुद्धि संयोग (ज्ञानयोग) को प्राप्त करता है । हे कुरुनन्दन ! उसके बाद पुनः अच्छे प्रकारसे ज्ञानकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

दुर्लभतरं दुर्लभादपि दुर्लभं लोके यदीदृशं सर्वप्रमादकारणशून्यम्- जन्मेति द्वितीयः स्तूयते, भोगवासनाशून्यत्वेन सर्वकर्मसन्यासार्हत्वात् ॥ ४२ ॥

एतादृशजन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं कस्मात् ? यस्मात्—'तत्रे'ति । तत्र-द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं सर्वकर्मसंन्यास-गुरूपसदन-श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितम्, तावत्पर्यन्तमेव तं ब्रह्मात्मैक्यविषयया बुद्धया संयोगम् । तत्साधनकलापमिति यावत् । लभते-प्राप्नोति । न केवलं लभत एव, किंतु ततः-तल्लाभानन्तरं भूयः-अधिकम् लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं सम्पादयितुं संसिद्धौ-संसिद्धिः-मोक्षः, तन्निमित्तं यतते च-प्रयत्नम् करोति च । यावन्मोक्षं भूमिकाः सम्पादयतीत्यर्थः । हे कुरुनन्दन ! तवापि शुचीनां श्रीमताम् कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति, पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति, सूचयितुम् महाप्रभावस्य कुरोः कीर्तनम् । अयमर्थो भगवद्वसिष्ठवचने व्यक्तः ।

यथा श्रीरामः—

'एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन् ! गतिः ॥'

शून्य है अति दुर्लभ है इस प्रकार द्वितीय जन्म की स्तुति करते हैं; भोगवासनारहित होने से यह सर्वकर्म सन्यास के योग्य है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—एतादृश जन्मद्वय में दुर्लभत्व क्यों हैं ?

उत्तर—जिस कारण उक्त दोनों जन्मों में पौर्वदेहिक अर्थात् पूर्वदेहोत्पन्न सर्वकर्मसन्यास गुरूपसदन श्रवण मनन निदिध्यासनों के मध्य में जितना किया है उतना ही ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्धि से उस संयोग का लाभ करता है अर्थात् यावन्मोक्षसाधन कर्मकलाप किया है उतना पाता है। केवल उतना ही नहीं पाता किन्तु उसके पाने के बाद फिर अधिक लब्धभूमि से अग्रिमभूमि का सम्पादन करने के लिए 'संसिद्धि-मोक्ष' तदर्थं प्रयत्न करता है । जब तक मोक्ष नहीं पाता तब तक भूमि का सम्पादन करता है। हे कुरुनन्दन ! तुम्हारा भी श्रीसम्पन्न पवित्र कुल में योगभ्रष्ट जन्म हुआ है अतः पूर्ववासनावश अनायास से तुमको ज्ञान का लाभ होगा इसके सूचनार्थं महाप्रभाव कुरु का ग्रहण है ।

पूर्वं हि सप्त भूमयो व्याख्याताः। तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थ-भोगवैराग्याच्छमदम श्रद्धातितिक्षासर्वकर्मसन्यासादिपुरःसरा मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका। साधनचतुष्टयसम्पदिति यावत्। ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया-भूमिका। श्रवणमननसम्पदिति यावत्। ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका। निदिध्यासनसम्पदिति यावत्। चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कार एव। पञ्चम– षष्ठ-सप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति तृतीये प्राग्व्याख्यातम्। तत्र चतुर्थीं भूमिं प्राप्तस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यम् प्रति नास्त्येव संशयः। तदुत्तरभूमित्रयं प्राप्तस्तु जीवन्नपि मुक्तः किमु विदेह इति, नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का। साधनभूतभूमिकात्रये तु कर्मत्यागात्, ज्ञानालाभाच्च भवति शङ्केति, तत्रैव प्रश्नः। श्रीवसिष्ठः—

'योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम्॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः॥—

यह अर्थ भगवान् वसिष्ठ के वचन में अतिस्फुट है। यथा श्रीरामः—

'एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन् गतिः॥'

इति॥ पूर्व में सात भूमियों का व्याख्यान हो चुका उसमें नित्यानित्यवस्तुविवेक ऐहलौकिक पारलौकिक अर्थभोग का वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, सर्व कर्मसन्यासादि पुरस्पर मुमुक्षा शुभेच्छा प्रथमा भूमि का अर्थात् साधनचतुष्टय सम्पन्न। ततः गुरुसमीप जाकर वेदान्तवाक्य विचारणात्मक द्वितीया-भूमिका अर्थात् श्रवणमननसम्प्रपद्रूपा। ततः श्रवण, मननपरिनिष्पन्न तत्त्वज्ञान की निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नामक तृतीया भूमिका है अर्थात् निदिध्यासनसम्पत्। चौथी भूमिका तो तत्त्वसाक्षात्कार ही है पंचम, षष्ठ सप्तम भूमियाँ तो जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद है इसका तृतीयाध्याय में पूर्व में व्याख्यान हो चुका है। इसमें चतुर्थीभूमिप्राप्त मृत का जीवन्मुक्ति के अभाव में भी विदेह कैवल्य के प्रति संशय नहीं है तदुत्तर भूमित्रयप्राप्त योगी जीता हुआ भी मुक्त ही है शरीर पात के अनन्तर मुक्ति में कहना ही क्या है। इसलिए भूमि का चतुष्टय में मोक्ष की शंका नहीं। साधनभूत भूमिकात्रय में कर्मत्याग से और ज्ञान न होने से शंका होती है अतः उसी में यह प्रश्न है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

मोक्ष साधनमें प्रयत्न न करनेवाला भी मनुष्य पूर्वाभ्याससे मोक्ष साधनकी ओर उन्मुख होता है। मोक्ष साधन ज्ञानका जिज्ञासु भी कर्म प्रतिपादक वेदका अतिक्रमण करता है ॥ ४४ ॥

ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ 'इति ।

अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यात्, अल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमये प्रादुर्भूतभोगस्पृहः सर्वकर्मसंन्यासी यः, स एवोक्तः । यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात्प्रकृष्टपुण्यप्रकटितपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः सन्यासी भोगव्यवधानं विनैव ब्राह्मणानामेव ब्रह्मविदां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नः, तस्य प्राक्तनसंकाराभिव्यक्तेरनायासेनैव संभवान्नास्ति पूर्वस्येव मोक्षं प्रत्याशङ्केति, स च वसिष्ठेनोक्तः । भगवता तु परमकारुणिकेन 'अथवे'ति पक्षान्तरं कृत्वोक्त एव। स्पष्टमन्यत् ॥४३॥

वसिष्ठ जी ने कहा है—

'योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।'

इत्यादि ऊपर देखिए। इनमें प्राक्सम्पादित भोगवासना प्राबल्य से अल्पकालकृत वैराग्यवासना के दौर्बल्य से प्राण निकलने के समय उत्पन्न भोगस्पृहावाला सर्वकर्मसन्यासी जो है वही कहा गया है। जो वैराग्य वासना की प्रबलता से और प्रबल पुण्य सम्पादित परमेश्वर कृपा वश से प्राण निकलने के समय अनुत्पन्न भोग स्पृह सन्यासी भोग व्यवधान के बिना सर्वप्रमादकारणशून्य ब्रह्मविद् ब्राह्मण कुल में उत्पन्न उसका प्राक्तनसंस्कार के अविर्भाव अनायास से हो जाता है इस मोक्ष की आशंका नहीं सो भगवान् वसिष्ठजीने ही कहा। परन्तु परमकारुणिक भगवान् श्रीकृष्ण जी ने पक्षान्तर करके कहा ही है। बाकी स्पष्ट है ॥ ४३ ॥

ननु यो ब्रह्मविदाम्-ब्राह्मणानां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नः, तस्य मध्ये विषयभोगव्यवधानाभावादव्यवहितप्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधात्पुनरपि सर्वकर्मसन्यासपूर्वकः ज्ञानसाधनलाभो भवतु नाम। यस्तु श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां कुले बहुविधविषयभोग-व्यवधानेनोत्पन्नः, तस्य विषयभोगवासनाप्राबल्यात्प्रमादकारणसंभवाच्च कथमतिव्यवहित-ज्ञानसंस्कारोद्बोधः, क्षत्रियत्वेन सर्वकर्मसन्यासानर्हस्य कथं वा ज्ञानसाधनलाभ इति? तत्रोच्यते—'पूर्वाभ्यासेने'ति। अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेन प्रागर्जितज्ञानसंस्कारेणावशोऽपि मोक्षसाधनायाऽप्रयतमानोऽपि ह्रियते-स्ववशीक्रियते अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखः क्रियते, ज्ञानवासनाया एवाल्पकालाभ्यस्तायाः अपि वस्तुविषयत्वेनावस्तुविषयाभ्यो भोगवासनाभ्यः प्राबल्यात्। पश्य यथा त्वमेव युद्धे प्रवृत्तो ज्ञानायाऽप्रयतमानोऽपि पूर्वसंस्कारप्राबल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखोऽभूरिति। अतएव प्रागुक्तम्—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ती'ति। अनेकजन्मसहस्रव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः स्वकार्यं करोत्येव सर्वविरोध्युपमर्देनेत्यभिप्रायः। सर्वकर्मसन्यासाभावेऽपि हि क्षत्रियस्य ज्ञानाधिकारः स्थित एव। यथा पाटच्चरेण बहूनां रक्षिणां मध्ये विद्यमानमपि अश्वादिद्रव्यम्-

---

प्रश्न—सर्वप्रमाद कारणरहित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में समुत्पन्न है उसको मध्य में विषय भोग व्यवधान न होने से अव्यवहित प्राचीनसंस्कार समुद्बोध से सर्वकर्मसन्यासपुरस्सर ज्ञान साधन लाभ हो परन्तु महालक्ष्मी सम्पत् महाराज चक्रवर्त्तियों के कुल में (अनेक प्रकार) विषयभोग व्यवधान से जो उत्पन्न हुआ है उसका विषयभोग वासनाप्राबल्य से प्रमादकारण सम्भव से अतिव्यवहित संस्कार समुद्बोध कैसे होता है? क्षत्रिय होने से सबकर्म सन्यासानर्ह को ज्ञानसाधन लाभ कैसे होता है?

उत्तर—अतिदीर्घकाल व्यवहित जन्मसंचित उसी पूर्वाभ्यास से पूर्वोपार्जित ज्ञानसंस्कारों से विवश हो कर मोक्षसाधन के लिए प्रयास न करने पर भी अपहृत होता है अर्थात् अकस्मादेव योगवासनाओं से पराङ्मुख हो मोक्षसाधनाभिमुख उन्हीं से किया जाता है। ज्ञानवासना स्वल्पकालीना अभ्यस्त भी परमार्थ वस्तुविषयक होने से मिथ्याविषयक भोगवासनाओं से प्रबल है अर्थात् अचिरजात वस्तुविषयक अतएव अतिप्रबल ज्ञानवासनापरक व्यवहित भोगवासना को दबा कर पुरुष को मोक्षसाधनोन्मुख करती है। देखो—तुम ही युद्ध में प्रवृत्त होकर ज्ञान के लिए प्रयास न करते हुए भी संस्कारप्राबल्य से अकस्मादेव संग्राममूमि में ज्ञानोन्मुख हुए हो। अतएव पूर्व में कहा है–'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' हजारों जन्मों से व्यवहित

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

समाधिमें उत्तरोत्तर प्रयत्नशील प्रतिबन्धक अविद्या और तत्कार्यसे रहित तथा अनेक जन्म सिद्ध योगी परम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

स्वयमनिच्छदपि तान्सर्वानभिभूय स्वसामर्थ्यविशेषादेवापह्रियते । पश्चात्तु कदाऽपहृतमिति विमर्शो भवति । एवं बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानोऽपि योगभ्रष्टः स्वयमनिच्छन्नपि ज्ञानसंस्कारेण बलवता स्वसामर्थ्यविशेषादेव सर्वान् प्रतिबन्धकानभिभूयात्मवशीक्रियत इति हृञः प्रयोगेण सूचितम् । अतएव संस्कारप्राबल्यात् जिज्ञासुर्ज्ञातुमिच्छुरपि योगस्य-मोक्षसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्म । प्रथमभूमिकायां स्थितः संन्यासीति यावत् । सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतः, अन्तराले बहून् विषयान् भुक्त्वा महाराजचक्रवर्तिनां कुले समुत्पन्नोऽपि योगभ्रष्टः प्रागुपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्यात् तस्मिञ्जन्मनि शब्दब्रह्म-वेदं कर्मप्रतिपादकम्-अतिवर्तते-अतिक्रम्य तिष्ठति । कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः । एतेनाऽपि ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृत इति द्रष्टव्यम्, समुच्चये हि ज्ञानिनोऽपि कर्मकाण्डातिक्रमा-भावात् ॥ ४४ ॥

भी ज्ञानसंस्कार सर्वविरोधियों का पराभव कर अपना कार्य करता ही है । अभिप्राय यह है कि सर्वकर्म सन्यासभाव में भी क्षत्रिय को ज्ञानाधिकार है ही जैसे डाकू बहुत रक्षकों के मध्य में स्थित अश्वादिद्रव्य स्वयं इच्छा न करते हुए को उन सब का अभिभव कर अपने शक्तिविशेष से चुरा लेता है पीछे कब चुराया है यह विचार होता है । उसी प्रकार अनेक ज्ञानप्रतिबन्धकों के मध्य में विद्यमान योगभ्रष्ट इच्छाशून्य को भी बलवान ज्ञानसंस्कार स्वशक्तिविशेष से सब प्रतिबन्धकों का पराजय कर आत्मवश करता है यह 'हृञ् हरणे' इस धातु के प्रयोग से सूचित हुआ । अतएव संस्कारप्राबल्य से जिज्ञासु मोक्षसाधन ज्ञानयोग का विषय ब्रह्म प्रथमभूमिका में स्थित संन्यासी वह भी उसी भूमिका में मृत मध्य में अनेक विषयों का भोग कर महाराज चक्रवर्ती के कुल में उत्पन्न योगभ्रष्ट प्राचीन जन्मार्जित ज्ञानसंस्कार प्राबल्य से उस जन्म में कर्म-प्रतिपादक शब्दब्रह्मरूपवेद का अतिक्रम कर स्थित होता है अर्थात् कर्माधिकारी का उल्लंघन कर ज्ञानाधि-कारी होता है इससे भी ज्ञानकर्म समुच्चय का निराकरण समझना समुच्चय में ज्ञानी को भी कर्मकाण्ड के अतिक्रम का अभाव प्रसिद्ध ही है ॥ ४४ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ ४६ ॥

तपस्वियों से श्रेष्ठ योगी है, ज्ञानी अर्थात् परोक्ष ज्ञानवालोंसे भी योगी उत्तम माने गये हैं, कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे अर्जुन तुम योगी बनो ॥ ४६ ॥

यदा चैवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽपि अनेकभोगवासनाव्यवहितमपि, विविधप्रमादकारणवति महाराजकुलेऽपि जन्म लब्ध्वापि योगभ्रष्टः पूर्वोपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्येन कर्माधिकारमतिक्रम्य ज्ञानाधिकारी भवति,तदा किमु वक्तव्यं,द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमिकायां मृतो विषयभोगान्ते लब्धमहाराजकुलजन्मा यदि वा भोगमकृत्वैव लब्धब्रह्मविद्ब्राह्मणकुलजन्मा योगभ्रष्टः कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भूत्वा तत्साधनानि सम्पाद्य तत्फललाभेन संसारबन्धनान्मुच्यत इति । तदेतदाह—'प्रयत्नादि'ति । प्रयत्नात्पूर्वकृतादप्यधिकमधिकं यतमानः-प्रयत्नातिरेकं कुर्वन् योगी पूर्वोपचितसंस्कारवान् तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन संशुद्धकिल्बिषः धौतज्ञानप्रतिबन्धकपापमलः अतएव संस्कारोपचयात्पुण्योपचयाच्च अनेकैर्जन्मभिः संसिद्धः-संस्कारातिरेकेण पुण्यातिरेकेण च प्राप्तचरमजन्मा ततः साधनपरिपाकाद्याति पराम्-प्रकृष्टां गतिम्-मुक्तिम् नास्त्येवात्र कश्चित्संशय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

जब इस प्रकार प्रथम भूमिका में मृत अनेक भोगवासना व्यवहित अनेक प्रमाद हेतुओं से महाराज कुल में समुत्पन्न योगभ्रष्ट पूर्वार्जित ज्ञानसंस्कार प्राबल्य से कर्माधिकार का उल्लंघन कर ज्ञानाधिकारी होता है तब क्या कहना है द्वितीय या तृतीयभूमिका में मृत विषयभोग के अन्त में प्राप्त महाराजकुल जन्म। यदि वा भोग विना किए हुए ब्रह्मविद् ब्राह्मण कुल में जन्म पाकर योगभ्रष्ट कर्माधिकारों का उल्लंघन कर ज्ञानाधिकारी होकर सब साधनों का सम्पादन कर तत्फल लाभ से संसारबन्धन से मुक्त होता है। यही कहते हैं—प्रयत्न से पूर्व किए हुए से अधिकाधिक यतमान प्रयत्न विशेष करता हुआ योगी पूर्वसम्पादित संस्कारवान् उसी योगप्रयत्न निपुणता से विशुद्धपाप अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक पापरूप मलरहित अतएव संस्कारबुद्धि से पुण्याधिक्य से अनेक जन्मों से संसिद्ध संस्कारातिरेक और पुण्यातिरेक से अन्तिम जन्म पाकर ज्ञानसाधन परिपाक से पर मुक्तिरूप उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ४५ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयम-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सभी योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् मुझमें लगे हुये मनसे मुझको भजता है वह योगी मेरे लिये श्रेष्ठ योगी है ॥ ४७ ॥

छठा अध्याय समाप्त

इदानीं योगी स्तूयतेऽर्जुनं प्रति श्रद्धातिशयोत्पादनपूर्वकं विधातुम्—'तपस्विभ्यः' इति । तपस्विभ्यः-कृच्छ्रचान्द्रायणादितपःपरायणेभ्योऽपि अधिकः-उत्कृष्टो योगी तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरम् मनोनाश-वासनाक्षयकारी ।

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥' इति श्रुतेः ।

अतएव कर्मिभ्य दक्षिणासहितज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठायिभ्यश्चाधिको योगी कर्मिणाम् तपस्विनां चाज्ञत्वेन मोक्षानर्हत्वात् । ज्ञानिभ्योऽपि-परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि अपरोक्षज्ञानवानधिकः मतो योगी । एवमपरोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि मनोनाशवासनाक्षयाभावादजीवन्मुक्तेभ्यो मनोना-

---

इस समय अतिश्रद्धोत्पादनपूर्वक योगविधान के लिए अर्जुन के प्रति योगी की स्तुति करते हैं— तपस्वी कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपःपरायण से योगी उत्कृष्ट हैं तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के बाद मनोनाश और वासना-का विनाशकारी ।

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥' यह श्रुति है ।

अतएव दक्षिणासहित ज्योतिष्टोमादि यागानुष्ठायी कर्मियों से अधिक योगी है क्योंकि कर्मी और तपस्वी ये दोनों अविद्वान होने से मोक्ष के योग्य नहीं परोक्षज्ञानवान् ज्ञानियों से अपरोक्षज्ञानवान् योगी

वासनाक्षयवत्त्वेन जीवन्मुक्तो योग्यधिको मतः-मम संमतः, यस्मादेवम् । तस्मादधिकाधिकप्रयत्नबलात्त्वं योगभ्रष्ट इदानीं तत्त्वज्ञान-मनोनाश-वासनाक्षयैर्युगपत्सम्पादितैर्योगी जीवन्मुक्तः यः, स योगी परमो मत इति प्रागुक्तः, स तादृशो भव साधनपरिपाकात् । हे अर्जुनेति शुद्धेतिसंबोधनार्थः ॥ ४६ ॥

इदानीं सर्वयोगिश्रेष्ठं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति—'योगिनामि'ति । योगिनाम्-वसुरुद्रादित्यादिक्षुद्रदेवताभक्तानां सर्वेषामपि मध्ये मयि-भगवति वासुदेवे पुण्यपरिपाकविशेषाद्रतेन प्रीतिवशान्निविष्टेन मद्गतेनाऽन्तरात्मना-अन्तःकरणेन प्राग्भवीयसंस्कारपाटवात्साधुसङ्गाच्च मद्भजन एव श्रद्धावान् अतिशयेन श्रद्दधानः सन् भजते-सेवते सततं चिन्तयति यो माम्-नारायणमीश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा मनुष्योऽयमीश्वरान्तरसाधारणोऽयमित्यादिभ्रमं हित्वा, स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः-सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्तेभ्यः श्रेष्ठो मे-मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतः-निश्चितः । समानेऽपि योगाभ्यासक्लेशे, समानेऽपि भजनायासे मद्भक्तिशून्येभ्यः मद्भक्तस्यैव श्रेष्ठत्वात् मद्भक्तः परमो युक्ततमोऽनायासेन भवितुं शक्ष्यसीति भावः । तदनेनत्वं अध्यायेन कर्मयोगस्य बुद्धिशुद्धिहेतोर्मर्यादां दर्शयता ततश्च कृतसर्वकर्मसन्यासस्य साङ्गं योगम् विवृण्वता मनोनिग्रहोपायं चाऽऽक्षेपनिरासपूर्वकमुपदिशता योगभ्रष्टस्य पुरुषार्थशून्यताशङ्काश्च

अधिक माना जाता है, इसी प्रकार मनोनाश वासनाक्षयाभाव से अजीवन्मुक्त अपरोक्षज्ञानवान् योगी से मनोनाश वासनाक्षययुक्त जीवन्मुक्त योगी को मैं अधिक मानता हूं अतः अधिक बल से योगभ्रष्ट तुम एक काल में तत्त्वज्ञान मनोनाश वासनाक्षयों को सम्पादन कर जो जीवन्मुक्त से योगी उत्कृष्ट हैं यह पूर्व में कहा है; साधनपरिपाक से तुम वैसा हो, हे अर्जुन ! शुद्ध यह सम्बोधन का अर्थ है ॥ ४६ ॥

इस समय सर्वयोगीश्रेष्ठ योगी को कहते हुए अध्याय का उपसंहार कहते हैं—वसु, रुद्र, आदित्यादि, क्षुद्र देवताभक्त एवं सब योगियों के मध्य में वासुदेव भगवान् मुझ में पुण्यविशेष के प्रादुर्भाव से प्रेमवश निविष्ट मद्गत अन्तःकरण से प्राचीन संस्कारसामर्थ्य से साधुसंग से' मेरे भजन में ही अतिशय श्रद्धायुक्त होकर जो मेरा भजन करते हैं, अर्थात् निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, नारायण ईश्वर सगुण अथवा निर्गुण का ध्यान करते हैं सर्वज्ञ मुझ परमेश्वर को श्रेष्ठ निश्चित है। योगाभ्यास क्लेश समान होनेपर भजन परिश्रम में मेरे भक्ति से शून्य से मेरे भक्त ही में ज्येष्ठत्व है तुम मेरा भक्त होकर अनायास परमयोगी हो सकते हो यह तात्पर्य है।

शिथिलयता कर्मकाण्डम्, त्वंपदार्थनिरूपणं च समापितम् । अतः परं 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इति सूत्रितं भक्तियोगम्, भजनीयं च भगवन्तं वासुदेवं तत्पदार्थं निरूपयितुमग्रिममध्यायषट्कमारभ्यत इति शिवम् ।। ४७ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीभगवत्पादशिष्य-
मधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थ-
दीपिकायामध्यात्मयोगो नाम-
षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस अध्याय से बुद्धि विशुद्धि कारण कर्म योग की मर्यादा को दिखलाते हुए सर्वकर्मसंन्यास का सांगयोग का विवरण करते हुए शंकासमाधान पूर्वक मनोनाश निग्रहोपाय का उपदेश करते हुए योगभ्रष्ट के पुरुषार्थशून्य शंका को शिथिल करते हुए त्वं पदार्थनिरूपण कर्मकाण्ड को समाप्त किया। इसके आगे **'श्रद्धावान् भजते यो माम्'** इससे सूचित भक्तियोग और भजनीय भगवान् वासुदेव तत्-पदार्थ के निरूपणार्थ अग्रिम छः अध्यायों का आरम्भ करते हैं ॥ इति शिवम् ॥

इस प्रकार म० म० पं० हरिहरकृपालु—
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के छठवाँ
अध्यायका भाषा अनुवाद
समाप्त हुआ



